संशोधित संस्करण के सम्बन्ध में

हिन्दी की उच्चतम परीक्षाओं में साहित्यरत्न की भी परीक्षा एक है अतएव इसमें सफलता प्राप्त करने के लिये परीक्षार्थी को अत्यधिक श्रम करना पड़ता है और अपनी असाधारण योग्यता का परिचय देना पड़ता है। साहित्यरत्न द्वितीय खण्ड का पाठ्यक्रम प्रथम खण्ड की अपेक्षा अधिक कठिन और दुष्कर होता है। भाषाविज्ञान, साहित्यालोचन, काव्यशास्त्र आदि विषय शास्त्रीय होने के कारण सामान्य परीक्षार्थियों के लिये दुर्बोध और क्लिष्ट होते हैं। अधिकांश परीक्षार्थी तो भाषाविज्ञान आदि के क, ख, ग, से भी परिचित नहीं होते क्योंकि इस परीक्षा से पूर्व इन विषयों का अध्ययन करने का अवसर उन्हें मिल नहीं पाता। ऐसी अवस्था में परीक्षार्थी इस परीक्षा-सागर को पार करने में कठिनाई अनुभव करता है और सही मार्ग-दर्शन के अभाव में आकुल-व्याकुल होता है। परीक्षार्थीयों की इसी आकुल व्याकुलता के निवारण हेतु प्रस्तुत गाइड का प्रणयन किया गया है।

वैसे तो इस गाइड का प्रणयन कई वर्ष पूर्व हुआ था किन्तु अब इसे सम्पूर्णतः संशोधित, परिष्कृत और परिवर्द्धित कर सर्वथा नवीन और वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है ताकि परीथार्थी गण इस गाइड को पढ़कर कम से कम समय में अधिक से अधिक लाभ उठा सकें। अपने श्रम के आधार पर मैं यह दृढ़ता पूर्वक कह सकता हूँ कि गाइड का यह संशोधित संस्करण न केवल इसके पूर्व के संस्करणों की अपेक्षा अधिक उपयोगी है अपितु बाजार में उपलब्ध अन्य सभी गाइड़ों से अधिक श्रेष्ठ और उपादेय भी है।

इस संशोधित संस्करण की बड़ी विशेषता यह है कि इसमें परीक्षार्थी को अधिक से अधिक सामग्री देने और सही से सही मार्ग-दर्शन करने की चेष्टा रही है। प्रश्नपत्र २, ३, ४, और ५ प्रश्नपत्रों के सम्बन्ध में उपयोगी सामग्री का समावेश इसमें किया गया है। भाषाविज्ञान, हिन्दी भाषा का इतिहास (द्वितीय प्रश्न पत्र के अन्तर्गत), हिन्दी साहित्य का इतिहास

साहित्यालोचन, काव्यशास्त्र (तृतीय प्रश्नपत्र के अन्तर्गत) से सम्बन्धित सभी आवश्यक सामग्री को इसमें रख दिया गया है। इतना पढ़ लेने के बाद परीक्षार्थी को अन्य किसी पुस्तक को देखने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। चतुर्थ प्रश्नपत्र के अन्तर्गत परीक्षोपयोगी चुने हुए निबन्ध रखे गये हैं—इन निबन्धों में से ही प्रायः एक-दो निबन्ध प्रतिवर्ष आ जाते हैं और यदि न भी आयें तो परीक्षार्थी इन निबन्धों को पढ़कर यह भली भाँति जान सकता है कि साहित्यरत्न की परीक्षा में निबन्ध किस स्तर का होता है और उसे किस प्रकार लिखा जाता है। मेरा तो विश्वास है कि यदि परीक्षार्थी ने तृतीय प्रश्नपत्र के अन्तर्गत हिन्दी साहित्य के इतिहास और साहित्यालोचन सम्बन्धी सामग्री को भली भाँति हृदयङ्गम कर लिया होगा तो उसे निबन्ध वाले प्रश्नपत्र में कठिनाई न होगी क्योंकि अधिकांश निबन्ध इतिहास सम्बन्धी और साहित्यालोचन सम्बन्धी (सैद्धान्तिक) होते हैं।

पाँचवे प्रश्नपत्र के दो भाग होते हैं प्राचीन भाषा और आधुनिक प्रान्तीय भाषा। प्राचीन भाषा के अन्तर्गत लगभग सभी विद्यार्थी संस्कृत को चुनते हैं अतः हमने संस्कृत में निर्धारित दोनों हीं पुस्तकों (रघुवंश और मित्रलाभ) के परीक्षोपयोगी स्थलों को हिन्दी अर्थ सहित इस संस्करण में समाविष्ट कर दिया है। परीक्षार्थियों को संस्कृत के लिये अन्यत्र नहीं भटकना होगा। आधुनिक प्रान्तीय भाषा में परीक्षार्थी गुजराती, मराठी और बंगला में से ही एक चुनते हैं। इनमें उस भाषा के साहित्य से सम्बन्धित प्रश्न अनिवार्य रूप से परीक्षा में पूछे जाते हैं। परीक्षार्थी बेचारा, हिन्दी साहित्य से भली भाति परिचित हो नहीं पाता, भला अन्य भाषाओं के साहित्य से किस प्रकार परिचित हो। मैंने परीक्षार्थियों की इस कठिनाई को समझकर ही मराठी, बंगला और गुजराती साहित्य का रूपरेखात्मक परिचय लिखकर इस संस्करण में समाविष्ट कर दिया है। इन पृष्ठों को पढ़कर तत्सम्बन्धी भाषा के साहित्य की रूपरेखा परीक्षार्थी के लिये स्पष्ट हो जायेगी। प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य के सम्बन्ध में यह उपयोगी सामग्री अन्यत्र अप्राप्य है—यह केवल इसी गाइड के इसी संशोधित संस्करण की विशेषता है।

इसके अतिरिक्त इस संस्करण में कुछ ऐसे नये प्रश्नों और उनके उत्तर को जोड़ा गया है जिन्हें परीक्षा की दृष्टि से आवश्यक समझा गया है। पहले के प्रश्नों के उत्तर में नवीनतम खोजों और अनुसन्धान के फलस्वरूप प्रकाश में आये तथ्यों और सामग्री का समावेश कर दिया गया है ताकि उत्तर 'अपटूडेट' बन जाये। प्रश्नों के उत्तर को पहले से अधिक सरल, सुस्पष्ट और वैज्ञानिक ढंग से रखने का प्रयास किया गया है।

इस संस्करण के प्रारम्भ में परीक्षार्थियों के लिये कुछ ऐसे उपयोगी निर्देश दिये गये हैं जिनसे उन्हें सच्चा मार्ग-दर्शन मिलेगा और अनेक कठिनाइयों का निवारण होगा। प्रत्येक प्रश्नपत्र को हल करने की विधि भी इस संस्करण में समाविष्ट कर दी गई है। विशेष कवि वाले प्रथम प्रश्नपत्र को को हल करने की विधि भी इसमें जोड़ दी गई है। इससे परीक्षार्थी लाभान्वित होंगे—ऐसा मेरा विश्वास है।

पिछले वर्ष के प्रश्नपत्र भी इस गाइड के अंत में जोड़ दिये गये हैं क्योंकि पिछले वर्ष के प्रश्नपत्र देख लेना कई दृष्टियों से लाभप्रद होता है। इस वर्ष परीक्षा में आने वाले सम्भावित प्रश्नों की सूची भी परीक्षा के कुछ दिन पूर्व आप इस गाइड के साथ लगे कूपन को भेजने पर मंगवा सकते हैं।

गाइड का यह संशोधित संस्करण कई दृष्टियों से आपके लिये लाभप्रद सिद्ध होगा। इसे आप बाजार में उपलब्ध अन्य गाइडों से कहीं अधिक उपयोगी पायेंगे इसे और भी अधिक उपयोगी बनाने के लिये आपके दिये जो सुझाव सहायक होंगे उन्हें मैं सहर्ष ग्रहण करूँगा।

विजयादसमी अक्टूबर—६२.
४७३, मानपाड़ा —आगरा

—विश्वम्भर 'अरुण'

प्रकाशकीय निवेदन

इस पुस्तक के विषय में विशेष निवेदन यह है कि इस संस्करण से पूर्व पुस्तक के लेखक सर्वश्री डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', राजनाथ शर्मा, द्वारिका प्रसाद शर्मा 'द्वारिकेश' थे। उपर्युक्त लेखकों में से श्री कमलेश जी स्वनाम प्रचलन के लिए अनिच्छा व्यक्त की है। अतः ससम्मान उनका नाम इस पुस्तक पर नहीं दिया जा रहा है। नवीन संस्करण के संशोधन, परिवर्द्धन तथा सम्पादय में श्री विश्वम्भर 'अरुण' ने स्तुत्य सहयोग दिया है। श्री अरुण जी ने इस संस्करण में पंचम प्रश्नपत्र के अन्तर्गत मराठी, बगला और गुजराती साहित्य का परिचय लिखकर दिया है शेष सामग्री को उन्होंने सम्पादित एवं संशोधित किया है। अतः सहयोगी पुस्तक लेखक के रूप में साभार अरुण जी का नाम अंकित है।

विशेष परिश्रम, विषय वस्तु तथा आकर्षक साजसज्जा के साथ पुस्तक परीक्षार्थियों की सेवा में 'अंकिचन उपहार' के रूप में समर्पित है।

परीक्षार्थियों के लिये आवश्यक निर्देश

साहित्यरत्न द्वितीय खण्ड की परीक्षा में निम्न पाँच प्रश्न पत्र होते है—

(१) **विशेष कवि**—कबीर, सूर, तुलसी, केशव, देव, हरिश्चन्द्र और प्रसाद में एक कवि अध्ययन के लिये चुनना पडता है।

(२) **भाषाविज्ञान तथा हिन्दी भाषा का इतिहास**—इसके अन्तर्गत भाषा विज्ञान तथा हिन्दी भाषा के इतिहास कर समान रूप से प्राय: ५-५ प्रश्न आते हैं इस तरह कुल १० प्रश्नों में से ५ करने होते हैं।

(३) **साहित्यालोचन, हिन्दी साहित्य का इतिहास और काव्य शास्त्र**—इस प्रश्न पत्र के अन्तर्गत हिन्दी साहित्य के इतिहास के लिये ४० अंक निर्धारित हैं, शेष साहित्यालोचन एवं काव्य शास्त्र के लिये ३०-३० अंकों के प्रश्न आते हैं।

(४) **निबन्ध**—इस प्रश्न-पत्र के अन्तर्गत एक उच्चकोटि का निबन्ध लिखने को आता है।

(५) **प्राचीन भाषा और आधुनिक प्रान्तीय भाषा**— इसमें १॥-१॥ घन्टे के दो प्रश्न-पत्र आते हैं एक प्राचीन भाषा का और दूसरा आधुनिक प्रान्तीय भाषा का। प्रान्तीय भाषा के अंतर्गत संस्कृत, पालि आदि में से एक भाषा चुननी पड़नी है तथा दूसरे भाग के लिये बंगला, गुजराती, मराठी, मलयालम, कन्नड़ आदि में से एक चुननी पड़ती है। दोनों ही प्रश्न पत्र ५०-५० अंक के होते हैं।

प्रथम प्रश्नपत्र में कुछ पाठ्य पुस्तकें नियत होती हैं जिनमें से परीक्षक व्याख्या के लिये कुछ स्थल दे सकता है तथा आलोचनात्मक जानकारी के लिये आलोचनात्मक प्रश्न भी पूछता है। इस प्रकार प्रश्न पत्र के दो भाग होते हैं १- व्याख्या तथा २—आलोचना भाग। व्याख्या प्राय: ४० अंक की होती

है तथा आलोचना ६० अंक की । देखा यह गया है कि पाठ्यक्रम में निर्धारित प्राय: प्रत्येक पुस्तक में से व्याख्या के लिये स्थल तथा आलोचनात्मक प्रश्न पूछे जाते हैं । लेकिन परीक्षार्थी को केवल चार स्थलों की व्याख्या तथा चार प्रश्न ही करने होते हैं अतएव परीक्षार्थियों को चाहिये कि वे समय कम होने के कारण अच्छी महत्वपूर्ण पुस्तकें चुन लें तथा उन्ही को भली प्रकार तैयार कर लें। ऐसा करने से उनका कार्य सुचारू रूप से चल सकता है । व्याख्या तथा आलोचनात्मक प्रश्नों को हल करने की विधि प्रथम प्रश्न-पत्र को हल करने की विधि में दी गई है अतएव परीक्षार्थी उसे देखें ।

द्वितीय प्रश्न-पत्र के अन्तर्गत भाषा विज्ञान अपेक्षाकृत कठिन और दुर्बोध विषय है । किन्तु यदि परीक्षार्थी धैर्य के साथ इस विषय को समझने की कोशिश करें तो यह कठिन भी प्रतीत नहीं होगा । इस गाइड में हमने इस विषय की सभी आवश्यक सामग्री को प्रश्नोत्तर रूप में रख दिया है । उत्तर इस ढंग से दिये गये है कि परीक्षार्थी आसानी से उसे अपने गले से नीचे उतार सकते हैं । उत्तर देने की पद्धति अत्यन्त वैज्ञानिक और भाषा-शैली अत्यंत सरल और सुबोध रही गई है ताकि सामान्य परीक्षार्थी भी पूर्ण लाभ उठ सकें । यही पद्धति साहित्यालोचन, इतिहास और काव्यशास्त्र की सामग्री प्रस्तुत करते समय रही है आशा है ये दोनों ही प्रश्नपत्र परीक्षार्थी भली भाँति तैयार करने में सफल होंगे ।

चतुर्थ प्रश्नपत्र में कुछ परीक्षोपयागी निबंध दे दिये गये हैं । परीक्षार्थियों को चाहिये इन निबन्धों का भली-भाँति पारायण करें और अन्य विषयों पर स्वयं निबन्ध लिखने की कोशिश करें और फिर किसी लेखक, अध्यापक या अन्य किसी सुयोग्य व्यक्ति को दिखा कर उसकी राय ले लें । कुछ निबन्ध और भी तैयार कर लेने चाहिये । निबंध तैयार करने के लिये राजनाथ शर्मा एम० ए० लिखित 'साहित्यिक निबंध' और विश्वम्भर 'अरुण' एम० ए० लिखित 'आलोचनात्मक निबंध' पुस्तकों से सहायता ली जा सकती है । पंचम प्रश्न-पत्र में प्राचीन भाषा संस्कृत में निर्धारित दोनों पुस्तकों 'रघुवंश' (तेरहवाँ सर्ग) और 'मित्रलाभ' को भली भाँति पढ़ लेना चाहिये । संस्कृत के रूप आदि की

सामान्य जानकारी भी प्राप्त कर लेनी चाहिये। प्रान्तीय भाषा में निर्धारित पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद किसी से करवाके उसके भाव को समझना चाहिये तथा उस भाषा के साहित्य की भी थोड़ी बहुत जानकारी भी प्राप्त कर लेने चाहिये। वैसे हमने इसे गाइड मे मराठी, बंगला और गुजराती साहित्य का रूपरेखात्मक परिचय दे ही दिया है।

उचित पुस्तकों और गाइड की सामग्री का अध्ययन करने के पश्चात् और उनमें से आवश्यक प्रश्नों के उत्तर का अध्ययन करने के पश्चात् परीक्षार्थी के लिए यह भी आवश्यक है कि वह दो-तीन बार उत्तरों को अपने घर में लिख-कर अभ्यास करलें। लिखने के बाद वह पुन: उस पुस्तक से मिलान कर लें जिसमें से उत्तर तैयार किया है। ऐसा करने से उसे अपनी गलतियों का ज्ञान हो जायेगा तथा उसके लिखने की शक्ति में भी वृद्धि होगी।

गत वर्ष के परीक्षा पत्रों को भी अच्छी प्रकार से देख लेना चाहिए ऐसा करने से छात्र की समझ में यह आ जाता है कि परीक्षक की प्रवृत्ति किस प्रकार के प्रश्नों को पूछने की ओर है।

अपने लेखन में व्याकरण तथा शब्द की अशुद्धियों से सचेत रहना चाहिए क्योंकि ऐसी अशुद्धियों पर परीक्षक की निगाह फौरन पड़ जाती है और ऐसी गलतियों के लिए वह काफी अंक काट लेता है। प्राय: यह देखा गया है कि परीक्षार्थी अपने प्रश्नों के उत्तर में काफी ठोस और चिन्तन पूर्ण सामग्री दे देते हैं लेकिन व्याकरण तथा शब्द सम्बन्धी अशुद्धियों की ओर असावधानी बरतने से उनके बहुत से अंक कट जाते हैं। और कभी-कभी तो वे असफल भी हो जाते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि परीक्षार्थी अपने लेखों को किसी हिन्दी के अध्यापक को दिखाले तथा उनमें जो अशु-द्धियाँ बताई गई हों उन्हें अलग लिखलें तथा बराबर उन्हें ध्यान में रखें। व्याकरण या रचना सम्बन्धी कोई पुस्तक को अवश्य पढ़ लेनी चाहिए तथा पढ़ते समय जहाँ यह मालूम पड़े कि यह अशुद्धि मुझसे हो जाती है उसे नोट कर लेना चाहिए और भविष्य में उस प्रकार की अशुद्धि न हो—इस ओर सचेत रहना चाहिए।

लेखन गति (Speed) तेज होनी चाहिए तथा लेख सुन्दर होना चाहिए। गति बढ़ाने के लिए घर बराबर लिखने का अभ्यास करना चाहिए तथा सुन्दर लेख बनाने के लिए आवश्यक है कि शब्दों को सुन्दर बना-बनाकर लिखने का अभ्यास करना चाहिए तथा जिनका हस्तलेख सुन्दर हो उनको लिखते समय इस बात पर अच्छी प्रकार से गौर करना चाहिए कि वे अमुक शब्द को किस प्रकार बनाकर लिखते हैं उसी को ध्यान में रख कर लिखने का अभ्यास रखना चाहिए।

प्रश्नपत्र हल करते समय

जब आप परीक्षा-भवन में प्रश्न-पत्र हल करने जाएँ तो निम्न बातों को ध्यान में रखें—

१—सबसे पहले प्रश्नपत्र को भली प्रकार पढ़ लेना चाहिए। पुनः ऐसे प्रश्नों को चुन लेना चाहिए जिन्हें आप भली भाँति कर सकते हों। चुने हुए प्रश्नों तथा व्याख्या-स्थलों पर चिन्ह (✓) लगा लेना चाहिए। सबसे पहले उस प्रश्न को हल करना चाहिए जो छात्र को सर्वाधिक सुन्दर रूप में तैयार हो। उसके बाद क्रम से अन्य प्रश्नों को करना चाहिए।

२—समय का भी भली भांति विभाजन आवश्यक है। हमारे विचार में समय के विभाजन का क्रम इस प्रकार होना चाहिए।

प्रथम प्रश्न-पत्र के लिये—

१—प्रश्न पत्र को समझने तथा प्रश्नों के चुनाव के लिए	१० मिनट
२—व्याख्या के लिए	१ घण्टा
३—प्रश्नों के लिये	१ घण्टा ४५ मिनट
४—लिखे हुए प्रश्नों को दोबारा देखने के लिए	५ मिनट

द्वितीय और तृतीय प्रश्नपत्रों के लिये—

१. प्रश्नपत्र को समझने और प्रश्नों के चुनाव के लिये	—१० मिनट

२. चुना हुआ प्रथम प्रश्न अच्छी तरह करने के लिये —४५ मिनट

३. शेष ४ प्रश्नों के लिये --२ घण्टे

(अर्थात प्रत्येक प्रश्न के लिये आधा घण्टा)

४. लिखे हुए प्रश्नों को दोहराने के लिये — ५ मिनट

चतुर्थ के लिये—

१. निबंध के चुनाव के लिये —१० मिनट

२. निबंध की रूपरेखा निर्धारित करने के लिये —२० मिनट

३. निबंध लिखने के लिये —२ घण्टे १५ मिनट

४. निबंध को दोहराने के लिये —१५ मिनट

पंचम प्रश्न पत्र के लिये

१—प्राचीन भाषा के लिये १॥ घण्टे

२—प्रान्तीय भाषा के लिये १॥ घण्टे

इस प्रकार तीन घण्टे के समय का पूर्ण सदुपयोग करना चाहिए। समय का पूरा ध्यान रखना चाहिए क्योंकि छूटे हुए बाण की भाँति पुनः समय लौटकर नहीं आता।

३—प्रथम व्याख्या तथा प्रथम प्रश्न को हल करने में अन्य व्याख्या तथा प्रश्नों से अधिक समय देना चाहिए। क्योंकि एक तो परीक्षार्थी को वह व्याख्यात्मक प्रश्न भली भाँति तैयार होने से अधिक समय लग भी जाता है फिर प्रायः पहले प्रश्न को देखकर ही परीक्षक उत्तर पुस्तिका के स्तर के बारे में अपनी धारणा बना लेता है अतः यह सावधानी बरतनी आवश्यक है।

४—समय के अभाव में यदि प्रश्न छूट रहा है तो उसे पोइण्ट गिनाकर पूरा कर देना चाहिए। इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि कोई भी प्रश्न छूटना नहीं चाहिए।

५—पैराग्राफ विराम चिन्हों आदि के बारे में पूर्ण सतर्कता बरतनी चाहिए। अपने प्रश्नों को पैराग्राफ में विभाजित करके हल करना चाहिए।

६—प्रत्येक नया प्रश्न नवीन पृष्ठ पर शुरू करना चाहिए प्रत्येक पृष्ठ पर हासिया भी छोड़ देना चाहिए।

७—किसी प्रकार के स्याही आदि के धब्बे पुस्तिका पर नहीं पड़ने चाहिये तथा अधिक काटा-फाँसी भी नहीं होनी चाहिये—इससे परीक्षक पर बुरा असर पड़ता है।

८— उत्तर-पुस्तिका मिलने पर उस पर दी हुई हिदायतों को परीक्षार्थी भली भाँति समझले। उन्हें पूर्ण रूप से पालन करने की ओर भी प्रवृत्त रहे। पुस्तिका पर कहीं भी अपना नाम न लिखे और न ही प्रारम्भ में 'श्री गणेश' 'ॐ' आदि लिखना चाहिये। परीक्षक को सम्बोधित करके किसी प्रकार की प्रार्थना या निवेदन भी नहीं लिखना चाहिए।

[illegible] अध्ययन (विशेष कवि) [illegible] की विधि

प्रथम खण्ड के अन्तर्गत निम्नलिखित सात कवियों में से किसी एक को अध्ययन के लिये निर्धारित करना पड़ता है—

१. कबीर, २. सूरदास, ३. तुलसीदास, ४. केशव, ५. देव, ६. भारतेन्दु और ७. प्रसाद।

प्रायः परीक्षार्थी सूर, भारतेन्दु और प्रसाद में से ही एक चुनते हैं और ऐसा करना सुविधाजनक भी रहता है। प्रथम बात तो यह है कि सूर और हरिश्चन्द्र का साहित्य सहज बोधगम्य है—परीक्षार्थी आसानी से थोड़ा श्रम करके उसे समझ लेता है। प्रसाद का साहित्य दुर्बोध अवश्य है किन्तु परीक्षार्थी प्रसाद के अधिकांश साहित्य से पहले ही परिचित होते हैं। उदाहरणार्थ—विशारद परीक्षा में वे 'आधुनिक काव्य संग्रह' में संग्रहीत उनकी फुटकर कविताएँ, 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक और कहानीकला का अध्ययन कर ही चुके होते हैं। इसी प्रकार साहित्यरत्न प्रथम खण्ड के अन्तर्गत 'कामायनी' 'चन्द्रगुप्त' आदि उनकी सर्वोत्कृष्ट कृतियों का अध्ययन कर लेते हैं उनकी कहानीकला पर भी उन्हें पढ़ना ही पड़ता है, साथ ही आधुनिक काव्य प्रवृत्तियों, नाट्य साहित्य, कथा साहित्य छायावाद आदि का अध्ययन करते समय प्रसाद साहित्य के महत्व से अवगत होना ही पड़ता है। दूसरा कारण यह भी है कि प्रसाद पर कबीर, केशव देव आदि की अपेक्षा अच्छी और अधिक समालोचनात्मक पुस्तकें उपलब्ध हो जाती हैं। इन्हीं सब कारणों से यदि परीक्षार्थी प्रसाद को अपना विशेष कवि चुने तो उन्हें तुलसी आदि की भाँति परेशानी नहीं होगी। हमारे विचार से जो प्रबुद्ध और श्रम करने वाले परीक्षार्थी हैं उन्हें प्रसाद चुन लेना चाहिये। वैसे आसानी सूर को चुनने में रहती है और अधिकांश छात्र सूर को ही विशेष कवि के रूप में चुनते भी हैं। भारतेन्दु का अध्ययन भी सरल रहता है।

आप सूर, भारतेन्दु, प्रसाद या अन्य कोई भी कवि लें इन प्रश्नपत्र में दो प्रमुख भाग होते हैं– व्याख्या वाला भाग और आलोचना वाला भाग। परीक्षार्थी को सबसे पहले विशेष कवि पर निर्धारित पाठ्य पुस्तकों को व्याख्या की दृष्टि से तैयार करना चाहिये। व्याख्या के लिये सभी पुस्तकों को आद्योपांत तैयार करना आवश्यक नहीं है अपितु महत्वपूर्ण कृतियों और महत्वपूर्ण अंशों को तैयार करना ही अपेक्षित होता है। जैसे प्रसाद के अन्तर्गत महत्वपूर्ण काव्य कृतियों 'कामायनी', 'आँसू' को चुनना चाहिये, नाट्यकृतियों में 'अजातशत्रु' 'ध्रुव स्वामिनी' आदि को चुना जा सकता है। इसी प्रकार भारतेन्दु के नाटकों में 'चन्द्रावली', 'भारत दुर्दशा', 'सत्य हरिश्चन्द्र' आदि महत्वपूर्ण नाटकों को व्याख्या की दृष्टि से तैयार करना श्रेयस्कर रहता है। व्याख्या प्रायः १०० अंकों में ४० अंकों की आती है अतः इसकी उपेक्षा बिलकुल नहीं करनी चाहिये। फिर व्याख्या पर जितने अधिक अङ्क प्राप्त होते हैं उतने आलोचना वाले प्रश्नों में प्राप्त नहीं होते। एक बात और भी है कि यदि व्याख्या की दृष्टि से पुस्तकों को अच्छी तरह तैयार कर लिया है तो उन पर आलोचना समझने में और तैयार करने में बड़ी सुविधा रहती है। आलोचना वाले भाग के लिये परीक्षार्थी को विशेष कवि पर अच्छी और उपयोगी आलोचनात्मक पुस्तकों का अध्ययन कर लेना चाहिये। उदाहरणार्थ सूर पर सर्वश्रेष्ठ समीक्षा-पुस्तक 'सूर की साहित्य साधना' है जिसमें सूर साहित्य के विविध पक्षों पर सुन्दर और विद्वता पूर्ण प्रकाश डाला गया है। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि यह किसी एक लेखक द्वारा लिखित न होकर बाबू गुलाबराय, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० भगीरथ मिश्र आचार्य विनयमोहन शर्मा आदि ४० अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखित निबन्धों का संकलन है। डा० हरवंशलाल शर्मा तथा डा० मनमोहन गौतम की पर लिखी पुस्तकें भी छात्रोपयोगी हैं। इसी प्रकार प्रसाद पर नन्द वाजपेयी लिखित 'जयशंकर प्रसाद' विनयमोहन शर्मा लिखित 'आँसू तथा अन्य काव्यकृतियों,' डा० द्वारकाप्रसाद सक्सेना लिखित 'कामायनी काव्य कला, और संस्कृति' डा० रामेश्वर लाल 'तरुण' कृत 'महाकवि प्रसाद' आदि पुस्तकें उपयोगी एवं पठनीय हैं।

जैसा कि हमने ऊपर बताया कि परीक्षाओं में व्याख्या भली प्रकार तैयार कर लेनी चाहिये । व्याख्या अच्छी होने पर परीक्षक १० में से ६ अंक भी दे देता है और कभी-कभी १० भी दे देता है किन्तु सामान्यतः अन्य प्रश्न कितने ही अच्छे क्यों न किये जावें -- १५ में से अधिक से अधिक ११ या १२ अंक ही प्राप्त होते हैं । बहुधा परीक्षार्थी व्याख्या करने की सही विधि से परिचित नहीं होते । अतः पहले व्याख्या को ठीक ढंग से करने की विधि जान लेनी आवश्यक है--

व्याख्या करने की विधि

प्रत्येक कवि के प्रश्नपत्र में व्याख्या के लिये प्रायः छै या आठ तक स्थल दिये जाते हैं जिनमें से ३ या ४ स्थलों की व्याख्या करनी आवश्यक होती है । अतः जिन स्थलों की व्याख्या अच्छी तैयार हो उन्हें व्याख्या करने के लिये चुन लेना चाहिये । फिर व्याख्या को तीन भागों में विभक्त कर लेना चाहिए । प्रथम भाग में उस ग्रन्थ का उल्लेख आवश्यक होता है जिसमें से उस काव्य स्थल को लिया गया है । यदि काव्य-स्थल किसी प्रबन्ध-काव्य में से लिया गया है तो उससे पूर्व की स्थिति को स्पष्ट कर देना आवश्यक होता है और यदि किसी मुक्तक रचना से लिया गया है (जैसे कबीर या सूर-काव्य में से) तो उस रचना का मूल भाव भूमिका रूप से दो पंक्तियों में कह देना ठीक होगा ।

अब दूसरे भाग की बात लीजिये । इस भाग में काव्यांश की व्याख्या सरल से सरल शब्दों में और स्पष्ट शैली में होनी चाहिए । व्याख्या में जितनी स्पष्टता होगी उतने अधिक अंक मिलने की गुंजाइश रहेगी । व्याख्या का मतलब शब्दार्थ ही नहीं होता अपितु शब्दों में निहित भाव और विचारों का पूर्णतः स्पष्टीकरण आवश्यक है । व्याख्या बहुत अधिक लम्बी न हो और न हीं बहुत छोटी हो । सामान्यतः काव्यांश के परिमाण से तिगुनी और चौगुनी हो सकती है ।

तीसरे भाग में काव्यांश में निहित काव्य-सौन्दर्य तथा विचारधारा का स्पष्टीकरण करना होता है । काव्य-सौन्दर्य के अन्तर्गत रस, अलंकार, भाषा

छन्द आदि का वैशिष्ट्य दिखाना आवश्यक होता है। [illegible] कवि की रचना किसी दार्शनिक या राजनैतिक मत, सिद्धान्त या वाद की ओर झुकने की प्रवृत्ति हो तो उसे स्पष्ट करना चाहिए, (जैसे तुलसी में कहीं कहीं दर्शन का प्रभाव है तो कहीं खंडन का)। इसके बाद यदि उस कवि के भाव का साम्य या वैषम्य किसी अन्य कवि की कविता से अंकित होता हो तो उसका उल्लेख करना अच्छा रहता है।

कुछ मिलाकर व्याख्या [illegible] को अधिक से अधिक [illegible] घंटे में समाप्त कर लेना चाहिये।

आलोचनात्मक प्रश्न हल करने की विधि

शेष ६० अंकों के परीक्षक छात्रों पर आलोचनात्मक प्रश्न पूछता है। ये प्रश्न सामान्यतः निम्न प्रकार के होते हैं :--

१—कवि के जीवन तथा कृतित्व सम्बन्धी प्रश्न -

प्राचीन कवियों के जीवन के बारे में [illegible] परीक्षक कवि की जन्मतिथि, उसके जन्मस्थान के [illegible] में पूछ लेता है। इस प्रकार का एक न एक प्रश्न कबीर, सूर, तुलसी आदि कवियों के सम्बन्ध में अवश्य आते हैं। ऐसे प्रश्नों को दो आधार पर करना चाहिये— (क) अन्तंसाक्ष्य—इसमें कवि के स्वरचित ग्रन्थों में कही गई वे उक्तियाँ आती हैं, जिनसे उसके जीवन पर प्रकाश पड़ता है और (ख) बहिर्साक्ष्य—में वह सामग्री आती है जो उस कवि के सम्बन्ध में उस समय के अन्य इतिहासकारों तथा कवियों ने लिखा है। इन दोनों आधारों पर तत्-सम्बन्धी प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत करके अपने विचार लिखने चाहिये। कभी-कभी कृतित्व सम्बन्ध में भी इस प्रकार के प्रश्न पूछ लिये जाते हैं कि अमुक कवि ने कितने ग्रन्थ रचे अथवा अमुक ग्रन्थ को उस कवि की कृति मानना कहाँ तक युक्ति संगत है ? 'सूर सारावली' सूर कृत है अथवा नहीं—इस सम्बन्ध में अपना उत्तर सप्रमाण दीजिये। इस सम्बन्ध में भी तत्सम्बन्धी प्राप्त सामग्री को क्रमबद्ध रूप से उत्तर में रख देना चाहिये। लेकिन इस प्रकार के प्रश्न सूर, तुलसी आदि प्राचीन कवि के प्रश्नपत्र में ही पूछे जाते हैं। प्रसाद आदि आधु-

निक [illegible] ... [illegible]
अतः [illegible] ... [illegible]
अच्छा है [illegible] ... [illegible]
सकता है क्योंकि [illegible]

२—तुलनात्मक [illegible] विशेष प्रवृत्ति के आधार पर पूछे जा [illegible] जाती है। इनके लिये [illegible] कवियों के गुणों को [illegible] कर लेना चाहिये, उनके आधार पर [illegible] किया जा सकता है। कुछ ऐसे उदाहरणों को भी कण्ठस्थ कर लेना चाहिये, जो दोनों कवियों की भावना या प्रवृत्तिगत समानता को सूचित करते हों। तुलना का तात्पर्य समानता से नहीं है अतएव समानता के साथ-साथ दोनों कवियों के वैषम्य को दिखाना भी आवश्यक है। जिस प्रवृत्ति या भाव के आधार पर तुलना पूछी गई है उसी का तुलनात्मक विवेचन होना चाहिये। उससे दूर जाने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये।

३—काव्य सौष्ठव सम्बन्धी प्रश्न—रस, अलंकार, भाषा, छन्द आदि के सौष्ठव पर भी प्रश्न अधिकांशतः पूछे जाते हैं और प्रायः ऐसे प्रश्न ही सब से अधिक पूछे जाते हैं अतः इन्हें तैयार करना सबके अधिक आवश्यक होता है। ऐसे प्रश्नों की भाषा इस प्रकार होती है—

*'रामचरित मानस' के काव्य सौष्ठव पर प्रकाश डालिये ?

*कबीर के साहित्यिक सौन्दर्य पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

*सूर का वियोग-वर्णन अद्वितीय है, इस कथन की विवेचना करो।

*भाव और भाषा की दृष्टि से 'विनयपत्रिका' अथवा 'आँसू' का मूल्यांकन कीजिये।

ऐसे प्रश्नों का उत्तर भावपक्ष और कलापक्ष के आधार पर करना चाहिये। पहले भावपक्ष में यह दिखाना चाहिए कि अमुक कवि ने कितने रसों का वर्णन किया है ? किन रसों में उसकी वृत्ति विशेष रमी है ? तथा रस-वर्णनों में वह कितनी गहराई तक पैठ सका है ? और यदि विशेष रस (जैसे वीर रस या,

विरह शृंगार के बारे में) भी पूछा गया है तो [illegible] की विशेषताओं को विस्तार से समझाना चाहिये। फिर कलापक्ष के [illegible], भाषा, शैली तथा छन्द आदि के आधार पर विवेचन करना चाहिये। यदि प्रश्न में केवल रस भाषा या अलंकार के सम्बन्ध में ही पूछा गया है तो उसी आधार पर प्रश्न हल करना चाहिये—अन्य [illegible] बातों को नहीं लिखना चाहिये।

४—विचार धारा या सिद्धान्त सम्बन्धी प्रश्न—प्रत्येक कवि किसी न किसी मत का अनुयायी होता है अतः परीक्षक कवि के मत या विचारधारा के सम्बन्ध में भी प्रश्न पूछ लेता है। ये प्रश्न निम्न [illegible] हो सकते हैं:-

*"कबीर निर्गुणवादी थे"—इसकी विवेचना कीजिये।

*तुलसी पर किन-किन मतों का प्रभाव पड़ा है? स्पष्ट कीजिये।

*"भारतेन्दु की 'चन्द्रावली' पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों का व्याख्यान ही है।" कथन की विवेचना कीजिये।

*"प्रसाद जी आनन्दवादी कलाकार थे"—इस [illegible] की मीमांसा कीजिये।

ऐसे प्रश्नों के उत्तर में उस सिद्धान्त या मत को सर्वप्रथम एक पैराग्राफ में समझाना चाहिये। साथ में उस मत या सिद्धान्त के आदि स्रोत के बारे में भी कुछ पंक्तियाँ लिखनी चाहिये तथा इसके साथ ही तत्कालीन कवियों और सामान्य जनता पर उस सिद्धान्त या विचारधारा का कहाँ तक प्रभाव पड़ा है—इसको भी स्पष्ट कर देना चाहिये। इसके बाद उस कवि पर उस विचारधारा के प्रभाव पड़ने के क्या कारण थे? तथा कहाँ तक वह उससे प्रभावित हुआ? इसे भी स्पष्ट करना आवश्यक है। फिर, उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध करना चाहिये कि किस सीमा और परिमाण में उस विचारधारा का कवि पर प्रभाव है। अन्त में निष्कर्ष रूप में अपने विचारों को सार रूप में एक पैरा रख देना चाहिये।

५—संक्षिप्त विवेचन या टिप्पणियाँ—कभी-कभी संक्षिप्त टिप्पणियाँ भी पूछ ली जाती हैं जिनमें परीक्षक निर्दिष्ट विषय पर संक्षिप्त विवेचन

द्वितीय प्रश्नपत्र [illegible]

द्वितीय प्रश्नपत्र में दो भाग होते हैं—१—भाषा विज्ञान और २—हिन्दी भाषा का इतिहास। दोनों ही [illegible] में प्रश्न आते हैं। भाषाविज्ञान शास्त्र और विज्ञान है। अतः इसके प्रश्नों के उत्तर व्याख्यात्मक, सुस्पष्ट और तर्क संगत होने चाहिये। यहाँ [illegible] की गुंजाइश नहीं रहती। भाषाविज्ञान की परिभाषा, प्रकृति, विस्तार, अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध आदि विषयों में से एक प्रश्न अवश्य आता है। उदाहरणार्थ प्रश्नों के रूप—इस प्रकार होते हैं—

"भाषा से आप क्या समझते हैं? भाषा के शास्त्रीय अर्थ को बताते हुए उसके संकुचित एवं व्यापक रूपों पर भी प्रकाश डालिये।"

"भाषाविज्ञान की परिभाषा करते हुए उसकी व्याकरण से तुलना कीजिये।"

"भाषाविज्ञान विज्ञान है अथवा कला—सतर्क उत्तर दो।"

भाषाविज्ञान के ऊपर भारत में अथवा योरोप में क्या-क्या कार्य हुए हैं—इस पर भी प्रश्न अधिकांशतः पूछ लिया जाता है। इस प्रश्न के उत्तर में भाषाविज्ञान के सम्बन्ध में हुए कार्यों को ऐतिहासिक क्रम की दृष्टि से उल्लिखित कर देना चाहिये। ऐसे उत्तर में कोरा विवरण ही दिया जाता है।

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रश्न बहुधा पूछ लिया जाता है अतः इस विषय को अवश्य तैयार कर लेना चाहिए। इस विषय में सम्बन्धित बहुधा इस प्रकार के होते है—

"भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मतों का उल्लेख कीजिये।"

"भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विकासवाद के मत की विवेचना कीजिये और बताइये क्या यह मत संतोषप्रद है।"

भाषा के वर्गीकरण तथा भाषा के अन्तरों [illegible]
एक प्रश्न अवश्य होता है।

जैसे—

"भाषा के आकृतिमूलक वर्गीकरण पर प्रकाश डालिये।"

"भाषा का पारिवारिक वर्गीकरण कीजिये।"

"भारोपीय परिवार की भाषाओं का संक्षेप में परिचय दीजिये।

"भाषा, विभाषा, राष्ट्रभाषा और बोली में पारस्परिक अन्तर को स्पष्ट कीजिये।"

अर्थविचार, ध्वनिविचार, रूपविचार आदि से सम्बन्धित प्रश्न भी होते हैं।

इनके अतिरिक्त बहुधा टिप्पणी वाला प्रश्न भी होता है जिसमें या तो संक्षिप्त प्रश्न होते हैं जैसे—

"भाषा अर्जित सम्पत्ति है अथवा परम्परागत"
"भाषाविज्ञान कला की अपेक्षा विज्ञान अधिक है।"

या फिर कुछ विषय देकर उन पर संक्षेप में परिचयात्मक टिप्पणी पूछ ली जाती हैं—ऐसे प्रश्नों में संक्षेप में परिचय देना ही [illegible] होता है—अधिक विस्तार में विवेचन वहाँ वांछित नहीं है।

२. हिन्दी भाषा का इतिहास—इसमें भी ५ या ६ प्रश्न होते हैं जिनमें से दो अनिवार्य रूप से करने होते हैं और यदि परीक्षार्थी चाहे तो ३ भी कर सकता है। जैसा कि स्पष्ट है इस भाग के प्रश्न या तो हिन्दी भाषा के इतिहास के सम्बन्ध में होते हैं, ऐसे प्रश्नों में हिन्दी भाषा का विकास पूछा जाता है और फिर हिन्दी कारक चिन्हों, परसर्गों, सर्वनाम, आदि के विकास पर प्रश्न होते हैं। ऐसे प्रश्न के लिये परीक्षार्थी को विकास की रूपरेखा स्पष्ट रूप से ध्यान में रखनी चाहिये। या हिन्दी पर भाषाविज्ञान के नियमों को घटित करने वाले प्रश्न होते हैं। एक प्रश्न शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में भी होता है परीक्षार्थी को चाहिये कि शब्द का प्राचीन रूप लिखे और फिर

उसका वर्तमान रूप भाषाविज्ञान के किन नियमों के आधार पर विकसित हुआ उसका उल्लेख करें।

हिन्दी भाषा पर सामयिक दृष्टि से विचार प्रस्तुत करने वाला भी एक प्रश्न होता है जैसे---

सिद्ध कीजिये भाषाविज्ञान की दृष्टि से हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है।

देवनागरी लिपि और दक्षिणी हिन्दी पर भी एक और कभी-कभी दो प्रश्न अवश्य होते हैं अतः इन पर अच्छी प्रकार से तैयार करना चाहिये।

विषय सूची

प्रश्नपत्र—२

भाषा-विज्ञान

प्रश्न | पृष्ठ

हिन्दी भाषा का इतिहास

प्रश्नपत्र—२

भाषा-विज्ञान

और

हिन्दी भाषा का इतिहास

भाषा-विज्ञान

प्रश्न १—भाषा से आप क्या समझते हैं ? भाषा के शास्त्रीय अर्थ को स्पष्ट करते हुए उसके व्यापक एवं संकुचित रूपों पर प्रकाश डालिये ।

उत्तर—'भाषा' क्या है—यह एक जटिल प्रश्न है । सामान्य रूप से तो 'भाषा' शब्द बड़ा सरल मालूम पड़ता है; लेकिन इसकी परिभाषा करना उतना ही कठिन-साध्य है । 'भाषा' शब्द को विविध अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है । जब एक व्यक्ति अपने भावों अथवा विचारों को अर्थपूर्ण शब्दों के माध्यम से दूसरे व्यक्ति के लिये व्यक्त करता है तो उस व्यक्तिकरण को भाषा कहा जाता है । सामान्यत: भाषा का यही अर्थ लिया जाता है । किन्तु भाषा का यह अर्थ संकुचित माना जाता है । भाषा देश, प्रदेश या जाति में सीमित भी हो जाती है तभी कहते हैं इङ्गलैंड की भाषा, बंगाल की भाषा, ब्राह्मणों की भाषा । इस प्रकार देश या जाति-विशेष की भाषा के रूप में भाषा का अर्थ लिया जाता है; किन्तु यह भी भाषा का संकुचित अर्थ है । कभी-कभी विशेष वर्ग या व्यक्ति से भी भाषा को सम्बद्ध कर दिया जाता है, जैसे व्यापारियों की भाषा, नेहरू की भाषा, प्रसाद की भाषा आदि । किन्तु भाषा के ये सभी अर्थ संकीर्ण हैं—भाषा के वास्तविक मर्म का उद्घाटन इनसे नहीं हो पाता ।

'भाषा' का शास्त्रीय अर्थ समझने के लिये पहले विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं को देखना होगा । भाषा के सम्बन्ध में दी गई कुछ प्रमुख विद्वानों की परिभाषायें निम्नलिखित हैं—

(1) "Language is expression of human thought by means of Speech Sound or articulate sounds."

भाषा मानवीय ध्वनि-संकेतों के द्वारा मानवीय विचारों की अभिव्यक्ति है।

(2) "The common definition of speech as the use of articulate sound Symbols for the expression of Thought"

—A. A. Gardiner

(विचाराभिव्यक्ति के हेतु व्यक्त ध्वनियों के व्यवहार को भाषा कहते हैं।)

(३) "जिन ध्वनि-चिन्हों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है, उनको समष्टि रूप से भाषा कहते हैं।" —डा० बाबूराम सक्सेना

(४) "मनुष्य-मनुष्य के बीच वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान-प्रदान करने के लिए व्यक्त ध्वनि-संकेतों का जो व्यवहार होता है, उसे भाषा कहते हैं।" —बाबू श्यामसुन्दर दास

(५) "भाषा मनुष्यों की उस चेष्टा या व्यापार को कहते हैं जिससे मनुष्य अपने उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों से उच्चारण किये गये वर्णात्मक या व्यक्त शब्दों के द्वारा अपने विचारों को प्रकट करते हैं।"

—डा० मंगलदेव शास्त्री

उपर्युक्त परिभाषाओं का अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि भाषा विचार की अभिव्यक्ति अथवा विचार-विनिमय का साधन है, जो ध्वनि-संकेतों द्वारा व्यक्त होती है। सरल शब्दों में भाषा के शास्त्रीय अर्थ को हम इस प्रकार बता सकते हैं— विचार की अभिव्यक्ति के लिये व्यक्त ध्वनि-संकेतों के व्यवहार को भाषा कहते हैं।

इन परिभाषाओं में भाषा के विचारांश पर अधिक जोर नहीं दिया गया है। भाषा विचारों को व्यक्त करती है, पर विचारों से अधिक सम्बन्ध उसका वक्ता के भाव, इच्छा, प्रश्न, आज्ञा आदि मनोभावों से रहता है। 'विचार' का व्यापक अर्थ लेने से उनमें इन सभी का समावेश हो सकता है। साधारण से साधारण व्यक्ति भी यह समझता है कि वह सदा विचार प्रकट करने के लिए ही नहीं बोलता है। भाषा सदैव किसी न किसी वस्तु के विषय में कुछ कहती है। इसके अतिरिक्त भाषा समाज-सापेक्ष होती है, मनुष्य सामाजिक जीव है,

वह सहयोग और विनिमय के बिना कभी नहीं रह सकता। उसकी यह प्रबल प्रवृत्ति भाषा के रूप में प्रकट होती है। पीछे से विकसित होते-होते भाषा विचार और आत्माभिव्यक्ति का भी साधन बन जाती है। अतः भाषा एक सामाजिक वस्तु है।

मनुष्य अपनी आत्माभिव्यक्ति कई प्रकार से करता है। भाव-प्रकाशन जीव की प्रकृति है। सभी अपने हृदयगत भावों का स्पष्टीकरण किसी न किसी रूप में करते हैं। इस प्रकार आँख, हाथ, पाँव आदि के संकेत मुख-विकृति, मस्तक हिलाना आदि द्वारा अपने भाव प्रकाशित करना लगभग सभी भाषाओं में पाये जाते हैं। किसी-किसी जाति में इङ्गित भाषा भी मिलती है। आस्ट्रेलिया के कुछ आदिम निवासी रात में अग्नि के समक्ष ही विचार-विनिमय करते हैं। साधारण बोलचाल में भी इङ्गित भाव-प्रकाशन में अनिवार्य रूप से साथ ही रहते हैं। लेखबद्ध संकेतों के द्वारा भी विचार-विनिमय होता है। लेखों के द्वारा देश-देशान्तरों के व्यक्तियों से भी लोग बातें करते हैं। प्राचीन कवियों एवं लेखकों की लेखबद्ध रचनायें विचार-विनिमय के साधन हैं।

यद्यपि व्यापक अर्थ में भाव-प्रकाशन के सभी प्रकारों को भाषा कहा जा सकता है, पर भाषा इङ्गितों आदि को नहीं कहते। भाषा मनुष्य से सम्बन्धित है। पशु-पक्षी भी भाव-प्रकाशन करते ही हैं। पर उनके संकेतों को हम भाषा नहीं कह सकते। इस प्रकार भाषा केवल वर्ण-ध्वनि-संकेतों को ही कहते हैं। विचार की अभिव्यक्ति के लिए जो वर्ण-ध्वनि-संकेत समाज के द्वारा स्वीकृत हैं और जिनका व्यवहार होता है, वही भाषा है। भाषा विचारों तथा मनोभावों का प्रतिबिम्ब अथवा वाह्य स्वरूप है। यदि विचार आत्मा है, तो भाषा शरीर है। भाषा की विशेषतायें ये हैं—१—भाषा किसी न किसी वस्तु के विषय में चाहे वह भौतिक हो अथवा मानसिक, विचार प्रकट करती है। २—भाषा अर्जित सम्पति है, प्राकृतिक नहीं और वह अनुकरण से सीखी जाती है, अतः समाज-सापेक्ष है। ३—मनुष्य भाषा का प्रयोग सदैव परस्पर विचार-विनिमय के लिये ही करते हैं, अतः भाषा सप्रयोजन है। यही कारण

है कि पशु-पक्षियों की भाषा जो सहज और स्वाभाविक ध्वनियों के रूप में होती है, मनुष्य की भाँति सप्रयोजन नहीं, नहीं कही जा सकती ।

भाषा का पद केवल मनुष्यों की भाषा को ही प्राप्त है, पशु-पक्षियों की भाषा को नहीं । यह मनुष्यों को ईश्वर की देन-विशेष है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि भाषा प्राकृतिक है और इस पर मनुष्य जाति का जन्मसिद्ध अधिकार है । मनुष्य भाषा का अर्जन कर सकता है, उत्पादन नहीं । भाषण का बीज प्रत्येक नवजात शिशु की सहज और स्वाभाविक ध्वनियों में पाया जाता है । भाषा का आधार सामान्य दृष्टि से केवल 'व्यक्त ध्वनि-संकेतों' का एक समूह-मात्र है । 'ध्वनि-संकेतों' से अभिप्राय शब्दों और वाक्यों से है । इनके दो रूप होते हैं—मूर्त और अमूर्त, प्रत्यक्ष और परोक्ष, वाह्य और आन्तरिक. शब्द और अर्थ, व्यक्त ध्वनि-सकेत और उनसे अभिव्यक्त होने वाले विचार तथा भाव, प्रकट और अप्रकट, भौतिक और मानसिक । विचार तथा भाव मन अथवा मस्तिष्क से सम्बन्धित होने के कारण मानसिक क्रिया है, जिनका बाह्य स्वरूप शब्द तथा वाक्य है । अतः भाषा के दो आधार है—मानसिक और भौतिक । यदि मानसिक आधार भाषा का प्राण है तो भौतिक आधार भाषा का शरीर है ।

मनुष्य भाषा का ज्ञान संसर्ग तथा अनुकरण द्वारा प्राप्त करता है । यद्यपि भाषण-क्रिया अनित्य तथा क्षणिक है । उसमें वैयक्तिक विभिन्नता के कारण नित्यप्रति परिवर्तन होते रहते हैं, परन्तु इसका भाषा पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता । जब कोई ध्वनि-संकेत अकस्मात् किसी वस्तु-विशेष का प्रतीक बन जाता है और वह प्रयोग चल निकलता है, तो उसको बुद्धिगत कारणों से सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया जाता, वरन् सब उसको वैसे ही ठीक मान कर प्रयोग करने लगते हैं । इसका कारण यह है कि भाषा का मुख्य उद्देश्य है विचार-विनिमय कराना । यदि उसमें नित्यप्रति नवीनता बढ़ती जाय, तो विचार-विनिमय में कठिनाई पड़े । अतः नवीनता को यथाशक्ति रोका जाता है । इस प्रकार भाषा एक सामाजिक सम्पत्ति है । यद्यपि वैयक्तिक विभिन्नता के कारण उसमें कुछ न कुछ विकार अवश्य होते रहते हैं, परन्तु फिर भी उसकी धारा अविच्छिन्न रहती है । अतः हमको अपनी नई भाषा

नहीं बनानी पड़ती, वरन् अपने पूर्वजों की ही भाषा सीखनी पड़ती है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि भाषा किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होती, अपितु वह एक परम्परागत सम्पत्ति के रूप में ही हमें प्राप्त होती है।

भाषा का व्यवहार कई अर्थों में होता है। सामान्य बोली (वाक्शक्ति) को भी भाषा कहते हैं। जैसे गूंगे के पास भाषा नहीं है। बच्चा भाषा धीरे-धीरे प्राप्त करता है। इसका प्रयोग सामान्य भाषा के लिए भी होता है। भाषा बोली को भी कहते हैं। किसी बुन्देली भाषा के लिए हम कह सकते हैं कि इसकी भाषा बुन्देली है, प्रान्तीय भाषा, जैसे मराठी, बंगाली, गुजराती आदि को भी हम भाषा के ही नाम से पुकारते हैं। राष्ट्रभाषा अथवा धर्म भाषा को भी हम व्यवहार में भाषा ही कहते हैं। पर शास्त्रीय दृष्टि से 'कई भाषाओं में व्यवहृत होने वाली एक शिष्ट परिग्रहीत विभाषा ही भाषा, कहलाती है। उदाहरण के लिए हिन्दी प्रदेश में बाँगरू, ब्रज, बुन्देली, कन्नौजी, खड़ी बोली, अवधी, बघेली, भोजपुरी और छत्तीसगढ़ी बोलियाँ बोली जाती हैं। इन सभी विभाषाओं में से खड़ी बोली को अच्छा अवसर प्राप्त हुआ। मुस्लिम शासक-गण दिल्ली में आकर बसे, उन्होंने व्यवहार के लिए दिल्ली की खड़ीबोली को ग्रहण किया। भारतवर्ष-भर में वे कालान्तर में राज्य-विस्तार के साथ फैल गये। खड़ीबोली भी उनके साथ फैल गई। ब्रज, फारसी और अवधी आदि से कर लेकर इसने अपना स्वरूप व्यापक कर लिया। इस प्रकार यह एक भाषा बन गई। इसी प्रकार अपने-अपने प्रदेशों में मराठी, बंगाली, पंजाबी, गुजराती आदि भाषाएँ हैं, जो अपने-अपने प्रान्तों में विभाषाओं के बीच व्यवहृत होती हैं।

किसी स्थान-विशेष के मनुष्यों की घरेलू भाषा को बोली कहते हैं। यह केवल बोलचाल की भाषा है, साहित्यिक नहीं। इसका क्षेत्र संकुचित होता है। शाहजहाँपुरी, फरुखाबादी, बलियाटिक, सीतापुरी इत्यादि इसके अनेक उदाहरण हैं। किसी प्रान्त अथवा उपप्राँत की बोलचाल तथा साहित्य की भाषा को प्रान्तीय भाषा कहते हैं। इसका क्षेत्र बोली से विस्तृत होता है। ब्रज, राजस्थानी, अवधी आदि इसके उदाहरण हैं। किसी प्रान्तीय भाषा-विशेष के विकसित रूप को राष्ट्रभाषा कहते हैं। जब कोई प्रान्तीय भाषा

राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक अथवा साहित्यिक कारणों से इतनी उन्नत और व्यवहृत हो जाती है कि अपने प्राँत के अतिरिक्त अन्य कई प्रान्तों ही क्या देशभर की भाषाओं से परिगृहीत हो जाती है, तो उसे राष्ट्रभाषा कहते हैं। इसका क्षेत्र प्राँतीय भाषा से अधिक विस्तृत होता है तथा प्रांतीय भाषा पर इसका पूरा अधिकार रहता है। इसके अतिरिक्त जब राजनैतिक तथा अन्य किसी कारण से कोई राष्ट्रभाषा इतनी विस्तृत हो जाती है कि सारे संसार में प्रयुक्त होने लगती है और विदेशों से सामान्य चिट्ठी-पत्री तथा राज-नैतिक लिखा-पढ़ी होने लगती है तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय भाषा कहते हैं। उदाह-रणार्थ अँग्रेजी।

प्रश्न २—भाषा-विज्ञान की परिभाषा कीजिए। व्याकरण का भाषावि-ज्ञान से सम्बन्ध स्थापित करते हुए दोनों का अन्तर स्पष्ट कीजिये।

अथवा

भाषाविज्ञान और व्याकरण का स्वरूप बताइये एवं दोनों में क्या अन्तर और क्या सम्बन्ध है, इसे प्रदर्शित कीजिये।

उत्तर—वैसे तो भाषाविज्ञान आज के युग की देन माना जाता है; किन्तु भाषा-विज्ञान का प्रारम्भिक रूप बहुत पहले भारत में निरूपित कर लिया गया था, तथापि भाषा-विज्ञान का जो सुगठित और विकसित रूप हमें आज प्राप्त होता है, वह योरोपीय विद्वानों के अनुशीलन का ही फल है। जिस शास्त्र में भाषा-मात्र के भिन्न-भिन्न अंगों और स्वरूपों का विवेचन और निरू-पण किया जाता है उसे 'भाषा-विज्ञान' कहते हैं। यह भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करता है। सृष्टि परिवर्तनशील है; उसी प्रकार भाषा में भी परिवर्तन होते रहते हैं। इस विकार अथवा परिवर्तन का कारण क्या है? इसकी कौन-कौनसी दशायें हैं? किन विशेष परिस्थितियों में भाषा में तदनु-रूप परिवर्तन उपस्थित होते हैं? भाषा-विज्ञान इन सभी विषयों का अध्ययन प्रस्तुत करता है। इन प्रश्नों के उपस्थित होने के कारण एक ओर जहाँ भाषा-विज्ञान भाषा के स्पष्ट रूप का स्पष्टीकरण करता है, वहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से इस तथ्य का संकेत भी करता है कि किस विशेष-काल में भाषा के

स्वरूप ने कौन-सी नई दशा प्राप्त की। इस प्रकार भाषा-विज्ञान के अध्ययन का एक ऐतिहासिक मार्ग है, जिसकी सहायता से हम प्राचीन काल की साहित्यिक, असाहित्यिक तथा मृत भाषाओं की आत्मा का साक्षात्कार करते हैं। इस प्रकार भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन में योग देने वाले सभी उपकरण प्राचीन साहित्य अथवा ग्रन्थ, शिलालेख इत्यादि—भाषा-विज्ञान के अध्ययन के उपादान बन जाते हैं।

भाषा-विज्ञान के अध्ययन का दूसरा मार्ग तुलनात्मक अध्ययन है। इसके कारण भाषा-विज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक हो गया है। सभी देशों एवं सभी वर्गों की भाषाओं का अध्ययन इसके अन्तर्गत आ जाता है। इस पद्धति द्वारा भाषा-विज्ञान अशिक्षित, असभ्य जातियों की असंस्कृत भाषाओं, जन-समुदाय की परस्पर भिन्न बोलियों तथा गँवार एवं अनपढ़ जन-समुदाय की भाषा का भी अध्ययन करता है।

भाषा-विज्ञान में भाषा के नित्य परिवर्तनशील रूप से सम्बन्ध रखने के कारण सामान्य जन-भाषा के विश्लेषण पर ही बल दिया जाता है। जन-भाषा में साहित्यिक भाषा की अपेक्षा परिवर्तन अधिक होता है। भाषा-विज्ञान इन्हीं परिवर्तनों की दशाओं एवं कारणों का विवेचन करता है।

भाषा-विज्ञान विज्ञान की भाँति सिद्धान्त अथवा नियम-निर्धारण से सम्बन्ध रखता है। जिस प्रकार विज्ञान में किसी वस्तु की परीक्षा करके उसके सम्बन्ध में तुलनादि के द्वारा नियन निर्धारित किये जाते हैं, उसी प्रकार भाषा-विज्ञान में भाषा की उत्पत्ति, उसकी बनावट, उसके विकास तथा ह्रास की वैज्ञानिक व्याख्या करने के लिए सिद्धान्तों अथवा नियमों का निर्धारण करना पड़ता है। ये नियम विज्ञान के नियमों की भाँति अकाट्य होते हैं। इन नियमों के एकाधिक अपवाद हो सकते हैं। जैसे संस्कृत का 'कर्म' शब्द किन्हीं विशेष अवस्थाओं में होता हुआ आज 'काम' का रूप धारण कर चुका है; किन्तु उसी नियम के अनुसार उसी वजन का शब्द 'धर्म', 'धाम' के रूप में क्यों परिवर्तित नहीं हो सका, यह वैज्ञानिक रूप से नहीं कहा जा सकता। ऐसी अवस्था में हमें नियमों में कल्पना और अनुमान का सहारा लेना पड़ता है। अतः ये नियम लचीले भी होते हैं।

अब हम भाषा-विज्ञान के सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं का उल्लेख करेंगे। विद्वानों ने भाषा-विज्ञान की परिभाषा इस प्रकार दी है:—

डा० श्यामसुन्दरदास—"भाषा-विज्ञान भाषा की उत्पत्ति, उसकी बनावट, उसके विकास तथा उसके ह्रास की वैज्ञानिक व्याख्या करता है।"

—(भाषा-रहस्य)

किन्तु मंगल देव शास्त्री के अनुसार—**"भाषा-विज्ञान के एक विज्ञान होने से उसका तुलनात्मक होना आवश्यक है।"**

अत: 'भाषा-विज्ञान' नामक ग्रन्थ में बाबू श्यामसुन्दर दास 'भाषा-विज्ञान' के लिये तुलनात्मक होना परमावश्यक मानते हैं। इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं—**भाषाविज्ञान की सहायता से हम किसी भाषा का वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन, अध्ययन और अनुशीलन करना सीखते हैं, और जब हम इस प्रकार का विवेचन, अध्ययन और अनुशीलन कर लेते हैं तब उसी दृष्टि से किसी दूसरी भाषा अथवा अनेक भाषाओं का विवेचन करते हैं—तथा एक भाषा के सिद्धान्तों तथा नियमों आदि का दूसरी भाषा या भाषाओं के सिद्धान्तों और नियमों आदि से मिलान करते और आपस में उनकी तुलना करते हैं। इस अवस्था में इस विज्ञान की सीमा का और भी प्रसार हो जाता है। और हम उसे 'तुलनात्मक भाषा-विज्ञान' का नाम देते हैं।······सच पूछा जाय तो बिना तुलना के अध्ययन वैज्ञानिक हो ही नहीं सकता। इसी से तुलनात्मक भाषा-विज्ञान को ही भाषा-विज्ञान कहते हैं।"**

डा० मंगल देव शास्त्री ने भाषा-विज्ञान की परिभाषा इस प्रकार दी है:—

"भाषा-विज्ञान उस विज्ञान को कहते हैं जिसमें—

(१) सामान्य रूप से मानवीय भाषा का,

(२) किसी विशेष भाषा की रचना और इतिहास का और अन्ततः—

(३) भाषाओं या प्रादेशिक भाषाओं की पारस्परिक समानताओं और विशेषताओं का तुलनात्मक विचार किया जाता है।

"जिस विज्ञान के अन्तर्गत ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन के सहारे भाषा (विशिष्ट नहीं, अपितु सामान्य) की उत्पत्ति, गठन, प्रकृति एवं विकास

आदि की सम्यक् व्याख्या करते हुए इन सभी के विषय में सिद्धान्तों का निर्धारण हो, उसे 'भाषा-विज्ञान' कहते हैं।" —डा० भोलानाथ तिवारी

अतः हम कह सकते हैं कि भाषा-विज्ञान वह शास्त्र है जिसमें ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन द्वारा भाषा की प्रकृति, उत्पत्ति, बनावट, विकास तथा ह्रास आदि की वैज्ञानिक व्याख्या की जाती है।

भाषा-विज्ञान का व्याकरण से सम्बन्ध

एक प्रकार से व्याकरण भाषा-विज्ञान का अनुगामी है। नये विकासों को भाषा-विज्ञान समझाता जाता है और फिर उन्हें व्याकरण साधु मानता चला जाता है। व्याकरण भाषा की साधुता-असाधुता पर विचार करता है; परन्तु भाषा-विज्ञान किसी एक भाषा से सम्बन्ध न रखकर सामान्य रूप से भाषा का अध्ययन कर, प्रत्येक शब्द पर तर्क-वितर्क करते हुए सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। भाषा का वर्तमान रूप क्या है ? यह वैयाकरण बतलाता है, उसका भाव क्या है, साहित्यिक सिखाता है, पर भाषा-वैज्ञानिक एक पग आगे बढ़कर भाव के साधन की मीमांसा करता है। वह भाषा के आभ्यन्तर जीवन का सूत्र खोजने, उसकी उत्पत्ति और विकास की क्रमिक अवस्थाओं का अनुसन्धान करने और उसके विकार तथा परिवर्तन सम्बन्धी ऐसे नियमों को ढूँढ़ने का प्रयास करता है, जो भाषा के वर्तमान प्रकट रूपों की एकता और अनेकता दोनों को समझा सकें।

भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध भाषा के अधिक से अधिक जीवित रूप से होता है, पर व्याकरण इतना प्रगतिवादी नहीं होता। वह नवजात रूपों को आरंभ में असाधु मानता है; परन्तु भविष्य में उसे असाधु को साधु मानना पड़ता है। आज भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत ध्वनि-विचार में हिन्दी के अधिकतर अकारान्त शब्द व्यंजनान्त माने जाने लगे हैं, क्योंकि आज का हमारा उच्चारण 'राम' न होकर 'राम्' है। यदि यह परिवर्तन भाषा में कर दिया जाय तो वैयाकरण लोग असन्तुष्ट होने लगेंगे, भले ही बाद में वे भी उस मत के अनुगामी बन जायें। इससे स्पष्ट है कि व्याकरण अप्रगतिवादी या पुरातनवादी है और इसकी तुलना में भाषा-विज्ञान प्रगतिवादी या नवीनतावादी है।

विद्वान् सदैव व्याकरण के प्राचीन सिद्ध रूपों को ही साधु और शिष्ट मानते हैं, नव-निर्मित शब्द उन्हें खटकते हैं और वे उन्हें असाधु कह कर तिरस्कृत करते हैं। उदाहरणार्थ—हम देखते हैं कि जब संस्कृत ने साहित्यिक रूप धारण कर लिया और वह मात्र विद्वत्-समाज की भाषा बन गई, तब जन-साधारण में नवनिर्मित शब्द-समूह-मयी भाषा का प्रयोग होने लगा। 'धर्म' का 'धम्म', 'कर्म' का 'कम्म' और 'सर्व' का सब्ब' रूप में प्रयोग होने लगा। पुरातनवादी वैयाकरणों ने इसे भाषा के साथ बलात्कार समझा और ऐसी नवीन भाषा को तिरस्कृत करने के विचार से उसे 'प्राकृत भाषा', अर्थात् 'गँवारों की भाषा' नाम दिया। आगे चलकर जब प्राकृत ने भी साहित्यिक रूप धारण कर लिया तो जनसाधारण में अन्य परिवर्तित भाषा का प्रयोग होने लगा। उसे भी वैयाकरणों ने 'अपभ्रंश भाषा', अर्थात् 'बिगड़ी हुई भाषा' नाम दिया। वैयाकरणों की यह प्रवृत्ति उनके पुरातनवादी दृष्टि-कोण की ही द्योतक है। दूसरी ओर भाषा-वैज्ञानिकों की दृष्टि में 'धर्म' से 'धम्म' या 'धरम' प्रगतिशीलता के प्रमाण हैं। वे इसको 'अवनति' या 'विकार' न मानकर 'विकास' मानते हैं। इस प्रकार भाषा-विज्ञान व्याकरण का भी व्याकरण है और उसका अग्रणी है।

वस्तुत: व्याकरण को कला मानना अधिक समीचीन है। वह भाषा और उसके शब्दों की साधुता और असाधुता पर विचार करता है और भाषा-विज्ञान भाषा की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसी कारण वर्णनात्मक व्याकरण ही व्याकरण समझा जाता है, और व्याख्यात्मक व्याकरण भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत आ जाता है। व्याख्यात्मक व्याकरण सभी भाषाओं की प्रवृत्ति सम्बन्धी खोजों द्वारा व्याकरण की साधारण बातों की व्याख्या करता है। जो है, वह ऐसा क्यों है अथवा कैसे हुआ ? इन प्रश्नों का वह उत्तर देता है। व्याकरण केवल 'क्या' का उत्तर देता है—अर्थात् सामग्री एकत्रित कर देता है और फिर भाषा-विज्ञान व्याख्या-प्रधान होने के कारण उस 'क्या' के सम्बन्ध में 'क्यों', 'कब' और 'कैसे' की जिज्ञासा शान्त करता है। इसी से व्याख्यात्मक व्याकरण के तीन अङ्ग माने जाते हैं—ऐतिहासिक व्याकरण, तुलनात्मक व्याकरण और सामान्य व्याकरण। ऐतिहासिक व्याकरण भाषा के कार्यों

को सुलझाने के लिए उसी भाषा में तथा उसकी पूर्ववर्ती भाषा में उसके कारणों को ढूँढ़ने की चेष्टा करता है; तुलनात्मक व्याकरण उन कारणों की व्याख्या करने के लिए उस भाषा की सजातीय भाषाओं और उसकी पूर्वज भाषा की सजातीय भाषाओं की तुलनात्मक परीक्षा करता है, पर सामान्य व्याकरण किसी एक भाषा अथवा किसी एक भाषा-गोष्ठी की विस्तृत व्याख्या नहीं करता, वह सभी भाषाओं के मौलिक सिद्धान्तों और सामान्य तथा व्यापक तत्त्वों की मीमांसा करता है। उदाहरणार्थ वर्णनात्मक व्याकरण के अनुसार धातु के अन्त में 'आ' जोड़ देने से भूतकालिक कृदन्त बन जाता है। यदि धातु के अन्त में 'आ', 'ए' अथवा 'ओ' हो तो धातु के अन्त में 'य' कर देते हैं। जैसे 'कह' से 'कहा', 'मर्' से 'मरा', 'बो' से 'बोया' तथा 'ला' से 'लाया' रूप बनते हैं। परन्तु 'कर्' से 'किया' तथा 'जा' से 'गया' आदि रूप भी बनते हैं, जो इस नियम के अपवाद दिखाई देते हैं। अब भाषा-विज्ञान इससे एक पग आगे बढ़कर तर्क-वितर्क के द्वारा जिज्ञासा को शान्त करता है। वह केवल यही नहीं कह देता कि हिन्दी में 'जाना' धातु का सामान्य भूत 'गया' होगा जैसा कि व्याकरण कहता है। 'जाना' की उत्पत्ति कहाँ हुई? कैसे-कैसे ध्वनि-परिवर्तन होता गया? अर्थ में भी कुछ परिवर्तन हुआ या नहीं? इत्यादि बातों की तर्क-वितर्क के द्वारा नई खोज करेगा। अतएव ऐतिहासिक व्याकरण इन शब्दों के इतिहास को प्रस्तुत करते हुए यह स्पष्ट करता है कि 'किया' और 'गया' हिन्दी की 'कर्' और 'जा' धातुओं से नहीं बने हैं; वे संस्कृत के 'कृत' और 'गतः' अथवा प्राकृत के 'कओ' और 'गओ' तथा अपभ्रंश के 'किया', 'गया' आदि से बने हैं और हिन्दी में 'कर' और 'जा' धातुओं से नियमानुसार 'करा' और 'जाया' ही बनते हैं। 'करा' का प्रयोग प्रान्तीय बोली में और 'जाया' का संयुक्त क्रियाओं में मिलता है। परन्तु 'करा' और 'जाया' का साहित्यिक रूप हिन्दी में 'किया' और 'गया' हो गया है। व्याकरण भाषा के निष्पन्न स्वरूप को बतलाता है; परन्तु भाषा-विज्ञान उस स्वरूप के कारण या मूल की खोज करता है।

वर्णनात्मक व्याकरण बतलाता है कि 'होना' के दो अर्थ होते हैं—स्थिति और विकार। विकारार्थ 'होना' क्रिया से 'है' और 'था' आदि रूप बनते

पर गुजराती, मराठी, बँगला आदि हिन्दी की सजातीय भाषाओं के 'छे', 'आछे', आहेत 'अहै' आदि रूपों की तुलना से यह ज्ञात होता कि 'है', 'अस्' धातु से और 'होना' संस्कृत की 'भू' धातु से सम्बद्ध है। हिन्दी जिस आर्य भाषा-गोष्ठी की भाषा है, उसकी तथा अन्य सजातीय ग्रीक, लैटिन, जर्मन आदि की तुलना से भी यही उचित जान पड़ता है। अतः यह स्पष्ट है कि तुलनात्मक खोज ऐतिहासिक व्याकरण को एक पग आगे बढ़ाती है और उसकी सहयोगिनी के रूप में कार्य करती है।

सामान्य व्याकरण सभी भाषाओं में पाये जाने वाले नियमों और सिद्धान्तों की खोज करता है और इसके लिए वह इतिहास और तुलना दोनों का आश्रय प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ— हिन्दी के 'जाता हूँ', 'गया' आदि रूपों की अङ्गरेजी के 'Go' और 'Went', संस्कृत के 'गच्छामि' और 'गयः' आदि रूपों से तुलना करके यह विदित होता है कि क्रियाओं के रूप सदा गतिशील रहते हैं। इसी तुलना के आश्रय से यह सिद्ध किया गया है कि संख्या, सम्बन्ध और गृहस्थी के वाचक शब्द भाषा के अधिकतर स्थिर अङ्ग होते हैं, इनका परिवर्तन प्रायः कम ही होता है। इसी प्रकार वर्णनात्मक व्याकरण से भाषाओं की ध्वनि और रूप के विकारों को जान कर सामान्य व्याकरण एक व्यापक नियम बनाता है। भाषा के कार्यों को व्यापक नियमों में बाँधने का प्रयास भी सामान्य व्याकरण ही करता है। अतएव सामान्य व्याकरण भाषा-विज्ञान का एक महत्वपूर्ण और विशिष्ट अंग है। ऐतिहासिक और तुलनात्मक व्याकरण एक भाषा अथवा एक भाषा-गोष्ठी के कार्यों के उद्भव और विकास की यथा-शक्ति खोज करते हैं। सामान्य व्याकरण सजातीय और विजातीय भाषाओं की पहले तुलना करता है और तब उनकी साधारण प्रवृत्तियों की व्याख्या करता है।

उपर्युक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरण एक काल की किसी एक भाषा से सम्बन्ध रखता है; परन्तु भाषा-विज्ञान सब देशों और सब कालों की भाषाओं से सम्बद्ध रहता है। व्याकरण नियम और अपवाद की विवेचना करता है, परन्तु अनेक भाषाओं के साम्य और वैषम्य की परीक्षा करना तथा एक-एक शब्द का इतिहास प्रस्तुत करना भाषा-विज्ञान का ही

कार्य है। व्याकरण वर्णन-प्रधान है, वह सिद्ध और निष्पन्न रूपों को लेकर उत्सर्ग और अपवाद की रचना करता है, परन्तु भाषा-विज्ञान उनके कारणों का निरूपण करता है। भाषा-विज्ञान साहित्य-जगत के सम्पूर्ण तथा विशाल प्राङ्गण का खिलाड़ी बनता है और व्याकरण केवल उसके साथ ही एक खण्ड का स्वामी बन कर आधिपत्य जमाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भाषा-विज्ञान व्याकरण का ही विकसित और विस्तृत रूप है और व्याकरण का भी व्याकरण है। यद्यपि भाषा-विज्ञान व्यापक और व्याख्या-प्रधान होने के कारण भाषा की ऐसी वैज्ञानिक और दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करता है कि व्याकरण भी उससे लाभ उठा सके, तथापि उसकी नींव व्याकरण की ही ईंटों से भरी जाती है। इन दोनों में परस्पर अङ्गागि भाव है। भाषा-विज्ञान अङ्गी है और व्याकरण उसका एक अङ्ग है। एक का क्षेत्र व्यापक है और दूसरे का संकीर्ण। एक व्याख्या-प्रधान है और दूसरा वर्णन प्रधान। व्याकरण 'क्या' का उत्तर देता है और भाषा-विज्ञान 'क्यों' और 'कैसे' की जिज्ञासा शान्त करता है।

प्रश्न ३—भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत किन-किन विषयों का अध्ययन किया जाता है? आधुनिक युग में भाषा-विज्ञान की क्या उपयोगिता है? समझा कर लिखिये।

उत्तर—भाषा-विज्ञान में भाषा सम्बन्धी लगभग सभी प्रश्नों पर विचार करना पड़ता है। वैज्ञानिक अध्ययन की कसौटी यह है कि पाठक का मस्तिष्क अध्ययन के विभिन्न विभागों की पृथक् दृष्टि और उनके पृथक् उद्देश्य को शृङ्खलाबद्ध ग्रहण करता चला जाय और कहीं उलझे नहीं। इसलिए अध्ययन की दृष्टि से भाषा-विज्ञान के कई विभाग किए गए हैं। इनमें से कई विषय ऐसे हैं जिनका अपना अधिक महत्त्व है और कुछ साधारण भी हैं। साधारण होते हुए भी इनका महत्त्व इतना कम नहीं होता कि उन्हें छोड़ा जा सके। इसलिए इन विभागों के प्रधान और गौण दो वर्ग बनाए गए हैं।

प्रमुख विभाग निम्नलिखित हैं:—

१—**वाक्य-विचार** (Syntax)—कुछ विद्वान् वाक्य-विचार अथवा वाक्य-विज्ञान को वाक्यों के तुलनात्मक अध्ययन के कारण तुलनात्मक वाक्य विचार

(Comparative Syntax) भी कहते हैं। इसके दो उप-विभाग और किए गए हैं :—

(अ) **ऐतिहासिक वाक्य-विचार**—जिस वाक्य-विज्ञान का सम्बन्ध किसी भाषा की वाक्य-रचना के इतिहास से है, उसे ऐतिहासिक वाक्य-विचार कहते हैं। ऐतिहासिक वाक्य-विचार में किसी भाषा के प्रारम्भ काल से लेकर अब तक के वाक्य-गठन के नियमों पर विचार करना पड़ता है। प्राचीन काल के उस भाषा के बोलने वालों के मनोविज्ञान के सम्बन्ध में भी जानना जरूरी होता है। इसलिए इसका अध्ययन अत्यन्त कठिन है।

(ब) **तुलनात्मक वाक्य-विचार**—जिस वाक्य-विज्ञान में किन्हीं दो भाषाओं के वाक्यों की तुलना करनी पड़ती है, उसे तुलनात्मक वाक्य-विचार कहते हैं।

इसका अध्ययन ऐतिहासिक वाक्य-विचार से भी अधिक कठिन है; क्योंकि जब तक दो भाषाओं का पूर्ण ज्ञान न हो तब तक उनके वाक्य-विचार का अध्ययन हो ही नहीं सकता। इसके अध्ययन में असाधारण प्रतिभा की आवश्यकता है। इसलिए यह अधिक उन्नत नहीं हो सका।

वाक्य-विचार का सम्बन्ध व्याकरण से है। भाषा-विज्ञान में इसका आगमन नवीन ही है, क्योंकि भाषा का चरम अवयव वाक्य ही माना गया है। आरम्भ में यह बात स्पष्ट नहीं थी। वाक्य का विश्लेषण शब्द के विश्लेषण की अपेक्षा अधिक कठिन एवं वैज्ञानिक होता है।

२—**रूप-विचार** (Morphology)—रूप-विचार के अन्तर्गत भाषा का रूपात्मक विवेचन होता है। इसको पद-विचार या पद-विज्ञान भी कहते हैं। रूप-विचार का अध्ययन वाक्य-विचार की अपेक्षा अधिक विस्तार से हुआ है, क्योंकि इसका अध्ययन सरल है। इस विभाग के अन्तर्गत हम शब्द के विभिन्न अंशों—मूल, उपसर्ग, प्रत्यय, विभक्ति आदि पर विचार करते हैं। रूप-विचार, प्रकृति-प्रत्यय आदि भाषा का रूपात्मक विवेचन करता है। इसका प्रधान आधार व्याकरण है।

३—**ध्वनि-विचार** (Phonology)—शब्दों का निर्माण ध्वनियों के संयोग से होता है। शब्दों पर विचार करने के पश्चात् ध्वनियों पर

विचार किया जाता है। ध्वनि-विज्ञान के अन्तर्गत ध्वनि के परिवर्तनों का तात्विक विवेचन तथा ध्वनि-विकारों का इतिहास आदि सभी का अध्ययन होता है। ध्वनि-विज्ञान में हमें ध्वनि के उच्चारण की प्रक्रिया, प्रयत्न और ध्वनि से सम्बन्ध रखने वाले अवयवों (मुख-विवर, नासिका-विवर, स्वरतन्त्री तथा ध्वनि-यन्त्र) तथा ध्वनि-लहर और उसके जाने का अध्ययन करते हैं। ध्वनि-विचार के अन्तर्गत ध्वनि-परिवर्तन या ध्वनि-विकास पर उसके कारणों और दिशाओं के विश्लेषण के साथ विचार होता है।

ध्वनि-विचार के अध्ययन के दो रूप हैं :—

(१) **तुलनात्मक**—जिसमें एक मूल परिवार की भाषाओं की ध्वनियों की तुलना के आधार पर, ध्वनि-विकास पर विचार कर कतिपय नियम निर्धारित किये जाते हैं। ग्रिम-नियम का प्रथम भाग इससे सम्बन्धित है।

(२)**ऐतिहासिक**—जिसमें एक भाषा के इतिहास का ध्वनि की दृष्टि से अध्ययन किया जाता है। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि भाषा में किस प्रकार का, कब और क्यों परिवर्तन हुआ ?

इस प्रकार ध्वनि-विचार के अन्तर्गत उपर्युक्त दोनों दृष्टियों से अध्ययन करने के बाद भाषा के ध्वनि-सम्बन्धी सामान्य नियम बनते हैं।

(४)**अर्थ-विचार** (Semantics)—इस विभाग में अर्थ-परिवर्तन तथा उसके कारणों पर विचार किया जाता है। "अर्थ-विचार के अन्तर्गत दो बातें आती हैं—व्युत्पत्ति विचार और भाषा के बौद्ध नियमों की मीमांसा। आज व्युत्पत्ति-विचार अथवा निर्वाचन एक शास्त्र बन गया है। ऐतिहासिक और ध्वनि-परिवर्तन-सम्बन्धी विचारों ने उसे वैज्ञानिक रूप दे दिया है। भाषा के बौद्ध नियमों का अनुशीलन भी अब एक सुन्दर विषय बन गया है। किस प्रकार शब्द अर्थ को छोड़ता और अपनाता है और किस प्रकार अर्थ शब्द का त्याग और ग्रहण करता है तथा कैसे इन अर्थों का संकोच या विस्तार होता है—इन सब बातों का अब स्वतन्त्र विवेचन होने लगा है। इसी विषय को कुछ लोग 'अर्थातिशय' का नाम भी देते हैं। इस अर्थ-विचार अर्थात् व्युत्पत्ति-शास्त्र तथा अर्थातिशय के आधार पर भाषा द्वारा प्राचीन इतिहास और

संस्कृति की कल्पना की जाती है। ऐसी भाषा-मूलक प्राचीन खोजे भाषा-विज्ञान का एक बड़ा महत्वपूर्ण अंग हो गई हैं।"

वास्तव में यह एक मनोरंजक विषय है कि किसी शब्द या ध्वनि का एक निश्चित् अर्थ कैसे हुआ। 'अश्व' का अर्थ 'घोड़ा' ही क्यों हुआ, 'हाथी' क्यों न हुआ? 'उपाध्याय' का 'झा' कैसे हो गया? इस प्रकार यहाँ अध्ययन का विषय यह है कि ध्वनि और अर्थ का कोई सहजात सम्बन्ध है भी या नहीं? यह प्राचीनकाल के भाषाविदों एवं चिन्तकों का भी विषय रहा है। भारत में यास्क और योरुप में प्लेटो के समय से इस पर विचार होता आया है।

गौण विभागों का अध्ययन प्रधान विभागों से कम आकर्षक नहीं। इनमें से कुछ के गौण होने का कारण है-- उनके अध्ययन के विकास का अभाव।

गौण विभाग निम्नलिखित हैं :—

(१) **भाषा का आरम्भ**—भाषा-विज्ञान का सबसे अधिक स्वाभाविक, आवश्यक एवं अद्भुत अध्ययन भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में है। अनेक विद्वानों ने अपने-अपने अध्ययन एवं चिन्तन के अनुसार अनेक मत स्थापित किये है। परन्तु प्रत्येक विद्वान् के मत में कुछ न कुछ दोष अवश्य रहा है। इसी कारण आगे के कुछ विद्वानों ने कुछ तथ्य रखने वाले मतों का समन्वय कर भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक अन्य मत निकाला, जो अधिकतर विद्वानों को मान्य है।

(२) **भाषाओं का वर्गीकरण**—इस विभाग के अन्तर्गत हम भाषाओं का तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन कर भाषा का वर्गीकरण करते हैं और यह निर्धारित करते हैं कि कौन-सी भाषा किस कुल की है। साथ में अर्थ या ध्वनि-सम्बन्धी अनेक भ्रमों को दूर किया जाता है। वाक्य-विचार के आधार पर भी विश्व की भाषाओं का वर्गीकरण किया गया है। इस विभाग में मुख्य रूप से हमारे अध्ययन का विषय है—भाषाओं का आकृतिमूलक तथा पारिवारिक वर्गीकरण।

(३) **व्युत्पत्ति शास्त्र** (Etymology)—इस शास्त्र ने भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के सूत्रपात में अधिक योग दिया। यह अत्यन्त मनोरंजक विषय है। यह ध्वनि, अर्थ और रूप-विचार का सम्मिलित प्रयोग है, एक स्वतन्त्र विभाग

नहीं। इसके अन्तर्गत शब्द की पूरी जीवनी तथा उसके आन्तरिक एवं वाह्य परिवर्तनों पर पूर्ण रूप से विचार किया जाता है।

(४) **शब्द-समूह** (Vocabulary)—इस विभाग के अध्ययन में तीनों बातों पर विशेष रूप से विचार किया जाता है :—(१) शब्द-समूह में परिवर्तन क्यों और कैसे होता है ? (२) नए शब्द कैसे बनते हैं ? (३) विदेशी शब्दों को स्वीकार करना किस सीमा तक उचित है ?

(५) **प्रागैतिहासिक खोज** (Urgeschichte)—भाषा-विज्ञान का नवीनतम विकास इसी रूप में हुआ है। अभी इसकी शैशवावस्था ही है। इसका आधार प्रगैतिहासिक युग की संस्कृति का परिचय होता है। इसके अन्तर्गत हम प्राचीन भाषा के विश्लेषण द्वारा उस काल की सभ्यता का पता लगा लेते हैं। अभी इस विभाग द्वारा विस्तृत अध्ययन नहीं हो सका है; परन्तु जितना भी हुआ है वह प्रशंसनीय है। भविष्य में सम्भावनाएँ अधिक हैं।

(६) **लिपि** (Script)—लिपि का सम्बन्ध लिखित भाषा से ही है। इसीलिए इसका क्षेत्र सीमित है। इसका अध्ययन अधिक वैज्ञानिक रूप से किया जाता है। भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत लिपि की उत्पत्ति, उसका विकास, वर्तमान और भविष्य तथा उपयोगिता के सम्बन्ध में विचार किया जाता है। ध्वनि-विचार की सहायता से भाषा-विज्ञानी लिपि को वैज्ञानिक रूप से सुधार कर अधिक उपयोगी भी बना देता है।

आधुनिक युग में फाषाविज्ञान की उपयोगिता :—

अब प्रश्न का दूसरा पहलू प्रारम्भ होता है। भाषा-विज्ञान की क्या उपयोगिता है ? किसी विज्ञान का उपयोगिता की दृष्टि से अध्ययन करना समुचित नहीं है। क्योंकि विज्ञान का अध्ययन निरपेक्ष दृष्टि से किया जाता है। फिर भी प्रत्येक विज्ञान का अपना कुछ न कुछ उद्देश्य तो रहता ही है। मानव-जाति तथा संस्कृति की समृद्धि करना प्रत्येक विज्ञान का उद्देश्य है। फिर भाषा-विज्ञान इससे विमुख कैसे जा सकता है। इस दृष्टिकोण से भाषा-विज्ञान के लाभ इस प्रकार हैं :—

(१) भाषा-विज्ञान द्वारा चिरपरिचित भाषा के सम्बन्ध में जिज्ञासा की तृप्ति होती है।

(२) भाषा-विज्ञान द्वारा विश्व-बन्धुत्व की भावना का विकास होता है क्योंकि भाषा-विज्ञान का अध्ययन किसी विशेष भाषा तक सीमित न रहकर संसार की सभी प्रकार की भाषाओं तक व्याप्त है। अतः ज्ञान वृद्धि के साथ-साथ मानव मात्र के ऐक्य की भावना भी उभर आती है।

(३) भाषा-विज्ञान द्वारा ऐतिहासिक, विशेषतः प्रागैतिहासिक संस्कृति और सभ्यता का ज्ञान होता है। हम मानव-जाति के अतीत तक पहुँच जाते हैं। "भाषा-विज्ञान उस समय का इतिहास लिखने में सहायक होता है जिस समय का इतिहास स्वयं इतिहास को भी ज्ञात नहीं।"

(४) भाषा-विज्ञान का कई अन्य शास्त्रों तथा विज्ञानों से भी सम्बन्ध है। इतिहास, पुरातत्व, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि भाषा-विज्ञान से पर्याप्त मात्रा में सहायता पाते हैं।

(५) भाषा-विज्ञान द्वारा किसी जाति या सम्पूर्ण मानवता के मानसिक विकास की चिन्तनधारा का प्रत्यक्षीकरण होता है।

(६) भाषा-विज्ञान प्राचीन साहित्य का अर्थ, उच्चारण, प्रयोग सम्बन्धी अनेक समस्याओं का समाधान करता है।

(७) भाषा-विज्ञान के आकार से ही अध्ययन की दो शाखाओं का उदय हुआ—(i) मत विज्ञान (विश्व के विभिन्न मतों की, धर्मों की तुलना का विज्ञान), तथा (ii) जन-कथा-विज्ञान।

(८) भविष्य के लिए भाषा, लिपि, मानसिक स्तर आदि के सम्बन्ध में पहले से अनुमान लगाने में भाषा-विज्ञान सहायक होता है और उस आधार पर पतन से बचाने के प्रयास में सफलता प्राप्त करता है।

प्रश्न ४—भाषा-विज्ञान कला है अथवा विज्ञान? युक्ति-संगत उत्तर दीजिए।

उत्तर—भाषा-विज्ञान विज्ञान है अथवा कला या शास्त्र इस विषय पर देशी विदेशी सभी विद्वानों ने अपना मत दिया और विशेषकर योरुप के विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है। हमें इस प्रश्न की वास्तविकता को समझने से पहले विज्ञान और कला के स्वरूप पर विचार कर लेना आवश्यक है।

दर्शन में ज्ञान को प्रधानता देकर बताया गया है कि प्रत्येक चेतन पदार्थ में ज्ञान की कोई न कोई मात्रा अवश्य पाई जाती है। यह दो प्रकार का होता

है—एक **स्वतः सिद्ध** (नैसर्गिक) जो पशु-पक्षियों में अधिक रहता है और दूसरा **बुद्धि-ग्राह्य** जिसका आधिक्य मनुष्यों में होता है। गाय का बच्चा स्वतः ही पानी में तैरने की शक्ति प्राप्त कर लेता है किन्तु मनुष्य के बच्चों को उसके लिए कठिन प्रयत्न करना पड़ता है। इस बुद्धि-ग्राह्य ज्ञान के भी दो अङ्ग होते हैं—**विज्ञान** और **कला**।

विज्ञान विशिष्ट ज्ञान है जिसके तत्व निर्विकल्प रूप में सर्वत्र व्यापक रहते हैं। विज्ञान की दृष्टि से सर्वत्र ही दो और दो चार होते हैं। पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति व्यापक है—नित्य और सर्वत्र है। किन्तु कला वाला ज्ञान सीमित और सविकल्प होता है। दूसरे शब्दों में विज्ञान का क्षेत्र व्यापक है किन्तु कला का सीमित ! यहाँ तक कि उसकी सीमा प्रत्येक व्यक्ति की रुचि में सीमित होकर रह जाती है। विज्ञान का उद्देश्य शुद्ध ज्ञान से किन्तु कला का मनोरंजन, व्यवहारिक ज्ञान के साथ-साथ उपयोगिता भी है। उदाहरणार्थ, काव्य कला हमारा मनोरंजन करने के साथ-साथ उपयोगी भी है किन्तु पृथ्वी घूमती है या सूर्य इस प्रश्न का उत्तर हमारी ज्ञान-पिपासा को ही शान्त करने वाला होता है। कला का प्रतिपादन शास्त्र करता है। उसमें उद्देश्य साधारण व्यवहार होता है। इसीलिए उसमे काल और देश के साथ विकल्प होते रहना स्वाभाविक है। यही कारण है कि किसी देश या काल विशेष की कला सर्वत्र और सर्वकाल के लिए ग्राह्य नहीं हो सकती है। रुचि की भिन्नता उसमें परिवर्तन ला देती है। किन्तु विज्ञान की गति इसके विपरीत है। प्रत्येक ज्ञान विज्ञान की कोटि में आने से पहले वाद प्रतिवादों की अस्थिर अवस्था से होता हुआ अपवाद-रहित सत्ता में पहुँच कर स्थिरता प्राप्त कर लेता है। उस समय वह सिद्धान्तों की जन्जीरों में पूरी तरह से जकड़ दिया जाता है। विज्ञान और कला में एक प्रमुख अन्तर यह भी है कि कला के अन्तर्गत केवल मनुष्य की ही कृतियाँ आती हैं, जैसे चित्रकला, मूर्ति कला, सङ्गीत कला, काव्य कला आदि; किन्तु विज्ञान में ईश्वर या प्रकृति की कृतियों की मीमांसा होती है—जैसे भौतिक विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान आदि।

उपर्युक्त इन सभी विशेषताओं पर गम्भीरता के साथ विचार करने पर

हम इस निष्कर्ष तक पहुँचते हैं कि भाषा-विज्ञान कला की अपेक्षा विज्ञान के अधिक समीप है। भाषा-विज्ञान का अध्ययन उपयोग और मनोरंजन की अपेक्षा ज्ञान-पिपासा को अधिक शान्त करता है। वह अब स्थिर सिद्धान्तों में निर्धारित हो चुका है। वह किसी व्यक्तिकृत भाषा को अपने अध्ययन और विश्लेषण का विषय नहीं बनाता। भाषा भी एक प्रकार से ईश्वर प्रदत्त शक्ति है क्योंकि वह सामाजिक है। भाषा-विज्ञान में भी भाषा सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्तों का निरूपण होने के कारण, उसका क्षेत्र बहुत व्यापक है; क्योंकि उसमें भाषा का सम्यक विशुद्ध और विशेष ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

किन्तु भाषा-विज्ञान पूर्णरूप से विज्ञान भी नहीं है—क्योंकि विज्ञान में विकल्प के लिए कोई स्थान नहीं है। उसके नियम सर्वत्र एक से लागू होते हैं और उनका फल भी समान ही होता है। हवा गर्म होने पर हल्की होकर ऊपर उठती है और सर्द होने पर भारी होकर नीचे आती है—यह विज्ञान का शाश्वत नियम है। किन्तु भाषा-विज्ञान में इस प्रकार की शाश्वतता का अभाव है। उदाहरणार्थ 'धर्म' और 'कर्म' एक से शब्द होने पर जो एक का विकास आज 'धरम' के रूप में और दूसरे का 'काम' के रूप में हुआ जबकि होना चाहिए था दोनों का समान अर्थात् 'धरम' से भी 'काम' की तरह 'धाम' बनना चाहिए था। इस प्रकार का इसके सिद्धान्तों में विकल्प होने के कारण भाषा-विज्ञान पूर्ण रूप से विज्ञान भी नहीं है तथा मनोरंजन और उपयोगिता के अभाव में उसे कला भी नहीं कहा जा सकता। वह तो केवल हमारी ज्ञान-पिपासा को ही शान्त करता है। अतः भाषा-विज्ञान, वस्तुतः विज्ञान और कला दोनों के मध्य में रहता है किन्तु अपेक्षाकृत विज्ञान से अधिक सम्बन्धित है। इसीलिए इसका नाम भाषा-विज्ञान है। अतः कला से अल्पाधिक सम्बद्ध होते हुए भी भाषाविज्ञान विज्ञान अधिक है।

प्रश्न ५— भाषा-विज्ञान का मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, शरीर-विज्ञान, इतिहास, भूगोल तथा साहित्य से सम्बन्ध बताइये :

मनोविज्ञान—भाषा-विज्ञान का मनोविज्ञान से गहरा सम्बन्ध है। भाषा मनुष्य की इच्छा शक्ति का परिणाम है और इच्छा के उठने का कारण मनोविज्ञान ही बता सकता है। फिर भाषा में विचारों को व्यक्त किया जाता है।

ये विचार कैसे उठते हैं, कैसे मस्तिष्क में संग्रहीत होते हैं, और कैसे भाषा में व्यक्त होते हैं। इन प्रश्नों का समाधान मनोविज्ञान से ही होता है, रूप शब्दों की ध्वनि, और अर्थ परिवर्तन आदि के विषय में मनोविज्ञान ही भाषा विज्ञान की सहायता करता है। इस प्रकार भाषा की परिवर्तन-शीलता को समझने का आधार केवल मनोविज्ञान है। लेकिन जैसे भाषा-विज्ञान मनोविज्ञान का ऋणी है वैसे ही मनोविज्ञान भाषा-विज्ञान का भी ऋणी है। कारण विचारों के विश्लेषण के लिए मनोविज्ञान को भाषा-विज्ञान का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है।

समाजशास्त्र— भाषा-विज्ञान का समाजशास्त्र से भी अटूट सम्बन्ध है। भाषा सामाजिक देन है। इस कारण समाजशास्त्र के अध्ययन से हमें समाज की उन अवस्थाओं का पता चलता है, जिनमें कि भाषा का विकास होता है। भारतीय स्त्री अपने पति का क्यों नाम नहीं लेती, क्यों साँप को कीड़ा और लाश को मिट्टी कहते हैं आदि बातों का उत्तर भाषा-विज्ञान को समाजशास्त्र ही देता है। इसी प्रकार किसी विशेष समाज-अवस्था का अध्ययन ऐतिहासिक या तुलनात्मक भाषा-विज्ञान से होता है। ईरानी में जो दैव (देव) शब्द शुभ है वह संस्कृति में अशुभ क्यो है? वैदिक सूक्तों में "असुर" शब्द कहीं देवता वाचक और कहीं असुर-वाचक क्यों है? संस्कृत में यज्ञ अच्छे अर्थ में और पालि में बुरे अर्थ में क्यों आता है? अशोक के लेखों का धर्मावलम्बी के अर्थ मे व्यवहृत पाखण्डी शब्द आज विपरीत अर्थ में क्यों प्रयुक्त होता है? इस सबसे विशेष देश और काल के समाज की मनोवृत्ति और अवस्थाओं का पता चलता है।

शरीर-विज्ञान— भाषा-विज्ञान को **शरीर-विज्ञान** का भी सहारा लेना पड़ता है। भाषा-विज्ञान के ध्वनि या उच्चारण सम्बन्धी अङ्ग का शरीर विज्ञान से विशेष सम्बन्ध है। ध्वनि कैसे बनती है, कैसे प्राणवायु स्वरतंत्री, तालु, दाँत, ओंठ, नाक आदि से होकर बाहर निकल कर ध्वनि का रूप लेती है, कैसे श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा वह ग्रहण होती है आदि बातों का ज्ञान शरीर-विज्ञान से ही होता है। नेत्रेन्द्रिय किस प्रकार लिखित शब्द को मस्तिष्क तक पहुँ-

चाती है, इसका पता भी नेत्रेन्द्रिय और ज्ञान तन्तुओं के अध्ययन से चलता है।

इतिहास—भाषाविज्ञान का राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक इतिहास से भी सम्बन्ध है। भारतीय भाषाओं में अरबी, फारसी और तुर्की आदि शब्द इस बात का उदाहरण हैं कि हम आठ सौ नौ सौ साल ग़ुलाम रहे हैं। हिन्दी उर्दू की समस्या की जटिलता का कारण अंग्रेजों की कूटनीति ही है। बङ्गाली, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में ब्रज के शब्दों की अधिकता ब्रजमण्डल के वैष्णव धर्म के देश व्यापी प्रभाव को बताती है। भाषा के ऐतिहासिक या तुलनात्मक अध्ययन से इतिहास के उस अंश पर प्रकाश पड़ सकता है जो अब तक अज्ञात था।

भूगोल से भी भाषाविज्ञान के अध्ययन में सहायता मिलती है। भौगोलिक परिस्थितियों का भाषा के उच्चारण पर विशेष प्रभाव पड़ता है। अंग्रेज 'त' का उच्चारण नहीं कर सकते, फारस वाले 'ऐन', ग़ैन 'फ़े', 'क़ाफ' बोलते हैं, बंगाली 'स' को 'श' कहते हैं, अफ़गानिस्तानी उसी 'स' को 'ह' बोलते हैं, बिहारी 'ड़' को 'र' कहते हैं—यह जलवायु का प्रभाव है।

भाषाविज्ञान और साहित्य का भी घनिष्ट सम्बन्ध है। साहित्य द्वारा प्राचीन भाषाओं का ज्ञान प्रात होता है, जिनके आधार पर भाषा के ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन में सहायता मिलती है। भिन्न-भिन्न शब्दों और उनके रूपों में परिवर्तन होने का ज्ञान जो भाषा-विज्ञान का महत्वपूर्ण अङ्ग है केवल साहित्य से ही हो सकता है। साहित्यहीन बोलियों के तो इतिहास का पता चलाना भी असम्भव प्रायः होता है, जबकि साहित्य-सम्पन्न भाषा साहित्य द्वारा अमर होकर भाषाविज्ञान के अधिकांश नियम और सिद्धान्तों के निर्माण में सहायता पहुँचाने वाली अमूल्य सामग्री रखती है।

प्रश्न ६—भारतीय भाषाविज्ञान के इतिहास का दिग्दर्शन कराइये तथा यह भी बताइये कि क्या भाषाविज्ञान पश्चिम की उपज है।

अथवा

भाषाविज्ञान की उत्पत्ति तथा विकास में भारत का क्या कार्य है? वर्तमान समय में भारतीय विद्वानों ने इस क्षेत्र में क्या कार्य किया है?

उत्तर—भाषाविज्ञान आधुनिक युग की देन है। किन्तु वास्तविक बात यह है कि इस विज्ञान का अध्ययन आधुनिक युग से पूर्व भी देश, विदेशों में होता रहा है। अध्ययन का रूप अवश्य परिवर्तित रहा है। भाषा विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम है अतः आदि काल से मानव का भाषा से सम्बन्ध रहा है। और इसीलिये अत्यन्त प्राचीन काल से भाषा के सम्बन्ध में मानव अध्ययन करता रहा है। भाषाविज्ञान का आविर्भाव योरोप में ही १९ वीं शताब्दी में हुआ किन्तु भाषाविज्ञान की विषय वस्तु का अध्ययन और विवेचन योरोप की अपेक्षा भारत, चीन और अरब में बहुत प्राचीन काल से हो रहा है। भारत में वेदों के काल से ही लोग भाषा के अध्ययन की ओर अभिमुख हुए थे, इसके प्रमाण वेदों में मिलते हैं। अतः भाषाविज्ञान को पश्चिम की उपज कहना समीचीन नहीं है! भारत में इस क्षेत्र में कार्य बहुत पहले से ही हो रहा है।

'ऋग्वेद' में उसी भाषा को प्रयुक्त किया गया है जो उस समय की साहित्यिक भाषा थी। वैदिक भाषा का ज्यों का त्यों उच्चारण करने के लिये उच्चरित ध्वनियों का विभाजन किया गया था। यहीं से भारतीय भाषाविज्ञान के अध्ययन का सूत्रपात होता है। 'यजुर्वेद' की संहिता में देवों ने इन्द्र से कहा है कि हम लोगों के कथन को टुकड़ों में कर दीजिये। इससे स्पष्ट होता है कि वे इस बात से परिचित थे कि वाक्य के टुकड़े हो सकते हैं। इन संकेतों से उनके भाषा सम्बन्धी ज्ञान का पता चलता है किन्तु व्यावहारिक रूप में 'ब्राह्मण ग्रन्थों' में ही भाषासम्बन्धी अध्ययन का सुव्यवस्थित रूप मिलता है।

'ब्राह्मण'—ग्रन्थों में यत्र-तत्र शब्दों के अर्थ समझाने का प्रयास किया गया है। इन ग्रन्थों में शब्द विच्छेद (व्याकरण) और धात्वर्थ तक पहुँचने का प्रयास सबसे पहली बार मिलता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के उपरान्त भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन का अगला चरण **'पदपाठ'** में दृष्टिगत होता है। पदपाठ में वैदिक संहिताओं को पद रूप में रखा गया है। इनमें प्रमुख विषय वाक्य के शब्दों को पृथक-पृथक करना था। पृथक करने का आधार सन्धि और समास था। सन्धि और समास की प्रकृति का अध्ययन करते समय स्वराघात पर भी विचार हुआ है। इस प्रकार ईसा से आठवीं और नवीं शताब्दी पूर्व भी

भारत में भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में काफी प्रगति हो गई थी जो निश्चय ही आश्चर्यजनक है।

'प्रतिशाख्य' इसके कुछ समय पश्चात् बने। वेद की प्राचीन परम्परा को अक्षुण्ण रखने के प्रयास में भेद की प्रतिशाख्य का अध्ययन उच्चारण सम्बन्धी विशिष्ट पक्षों की दृष्टि से किया गया। वेद की विभिन्न शास्त्र थी। प्रतिशाख्य (प्रत्येक शाख्य) के अध्ययन के कारण ही इन पुस्तिकाओं का नाम प्रतिशाख्य पड़ा। आज जो प्रातिशाख्य उपलब्ध होते हैं वे इन्हीं मूल प्रातिशाख्यों पर आधारित हैं। आज के प्रातिशाख्य पाणिनि के बाद के माने जाते हैं। इन प्रातिशाख्यों का मूल उद्देश्य अपनी-अपनी संहिताओं का परम्परागत उच्चारण सुरक्षित रखना था। अतः स्वराघात, मात्राकाल तथा उच्चारण सम्बन्धी अन्य नियमों के अध्ययन का कार्य इनमें हुआ। संस्कृत ध्वनियों का वर्गीकरण प्रौढ़ और प्रांजल रूपेण किया गया। पदों के—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपाग चार विभाग किए गए। प्रातिशाख्यों के पश्चात् **'निघंटु'** की रचना हुई। **'निरुक्त'** निघंटु की व्याख्या है। **निरुक्तकार यास्क** ने निघंटु के प्रत्येक शब्द को लेकर उसकी व्युत्पत्ति तथा अर्थ पर विचार किया। यास्क मुनि का काल ई० पू० ८००, ७०० माना जाता है। इनके समय तक भाषा-विज्ञान सम्बन्धी अन्वेषण इस देश में पर्याप्त रूप में विकासोन्मुख हो चुका था। इसका प्रमाण इस रूप में प्राप्त होता है कि यास्क ने **शाकटायन, शाकल्य** आदि पूर्ववर्ती या समकालीन आचार्यों का उल्लेख किया है और उनके मत को उद्धृत किया है। शब्दों के इतिहास की गतिविधि पर प्रकाश डालते हुए समाज और इतिहास की ओर भी लेखक ने दृष्टिपात किया है; जिससे उस समय तथा कुछ पूर्व के संबंध में बहुत सी बातें जानी जा सकती हैं। शब्दों पर विचार करने के साथ ही भाषा की उत्पत्ति, गठन और विकास पर भी कुछ विचार किया गया है। भाषा पर इतने व्यापक रूप से विचार करने का प्रथम श्रेय इसी यास्क को ही है।

यास्क के पश्चात् **पाणिनि** का नाम महत्वपूर्ण है। पाणिनि से पूर्व भी बहुत से वैयाकरण रहे होंगे। पाणिनि ने प्रथमा, द्वितीया आदि विभक्ति नामों का तथा बहुब्रीहि, कृत्, पद्धति आदि संज्ञाओं का प्रयोग बिना इनका अर्थ-प्रका-

शन किए हुए किया है जिससे स्पष्ट है कि उनके समय तक वे संज्ञाएँ सुपरिचित हो चुकी थीं और अनेक व्याकरणकार पद-विज्ञान को आगे बढ़ा चुके थे। पाणिनि के पूर्व के वैयाकरणों मे **काशकृत्स्न, आपिशलि** और **इन्द्र** का नाम ही उल्लेखनीय है। इन वैयाकरणों ने भाषा की इतनी विशद् विवेचना और विकास किया है कि विश्व के वैयाकरण पाणिनि की **'अष्टाध्यायी'** में पूर्ववर्ती वैयाकरणो के सफल कार्य का सार समन्वित मानते हैं। इन्होंने स्वयं उदीच्य और प्राच्य सम्प्रदायों का तथा आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य आदि दस वैयाकरणों का उल्लेख किया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में आठ अध्याय हैं, प्रति अध्याय में चार पाद हैं और प्रति पाद में अनेक सूत्र हैं। सब सूत्रों की संख्या चार सहस्र के लगभग है। पाणिनि ने चार हजार सूत्रों में सारी भाषा को ऐसा जकड़ दिया है कि मीन-मेष करना असम्भव है। भाषा-विज्ञान के लिए पाणिनि की छाप अमिट है। माहेश्वर सूत्रों में ध्वनियों का स्थान और प्रयत्न के अनुसार वर्गीकरण किया है जो ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। प्रत्येक शब्द किसी न किसी धातु से सम्बद्ध है, इस मत की पुष्कल पुष्टि पाणिनि ने न केवल अष्टाध्यायी के सूत्रों से, बल्कि उणादि सूत्रों से की है। लौकिक और वैदिक संस्कृत का तुलनात्मक अध्ययन भी इसकी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता हैं। योरुप में जो काम १९ वीं सदी में किया गया वही इस देश में ईसा पूर्व छठी, सातवीं सदी में पाणिनि मुनि कर चुके थे। इस प्रकार पाणिनि ने ध्वनि-विज्ञान, अर्थविज्ञान और तुलनात्मक व्याकरण के अध्ययन को बहुत आगे बढ़ाया। पाणिनि के उत्तर-काल में **व्याडिकात्यायन, पतंजलि, जिनेन्द्रबुद्धि, भर्तृहरि, नागेश** आदि के नाम व्याकरण साहित्य में अमर हो गये हैं। जिस मध्य काल में पाश्चात्य भाषा-विज्ञान सर्वथा अन्धकार में चल रहा था उस समय भी भारत में **'वाक्यपदीय', 'व्याकरण भूषण', 'शब्दशक्ति-प्रकाशिका'** जैसे वैज्ञानिक और दार्शनिक ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी। परन्तु पाणिनि के पश्चात् अधिकतर विद्वान्, चाहे वे जिस सम्प्रदाय के भी हुए, केवल अष्टाध्यायी की ही आलोचना-प्रत्यालोचना, टीका-टिप्पणी आदि में संलग्न रहे। यदि कुछ लोगो ने स्वतन्त्र ग्रंथ लिखने का प्रयास भी किया तो उनका कार्य

इस योग्य न हो सका कि अष्टाध्यायी के समक्ष उनका नाम कालकवलित होने से बच सकता।

पाणिनि के पश्चात् 'कथासरित्सागर' के प्रणेता **कात्यायन** हुए। इन्होंने पाणिनि के ढंग से ही, सूत्रों में पाणिनि के मत की आलोचना की। इनके सूत्र '**वार्तिक**'कहलाते हैं। चार सहस्र सूत्रों में १५०० सूत्र लिखे गये हैं, और उनका दोष दिखलाते हुए लेखक ने सूत्र में परिवर्तन करके उन्हें फिर से लिखा है। उदाहरणार्थ—कात्यायन ने पाणिनि के अदर्शन लोपः' सूत्र को लेकर 'वर्णस्याऽदर्शन लोपः' कर दिया है। पतंजलि के अनुसार कात्यायन ने पाणिनि को समझने में भूल की है। वे अपने महाभाष्य में कात्यायन के आक्षेपों का उत्तर देने में पूर्णतः सफल हुए हैं। उन्होंने अपने नियमों को 'इष्टि' की संज्ञा दी है। पतंजलि के महाभाष्य मे भाषा का दार्शनिक विवेचन अत्यन्त सुरम्य रूप में हुआ है। ध्वनि और अर्थ के सम्बन्ध, वाक्य के विभिन्न विभाग तथा ध्वनि की परिभाषा आदि पर भी वैज्ञानिक प्रकाश डाला गया है। इनकी शैली बड़ी ही ललित और हेतुपूर्ण है और सारे संस्कृत वाङ्मय में **शङ्कराचार्य कृत शारीरिक भाष्य** को छोड़कर अपना सानी नहीं रखती।

पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि—ये तीन ऋषि संस्कृत व्याकरण के 'मुनित्रय' कहे जाते हैं। इनके पश्चात् टीकाकारों का समय आता है। टीकाकारों में वामन एवं जयादित्य रचित काशिका' सबसे प्रसिद्ध हैं। जिनेन्द्रबुद्धि ने उपर्युक्त काशिका पर एक टीका लिखी है, जिसका नाम 'काशिकान्यास' रखा गया है। हरिदत्त की पदमंजरी भी काशिका की एक सुन्दर टीका है। परन्तु भाषा के दार्शनिक विवेचन और मूलतत्वों के स्थापन के लिए भर्तृहरि का **वाक्यपदीय** सबसे महत्वपूर्ण है। इसके तीन खण्ड हैं—ब्रह्म खण्ड, वाक्य-खण्ड, तथा प्रकीर्ण या पदखण्ड।

टीका-सम्प्रदाय के पश्चात् अष्टाध्यायी के सूत्रों पर ही अवलम्बित **कौमुदीकार** का समय आता है। इस समय तक व्याकरण का वाङ्मय इतना अधिक विस्तीर्ण हो चुका था कि उसको पुराने क्रम में स्मृतिपट पर चित्रित करना कुछ असम्भव सा हो गया था। अतएव नवीन क्रम विषयानुकूल निर्धारित किया गया। इस प्रकार के ग्रन्थों में **विमल सरस्वती** कृत '**रूपमाला**' सर्वप्रथम

ग्रन्थ समझा जाता है। इन्होंने प्रत्याहार, संज्ञा, परिभाषा, सन्धि आदि का विषयानुकूल क्रम रखा। इस प्रकार के ग्रन्थों में सर्वमान्य और सुप्रसिद्ध **भट्टोजी दीक्षित** कृत **'सिद्धान्त कौमुदी'** है। सिद्धान्त कौमुदी द्वारा ही संस्कृत के व्याकरण की परिपाटी इतनी लोकप्रिय हुई कि अष्टाध्यायी और काशिका की परिपाठी बिल्कुल समाप्त हो गयी।

वयाकरणों के अतिरिक्त साहित्य-शास्त्रियों तथा नैयायिकों ने भी अपने शास्त्रों का अध्ययन करते हुए शब्द-शक्ति का विशेष रूप से विवेचन किया है। शब्द की अभिधा, लक्षणा और व्यंजना—तीन शक्तियों के विषय प्रयोजन आदि का; तथा तात्पर्य, पदार्थ, वाक्यार्थ, अर्थ-स्फोट आदि का भी विशद विवेचन **'ध्वन्यालोक'**, **'काव्य-प्रकाश'**, **'रस-गंगाधर'** आदि ग्रन्थों में मिलता हैं। आधुनिक ग्रन्थों में **जगदीश तर्कालङ्कार** का बनाया हुआ **'शब्द-शक्ति-प्रकाशिका'** नाम का ग्रन्थ महत्वपूर्ण है।

आधुनिक युग में इस क्षेत्र में कार्य करने वालों में प्रथम भारतीय विद्वान् **डॉ० सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर** का नाम प्रशंसनीय है। इन्होंने संस्कृत के व्याकरण की परम्परा को रखते हुए योरोपीय विद्वानों के सिद्धान्तों का भी गम्भीर अध्ययन किया है। अपनी व्याख्या माला के अन्तर्गत इन्होंने 'प्राकृत', 'अपभ्रंश' तथा 'उत्तर भारतीय आधुनिक भाषाओं की ध्वनि' से सम्बन्धित अध्याय दिए हैं। इन्होंने प्राचीन, मध्य तथा अर्वाचीन, आर्य-भाषाओं का भी विवेचन किया है। इनसे पूर्व विशप काल्डवेल, जान बीम्स, डी० ट्रम्प आदि में भी इस क्षेत्र में कार्य किया।

इसी प्रकार डॉ० रुडल्फ हार्नली ने भोजपुरी पर, ग्रियर्सन ने बिहारी भाषा पर, रेल्फ लिले टर्नर ने नेपाली भाषा पर तथा जूल ब्लॉक ने मराठी भाषा पर महत्वपूर्ण कार्य किया है।

हिन्दी पर जिन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किया है उनमें प्रमुख विद्वानों के नाम इस प्रकार हैं—

बाबूराम सक्सेना तथा रामाज्ञा द्विवेदी (अवधी), **धीरेन्द्र वर्मा** (ब्रज), **सुभद्र झा** (मैथिली), **उदयनारायण तिवारी** (भोजपुरी), **टेस्सीटरी** (राज-

स्थानी), **वाचस्पति उपाध्याय** (बनारसी), **सी० जे० लाल** तथा **जान टी प्लाट्स** (हिन्दुस्तानी), **कामताप्रसाद गुरु** (हिन्दी), **मोहुउद्दीन कादरी** (हिन्दुस्तानी ध्वनि), **दुनीचन्द** (हिन्दी-पंजाबी), **हरिशंकर जोशी** (कुमायुँनी), **ग्राहेम बेली** (बाँगरू), **हरदेव** (हिन्दी-अर्थ-विचार) । 'इनके अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने भी भाषा-विज्ञान क्षेत्र में काम किया है । जैसे—**डा० श्यामसुन्दरदास** (भाषा-रहस्य, भाषा-विज्ञान), **डा० मंगलदेव शास्त्री** (सामान्य भाषा-विज्ञान), **डा० भोलानाथ तिवारी** (भाषा-विज्ञान), **डा० रामविलास शर्मा** (भाषा और समाज) **डा० अम्बा प्रसाद सुमन**, **डा० कैलाश चन्द्र भाटिया** भी भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में बड़ा अच्छा कार्य कर रहे हैं ।

हिन्दी के अतिरिक्त भारत की अन्य भाषाओं मे भी विद्वानों ने इस क्षेत्र में कर्य किया है । विवरण इस प्रकार है—

(१) **बंगाली**—सुनीतिकुमार चटर्जी (बंगाली की उत्पत्ति और विकास), सुकुमार सेन, हेमन्तकुमार, रवीन्द्र नाथ ठाकुर (अर्थ-विज्ञान) आदि ।

(२) **उड़िया**—गोपाल चन्द्र (उड़िया कोष), गोपीनाथ शर्मा (ओड़िया भाषा तत्व), गिरिजा शंकर राय (भाषा तत्व), जी० एस० राव (उड़िया व्याकरण) आदि ।

(३) **आसामी**—बानीकान्त काकाती (आसामी का स्वरूप और विकाश) ।

(४) **गुजराती**—नरसिंह राव भोलानाथ, केशवराय, डा० मोतीलाल, डा० सांडेसरा, डा० हरिवल्लभ भायाणी आदि ।

(५) **मराठी**—डा० सुमित्रामंगेश कत्रे, के० पी० कुलकर्णी, सबनीस आदि ।

(६) **तामिल**—नीलकंठ शास्त्री, रामकृष्ण आदि ।

(७) **मलयालम**—शेखरम्, रामस्वामी अय्यर आदि ।

(८) **ब्राहुई**—डे० एस० ब्रे ।

(९) **पंजाबी**—डा० खजुरिया, बनारसी दास जैन आदि ।

(१०) **काश्मीरी**—सिद्धेश्वर वर्मा

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि भारत में भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन अत्यन्त प्राचीन काल से हो रहा है और आज तक जारी है ।

प्रश्न ६—भाषा-विज्ञान के क्रमिक विकास पर योरोप में क्या कार्य हुए—संक्षेप में लिखिये।

उत्तर—भाषाविज्ञान का आधुनिक रूप योरोप में ही वर्तमान समय में विकसित हुआ है तथापि इससे पहले भाषाविज्ञान के क्षेत्र में भारत की भाँति योरोप में प्रगति नहीं हुई। भारत की भाँति योरोप में कोई अपौरुषेय ग्रन्थ नहीं थे जिनका संरक्षण आवश्यक होता। ऐसी परिस्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि भाषा तत्वों का अन्वेषण वहाँ देर से आरम्भ होता फिर भी कुछ विद्वानों ने कार्य किया। सबसे पहले **सुकरात** ने 'शब्द' और 'अर्थ' के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट की। भाषा का वैज्ञानिक अनुशीलन यूनानी विद्वान् **प्लेटो** की व्युत्पत्ति 'विद्या' से अंकुरित होकर आज तक निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है। प्लेटो ने 'विचार' और 'भाषा' की एकता का अनुभव किया और विचार को भाषा का अन्तरंग रूप निर्धारित किया। विचार आत्मा की मूक या अध्वन्यात्मक वार्ता है, परन्तु वही जब ध्वन्यात्मक रूप धारण कर ओठों पर प्रकट होता है तो उसे 'भाषा' की संज्ञा से विभूषित किया जाता है। उन्होंने ग्रीक भाषा की ध्वनियों का वर्गीकरण सघोष और अघोष में किया है और फिर अघोष के भी भेद किये हैं। पहले में अन्तःस्थ वर्ण और दूसरे में व्यंजन समाविष्ट हैं। **अरस्तू** ने वाक्यों का पदों में विभाजन करते हुए संज्ञा और क्रिया पर भी विशेष रूप से प्रकाश डाला है। कारण तथा उनको प्रकट करने वाले शब्दों की ओर भी योरोप में प्रथम संकेत यहीं मिलता है। अरस्तू वर्ण को अविभाज्य ध्वनि मानते हैं, जिसके स्वर, अन्तःस्थ और स्पर्श तीन भेद किये हैं। इस सम्बन्ध में अरस्तू द्वारा की गयी स्वर की परिभाषा (स्वर वह है जिसकी ध्वनि बिना जिह्वा और ओठ के उच्चरित हो) पर्याप्त वैज्ञानिक है।

स्टोइक, सुकरात, प्लेटो, अरस्तू के पश्चात् **स्टोइक** (Stoics) वर्ग के विद्वानों ने इस क्षेत्र में प्रगति की। स्टोइक ने 'शब्द' सम्बन्धी कार्य भी आगे बढ़ाया और कुछ अनुसंधान भी किए जो अर्थ-विज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। ग्रीक भाषा के सर्वप्रथम व्याकरणकार **थ्रैक्स** थे। इन्होंने कर्त्ता और क्रिया के परस्पर अन्वय तथा लिंग, वचन, विभक्ति, पुरुष, काल और वृत्ति पर सम्यक् विवेचना की। इनका ग्रीक भाषा का पहला व्याकरण तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दियों तक

प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता रहा था और अब भी उपादेय समझा जाता है।

धीरे-धीरे ग्रीस से जब सभ्यता का केन्द्र रोम पहुँचा तो ग्रीक और लैटिन दोनों भाषाओं की अध्ययन प्रणाली आरम्भ हुई और ग्रीक व्याकरण की आधार-शिला पर लैटिन के व्याकरण की भी नींव रखी गयी। प्रथम प्रामाणिक लैटिन व्याकरण लिखने का श्रेय १५ वीं सदी के एक विद्वान् **लौरेंशस** बाल को है। इसके अतिरिक्त वारो तथा प्रिस्किअन आदि ने भी सुन्दर व्याकरण-रचना की। इसी समय ईसाई धर्म का प्रभाव प्रगति की ओर अग्रसर हुआ जिसके फलस्वरूप 'ओल्ड टेस्टामेंट (Old Testament) का अध्ययन ग्रीस और रोम में होने लगा। इस परिस्थिति में विद्वानों को ग्रीक और लैटिन तथा हिब्रू भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन का अवसर मिला। धार्मिक भाषा होने के कारण हिब्रू भाषा स्वर्गलोक की भाषा समझी जाती थी। इसी प्रसङ्ग मे सीरियायी और अरबी आदि भाषाओं का भी कुछ अध्ययन विद्वानों ने किया। नवीन युग के कुछ पहले जागरण आन्दोलन के कारण सभी लोगों की प्रवृत्ति अपनी प्राचीन भाषाओं की ओर उन्मुख हुई जिसके फल-स्वरूप कोष और व्याकरण की रचना हुई।

अठारहवीं सदी में कई योरोपीय विद्वानों ने भाषा की उद्गम् सम्बन्धी विवेचना आरम्भ की। **रूसो** ने भाषा की उत्पत्ति के विषय में निर्णय सिद्धांत को ही उचित माना था। इसी प्रकार **कंडिलैक** ने भाषाभिव्यंजक स्वाभाविक ध्वनियों को उत्पत्ति का आधार माना था। परन्तु उत्पत्ति के प्रश्न पर इस सदी में सर्वोत्तम गवेषणा **हर्डर** ने की। इन्होंने बर्लिन एकेडेमी के लिए 'भाषा की उत्पत्ति' एक निबन्ध लिखा, जिसमें इन्होंने दैवी उत्पत्ति का सफलतापूर्वक खण्डन किया। उनका कहना है कि आवश्यकता के कारण ही भाषा का स्वाभाविक विकास हुआ। इसी समय **डी० जेनिस** ने 'आदर्श भाषा' के विषय में एक निबन्ध लिखा, जिसमें उन्होंने ग्रीक, लैटिन तथा अन्य योरोपीय भाषाओं को तुलनात्मक दृष्टि से देखने का प्रयास किया। इस प्रकार इसी सदी में हर्डर और जेनिश ने भाषा-विज्ञान की नींव रखी।

वास्तव में उन्नीसवीं सदी भाषा-विज्ञान की सदी मानी जा सकती है क्योंकि इसमें इसका पूर्ण विकास हुआ। नयी-नयी भाषाएँ अध्ययन का विषय

नों और लेटिन, ग्रीक आदि प्राचीन भाषाओं की भी विवेचना पूर्ववर्ती सदियों की अपेक्षा अधिक गम्भीर और विस्तृत रूप से होने लगी। तुलनात्मक अध्ययन विद्वत्तापूर्ण और निष्पक्ष दृष्टि से होने लगा।

अठारहवीं सदी के अन्त में कलकत्ता की **'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी'** Royal Asiatic Society) की स्थापना करते हुए **सर विलियम जोन्स** ने १७९६ में संस्कृत के महत्व की घोषणा की थी कि गठन में यह लैटिन और ग्रीक दोनों के बहुत निकट है और इन दोनों भाषाओं का कोई एक स्रोत है, तथा प्राचीन फारसी, केल्टी और गाँथी भी इसी से सम्बद्ध हैं। जोन्स के इस वक्तव्य ने योरोपीय विद्वानों का ध्यान संस्कृत की ओर आकर्षित किया। इन्होंने (जोन्स) अपने इस वक्तव्य में शब्द, धातु तथा इन प्राचीन भाषाओं और पुरानी फारसी का एक मूल से उत्पन्न होने का अनुमान लगाया।

प्रसिद्ध जर्मन **विद्वान श्लेगेल ने** १८०८ में जोन्स के पश्चात् 'भारतीय भाषा और ज्ञान' के विषय में एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया। तुलनात्मक व्याकरण का श्रीगणेश सर्वप्रथम श्लेगेल ने ही किया और कुछ ध्वनि नियमों की ओर भी संकेत किया। संसार की भाषाओं का वर्गीकरण सर्वप्रथम इन्होंने ही किया। इन्होंने भाषा को दो वर्गों में विभाजित किया—(१) संस्कृत तथा गोत्रीय भाषाएँ, (२) अन्य भाषाएँ। इस वर्ग को श्लेगेल संश्लिष्टवर्गीय मानते हैं, जिसमें प्रत्यय, उपसर्ग आदि जोड़े जाते हैं। भाषा की उत्पत्ति के विषय में उनका मत है कि इसका एक ही आधार नहीं माना जा सकता। उदाहरणार्थ—माँचू आदि कुछ भाषाएँ ऐसी हैं जिनमें अनुकरणात्मक शब्दों का प्राधान्य है, अतः उन भाषाओं की उत्पत्ति में प्रकृति और जीव जन्तुओं का प्रभाव है, परन्तु संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं में उत्पत्ति का आधार भिन्न हैं। विल्हेल्म वान हम्बोल्ट (१७६७-१८३५) ने भाषा के ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक दृष्टिकोण पर बल दिया। भाषा के वर्गीकरण के सम्बन्ध में उन्होंने चीनी को अलग रखा। वे आकृति-मूलक वर्गीकरण को ठीक नहीं मानते।

१९ वीं सदी के आरम्भ में **रेस्मस रैस्क, जैकब ग्रिम और फ्रांस बॉप** ने भाषा-विज्ञान की गति को विकासोन्मुख किया। रैस्क ने आइसलैंड (Ice-land)

की भाषा का शास्त्रीय ढङ्ग से अध्ययन किया और प्रान्तीय नॉर्स भाषा उत्पत्ति पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। इनके अनुसार किसी देश के इतिहास पुस्तकों की अपेक्षा वहाँ की भाषा के गठन एवं शब्द-समूह से भली प्रकार जाना जा सकता है। इन्होंने फिनो-उग्रिअन परिवार की भाषाओं का वर्गीकरण भी किया है जो अत्यन्त प्रामाणिक है। इन्होंने बहुत-सी भाषाओं के व्याकरण लिखे जिनमें प्रमुखत: रूप-विचार सम्बन्धी अंश बहुत ही महत्त्व पूर्ण हैं।

जैकब ग्रिम की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तक उनकी "देवभाष व्याकरण" है। इसमें ग्रिम ने रैस्क के १८१८ के प्रकाशित ग्रन्थ की भूरि-भूरि प्रशंसा की और १८२२ में अपने व्याकरण का परिवर्द्धित दूसरा संस्करण प्रकाशित किया। इसी में ग्रिम-नियम का वर्णन है जिसका विवरण जर्मन भाषा के विचार के अन्तर्गत है। ग्रिम ने स्वर, क्रम आदि के लिए पारिभाषिक शब्द गढ़े जो आज भी प्रचलित हैं।

उस युग के भाषा-विज्ञान के तीन प्रधान स्तम्भों में रैस्क और ग्रिम के अतिरिक्त बॉप का नाम विशेष उल्लेखनीय है। १८१६ में धातु-प्रक्रिया पर इनकी पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमें ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता, जर्मन तथा संस्कृत के रूप की तुलनात्मक ढङ्ग से विवेचना की गई। इसके पश्चात् इन्होंने १८३? में एक और ग्रन्थ की रचना की जिसमें संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, जर्मन आदि भाषाओं के मौलिक रूपों का वर्णन, उनके ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी नियमों और उन रूपों के मूलान्वेषण की विवेचना की। इसके अतिरिक्त बॉप ने संस्कृत और ग्रीक भाषाओं के स्वराघात पर भी लिखा। इस समय तक भाषा-विज्ञान अन्य विज्ञानों की भाँति एक निश्चित विज्ञान माना जाने था। प्रत्ययों को सार्थक शब्द मानने की प्रवृत्ति भी बढ़ चली थी।

इस काल में वैज्ञानिक-व्युत्पत्ति शास्त्र के विद्वान् पॉट (Pott) थे जिन्ह तुलनात्मक ध्वनियों का कोष्ठक तैयार किया। तदनन्तर ऑगस्ट श्लाइश इण्डो-जर्मनिक (भारतीय-जर्मन) भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण को प्र करवाया और भाषा के वैज्ञानिक विकास में विशेष सहायता प्रदान क इन्होंने भाषा का वर्गीकरण अयोगात्मक, अश्लिष्ट योगात्मक और श्लि

गात्मक निर्धारित किया। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य आर्य-भाषा का नर्निर्माण है।

अब तक भाषा-वैज्ञानिक भाषाओं की छान-बीन, आलोचना, प्रत्यालोचना कर मूल-तत्त्वों के निर्माण में ही संलग्न थे, और भाषा-विज्ञान केवल विद्वत्-वर्ग से ही परिचय प्राप्त कर सका था। अन्य लोग अथाह सागर के अन्तस्तल में से निकाले हुए नये मोतियों के सौन्दर्य की प्रशंसा न कर सके। अतएव मैक्स-मूलर इस लक्ष्य को लेकर अग्रसर हुए। इनकी शैली इतनी रोचक और मनोरम थी कि इन्होंने बुद्धि-ग्राह्य विषय को हृदय की वस्तु बना दिया और बहुत से हृदयों की अभिरुचि इस ओर उन्मुख हो चली। इनके ग्रंथ का नूतन संस्करण २६ वर्ष पश्चात् प्रकाशित हुआ। नूतन संस्करण की भूमिका में पिछले ३० वर्षों में किये गये अनुसंधानों का उल्लेख किया गया है और अधिकांश में नवीन युग के सिद्धान्तों को उपयोगी सिद्ध किया गया है। भाषा का उद्‌गम, वर्गीकरण, विकास,विकास का कारण इत्यादि विषयों पर भी अब तक किये गये अन्वेषणों को संग्रहीत कर जनता के समक्ष उपस्थित किया। मैक्समूलर प्रधानतः साहित्यिक और दार्शनिक व्यक्ति थे, इसी कारण उनके व्याख्यान या पुस्तकें मनोरंजक और आकर्षक हैं। औपनिषदिक दर्शन एवं जातियों की धर्मानुष्ठान-पद्धति पर भी उन्होंने पर्याप्त रूप में लिखा है। तुलनात्मक, पौराणिक कथा तथा कर्म के विज्ञान पर कार्य करने वाले ये प्रथम व्यक्ति थे।

भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में कार्यकुशलता को प्रदर्शित करने वाले प्रथम अमे-रिकन विद्वान 'ह्विटनी' है। इन्होंने अपनी पुस्तक 'भाषा और भाषा का अध्य- १८६७ में लिखी। दूसरा ग्रंथ 'भाषा का जीवन और विकास' १८८५ में ाशित हुआ। योग्यता तथा विद्वत्ता की दृष्टि से ये मैक्समूलर के प्रतिद्वन्द्वी इनकी शैली मैक्समूलर की अपेक्षा कम आकर्षक थी, पर दूसरी ओर अपेक्षा अधिक गम्भीर और ठोस थी। ह्विटनी ने मैक्समूलर के काल्प-िद्धान्तों की समीक्षा की और उन्हें विशुद्ध रूप दिया। भाषा की परि-षा के संबंध में भी दोनों में पर्याप्त अंतर था। मैक्समूलर के लिए वह भूत-ज्ञान पर आधारित थी, पर ह्विटनी इसे मानवीय उद्योग के फल-स्वरूप

विकसित मानते थे। उनके अनुसार—"भाषा देश के मस्तिष्क की छाया थी।"

इसी समय भाषा-विज्ञानियों की नवीन शाखा प्रारम्भ हुई और सर्वप्रथम दोनों शाखाओं (प्राचीन तथा नवीन) का विरोध 'ध्वनि' को लेकर चला। नवीन शाखा वालों के अनुसार ध्वनि-नियमों के अपवाद नहीं होते, परन्तु प्राचीन शाखा वालों ने इसका विरोध किया है। प्राचीन शाखा वालों के इस विरोध का कारण ग्रिम का ध्वनि-नियम है, जो अपवादों से परिपूर्ण है। परन्तु 'सत्य-मेव जयते' के अनुसार नव्य शाखा के सिद्धान्तों की ही प्रतिष्ठा हुई। नव्य शाखा के विद्वानों में कार्ल **ब्रुगमैन** शीर्ष-स्थानीय थे। इनके अतिरिक्त नव्य शाखा के भाषा-वैज्ञानिकों में **ग्रॉसमान, डेलब्रुक** और **हर्मन पॉल** प्रमुख हैं। ब्रुगमैन का अनुनासिक सिद्धांत भी अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसकी खोज से भी ग्रिम-नियम की अनेक शंकाओं एवं अपवादों का समाधान हो गया है। ग्रॉस-मान ने अपने ग्रॉसमान-नियम की खोज और ग्रिम-नियम के अपवादों का समाधान किया। शेष अपवादों का उलझनों को सुलझाने के लिए कार्न-वर्नर ने १८८७ में वर्नर-नियम का निरूपण किया। हर्मन पॉल ने १८८० में भाषा परिवतन के क्या कारण हैं, वे कैसे कार्य करते हैं और उन कारणों का वर्गी-करण कैसे किया जा सकता है, आदि प्रश्नों पर विचार करते हुए एक प्रामा-णिक पुस्तक प्रकाशित की। पॉल ने वाक्यों तथा सामान्य सिद्धान्तों की भी विशद विवेचना की। इस प्रकार नवयुग के नेताओं में इनका महत्वपूर्ण स्थान है।

इस प्रकार अब भाषा-विज्ञान की सराहनीय उन्नति होने लगी है। ध्वनि-शिक्षा के अध्ययन के लिये अब प्रयोगशालाओं की आवश्यकता होती है अर्थात् भाषा के भौतिक अङ्गों की सम्यक् परीक्षा होती है। **जैस्पर्सन, टर्नर, स्वीट** आधुनिक काल के प्रसिद्ध विद्वान् हैं। इनमें से कुछ विद्वान् अब नए सम्प्रदाय की संकीर्णता को दूर करने के लिए पुराने सम्प्रदाय को अपने ढङ्ग से अपनाने का यत्न कर रहे हैं।

प्रश्न ७—भाषा, विभाषा, बोली और राष्ट्रभाषा में परस्पर क्या अन्तर है—स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—अनादि काल से मानव का भाषा से परिचय रहा है। जन्म से

नुष्य भाषा को सीखता है और आदि काल से सीखता आ रहा है। सरिता प्रवाह की भाँति भाषा गतिशील है। भाषा की गतिशीलता निरन्तर रहती है। अतः भाषा में विकास होता रहता है। भाषा समाज सापेक्ष है अर्थात् समाज में रहकर ही व्यक्ति भाषा का व्यवहार करना सीखता है। समाज में व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अपने भाव या विचार व्यक्त करने के लिये कुछ ध्वनि संकेतों का व्यवहार करता है—ये व्यक्त ध्वनि-संकेत ही भाषा कहलाते हैं। अतः भाषा वक्ता और श्रोता दोनों के विचार-विनिमय की साधन है। अतः कह सकते हैं कि भाषा सामाजिक क्रिया है। वह किसी व्यक्ति विशेष की कृति नहीं है। तथा भाषा से अभिप्राय उन ध्वनि-संकेतों से है जो सार्थक हों तथा उनमें भाव या विचार अभिव्यक्त हों।

अब हम भाषा के प्रकार बोली, विभाषा, राष्ट्रभाषा पर विचार करेंगे।

भाषा सामान्य—सामान्य रूप से भावों के व्यक्तिकरण का नाम भाषा है। इसमें भाषा का व्यापक रूप होता है। इसके अन्तर्गत विश्व की सम्पूर्ण भाषाएँ, बोलियाँ, तथा सांकेतिक भाषाएँ आ जाती हैं।

बोली—गाँव, घर या सीमित क्षेत्र में बोली का व्यवहार होता है। इसे स्थानीय भाषा भी कह सकते हैं। इसमें परम्परा का हाथ बहुत रहता है। एक ही स्थान में रहने वाले विभिन्न वर्गों के लोग अपनी-अपनी परम्परा के अनुसार एक ही बोली को विभिन्न रूपों में बोलते हैं। एक ही कस्बे के बनियों, नाइयों, धोबियों की बोली परस्पर कुछ भिन्नता लिये होती है। इसमें लिखित साहित्य नहीं होता। लोक साहित्य अवश्य होता है लेकिन मौखिक रूप में ! **विभाषा** (Dilect) बोली की अपेक्षा विभाषा का क्षेत्र व्यापक और विस्तृत होता है। एक प्रान्त अथवा उपरान्त की बोलचाल तथा साहित्यिक रचना की भाषा को 'विभाषा' कहते हैं।' 'बोली' जब किसी स्थानीय साहित्यिक रूप से 'भाषा' का रूप धारण कर लेती है तब उसे 'विभाषा' अथवा 'प्रान्तीय भषा' कहते हैं। ब्रजमण्डल में घरों में बोली जाने वाली भाषा 'बोली' कहलायेगी, परन्तु उसका जो प्रयोग ब्रजभाषा के कवियों ने किया है वह 'विभाषा' की संज्ञा प्राप्त करता है। किसी प्रान्त-विशेष में इस प्रकार की

विकसित मानते थे। उनके अनुसार—"भाषा देश के मस्तिष्क की छाया थी"।

इसी समय भाषा-विज्ञानियों की नवीन शाखा प्रारम्भ हुई और सर्वप्रथम दोनों शाखाओं (प्राचीन तथा नवीन) का विरोध 'ध्वनि' को लेकर चला। नवीन शाखा वालों के अनुसार ध्वनि-नियमों के अपवाद नहीं होते, परन्तु प्राचीन शाखा वालों ने इसका विरोध किया है। प्राचीन शाखा वालों के इस विरोध का कारण ग्रिम का ध्वनि-नियम है, जो अपवादों से परिपूर्ण है। परन्तु 'सत्य-मेव जयते' के अनुसार नव्य शाखा के सिद्धान्तों की ही प्रतिष्ठा हुई। नव्य शाखा के विद्वानों में कार्ल **ब्रुगमैन** शीर्ष-स्थानीय थे। इनके अतिरिक्त नव्य शाखा के भाषा-वैज्ञानिकों में **ग्रॉसमान, डेलब्रुक** और **हर्मन पॉल** प्रमुख हैं। ब्रुगमैन का अनुनासिक सिद्धांत भी अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसकी खोज से भी ग्रिम-नियम की अनेक शंकाओं एवं अपवादों का समाधान हो गया है। ग्रॉस-मान ने अपने ग्रॉसमान-नियम की खोज और ग्रिम-नियम के अपवादों का समाधान किया। शेष अपवादों का उलझनों को सुलझाने के लिए कार्न-बर्नर ने १८८७ में बर्नर-नियम का निरूपण किया। हर्मन पॉल ने १८८० में भाषा परिवतन के क्या कारण हैं, वे कैसे कार्य करते हैं और उन कारणों का वर्गी-करण कैसे किया जा सकता है, आदि प्रश्नों पर विचार करते हुए एक प्रामा-णिक पुस्तक प्रकाशित की। पॉल ने वाक्यों तथा सामान्य सिद्धान्तों की भी विशद विवेचना की। इस प्रकार नवयुग के नेताओं में इनका महत्वपूर्ण स्थान है।

इस प्रकार अब भाषा-विज्ञान की सराहनीय उन्नति होने लगी है। ध्वनि-शिक्षा के अध्ययन के लिये अब प्रयोगशालाओं की आवश्यकता होती है अर्थात् भाषा के भौतिक अङ्गों की सम्यक् परीक्षा होती है। **जैस्पर्सन, टर्नर, स्वीट** आधुनिक काल के प्रसिद्ध विद्वान् हैं। इनमें से कुछ विद्वान् अब नए सम्प्रदाय की संकीर्णता को दूर करने के लिए पुराने सम्प्रदाय को अपने ढङ्ग से अपनाने का यत्न कर रहे हैं।

प्रश्न ७—भाषा, विभाषा, बोली और राष्ट्रभाषा में परस्पर क्या अन्तर है—स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—अनादि काल से मानव का भाषा से परिचय रहा है। जन्म से

नुष्य भाषा को सीखता है और आदि काल से सीखता आ रहा है। सरिता प्रवाह की भाँति भाषा गतिशील है। भाषा की गतिशीलता निरन्तर रहती है। अतः भाषा में विकास होता रहता है। भाषा समाज सापेक्ष है अर्थात् समाज में रहकर ही व्यक्ति भाषा का व्यवहार करना सीखता है। समाज में व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अपने भाव या विचार व्यक्त करने के लिये कुछ ध्वनि संकेतों का व्यवहार करता है—ये व्यक्त ध्वनि-संकेत ही भाषा कहलाते हैं। अतः भाषा वक्ता और श्रोता दोनों के विचार-विनिमय की साधन है। अतः कह सकते हैं कि भाषा सामाजिक क्रिया है। वह किसी व्यक्ति विशेष की कृति नहीं है। तथा भाषा से अभिप्राय उन ध्वनि-संकेतों से है जो सार्थक हों तथा उनमें भाव या विचार अभिव्यक्त हों।

अब हम भाषा के प्रकार बोली, विभाषा, राष्ट्रभाषा पर विचार करेगे।

भाषा सामान्य—सामान्य रूप से भावों के व्यक्तिकरण का नाम भाषा है। इसमें भाषा का व्यापक रूप होता है। इसके अन्तर्गत विश्व की सम्पूर्ण भाषाएँ, बोलियाँ, तथा सांकेतिक भाषाएँ आ जाती हैं।

बोली—गाँव, घर या सीमित क्षेत्र में बोली का व्यवहार होता है। इसे स्थानीय भाषा भी कह सकते हैं। इसमें परम्परा का हाथ बहुत रहता है। एक ही स्थान में रहने वाले विभिन्न वर्गों के लोग अपनी-अपनी परम्परा के अनुसार एक ही बोली को विभिन्न रूपों में बोलते हैं। एक ही कस्बे के बनियों, नाइयों, धोबियों की बोली परस्पर कुछ भिन्नता लिये होती है। इसमें लिखित साहित्य नहीं होता। लोक साहित्य अवश्य होता है लेकिन मौखिक रूप में ! **विभाषा** (Dilect) बोली की अपेक्षा विभाषा का क्षेत्र व्यापक और विस्तृत होता है। एक प्रान्त अथवा उपरान्त की बोलचाल तथा साहित्यिक रचना की भाषा को 'विभाषा' कहते हैं।' 'बोली' जब किसी स्थानीय साहित्यिक रूप से 'भाषा' का रूप धारण कर लेती है तब उसे 'विभाषा' अथवा 'प्रान्तीय भषा' कहते हैं। ब्रजमण्डल में घरों में बोली जाने वाली भाषा 'बोली' कहलायेगी, परन्तु उसका जो प्रयोग ब्रजभाषा के कवियों ने किया है वह 'विभाषा' की संज्ञा प्राप्त करता है। किसी प्रान्त-विशेष में इस प्रकार की

अनेक विभाषाएँ सम्भव हो सकती हैं। ये विभाषाएँ उपभाषाएँ भी कहलाती हैं।

इन उपभाषाओं में जो उपभाषा ऐसा साहित्यिक रूप धारण कर लेती है जो प्रान्त-विशेष में सभी उपभाषाओं के लेखकों की लेखनी का अलङ्कार बन जाती है, भाषा कहलाती है अथवा कई विभाषाओं में व्यवहृत होने वाली एक शिष्ट परिगृहीत विभाषा ही भाषा का रूप धारण कर लेती है। उदाहरणार्थ —युक्त-प्रान्त में अपने-अपने उपप्रान्तों की अनेक विभाषाएँ प्रचलित हैं; परन्तु उनमें दिल्ली और मेरठ की खड़ी बोली, जो इस प्रदेश की एक विभाषा थी, प्रान्त की सभी उपभाषाओं से अधिक व्यापक रूप धारण कर लेने के कारण इस प्रान्त की 'भाषा' कहलाती है। बोली के प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण बन जाने का सबसे बड़ा कारण राजनीति है। जहाँ राजनीति का केन्द्र होगा वहाँ की बोली अवश्य ही उन्नत और विकासोन्मुख होगी। दिल्ली के समीप की खड़ी बोली आज हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों की प्रमुख भाषा है और उसने मैथिली, अवधी और ब्रज जैसी प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण विभाषाओं को भी अपने सतत् परिवर्तनशील चक्र से कुचल दिया है। इसी प्रकार पेरिस की फ्रेंच और लन्दन की अँग्रेजी बोलियाँ अपनी अन्य बहिनों को पछाड़ कर मार्ग को कंटक-विहीन करती हुई प्रगति की ओर बढ़ रही हैं। मराठी में कोंकणी, काखड़ी और बरारी आदि बोलियाँ ही रह गई हैं, पर पूना की बोली आज वहाँ की साहित्यिक भाषा है। इस प्रकार यह स्वतः स्पष्ट है कि विभाषाएँ अपने रूप और स्वभाव की पूर्णरूपेण रक्षा करती हुई, अपनी भाषा रानी को उचित पद दिया करती हैं और जब कभी राष्ट्र में कोई आन्दोलन संघर्ष और अशान्ति का रूप धारण करता है और भाषा छिन्न-भिन्न होने लगती है तब विभाषाएँ फिर अपने-अपने प्रान्त में स्वतन्त्र हो जाती हैं, क्योंकि विभाषाओं का अपने प्रान्तों पर बहुत कुछ जन्मसिद्ध अधिकार होता है, पर भाषा तो किसी राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक अथवा धार्मिक आन्दोलन के द्वारा ही इतना विशाल पद प्राप्त करती है। उदाहरणार्थ—किसी समय भारत में अनेक ऐसी बोलियाँ और विभाषाएँ प्रचलित थीं जिनका साहित्यिक रूप ऋग्वेद की भाषा में सुरक्षित है। इन्ही भाषाओं में से किसी एक भाषा को मध्यप्रदेश के विद्वानों ने

संस्कृत कर राष्ट्रभाषा का पद दे दिया था। कुछ काल तक इस भाषा का आर्यावर्त में अखण्ड राज्य रहा, पर विदेशियों के आक्रमरण और बौद्धधर्म के उत्थान से संस्कृत का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। फिर उनकी शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, महाराष्ट्री, पैशाची, अपभ्रंश आदि विभाषाओं ने गर्व-सहित अपना मस्तक उठाया और सबसे पहले मागधी भाषा ने उपदेशकों के पीछे शासकों के आँचल को पकड़ कर 'भाषा' ही नहीं, समस्त उत्तरी भारत की राष्ट्रभाषा बनने का उद्योग किया।

राष्ट्रभाषा—भाषा से भी व्यापक क्षेत्र राष्ट्रभाषा का है। विभाषा भाषा का रूप धारण कर जब वह एक पग आगे बढ़ कर विकासोन्मुख होती है तो 'राष्ट्रभाषा' का पद ग्रहण करती है। राष्ट्रकार्यों के संचालन के लिये सब प्रान्तीय भाषाओं में से किसी एक प्रान्त की भाषा को जो राष्ट्र में सबसे अधिक प्रचलित होती है, सुगम तथा देश की संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाली होती है, राष्ट्रभाषा के स्वर्ण-किरीट से सुसज्जित कर दिया जाता है। जन-साधारण की भाषा तथा देश के अधिकतम प्रदेश की भाषा ही राष्ट्रभाषा निर्वाचित की जाती है। सर्वसाधारण की भाषा का मूल्य साहित्यिक भाषा की अपेक्षा अधिक होता है। सामान्य जनता की भाषा एक अकृत्रिम नदी है जो कभी स्थिर न रहकर सदा प्रवाह रूप से आगे बढ़ती है, जिसमें स्वच्छता, स्वच्छन्दता, सरलता और सुकुमारता की लहरें उठती हैं और भाषा-प्रवाह के वेग को प्रगति और विकास की ओर उन्मुख करती हैं। उदाहरणार्थ—मेरठ और दिल्ली की एक विभाषा खड़ी बोली विकासोन्मुख होते-होते सब भाषाओं को अपने आधिपत्य में रखकर राष्ट्र की रानी बन बैठी है। ब्रज और अवधी ऐसी साहित्यिक विभाषाएँ भी उसकी उपभाषाएँ कहलाती हैं। राष्ट्रभाषा और विभाषा में एक अन्तर यह भी है कि विभाषा की सीमा बहुत कुछ भूगोल द्वारा निर्धारित होती है और राष्ट्रभाषा की सीमा संस्कृति, सभ्यता और जातीय भावों पर आश्रित होती है। खड़ी बोली दिल्ली की विभाषा थी। अंग्रेजी भी लंदन नगर की विभाषा थी किन्तु दोनों ही राजधानी थीं अतः राजधानी की राजनैतिक महत्ता से ये दोनों ही राष्ट्र की भाषाओं का पद प्राप्त कर चुकी हैं।

प्रश्न ८—सिद्ध कीजिये भाषा अर्जित वस्तु होते हुए भी व्यक्तिकृत नहीं है।

अथवा

भाषा अर्जित सम्पत्ति है अथवा परम्परागत ?

भाषा विचार-विनिमय के लिये व्यक्त ध्वनि संकेतों का समूह-मात्र है। भाषा में नित्य और सतत परिवर्तन होते रहने पर भी वह स्थायी है। भाषा समाज सापेक्ष वस्तु है अर्थात् समाज में रहकर ही व्यक्ति भाषा सीखता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह सहयोग और विनिमय के बिना नहीं रह सकता। उसकी यह प्रबल प्रवृत्ति भाषा के रूप में प्रकट होती है क्योंकि भाषा सामाजिक सहयोग का साधन बन जाती है। अतएव मनुष्य का भाषा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य भाषा को पैतृक सम्पति की भाँति परम्परा के रूप में प्राप्त करता है अथवा वह प्रयत्न द्वारा उसका उपार्जन करता है ?

भाषा परिवर्तनशील है, उसका एक बार जो रूप निश्चित हो जाता है, वह कुछ ही समय पश्चात् निश्चित रूप से परिवर्तित हो जाता है, क्योंकि भाषा समाज-सापेक्ष वस्तु है। समाज की विचारधाराओं के परिवर्तन के साथ-साथ व्यक्त ध्वनि-संकेत अर्थात् भाषा भी अपना रूप बदलती रहती है। भाषा के 'मानसिक' और 'भाषण' दो रूप होते हैं जो समय के परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तित होते रहते हैं। जो विचार-सरिता मध्ययुग में प्रवाहित होती थी, उसका वेग अब दूसरी ही दिशा की ओर हो गया है। प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क-प्राङ्गण में विभिन्न विचारधाराएँ प्रवाहित होती हैं। फलतः एक पीढ़ी के द्वारा निश्चित की गई भाषा का विभिन्न व्यक्तियों द्वारा प्रयोग होने से उसका परिवर्तन हो जाता है। किन्तु यह परिवर्तन पूर्ण रूप से नहीं होता, अर्थात् यह सम्भव नहीं है कि एक पीढ़ी के मनुष्य जिस भाषा को बोलते हैं वह भाषा उस पीढ़ी के समाप्त होने के साथ ही समाप्त हो जाय वरन् दूसरी नयी पीढ़ी पूर्वजों की भाषा को लेकर ही कार्य करती है। जब एक शब्द चल पड़ता है तब उसे मनुष्य संसर्ग द्वारा सीख कर उसका प्रयोग करने लगते हैं। इस प्रकार एक पीढ़ी की भाषा में दूसरी पीढ़ी का प्रभाव निरन्तर पड़ता रहता

है और अन्त में कुछ पीढ़ियों के पश्चात् देखने में भाषा पूर्ण परिवर्तित दिखाई देती है। आज की हिन्दी भाषा आदि भाषाएँ प्राकृत-भाषा-परम्परा का ही परिवर्तित रूप है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भाषा के सामाजिक वस्तु होने के कारण नयी पीढ़ी उसका निर्माण नहीं करती वरन् अपने पूर्वजों की भाषा को लेकर कार्य चलाती है। घटना और परिस्थिति के कारण भाषा में कुछ विकार भले ही आ जायें, पर जान-बूझकर वक्ता कभी परिवर्तन नहीं करते अर्थात् भाषा एक परम्परागत सम्पत्ति है। इसकी एक धारा बहती है जो सतत परिवर्तनशील होने पर भी स्थायी और नित्य होती है और जिसमें भाषण-कृत भेदों की लहरें नित्य उठती रहती हैं। यह है भाषा की अविच्छिन्न धारा का रहस्य।

भाषा के परम्परागत होने और उसकी अविच्छिन्न धारा के प्रवाहित होने का यह तात्पर्य नहीं कि भाषा कोई पैतृक और कुल-क्रमागत वस्तु है। भाषा भी अन्य कलाओं की भाँति एक कला है जो संसर्ग तथा प्रयत्न द्वारा उपार्जित की जा सकती है। जिस प्रकार पुत्र को पिता की सम्पत्ति उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हो जाती है अथवा माता-पिता के रक्त-विकार जिस प्रकार उनकी सन्तान में भी आ जाते हैं उसी प्रकार पिता की भाषा पुत्र को सम्पत्ति के रूप में प्राप्त नहीं होती। यदि कोई व्यक्ति किसी भाषा-विशेष का विशेषज्ञ है तो यह आवश्यक नहीं कि उसका पुत्र भी जन्म से ही उस भाषा-विशेष का वैसा ही विद्वान् हो, अपितु उसे दूसरों के संसर्ग में रहकर भाषा का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। एक बालक अपनी मातृभाषा के समान कोई दूसरी भाषा भी सुगमता से सीख सकता है। बच्चे की मातृभाषा भी वही है जो उसकी माता बोलती है। यदि भारतीय माता-पिता के बच्चे को जन्म-काल से ही किसी विदेशी महिला को दे दिया जाये तो वह अपने मा-बाप की भाषा न सीखकर विदेशी भाषा सीख लेगा। इससे स्पष्ट है कि भाषा साहचर्य और प्रयत्न के द्वारा अर्जित की जाती है अतः यह अर्जित सम्पत्ति भी है।

ऊपर जैसा कह चुके हैं कि भाषा परम्परागत सम्पत्ति है किन्तु वह व्यक्तिगत नहीं समाजगत है। इसीलिए इस परम्परागत सम्पत्ति पर किसी भी व्यक्ति,

विशेष का अपना निजी अधिकार नहीं होता, सम्पूर्ण समाज की अपनी वस्तु है।

कोई भी परम्परागत जड़ संपत्ति बिना ही प्रयास के ज्यों की त्यों मिल जाया करती है किन्तु अन्य ज्ञानों के समान भाषा भी ऐसी ही विकासशील सम्पत्ति है जिसे अधिकृत करने के लिए प्रयास करना होता है । उसके लिए अनुकूल वातावरण और सहवास की आवश्यकता होती है । अनेक प्रयोगों द्वारा यह बात निर्विवाद सिद्ध हो चकी है। आरम्भ में बच्चा जैसे वातावरण और सहवास मे रहता है वह वैसी ही भाषा बोलता है । इसीलिए प्रत्येक स्थान के व्यक्तियों की भाषा अगल होती है। और इसीलिए निर्जन वन के वासी तथा सभ्य मनुष्यों की भाषा अलग अलग होती है। 'राबिसन क्रूसो' का 'फ्राइडे' तथा 'टेम्पेस्ट' का 'कैलीबन' प्रारंभ में जानवरों की भाँति केवल कुछ अबोध्य ध्वनियाँ ही निर्गत करते थे। मिश्र देश के राजा सैमेटि कुस ने दो बच्चों को ऐसे स्थान पर रखा जहाँ उन्हें किसी भी व्यक्ति की बोली सुनाई न दे। बहुत वर्षों पश्चात् उन्हें देखने पर पता चला कि वे कुछ भी न बोल सके । केलव 'बेकोस' शब्द ही उनके मुख से निकला जिसका अर्थ रोटी होती है । यह शब्द भी किसी रोटी देने वाले के मुख से अचानक निकल पड़ा होगा जिसका उन बच्चों ने अनुकरण कर लिया था । सर्विया के सम्राट फ्रेडरिक, स्काटलैंड के राजा जेम्स चतुर्थ तथा भारत के मुगल समाट अकबर ने भी इसी प्रकार के प्रयोग किए। अभी लखनऊ के अस्पताल में १२ वर्ष का एक ऐसा बच्चा लाया गया था जो कुछ भी नहीं बोलता था। खोज करने पर पता चला कि उसे बहुत पहले एक भेड़िया उठा ले गया था और तब से वह उसी भेड़िया के साथ रहा था। उसकी आदतें भी भेड़ियों जैसी थीं।

वातावरण और सहवास के अतिरिक्त भाषा सीखने के लिये मनुष्य को सामर्थ्य की भी आवश्यकता होती है। जिसमें जितना धैर्य और सामर्थ्य होगी वह भाषा पर उतना ही अधिक अधिकार प्राप्त कर सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि भाषा पूर्ण रूप से परम्परागत सम्पत्ति भी नहीं होती। उसके अर्जन के लिए श्रम-साध्यता भी चाहिए। इसीलिए प्रत्येक का भाषा पर अलग-अलग अधिकार होता है।

भाषा में परिवर्तन होता अवश्य है किन्तु वह ऐसा होता है जो सामान्यतः एकदम लक्षित नहीं हो पाता। वह धीरे-धीरे अदृश्य रूप से होता रहता है जो सदियों पश्चात् समझ में आता है। एक व्यक्ति भाषा को सीखने और सिखाने में प्रतिक्षण ध्यान रखता है कि उसमें नवीनता न आने पाए और इसीलिए वह सामाजिक संस्था होने के कारण एक स्थायी संस्था है किन्तु प्रत्येक व्यक्ति उसे दूसरे से ठीक वैसा ही नहीं सीख पाता। ध्वनि यंत्र के अनुसार उच्चारण में परिवर्तन होना स्वाभाविक है इसलिए भाषा का व्यक्तिगत रूप भी है। बात भी ठीक है। यदि भाषा में प्रत्येक के प्रयत्नानुसार नित्यप्रति नवीनता बढ़ती जाय तो विचार-विनिमय में बड़ी कठिनाई पड़े। अतः यह स्पष्ट है कि भाषा परम्परागत सम्पत्ति होते हुए भी अर्जित सम्पत्ति है; किन्तु उसमें उत्पादनत्व का अभाव है। उसे प्रत्येक व्यक्ति एक समान न सीखने पर भी उसमे अपनी इच्छानुसार परिवर्तन नहीं कर सकता है। इसीलिए वह व्यक्तिगत न होकर सामाजिक और स्थायी संस्था है। किन्तु फिर भी उसका कोई अंतिम रूप नहीं है।

प्रश्न ९—भाषा की उत्पत्ति के विभिन्न मतों का उल्लेख करते हुए बताइये कि उनमें कौन सा मत समीचीन है।

अथवा

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में समन्वित विकास का सिद्धान्त मान्य हुआ है अन्य मतों की समीक्षा करते हुए इसे स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—भाषा के साथ मानव का अति परिचय होने के कारण यह प्रश्न स्वयमेव उठता है कि सृष्टि के आदिकाल में मनुष्य ने पहले-पहल पृथ्वी पर बोलना किस रूप में; किस प्रकार आरम्भ किया और भाषा की उत्पत्ति किस प्रकार हुई ? यह भाषा-विज्ञान के सबसे विवादास्पद और विचारणीय प्रश्नों में से एक है। इस सम्बन्ध में अनेक भाषा-वैज्ञानिकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

(१) **दिव्य उत्पत्ति**—सबसे प्राचीन मत तो यह है कि भाषा ईश्वर द्वारा प्रदत्त वस्तु है। उसी ने भाषा का सृजन किया और उसे मनुष्यों को सिखाया। मनुष्य की सृष्टि के साथ ही साथ एकाएक दैवी शक्ति द्वारा इस विचित्र प्रकार

से पूर्ण रूप से निष्पन्न भाषा की सृष्टि संसार में हुई। इस मत के अनुसार जिस प्रकार अपनी इच्छा और शक्ति की बाधा के बिना ही मनुष्य सृष्टि के आरम्भ से ही स्वभाववश श्वास-प्रश्वास लेने लगे, उसी प्रकार अपनी इच्छा और विचार-शक्ति के प्रयोग के बिना ही दैवी शक्ति की प्रेरणा से वे स्वभाव से ही बोलने लगे। उनका कहना है कि यदि ईश्वर ने मानव सृष्टि को उत्पन्न किया तो यह भी मानवीय है कि उसी समय शब्दों और धातुओं आदि के द्वारा उसकी भाषा का भी निर्माण किया। इसी कारण संसार के विभिन्न धर्मावलम्बी अपने-अपने धर्म ग्रन्थों की भाषा को आदि-भाषा मानते हैं। उनके मतानुसार संसार की अन्य भाषाएँ उसी एक भाषा से बिगड़कर बनी हैं और उसी की शाखाएँ-प्रशाखाएँ हैं! उदाहरणार्थ—भारतवर्ष में वेदों को अपौरुषेय मानते हैं। उनका विश्वास है कि संस्कृत वेदों की भाषा है, वेद अनादि हैं, सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ने मानव-समाज के हित के लिए वेदों का प्रादुर्भाव किया। अतएव संस्कृत वेदभाषा है और पृथ्वी की अन्यान्य भाषाओं की जननी है। इसी प्रकार बौद्ध लोग पाली को ही ईश्वर की वाणी मानते हैं। उनका विश्वास है कि यदि माँ-बाप अपने बच्चों को भाषा न सिखलावें तो स्वभावतः वे पाली बोलने लगेंगे। ईसाई और विशेषकर कैथोलिक-मतानुयायी कहते हैं कि हिब्रू भाषा जिसमें कि उनका "प्राचीन विधान" (Old Testament) नाम की धर्म-पुस्तक है, भू-मण्डल की सर्व-प्राचीन भाषा है और सारी भाषाओं का उद्गम है, क्योंकि आदम (Adam) और हव्वा (Eve) अदन के बाग में इसी भाषा में विचार-विनिमय करते थे। मुसलमान लोग 'कुरान' को खुदा का कलाम मान अरबी-भाषा को ही आदि-भाषा मानते हैं।

आलोचना—परन्तु आज विज्ञान के युग में इस मत का निराकरण कर दिया गया है। इस मत का परीक्षण करने के हेतु कि मनुष्य परमेश्वर के यहाँ से ही भाषा सीख कर आता है, मिस्र के राजा सेमेटिक्स ने दो तत्काल पैदा हुए बच्चों को एक बाग में अन्य मनुष्यों से दूर रखा। उन्होंने जब बोलना आरम्भ किया तो उनके मुख से 'बेकोस' शब्द निकला, जो फ्रिजियन है और जिसका अर्थ है 'रोटी'। 'बेकोस' शब्द जो उनके मुख से निकला वह भी रोटी लाने वाले प्रहरी की जबान से अनजान में कभी निकल गया था। इसी प्रकार

का एक प्रयोग अकबर बादशाह ने भी किया था। वे बच्चे भी गूँगे निकले। इससे स्पष्ट है कि मानव का कोई भी बच्चा अपने साथ भाषा लेकर नहीं आता।

दूसरी ओर यदि मानव सृष्टि के साथ ही साथ किसी दैवी-शक्ति के बल पर ही भाषा का सृजन हो गया होता तो निश्चित रूप में धातु, क्रियादि का निर्माण होता। भाषा सीमा में बँधी हुई किसी निश्चित संख्या को लिये हुए होती, परन्तु ऐसा दिखाई नहीं देता। यदि भाषा किसी दैवी-शक्ति द्वारा निर्मित होती तो आरम्भ से ही उन्नत, विशिष्ट और परिमार्जित होती। परन्तु भाषा धीरे-धीरे विकास की ओर बढ़ती है और नित्य परिवर्तित होती रहती है। इसी कारण भाषा को श्वास-प्रश्वास की भाँति उत्पन्न हुआ नहीं मान सकते। मनुष्य-सृष्टि के होते ही दैवी-शक्ति के द्वारा भाषा को उत्पन्न हुआ मानना ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि लेखन-कला को भी किसी दैवी-शक्ति ने सृष्टि के आरम्भ में ही सिखला दिया था। इस प्रकार भाषा का ईश्वर-प्रदत्त होना युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता। हाँ, इस अर्थ में यह मत सार्थक माना जा सकता है कि भाषा मनुष्य की सार्वभौम और विशेष सम्पत्ति है, जो अन्य प्राणियों को अप्राप्य है।

(२) **सांकेतिक उत्पत्ति**—भाषा की उत्पत्ति के विषय में दूसरा मत है कि भाषा मनुष्य की सांकेतिक संस्था है। यद्यपि भाषा को ईश्वर ने मनुष्य-सृष्टि के साथ नहीं रचा तो भी भाषा को सृष्टि के आदिकालीन मनुष्य-समाज ने स्वयं विचारपूर्वक संयत होकर बना लिया। सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य ने जब यह देखा कि केवल हस्तादि के संकेत द्वारा वे अपने विचारों को उचित प्रकार से प्रकट नहीं कर सकते, तब उन्होंने एकत्र होकर अपनी अवस्था पर विचार करके, भिन्न-भिन्न विचारों के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों का व्यवहारार्थ निर्माण किया। वे ही ध्वनि-संकेत विकसित होते-होते आज इस रूप में दिखाई देते हैं।

आलोचना—परन्तु इस मत पर यह आपत्ति उठती है कि यदि मनुष्य के पास संकेतों के अतिरिक्त भाषा थी ही नहीं तो उसने एक-दूसरे से विचार-विनिमय किस प्रकार किया होगा। यह कल्पना कि मनुष्यों ने बिना भाषा-ज्ञान के ही इकट्ठे होकर अपनी अवस्था पर विचार किया और संकेत निश्चित

किए, सर्वथा हास्यास्पद प्रतीत होता है। यदि परस्पर विचार-विनिमय बिना भाषा के ही हो सकता था, तो भाषा के उत्पादन की क्या आवश्यकता थी?

(३) **धातु सिद्धान्त अथवा डिगडैंगवाद**—जर्मनी के विद्वान् प्रो० हेसे (Heyse) के मत के आधार पर मैक्समूलर ने भाषा की उत्पत्ति के विषय में एक विचित्र सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इनके अनुसार मनुष्य के विचार और भाषा का नित्य तथा अटूट संबन्ध होने से मनुष्य-सृष्टि के आरम्भ में ही मनुष्यों के विचार स्वभाव से ही भाषा के मूल-तत्त्व-स्वरूप कुछ धातुओं द्वारा प्रकट हो गये। फिर धीरे-धीरे उन धातुओं के आधार पर भाषा का विकास हुआ। सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य में एक ऐसी 'विभाविका' शक्ति थी जिसके कारण मनुष्य जब किसी वस्तु को देखता-सुनता था, तब उसके मुख से स्वयमेव कोई ध्वनि उसी प्रकार व्यक्त हो जाती थी जिस प्रकार किसी घण्टे पर चोट करने से एक प्रकार की झङ्कार निकलती है। जब मनुष्य की भाषा विकसित हो गई तब उसकी यह शक्ति नष्ट हो गई और धातुओं पर ही भाषा-भवन खड़ा हुआ। इस मत का सबसे बड़ा आधार इस विचार पर अवलम्बित है कि मनुष्य में ही बोलने और सोचने की शक्ति पायी जाती है एवं भाषा और विचार का परस्पर नित्य सम्बन्ध है। विचार के बिना वर्णात्मक शब्द की और वर्णात्मक शब्द के बिना विचार की स्थिति ही नहीं। जब कोई मनुष्य सोचता है तब यह समझना चाहिए कि धीरे-धीरे बोल रहा है, और जब बोलता है तब समझना चाहिये कि वह ऊँचे स्वर में बोल रहा है। वस्तुतः शब्द विचार का अनिवार्य शरीर है। एक प्रकार की स्वाभाविक आन्तरिक प्रेरणा जिसका वेग रोकना असम्भव है, विचार के रूप में भाषा में प्रकट हुए बिना रह ही नहीं सकती।

आलोचना—परन्तु मैक्समूलर के इस सिद्धांत का भी खण्डन किया गया है। आदिम मनुष्यों में विचारों को स्वभावतः वर्णात्मक स्वरूप देने वाली शक्ति की बिना किसी प्रमाण के कल्पना करना, ऐसा ही है जैसा कि भाषा की उत्पत्ति किसी दैवी-शक्ति द्वारा मानना।

यह भी विचारणीय है कि विचार का, जो एक मानसिक वस्तु है, भाषा जैसी भौतिक वस्तु के साथ न स्वाभाविक और नित्य सम्बन्ध हो सकता है

का र न उसका होना सम्भव ही है। भाषा और विचार एक साथ ही हमारे इसमे: में नहीं आते। उनमें क्षण-मात्र का अन्तर अवश्य रहता है। विचार ..क होने से उसमें भाषा द्वारा कुछ स्थिरता अवश्य आ जाती है। परन्तु पर ' कोई विचार तब तक हमारे मन में आता ही नहीं जब तक कि उसको नि..करने के लिये कोई शब्द हम न जानते हों। इस प्रकार तीसरा मत भी निराधार सिद्ध होता है।

(४) **अनुकरण-मूलकतावाद**—कुछ विद्वानों का कथन है कि मनुष्य के प्रारम्भिक शब्द अनुकरणात्मक थे। मनुष्य पशु-पक्षियों की अव्यक्त ध्वनि सुनकर उसी के अनुकरण पर एक नया शब्द बना लेता था। जैसे एक पक्षी 'का'-'का' रटता था तो उसी का अनुकरण कर 'काक' शब्द की रचना हो गयी। म्याऊँ, कोकिल, कुक्कू (Cuckoo) आदि शब्दों की भी इसी प्रकार उत्पत्ति हुई। 'हिन-हिनाना', 'भों-भों करना' आदि क्रिया-रूपों की भी इसी प्रकार उत्पत्ति हुई। धीरे-धीरे अनुकरण के आधार पर मूल शब्दों का पर्याप्त कोष बन गया और इन्हीं बीज रूप मूल शब्दों से धीरे-धीरे भाषा का विकास हुआ। पत्ता गिरने की ध्वनि को सुनकर 'पत्' धातु और पानी की तेज धारा को बहते हुए सुनकर 'नद्' धातु का उद्भव हुआ और इस प्रकार 'पत्र' या 'पत्ता' और 'नदी' शब्द बन गये।

आलोचना—किन्तु फिर भी यह प्रश्न उठता है कि जिस मानव ने पशु-पक्षियों की ध्वनि का अनुकरण किया था उसने स्वयं मनुष्यों की ध्वनियों का भी अनुकरण किया होगा। आधुनिक विद्वान् इस मत को सर्वथा त्याज्य नहीं समझते क्योंकि भाषा में अनेक शब्द इसी अनुकरण द्वारा उत्पन्न हुए हैं।

(५) **मनोभावाभिव्यंजकतावाद**—इस सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न अवसरों पर मनुष्यों में घृणा, क्रोध, शोक, प्रसन्नतादि को व्यक्त करती हुई उत्तेजनाएँ उठी होंगी और स्वयमेव मुँह से शब्द निःसृत हुए होंगे। वे ही भाषा के आदि रूप थे। विभिन्न देशों में दुख या सुख सम्बन्धी भावों को प्रकट करने के लिए प्रायः एक ही से शब्दों का प्रयोग करना इस बात का द्योतक है। जैसे ओह! (Oh!) का प्रयोग हिन्दी और अँग्रेजी दोनों में समान रूप से होता है।

आलोचना— परन्तु कठिनाई यह है कि ये विस्मयादिबोधक शब्द भाषा के अन्तर्गत नहीं आते, क्योंकि इनका व्यवहार तभी होता है जब मनुष्य के मनोभाव उसकी इन्द्रियों को इतना अभिभूत कर लेते हैं कि वह निर्वाक् हो जाता है। भाषा में ऐसे शब्दों की संख्या अत्यल्प है। दूसरी कठिनाई यह है कि ये विस्मयादिबोधक शब्द भी प्रायः सांकेतिक और परम्परा प्राप्त होते हैं। आज जो विस्मयादिबोधक शब्द उपलब्ध हैं वे स्वाभाविक न होकर सांकेतिक हैं।

(६) **यो-हे-हो-वाद अथवा श्रम-परिहरण-मूलकतावाद**—इस सिद्धान्त के अनुसार जब मनुष्य शारीरिक श्रम करता है तो उसके श्वास-प्रश्वास का वेग बढ़ जाता है जो स्वाभाविक और विश्राम देने वाला होता है। इसी कारण स्वर-तन्त्रियों में भी कम्पन होने लगता है। आदि-काल में श्रमिक श्रम करते समय कुछ कह कर श्रम-परिहार किया करते थे। आज भी प्रायः देखा जाता है कि धोबी 'ह्रियो' या 'छियो' कहते हैं। इस प्रकार व्यक्त ध्वनियाँ ही भाषा का आदि रूप बन गयीं।

आलोचना—परन्तु इन शब्दों का भी भाषा में कोई विशिष्ट या महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। इनकी भी संख्या अत्यल्प है।

(७) **विकासवाद का समन्वित रूप**— मानव-सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य के आदिम शब्द अव्यक्तानुकरण-मूलक भी थे और मनोभावाभिव्यंजक भी। इनके साथ कुछ ऐसे शब्द भी थे जो किसी क्रिया अथवा घटना के प्रतीक थे। ये लोग संकेत बनाते नहीं थे, पर वे कई कारणों से निर्मित हो ही जाते थे। इसी कारण स्वीट ने आदिम भाषा के शब्दों के तीन भेद किये हैं—(i) **अनुकरणात्मक**, (ii) **मनोभावाभिव्यंजक और** (iii) **प्रतीकात्मक**।

(१) मनुष्य आरम्भ से ही अनुकरण-प्रिय प्राणी रहा है। उसने अवश्य ही प्रकृति के आधार पर कुछ शब्दों का निर्माण किया होगा। बिल्ली के बोलने के लिए चीन, मिस्र और भारत—तीन विभिन्न देशों की भाषाओं में एक ही शब्द 'म्याऊँ' इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है। पशु-पक्षियों के नाम प्रायः अव्यक्तानुकरण के आधार पर बने थे और आज भी बनते हैं। कोकिल, कुक्कुट (Cuckoo, Buzz) या गड़बड़, भड़भड़ शब्द ऐसे ही जीवों या निर्जीव पदार्थों के आधार पर बने होंगे। शब्दानुकरण से यह तात्पर्य नहीं कि ठीक-

का अनुकरण पर ही इन शब्दों का आविर्भाव हुआ होगा, वरन् शब्द ध्वनि इस मलता जुलता रहता है और कभी-कभी तो केवल उसकी छाया या प्रति-ध्वा मात्र ही होता है। पत्ता गिरने में 'पत्' की ध्वनि होने से 'पत्ता' शब्द का निर्माण हुआ। यहाँ अनुकरण तो अपूर्ण अवश्य है; परन्तु यह शब्द है अनुकरणमूलक ही। अतएव सृष्टि के आदिम शब्द अनुकरणमूलक अवश्य रहे हैं।

(२) दूसरे प्रकार के शब्द मनोभावों की अभिव्यक्ति के लिए स्वभावत: नि:सृत शब्द रहे होंगे। भावना की उत्तेजना के साथ श्वास कुछ विशिष्ट प्रकार से निकलता है और इस विशिष्ट श्वास से विशिष्ट प्रकार की ध्वनि नि:सृत होती है। असह्य वेदना में 'सी', घृणा में 'छि:' आदि शब्द इस सिद्धान्त के द्योतक हैं। आदिम मनुष्य यदि पशु-पक्षियों की ध्वनि का अनुकरण करता था तो वह अवश्य अपने सह-धर्मियों और साथियों के 'आह,' 'वाह' विस्मयादि बोधकों का अनुकरण और उचित प्रयोग करता होगा। इसी से धिक्कारना, दुत्कारना, हाय-हाय आदि के समान शब्दों का नव-निर्माण हुआ होगा। अरबी में 'वेल' (Wail) आपत्ति के अर्थ में आता है और उसी से मिलता शब्द 'वो' विस्मयादि-बोधक माना जाता है। इसी प्रकार अँग्रेजी में 'Woe' शब्द विस्मयादि-बोधक होने के अतिरिक्त संज्ञावाचक भी है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि सभी भाषाओं में ऐसे शब्द समान रूप से नहीं हैं परन्तु यह अन्तर तो जलवायु आदि के कारण भी हो सकता है, अथवा भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भाषा-विकास के कारण भी सम्भव है। हिन्दी भाषा-भाषी भी एक भाव आने पर एक ही शब्द द्वारा भावाभिव्यक्त नहीं करते। कोई दु:ख और विषाद में 'सी' करता है, कोई 'हाय', तो कोई 'उँह' करता है। अत: भाषा में शब्दों की भिन्नता इस सिद्धान्त को अप्रामाणिक सिद्ध नहीं कर सकती, वरन् भाषा में उसका अस्तित्त्व महत्वपूर्ण है।

(३) तीसरे प्रकार के शब्द प्रतीकात्मक होते हैं। स्वीट ने इस भेद को अधिक व्यापकता प्रदान की है। उन दो भेदों में से जो शब्द अवशिष्ट रह जाते हैं वे प्राय: सभी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। प्रत्येक भाषा में कुछ शब्द ऐसे आ जाते हैं जो किसी क्रिया अथवा घटना के प्रतीक रूप होते हैं। आदिकाल

में जब भाषा का अभाव था और मानव संकेतों द्वारा विचार-विनिमय करता था तो वह किसी प्रकार की ध्वनि का उपयोग करता रहा होगा। बाद में यह ध्वनियाँ ही उनकी प्रतीक रूप बन गयीं। उदाहरणार्थ—धीरे-धीरे, थोड़ा-थोड़ा, कुछ पीने में 'सिप' या 'सप' की ध्वनि होती है। अँग्रेजी का Sip वा Sup शब्द उस क्रिया का प्रतीक रूप बन गया। लैटिन की 'बिवेर', संस्कृत की 'पिबति' और हिन्दी की 'पीना' जैसी क्रियायें यह स्पष्ट करती हैं कि आदिम मनुष्य 'पीने' में किस प्रकार भीतर को साँस खींचता था। अरबी भाषा की 'शरब' धातु में भी प्रतीकात्मकता है। उसी से हिन्दी का 'शरबत' या अँग्रेजी 'Sherbet' निकला है।

अनेक सर्वनामों का भी इसी प्रकार निर्माण हुआ होगा। अँग्रेजी के 'दी' (the), 'दैट' (that), ग्रीक के 'टो' (to) अँग्रेजी के 'दाउ' (thou), लैटिन के 'तू' और हिन्दी के 'तू' आदि निर्देशवाचक सर्वनामों में ऐसा जान पड़ता है कि अँगुली से मध्यम पुरुष की ओर संकेत करते हुए ऐसी संवेदनात्मक ध्वनि निकल पड़ी होगी।

जैस्पर्सन ने बाल-सुलभ व्यक्त ध्वनियों का बड़ा ही मनोरम वर्णन किया है, कि किस प्रकार बच्चे मामा, पापा आदि शब्द अकारण ही बोला करते हैं। वे इनका व्यवहार चेतनावस्था में नहीं करते, परन्तु माँ-बाप बच्चे के मुख से निःसृत उस शब्द-शृङ्खला को अपने लिए प्रयुक्त समझ लेते हैं। इस प्रकार यही ध्वनियाँ माँ-बाप का प्रतीक बन जाती है। इसी कारण ये शब्द समग्र संसार की भाषाओं में किसी न किसी रूप में पाये जाते हैं। वही 'मामा' शब्द किसी भाषा में 'मा' के लिये और किसी अन्य भाषा में 'बाप' अथवा मा के भ्राता के लिए प्रयुक्त होता है। इस शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के मूल में प्रतीक की भावना अवश्य रहती है। इस प्रकार इस त्रिविध रूप में प्रारम्भिक शब्द-कोष की प्रामाणिकता स्पष्ट हो जाती है। परन्तु इस प्रकार उत्पन्न शब्द भी कभी-कभी जीवनदान न पाकर लुप्त हो जाते हैं, क्योंकि समाज उन्हीं शब्दों का स्वागत करता है, जो मुख-सुख अथवा श्रवण-माधुर्य की लोलुपता को तृप्त करते हैं। इसी कारण कुछ नवजात शब्द-शिशुओं का बहिष्कार

अथवा वध हो जाता है और कुछ जीवनरस प्राप्त कर उन्नत होकर समाज में प्रतिष्ठित होते हैं।

यदि प्राचीनतम उपलब्ध शब्द-कोष को देखा जाय तो उसका कुछ भाग ऐसा है जिसका समाधान उपर्युक्त त्रिविध सिद्धान्त से भी नहीं होता है। अतएव कुछ विद्वानों ने शब्दों का समाधान उपचार द्वारा किया है, जिसका मुख्यार्थ है ज्ञात द्वारा अज्ञात की व्याख्या करना—किसी ध्वनि के मुख्यार्थ के अतिरिक्त उसी ध्वनि के संकेत से एक अन्य सदृश्य या सम्बद्ध अर्थ का बोध करना। उदाहरणार्थ—अंग्रेजी का 'Pipe' शब्द आज नल के अर्थ में प्रयुक्त होता है, पहले 'Pipe' गड़रिये के बाजे के लिए था। बाइबिल के अनुवाद तक मे 'Pipe' वाद्य के अर्थ में आया है। इसी प्रकार 'रम' धातु का ऋग्वेद में 'ठिकाने आना' अथवा 'स्थिर कर देना' अर्थ था, पर धीरे-धीरे इसका औपचारिक अर्थ 'आनन्द देना' होने लगा। आज 'रमण', 'मनोरम' आदि शब्दों में 'रम' का वह पुराना 'स्थिर होने' वाला अर्थ नहीं है। स्थिर होने से विश्राम का सुख मिलता है। धीरे-धीरे उसी शब्द में अन्य प्रकार के सुखों का भी भाव अन्तर्हित हो गया है।

प्रश्न १०—भाषाओं का आकृतिमूलक (रूपात्मक) वर्गीकरण कीजिए।

उत्तर—भाषाओं का वर्गीकरण आकृतिमूलक और परिवार-मूलक इन दो सिद्धान्तों के आधार पर किया जाता है। आकृतिमूलक को रूपात्मक या वाक्य मूलक और परिवार-मूलक को ऐतिहासिक या वंशानुक्रम भी कहते हैं। आकृतिमूलक वर्गीकरण में भाषाओं के आकार-प्रकार, गठन और स्वभाव का ध्यान रक्खा जाता है और परिवार-मूलक वर्गीकरण में भाषाओं के इतिहास और उत्पत्ति को प्रधानता दी जाती है। आकृतिमूलक वर्गीकरण में वाक्य-रचना और पद-रचना की समान्ता पर बल दिया जाता है। परिवार-मूलक वर्गीकरण में शब्द भण्डार, वाक्यान्वय और प्रकृति प्रत्यय रचना की समान्ता के आधार पर उनकी एक ही मूल भाषा से उत्पत्ति का समर्थन किया जाता है।

आकृतिमूलक वर्गीकरण

आकृतिमूलक वर्गीकरण के हिसाब से भाषायें पहले दो भागों में बाँटी जाती हैं—**निरवयव या अयोगात्मक** और **सावयव या योगात्मक**। **निरवयव या अयोगात्मक भाषा** उसे कहते हैं, जिसमें हर शब्द अलग-अलग सत्ता रखता है और जिसमें दूसरे शब्द के कारण कोई विकार या परिवर्तन नहीं होता। उन शब्दों का परस्पर सम्बन्ध केवल वाक्य में उनके स्थान से मालूम होता है। वाक्य में उद्देश्य विधेय आदि का सम्बन्ध **स्थान, निपात,** अथवा स्वर के द्वारा प्रकट किया जाता है। ऐसी वाक्य रचना में प्रकृति और प्रत्यय का भेद नहीं रहता। परिणाम यह होता है कि काल रचना और कारक रचना का वहाँ सर्वथा अभाव रहता है। उदाहरण के लिए चीनी भाषा के **'ङो ता नी'** का अर्थ है—मैं तुम्हें मारता हूँ। **'ङो, ता और नी'** का अर्थ क्रमशः 'मैं', 'मारना' और 'तुम्हें' होता है। इन्हें ही बदल कर **नी ता ङो** लिख दें तो वाक्य का अर्थ होगा—तुम मुझे मारते हो। यहाँ शब्दों के रूपों के परिवर्तन से नहीं स्थान-भेद से अर्थ बदला है। कभी-कभी शब्दों के अर्थ में निपात भी भेद उत्पन्न करता है। जैसे चीनी में 'वांग पाओ मिन' का अर्थ होता है—'राजा लोगों की रक्षा करता है' परन्तु **'वांग पाओ ची मिन'** का अर्थ होता है—'राजा द्वारा रक्षित लोग'। **'ची'** सम्बन्ध वाचक निपात है, **'वाँग पाओ'** का अर्थ होता है 'राजा की रक्षा'। इस प्रकार पूरे वाक्य का अर्थ होता है—'राजा की रक्षा के लोग' अर्थात् 'राजा द्वारा रक्षित लोग'। यहाँ **'पाओ'** स्थान और प्रसंग के अनुसार क्रिया और संज्ञा दोनों हो जाता है। रूप में कोई विकार नहीं होता। **'वाँग'** भी कर्ता सम्बन्ध आदि सभी अर्थों में आ सकता है। एक ही अक्षर **'ब'** का अर्थ स्वर की विभिन्नता से कई प्रकार का हो सकता है। **ब ब ब ब** में प्रत्येक अक्षर में थोड़ा-थोड़ा स्वर-भेद होने से इसका तात्पर्य होता है—तीन-महिलाओं ने राजा के कृपापात्र के के कान उमेठे।'

इस वर्ग में चीनी के अतिरिक्त पूर्व एशिया की तिब्बती, बर्मी, अनामी, स्यामी, मलय और अफ्रीका की सूडानी भाषाएँ आती हैं। इन भाषाओं में

केवल वाक्य विचार होता है, शब्द विचार या प्रकृति-प्रत्यय विचार नहीं क्योंकि सभी शब्द स्वतन्त्र होते हैं। इन भाषाओं में स्वतन्त्र और शुद्ध प्रकृति का ही विचार होता है जैसे हिन्दी के 'मैं आम खाता हूँ' के लिए चीनी में 'खाना' और 'आम' तीन निर्योग और निर्विकार शब्द अर्थात् प्रकृति रख कर काम चलाते हैं। इन भाषाओं की प्रवृति एकाक्षर की होती है। इन भाषाओं को व्यास प्रधान भाषा कहते हैं।

सावयव या **योगात्मक भाषाओं** के तीन भेद हैं—**समास प्रधान या प्रश्लिष्ट, प्रत्यय प्रधान या अश्लिष्ट** और **विभक्ति प्रधान या** श्लिष्ट। समास प्रधान या प्रश्लिष्ट भाषाओं में उद्देश्य विधेय आदि के वाचक शब्द एक होकर समास का रूप धारण कर लेते हैं। वाक्य में शब्द एक दूसरे से इतने श्लिष्ट हो जाते हैं कि वाक्य और शब्द में भेद करना कठिन हो जाता है। इनके भी पूर्णतः समास प्रधान और अंशतः समास प्रधान दो भेद होते हैं।

पूर्णतः समास प्रधान भाषा में तो वाक्य एक शब्द के समान प्रयुक्त होता है। जैसे :—उत्तरी अमेरिका की चेरो की **भाषा** में 'नाधोलिनिन' का अर्थ है—हमारे लिये एक नाव लाओ। इसमें 'नातन' (=लाना), अमोखल (=नाव) और निन (=हम) तीन शब्द हैं, जो मिलकर एक वाक्य शब्द बनाते हैं। इसी प्रकार मेक्सिको की भाषा में नेबत्ल, 'नकत्ल', और 'क' का क्रमशः 'मैं' माँस, और 'खाना' अर्थ होता है। यदि इन तीनों को मिला दें तो 'नी-नक-क' एक वाक्य बन जाता है, जिसका अर्थ होता है—"मैं माँस खाता हूँ"। दोनों अमेरिकाओं की भाषाएँ ऐसी ही पूर्णतः समास प्रधान हैं।

अंशतः समास प्रधान भाषा में स्वतन्त्र शब्द भी रहते हैं और वे पृथक व्यवहृत भी होते हैं तब भी उसको समास प्रधान मानते हैं क्योंकि उनकी क्रिया अपने में कर्ता और कर्म के वाचक सर्वनामों का और कभी कभी अन्य शब्दों का भी समाहार कर लेती है। यूरोप की वास्क भाषा इसका सुन्दर उदाहरण है। उसकी एक क्रिया 'दर्कांकिआत', का अर्थ होता है, मैं उसे उसके पास ले जाता हूँ'। इसी प्रकार 'नर्कसु' का अर्थ होता है 'तू मुझे ले जाता है'। यह आँशिक समास कभी कभी प्रत्यय प्रधान और विभक्ति प्रधान भाषाओं में भी काम में आता है।

प्रत्यय प्रधान या अश्लिष्ट भाषाओं में व्याकरणिक संबंध पुरः प्रत्यय, अन्त: प्रत्यय अथवा पर प्रत्यय के संयोग में सूचित होता है। इनमें विभक्ति प्रधान भाषाओं के प्रत्यय प्रकृति में लीन नहीं होते, उनका स्वतन्त्र अस्तित्व सदा बना रहता है। प्रत्ययों में कोई विकार नहीं होता। इसमें प्रत्यय का व्यवहार इतना नियमित होता है कि व्याकरण अत्यन्त सरल और सीधी हो जाती है। इनमें एक शब्द में अनेक प्रत्यय लगाकर भिन्न-भिन्न अर्थ निकाले जाते हैं। ये चार प्रकार की होती हैं—**पुरः प्रत्यय संयोगी, पर प्रत्यय संयोगी, सर्व प्रत्यय संयोगी और ईषत् प्रत्यय संयोगी।**

अफ्रीका की बाँतू परिवार की परिभाषायें **पुरः प्रत्यय संयोगी** हैं। इनमें प्रत्यय प्रकृति के पूर्व लगता है जैसे—न्तु (आदमी), तु (हमारा), चिल (सुन्दर, भला) और यवोनकल (मालूम होना)—इन चार शब्दों में पुर प्रत्यय का योग कर देने से एक वाक्य बनता है, 'उमन्त, वेन्तु ओमुचिल उयबो-नकल' अर्थात् हमारा आदमी भला लगता है। उन्हीं पुरः प्रत्ययों में परिवर्तन करने से वाक्य बहुवचन में बदल जाता है। जैसे, 'अबन्तु बेतु अबचिल बयबो-नकल'। यहाँ शब्दों की प्रकृतियों को बिना तनिक भी विकृत किये प्रत्यय अपना कारक और वचन का भेद स्पष्ट कर रहे हैं। यूराल अल्टाई और द्रविड़ परिवार की भाषाएँ **पर प्रत्यय संयोगी** होती हैं। यूराल अल्टाई परिवार की तुर्की भाषा में प्रत्येक व्याकरणिक कार्य के लिये पृथक-पृथक प्रत्यय लगते हैं। जैसे 'एवं' का अर्थ घर होता है। इसमें बहुबचन का प्रत्यय जोड़ देने से 'एव-लेर' (अनेक घर) बन जाते हैं। उसी में मेरा का वाचक प्रत्यय जोड़ देने से 'एवलेरिम्' (मेरे घर) बन जाता है। द्रविड़ परिवार की कन्नड़ीं भाषा की रचना भी ऐसी ही है। मलयन और मलनेशिया परिवार की भाषायें **सर्व** प्रत्यय **संयोगी** होती हैं। उनकी रचना में पूर्व प्रत्यय और अन्त प्रत्यय सभी का संयोग दिखाई देता है। जिन भाषाओं में प्रत्यय संयोग के साथ व्यास समास और विभक्ति का भी पुट रहता है वे ईषत् प्रत्यय संयोगी भाषाएँ होती हैं। जापानी और काकेशी विभक्ति की ओर, हाउसा व्यास की ओर और बास्क परिवार की भाषाएँ समास की ओर झुकने से ईषत् प्रत्यय संयोगी कहलाती हैं।

विभक्ति प्रधान भाषाओं में प्रकृति और प्रत्यय एक दूसरे से इतने अधिक

मिले रहते हैं कि कभी कभी प्रत्यय का प्रत्यक्ष अस्तित्व ही नहीं प्रतीत होता। प्रत्यय प्रधान भाषा में प्रकृति से प्रत्यय का संयोग होता है पर विभक्ति प्रधान भाषा में प्रकृति प्रत्यय के संयोग की कल्पना मात्र होती है। प्रकृति प्रत्यय का **अभेद** ही इसका लक्षण होने से इसका व्याकरण बड़ा जटिल और विस्तृत होता है। इसके दो भेद हैं—**अन्तर्मुखी विभक्ति प्रधान और बहिर्मुखी विभक्ति प्रधान। अन्तर्मुखी विभक्ति प्रधान भाषाओं** में पूर्ण, अन्तः और पर विभक्तियाँ लगती तो हैं पर कारकादि व्याकरणिक सम्बन्ध शब्द के भीतर होने वाले स्वर परिवर्तन से ही सूचित होता है। सेमेटिक परिवार की अरबी भाषा में 'कत्ल' एक धातु है। उससे कतल (उसने मारा), कुतिल (वह मारा गया), यक्तुल (वह मारता है) कातिल (मारने वाला), किल्ल (शत्रु), कितल (प्रहार, चोट) आदि अनेक रूप केवल स्वरों में परिवर्तन करने से बन जाते हैं। व्यंजन वही रहते हैं। हेमेटिक परिवार में भी यही विशेषता है। ये भाषाएँ संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जाने वाली होती हैं। आधुनिक हिब्रू भाषा इसका उदाहरण है। **बहिर्मुखी विभक्ति प्रधान भाषाओं** में योरुपीय परिवार की भाषाएँ आती हैं। संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जाने की प्रगति इसकी भी होती है। विभक्तियाँ घिसते घिसते लुप्त हो जाती हैं और उनके स्थान पर परसर्गों का व्यवहार होने लगता है। इस परिवार की एक विशेषता अक्षराव स्थान है। संस्कृत, लैटिन, ग्रीक आदि ऐसी ही भाषा हैं।

सामने के चार्ट से अब तक का आकृतिमूलक भाषाओं का विवेचन स्पष्ट हो जाता है—

भाषा
निरवयव या अयोगात्मक
(स्थान, निपात या स्वर प्रधान)
सावयव या योगात्मक
विभक्ति प्रधान या श्लिष्ट
प्रत्यय प्रधान या अश्लिष्ट
समास प्रधान या प्रश्लिष्ट
पुर : प्रत्यय संयोगी
पर प्रत्यय संयोगी
सर्व प्रत्यय संयोगी
ईषत प्रत्यय संयोगी
अन्तर्मुखी विभक्ति प्रधान
बहिर्मुखी विभक्ति प्रधान
पूर्णतः समास प्रधान
अंशतः समास प्रधान
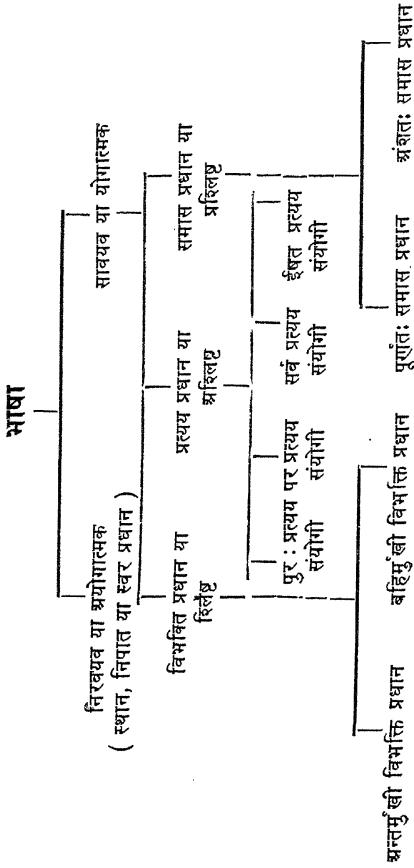
समीक्षा—इस वर्गीकरण में वाक्य रचना समझने के लिए शब्द भेद तथा उनके रूप जानना आवश्यक होता है अतः वाक्य रचना, वाक्यान्वय शब्द रचना तथा व्याकरणिक सम्बन्ध समझने में इससे बड़ी सहायता मिलती है। इस वर्गीकरण के अनुसार यह भी समझ में आता है, कि भाषाएँ संहित या संयोगात्मक से व्यवहृत वियोगात्मक होती रहती हैं और पूर्ण व्यवहृत या वियोगात्मक होने पर संहित या संयोगात्मक हो जाती हैं। इस प्रकार भाषा-चक्र चलता है। लेकिन इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें कितनी ही परस्पर असम्बद्ध भाषाओं को एक ही वर्ग में रख दिया है। जैसे व्यास प्रधान में चीनी और सूडानी। कहीं-कहीं एक ही वर्ग की भाषाओं में गड़ा अन्तर है जैसे अन्तर्मुखी विभक्ति प्रधान वर्गो की सेमेटिक तथा हेमेटिक भाषाओं में। दूसरे प्रत्यय प्रधान वर्ग में तो अनेक भाषाएँ हैं, पर व्यास, विभक्ति और समास प्रधान वर्गो में दो एक ही हैं। तीसरे प्रत्येक भाषा वर्ग की भाषाओं में अन्य भाषा वर्गों की रचना के लक्षण तथा उदाहरण पाये जाते हैं। जैसे प्रत्यय प्रधान भाषाओं की ईषत प्रत्पय संयोगी भाषाएँ। चौथे संसार की ऐसी भाषाओं का ध्यान नहीं रखा गया, जो किसी वर्ग में नहीं आतीं। जैसे अंडमन की भाषा। इसलिए यह वर्गीकरण व्यावहारिक दृष्टि से अधिक उपयोगी नहीं है। पारिवारिक दृष्टि से वर्गीकरण इसीलिए विशेष उपयोगी समझा जाता है।

प्रश्न ११—भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण कीजिये।

अथवा

भाषाओं का वंश-क्रम के अनुसार वर्गीकरण कीजिए।

उत्तर—संसार की भाषाओं का वर्गीकरण एक तो उनकी आकृति या रचना की समानरूपता की दृष्टि से किया जाता है और दूसरे उनकी उत्पत्ति या परिवार की एकता की दृष्टि से। पहले प्रकार के वर्गीकरण में इतिहास आदि की ओर ध्यान न देकर आकृति या सामान्य रचना की समानरूपता पर ही दृष्टि नहीं रहती, किन्तु इस ओर भी ध्यान दिया जाता है कि उन भाषाओं की उत्पत्ति या विकास कुछ समान मूल शब्दों से हुआ है। परन्तु पारिवारिक वर्गीकरण में शब्दों की समानता तथा भाषा की रचना की समा-

नता की ओर ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार तुलना और इतिहास के सहारे मूल और उत्पत्ति की खोज करके अनेक भाषाओं के परिवार की कल्पना की जाती है। पारिवारिक दृष्टि से भाषा वैज्ञानिकों ने भाषाओं को कुलों, उपकुलों, शाखाओं उपशाखाओं तथा समुदायों में विभक्त किया है। उनके अनुसार भिन्न-भिन्न परिवारों की भाषाएँ किसी एक मूल भाषा से उत्पन्न हुई हैं। अतः पारिवारिक वर्गीकरण करने के लिए सुविधा और सरलता की दृष्टि से भूगोल के आधार पर संसार को चार खण्डों में बिभक्त किया गया है। इन खण्डों में विभिन्न परिवार सम्मिलित हैं, परन्तु प्रत्येक खण्ड की भाषाएँ दूसरे खण्डों की भाषाओं से पूर्णतः प्रभावित हैं। अतः इस दृष्टिकोण से भाषा के चार खण्ड हैं—

(१) अफ्रीका खण्ड।
(२) अमेरिका खण्ड।
(३) प्रशान्त महासागर खण्ड और
(४) यूरेशिया खण्ड।

अफ्रीका खण्ड में मुख्यतः पाँच भाषा परिवार हैं—(क) बुशमैन, (ख) बान्तू, (ग) सूडान, (घ) सेमेटिक, (ङ) हेमेटिक। बुशमैन भाषाएँ सर्व प्राचीन और जंगली भाषाएँ हैं। उनकी प्रवृत्ति संयोग से व्यास-प्रधान हो रही है। इस परिवार की भाषाओं में एक विचित्र प्रकार की ध्वनियाँ पायी जाती हैं, जिन्हें स्फोटात्मक ध्वनियाँ कहा गया है। इन भाषाओं में लिंग पुरुषत्व और स्त्रीत्व पर आधारित न होकर जीव और निर्जीव पर आधारित है। बहुवचन बनाने के कोई विशेष नियम नहीं हैं। कभी-कभी जापानी आदि भाषाओं की भाँति संज्ञा (एक वचन) की पुनरुक्ति करके भी बहुवचन बना लिया जाता है। उदाहरणार्थ – यदि 'घोड़ा' का बहुवचन बनाना हो तो 'घोड़ा-घोड़ा' कर देते हैं।

भू-मध्यरेखा के दक्षिण में पूर्व से पश्चिम तक बान्तू परिवार की भाषाएँ पायी जाती हैं। ये भाषाएँ प्रायः पूर्व प्रत्यय-प्रधान होती हैं और उनमें व्याकरणिक लिंग-भेद का अभाव रहता है। विभक्तियों का अभाव-सा रहता है। पदों की रचना उपसर्ग जोड़ कर होती है। कभी-कभी अर्थ की विभिन्नता

स्वरों के ही अन्तर से हो जाती है। उदाहरणार्थ—'हो फिनेल्ला' का अर्थ—बाँधना होता है, पर 'हो फिनोल्ला' का अर्थ बिल्कुल विपरीत, अर्थात् खोलना हो जाता है। कोमलता, प्राँजलता और माधुर्य--इस वर्ग की प्रधान विशेषताएँ हैं। साधारण वाक्य-विन्यास में भी कविता की भाँति ध्वनि-सामंजस्य रहता है।

सूडान परिवार की भाषाएँ अफ्रीका में भू-मध्य रेखा के उत्तर में और हेमेटिक परिवार के दक्षिण में बोली जाती हैं। कुछ दृष्टियों से यह परिवार बान्तू से साम्य रखता है। चीनी भाषा की भाँति ये अयोगात्मक हैं। विभक्तियों का अभाव है और धातुएँ एकाध हैं। व्याकरणिक सम्बन्ध की ओर विशेष प्रवृत्ति दिखायी नहीं देती। इस परिवार की भाषाएँ ध्वन्यात्मक होती हैं। इन ध्वनियों से रूप, गति अथवा यहाँ तक कि रंग का चित्र स्पष्ट हो जाता है। चीनी भाषा की भाँति यहाँ सुर (Tone) के परिवर्तन के कारण अर्थ-परिवर्तन भी हो जाता है।

हेमेटिक परिवार अफ्रीका के सम्पूर्ण प्रदेश में व्याप्त है। इस परिवार की भाषाओं को बोलने वाली कुछ जातियाँ अफ्रीका के मध्य और दक्षिण में भी दूर तक पहुँच गयी हैं। हेमेटिक परिवार की कुछ भाषाओं में धार्मिक साहित्य तथा पुराने शिलालेख मिलते हैं। इस परिवार की भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक हैं। पद-रचना के लिए प्रत्यय और उपसर्ग, दोनों का प्रयोग किया जाता है—इन भाषाओं में भी स्वर-परिवर्तन-मात्र से अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणार्थ—'गल' का अर्थ है भीतर जाना परन्तु 'गेलि' का अर्थ होता है भीतर रखना। बल के लिए इसमें पुनरुक्ति का प्रयोग किया जाता है। 'लब' मोड़ने के अर्थ में आता है परन्तु 'लबलब' बार-बार मोड़ने का अर्थ भाषित करता है। व्याकरणिक सम्बन्ध कुछ अव्यवस्थित-सा है। सामान्यतः बड़ी और बली वस्तुएँ पुंल्लिग समझी जाती हैं और निर्बल वस्तुएँ स्त्रीलिंग के रूप में प्रयुक्त होती हैं।

सेमेटिक परिवार की भाषा मोरक्को से स्वेज नहर तक बोली जाती है। इसका प्रधान क्षेत्र एशिया है। इस परिवार का उद्‌भव और विकास यूरेशिया

खण्ड से ही हुआ है। सेमेटिक परिवार अनेक दृष्टियों से हेमेटिक से साम्य रखता है। इस परिवार में समास केवल व्यक्ति-वाचक संज्ञाओं में ही मिलता है। सेमेटिक परिवार की विभिन्न शाखाओं में आपस में बहुत कम अन्तर दिखायी देता है।

(२) **अमेरिका खण्ड** में उत्तरी और दक्षिणी दोनों भागों की भाषाएँ सम्मिलित हैं। इस खण्ड की भाषाओं का भी अभी तक सविस्तार विवेचन नहीं हुआ है। इस खंड में लगभग चार-सौ भाषाएँ हैं और वे ३० वर्गों में विभक्त की गयी हैं। ये सभी भाषाएँ प्रश्लिष्ट योगात्मक हैं। इनमें वाक्य-शब्दों की प्रधा- है। यह समास-प्रधान भाषा वर्ग है। 'नाधोलिनिन' शब्द भाषा की संयोगावस्था का ज्वलंत उदाहरण है। अध्ययन और सामग्री के अभाव के कारण इस भू-खंड की भाषाओं का वर्गीकरण व विभाजन सम्भव नहीं है।

(३) **प्रशान्त महासागर** वाले खण्ड में भी अनेक विभाषाएँ और बोलियाँ हैं। वे सभी प्रायः संयोग-प्रधान हैं। इस खण्ड का विस्तार हिन्द महासागर, प्रशान्त महासागर आदि में तथा उधर मैडागास्कर से लेकर चिली के पश्चिम में ईस्टर द्वीप तक है। इन सब में परस्पर पर्याप्त साम्य है। इन भाषाओं को पाँच परिवारों में विभक्त किया गया है—

प्रशान्त महासागर खण्ड
- १. मलयन-परिवार
- २. मलनेशिया-परिवार
- ३ पॉलीनेशिया-परिवार
- ४. पपुअन-परिवार
- ५. आस्ट्रेलिया-परिवार

इन सभी परिवारों को सम्मिलित रूप में विद्वानों ने 'मलय पॉली-नेशिया परिवार' नाम दिया है। इन सभी परिवारों में परस्पर अत्यधिक साम्य है और इनका स्रोत भी एक ही है। मलय-वर्ग की भाषाएँ—मलय प्रायद्वीप, सुमात्रा, जावा, बोर्निओ आदि द्वीपों में; मलनेशिया परिवार की भाषाएँ—न्यूगिनि से लेकर फिजी तक; पॉलीनेशियन–न्यूजीलैण्ड में; आस्ट्रेलियन–आस्ट्रेलिया महाद्वीप में, और पपुअन भाषाएँ न्यूगिनी के कुछ भागों में बोली जाती हैं। सभी ये भाषाएँ लगभग अश्लिष्ट योगात्मक हैं। धातुएँ प्रायः दो अक्षरों की होती

हैं । स्वरा-घात बलात्मक होता है आदि, मध्य या अन्त में शब्द जोड़कर पदों की रचना होती है । ये सभी भाषाएँ धीरे-धीरे संयोगावस्था से वियोगवास्था की ओर जा रही हैं ।

(४) **यूरेशिया खण्ड** की भाषाएँ सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं । यह खण्ड ही संसार की प्राचीनतम साहित्य-निधि की कुँजी है । अतीत में भी और आज भी इसी खण्ड की भाषाएँ विश्व-भाषा अथवा राष्ट्र-भाषा होने का पद प्राप्त कर चुकी हैं । यही खण्ड मानव-सभ्याता का केन्द्र रहा है । अतः इस क्षेत्र की भाषाओं का साहित्य ही सर्वाङ्गपूर्ण और सुव्यवस्थित है । इस भाषा-खण्ड का सविस्तार अध्ययन और अनुशीलन हुआ है । फिर भी कुछ ऐसी भाषाएँ पायी जाती हैं जो किसी भी परिवार के अन्तर्गत नही रखी जा सकतीं । ऐसी मृत और जीवित भाषाओं को एक 'विविध-समुदाय' में रखा गया है । यह खण्ड सात भाषा परिवारों में विभक्त है । अनिश्चित अथवा विविध-समुदाय कों मिलाकर आठ शाखाएँ बनती हैं—

(१) सेमेटिक परिवार
(२) काकेशस परिवार
(३) यूराल-अल्टाई परिवार
(४) एकाक्षर परिवार
(५) द्रविड़ परिवार
(६) आग्नेय परिवार
(७) योरोपीय परिवार
(८) अनिश्चित अथवा विविध समुदाय ।

१—सेमेटिक परिवार—अनेक जातियों को लिपि-ज्ञान कराने का **श्रेय** इसी परिवार की भाषाओं को है । केवल भारत और चीन की लिपियाँ ही निजी हैं । फिर भी भारत की खरोष्टी आदि अनेक लिपियों का स्रोत सेमेटिक परिवार ही है । सर्वप्रथम विशेषता इस परिवार की भाषाओं की यह है कि इसकी धातुओं की रचना तीन व्यंजनों से होती है । इन सेमेटिक भाषाओं में विभक्तियाँ अन्तर्मुखी होती हैं । अन्तः के साथ पूर्व और पर-विभक्तियों का भी व्यवहार होता है । इन भाषाओं में केवल तीन ही कारक—कर्त्ता, कर्म और

सम्बन्ध प्रयुक्त होते हैं। सेमेटिक परिवार की भाषाओं में एक विलक्षणता यह भी है कि सर्वनाम क्रियाओं के अन्त में जोड़ दिए जाते हैं। उदाहरणार्थ—'दरब—नो' (उसने मुझे मारा), 'कतब—इ' (किताब मेरी), इत्यादि। इस परिवार की भाषाओं में पारस्परिक साम्य अत्यधिक पाया जाता है। ध्वनि-विकार-जन्य भेदों को छोड़कर कोई विशेष अन्तर नहीं है।

२—**काकेशस परिवार**—इस परिवार की भाषाएँ पूर्व और अन्तः अशिष्ट योगात्मक हैं। इसका क्षेत्र कृष्ण सागर और कैस्पियन सागर के बीच में काकेशस पहाड़ पर पड़ता है। पहाड़ों की अधिकता के कारण यहाँ बहुत सी बोलियाँ विकसित हो गयी हैं। अवलोकन मात्र से ये भाषाएँ विभक्ति-प्रधान जान पड़ती हैं परन्तु हैं अश्लिष्टयोगात्मक। इनमें प्रत्यय और उपसर्ग दोनों का प्रयोग होता है। बास्क आदि भाषाओं की भाँति सर्वनाम और क्रिया का भी योग इस परिवार में होता है। ऐसे स्थानों पर भाषा आंशिक प्रश्लिष्ट योगात्मक हो जाती है। क्रिया-रूप जटिल रूप में पाये जाते हैं, कभी-कभी मूल धातुओं का भी सुगम बोध नहीं हो पाता। इस वर्ग में अनेक बोलियाँ पायी जाती हैं। परन्तु इनकी न तो कोई लिपि है और न कोई साहित्य ही है। इस वर्ग की प्रसिद्ध भाषा जॉर्जियन है।

३—**यूराल-अल्टाई परिवार**—इस परिवार की भाषाएँ यूराल और अल्टाई पर्वत के बीच में तुर्की, हङ्गरी और फिनलैण्ड से लेकर पूरब में ओरवोत्स्क सागर तक और भूमध्य सागर से लेकर उत्तर में उत्तरीय सागर तक फैली हुई हैं। क्षेत्र की दृष्टि से भारोपीय परिवार के अतिरिक्त संसार का कोई भी परिवार इतना विस्तृत नहीं है। काकेशस परिवार की तरह इस परिवार की भाषाएँ भी एक-दूसरे से अत्यधिक भिन्नता रखती हैं। इस परिवार में ईतनी अधिक भाषाएँ समाविष्ट कर ली गई हैं कि इसे समुदाय कहना ही युक्ति-संगत प्रतीत होता है। इस परिवार की भाषाओ में धातु के अन्त में प्रत्यय जोड़कर पद-रचना होती है। कुछ भाषाएँ अश्लिष्ट से श्लिष्ट की ओर बढ़ रही हैं। इनमें फिनिश भाषा इतनी प्रगति कर चुकी है कि इसे भारोपीय परिवार के अन्तर्गत रखा जा सकता है। स्वर-अनुरूपता इस परिवार की प्रधान विशेषता है। जब धातु में गुरु स्वर रहता है तो सभी प्रत्ययों के स्वर गुरु कर

दिये जाते हैं, और लघु होने से लघु भी कर दिए जाते हैं। यह प्रायः उच्चारण-सुगमता के लिए होता है। 'सेव' में 'मक' लगाकर सेवमक' न बनकर 'सेव्-मेक्', (प्यार करना) बनता है।

४—एकाक्षर अथवा चीनी परिवार—यूराल-अल्टाई क्षेत्र से आगे बढ़कर एशिया के पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी भाग की ओर जाने पर एक विस्तृत भूखंड मिलता है जहाँ चीनी परिवार की भाषाएँ प्रयुक्त होती हैं। भारोपीय परिवार के अतिरिक्त इसी परिवार के भाषा-भाषी संख्या में सर्वाधिक हैं। चीनी भाषा की प्रधानता होने के कारण इस परिवार का नामकरण भी उसी नाम से हुआ है। चीनी भाषा में विश्व का सर्वप्राचीन साहित्य उपलब्ध होता है। चीनी भाषा इतनी समर्थ और विकसित है कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारों को भी सरलता से व्यक्त किया जा सकता है। बौद्ध धर्म सम्बन्धी बहुत-सा संस्कृत साहित्य अनूदित होकर चीनी भाषा में सुरक्षित है। इस परिवार की भाषाएँ स्थान-प्रधान अथवा अयोगात्मक हैं। सम्बन्ध का ज्ञान प्राय. शब्द के स्थान से हो जाता है 'हुआ पाओ मीन'—राजा प्रजा की रक्षा करता है। पर यदि स्थान परिवर्तन कर दिया जाये तो 'मीन-पओ हुआ' प्रजा राजा की रक्षा करती है, हो जाता है। प्रत्येक शब्द एक अक्षर का होता है। वह एक प्रकार से अव्यय है जो किसी भी परिस्थिति में विकृत नहीं होता है। वाक्य में चाहे जहाँ भी आये उसके रूप में लेशमात्र परिवर्तन नहीं होता। इन एकाक्षर शब्दों की संख्या चीनी भाषा में पाँच-सौ और एक हजार के बीच में है। परन्तु इतने कम शब्द किस प्रकार इतने अधिक अर्थों की अभिव्यक्ति कर सकते हैं? इसके अभाव को पूर्ण करने के लिये सुर (Tone) का उपयोग किया जाता है। एक शब्द विभिन्न सुरों में विभिन्न अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। भारोपीय परिवार की भाँति यहाँ भाषा का व्याकरण नहीं है। एक ही शब्द स्थान और आवश्यकतानुसार संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि हो जाता है। उदाहरणार्थ—'त' शब्द का अर्थ 'बड़ा', 'बड़ाई' 'बड़ा होना' आदि के अर्थ में लिया जाता है। इस परिवार में अनुनासिक ध्वनियों का बाहुल्य है। विशेषकर 'ङ' और 'अ' ध्वनियाँ अधिक प्रयुक्त होती हैं। इस परिवार की चार शाखाएँ हैं—(१) **अनामी**, (२) **स्यामी**, (३) **तिब्बतीबर्मी**,

और (४) **चीनी** । इनमें से अनामी और स्यामी पर चीनी का अत्यधिक प्रभाव है। तिब्बती और बर्मी भाषाओं की छाप स्पष्ट लक्षित होती है। इनकी अपेक्षा चीनी का भी विशेष महत्त्व है। यही एकाक्षर और व्यास-प्रधान भाषा का ज्वलन्त उदाहरण मानी गई है।

५—**द्रविड़ परिवार**—यह परिवार दक्षिण भारत में नर्वदा और गोदावरी से लेकर कुमारी अन्तरीप तक फैला हुआ है। इसको तमिल परिवार भी कहा जा सकता है क्योंकि द्रविड़ का ही विकसित रूप तमिल है। वाक्य और स्वरानु-रूपता की दृष्टि से यह यूराल-अल्टाई परिवार से मिलता-जुलता है। इस परि-वार की भाषाएँ तुर्की आदि की भाँति अश्लिष्ट योगात्मक हैं। मूर्द्धन्य ध्वनियों (टवर्ग) का प्राधान्य है। इसी कारण अन्य भाषा-भाषी को इस परिवार को किसी भाषा में दिया जाने वाला भाषण ऐसा जान पड़ता हैं जैसे कोई घड़े में कंकड़ डालकर जोर से हिलाकर बजा रहा हो। इस परिवार की भाषाओं में वचन दो ही होते हैं। बहुवचन प्रत्यय जोड़कर बनता है। नपुंसक शब्द प्रायः एक वचन ही होते हैं। लिंग तीन होते हैं। **तमिल, तेलुगु, मलयालम** और **कन्नड़** इसी परिवार की शाखाएँ हैं। द्रविड़ परिवार का भारत की आर्य भाषाओं पर भी बहुत प्रभाव पड़ा है। आर्य परिवार की मूर्द्धन्य ध्वनियों के मूल में द्रविड़ प्रभाव स्पष्ट है। मराठी आदि में तीन लिंग का सुरक्षित रहना इसी परिवार का प्रभाव है। आर्य भाषाओं में सोलह पर आधारित (सेर, छटाँक, रुपया, आना) माप इसी परिवार की देन है।

६—**आग्नेय परिवार**— आग्नेय परिवार के दो भाग हैं—पहला भाग **आग्नेय द्वीपी** है जो प्रशान्त सागर के द्वीपों में फैला हुआ है। दूसरा भाग **आग्नेय देशी** हैं जो यूरेशिया परिवार के अन्तर्गत आता है। इस परिवार की भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं परन्तु अब तक वियोगावस्था की ओर बढ़ रही हैं। धातु प्रायः दो अक्षरों की होती है। पद-रचना में आदि, मध्य और अन्त तीनों ही स्थानों पर प्रयोग होता है। आग्नेय परिवार की तीन शाखाएँ हैं—**इन्दोनेशियन, मॉनख्मेर** और **मुण्डा** । इनमें मुण्डा सर्वप्रधान भाषा है। आकृति की दृष्टि से ये भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं। तुर्की की भाँति इनका भी योग

सरल और स्पष्ट होता है। इनका ध्वनि-समूह आर्य भाषाओं की भाँति घोष, अघोष, महाप्राण और अल्पप्राण से बना है। पद-रचना में प्रत्यय तथा उपसर्ग का प्रयोग किया जाता है। एक ही शब्द चीनी की भाँति यथास्थान आवश्यकतानुसार संज्ञा, क्रिया आदि सभी का कार्य पूर्ण करता है। मुण्डा भाषाओं का भारतीय भाषाओं पर भी प्रभाव पड़ा है। द्रविड़ परिवार भी इससे अप्रभावित नहीं है। मुण्डा का आर्य परिवार पर तो उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा है। 'कोड़ी' शब्द मुण्डा भाषा ही की देन है। वस्तुओं की गिनती कोड़ियों में होती है। मुण्डा के प्रभाव के ही कारण बिहारी भाषा की बोलियों में क्रिया की जटिलता पायी जाती है।

७—**भारोपीय परिवार**—यह परिवार संसार का सर्व-प्रसिद्ध भाषा-परिवार है। क्षेत्र, सीमा और साहित्य; सभी दृष्टियों से यह परिवार महत्वपूर्ण है। इस परिवार के भाषा-भाषी संसार में सर्वाधिक हैं। विकास की दृष्टि से भी यह परिवार मूर्द्धन्य स्थान पर स्थित है। इस परिवार के नामकरण के विषय में अनेक मत प्रचलित हैं। परन्तु उन सब में भारत-यूरोपीय; अर्थात् भारोपीय नाम ही युक्ति-संगत सिद्ध हुआ है।

८—**अनिश्चित समुदाय**—इस परिवार में वे सभी भाषायें आती हैं जो किसी निश्चित परिवार के अन्तर्गत नहीं रखी जा सकती। इस समुदाय में दो प्राचीन 'एट्रस्कन' और 'सुमेरियन' भाषाएँ हैं, जिनका कोई भी निश्चित परिवार ज्ञात नहीं है। एट्रस्कन भाषा इटली के मध्य और उत्तरी प्रदेश में उस समय बोली जाती थी, जब रोमन साम्राज्य की अभी स्थापना भी नहीं हुई थी। कुछ विद्वानों ने उसे भारोपीय परिवार के अन्तर्गत रखा था, पर कुछ शिलालेख और एक पुस्तक पाने के पश्चात् उसमें विभिन्नता देखकर उसे इस परिवार से निर्वासित कर दिया है। सुमेरियन भाषा भी यूराल-अल्टाई के भीतर रखी गई थी परन्तु अभी यह सिद्ध नहीं हुआ है कि यह इसी परिवार की है अथवा नहीं। आधुनिक अनिश्चित भाषाओं के अन्तर्गत बास्क, कोरियाई, जापानी और हाइपरबोरी समुदाय की बोलियाँ आती हैं। फ्रांस और स्पेन की सीमा पर बास्क-बोली बोली जाती है। इसमें शब्द-समूह का अभाव है, अतः सूक्ष्म भाव-व्यंजना का कोई साधन नहीं है। वाक्य-विन्यास सरल

और सुगम होता है और क्रियाएँ आदि हिन्दी की भाँति अन्त में लगती हैं। 'कोरियाई' कोरिया की भाषा है। चीनी प्रभाव में रहने के कारण इसमें चीनी शब्द-समूह भी पाया जाता है। इसकी आधुनिक लिपि ब्राह्मी लिपि की ही पुत्री हैं। आकृति की दृष्टि से अश्लिष्ट योगात्मक होने पर भी यह यूराल-अल्टाई परिवार में अन्तर्हित नहीं मानी जा सकती। 'जापानी' जापान की भाषा है। यह भाषा आज की सर्वोच्च भाषाओं में से है, पर अभी तक इसका किसी निश्चित परिवार से सम्बन्ध नहीं हुआ है। हाइपरबोरी समुदाय में अनेक बोलियाँ आती हैं जो साइबेरिया के उत्तरी-पूर्वी प्रदेश तथा समीप के कुछ द्वीपों में लेना नदी से सखालिन तक बोली जाती हैं। इनका भी किसी निश्चित परिवार से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः यह बोलियाँ जन-समुदाय द्वारा प्रयुक्त होने पर भी भाषा सामग्री के अभाव के कारण किसी भी परिवार में नहीं रखी जा सकतीं।

प्रश्न १२—भारोपीय परिवार के नाम तथा महत्व पर प्रकाश डालते हुए उसका विस्तृत परिचय दीजिए तथा उसकी विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—यूरेशिया खण्ड का सर्वप्रमुख परिवार भारोपीय परिवार है। इस परिवार के बोलने वाले संसार में सबसे अधिक हैं तथा साहित्यिक और धार्मिक दृष्टि से भी यह महत्त्वपूर्ण है। संसार के समस्त भाषा-परिवारों में क्षेत्र, सीमा तथा साहित्य सम्बन्धी विशेषताओं के कारण सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण परिवार भारत-योरोपीय भाषा-परिवार है। इस परिवार की भाषाओं का अध्ययन और अनुशीलन भी सबसे अधिक हुआ है। इस परिवार का क्षेत्र उत्तरी-भारत से लेकर ईरान और आर्मीनिया होता हुआ यूराल, अल्टाई तथा वास्क के कुछ भाग को छोड़ कर ब्रिटेन और ब्रिटिश द्वीपों के पश्चिमी भाग तक है। इस परिवार का युक्तिसंगत तथा उचित नामकरण प्रारम्भ से ही विवादास्पद रहा है और अब भी सन्तोषपूर्ण नाम नहीं है। अतः इस विषय में विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने मतों का प्रतिपादन किया है।

प्रारम्भ में मैक्समूलर ने इसे आर्य परिवार नाम दिया था, परन्तु अब इस नाम से भारत-ईरानी वर्ग का बोध होता है। इस परिवार में भारत-जर्मन

नाम भी व्यवहृत होता रहा, क्योंकि इसके पूर्वी छोर पर भारतीय और पश्चिमी छोर पर जर्मन भाषाएँ हैं, पर उसके भी पश्चिम में केल्टिक शाखा है, अतः यह नाम भी उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। भौगोलिक दृष्टि से 'भारत-केल्टिक' नाम ही ठीक था और कुछ काल तक प्रयोग में भी आता रहा। परन्तु प्रचलित न हो सकने के कारण इसका व्यवहार भी न हो सका। सर्वाधिक प्रचलित नाम भारोपीय है। जर्मनी को छोड़कर भारत तथा सभी योरोपीय देशों में यह नाम प्रचलित हो चुका है। भाषा वैज्ञानिकों ने भी इसी नाम को कुछ तथ्यपूर्ण स्वीकार किया। यह नाम इस परिवार की भाषाओं के भौगोलिक विस्तार पर भी प्रकाश डालता है। इसके अतिरिक्त जैफेटिक, संस्कृति, काकेशियन और केल्टिक नामों का प्रयोग हुआ है, परन्तु वे अधिक प्रचार न पा सके।

भोरोपीय परिवार निर्विवाद रूप से समस्त संसार के भाषा-परिवारों में महत्वपूर्ण है, क्योंकि वास्तव में भाषा-विज्ञान की नींव ही इस परिवार पर आधारित है। खोज की दृष्टि से भी यह विशेष महत्वपूर्ण है। जितनी खोज और अनुशीलन इस परिवार का हुआ है, इतना अभी तक किसी का भी नहीं हुआ। बहुत प्राचीन काल से ही इस परिवार की भाषाओं का विकास आरम्भ हो गया था। ऋग्वेद के रूप में जितना ऐतिहासिक साक्ष्य इस परिवार की भाषाओं में मिलता है, उतना अन्य भाषाओं में नहीं। संसार के सबसे अधिक महत्वपूर्ण साहित्य संस्कृत, ग्रीक, लैटिन—इसी परिवार के हैं। क्षेत्र की दृष्टि से भी इसका विस्तार अधिक है।

यह परिवार श्लिष्ट योगात्मक है। यह योग अधिकतर सेमेटिक या हेमेटिक भाषाओं की भाँति अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी होता है। विभक्तियाँ प्रायः बहिर्मुखी होती हैं और प्रकृति के अन्त में लगती है। इस परिवार की सभी भाषायें संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जा रही हैं। धातुएँ अधिकतर एकाक्षर होती हैं और इनमें प्रत्यय जोड़कर पद या शब्द बनाए जाते हैं। इसमें पूर्व-विभक्तियाँ अथवा परसर्ग नहीं होते वरन् उपसर्ग होते हैं, पर उनका वाक्य के अन्वय से कोई सम्बन्ध नहीं होता। समास-रचना की विशेष शक्ति इस परिवार में पायी जाती है। इसकी रचना के समय विभक्तियों

का लोप ही हो जाता है और समास द्वारा बने शब्द का अर्थ वही नहीं रहता जो उसके अलग-अलग शब्दों को एक स्थान पर रखने से होता है। उसका एक नया अर्थ आ जाता है। अक्षरावस्थान इस परिवार की एक प्रधान विशेषता है। स्वर-परिवर्तन से सम्बद्ध तत्व सम्बन्धी परिवर्तन हो जाता है। स्वराघात के कारण स्वर-परिवर्तन हुआ और जब धीरे-धीरे प्रत्ययों का लोप हो गया तो वे स्वर-परिवर्तन ही सम्बन्ध परिवर्तन को भी स्पष्ट करने लगे। अंग्रेजी की कुछ क्रियाओं से यह बात स्पष्टतः लक्षितः हो जाती है। Drink, Drank, Drunk यहाँ 'आई' (i) का 'ए' (a) 'यू' (u) में परिवर्तन हुआ है, और इसी से उसमें काल सम्बन्धी परिवर्तन आ गया है।

कुछ भाषा वैज्ञानिकों के अनुसार प्रागैतिहासिक काल में इस भारोपीय भाषा में दो विभाषायें थीं। इसी से निकली हुई तत्कालीन भाषाओं की ध्वनियों में भेद पाया जाता है। ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं में प्राचीन मूल भाषा के 'चवर्ग' ने कर्वक का रूप ग्रहण कर लिया है और संस्कृत, ईरानी आदि में वही ध्वनि-घर्षक उष्म बन गयी है। उदाहरार्थ—लैटिन में केंटुम, आक्टो, डिक्टो रूप पाए जाते हैं, वही रूप संस्कृत, ईरानी आदि भाषाओं में शतम्, अष्टौदिष्टः आदि ऊष्म वर्ण मिलते हैं। इसी अवान्तर भेद के कारण भारतीय आर्य-भाषाओं को शब्द के पर्यायवाची के आधार पर दो वर्गों में विभक्त किया गया है—(i) **केंटुम,** और (ii) **शतम्।**

केंटुम वर्ग की भाषाओं को छः शाखाओं में विभक्त किया गया है—

केंटुम वर्ग
- **१—केल्टिक**
- **२—ट्यूटानिक (जर्मन)**
- **३—लैटिन (इटली)**
- **४—हेमेटिक (ग्रीक)**
- **५—हिट्टाइट (हित्ती)**
- **६—तोखारी या तुखारी**

(१) **केल्टिक शाखा**—के बोलने वाले यूरोशिया के पश्चिमी कोने में रहते हैं। आयरलैण्ड, वेल्स, स्काटलैण्ड, ब्रिटेनी तथा कार्नवाल के ही कुछ भागों में इस शाखा का क्षेत्र व्याप्त है। इस शाखा का लैटिन शाखा की ही भाँति कैल्टिक

में उच्चारण भेद के कारण 'क' और 'प' दो वर्ग किए गये हैं। एक वर्ग की भाषाओं में जहाँ 'क' मिलता है, दूसरे वर्ग में वहीं 'प' मिलता है। उदाहरणार्थ—वेल्स में 'पम्प' (पाँच) का आइरिश में 'कोइक' रूप में मिलता है। 'प' वर्ग को ब्रिटानिक और 'ग' वर्ग को 'गायलिक' कहते हैं। इनके अतिरिक्त एक गालिक वर्ग भी है। स्थानों के नामों और शिलालेखों से विदित होता है कि सीजर ने जिन गाल लोगों पर विजय प्राप्त की थी उन्हीं की यह भाषा थी। अब गाल देश में **रोमांस** भाषा बोली जाती है। गायलिक की तीन भाषाएँ हैं—आयरिश, स्कॉच तथा मैक्स। ब्रिटानिक के अन्तर्गत—वेल्स, कार्निश और ब्रिटन भाषाएँ आती हैं।

(२) **ट्यूटानिक**-भारोपीय परिवार की सबसे महत्वपूर्ण शाखा है। इसकी अंग्रेजी भाषा आज की अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है। इसमें ध्वनि-परिवर्तन की विशेषता है। प्राचीन काल से ही इस शाखा की भाषाएँ संहित से व्यवहित होती जा रही हैं। इन भाषाओं में पहला वर्ण-परिवर्तन प्रागैतिहासिक काल में हुआ था। इस वर्ण-परिवर्तन के कारण ही जर्मन शाखा अन्य योरोपीय शाखाओं से भिन्न दिखायी देती है। दूसरा वर्ण-परिवर्तन पश्चिमी जर्मन भाषाओं में ईसा की सातवीं शताब्दी में हुआ था। इसी कारण इस शाखा के पश्चिमी जर्मन और पूर्वी जर्मन दो भाग कर दिये हैं। पूर्वी जर्मन की अपेक्षा पश्चिमी जर्मन अधिक प्रचलित है।

(३) **इटाली** शाखा की लैटिन- प्रधान साहित्यिक भाषा है। अतएव इस शाखा को लैटिन शाखा की संज्ञा भी दी गयी है। लैटिन भाषा आज भी रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय की धार्मिक भाषा है। केल्टिक की भाँति इस शाखा के भी दो वर्ग 'प' और 'क' हैं। 'क' वर्ग को लैटिन वर्ग और 'प' को **अम्ब्रो**-सेमनिटिक कहते हैं। इन दोनों **वर्गों** की भिन्न-भिन्न भाषाएँ हैं। अम्ब्रों' सेमनिटिक के अन्तर्गत अम्ब्रियत, पिसेन्टाइन सेवाइन, मार्सियन, बोलस्कियन, ओस्कन आदि हैं। लैटिन वर्ग में इटाली, रेटोरोमन, पुर्तगाली, फ्रांसीसी आदि भाषाएँ आती हैं। इन सब में प्रधान लैटिन ही है। अन्य भारोपीय भाषाओं की भाँति लैटिन भी व्यवहिति-प्रधान है। लैटिन का इतिहास सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार एक लैटिन से इटाली, फ्रेंज आदि अनेक भाषाएँ

विकसित हुई हैं ; उसी प्रकार मूल भारोपीय भाषा से भिन्न-भिन्न कैल्टिक, ग्रीक, लैटिन आदि शाखाएँ भी निकली होंगी। कई विद्वान इस लैटिन के इतिहास से भारतीय देश-भाषाओं के विकास-क्रम की तुलना करते हैं। इस प्रकार यह रोमांस भाषाओं का इतिहास भाषा-विज्ञान में एक आदर्श रूप में खड़ा हुआ है। ये रोमांस भाषाएँ फ्रांस, पुर्तगाल, बेलजियम, इटली आदि के अतिरिक्त अफ्रीका, अमेरिका आदि अन्य महाद्वीपों में भी व्यवहृत होती हैं। इन रोमांस भाषाओं में सर्वप्रधान भाषा फ्रेंच ही रही है और आज भी संसार की भाषाओं में उसका प्रमुख स्थान है।

इन रोमांस भाषाओं और भारतीय आर्य भाषाओं के विकास की तुलना करने से स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार एक दिन लैटिन रोमन साम्राज्य की राष्ट्रभाषा थी उसी प्रकार संस्कृत आर्य भारत की राष्ट्रभाषा थी। दोनों ही शाखाओं में आधुनिक भाषाओं ने प्राचीन भाषा को लुप्त प्रायः कर दिया है। योरुप में अब इतालवी, फ्रेंच आदि भाषा का प्रचार है, न कि लैटिन का। उसी प्रकार भारत में भी हिन्दी, मराठी, बँगला आदि भाषाओं का ही बोल-बाला है, न कि संस्कृत का। जिस प्रकार रोमांस भाषाओं के विकास मे ध्वनि और रूप सम्बन्धी विकार दिखायी देते हैं, उसी प्रकार के विकार भारतीय प्राकृत के इतिहास में भी पाये जाते हैं। इस प्रकार अनेक समानताओं को देखकर जब भी भारतीय देश भाषाओं के इतिहास की कोई भी कड़ी अभावग्रस्त रहती है तो रोमांस वर्ग का इतिहास ही उस अभाव को पूर्ण करता है।

(४) **ग्रीक भाषा**—का आदि रूप होमर की रचनाओं में पाया जाता है। इसके प्राचीन उदाहरण होमर के इलियड और ओदेसी महाकाव्यों में मिलते हैं। ग्रीक भाषा अनेक रूपों में वैदिक संस्कृत से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। दोनों में ही संगीतात्मक स्वराघात प्रधान था। कालान्तर में दोनों बलात्मक स्वाराघात की ओर प्रवृत होने लगीं। दोनों के शब्दों में रूप अधिक हैं। संस्कृत में संज्ञा और सर्वनामों के रूप और ग्रीक में क्रिया और अव्यय आदि के। ग्रीक में संस्कृत की अपेक्षा स्वर अधिक हैं और संस्कृत में ग्रीक की अपेक्षा व्यंजन। आज जो ग्रीक अपने सीमित क्षेत्र में बोली जाती है, वह रोम

साम्राज्य में भूमध्यसागर के चारों ओर राज्य करती थी। अतः उस समय संसार की भाषाओं में ग्रीक का विशिष्ट स्थान था; परन्तु अरबी ने सीरिया और मिश्र में, तुर्की ने कुस्तुन्तुनियाँ में इसको पदच्युत कर दिया।

(५) **हिट्टाइट**—एशिया माइनर के बागाजकोई की खुदाई में कुछ कोलाक्षर लेख १६ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में मिले हैं, जिनसे हिट्टाइट भाषा का पता चला है। इस भाषा को कुछ लोग अनिश्चित परिवार की भाषा मानते हैं। परन्तु अध्यापक ह्राज्नी ने इसे भारोपीय परिवार का ही सिद्ध किया है। हिट्टाइट की विभक्तियाँ एवं सर्वनाम बहुत अंशों में संस्कृत और लैटिन से मिलते-जुलते हैं। क्रिया और कारक रचनाएँ भी भारोपीय हैं। समवेत रूप से विचार करने पर यह लैटिन के अधिक निकट है।

उदाहरणार्थ—हिट्टा ट का 'उग' (मैं) लैटिन में 'इग' पाया जाता है। सेमेटिक परिवार से भी यह भाषा कुछ अंशों में मिलती है।

(६) **तोखारी भाषा**—भी हिट्टाइट के समान केंटुम वर्ग की भाषा है, और सेंट्रल एशिया में तुरफान की भाषा है। इस पर यूराल-अल्टाई का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है और इसमें भारोपीय लक्षण पूर्णतः लक्षित होते हैं। इस भाषा में स्वरों की जटिलता कम है और सन्धि-नियम संस्कृत से कुछ समानता रखते हैं। संस्थाओं के नाम और सर्वनाम भारोपीय परिवार के समान हैं। विभक्तियाँ भी उसी प्रकार आठ हैं और शब्द-भंडार संस्कृत के समीप है। उदाहरणार्थ संस्कृत का पितृ: तोखारी में 'पाचर' और मातृ 'माचर' का रूप धारण कर लेता है। 'सौ' के लिए तोखारी में कन्ध मिलता है। इसी कारण यह केंटुम वर्ग की भाषा मानी गई है।

शतम् वर्ग चार उपकुलों में विभक्त किया गया है—

शतम वर्ग
- **१. आल्बेनियन (इलीरियल)**
- **२. लेटो स्लाव्हिक (बाल्टिक) [लैटिन, स्लाव्हिक]**
- **३. आर्मेनियन**
- **४. आर्य (हिन्दी-ईरानी) [ईरानी, हिन्दी-भारतीय या संस्कृत]**

(१) **आल्बेनियन**—इस शाखा के बोलने वाले एड्रिआटिक सागर के किनारे कारिन्थियक की खाड़ी से इटली के दक्षिण-पूर्वी भाग तक थे। भाषा-

वैज्ञानिकों द्वारा इसका अच्छा अध्ययन किया गया है परन्तु कुछ शिलालेखों के अतिरिक्त इसमें कोई साहित्य नहीं मिलता। इसके प्राचीन रूप का कोई भी वअशेष आज नहीं है।

(२) **लेटो स्लाह्विक**-इसके दो मुख्य वर्ग हैं— लैटिन और स्लाह्विक। लैटिन वर्ग (बाल्टिक) के अन्तर्गत तीन भाषाएँ आती हैं जिनमें से एक (ओल्ड प्रशिअन) लुप्तप्राय हो गई है और लिथुआनिन और लैटिक रूस के पश्चिमी प्रदेशों में आज भी प्रयोग में लायी जाती है।

(३) **आर्मेनियन**—इस शाखा की भाषाएँ आर्य उपकुल केप श्चिम में बोली जाती हैं। इनमें ईरानी शब्द अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। इसी कारण कुछ विद्वानों ने इसे आर्य परिवार की ईरानी भाषा के अन्तर्गत रखने का प्रयास भी किया है। इस शाखा का नवीन रूप प्राचीनता से बहुत दूर चला आया है। परन्तु पुराने रूप का प्रयोग धार्मिक कार्यों में अब भी लैटिन और संस्कृत की भाँति होता है। तुर्की और अरबी शब्द भी इस शाखा मे मिलते हैं। इस प्रकार आर्य और अनार्य दोनों प्रभाव इस पर पड़े है। योरुप और एशिया की सीमा पर बोली जाने वाली प्राचीन भाषा फिजियन भी इसके अन्तर्गत आती है। वर्तमान आर्मेनियन के दो रूप हैं। एक का प्रयोग एशिया में होता है और दूसरे का योरुप में। एशिया वाली बोली का नाम 'अराराट' है और योरुप में बोली जाने वाली का 'स्तुम्बुल'। स्तुम्बुल में साहित्य रचना होती है। यही इसकी प्रधान बोली है।

(४) **आर्य शाखा**—भारोपीय परिवार की बहुत ही महत्वपूर्ण है। आर्य परिवार का प्राचीनतम प्रामाणिक साहित्य इसी शाखा में मिलता है। ऋग्वेद के समान पुराना शुद्ध साहित्य किसी भी भाषा मे नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त इस शाखा की भाषाओं का गठन तथा उनका साहित्य भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भाषा-विज्ञान के अध्ययन के लिए इस शाखा ने अनुपम सामग्री प्रदान की है और पश्चिम में भाषा-विज्ञान का अध्ययन तभी से यथार्थतः प्रारम्भ भी हुआ है जब से उन लोगों को आर्य शाखा के मनन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इस शाखा के आर्य अन्य आर्यों का साथ छोड़ देने के पश्चात् जब आगे बड़े तो कुछ लोग ईरान में ही रुक गये और कुछ लोग और आगे बढ़कर

भारतवर्ष में आ बसे। इस प्रकार इसकी भारतीय और ईरानी दो शाखाएँ हुईं। अतः इनका नाम भारत-ईरानी उपकुल हो गया है। इस उपकुल की भी तीन शाखाएँ हैं—ईरानी, दरद और भारतीय।

ईरानी में साहित्य रचना बहुत पहले से आरम्भ हो गयी थी, परन्तु आज उसकी प्राचीन निधियों का कुछ पता नहीं हैं। इसकी भाषा ऋग्वेद से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। इसके अतिरिक्त कुछ पुराने शिलालेख भी उपलब्ध हुए हैं। ईरानी वर्ग की कुछ ध्वनियाँ ऐसी हैं जो उसकी सजातीय भाषाओं संस्कृत आदि की ध्वनियों से मेल नहीं खातीं। उदाहरणार्थ—भारोपीय मूल भाषा का 'स' 'S' संस्कृत में ज्यों का त्यों मिलता है, परन्तु ईरानी में विकृत होकर उसका रूप 'ह' मे परिवर्तित हो गया है। संस्कृत का 'सिन्धु' ईरानी भाषा में 'हिन्दु' तथा 'सप्त' 'हप्त' के रूप में मिलता है।

दरद भाषा का क्षेत्र पामीर और पश्चिमोत्तर पंजाब के बीच में है। गठन की दृष्टि से पश्तो की भाँति ही दरद भी ईरानी और भारतीय के बीच में है। पर यदि पश्तो ईरानी की ओर अधिक झुकी है तो दरद भारतीय की ओर। दरद शाखा की तीन भाषाएँ—खोवार, काफिर और दरद हैं। भारतीय आर्य भाषाएँ तीन भाषाओं में विभक्त हैं—प्राचीन, मध्य और आधुनिक आर्य भाषा काल।

प्रश्न १३—भाषा की स्थिरता और गतिशीलता से क्या तात्पर्य है? यह भी बताइये कि किन कारणों से भाषा में ये दोनों बातें चरितार्थ होती हैं।

उत्तर—संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है इसी प्रकार भाषा भी परिवर्तनशील है। परिवर्तन के चक्र में घूमते रहना ही उसका विकास है। विकास या परिवर्तनशीलता का प्रभाव भाषा के प्रत्येक रूप पर पड़ता है। परिवर्तनशीलता की प्रभविष्णुता अचूक और अमोघ है। प्रति अवयव में—क्या ध्वनि क्या पद, क्या वाक्य-विन्यास और क्या अर्थ—सभी में परिवर्तनहोता रहता है, जिसका प्रमाण सौ वर्षों के पूर्व की भाषा से तुलना करने से स्पष्ट हो जाता है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि भाषा प्रत्येक नयी पीढ़ी के आने के साथ ही परिवर्तित हो जाती है, वरन् वह एक परम्परागत वस्तु है। उसकी

एक धारा वहती है जो सतत् परिवर्तनशील होने पर भी स्थायी और नित्य होती है और जिसमें भाषणकृत भेदों की लहरें नित्य उठती रहती हैं। भाषा की एकता का आधार उसकी अविच्छिन्न परम्परा पर ही निर्भर होता है। इसी कारण एक पीढ़ी की भाषा को दूसरी पीढ़ी सीखकर बोलती है। परन्तु भाषा की इस प्रकार अविच्छिन्न धारा होने का यह तात्पर्य नहीं कि वह नित्य एक ही रूप में रहती है। जैसे नदी की धारा अविच्छिन्न होने पर भी आगे बढ़ने के साथ बदलती जाती है, उसी प्रकार भाषा की परम्परा एक रहने पर भी धीरे-धीरे अस्पष्ट रूप से बदलती जाती है। कालान्तर में वही भाषा इतनी परिवर्तित हो जाती है कि उससे प्राचीन और नवीन रूप में बहुत भेद दिखाई देता है।

इस परिवर्तन में कोई उन्नति, कोई अवनति और कोई उसको घिसा हुआ रूप समझते हैं। भाषा-विज्ञान के अनुसार भाषा के विकास से यह तात्पर्य नहीं कि भाषा उन्नत या परिमार्जित हो जाती है, वरन् विकास का अर्थ केवल परिवर्तन है। परिवर्तन से भाषा उन्नति की ओर भी अग्रसर हो सकती है और अवनति के गर्त में भी गिर सकती है। विकास में उन्नति या अवनति का प्रश्न नहीं उठता, वह अवश्यम्भाविता का परिचायक है। विकास में एक आशावादिता छिपी है, जो अभाव में भी उपयोग की आशा रखती है। उदाहरणार्थ—यदि 'कृष्ण' शब्द का परिवर्तित रूप किसन हो जावे तो भाषा वैज्ञानिक इसे अवनति न कह कर विकास ही कहेगा।

भाषा में इस परिवर्तन का कारण **परम्परा और जन-संसर्ग की विभिन्नता भी** है। भाषा अन्य मनुष्यों के संसर्ग से सीखी जाती है और प्रत्येक मनुष्य का संसर्ग भिन्न होता है। काल भेद के कारण भाषा में धीरे-धीरे परिवर्तन होता रहता है और कालान्तर में भाषा अधिक परिवर्तित और विकासोन्मुख दिखाई देती है। संसर्ग का भाषा के विकास पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। एक तत्काल पैदा हुए भारतीय बच्चे को यदि किसी योरोपिय महिला को पालन-पोषण के लिए दे दिया जाय तो वह बच्चा हिन्दी भाषा न सीखकर आरम्भ से ही अंग्रेजी भाषा को अपनी वाणी का अलङ्कार बनाएगा। **समय भेद के** कारण भाषा में नित्य परिवर्तन होता है। उदाहरणार्थ—आधुनिक हिन्दी,

गुजराती आदि भाषाओं को प्राचीन साहित्यिक संस्कृत से निकला हुआ समझते हैं। इसी प्रकार फ्राँसीसी, स्पेनी आदि भाषाओं का साहित्य प्राचीन लैटिन भाषा से निकला समझा जाता है। परन्तु वास्तव में कोई सर्व-साधारण की भाषा प्राचीन परिष्कृत भाषा से नहीं निकली है। उसका विकास प्राचीन सर्व-साधारण की भाषा से ही होता है। आजकल की बोलचाल की भाषा की अविच्छिन्न परम्परा प्राचीन बोलचाल की ही भाषा से सम्भव है, न कि प्राचीन साहित्यिक भाषा से। अतएव संस्कृत आदि से हिन्दी आदि निकली हैं, ऐसा न मानकर वास्तव में यही मानना चाहिए कि संस्कृत आदि साहित्यिक भाषाओं के समय की सर्व-साधारण जनता की भाषाओं से आजकल की सर्व-साधारण की हिन्दी आदि भाषाएँ विकसित हुई हैं।

भाषा के विकास में परिवर्तन कुछ अंशों में होता रहता है और कुछ में नहीं। सृष्टि के ऋत् (गति के नियम) और सत् (स्थिति के नियम) सदा ही कार्य-चक्र चलाया करते है और भाषा इन नियमों के चक्र के बाहर नहीं जा सकती। काल-भेद से एक ही भाषा की अवस्थाओं के अनुसार हम अनेक नाम देते आये हैं, पर वह धारा एक ही है। दर्शनकारों ने एक बार यह प्रश्न किया था कि साल भर का बच्चा जब विकसित होते हुए दस साल का हो जाता है तब वह वही रहता है या दूसरा हो जाता है? उत्तर में कहा गया था कि न हम यही कह सकते हैं कि वही है और न यही कह सकते हैं कि वह अन्य है : वह भी है और नहीं है और अन्य भी है और नहीं है। दार्शनिक ढङ्ग से यही उत्तर भाषा की परिवर्तनशीलता और विकास को युक्ति-युक्त ठहराता है।

भाषा-वैज्ञानिकों ने भाषा के विकास के मूल कारण को ढूँढ़ने का प्रयास किया है और इस सम्बन्ध में यह प्रमाणित किया है कि भाषा का विकास दो प्रकार से होता है। एक तो अपनी स्वाभाविक गति के कारण, और दूसरा किसी अन्य उपकरण से प्रभावित होकर। इस प्रकार भाषा के विकास के कारणों के दो वर्ग—अभ्यान्तर और वाह्यन्तर किये गये हैं।

अभ्यान्तर वर्ग में उन्हीं कारणों का समाहार होता है जो बाहर से प्रभावित नहीं होते। शारीरिक विभिन्नता के कारण भी भाषा-भेद माना जाता

है। प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य से शरीर के संस्थान तथा गठन की दृष्टि से भिन्न होता है, उसके उच्चारण के अवयवों की नाप उसके मस्तिष्क से भिन्न होती है। इसी कारण ध्वनियों के उच्चारण में भी विभिन्नता सम्भव है। परन्तु परीक्षा की कसौटी पर कसने से यह वाद युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता। समाज में प्रत्येक आकार-प्रकार के मनुष्य होते हैं, पर इस आकार-प्रकार की भिन्नता के कारण भाषा में परिवर्तन नहीं होता। जो महाराट्र के ब्राह्मण कुमायूँ में जाकर दो सौ वर्ष पहले बस गये थे, उनके वंशज उतनी ही शुद्ध कुमाउँनी बोलते हैं जितनी कि वहाँ बहुत पहले से रहने वाली क्षत्रियों अथवा डोमों की सन्तानें। गढ़वाल में कई पीढ़ी पूर्व आकर बसा हुआ चीनी परिवार उतनी ही सुन्दर गढ़वाली का प्रयोग करता है जितनी कि कोई अन्य गढ़वाली। कोई-कोई हिन्दुस्तानी परिवार इङ्गलैण्ड में जाकर बस गये हैं और उनके बच्चे वहाँ शुद्ध अँग्रेजी बोलते हैं। फिर शारीरिक भेद पर भाषा-भेद की भिन्नता कहाँ निभर है ?

अधिक प्रयोग के कारण शब्द घिस जाते हैं और धीरे-धीरे भाषा में स्वाभाविक परिवर्तन होने लगता है। ऐसे होने वाले विकास या परिवर्तन को स्वयंभू कहते हैं।

बोलने वालों के **मानसिक स्तर में परिवर्तन होने से** विचारों में परिवर्तन होता है, विचारों में परिवर्तन होने से अभिव्यंजना की शैली में परिवर्तन होता है, और इस प्रकार भाषा पर भी प्रभाव पड़ता है। इसका स्पष्ट प्रभाव अर्थ परिवर्तन पर पड़ता है। किसी जाति अथवा राष्ट्र की मानसिक अवस्था दूसरी जाति अथवा राष्ट्र की मानसिक अवस्था से उच्च या निम्न होती है, इसी कारण भाषा-विभेद उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ—जर्मन विद्वानों का मत है कि उनकी भाषा में एक सौष्ठव और गति है जो अँग्रेजी आदि भाषाओं में नहीं पायी जाती और उनके विचार से भाषा का यह सौष्ठव और यह गति उनकी जातीय मानसिक गति और सौष्ठव के कारण है। इसी प्रकार बंगाली भाषा में दुरूह संयुक्त व्यंजनों तथा मूर्द्धन्य व्यंजनों के अभाव से जो माधुर्य आता है वह उनमें सौन्दर्यानुभव और स्त्रीत्व के प्रभाव से तथा भाषा की द्रुतगति उनके तेज दिमाग का परिचायक है। और मद्रासी जो खटाखट कठिन से कठिन

व्यंजन जल्दी-जल्दी बोलता है वह उसकी इस मानसिक अवस्था का परिचायक है कि वह विषम जलवायु की परिस्थिति में भी अपना काम सुगमता और सरलता से कर सकता है। ऐसा कुछ विद्वानों का मत है।

परन्तु किसी भाषा के अन्य भाषा की अपेक्षा अधिक द्रुतगति से विकसित होने का मूल कारण **सुसंगठन की शिथिलता और सुश्लिष्टता की कमी होती** है, किसी जाति के मानसिक स्तर की उच्चता या हीनता नहीं। प्रायः देखा जाता है कि जब कोई देश रण-स्थली का केन्द्र बना रहता है और जिसके कारण वहाँ का वीर-समाज संग्राम में जुटा रहता है तो उस समय भाषा में परिवर्तन द्रुत-गति से होता है। इसका कारण यही है कि सीखने वाली बच्चों की पीढ़ी पर यथेष्ट नियन्त्रण नहीं रह पाता और इस प्रकार संगठन में कमी आ जाती है। यह भी सम्भव है कि राजनीतिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों के कारण, युद्ध न होने पर भी, स्वतन्त्रता और निरंकुशता की लहर युवक-वर्ग में व्याप्त हो जाय और अन्य क्षेत्रों की भाँति भाषा के क्षेत्र में भी फैल जाय, उस समय भी भाषा में परिवर्तनों की गति के द्रुत होने की सम्भावना है। परन्तु इसका मूल कारण जातीय मानसिक अवस्था को ही उचित समझना युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता। सौष्ठव, लालित्य और माधुर्य आदि गुणों की मर्यादा तो अपनी-अपनी रुचि पर निर्भर है, क्योंकि "भिन्नरुचिर्हिलोकः।" बंगाली जिसको अपनी भाषा का सौष्ठव और लालित्य कहता है उसी को पंजाबी जनानापन कहकर हास्य का विषय बना देता है। दसवीं सदी के महाकवि राजशेखर के मत से संस्कृत की रचना रुक्ष और प्राकृत की सुकुमार है। किन्तु आज जब हम प्राकृत में टवर्ग ध्वनि की प्रचुरता देखते हैं, तब कवि की इस उक्ति में सन्देह होने लगता है।

वक्ता में **मुख-सुख अथवा प्रयत्न-लाघव** की प्रवृत्ति भी इसका कारण है। वह कम से कम प्रयत्न में तथा सहज से सहज ढङ्ग से अपने लक्ष्य पर पहुँचने का प्रयास करता है। थोड़े से थोड़े शब्दों में अधिक से अधिक भाव व्यक्त करना उसका स्वभाव होता है। इससे भाषा में ध्वनि सम्बन्धी परिवर्तन हो जाता है। दीर्घाकार शब्द इसी कारण संक्षिप्त रूप ग्रहण कर लेते हैं। भाषा के उन अंशों का जो बहुधा प्रयोग में आते हैं, मूल अंश तो रह जाता है किन्तु

शरीर विकल हो जाता है। अभिवादन के शब्द, व्यक्तियों के नाम, सर्वनाम, बहु-व्यवहृत अव्यय इत्यादि में पर्याप्त विकार होने पर भी मूल स्थिर रहता है। इसका मूल कारण व्यवहार बहुलता है, जिसके कारण इनका अस्तित्व मस्तिष्क में निश्चित स्थान प्राप्त कर लेता है पर प्रयोग की अधिकता के कारण इनको अंश रूप से बोलने से ही व्यवहार चल जाता है। उदाहरणार्थ- "मास्टर साहब"—रूप ने व्यवहार में आते-आते 'मास्टरसाब' और अन्त में 'मास्साब' का रूप धारण कर लिया है। 'धीरेन्द्र' का 'धीरेन', 'त्वया' का 'तुए', 'तुइ' और 'तू' रूप इस बात के द्योतक हैं कि मनुष्य स्वभाव से ही प्रयत्न-लाघव की ओर आकृष्ट होता है जिससे भाषण-ध्वनियों का रूप अन्तिम स्थिति पर पहुँचकर बिल्कुल परिवर्तित दिखाई पड़ता है, निस्सन्देह उप-शब्द में उसके मूल का अस्तित्व बना ही रहता है।

बलाघात और भावातिरेक से भी भाषा में परिवर्तन होता है और इसके मूल में भी सुविधाजन्य प्रयत्न-लाघव है। जिस ध्वनि या अर्थ पर अधिक बल दिया जाता है वह अन्य ध्वनियों या अर्थों को या तो कमजोर बना देता है अथव समाप्त कर देता है। भावातिरेक में ध्वनि का रूप विकृत हो जाता है। स्नेहाभिभूत होकर बच्चे के 'पाँव' को 'पइयाँ' और 'गाल' को 'गल्लू' कहने लगते हैं। ब्रजनारी की 'बाँह' का 'बहियाँ' रूप, मोहक मोहन के अतिशय प्रेमी होने का द्योतक है।

प्रयत्न-लाघव में **वर्ण-विपर्यय** भी हो जाता है। नखलऊ (लखनऊ) ,बूढ़ना (डूबना), चिह्न (चिह्न) आदि शब्द इस बात के द्योतक हैं कि दो-तीन ध्वनियाँ यदि शृंखला रूप में आती हैं तो इस भ्रम की सम्भावना हो जाती है। जब दो समान ध्वनियाँ या समान अक्षर पास-पास आते हैं तब प्रयत्न-लाघव से अनजान में ही उनमें एक का लोप हो जाता है। उदाहरणार्थ आभ्यान्तर का भीतर, शेववृध का शेवृध, ओष्ठ से ओठ, 'बड़ी जिज्जी' से 'बड़ी जी' में ध्वनि-लोप स्पष्ट है।

जब एक वर्ण दूसरे के कारण प्रयत्न-लाघव से सवर्गीय या सजातीय बन जाता है तो उसका **समीकरण** हो जाता है। जब परवर्ती ध्वनि पूर्ववर्ती के समान हो तो उसे पुरोगामी समीकरण, और जब पूर्ववर्ती ध्वनि पर-

वर्ती के समान हो जाती है तो उसे पश्चगामी समीकरण कहते हैं। उदाहरणार्थ— चक्र से चक्क, यस्य से जस्य और भक्त से भत्त तथा दुग्ध से दुद्ध आदि शब्द मानव के स्वाभाविक समीकरण प्रयत्न-लाघव के द्योतक हैं।

कभी-कभी **पार्श्ववर्ती सम ध्वनियों के उच्चारण में असुविधा जान पड़ती** है, तब प्रयत्न-लाघव के लिए उसको **विषम** कर लेते हैं। यथा—'मुकुट' का 'मउर', 'नूपुर' का 'नेउर' तथा 'कंकन' का 'कंगन'। कभी-कभी बोलते समय आरम्भ में ही कोई ऐसी ध्वनि या संयुक्ताक्षर आ जाता है जिसके उच्चारण में कठिनता प्रतीत होती है, तब उस शब्द के पूर्व ही कोई स्वर अनजान ही आकर सहायता करता है। 'स्त्र' 'स्न' आदि संयुक्ताक्षर आदि प्राकृत काल से ही उच्चारण ध्वनि में बाधक होते रहे हैं, इसी कारण आज स्त्री, स्नान, स्कूल, स्टेशन का इस्त्री, इस्नान, इसकूल, इस्टेशन के रूप में उच्चारण किया जाता है। सुविधा के इस प्रयोग को अग्रागम कहा जाता है।

प्रयत्न-लाघव के कारण कभी-कभी **स्थान-विपर्यय** भी हो जाता है। विदेशी शब्दों के उच्चारण में अपढ़ जातियाँ प्रायः अपूर्ण अनुकरण के द्वारा स्थान परिवर्तन कर देती हैं। 'टायम' का 'टेम' 'हास्पिटल' का 'अस्पताल', 'वक्त' का 'बखत' आदि, इसी के उदाहरण हैं। प्रयाग में यूनीवर्सिटी को प्रायः ताँगे वाले 'अनवरसिटी कहते हैं और 'आर्ट कालेज' (Art College) का व्यवहृत रूप 'आठ कौलेज' कर दिया है, जो प्रयत्न-लाघव और अपूर्ण अनुकरण का ज्वलन्त उदाहरण है।

भाषा के आभ्यान्तर रूप में परिवर्तन और विकास होने के साथ-साथ उसके बाह्य रूप में भी परिवर्तन होता है। बाह्य रूप में परिवर्तन के कारणों पर विचार करते हुए उनकी अनेक स्थितियाँ पायी जाती हैं।

असाक्षात् कारणों से भाषा की परिवर्तनशीलता पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जब एक जाति दूसरी जाति पर अपना आधिपत्य जमाती है तो स्वभावतः भाषा में परिवर्तन द्रुत गति से होने लगते हैं। एक विदेशी जाति दूसरी जाति के उच्चारण को पूर्णतः नहीं समझ सकती, और दो विभिन्न जातियों के लोगों के उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों की बनावट में भी अन्तर होता है।

इसीलिए एक देश में उत्पन्न मनुष्य के लिए दूसरे देश की अनेक ध्वनियों का उच्चारण असम्भव सा हो जाता है। उदाहरणार्थ—संस्कृत का 'स' फारसी में 'ह' हो जाता है। मध्यदेश का 'स' बंगाली में 'श' हो जाता है। अतः भौगोलिक परिस्थिति के कारण भी भाषा में परिवर्तन होते रहते हैं।

सांस्कृतिक विभेद भाषा में भेद उत्पन्न करता है। समाज का प्राण उसकी संस्कृति है अतः उसका भी प्रभाव भाषा पर पड़ता है और उसके कारण भाषा में विकास होता है। व्यापार, राजनीति, धर्म-प्रचार आदि के कारण कभी-कभी दो संस्कृतियों का सम्मिलन होता है। भारत में ऐसा सम्मिलन कम से कम पाँच बार तो हुआ ही है। आस्ट्रिकों और द्राविड़ों का, द्राविड़ों और आर्यों का, आर्यों और यवनों का, आर्यों, तुर्कों और मुसलमानों का तथा भारतीयों और योरुपवालों का। इन संस्कृतियों के सम्मिलन में भाषा पर दो प्रकार के प्रभाव—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष—सम्भव होते हैं। विदेशी जातियों से विचार-विनिमय के कारण उनके अपने शब्द भाषा में मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ—हिन्दी में आस्ट्रिकों के गंगादि; द्राविड़ों के नीर, अलि, मीन आदि; यवनों के दाम, सुरंग आदि; तुर्कों और मुसलमानों के कमीज, बजार आदि सैकड़ों शब्द प्रचलित हैं।

भाषा के विकास में **सादृश्य** का भी पर्याप्त महत्त्व है। इसे आभ्यंतर और बाह्य किसी भी कारण के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता, क्योंकि यह दोनों में आता है। उदाहरणार्थ—'करिन्' शब्द से तृतीया के एकवचन में 'करिणा' बनने से 'हरि' का भी 'हरिणा' सादृश्य से बनाया गया है। इसी प्रकार 'पाश्चात्य' के सादृश्य पर 'पौर्वात्य' शब्द व्यवहार में आ रहा है।

अतः यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि भाषा की एक अविच्छिन्न और संतत् धारा होने पर भी उसमें काल और स्थान-भेद से परिवर्तन होता रहता है।

प्रश्न १४—रूप-परिवर्तन किसे कहते हैं? रूप-विकार के कारणों पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—शब्दों में जो विकार भाषा के गठन के सम्बन्ध में होते हैं उन्हें रूप-परिवर्तन कहते हैं! परिवर्तन ध्वनि, रूप और अर्थ—तीनों में होते हैं। ध्वनि का सम्बन्ध केवल उच्चारण से होता है। मुख-सुख के लिए जो प्रयत्न

लाघव होता है उसे तो ध्वनि-परिवर्तन कहते हैं, पर शब्दों की बनावट में भी परिवर्तन हो जाता है। प्रत्यय, विभक्ति आदि के द्वारा विकार उत्पन्न हो जाता है। वत्स से बछड़ा बना है. इसमें 'त्स,— छ' हुआ है। यह विकार तो ध्वनि सम्बन्धी है, पर वत्स का बछड़ा होने में विसर्ग के स्थान में 'आ' प्रत्यय लगाकर फिर स्त्री-लिंग में 'ई' (बछड़ी) तथा बहुवचन में 'ए' (बछड़े) आदि के जो परिवर्तन होते हैं इन्हें रूपात्मक परिवर्तन कहा जाता है। इसका सम्बन्ध अर्थ से भी नहीं है। लोटा से लुटिया बनता है। अर्थ की दृष्टि से लुटिया का आकार छोटा है, पर रूपमात्र में तो उसकी बनावट से ही सम्बन्ध है। तात्पर्य यह कि रूप-विकार का सम्बन्ध शब्दों के व्याकरणात्मक रूपों से है, ध्वनि या अर्थ से नहीं। व्याकरणात्मक रूपों के प्रत्ययादि के जो परिवर्तन हैं वे ही रूप- विकार के अन्तर्गत हैं। इसलिए इन्हें रूप-मात्र कहा जाता है। लोटा या लुटिया कहने का जो अर्थ है वह तो अर्थ-मात्र और जो बनावट है वह रूप-मात्र है।

इस प्रकार रूप-परिवर्तन का सम्बन्ध शब्द के व्याकरण के रूपों से है। व्याकरण में संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि होते हैं। संज्ञा में लिंग-भेद, वचन-भेद और कारक-भेद होते हैं। प्रत्येक के अपने प्रत्यय हैं; जैसे—'स्त्री' शब्द बहुवचन में 'स्त्रियाँ' या स्त्रियों में बदलता है। गाय से गायें भी बनता है। लड़का से लड़की लिंग-भेद से बनता है। इस प्रकार ई, याँ, ये और आदि विकार लिङ्ग, वचन और कारकों के कारण होते जाते हैं। सर्वनामों में संस्कृत के अहम्, त्वम्, एषः, क, यः आदि के बदले औ, मैं, मुझ, तुझ, उस, उन आदि में परिवर्तित हुए। संस्कृत में संज्ञा और सर्वनाम शब्दों में विभक्तियाँ लगती थीं, अः, औः, आः, एण, अभ्याम्, ऐः के स्थान पर हिन्दी में, को, से लिए, में, पर आदि सम्बन्ध-सूचक वर्ण और शब्द बन गये। संस्कृत में क्रियाएँ संयोगात्मक भी हिन्दी में वियुक्त हो गयीं। 'गच्छति' एक शब्द था, हिन्दी में पहुँचते-पहुँचते 'जाता है' दो शब्द हो गये। संस्कृत में क्रियाओं के रूप बहुत थे। दस लकार, तीन पुरुष, तीन वचन और तीन लिंग थे। हिन्दी में आकर इन रूपों में कमी हो गयी। इन्हीं सब विकारों और रूपों की वृद्धि या कमी को रूप-परिवर्तन के अन्तर्गत रखा जाता है।

रूप-विकार में भी ध्वनि-विकार की भाँति प्रयास की बचत ही प्रधान कारण है। बच्चा तथा विदेशी नयी ध्वनि का अपूर्ण अनुकरण करते हैं। इनके अपूर्ण अनुकरण से शब्दों के रूपों में परिवर्तन हो जाता है। क्रमशः इन परिवर्तनों का चलन हो जाता है।

सभी भाषाओं में पदों के रूपों में एकता लाने की प्रवृत्ति के उदाहरण मिलते है। संस्कृत में 'आकारान्त' शब्द अधिक हैं। 'इकारान्त', 'उकारान्त' तथा 'व्यंजनान्त' शब्द कम हैं अत: आकारान्त शब्द अधिक स्थिर रहे और दूसरे कम होते गये। आकारान्त शब्दों के रूप ही दूसरे शब्दों में प्राकृत में मिलने लगे। प्राकृत में पुत्रस्य और सर्वस्व के रूप—पुत्तस्य और सव्वस्स बने। 'वायु' शब्द से सं० वायोः के स्थान पर वाऊस्स बन गया।

एकरूपता के उदाहरण क्रिया-पदों में मिलते हैं। संस्कृत में 'गम्' धातु के दो रूप चलते हैं। वर्तमान में गच्छति और भविष्य में गमिष्यति। प्राकृत में एकरूपता की प्रवृत्ति मिलती है। पढ़ना से 'पढ़वाना' (प्रेरणार्थ) बोला जाता है। चलना में 'चला' बनता है अत: कहीं-कहीं करना से 'करा' (किये के स्थान पर) बोला जाता है।

एकरूपता की प्रवृत्ति में सादृश्य (Anology) मूल कारण है। जब अनेक रूप एक प्रकार के होते हैं और उनमें कुछ थोड़े से भिन्न होते हैं तो मस्तिष्क उनकी इस भिन्नता को बोझ समझता है। इस बोझ को दूर करने के लिए वह सादृश्य का प्रयोग करता है। संस्कृत में नपुंसक लिङ्ग था। अपभ्रंश काल में नपुंसक लिंग के दो रूप भी पुलिङ्ग के समान बन गये। परिणाम यह हुआ कि नपुंसक लिङ्ग समाप्त हो गया। हिन्दी में लिङ्ग-भेद इसलिए अनियम हो गया। सारे शब्द सादृश्य के आधार पर बनते है, लिङ्ग के आधार पर नहीं। सूर्य और सविता समानार्थक है पर 'सविता' शब्द स्त्रीलिंग है क्योंकि सविता का लता से सादृश्य है पर सूर्य आकारान्त है अतः पुल्लिङ्ग है। इसी प्रकार शौर्य तथा सौन्दर्य पुल्लिङ्ग और शूरता और सुन्दरता स्त्री-लिङ्ग हैं।

सादृश्य के लिए भिन्न शब्द समान रूप से बना लिए जाते हैं पर अनेक शब्दों के सादृश्य को देखकर मानसिक उलझन भी हो जाती है। इस उलझन

को दूर करने के लिए अनेक बार अनेकरूपता रखी जाती है। भ्रान्ति को दूर करने के लिए एकरूपता नहीं आने पाती। प्राकृत में ध्वनि विकास के कारण पुत्राः और पुत्रान् से 'पुत्त' बना। पर प्रथमा और द्वितीया में एक ही रूप 'पुत्ता' भ्रामक सिद्ध हुआ। इनको दूर करने के लिए 'पुत्ते' रूप की सृष्टि हुई। अवधी में एक ही शब्द को एकवचन और बहुवचन में प्रयुक्त न करके भेद रखते हैं। एकवचन में 'लरिका' और बहुवचन में 'लरिकन' या एक वचन में 'गाय' और बहुवचन में 'गइयन'।

संक्षेप में रूप-विकार में भी प्रयत्न-लाघव का बड़ा हाथ है। एकरूपता और अनेकरूपता की प्रवृत्ति ही रूप-विकारों का मूल कारण है।

प्रश्न १५—शब्दार्थ परिवर्तन के मुख्य कारण कौन-से माने जाते हैं ? उदाहरण सहित उत्तर दीजिए।

अथवा

अर्थ विकास की दिशाओं और कारणों पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—प्रत्येक सार्थक शब्द अपने साथ अपना एक अर्थ, भाव या विचार रखता है। यही अर्थ उस शब्द का प्राण है। धीरे-धीरे उसमें विकास या परिवर्तन होता रहता है। अर्थ-विचार के अन्तर्गत किसी शब्द के अर्थ-तत्त्व में होने वाले परिवर्तन या विकास के कारण तथा उनकी दिशा पर विचार किया जाता है। उदाहरणार्थ—'गँवारू' का शाब्दिक अर्थ है 'गाँव का रहने वाला' परन्तु आज उसका प्रचलित अर्थ 'असभ्य' या 'असंस्कृत' है। अतः इस परिवर्तन का कारण भी विचारणीय है। गाँव के अधिकतर लोग असभ्य होते हैं। अनुमानतः यह ज्ञात होता है कि गाँव में रहने वालों के असभ्य होने के कारण सांकेतिक रूप में पहले यह प्रयोग चला होगा और बाद में अपने दूसरे अर्थ में रूढ़ हो गया होगा।

'तैल' शब्द जिसका अर्थ आरम्भ में 'तिल का सार' था, आज इतना परिवर्तित हो गया है कि केवल सरसों, नारियल, मूँगफली के तेल को ही नहीं अपितु मिट्टी, साँप और मछली के तेल को भी तेल कहते हैं। वैदिक संस्कृत में 'मृग' पशु-मात्र का वाचक है परन्तु आज इसका अर्थ सीमित होकर 'हरिण' या 'हिरण' हो गया है।

प्रकरण द्वारा भी शब्द के अर्थ में परिवर्तन होता है। जब कोई व्यक्ति किसी वाक्य में विशेष शब्द का व्यवहार करता है तब वह उसे अनेक अर्थों के होते हुए भी केवल एक अर्थ में लाता है और प्रायः एक श्रोता भी उसे उसी अर्थ में ग्रहण करता है। रसोई में बैठा हुआ रसोइया जब नौकर से 'सैन्धवमानय' कहे तो नौकर नमक ही लाकर देगा 'घोड़ा' नहीं। यदि दरबार में जाने के लिए तैयार सरदार साईस से 'सैन्धवमानय' कहे तो साईस घोड़ा ही लायेगा, नमक नहीं। प्रकरण ही इस प्रकार शब्द के अर्थ का निर्णायक है। एक समय में एक ही अर्थ उपस्थित रहता है, उस समय अन्य अर्थ अलक्षित से रहते हैं यद्यपि वे अन्तःकरण में सुप्तावस्था में रहते हैं।

काल-भेद के कारण भी अर्थ-परिवर्तन होता रहता है। संस्कृत में 'साहस' शब्द का प्रयोग हत्या, व्यभिचार आदि अनुचित अथवा असभ्य कार्यों के लिए प्रयुक्त होता था, परन्तु आज 'साहसी' शब्द को अपने लिए प्रयुक्त समझकर मनुष्य प्रसन्नता से फूल उठता है। आज उत्साही मनुष्य के लिए इसका प्रयोग किया जाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि अर्थ-परिवर्तन या विकास की दिशा एक हीं नहीं होती। कुछ शब्द पहले संकुचित अर्थ रखते थे, विकास के पश्चात् उनके अर्थ का विस्तार हो गया। इसके विपरीत कुछ शब्द और भी संकुचित हो गये। इस प्रकार कुछ अर्थ-तत्त्वों का पतन और कुछ का विकास हुआ।

अर्थ का विकास दिशाओं में होता है (१) **अर्थ-विस्तार,** (२) **अर्थ-संकोच** और (३) **अर्थादेश**। अर्थ-विकार या अर्थ-परिवर्तन सदा इन्हीं तीन दशाओं में होता है।

अर्थ-विस्तार—शब्दों का अर्थ जब सीमित क्षेत्र से निकल कर विस्तार पा जाता है तो उसे 'अर्थ-विस्तार' कहते हैं। भाषा में अर्थ-विस्तार के उदाहरण प्रायः कम ही मिलते हैं, क्योंकि भाषा में ज्यों-ज्यों विकास होता है उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म और सीमित से सीमित वस्तुओं और भावनाओं के प्रकटीकरण की शक्ति आती जाती है। इस प्रकार भाषा में अर्थ-संकोच ही स्वाभाविक है। भाषा में अर्थ-विस्तार होता है, परन्तु बहुत कम। उदाहरणार्थ—

संस्कृत के 'कृत्य' शब्द का प्रयोग आने वाले कल के लिए तथा 'परश्व' का आने वाले परसों के लिए होता था, परन्तु अब हिन्दी में दोनों का अर्थ-विस्तार हो गया है। दोनों ही कल और परसों, बीते हुए तथा आने वाले दोनों ही दिनों के लिये प्रयुक्त होते हैं। 'स्याही' शब्द का प्रयोग काली के अर्थ में केवल काली स्याही के लिए होता था, परन्तु अब विकसित होते-होते लाल और नीली स्याही के रूप में भी प्रयुक्त होता है। 'गवेषणा' शब्द पहले गाय को ढूँढ़ने के प्रयोग में आता था, पर आज किसी भी वस्तु की खोज के लिए इसका प्रयोग होता है।

अर्थ-संकोच—भाषा के विकास में अर्थ-संकोच का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। भाषा के आरम्भ काल में सभी शब्द सामान्य रहे, और सभ्यता के विकास के साथ विशिष्ट की भावना आती गयी और इस प्रकार अर्थ-संकोच होता गया। इसीलिए ब्रील ने कहा है कि राष्ट्र या जाति जितनी ही अधिक विकसित होगी, उसकी भाषा में अर्थ संकोच के उदाहरण उतने ही अथिक मिलेंगे। अँग्रेजी के 'Deer' तथा संस्कृत के 'मृग' शब्द का प्रयोग पहले जानवर-मात्र के लिए होता था, पर क्रमशः वर्त्तमान अङ्गरेजी तथा हिन्दी में इनका प्रयोग 'हिरण' के लिए ही होता है। 'गो' शब्द 'गम्' धातु से निकला है जिसका अर्थ है 'गमन करने वाला' पर अब उसका प्रयोग केवल 'गाय' के लिए होता है। ऋग्वेद के कुछ पुराने भागों में 'असुर' शब्द देवतावाचक है और इसी अर्थ में ईरानी (अहुर) भी मिलता है किन्तु बाद की संस्कृत में यही शब्द राक्षस, दैत्य आदि का बोधक हो गया और 'अ' को निषेधात्मक समझ-कर 'सुर' शब्द देवतावाचक समझा गया।

अर्थादेश— भाव-साहचर्य के कारण कभी-कभी शब्द के प्रधान अर्थ के साथ एक गौण अर्थ भी चलने लगता है। कुछ समय पश्चात् ऐसा होता है कि प्रधान अर्थ का धीरे-धीरे लोप हो जाता है और गौण अर्थ में ही शब्द प्रयुक्त होने लगता है। इस प्रकार एक अर्थ के लुप्त होने तथा नवीन अर्थ के आ जाने को 'अर्थादेश' कहते है। उदाहरणार्थ—'दुहितृ' शब्द का अर्थ पहले 'दुहने वाली था', परन्तु अब इसका गौण अर्थ 'कन्या' प्रचलित हो गया। संस्कृत का 'वाटिका' शब्द बँगला में 'बाड़ी' हो गया और उसका अर्थ बगीचे

से हटकर 'घर' हो गया। 'मौन' शब्द मुनि से बना है और आरम्भ में इसका प्रयोग मुनियों के विशुद्ध आचरण के लिए होता था। मुनि लोग अधिकतर शान्त्यर्थ मौन रहते थे अतः धीरे-धीरे 'मौन' शब्द का प्रयोग उनकी चुप्पी के लिए ही होने लगा। आज वह केवल मुनियों की चुप्पी के लिए ही न होकर, साधारण चुप्पी के लिए प्रयुक्त होने लगा है और कभी-कभी स्वीकृति का लक्षण भी माना जाता है। (मौनं स्वीकृति लक्षणम्)।

उपर्युक्त तीन दिशाओं में अर्थ-परिवर्तन होने पर कभी अर्थ का उत्कर्ष और कभी अपकर्ष हो जाता है। इसे **अर्थोत्कर्ष** और **अर्थापकर्ष** कहते हैं। **अर्थापकर्ष** का भाषा के शब्द-समूह पर बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। जिन शब्दों में अर्थापकर्ष अधिक हो जाता है, वे धीरे-धीरे अश्लील होने के कारण शब्द-समूह से निकाल दिये जाते हैं, और उनका स्थान नवागत शब्दों द्वारा पूर्ण किया जाता है। आज काम-शास्त्र सम्बन्धी अनेक शब्द इतने घृणित समझे जाने लगे हैं कि एकान्त में भी उनका उच्चारण नहीं किया जा सकता। उन सभी शब्दों का अर्थापकर्ष हो गया है। प्रायः देखा जाता है कि तत्सम् शब्द ठीक अर्थ में प्रयुक्त होता है, पर उससे निकले तद्भव या अर्द्ध तद्भव शब्द का अर्थापकर्ष हो जाता है और वह हीन अर्थ में प्रयुक्त होने लगता है। 'गर्भिणी' और 'गाभिन' शब्दों में यह बात स्पष्टतः परिलक्षित होती है।

अर्थोत्कर्ष—कभी-कभी शब्दों के अर्थ परिवर्तित होते-होते पहले से अधिक उन्नत हो जाते हैं, अर्थात् उनका उत्कर्ष हो जाता है। संस्कृत में 'मुग्ध' का प्रयोग 'मूढ़' के अर्थ में होता था। पर आज उसमें मूढ़ता की तनिक भी गंध नहीं है। मुग्ध' शब्द आज अत्यधिक प्रसन्नता अथवा उत्कट मोह के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार के शब्दों के उत्कर्ष में देश के मनोविज्ञान का कितना सुन्दर प्रतिबिम्ब है।

अर्थ-परिवर्तन के कारण—मनुष्य के मनोविज्ञान में सर्वदा परिवर्तन और परिवर्द्धन होते रहते है, जिसके फलस्वरूप उसके विचार भी एक समान नहीं रह पाते। भाषा विचारों की बालिका है, अतः उसे भी विचारों का साथ देना पड़ता है। इस साथ देने के प्रयास में ही उसके शब्दों में अर्थ-परिवर्तन आ जाता है। परन्तु इस परिवर्तन के मूल में किन कारणों का अस्तित्व रहता है,

यह भी विचारणीय है। किसी शब्द के अर्थ-परिवर्तन के मूल मे स्थित कारणों पर विचार करते हुए यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि भाव-साहचर्य ही घूम-फिर कर अधिक अर्थ-परिवर्तनों में कार्य करता है। इसके अतिरिक्त कुछ सामाजिक और भौगोलिक कारण भी होते है, पर इनका प्रभाव भी सीधा न पड़कर उसी मार्ग से पड़ता हैं। कभी-कभी व्यक्ति या सम्प्रदाय में विचार-विभिन्नता के कारण भी अर्थ-परिवर्तन हो जाता है।

अर्थ परिवर्तन के निम्न कारण हैं—

१. बल के अपसरण के कारण अर्थों में परिवर्तन हो जाता है। किसी शब्द के उच्चारण में यदि केवल एक ध्वनि पर बल दिया जाय तो धीरे-धीरे शेष ध्वनियाँ कमजोर पड़कर लुप्त हो जाती हैं। ध्वनि की भाँति अर्थ में भी यह कार्य होता है। किसी शब्द के अर्थ के प्रधान पक्ष से हटकर बल यदि दूसरे पर आ जाता है तो धीरे-धीरे वही अर्थ प्रधान हो जाता है और प्रधान अर्थ बिल्कुल लुप्त हो जाता है। उदाहरणार्थ—'गोस्वामी' शब्द का आरम्भ का अर्थ 'बहुत सी गायों का स्वामी' था। बहुत सी गायों के स्वामी का धनी होना और फिर उसका सम्मानित होना स्वाभाविक है। अतः धीरे-धीरे इसका अर्थ मानवीय हुआ। वहीं एक भावना कार्य करने लगी 'जो अधिक गायों की सेवा करेगा वह धर्मात्मा भी होगा।' इस प्रकार बल के अपसरण से 'गोस्वामी' शब्द 'गायों के स्वामी' अर्थ से चलकर 'माननीय धार्मिक व्यक्ति' का वाचन हो गया। इस अर्थ में यह मध्ययुगीन संतों के नाम के साथ प्रयुक्त होता है। अरबी का शब्द 'गुलाम' तथा अँग्रेजी का 'नेव' (Knave) ये दोनों भी इसी वर्ग में आते हैं। आरम्भ में दोनों का अर्थ 'लड़का' था, पर बल के अपसरण के कारण दोनों में अर्थापकर्ष हो गया है।

२. पीढ़ी-परिवर्तन के कारण भी अर्थों में परिवर्तन होता है। मनुष्य अनुकरणप्रिय प्राणी है, पर स्वयं अपूर्ण होने के कारण वह शुद्ध और पूर्ण अनुकरण नहीं कर सकता। यही कारण है कि पीढ़ी-परिवर्तन के समय जब पुरानी पीढ़ी स्वर्गीय रथ पर चढ़ती है और नयी पीढ़ी मुकुलित होने लगती है तो प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन होने लगते हैं। नयी पीढ़ी अपूर्ण अनुकरण के कारण अनजान में ही नये रास्ते पर आ खड़ी होती है। यही परिवर्तन का

मूल है। 'पत्र' शब्द का इतिहास इस दृष्टिकोण से बड़ा मनोरंजक है। आरम्भ में लोगों ने 'पत्र' या पत्ते पर लिखना आरम्भ किया। कुछ समय तक पत्ते पर लिखा जाता रहा। दूसरी पीढ़ी आयी तो उसने यही सोचा कि जिस पर लिखा जाता है, उसे पत्र कहते हैं। उसने यह न जाना कि पत्र पर लिखे जाने के कारण ही उसे पत्र कहा जाता है। आगे चलकर भोज वृक्ष की छाल को भी लिखने के काम में आने के कारण भोज-पत्र या भूर्ज-पत्र कहा गया। आज भी सोने चाँदी के पत्तर सोनार तथा लोहे के लोहार बनाते हैं। इतना ही नहीं, पत्तर में पतला होने का प्रधान गुण देख कर किसी पीढ़ी ने तो आलंकारिक प्रयोग में इस संज्ञा को विशेषण बना दिया और यही 'पत्र' या 'पत्तर' भोजपुरी में 'पातर' और खड़ी बोली में 'पतला' भी हो गया।

३. एक ही भाषा में एक ही समय में समाज के वातावरण के अनुसार शब्दों का अर्थ परिवर्तित होता रहता है। एक ही जन-समुदाय में दैनिक व्यवहार में एक शब्द का अर्थ एक आदमी के व्यवहार में एक, और दूसरे के प्रयोग में दूसरा हो सकता है। सभा में व्याख्यान देने वाले का 'भाई,' और 'बहन,' कुछ दूसरा अर्थ रखता है और घर में 'भाई-बहन' का प्रयोग भिन्न अर्थ का बोध कराता है। माली 'कलम' शब्द एक अर्थ में और विद्यार्थी दूसरे अर्थ में प्रयुक्त करता है। पढ़ाने वाले अध्यापक का बेंत, कुरसी बुनने वाले का बेंत अथवा शाम को टहलने वाले सज्जन का बेंत एक-दूसरे से भिन्न हैं।

४. नम्रता-प्रदर्शन के कारण भी शब्द के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। जब कोई मनुष्य किसी से पूछता है कि आपका दौलतखाना कहाँ है, तो दौलतखाने से आशय 'धन का भण्डार' न होकर 'घर' होता है। इसी प्रकार अपने घर को लोग गरीबखाना कहते हैं। हिन्दी में किसी का नाम पूछने के लिए पूछा जाता है कि "श्रीमान् किन-किन अक्षरों को सुशोभित करते हैं", अथवा आप कहाँ से आ रहे हैं, पूछने के लिए ? "आप किस देश या स्थल की श्री को क्षीण करके आ रहे हैं ?" का प्रयोग किया जाता हैं। उर्दू राज-दरबारों में विकसित होने के कारण सम्भवत: इन सबसे आगे है। उसमें 'आप' के लिए 'गरीब-परवर', 'जहाँपनाह' आदि का प्रयोग चलता है।

नम्रता-प्रदर्शन में जापानी भाषा संसार में सबसे उन्नत है। उपर्युक्त प्रयोगों में नम्रता प्रदर्शन के कारण ही शब्दों के अर्थों में परिवर्तन हुआ है।

५. अशोभन के लिए शोभन भाषा का प्रयोग करने से अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। संसार में अशोभन भावनाएँ और कार्य हैं, पर यथा-साध्य मानव मस्तिष्क उनसे दूर रहने के लिए भावनाओं को शोभन शब्दों में ढँककर सन्तोष की साँस लेता है। उदाहरणार्थ—गर्भिणी नारी को 'गर्भिणी' न कहकर 'पाँव भारी होना' कहते हैं। अँग्रेजी में इसे 'टू बी इन फेमिली वे' (To be in family way) कहा जाता है। काम-शास्त्र से सम्बन्धित अवयवों तथा कार्यों के विषय में भी प्रयोग घुमा-फिरा कर दिये जाते हैं।

६. व्यंग्य के कारण कभी-कभी शब्दों में अर्थ-परिवर्तन हो जाता है और फिर वे उसी नये अर्थ में प्रचलित होने लगते हैं। साहित्य में या बोल-चाल में 'पूरे पण्डित', 'पूरे देवता' आदि का अर्थ 'मूर्ख' लिया जाता है। इसी पर 'पूरे युधिष्ठिर के अवतार' का अर्थ 'असत्यवादी', 'भाग्य के सबसे बड़े साथी' का अर्थ 'अभागा', 'लक्ष्मी के पति' का अर्थ 'दीन' लिया जाता है। ढोंगी को 'महात्मा' इसीलिए कहा जाता है।

७. भावावेश में स्वभावतः असावधानी से शब्द-निःसृत हो जाते हैं। जब पिता, गुरु प्रेम के आवेश में 'अरे तू बड़ा पाजी है' कहते हैं तो पाजी का अर्थ वहाँ अनुचित न होकर केवल प्यार होता है। क्रोध के भावावेश में भी लोग इतने पागल हो उठते हैं कि शब्दों का विचित्र प्रयोग कर देते हैं। उनमें भी अर्थ-परिवर्तन दिखाई देता है। 'अच्छा बेटा फिर आना तो पता चलेगा' में 'बेटा' शब्द प्रेम-सुधा से लिपटा हुआ, 'पुत्र' शब्द का वाचक नहीं है वरन् यहाँ 'बेटा' शब्द से क्रोधी व्यक्ति अपने साहस और शत्रु की कायरता को प्रकट करता है।

८. अलङ्कारों के प्रयोग से भी शब्दार्थों में परिवर्तन होता रहता है कभी-कभी स्थूल या प्रत्यक्ष वस्तुओं या उनके अवयवों के चित्र को स्पष्ट करने के लिए अलङ्कारों का प्रयोग किया जाता है। मानव के स्वभाव को स्पष्ट करने के लिये भी निर्जीव वस्तुओं के आधार पर अलंकारों का आश्रय लिया जाता

है। उदाहरणार्थ—पत्थर (कड़े हृदय का), बिना पेंदी का लोटा (जिसका कुछ निश्चय न हो), पानी (नरम दिल) का प्रयोग भावों को अधिक स्पष्ट करने के लिये किया गया है। सिंह आ रहा है से पता चल जाता है कि कोई वीर व्यक्ति आ रहा है। ब्रील के अनुसार अन्य सभी कारणों से शब्दों में अर्थ-परिवर्तन शनैः शनैः होता है पर अलङ्कारों के कारण एक क्षण में अर्थ-परिवर्तन हो जाता है।

प्रश्न १६—ध्वनियों का वर्गीकरण किन सिद्धान्तों के आधार पर किया जाता है? उनके आधार पर ध्वनियों का वर्गीकरण कीजिए।

उत्तर—जब श्वास भीतर से बाहर की ओर श्वास नलिका में होकर आती है तो उसमें स्वर-यन्त्र या मुख-विवर या नासिका-विवर आदि में कुछ रुकावट उत्पन्न होने से अनेक ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। इन ध्वनियों का वर्गीकरण दो बातों पर किया जाता है—स्थान और प्रयत्न। भीरत से आती हुई श्वास को जिस स्थान पर विकृत करने हैं, उसको ध्वनि का स्थान कहते हैं। जैसे यदि वह ध्वनि दाँतों के पास आकर विकृत होती हो तो वह ध्वनि दन्त्य कहलाएगी। त् और स् दन्त्य ध्वनियाँ हैं। कारण यह है कि भीतर से आने वाली श्वास को जिह्वा के अग्र भाग ने उठकर दाँतों के पास पहुँच कर रोक दिया। इस रुकावट के करने में हमें जो कार्य करना पड़ा उसे प्रयत्न कहते हैं।

विद्वानों ने अत्यन्त प्राचीन काल से ध्वनियों के दो भेद किए हैं—स्वर और व्यंजना। स्वर उस ध्वनि को कहते हैं जो स्वतः बिना किसी अन्य ध्वनि की सहायता के बोली जा सके और उसमें अक्षर बनाने की शक्ति हो। व्यंजन वह ध्वनि है जिसका उच्चारण विना किसी अन्य ध्वनि की सहायता के स्वतः न हो सके—बिना स्वर की सहायता के अक्षर न बना सके। ये लक्षण अत्यन्त प्राचीन काल से सर्वमान्य थे। परन्तु ध्वनि विज्ञान के आधुनिक अनुसन्धानों से ज्ञात हुआ है कि दोनों के लक्षण सर्वांश ठीक नहीं हैं। प्रयोगों से बता दिया गया है कि बिना स्वर की सहायता के भी व्यंजन का

उच्चारण हो सकता है। स्, ल्, आदि अकेली ध्वनियों को यदि सावधानी से बोलें तो बिना स्वर की किंचित भी सहायता लिए इन्हे बोल सकते हैं। उदाहरणतः अँग्रेजी के गार्डन garden और बोटल Bottle शब्दों के द्वितीय अक्षर 'डन' और 'टल' में कोई स्वर नहीं है। तब भी वे अक्षर बन गए हैं। इनमें न और ल, वर्णों ने अक्षर बनाने में सहायता दी।

भाषा-विज्ञान में हम स्वर और व्यंजन की परिभाषा निम्न प्रकार से करते हैं। ध्वनि विज्ञान के अनुसार स्वर वह सघोष ध्वनि है जिसके उच्चारण में श्वास नलिका से आती हुई श्वास धारा अबाध गति से मुख से निकलती जाती है और मुख-विवर में ऐसा कोई संकोच नहीं होता जिससे किंचित मात्र भी संघर्ष या स्पर्श हो। आ, ई, ऐ आदि सानुनासिक स्वरों में श्वास की कुछ मात्रा नासिका-विवर से भी अबाध गति से निकलती रहती है। स्वर के अतिरिक्त शेष व्यंजन हैं।

व्यंजन वह सघोष अथवा अघोष ध्वनि है जिसके मुखविवर से निकलने में पूर्णरूप से अथवा कुछ थोड़ी मात्रा में बाधा पड़ती है। इस प्रकार स्वर और व्यंजन में स्थूल रूप से भेद बताने वाला लक्षण यह है कि श्वास में कोई बाधा पड़ती है या नहीं। बाधा-रहित होने पर स्वर और बाधा सहित होने पर व्यंजन माना जाता है। किन्हीं किन्हीं व्यंजनों में और तद्रूप स्वरों में यह भेद की दीवाल बहुत थोड़ी है। वैदिक भाषा से भी पूर्व आर्यों की जिस सर्वप्रथम भाषा के रूप मिलते हैं उसमें छः अन्तस्थ (बीच की) ध्वनियाँ थीं जो शब्द में अपने स्थान के अनुसार ही स्वर और व्यंजन कहलाती थीं। उस समय व्यंजन य्, र्, ल्, व्, म्, न् और स्वर इ, ऋ, ऌ, तथा म, और न माने जाते थे। वैदिक और उत्तरकालीन संस्कृत में अन्तिम स्वर म और न, लुप्त हो गए। इनका स्थान अ ने ले लिया है। संस्कृत के बाकी चार अन्तस्थ स्वरों में से भी, कुछ समय बाद ऋ और ल् का भी लोप हो गया। य् और व् व्यंजन रूप में बहुत कमजोर पड़ गए। सारांश यह है कि वाक्य की ध्वनियों में यह स्वरतत्व या व्यंजनतत्व वाक्य की ध्वनियों में उनके विशेष स्थान पर ही निर्भर है।

ध्वनियों का वर्गीकरण

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से ध्वनियों का वर्गीकरण साधारणतः उच्चारण स्थान और उच्चारण रीति की दृष्टि से श्वास और नाद में किया जाता है। कण्ठ पिटक में दो ओठों के समान स्वरतन्त्रियों के बीच जो स्थान होता है उसे काकल्य या ग्लटिस कहते हैं। ये स्वरतन्त्रियाँ रबर की भाँति स्थिति व्यापक होती हैं। जब ये मिली रहती हैं तब हवा धक्का देकर उनके बीच में से निकलती है तब जो ध्वनि उत्पन्न होती है उसे नाद कहते हैं। जब स्वर-तन्त्रियाँ एक दूसरे से दूर होती हैं और हवा इनके बीच में से निकलती है तो जो ध्वनि उत्पन्न होती है उसे श्वास कहते हैं। काकल्य की विभिन्न अवस्थाओं में फुसफुसाहट वाली ध्वनि भी प्रकट होती है जिसे जपित अथवा उपाँशु ध्वनि भी कहते हैं।

इन ध्वनियो के मुख के बाहर आने के प्रकारों के ही स्वर और व्यंजन दो भेद किए गए हैं। जब स्वर यन्त्र के तार आपस में झंकृत होकर भीतर से आती हुई श्वास को विकृत करते हैं तब घोष उत्पन्न होता है जिसकी स्थिति सभी स्वरों मे रहती है। स्वर विज्ञान के अनुसार वह सघोष ध्वनि है, जिसके उच्चारण में श्वास नलिका से आती हुई श्वास अबाधगति से मुख से निकल जाती है। स्वर आँ, ईं, एँ, आदि सानुनासिक स्वरों के श्वास की कुछ मात्रा नासिका विवर से भी अबाधगति से निकलती रहती है। स्वर के अतिरिक्त शेष सभी ध्वनियाँ व्यंजन हैं। व्यंजन वह सघोष अथवा अघोष ध्वनि है जिसके मुख विवर से निकलने में पूर्ण रूप से अथवा थोड़ी मात्रा में बाधा पड़ती है। स्वरों के उच्चारण में संघर्ष अथवा स्पर्श नहीं होता। परन्तु व्यंञ्जनों के के उच्चारण में थोड़ा बहुत संघर्ष होता है। व्यंजन की अपेक्षा स्वर अधिक दूर तक सुनाई देता है। 'क' की अपेक्षा 'अ' अधिक दूर तक श्रवणेन्द्रिय से सम्बन्ध रखता है। इसी कारण व्यंजनों का उच्चारण स्वरों की सहायता से होता है। स्वर तो सभी नाद होते हैं परन्तु व्यंजन कुछ नाद होते हैं और कुछ श्वास होते हैं। साधारण नियम के अनुसार एक ही उच्चारण स्थान से बोले जाने वाले नाद का प्रतिवर्ण श्वास अवश्य होता है। जैसेः—

स्थान	नाद	श्वास
कण्ठ	ग	क
तालु	ज	च
मूर्धा	ड	ट
ओष्ठ	ब	प
दन्त	द	त

व्यंजनों का वर्गीकरण उच्चारणोपयोगी अवयवों के अनुसार और उच्चारण की रीति के अनुसार किया जाता है। यदि उच्चारणोपयोगी अवयवों के अनुसार व्यंजनों पर विचार किया जाय तो उनके आठ मुख्य भेद हो जाते हैं—

(१) **काकल्य**—उस ध्वनि को कहते हैं जो काकल स्थान से उत्पन्न हो। जैसे हिन्दी में 'ह' और अँग्रेजी में 'H'

(२) **कण्ठ्य**—कण्ठ से उत्पन्न ध्वनि को कण्ठ्य कहा जाता है। कण्ठ तालु का सब से कोमल भाग है जिसे Soft Palate भी कहते हैं। जब जिह्वा मध्य कोमल तालु का स्पर्श करता है तब कंठ्य ध्वनि का उच्चारण होता है। जैसे 'क' 'ख'

(३) **मूर्धन्य**—कठोर तालु के पिछले भाग और जिह्वाग्र से उच्चरित वर्ण को मूर्धन्य ध्वनि कहते हैं। जैसे ट, ठ, ष आदि। अँग्रेजी में मूर्धन्य ध्वनियाँ नहीं होती।

(४) **तालव्य**—कठोर तालु और जिह्वा के अग्रभाग से उच्चरित ध्वनि को तालव्य ध्वनि कहते हैं। जैसे अँग्रेजी का J और हिन्दी का च, छ, ज।

(५) **वर्त्स्य** :—तालु के अन्तिम भाग और ऊपरी मसूड़ों और जिह्वा की नोंक से उच्चरित वर्ण वर्त्स्य कहलाते हैं। जैसे 'न' या 'ह्न'। दन्त मूल के ऊपर जो उभरा हुआ स्थान है उसे वर्त्स्य कहते हैं।

(६) **दन्त्य** :— ये ध्वनियाँ ऊपर के दाँतों की पंक्ति और जिह्वा की नोंक से उच्चरित होती हैं। उदाहरणार्थ हिन्दी में त, थ, द, ध, न।

(७) **ओष्ठ्य** :—वर्णों का उच्चारण ओष्ठों द्वारा ही होता है। उनके दो भेद होते हैं।

(क) द्वयोष्ठ्य :—वर्णों का उच्चारण केवल दोनों ओष्ठों से होता है। जैसे 'प' और 'फ'।

(ख) दन्त्योष्ठ्य :— इनका उच्चारण नीचे के ओठ और ऊपर के दाँतों द्वारा होता है। जैसे प्य, व।

(८) **जिह्वामूलक** :— अन्य भाषाओं की ध्वनियों के अनुकरण पर हिन्दी में अन्य ध्वनियाँ भी आ गई हैं जो जिह्वा के मूल से उच्चरित होती हैं। जैसे क, ख, आदि।

यदि उच्चारण की प्रकृति और प्रयत्न के अनुसार व्यञ्जनों पर विचार किया जाय तो निम्न रूप से आठ वर्ग किए जा सकते हैं :—

(१) **स्पर्श अथवा स्फोट** :— वे वर्ण जिनके उच्चारण में अवयवों का एक दूसरे से पूर्ण स्पर्श होता है। पहले मुख में हवा पूरी तरह से जाती है और फिर एक झोंके से धक्का देकर बाहर निकलती है। इसी से एक स्फोट की ध्वनि निकलतीं है। जैसे 'क' और 'व'।

(२) **घर्ष अथवा संघर्षी** :—वर्ण उच्चारण में वायु मार्ग एक स्थान पर इतना संकीर्ण हो जाता है कि हवा के बाहर निकलने में सर्प की सी सीत्कार अथवा ऊष्मक ध्वनि निकलती है। उसमें जिह्वा और दन्तमूल अथवा वर्त्स्य का मार्ग खुला रहता है। स,' 'ष,' 'श,' 'ज,' आदि घर्ष वर्ण होते हैं।

(३) **स्पर्श घर्ष** :—कुछ वर्ण ऐसे होते हैं जिनके उच्चारण में स्पर्श तो होता है परन्तु हवा थोड़ी रगड़ खाकर निकलती है। जैसे 'च,' 'छ,' 'ज,' 'झ'।

(४) **अनुनासिक** :—जिस वर्ण के उच्चारण में कोमल तालु इतना झुक जाता है कि हवा नासिका से निकल जाती है। जैसे 'न' 'म' आदि।

(५) **पार्श्विक** :—जिसके उच्चारण में हवा मुख के मध्य में रुक जाने से जीभ के अलग बगल से बाहर निकलती है वह वर्ण पार्श्विक होता है। जैसे L अंग्रेजी में और 'ल' हिन्दी में।

(६) **लुण्ठित** :—ध्वनि में जीभ की नोंक मसूड़े तक जाती है पर वहाँ

जल्दी-जल्दी श्वास को रोककर छोड़ देती है जिससे जीभ बेलन की तरह लपेट खाकर तालु से स्पर्श करती है। जैसे हिन्दी में 'र'।

(७) **उत्क्षिप्त** :—उन ध्वनियों को कहते हैं जिनमें जीभ तालु के किसी भाग को वेग से मारकर हट जाती है जैसे ड़,' 'ढ़' आदि।

(८) **अर्द्ध स्वर**—कुछ ऐसे वर्ण भी होते हैं जो साधारणतया व्यंजन के रूप में व्यवहृत होते हैं परन्तु कभी कभी स्वर भी हो जाते हैं। जैसे हिन्दी का 'य'। ऐसे व्यंजन अर्द्ध स्वर भी कहे जाते हैं।

मुखविवर से अबाध रूप से निकल जाने वाली ध्वनि को स्वर कहते हैं। फुसफुसाहट वाले शब्दों का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। स्वर में भिन्नता प्रदान करने में जिह्वा का महत्वपूर्ण स्थान है। स्वर और वर्णों में विशेष गुण जिह्वा और ओठों की अवस्थाओं से उत्पन्न होते हैं। स्पष्ट स्वरों की स्थिति पर विचार करने से जिह्वा की तीन स्थितियाँ होती है। यदि 'आ' को जीभ की सबसे नीची अवस्था मान लिया जाय तो जीभ ई के उच्चारण में आगे की ओर ऊँची उठती है और ऊ' के उच्चारण के समय पीछे की ओर ऊँची उठती है। इस प्रकार जिह्वा उच्चारण के समय कहाँ रहती है उसके हिसाब से स्वरों के अग्र, मध्य और पश्च ३ भेद होते हैं। यह जिह्वा की आड़ी स्थिति है।

जिह्वा की खड़ी स्थिति पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस स्वर के उच्चारण में जीभ बिना किसी से रगड़ खाए यथासम्भव ऊँची उठ जाती है उस स्वर को संवृत कहते हैं। जिसके उच्चारण में जीभ यथा-सम्भव नीचे जाती है उसे विवृत कहते हैं। इन दोनों के बीच के अन्तर को चार भागों में विभक्त किया गया है—(१) संवृत्त (२) ईषत् संवृत्त (३) विवृत्त और (४) ईषत् विवृत्त। उदाहरणार्थ अग्र, मध्य और पश्च के उदाहरण क्रमशः 'इस' 'ईख' और 'ऊपर' शब्दों में 'इ', 'ई', 'ऊ' है। संवृत् और ईषत् संवृत्त तथा विवृत्त और ईषत् विवृत्त के उदाहरण क्रमशः 'ऊपर' 'अनेक' 'आम' 'बोतल' में ऊ, ए, ओ, और आ हैं।

स्वरों के गुण ओठों की स्थिति पर निर्भर हैं। जिन स्वरों के उच्चारण

में ओठों की आकृति गोल हो जाती है वे गोल अथवा वृत्ताकार स्वर कहलाते हैं। शेष अवृत्ताकार। जैसे 'ऊ' वृत्ताकार है और 'ई' अवृत्ताकार अक्षर है।

माँस पेशियो की दृढ़ता और शिथिलता के विचार से भी स्वरों में भी दृढ़ता पाई जाती है। इस प्रकार स्वर शिथिल और दृढ़ माने जाते हैं। जैसे 'ई' और 'ऊ' दृढ़ स्वर है तथा 'इ' और 'उ' शिथिल स्वर हैं।

कोमल तालु का भी स्वर गुण पर प्रभाव पड़ता है। साधारण स्वरों के उच्चारण में कण्ठ अर्थात् कोमल तालु उठकर गल बिल की भित्ति में जा लगता है। इसलिए नासिका विवर बन्द हो जाता है और ध्वनि केवल मुख से निकलती है। किन्तु जब कोमल तालु थोड़ा नीचे आ जाता है तो हवा मुख और नासिका दोनों से निकलती है। ऐसी स्थिति में उच्चरित स्वर अनुनासिक कहे जाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर ध्वनियों के वर्गीकरण के निम्नलिखित सिद्धान्त हैं---

(१) **स्वरतन्त्रीय प्रयत्न** :—इसके आधार पर ध्वनियों के घोष और अघोष दो भेद होते हैं। हिन्दी ध्वनियों के सभी स्वर पंचस्पर्शी वर्णों के अन्तिम तीन व्यंजनों—ग्, घ्, ङ्, ज्, झ्, ञ्, तथा ह्, य्, व्, ल्, घोष तथा शेष सभी अघोष हैं।

(२) **आभ्यन्तर प्रयत्न** :—के अनुसार ध्वनियों के स्वर और व्यंजन दो भेद होते है। इसके पश्चात् स्वर के अग्र, मध्य तथा पश्च एवम् संवृत्त, विवृत्त, तथा अर्द्ध विवृत्त और भेद हो जाते हैं। दूसरी ओर व्यंजन के स्पर्श, सङ्घर्ष, अनुनासिक, पार्श्विक, लुन्ठित, उत्क्षिप्त और संघर्षी आदि हो जाते हैं।

(३) **उच्चारण स्थान** :—स्वर यन्त्र मुखी, जिह्वा मूलीय, कण्ठ्य मूर्द्धन्य, तालव्य, वर्त्स्य, दन्त्योष्ठ और द्वयोष्ठ आदि भेद हो जाते हैं।

(४) लगभग सभी स्वरों और व्यंजनों का अनुनासिक हो सकता है। सामान्यतः अनुनासिक व्यंजनों तथा स्वरों के उच्चारण के समय कण्ठ पिटक सीधा खड़ा होकर नासिका विवर की ओर श्वास नहीं आने देता। अतः पूरा श्वास मुख विवर से निकलता है। स्वरों और व्यंजनों को अनुनासिक रूप देने के लिए कौआ मुख और नासिका के बीच में इस प्रकार आ जाता

है कि श्वास कुछ नासिका से और कुछ मुख से निकलती है। इस प्रकार उनके उच्चारण में अनुनासिकता आ जाती है।

कुछ ध्वनियों में श्वास भीतर को खींचकर उच्चारण किया जाता है जो क्लिक ध्वनियाँ कहलाती हैं। कई अफ्रीकी भाषाओं में इनका प्राधान्य है। भारोपीय भाषाओं में भी इनकी स्थिति है। एक चुम्बन की ध्वनि भी है जिसका अर्थ सर्वत्र प्यार ही है। यह एक प्रकार की क्लिक ध्वनि है। भारोपीय कुल की अनेक भाषाओं में सन्तोष, घृणा, दुख, क्रोध आदि भाव प्रकाशनार्थ अब भी क्लिक ध्वनियों का प्रयोग होता है। काँटे के लगने पर 'सी', किसी के करुणापूर्ण होने पर च् च् च् च्, अस्वीकृति के समय 'टिक' या टक् की ध्वनि आदि क्लिक ध्वनियाँ हैं।

प्रश्न १७—ध्वनि विकार से क्या तात्पर्य है—इसे समझाते हुए यह भी बताइये कि ध्वनि विकार किन अवस्थाओं में होता है—उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—परिवर्तन ही जीवन और जगत का मूल है। प्रत्येक जीवित सत्ता परिवर्तनशील होती है। भाषा भी इसका अपवाद नहीं है। भाषा में भी निरन्तर परिवर्तन होता है और भाषा-वैज्ञानिक इस परिवर्तन को 'विकास' का नाम देते हैं। इस परिवर्तन या विकास को कुछ लोग 'विकार' का नाम भी देते हैं। भाषा में परिवर्तन के साथ उसके अंगों—अर्थ, ध्वनि, वाक्य, पद आदि—में भी परिवर्तन अथवा विकास होता है। आकाश में उत्पन्न विशेष लहरियों को जिन मन श्रवेन्द्रिय द्वारा ग्रहण करता है उसे 'ध्वनि' कहते हैं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से मनुष्य के ध्वनि-यंत्र से निःसृत शब्द का नाम 'ध्वनि' है। सामान्यतः ध्वनि संकेतों के समूह मात्र को ही भाषा कहते हैं। भाषा के विकास के साथ ध्वनि में भी विकास या परिवर्तन होता है।

यद्यपि प्रत्येक भाषा के ध्वनि-विकारों की अपनी कुछ अलग-अलग विशेषताएँ होती हैं जिनके कारण सभी भाषाओं के ध्वनि विकारों के सभी भेदों का एक ही स्थान पर वर्णन करना सम्भव नहीं है। किन्तु फिर भी कुछ सामान्य भेद इस प्रकार के हैं जिनका वर्णन किया जाना सम्भव हो सकता

है। ये परिवर्तन प्रमुख रूप से दो प्रकार के होते हैं—१ स्वयंभू, जो अधिकतर भाषा के प्रवाह में हो जाया करते हैं—इसीलिए इनके विषय में कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता है। दूसरे प्रकार का ध्वनि विकार परोद्भूत कहलाता है जो विशेष कारणों द्वारा घटित होते हैं और जिनका अपेक्षाकृत अधिक विश्लेषण किया जा सकता है। यहाँ हम दूसरे प्रकार के ध्वनि विकारों भेदों पर ही विचार करेंगे जो निम्नांकित हैं—

प्रत्येक भाषा की ध्वनियों में समय समय पर जो परिवर्तन होता रहता है उसकी कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं। भिन्न-भिन्न भाषाओं में होने वाले ध्वनि विकार के कारण भी भिन्न होते हैं; **परन्तु कुछ ऐसे सामान्य नियम हैं जो कुछ अंशों में सभी भाषाओं पर लागू हो सकते हैं।** ये नियम या भेद प्रधानतः निम्नांकित हैं:—**१—मात्रा भेद, २—लोप, ३—आगम, ४—वर्ण विपर्यय, ५—सन्धि ६—सावर्ण्य, ७—असावर्ण्य, ८—भ्रामक उत्पत्ति; ९—विशेष ध्वनि विकार।**

१—मात्रा भेद—ह्रस्व स्वरों का दीर्घ हो जाना तथा दीर्घ का ह्रस्व हो जाना, जैसे—

संस्कृत	अपभ्रंश	हिन्दी
भक्तः	भत्त	भात
खट्वा	खट्टा	खाट
मृत्यु	मित्र्यु	मीच

यह दीर्घ करने की प्रवृत्ति मराठी में इतनी अधिक बढ़ी हुई है कि सम्प्रदाय, मदन, रथ जैसे तत्सम् शब्द भी मराठी में साम्प्रदाय, मादन, राथ आदि अर्द्ध तत्सम् रूप में पाये जाते हैं। पुर, बहिन, परख आदि के लिए मराठी शब्द पूर, बहीन, पारख आदि प्रसिद्ध हैं।

दीर्घ का ह्रस्व होना--

संस्कृत	अपभ्रंश	मराठी	हिन्दी
कीटकः	कीडौ	किडा	कीड़ा
घोटकः	घोड़उ		घोड़ा

यह मात्रा भेद बल अथवा आघात के अनुसार होता है। यह ह्रस्व करने की प्रवृत्ति पूर्वी हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि में प्रचुर मात्रा में है। हिन्दी में भी इसके दर्शन होते हैं जैसे मीठा, बाट, काम आदि के पहले अक्षर पर जोर है; किन्तु यदि वही बल का झटका आगे के अक्षर पर आ जाता है तब दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है—जैसे मिठास, बटोही, भिखारी आदि।

२—**लोप**—यह कई प्रकार का होता है—वर्ण लोप और अक्षर लोप। साथ ही आदि लोप, मध्य लोप, अन्त लोप, आदि इसके कई प्रकार हैं। वर्ण लोप के भी दो भेद होते हैं। स्वर-लोप, व्यंजन-लोप। प्राकृतों में व्यंजन लोप के अनेक उदाहरण मिलते हैं। किन्तु हिन्दी में ऐसा नहीं देखा जाता। आदि-व्यञ्जन-लोप के उदाहरण अँग्रेजी, ईरानी आदि में प्रचुरता से मिलते हैं। जैसे—

स्थान का थान, स्टेशन का टेसन। मध्य-व्यञ्जन-लोप—प्राकृत अँग्रेजी में बहुत पाये जाते हैं। जैसे—

संस्कृत	**प्राकृत**
सागर	साअर
वचनम	वअणम
प्रियगमनम	पिअगमणम
नगर	णअर

अन्त व्यंजन लोप—

पश्चात्	पश्चा
यावत्	जाव

आदि स्वर लोप—

आभ्यन्तर	भीतर
अपि	भी
आतसी	तीसी

मध्य स्वर लोप—राजन् में 'अ' का लोप होने से राज्ञा का राज्ञी बनता है।

अन्त स्वर लोप—निद्रा से नींद, दूर्वा से दूब, भगिनी से बहिन ।

अक्षर लोप—जब एक ही शब्द में दो समान अथवा मिलते-जुलते अक्षर एक साथ ही आते हैं तो प्राय: एक अक्षर का लोप हो जाता है । **जैसे वैदिक भाषा में मधुदुघ का मदुघ** हो जाता है । ऐसे अनेक उदाहरण वैदिक और लौकिक संस्कृत में मिलते हैं ।

३—**आगम**—आगम भी लोप के समान स्वर और व्यंजन दोनों का होता है । यह आगम आदि, मध्य और अन्त सभी स्थानों पर होता है । यथा :—

आदि व्यञ्जनागम—ओष्ठ से होठ; अस्थि से हड्डी ।

मध्य व्यञ्जनागम—बानर से बन्दर, सुख से सुक्ख; गुजराती अमदाबाद से हिन्दी अहमदाबाद ।

अन्त व्यंजनागम—छाया से छाँव, छाँवह, कल्य से कल्ल, कल, कल्ह ।

आदि स्वरागम—स्टेशन से इस्टेशन; स्नान से अस्नान; स्त्री से इस्त्री; स्कूल से इस्कूल ।

मध्य स्वरागम—इन्द्र से इन्दर, भ्रम से भरम; स्वर्ण से सुवर्ण, सुवरण ।

अन्त स्वरागम—शब्द के अन्त में स्वर और व्यंजन का लोप तो प्राय: सभी काल की आर्य भाषाओं में पाया जाता है पर अन्त में स्वर का आगमन नहीं पाया जाता । कुछ ईरानी भाषाओं में अवश्य अन्त स्वरागम पाया जाता है ।

४—**वर्ण विपर्यय**—अनेक शब्दों के वर्णों का आपस में स्थान परिवर्तन हो जाने से नये शब्दों की उत्पत्ति होती है । यह विपर्यय की प्रवृत्ति सभी भाषाओं में कुछ न कुछ पाई जाती है । हिन्दी में भी इस विपर्यय के अनेक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं ।

स्वर विपर्यय—

संस्कृत	हिन्दी
उल्का	लूका
अंगुली	उँगली
एरन्ड	रेंडी

अमलिका	इमली
इक्षु	ईख
श्मश्रु	मूँछ

व्यंजन-विपर्यय—

विडाल	विलार
गृह	घर
परिधान	पहिरना
नुकसान	नुसकान
जलेवी	जबेली
मतलब	मतबल

५—सन्धि और एकीभाव—भाषण में अनेक ध्वनि परिवर्तन सन्धि द्वारा होते हैं। स्वरों के बीच में जो प्रकृति रहती है वह सन्धि द्वारा प्रायः विकार उत्पन्न किया करती है। गिरनार के शिलालेख में इस प्रकार के कुछ रूप देखने में आये हैं। जैसा स्थिविर का 'थइर' अब अ+इ के बीच की विवृत्ति मिटाकर सन्धि हो जाने से 'थेर' रूप बन जाता है। भाषा के विकास में ऐसे संधिज विकारों का बड़ा हाथ रहता है।

६—सावर्ण्य अथवा सारूप्य—भाषा की यह साधारण प्रवृत्ति है कि ध्वनियाँ एक दूसरे पर प्रभाव डाला करती हैं। कभी कोई वर्ण दूसरे वर्ण को सजातीय तथा अपने रूप को उसके अनुरूप बनाता है। इसके दो भेद होते हैं। पूर्व-सावर्ण्य और पर-सावर्ण्य। पूर्व सावर्ण्य—चक्र से चक्क: सपत्नी से सवत्त; अग्नि से आग्गि इत्यादि। पर-सावर्ण्य—जब परवर्ती वर्ण अथवा अक्षर पूर्व वर्ण अथवा अक्षर को अपना सवर्ण बना लेता है तब इसे पर-सावर्ण्य कहते हैं। जैसे—कर्म से कम्म; कार्य से कज्ज;

७—असावर्ण्य—सावर्ण्य के विपरीत कार्य को असावर्ण्य कहते हैं। जब एक ही शब्द में दो समान ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं तब एक को थोड़ा परिवर्तित करने की अथवा लुप्त करने की प्रवृत्ति देखी है। जैसा कक्कन से कंगन, नूपुर से नेउर, मुकुट से मउड।

८— **भ्रामक उत्पत्ति**— कुछ ऐसे ध्वनि विकार भी हुआ करते हैं, जो विकास के इन साधारण नियमों के विपरीत एकाएक हो जाते हैं। प्रायः विदेशी और अपरिचित शब्द जब व्यवहार में आते हैं, तब साधारण जनता उनका अपने मन के अनुसार अर्थ समझ लेती है और तदनुकूल उच्चारण भी करती है। अर्थ समझ कर उच्चारण करने में अवयवों को सीधा प्रयत्न करना पड़ता है, वह सुख-कर होता है। जैसे एडवांस को अठवांस, इन्तकाल को अन्त-काल, लाइब्रेरी को रायबरेली, इसी व्युत्पत्ति के कारण हो जाते हैं।

९— **विशेष ध्वनि विकार**—कुछ ध्वनि विकार ऐसे होते हैं जो किसी देश-विशेष अथवा भाषा-विशेष में ही पाये जाते हैं। जैसे संस्कृत में जहाँ शब्द के अन्त में 'स' आता है वहाँ अवेस्ता और फारसी में 'ह' हो जाता है।

इसी प्रकार के परिवर्तनों की तुलना द्वारा समीक्षा करके ध्वनि नियमों का निश्चय किया जाता है और प्रत्येक भाषा के ध्वनि नियम बनाये जाते हैं :—

(१) **उपर्युक्त ध्वनि विकार सामान्यतः सभी भाषाओं में एक रूप में पाये जाते हैं।** भिन्न-भिन्न भाषाओं में एक ही काल में और एक ही भाषा में भिन्न-भिन्न कालों में होने वाले ध्वनि विकारों की यथाविधि तुलना करने से यह निश्चिय हो जाता है कि (२) **ध्वनियों में विकार कुछ नियमों के अनु-सार होते हैं।** और जिस प्रकार प्रकृति के अनेक कार्यों को देख कर कुछ सामान्य और विशेष नियम बना लिये जाते हैं उसी प्रकार ध्वनियों में विकार के कार्यों को देख कर ध्वनि नियम स्थिर कर लिये जाते है। सामान्यतः कुछ सीमाओं तक तो ये ध्वनि नियम अनिवार्य होते हैं परन्तु प्राकृतिक नियमों और ध्वनि नियमों में सब में बड़ा अन्तर यह होता है कि **ध्वनि नियम काल और कार्यक्षेत्र की सीमा के भीतर ही अपना कार्य करते हैं। यह आवश्यक नहीं प्रत्येक ध्वनि नियम सभी कालों में ठीक समझा जाय।**

ध्वनि नियम वास्तव में एक निश्चित काल के भीतर होने वाले किसी एक भाषा के अथवा किन्हीं अनेक भाषाओं के ध्वनि विकारों का कथन-मात्र है अतः किसी भी ध्वनि नियम के वर्णन में तीनों बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। (१) वह नियम किस काल से सम्बन्ध रखता है। (२) किस

भाषा अथवा भाषाओं पर लागू होता है। (३) किस प्रकार किन सीमाओं के भीतर वह अपना कार्य करता है। यदि इन तीनों बातों पर विचार करने पर भी उसके कोई अपवाद रूप उदाहरण मिलें तो उन्हें सचमुच नियम विरुद्ध नहीं मान सकते क्योंकि ऐसे अपवादों के कारण बाह्य हुआ करते हैं और इन नियमों का सम्बन्ध आभ्यन्तर कारणों से रहता है। सभ्य भाषाओं में होने वाले ध्वनि विकारों के नियम निरपवाद होते हैं, अर्थात् यदि बाह्य कारणों से कोई भाषा दूर रहे तो उसमें सभी ध्वनि विकार नियमानुकूल होंगे। ऐसी स्थिति में पूर्वोक्त ध्वनि परिवर्तन के सभी कारण अनिवार्य माने जा सकते हैं। पर इतिहास कहता है कि भाषा के जीवन में बाह्य कारणों का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। अतः ध्वनि नियमों के निरपवाद होने का सच्चा अर्थ यह है कि यदि मुखजन्य अथवा श्रुतिजन्य विकारों के अतिरिक्त कोई विकार पाये जाते हैं तो वह बाह्य प्रभावों के कारण ही होते हैं। **ध्वनि विकारों का प्रमुख मुखजन्य या श्रुतिजन्य ही होता है। अतः यह नियम अनिवार्य हैं।**

संख्या समय और स्थान के प्रभाव से अछूती रहती है। उदाहरण के लिए कोई भी संख्या एक से कम की संख्या से गुणा करने पर घटती है और एक से अधिक से गुणा करने पर बढ़ती है। यह घटने-बढ़ने का परिणाम उस संख्या के साथ सदैव और सर्वत्र एक ही सा होगा। अतः यह उसका नियम हुआ। यहाँ साथ ही साथ एक बात पर और विचार कर लिया जाना सहायक ही सिद्ध होगा, और वह यह कि नियम का अधिकतर प्रयोग प्राकृतिक नियम के लिए होता है। वह भी किसी विशेष वस्तु आदि के सम्बन्ध में लागू हो।

प्रश्न १८—ध्वनि नियम से आपका क्या तात्पर्य है? ध्वनि नियम की परिभाषा करते हुए प्राकृतिक नियम और ध्वनि नियम का अन्तर समझाइये तथा ध्वनि नियम के अपवाद और उनके कारणों पर विचार कीजिये।

उत्तर—ध्वनि सम्बन्धी विकारों पर विचार करने पर हम इस निर्णय तक आसानी से पहुँच जाते हैं कि अधिकांश ध्वनि सम्बन्धी परिवतन इस प्रकार के होते हैं जो किसी विशेष परिस्थिति या नियम से बँध कर नहीं चलते, किन्तु अन्य कुछ इस प्रकार के परिवर्तन भी होते हैं जो विशेष नियमों

पर ही आधारित रहते हैं। ऐसी अवस्था में नियम से हमारा तात्पर्य है कि उनके घटित होने की परिस्थितियों में बहुधा एकरूपता हो। यह एकरूपता ही सिद्धान्त या नियम कहलाती है।

जब हम सामान्य रूप से नियम की परिभाषा करने लगें तो इस प्रकार भी कह सकते हैं कि "यदि विशेष परिस्थितियों में पड़ कर कोई एक क्रिया समय और स्थान की सीमा तोड़कर सर्वथा एक ही प्रकार से घटित हुआ करती है तो उसे नियम की संज्ञा दी जाती है।" इस परिभाषा में ध्यान देने वाली बातें हैं – विशेष परिस्थिति, किसी एक क्रिया, समय और स्थान की सीमा को तोड़कर सर्वथा एक ही प्रकार से घटित होना अर्थात् क्रिया एक ही होती है उसे अनेक बार अनेक, किन्तु समान, परिस्थितियों में घटाये जाने पर परिणाम सर्वथा एकसा ही घटित होगा और इतने पर भी उस पर—

(२) प्राकृतिक नियम काल की भाँति अवस्था या स्थान की प्रमुखता का भी ध्यान नहीं रखते। न्यूटन का नियम सर्वत्र लागू होता है। उसके लिए स्थान की सीमा का कोई महत्व नहीं है। किन्तु ध्वनि नियम इस सम्बन्ध में भी अपनी सीमाओं में आबद्ध है और जिनका पार करना उसकी शक्ति से बाहर है।

(३) प्राकृतिक नियम किसी प्रकार के कोई अपवाद नहीं रखते। उनका काम तो पूरी तरह से अन्धे के समान होता है। किन्तु ध्वनि नियम अपवाद रहित नहीं होते। अपवाद वाह्य हैं या आभ्यन्तरिक हैं यह अलग बात है। संस्कृत 'कर्म' का मध्यकाल में 'कम्म' होकर आज 'काम' हो गया। इसी प्रकार 'धर्म' का 'धम्म' हो गया किन्तु 'धर्म' का 'धम्म' होकर 'धाम' नहीं हो सका।

प्राकृतिक नियम और ध्वनि नियम के अन्तर को भली प्रकार से जान लेने के बाद 'ध्वनि नियम' नाम से ही भ्रामक जान पड़ता है। इसीलिए कुछ विद्वान इस नाम को अशुद्ध कहकर इसे ध्वनि प्रवृत्ति Phonetic Tendency या ध्वनि फारमूला कहना अधिक शुद्ध और सगत समझते हैं। किन्तु ध्वनि नियम यौर ध्वनि प्रवृत्ति में अन्तर होने के कारण इसका नाम ध्वनि नियम ही संगत है। क्योंकि—

ध्वनि प्रवृत्ति—उसे कहते हैं जब एक ध्वनि-विकार या ध्वनि परिवर्तन आरम्भ होकर थोड़ी दूर चलता है किन्तु उसमें अस्थिरता के ऐसे तन्तु कार्य करते रहते हैं जो उस विकार या परिवर्तन को स्थायी नहीं रहने देते और वह आगे चलकर अपना अस्तित्व स्थायी रखने में असमर्थ रहता है।

किन्तु दूसरी ओर कुछ ऐसे ध्वनि परिवर्तन हुआ करते हैं जो धीरे-धीरे पूर्ण सफलता प्राप्त कर लेते हैं। ये अपने घटित होने के काल में अर्थात् पूर्णता प्राप्त करने से पहले ध्वनि-प्रवृत्ति कहे जाते हैं किन्तु पूर्णता प्राप्त करके वे स्थायित्व प्राप्त कर लेते हैं। ऐसी स्थायी ध्वनि-प्रवृत्ति को ध्वनि नियम ही कहा जाता है। इसीलिए कुछ विद्वान् यह भी कहते हैं कि ध्वनि नियम वर्तमान या भविष्य में अपना उतना सम्बन्ध नहीं निभा पाते जितना भूत से।

क्या ध्वनि नियम के अपवाद वास्तविक हैं ?

प्राकृतिक नियम और ध्वनि नियम का अन्तर स्पष्ट करते समय यह बताया गया है कि ध्वनि नियम के अपवाद भी होते हैं। इन अपवादों के मूल कारणों पर विचार करने पर यह जानना कठिन नहीं है कि इन अपवादों के कई कारण होते हैं—

(१) ध्वनि नियम के अपवादों का सबसे बड़ा और प्रमुख कारण सादृश्य है। सादृश्य के नियमानुसार दूसरा रूप धारण करने वाले शब्दों का रूप कुछ और हो जाया करता है।

(२) दूसरा कारण है अन्य भाषाओं के शब्दों का किसी भाषा में किसी कारण विशेष के द्वारा उधार लाना या लेना। अधिकांशतः हाल ही में आए हुए विदेशी शब्दों में ध्वनि नियम लागू नहीं होते।

(३) कभी-कभी हम अपनी ही भाषा के उस काल के शब्द उधार ले लेते हैं जिस काल में कि नियम विशेष लागू नहीं रहता।

(४) कभी-कभी किसी अन्य भाषा का मिलता-जुलता ऐसा विदेशी शब्द अधिकार जमा लेता है जो पुराने शब्द का रूप ज्ञात होता है तो उसे अपवाद मान लेते हैं। वस्तुतः वह विदेशी शब्द होने से (अपनी भाषा के शब्द का विकसित रूप होने से) उसमें अपवाद के लिए स्थान नहीं रहता है। उदाहरण के लिए ध्वनि नियम के अनुसार 'कोट्टपाल' को 'कोट्टाल' और फिर

'कोट्टाल' होना चाहिए था (बंगला में यह रूप प्रचलित है) किन्तु मुसलमानों के साथ फारसी शब्द 'कोतवाल' ने बीच ही में अपना अधिकार जमा लिया। इसीलिए साधारण दृष्टि से देखने पर आज 'कोट्टपाल' शब्द का विकास 'कोट्टपाल=कोट्टाल=कोतवाल जाना जाता है किन्तु न तो यह उदाहरण ठीक ही है क्योंकि 'कोतवाल' तो विदेशी भाषा का शब्द है और न इस प्रकार के उदाहरण अन्यत्र ही मिलते हैं। अतः इस सब को अपवाद कहा जाता है।

ध्वनि नियम की वैज्ञानिक परिभाषा—

ध्वनि नियम के सम्बन्ध में इतना जान लेने के पश्चात् अब हम उसकी वैज्ञानिक परिभाषा तक इस प्रकार पहुँचते हैं —

"किसी विशिष्ट भाषा की कुछ विशिष्ट ध्वनियों में किसी विशिष्ट काल, विशिष्ट दशाओं में हुए, नियमित परिवर्तन या विकार को उस भाषा का ध्वनि नियम कहते हैं।" इस परिभाषा की व्याख्या करने पर इसके चार अङ्ग पाये जाते हैं—

(१) **भाषा विशेष**—एक ही नियम सभी भाषाओं पर लागू नहीं-नहीं होता। एक ध्वनि नियम किसी एक ही भाषा पर लागू हो सकता है दूसरी पर नहीं। उदाहरण के लिए अङ्गरेजी के अधिकांश शब्दों के अन्तिम (आर) का उचारण नहीं किया जा सकता है; जैसे फादर (Father) का उच्चारण 'फादअ' होता है किन्तु हिन्दी में इस नियम के अनुसार 'अम्बर' का 'अंबअ' नहीं हो सकता।

(२) **ध्वनि विशेष**—वह नियम एक भाषा की भी सभी ध्वनियों पर लागू नहीं होता — वह तो किसी विशिष्ट ध्वनियों या ध्वनि वर्गों पर ही लागू होता है। जैसे उपर्युक्त नियम के अनुसार आर R को अनुच्चरित होते देखकर—'मैन' (Man) 'मैअ' नहीं उच्चरित कर सकते हैं और न गन (Gun) को 'गअ' कह सकते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि एक नियम जो किसी एक ध्वनि में घटित होता है वह उसी रूप में किसी अन्य या सभी ध्वनियों में घटित नहीं हो सकता जब तक कि कोई विशेष बात न हो जाय। यदि ऐसा हो भी जाय तो उसे हम अपवाद-मात्र ही कहेंगे।

(३) **काल**—ध्वनि विकार का भी एक काल विशेष होता है अर्थात् एक काल में घटित होने वाला नियम दूसरे काल में भी उसी प्रकार घटित होता रहे यह आवश्यक नहीं है। किन्तु हो ही नहीं ऐसी भी बात नहीं है। उदाहरण के लिए उपर्युक्त उदाहरण में अन्तिम शब्द (R) के अनुच्चरित होने का नियम पुराना नहीं अभी का नवीन है। इस नियम को चासर या शेक्सपीयर के काल पर नहीं घटाया जा सकता।

(४) **विशिष्ट दशा**—ऊपर दिए हुए इन तीनों अङ्गों के होते हुए भी कोई ध्वनि नियम बिना किसी विशिष्ट दशा या परिस्थिति के यों ही घटित नहीं हो जाया करता। इसके उदाहरण के लिए भी हम ऊपर का ही उदाहरण लेते हैं। यदि किसी वाक्य में किसी शब्द के अन्त में 'आर' (R) हो और उसके बाद का शब्द किसी व्यंजन से आरम्भ होता हो तभी यह नियम लागू हो सकता है। यदि बाद का शब्द स्वर से आरम्भ होगा तब नहीं। यह बाद के शब्द का व्यंजन से आरम्भ होना एक विशेष परिस्थिति है। अतः किसी भी ध्वनि नियम को अपवाद-रहित घटित होने के लिए स्थिति विशेष का होना अत्यन्त आवश्यक है।

प्रश्न १६—ग्रिम नियम तथा उससे सम्बन्धित सारी बातों को समझाकर यह भी बताइए कि ग्रिम-नियम में आगे चलकर क्या दोष पाए गए और उनका किसने किस प्रकार समाधान किया ?

उत्तर—पहले प्रश्न में हम लिख चुके हैं कि ध्वनि नियम एक नहीं अनेक हैं; क्योंकि ये प्रत्येक भाषा और प्रत्येक भाषा परिवार में अनेक प्रकार के पाये जाते हैं। उन सभी पर विचार करना तो सम्भव नहीं किन्तु कुछ ध्वनि नियम इस प्रकार के आवश्यक हैं—जैसे ग्रिम नियम, ग्रासमान का नियम, व्हर्नर का नियम, तालव्य भाव का नियम, ओष्ठ-भाव का नियम, मूर्धन्य-भाव का नियम आदि। इन सब में भी ग्रिम नियम इतना अधिक प्रमुख है कि अन्य सभी नियम उसी के आधार पर अपना अस्तित्व सँभाले हुए हैं।

इस नियम की ओर संकेत करने वाले ग्रिम से भी पहले दो व्यक्ति उहरे और डैनिस विद्वान रैक्स हैं। किन्तु इन दोनों ने संकेत-मात्र ही किया है,

इसकी पूरी विवेचना और छानबीन करने वाले जर्मन भाषा के महापण्डित ग्रिम हैं। आपने १८१९ में जर्मन भाषा का एक व्याकरण प्रकाशित किया और उसी व्याकरण के द्वितीय संस्करण में १८२२ में इस नियम का विवेचन किया जो आगे चलकर उन्हीं के नाम से 'ग्रिम नियम' के नाम से प्रख्यात हुआ। इसका सम्बन्ध मूलभारोपीय स्पर्श व्यंजन ध्वनियों से है जो जर्मन भाषा में परिवर्तित हो गईं थीं। इसको जर्मन भाषा का वर्ण परिवर्तन कहते हैं जिसके लिए जर्मन शब्द Lant verschiebung है और अँग्रेजी शब्द Sand-Shifting है। जर्मन भाषा का यह वर्ण परिवर्तन दो बार हुआ था। प्रथम वर्ण परिवर्तन ईसा की कई सदी पूर्व हुआ था और दूसरा वर्ण परिवर्तन उत्तरी लोगों से ऐंग्लो सैक्सन लोगों के पृथक् होने के बाद लगभग ७ वीं शताब्दीं में हुआ। कारण दोनों का ही जातीय मिश्रण ही कहना चाहिए। नीचे हम ग्रिम के दोनों वर्ण परिवर्तनों पर स्पष्टता से विचार करेंगे।

प्रथम वर्ण परिवर्तन—ग्रिम ने संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, गाथिक, अंगरेजी, जर्मन आदि भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा यह सिद्ध किया कि प्रागैतिहासिक काल में मूल भारोपीय स्पर्श व्यंजन ध्वनियों का विकास गाथिक, अँगरेजी आदि निम्न जर्मन वर्ग की भाषाओं में संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि क्लासिकल वर्ग की भाषाओं की अपेक्षा भिन्न प्रकार से हुआ और कुछ वर्ण परिवर्तन ऐसे हैं जो एक ओर क्लासिकल वर्ग की भाषाओं में और दूसरी ओर निम्न जर्मन वर्ग की भाषाओं पाए जाते हैं। इस प्रकार प्रथम वर्ण परिवर्तन द्वारा क्लासिकल वर्ग की भाषाओं का निम्न जर्मन वर्ग की भाषाओं से सम्बन्ध दिखाया गया है। यह ईसा पूर्व का वर्ण-परिवर्तन है। इस वर्ण-परिवर्तन को तालिका रूप में यों भी दे सकते हैं—

(क) भारोपीय मूल भाषा (क्लासिकल वर्ग) की संस्कृत, लैटिन, ग्रीक आदि के क, त, प (K, T, P,) अघोष अल्पप्राण स्पर्श

(ख) क्लासिकल का महाप्राण अघोष संघर्षी H (ख) Th (थ) F (फ)

(ग) क्लासिकल वर्ग के सघोष अल्पप्राण स्पर्श G (ग) D (द) B (ब)

निम्न जर्मन वर्ग की गाथिक अँग्रेजी डच आदि भाषाओं में क्रमशः ख ह, थ, फ, (H, Th, F) अघोष महाप्राण घर्ष हो जाते हैं।

निम्न जर्मन वर्ग में सघोष अल्पप्राण स्पर्श G (ग), D (द) B (ब) जाता है।

निम्न जर्मन वर्ग में अघोष अल्पप्राण स्पर्श K (क), T (ट) P (प) हो जाते हैं।

अर्थात्	(क) अघोष	महाप्राण
	(ख) महाप्राण	सघोष
	(ग) सघोष	अल्पप्राण

द्वितीय वर्ण परिवर्तन—प्रथम वर्ण परिवर्तन में मूल भाषा से जर्मनिक भाषा भिन्न हुई थी किन्तु इस द्वितीय वर्ण परिवर्तन में जर्मन भाषा के दोनों रूप निम्न जर्मन और उच्च जर्मन में भेद हो गया। निम्न जर्मन वाले (अंग्रेज आदि) विकास के पूर्व ही वहाँ से हट गए थे अतः उनकी भाषा ध्वनि में तो कोई अन्तर नहीं आ सका किन्तु उच्च जर्मन वाले जो वहीं बने रहे उनकी ध्वनियों में अवश्य अन्तर आया। इस प्रकार उच्च और निम्न जर्मन भाषा की ध्वनियों में परस्पर भेद हो ही गया। अतः जिस प्रकार प्रथम वर्ण परिवर्तन द्वारा क्लासिकल वर्ग की भाषाओं का निम्न जर्मन वर्ग की भाषाओं से सम्बन्ध दिखाया गया है उसी प्रकार निम्न जर्मन वर्ग की भाषाओं का उच्च-जर्मन-वर्ग की भाषाओं से सम्बन्ध दिखाया गया है। इस वर्ण परिवर्तन का विशेष सम्बन्ध ट्यूटाइनिक अथवा जर्मनिक मात्राओं से है। इस नियम की तालिका इस प्रकार है—

निम्न जर्मन वर्ग के	उच्च जर्मन वर्ग में
(क) महाप्राण घर्ष	सघोष स्पर्श
H (ख), Th (थ), F (फ)	G (ग), D (द), B (ब)
(ख) सघोष स्पर्श	अघोष स्पर्श
G (ग), D (द), B (ब)	K (क), T (त), P (प)
(ग) अघोष स्पर्श	महाप्राण घर्ष
K (क), T (त), P (प)	H (ख), Th (थ), F (फ)

ग्रिम ने अपने ध्वनि परिवतंन के नियम में प्रथम वर्ण परिवर्तन और द्वितीय वर्ण परिवर्तन दोनों को इसी प्रकार स्थान दिया है। अतः ग्रिम नियम को हम तालिका द्वारा इस प्रकार बता सकते हैं—

(१) क्लासिकल संस्कृत और ग्रीक	(२) निम्न जर्मन (गाथिक)	(३) उच्च जर्मन
क त प	ख थ फ	ग द ब
(अघोष)	(महाप्राण)	(सघोष)
ख थ फ	ग द ब	क त प
(महाप्राण)	(सघोष)	(अघोष)
ग द ब	क त प	ख थ फ
(सघोष)	(अघोष)	(महाप्राण)

अर्थात्—अघोष = महाप्राण = सघोष
महाप्राण=सघोष = अघोष
सघोष = अघोष = महाप्राण

यदि सुविधानुसार स्मरण रखने के लिए अघोष के प्रारम्भ के 'अ' महाप्राण के 'म' और सघोष के 'स' वर्णों को संकेत मानकर इस पूरे नियम को एक सूत्र रूप में रखें तो अमसम सअ सअ म सूत्र बना, और इसमें भी सन्धि करने से **अमसमसासाम** सूत्र बनता है।

इसलिए कि विद्यार्थीगण इसे अधिक सुविधानुसार शीघ्र ही याद कर सकें, हम इस सम्पूर्ण सूत्र को केवल इस एक चित्र में ही उतार सकते हैं। चित्र को समझने का तरीका यह है—

प्र० = प्रथम (अर्थाम् वर्ग के प्रथम अक्षर = क त प)
द्वि० = द्वितीय (अर्थात् वर्ग के द्वितीय अक्षर = ख थ फ)
तृ० = तृतीय (अर्थात् वर्ग के तृतीय अक्षर = ग द ब)
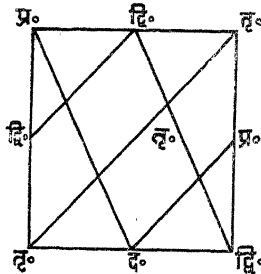
जैकब ग्रिम का यह नियम 'सदोष नियम' के नाम से पुकारा जाता है। देखने पर तो यह नियम बहुत ही सुलझा हुआ जान पड़ता है किन्तु वास्तव में बात वैसी नहीं है। इन दोनों परिवर्तनों में वह समानता नहीं है जैसा कि ग्रिम महोदय ने इस नियम द्वारा दिखलाने का प्रयत्न किया है। मैक्समूलर जैसे भाषा वैज्ञानिक इन तीन प्रकारों के वर्ण विकारों को देखकर यह सोचा करते थे कि मूल भारोपीय भाषा ही तीन विभाषाओं में बँट गई है, जिससे व्यंजनों में इस प्रकार का विकार पाया जाता है किन्तु अब यह धारणा पूर्णतः निराधार सिद्ध हो चुकी है। कारण, एक तो ये विकार केवल जर्मन (अर्थात् ट्यूटानिक) वर्ग में ही पाये जाते हैं, अन्य सभी भारोपीय भाषाओं में नहीं। उस जर्मन भाषा की भी अधिकाँश भाषाओं में केवल प्रथम वर्ण परिवर्तन के ही उदाहरण पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त ये दोनों वर्ण परिवर्तन एक ही काल से सम्बन्धित नहीं थे क्योंकि यह निश्चय हो चुका है कि द्वितीय वर्ण परिवर्तन का युग काफी पीछे का है। जैसा कि ऊपर कई बार बताया जा चुका है कि प्रथम वर्ण परिवर्तन ईसा के पूर्व में हो चुका था और द्वितीय वर्ण परिवर्तन ईसा से सात सौ वर्ष पीछे हुआ है। साथ ही साथ एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि द्वितीय वर्ण परिवर्तन भी उस उच्च जर्मन में पूर्ण रूप से नहीं हो पाया था जिसमें यह हो चुका था। इसीलिए यह नियम निरपवाद नहीं है। अतः ग्रिम को प्रथम वर्ण परिवर्तन में जितनी सफलता प्राप्त हुई है द्वितीय वर्ण परिवर्तन में उतनी ही असफलता। इसीलिए अब प्रथम वर्ण परिवर्तन ही ग्रिम नियम के नाम से पुकारा जाता है। द्वितीय वर्ण परिवर्तन को तो केवल जर्मन भाषाओं की विशेषता मान कर उसका अलग वर्णन किया जाता है।

ग्रिम नियम का निर्दोष रूप—ग्रिम नियम के द्वारा इस निष्कर्ष तक पहुँचा जा सकता है कि किस प्रकार जर्मन-वर्ग की भाषाओं में मूल भारोपीय स्पर्शों का विकास ग्रीक, लैटिन, संस्कृत आदि अन्य वर्गीय भाषाओं की अपेक्षा भिन्न प्रकार से हुआ है। उदाहरण से लिए—

सं०	लैटिन	अंग्रेजी
द्वि	duo	two

पाद	Padis	foot
कः	puis	who

इस प्रकार तुलना करने से यह ज्ञात हो जाता है कि सं० ग्रीक० लै० आदि के D द, P प, k क के स्थान में अङ्गरेजी आदि जर्मन भाषाओं में त t, f फ, ह wh हो जाता है। इसी प्रकार की तुलना से ग्रिम नियम द्वारा नीचे दिया हुआ परिणाम ही निकलता है—

(१) भारोपीय अघोष स्पर्श k. t p. जर्मन वर्ग में अघोष घर्ष h. T. H. t. हो जाते हैं।

(२) भारोपीय घोषस्पर्श g. d, b जर्मन में k. t, p अघोष हो जाते हैं।

(३) भारोपीय महाप्राण स्पर्श gh, dh, bh, जर्मन में अल्पप्राण g. d. b. हो जाते हैं।

संस्कृत आदि में	अँग्रेजी आदि में
(क) k, t, p (क त प) (अघोष स्पर्श)	h, th, f (ह थ फ) (अघोष घष)
(ख) g, d, b, (ग द ब) (घोष स्पर्श)	k, t, p (क त प) (अघोष स्पर्श)
(ग) gh, dh, bh, (घ ध भ) (महाप्राण स्पर्श)	g, b, b (ग द ब) (अल्पप्राण घोष)

सुविधा से तथा शीघ्र स्मरण करने के लिए हम इस विषय का निम्न चित्र द्वारा इस प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं—
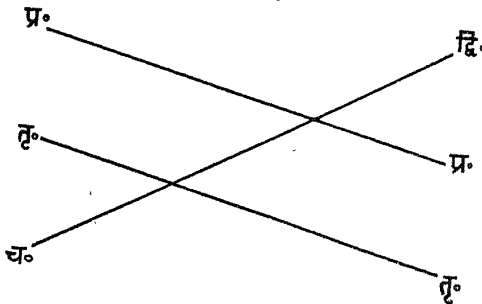
चित्र को समझने के लिये ऊपर की क्रिया को ध्यान में रखना है।

प्र०=प्रथम (अर्थात् वर्ग के प्रथम अक्षर—क त प = k, t, p)

द्वि०=द्वितीय (अर्थात् वर्ग के द्वितीय अक्षर—ख थ फ = h, th, f)

तृ०=तृतीय (अर्थात् वर्ग के तृतीय अक्षर—ग द ब=g, d, b)

च०=चतुर्थ (अर्थात् वर्ग के चतुर्थ अक्षर—घ ध भ=gh, dh, bh)

नीचे दिए हुए उदाहरणों द्वारा ग्रिम के इस निर्दोष अंश का स्पष्टीकरण भी स्वतः ही हो जायगा—

संस्कृत आदि में		अँग्रेजी आदि में	
क	कः	ह्ह	who
त	त्रि	थ	three
प	पाद	फ	foot
ग	गो	क	cow
द	द्वि	त	two
ब	b	प	b
घ	हंस	ग	goose
ध	विधवा	द	widow
भ	भ्रातृ	ब	ब brother

ग्रिम नियम के अपवाद—सिद्धांततः ध्वनि नियम अपवाद-रहित होना चाहिए यदि उसके कारण में किसी प्रकार की विशेषता नहीं होती है। किन्तु ग्रिम नियम पूर्णतः सदोष है। क्योंकि—

(१) प्रथम तो वह ई० पूर्व तथा ईसा की सातवीं शताब्दी दो भिन्न-भिन्न भागों से सम्बन्ध रखता है।

(२) उसका क्षेत्र संकुचित है और वर्ण परिवर्तन का सम्बन्ध केवल ट्यूटानिक भाषाओं से है।

(३) यह ध्वनि ग्रिम नियम न तो पूर्ण ही है और न इसकी सीमाएँ ही निर्धारित हैं।

अतः यह सापवाद है। लाटनर (Lootner) ने इस प्रकार के अनेक अपवाद दिखाए हैं, जिनमें से कुछ का स्वयं ग्रिम ने ही उपनियमों के रूप में विवेचन किया है और शेष अपवादों का समाधान करने के लिए और

उपनियमों की खोज होने लगी, जिसके फलस्वरूप तीन उपनियम और स्थिर किए गये—(१) ग्रासमान का उपनियम, (२) व्हर्नर का उपनियम, (३) ग्रिम नियम के अपवादों का नियम और एक यह भी नियम बना कि कुछ संधिज ध्वनियों में ग्रिम नियम लागू ही नहीं होता।

ग्रासमान का नियम—(१) साधारणतः ग्रिम नियम के अनुसार k, t, p का h, th, और f होना चाहिए किन्तु इसके अपवाद पाए जाते हैं। इन अपवादों का निराकरण करने के लिए ग्रासमान ने यह नियम निकाला कि ग्रीक और संस्कृत में एक अक्षर (अर्थात् शब्दांश) के आदि और अन्त दोनों स्थानों में एक ही साथ प्राणध्वनि अथवा महाप्राण स्पर्श नहीं रह सकते, अर्थात् एक अक्षर में एक ही प्राण ध्वनि रह सकती है जैसे संस्कृत की 'हु' (हवन) धातु का रूप होना चाहिए हुहोति हुहताति हुह्वति, पर उसका रूप है—जुहोति, जुहुतः जुह्वति। इसी प्रकार भृ (डरना) से भिभर्ति आदि न बनकर बिभर्ति आदि रूप बनते हैं।

इसका अर्थ यह होता है कि भारोपीय मूल भाषा की दो अवस्थाएँ रही होंगी। प्रथमावस्था में तो दो महाप्राण रहे होंगे और दूसरी अवस्था में नहीं। अत: अपवादस्वरूप क् त् प् के स्थान पर जहाँ ग द् ब् मिलते हैं वहाँ प्राचीन काल में क् त् ब् का पुराना रूप ख (ह) थ् फ् अर्थात् भारोपीय में घ ध रहा होगा जिससे ग द ब बना होगा जो पूर्णतः नियमानुकूल है।

व्हर्नर का नियम—पर कुछ ऐसे उदाहरण भी मिलने लगे हैं जिनमें शुद्ध K, T, P, के स्थान पर भी जर्मनी भाषाओं में G, D, B, हो जाते हैं जिनका समाधान ग्रासमान का नियम भी नहीं कर सका है। इसके लिए व्हर्नर ने एक तीसरा ही नियम बनाया—शब्द के मध्य में आने वाले K, T, P, और S के अव्यवाहित पूर्व में यदि भारोपीय कुल में कोई उदात्त स्वर रहता है तो उसके स्थान में H, Th, F, और S आते हैं अन्यया G (Gw), D, B और R आते हैं। भारोपीय स्वरों का निश्चय अधिकतर संस्कृत से और कभी-कभी ग्रीक से होता है।

उपमान का नियम—इन नियमों के भी विरुद्ध उदाहरण पाये जाते

हैं किन्तु उनका कारण उपमान (=अन्वसादृश्य) होता है; जैने भ्राता में 'त' के पूर्व में उदात्त है अतः brother रूप होना ठीक है पर पिता और माता में त के पूर्व उदात्त नहीं है अतः fadar, madar होना चाहिए पर उपमान के कारण से ही father और mother हो गए।

विशेष अपवाद—ग्रिम का नियम सदा असंयुक्त वर्णों में ही लागू होता है, संयुक्त वर्णों में उसकी गति रुक जाती है। व्हर्नर ने लिखा है कि ht, hs, ft, fs, sk, st, sp—इन जर्मन संयुक्त वर्णों में उसका नियम नहीं लगता। इसका विचार इस तीसरे नियम के अन्तर्गत किया गया है--

(अ) भारोपीय sk, st, sp इनमें कोई विकार नहीं होता। कुछ विकार ऐसे होते हैं जिनका सम्बन्ध केवल अँग्रेजी से रहता है। उन्हें भ्रम से इस नियम का अपवाद न समझना चाहिए।

ग्रीक	गाथिक	अँग्रेजी
Skotos	Skadus	Shade
Skapto	Skaban	Shave
Skutos	Skohs	Shoe

अँग्रेजी में Sh का Sp होना ही नियम है अतः जिन शब्दों में Sk रहता है वे बिदेशी शब्द माने जाते हैं; जैसे Sky और Skin, School आदि। इस नियम में जो अपवाद संयुक्ताक्षर गिनाए गए हैं वे भी सच्चे अपवाद नहीं हैं। वास्तव में जिस परिस्थिति में वे थे वह परिस्थिति ही विकास के विरुद्ध थी।

अन्त में ग्रिम नियम और उसके अपवादों पर विचार करने से हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि ध्वनि नियम में अपवाद होते अवश्य हैं किन्तु उन का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। अतः यदि उपमान, स्वर आदि कारणों को देखकर ध्वनिनियम की सीमा निर्धारित कर दी जाय तो वह ध्वनि नियम निरपवाद ही माना जा सकता है। इस ग्रिम नियम को चाहे काल के विचार से देखें चाहे कार्य के विचार से हिन्दी में यह किनी भी प्रकार नहीं लागू हो सकता है।

हिन्दी भाषा का इतिहास

प्रश्न २०—आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की संक्षिप्त विवेचना करते हुए विभिन्न विद्वानों द्वारा किए गए उनके वर्गीकरण पर प्रकाश डालिए।

अथवा

डा० ग्रियर्सन द्वारा किये गये भारतीय आर्य भाषा के वर्गीकरण की आलोचना कीजिये।

उत्तर—डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा का मत है कि—'वर्तमान भारतीय आर्य भाषाओं का साहित्य में प्रयोग कम से कम तेरहवीं शताब्दी ईसवी के आदि में अवश्य प्रारम्भ हो गया था तथा अपभ्रंश का व्यवहार चौदहवीं शताब्दी तक साहित्य में होता रहा था। किसी भाषा के साहित्य में व्यवहृत होने के योग्य बनने में कुछ समय लगता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए यह कहना अनुचित न होगा कि मध्य-कालीन आर्य भाषाओं के अन्तिम रूप अपभ्रंशों से तृतीय काल की आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का आविर्भाव दसवीं शताब्दी ईसवी के लगभग हुआ होगा।···इन आधुनिक आर्य भाषाओं में हमारी हिन्दी भी सम्मिलित है। इसका जन्मकाल भी दसवीं शताब्दी ईसवी के लगभग मानना होगा।"

डाक्टर श्यामसुन्दरदास अपभ्रंश और वर्तमान हिन्दी के मध्य एक तीसरी भाषा का रूप मानते हैं जिसे कुछ विद्वानों ने 'अवहट्ट' कहा है तथा कुछ ने 'पुरानी हिन्दी'। उनका कथन है कि—"यद्यपि इसका ठीक-ठीक निर्णय करना कठिन है कि अपभ्रंश का कब तक अन्त होता है और पुरानी हिन्दी का कहाँ से आरम्भ होता है, तथापि बारहवीं शताब्दी का मध्यभाग अपभ्रंश के अस्त और आधुनिक भाषाओं के उदय का काल यथाकथंचित् माना जा सकता है।" डाक्टर सक्सेना भारतीय आर्य शाखा के वर्तमान युग का प्रारम्भ प्राय: १००० ई० से ही मानते हैं।

इन भाषाओं का वर्गीकरण निम्नलिखित है—

१—शौरसेनी अपभ्रंश—इससे हिन्दी, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती

एवं पहाड़ी भाषाएँ उत्पन्न हुई हैं। इनमें गुजराती और राजस्थानी का सम्पर्क प्रमुख रूप से शौरसेनी अपभ्रंश से है।

२—**मागधी अपभ्रंश**—बिहारी, बँगला, असमी और उड़िया।

३—**अर्द्ध मागधी**—पूर्वी हिन्दी।

४—**महाराष्ट्री**—मराठी।

५—**ब्राचड़ अपभ्रंश**—सिन्धी।

६—**केकय अपभ्रंश**—लहँदा।

पंजाबी भाषा का सम्बन्ध कुछ लोग केकय अपभ्रंश से मानते हैं किन्तु कालान्तर में उस पर शौरसेनी अपभ्रंश का बहुत प्रभाव पड़ा था। पहाड़ी भाषाओं की उत्पत्ति भी कुछ लोगों ने खस नामक अपभ्रंश से मानी है किन्तु बाद में ये भी राजस्थानी से प्रभावित हुई थीं।

डाक्टर ग्रियर्सन ने अपनी 'भाषातत्व' नामक पुस्तक के आधार पर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं को तीन उपशाखाओं में विभक्त किया है।

इन तीन उपशाखाओं को ६ वर्गों और १७ भाषाओं में विभाजित करके आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया है—

(१) **बहिरंग उपशाखा** :—(१) **पश्चिमोत्तर वर्ग**—लहँदा तथा सिन्धी।
(२) **दक्षिणी वर्ग**—मराठी।
(३) **पूर्वी वर्ग**—उड़िया, बिहारी, बंगला तथा आसामी।

(२) **मध्यवर्ती उपशाखा** :—(४) **मध्यवर्ती वर्ग**—पूर्वी हिन्दी।

(३) **अन्तरंग उपशाखा** :—(५) **केन्द्र वर्ग**—प० हिन्दी, पंजाबी, गुजराती, राजस्थानी, भीली, खानदेशी।
(६) **पहाड़ी वर्ग**—पू० पहाड़ी (नैपाली), केन्द्रवर्ती पहाड़ी तथा पश्चिमी पहाड़ी।

डा० ग्रियर्सन ने अन्तरंग और बहिरंग दोनों भाषाओं में कुछ ऐसे भेदों की ओर संकेत किया है जिनसे इन दोनों में स्पष्ट पार्थक्य दिखाई देने लगता है। ये भेद निम्न प्रकार हैं—

उच्चारण सम्बन्धी भेद—अन्तरंग भाषाओं में दन्त्य 'स' का उच्चारण बहुधा शुद्ध होता है जबकि वहिरंग भाषाओं में नहीं होता। बहिरंग उपशाखा की पश्चिमोत्तर वर्ग की सिन्धी भाषा में **'स'** का **'ह'** हो जाता है; जैसे 'कोस' का 'कोह'। इधर बंगला आदि पूर्वीवर्ग की भाषाओं में यही दन्त्य 'स' **'श'** तथा **'ष'** हो जाता है। **महाप्राण तथा अल्पप्राण परस्पर परिवर्तित हो जाते हैं।** 'म्व' का 'म' अथवा 'ब' 'इ' और 'उ' परस्पर बदल जाते हैं, आदि अनेक उच्चारण सम्बन्धी भेद प्रस्तुत किये हैं।

रचनात्मक अथवा व्याकरणिक—भाषा-विज्ञान का यह सिद्धान्त है कि भाषाएँ **वियोगावस्था से क्रमशः विकसित होते-होते संयोगावस्था में आती हैं।** जो भापा जितनी संयोगावस्था प्राप्त कर चुकी है वह अपेक्षाकृत उतनी ही पुरातन होती है। प्रायः सभी अन्तरंग भाषाएँ उस समय वियोगास्वस्था में हैं जबकि बहिरंग भाषाएँ विकसित होते-होते संयोगावस्था को प्राप्त कर चुकी हैं। कारण, अन्तरंग भाषाओं के प्रायः सभी मूल प्रत्यय नष्ट हो गये हैं जिनका काम प्रायः विभक्तियों से लिया जाता है जो संज्ञा से पृथक समझी जाती हैं किन्तु बहिरंग कुछ अधिक विकसित होने के कारण उसमें प्रत्यय शब्द में ही समाकार रह जाते हैं। उदाहरणार्थ— हिन्दी सम्बन्ध कारक 'का' 'के' 'की' लगातार बनाया जाता है। इन्हें संज्ञा से पृथक ही समझा जाता है—'घोड़े का' में 'का' प्रत्यय अलग है। यही कारक बंगाली में, जो बहिरंग उपशाखा की भाषा है, संज्ञा में 'एर' लगाकर बनता है और यह चिह्न संज्ञा का एक भाग हो जाता है। जैसे 'घोड़ार' में 'र' साथ मिला है।

बहिरंग भाषाओं में भूतकालिक क्रियाओं के साधारण रूपों से ही अनेक कर्ताओं का पुरुष और वचन जाना जा सकता है क्योंकि भूतकालिक क्रिया का रूप कर्ता पुरुष के अनुसार ही परिवर्तित होता रहा है। जैसे **मराठी में 'गेलों'** (मैं गया) और **'गेला'** (वह गया)। बँगला का मलिराम शब्द भी उसके कर्ता के उत्तम पुरुष होने की सूचना देता है। किन्तु अन्तरंग भाषाओं

में भूतकालिक क्रियाएँ सभी पुरुषों में एकसी रहती हैं—जैसे हिन्दी में 'मैं गया', 'वह गया', 'तू गया' सभी में 'गया' समान है।

(४) बहिरंग भाषाओं की भूतकालिक क्रियाओं में सर्वनाम भी उनकी क्रियाओं में ही अन्तर्भूत रहता है जबकि अन्तरंग भाषाओं में सर्वनाम अपना रूप अलग सँभाले रहता है।

(५) बहिरंग शाखा की भाषाओं के शब्दों तथा धातुओं में भी साम्य है।

६ **श्री रामप्रसाद चन्द्र** ने तो अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग भाषा भेद की वंशात्मक कारणों से भी पुष्टि करने का प्रयत्न किया है। उनका कथन है कि **अन्तरंग आर्य डालिको सिफैलिक** (Dolicho Cephalic) जाति के और **बहिरंग ब्रैकी सिफैलिक** (Brechy Cephalic) जाति के थे, अतः उनकी भाषाओं में भेद होना स्वाभाविक ही है।

डा० ग्रियर्सन के मत का खण्डन—श्री सुनीत कुमार चटर्जी काफी सूक्ष्म रूप से विचार करने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि न तो हार्नले और ग्रियर्सन द्वारा प्रस्तुत किया हुआ अन्तरंग और बहिरंग वाला विभाजन ही साधार है और न उनके वे तर्क जिनके द्वारा उन्होंने अन्तरंग और बहिरंग भाषा में भेद प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, युक्ति-संगत है। चटर्जी ने उन सभी तर्कों को निराधार ठहराने के लिए बड़े ही सशक्त और युक्ति-संगत प्रमाण दिये हैं। जो इस प्रकार हैं—

(१) 'स' सम्बन्धी परिवर्तन सभी बहिरंग भाषाओं में नहीं होता। सिन्धी तथा लहँदा में 'स' का 'ह' और मराठी, बंगला आदि में 'श' हो जाता है। इसके अतिरिक्त 'स' का 'ह' अथवा 'श' होना अन्तरंग में भी पाया जाता है। जैसे **कोस-कोह**, प० हिन्दी **केसरी-केहरी, तस्स-तस्त-ताह** ता (ताको ताहि) (एकादश) ग्यारह (द्वादश) बारह इत्यादि।

'महाप्राण अल्पप्राण का अभेद—गुजराती, राजस्थानी, प० हिन्दी, आदि अन्तरंग भाषाओं में भी पाया जाता है। जैसे भगिनी से बहिन, वेश से भेस, विभूति से भभूति, वास्प से भाप इत्यादि।

'म्ब का म तथा ब हो जाना' अन्तरंग में भी पाया जाता है। जैसे पा० हि० में जम्बु का जामुन, निम्ब-नीम, अम्बी—अमियाँ-निम्बु-नीबू इत्यादि। इसी प्रकार 'इ' तथा 'उ' का परस्पर बदल जाना भी अंतरंग में पाया जाता है—जैसे प० हि० खिलना, बिन्दु—बूँद, इत्यादि।

(२) **सप्रत्यय अथवा विभक्ति-प्रधान शब्द बहिरंग में ही नहीं अन्तरंग में भी पाये जाते हैं**; जैसे व्रज मैं (मैंने), तैं (तूने), घोड़ेहि [घोड़े को], स० हि० माथे [माथे पर], भूखों [भूखों] इत्यादि।

(३) **कर्ता में पुरुष तथा वचन का बोध सभी भूतकालिक क्रियाओं के रूपों से नहीं होता,** केवल [अकर्मक] क्रियाओं के भूतकाल में होता है। सकर्मक क्रियाओं के भूतकालिक रूपों में तो पूर्वी तथा पश्चिमी बहिरंग अथवा अन्तरङ्ग भाषाओं में बहुत अन्तर है। सभी पूर्वी कर्त्तरि-प्रधान और सभी पश्चिमी कर्मणि प्रधान हैं। अतः सकर्मक भूतकालिक क्रियाओं से कर्ता के पुरुष तथा वचन का बोध केवल पूर्वी बहिरंग भाषाओं में हो सकता है, पश्चिमी में नहीं, उधर पू० हि० में भी ऐसा ही होता है।

(४) भूतकालिक क्रियाओं में सर्वनाम का अन्तर्भुक्त होना सब बहिरङ्ग भाषाओं तथा क्रियाओं में नही पाया जाता है।

(५) न तो सब धातु तथा शब्द बहिरंग में ही समान हैं और न अन्तरङ्ग में ही, उदाहरणार्थ बँगला तथा बिहारी के शब्द मराठी से नितांत भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त जो शब्द बहिरङ्ग में भी पाए जाते हैं वे अन्तरङ्ग में भी मिलते हैं। जैसे बिहारी, बंगला, सिन्धी, लहँदा तथा मराठी में पाये जाने वाले शब्द गुजराती तथा प० हि० में भी पाये जाते हैं।

(६) यदि श्री रामप्रसाद चन्द्र के अनुसार अन्तरङ्ग आर्य एक जति के और बहिरङ्ग दूसरी जाति के थे, तो गंगा-यमुना के मैदान के प० हि० भाषी कन्नौजिया ब्राह्मण तथा लहँदा प० पञ्जाबी भाषी आर्य भिन्न-भिन्न जातियों के हुए, परन्तु इतिहासानुसार वे एक ही वंश के हैं।

फिर बङ्गाली अपने को मध्यदेशीय अन्तरङ्ग आर्यों का वंशज मानते हैं, न कि पश्चिमी भारत तथा महाराष्ट्र से आकर बंगाल बिहार में बसने वाले बहिरङ्ग आर्यों का।

अत: वंश अथवा जाति की विभिन्नता अन्तरंग और बहिरंग की भेदक नहीं है।

(७) **आर्यों का भारत में दो बार** आना भी मान्य नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि इसके विपरीत आर्यों का पहले से ही सप्त सिन्धु में निवास करना एक प्रकार से प्रमाणित हो चला है। ऐसी अवस्था में न तो आर्यों का पूर्वागमन और परागमन ही असन्दिग्ध है और न उनकी भाषाओं का अन्तरंग और बहिरंग विभाजन ही किया जा सकता है।

(८) ग्रियर्सन आदि के तर्कों के खण्डन के साथ चटर्जी ने एक दोष और भी बताया है और वह यह कि मध्यदेश की भाषा सदैव से राष्ट्रभाषा अथवा सर्वप्रमुख भाषा रही है। इस दृष्टि से इस क्षेत्र की सर्वप्रधान भाषा प० हि० को अन्य भाषाओं के साथ रखना अनुचित है और वर्गीकरण हो तो प० हि० को केन्द्रीय भाषा मान कर ही वर्गीकरण होना चाहिए। उनका कहना है कि सुदूर पूर्व औद पश्चिम की भाषाओं को एक साथ नहीं रखा जा सकता; क्योंकि प० हि० भाषा सदैव से साम्राज्ञी और अन्य भाषाएँ उसके आधिपत्य में रहने वाली रानियाँ हैं। वह अब भी राष्ट्रभाषा का आसन ग्रहण किये हुए है।

चटर्जी महाशय ने अपने वर्गीकरण में पश्चिमी हिन्दी को ही केन्द्रीय भाषा मानकर शेष भाषाओं का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप में किया है—

१—**उदीच्य** [उत्तरी] वर्ग—सिन्धी, लहँदा, पंजाबी।

२—**प्रतीच्य**—[पश्चिमी] वर्ग—गुजराती, राजस्थानी।

३—**मध्य वर्ग**— पश्चिमी हिन्दी।

४—**प्राच्य** [पूर्वी] वर्ग—पूर्वी हिन्दी, बिहारी, उड़िया, बँगला, आसामी।

५—**दाक्षिणात्य** [दक्षिणी] वर्ग—मराठी।

पहाड़ी भाषा का मूलाधार चटर्जी पैशाची दरद या खस को मानते हैं। बाद को ये राजस्थान की प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं से बहुत प्रभावित हो गई थीं। चटर्जी का यह वर्गीकरण अधिक सुविधाजनक है। ग्रियर्सन ने भी

बाद में पश्चिमी हिन्दी को केन्द्र मानकर अपना वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है—

[१] **मध्य देशीय भाषा**—पश्चिमी हिन्दी ।

[२] **अन्तर्वर्ती अथवा माध्यम भाषाएँ**—

[अ] मध्यदेशीय भाषा से विशेष घनिष्ठता वाली—पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, पहाड़ी ।

[आ] बहिरंग भाषाओं से अधिक सम्बद्ध—पू० हि० ।

[३] **बहिरंग भाषाएँ**—

[अ] पश्चिमोत्तर वर्ग—लहँदा, सिन्धी ।

[आ] दक्षिणी वर्ग—मराठी ।

[इ] पूर्वी वर्ग—बिहारी, उड़िया, बंगाली, आसामी ।

डा० धीरेन्द्र वर्मा ने चटर्जी महोदय के वर्गीकरण को आधार मानकर आर्य भाषाओं का स्वाभाविक वर्गीकरण निम्नलिखित रीति से किया है जो ग्रियर्सन साहब के समुदायों के विभागों से भी कुछ साम्य रखता है—

(क) उदीच्य (उत्तरी) वर्ग

१—सिन्धी २—लहँदा ३— पंजाबी

(ख) प्रतीच्य (पश्चिमी) वर्ग

४—गुजराती

(ग) मध्यदेशीय (बीच का) वर्ग

५— राजस्थानी ६—पश्चिमी हिन्दी ७— पूर्वी हिन्दी ८— बिहारी

(घ) प्राच्य [पूर्वी] वर्ग

९—उड़िया १०—बंगाली ११—आसामी

[ङ] दक्षिणात्य [दक्षिणी]

१२—मराठी

पहाड़ी भाषाओं के सम्बन्ध में इनका मत भी चटर्जी का समर्थक है ।

वर्मा जी के वर्गीकरण में चटर्जी के वर्गीकरण से केवल इतना ही अन्तर है कि चटर्जी ने जहाँ मध्यवर्ग में पश्चिमी हिन्दी को ही लिया है वहाँ वर्मा जी ने पश्चिमी हिन्दी के साथ-साथ राजस्थानी, पूर्वी हिन्दी और बिहारी को

भी ले लिया है। पहाड़ी भाषाओं के विषय में वर्मा जी का भी वही मत है जो कि चटर्जी महोदय का। वेवर ने अपने वर्गीकरण में इन भाषाओं को उत्तरी दक्षिणी, पूर्वी, पश्चिमी, मध्यदेशीय आदि अनेक वर्गों में विभाजित किया है।

श्री राममूर्ति मेहरोत्रा ने पश्चिमी हिन्दी को केन्द्रस्थ भाषा मानकर शेष सभी भाषाओं को पूर्वी तथा पश्चिमी दो वर्गों में विभाजित किया है। उनका ग्रियर्सन तथा चटर्जी दोनों से मतभेद है। वे पश्चिमी हिन्दी को पश्चिमी वर्ग में ही मानते हैं क्योंकि वह लक्षणों से इसी वर्ग से अधिक समानता रखती है। यदि नैनीताल से नागपुर तक एक सीधी रेखा खींची जाय तो उसके पूर्व की भाषाएँ पूर्वी वर्ग में और पश्चिमी वर्ग में आएँगी। साथ ही पश्चिमी हिन्दी केन्द्रीय भाषा मानी जायगी। इस केन्द्रीय भाषा का क्षेत्र शिमला तथा नैनीताल के दक्षिण हिमालय की तराई से दक्षिण तक तथा अम्वाला से कानपुर तक है। संक्षेप में इसका प्रसार पंजाब के दक्षिण पूर्वी भाग, उत्तर-प्रदेश, मध्यभारत तथा मध्यप्रदेश तक होगा। इसमें खड़ीबोली, ब्रजभाषा, बाँगरू, कन्नौजी तथा बुन्देलखन्डी आदि बोलियाँ सम्मिलित हैं। आदर्श वर्गीकरण की रूपरेखा निम्नलिखित है—

पश्चिमी भाषाएँ	केन्द्र भाषा	पूर्वी भाषाएँ
१—पहाड़ी, २—पंजाबी, ३—लहंदा,	पश्चिमी हिन्दी	१—पूर्वी हिन्दी,
४—सिन्धी, ५—राजस्थानी,		२—विहारी, ३—उड़िया
६—गुजराती, ७—मराठी।		४—बंगला, ५—असमी

प्रश्न २१—हिन्दी शब्द की स्पष्ट व्याख्या करते हुए हिन्दी, हिन्दवी, उच्च अथवा नागरी हिन्दी, हिन्दुस्तानी, दक्खिनी, रेखता, उर्दू तथा खड़ीबोली को स्पष्ट करते हुए उच्च हिन्दी की उत्पत्ति पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—भाषा शास्त्री 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग एक अर्थ में करते हैं तथा साहित्यिक दूसरे अर्थ में। यह बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रान्त का आधा भाग, मध्यभारत, हिमालय के पहाड़ी प्रान्त तथा पंजाब की साहित्यिक भाषा है। गठन की दृष्टि से इसकी दो उपशाखाएँ हैं, पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी। पश्चिमी के अन्तर्गत बाँगरू, हिन्दुस्तानी, बुन्देली और ब्रज ये चार बोलियाँ हैं। पूर्वी के अन्तर्गत दो बोलियाँ हैं, अवधी और छत्तीसगढ़ी।

'हिन्दी' शब्द का प्रयोग किस प्रकार हुआ इस विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। प्रयोग तथा रूप की दृष्टि से 'हिन्दी' अथवा 'हिन्दवी' शब्द फारसी भाषा का है जिसमें इसका अर्थ होता है—हिन्द का। अतः फारसी ग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग हिन्द देश के रहने वाले तथा उनकी भाषा, दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कुछ लोगों का मत है कि 'हिन्दी' शब्द फारसी का है। वे कहते हैं कि इसमें 'हिन्द' शब्द के अन्त में जो 'ई' है वह फारसी की "याए निस्वती" (सम्बन्ध सूचक 'य' या 'ई') है।

भाषा-विज्ञान के अनुसार संस्कृत की 'स' ध्वनि फारसी में 'ह' के रूप में पाई जाती है। इस तरह संस्कृत के सिन्धु और सिन्धी शब्द फारसी में हिन्द और हिन्दी हो जाते हैं। हिन्दू शब्द की उत्पत्ति भी इसी प्रकार हुई है। हिन्दी अर्थात् हिन्द का रहने वाला। फारसी में हिन्दू शब्द का अर्थ 'इस्लाम धर्म के न मानने वाले हिन्दवासी' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अब प्रश्न यह उठता है कि केवल सिन्धु प्रदेश ही तो सारे भारत का प्रतीक नहीं है फिर सारे भारतवासियों के लिए 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग क्यों हुआ? इसका कारण यह माना जा शकता है कि मुसलमानों का सर्वप्रथम आक्रमण सिन्ध पर ही हुआ था। अतः वे लोग यहाँ के रहने वालों को हिन्दी अथवा हिन्द कहने लगे। इसके बाद कालान्तर में जब मुसलमान भारत में फैलने लगे तो उनके साथ यह शब्द भी व्यापक बनता चला गया और अन्त में सारे भारतवासियों के लिए प्रयुक्त होने लगा। यहाँ हमें हिन्दी और हिन्दू शब्द का अन्तर भी समझ लेना चाहिए। 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग किसी भी भारतवासी के लिए हो सकता है परन्तु 'हिन्दू' शब्द एक विशिष्ट धर्म के मानने वालों के लिए प्रयुक्त होता है। प्रारम्भ में इसका प्रयोग सिन्ध देश की भाषा के लिए ही होता था। फिर यह शब्द वहाँ से बढ़कर केवल मध्यदेश की भाषा के लिए ही क्यों प्रयुक्त होने लगा? यह प्रश्न भी विचारणीय है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि मुसलमानों का प्रभुत्व फैल जाने पर मध्यदेश (आगरा और दिल्ली) ही उनकी प्रभुता के केन्द्र रहे। प्राचीन काल से मध्यदेश उत्तरी भारत का केन्द्र रहा है। यहाँ की भाषा ही सदैव राष्ट्रभाषा मानी गई है। अतः यह शब्द यहाँ की भाषा के लिए ही प्रयुक्त होने लगा है। दूसरा कारण यह

कि उत्तर भारत की इस भाषा का प्रसार सिन्ध से लेकर बिहार तक थोड़े बहुत रूप में सर्वत्र रहा है। यही यहाँ की प्रमुख भाषा रही है। इसी कारण इस भाषा का नाम हिन्दी पड़ा है। आज भी उत्तर प्रदेश के निवासियों को, बंगाल, बम्बई, मद्रास, पंजाब आदि में हिन्दुस्तानी कहा जाता है।

हम ऊपर 'हिन्दी' शब्द के दो रूपों का उल्लेख कर आए हैं। एक तो शब्दार्थ की दृष्टि से, दूसरा शास्त्रीय दृष्टि से। डाक्टर श्यामसुन्दर दास के शब्दों में शब्दार्थ की दृष्टि से – 'हिन्दी शब्द का प्रयोग हिन्द या भारत में बोली जाने वाली किसी आर्य अथवा अनार्य भाषा के लिए हो सकता है, किन्तु व्यवहार में हिन्दी उस बड़े भूमिभाग की भाषा समझी जाती है जिसकी सीमा पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर पश्चिम में अम्बाला, उत्तर में शिमला से लेकर नैपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश, पूरब में भागलपुर, पूरब में भागलपुर, दक्षिण पूरब में रायपुर तथा दक्षिण पश्चिम में खंडवा तक पहुँचती है।......इस अर्थ में बिहारी (भोजपुरी, मगही और मैथिली), राजस्थानी (मारवाड़ी, मेवाती आदि), पूर्वी हिन्दी (अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी), पहाड़ी आदि सभी हिन्दी की विभाषाएँ मानी जा सकती हैं।... यह हिन्दी का प्रचलित अर्थ है।"

भाषा-शास्त्रीय अर्थ इससे कुछ भिन्न और संकुचित है। भाषा शास्त्र की दृष्टि से उपर्युक्त विशाल भूमि-भाग में तीन चार उपभाषाएँ मानी जाती हैं। राजस्थान की बोलियाँ 'राजस्थानी समुदाय' में, बिहार की मिथिला और पटना, गया की बोलियाँ तथा उत्तरप्रदेश की बनारस-गोरखपुरी बोलियाँ 'बिहारी समुदाय' तथा पहाड़ी बोलियाँ 'पहाड़ी समुदाय' में मानी जाती है। कुछ लोग हिन्दी के भी भेद मानते है—पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी। पर आधुनिक विद्वान पश्चिमी हिन्दी को ही 'हिन्दी' कहना शास्त्रीय समझते हैं। अतः शास्त्रीय विवेचन में पूर्वी हिन्दी भी हिन्दी से पृथक भाषा मानी जाती है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इन दोनों में अन्तर है। पश्चिमी हिन्दी शौरसेनी की तथा पूर्वी हिन्दी अर्द्धमागधी की वंशज है। इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टि से हिन्दी भाषा की सीमाएँ निम्नलिखित रह जाती हैं— उत्तर में तराई, पश्चिम में

पंजाब, अम्बाला और हिसार के जिले तथा पूर्व में फैजाबाद, प्रतापगढ़ और इलाहाबाद के जिले। दक्षिण की सीमा में कोई परिवर्तन नहीं होता। वह रायपुर तथा खंडवा तक ही है। इस प्रकार हिन्दी भाषा का विवेचन करते समय हमें उसके मूल शब्दार्थ, प्रचलित और साहित्यिक अर्थ तथा शास्त्रीय अर्थ को स्पष्ट रूप से समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है।

हिन्दवी— हिन्दी को ही कुछ प्राचीन लेखकों ने 'हिन्दवी' शब्द की संज्ञा दी है। 'रानी केतकी की कहानी' के लेखक मुंशी इंशाअल्लाखाँ ने इसी 'हिन्दवी' भाषा में अपनी पुस्तक लिखने का प्रयत्न किया था। उनका मत था कि इस भाषा में विदेशी भाषाओं अथवा संस्कृत के शब्दों का प्रयोग न होने पावे। इस प्रकार से यह बिल्कुल शुद्ध शहरी बोली मानी जा सकती है। वह भी बोलचाल की, साहित्य की नहीं।

खड़ी बोली— खड़ी बोली मूल रूप से रामपुर रियासत, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, सहारनपुर, देहरादून, अम्बाला तथा पटियाला रियासत के पूर्वी भागों की बोली है। इनमें अरबी फारसी के शब्दों का खूब प्रयोग होता है परन्तु तद्भव या अर्द्ध तत्सम् रूप मे ही। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग ५३ लाख है। इसकी उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश से मानी जाती है। इस पर कुछ पंजाबी का भी प्रभाव है। खड़ी बोली के विषय में एक विचित्र बात यह है कि अन्य बोलियाँ तो अपने-अपने प्रदेश के नाम पर पुकारी जाती हैं जैसे अवधी, ब्रज, बुन्देली आदि, परन्तु खड़ी बोली का नामकरण प्रदेश के नाम पर नहीं हुआ है। मुसलमानों ने इसे रेखता कहा। खड़ी बोली शब्द का प्रथम प्रयोग लल्लूजीलाल और सदल मिश्र के लेखों में मिलता है। कुछ लोगों का मत है कि यह 'खड़ी' शब्द 'खरी' (टकसाली) का बिगड़ा रूप है। आजकल खड़ी बोली ही हिन्दी साहित्य की मूलाधार है। हिन्दी का लगभग सम्पूर्ण साहित्य इसी में लिखा जाता है।

उच्च अथवा नागरी हिन्दी—यह खड़ी बोली ही आजकल की हिन्दी, उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी की मूलाधार है। खड़ी बोली का साहित्यिक रूप ही उच्च अथवा नागरी हिन्दी कहलाता है। जब इसमें संस्कृत के शब्दों का अधिक प्रयोग होता है तो यह उच्च अथवा साहित्यिक हिन्दी कहलाती है और जब

अरबी फारसी के शब्दों का बाहुल्य होता है तो उर्दू कहलाती है। वर्तमान युग का सम्पूर्ण साहित्य इसी उच्च हिन्दी में लिखा जा रहा है। पढ़े लिखे हिन्दू इसी का व्यवहार करते हैं। पहले खड़ी बोली के इस रूप को साहित्यिक महत्व प्राप्त नहीं था। परन्तु राजनीतिक कारणों से हिन्दू संस्कृत की ओर झुके इसलिए उन्होंने खड़ी बोली को संस्कृत के शब्दों से भर दिया। इसी से आधुनिक उच्च अथवा संस्कृत गर्भित हिन्दी का जन्म हुआ जो अब तक चली आ रही है। आज यही भाषा भारत की राष्ट्रभाषा है।

उर्दू—खड़ी बोली जब अरबी फारसी के तत्सम् और अर्द्ध तत्सम् शब्दों को अपना लेती है तो उर्दू कहलाने लगी है। कभी-कभी इसकी वाक्य रचना पर भी विदेशी प्रभाव रहता है। यह भारतीय मुसलमानों की साहित्यिक भाषा है। इसके भी दो रूप हैं—एक दिल्ली लखनऊ की तत्सम बहुला क्लिष्ट उर्दू और दूसरी दक्खिनी की सरल उर्दू जिसे दक्खिनी भी कहते हैं। इस प्रकार उर्दू कोई अलग बोली न होकर भाषा-विज्ञान की दृष्टि से खड़ी बोली का ही एक साहित्यिक रूप-मात्र है। उर्दू की उत्पत्ति के विषय में आगे विस्तारपूर्वक विचार किया जायगा।

रेखता—उर्दू के ही एक रूप को अथवा प्राचीन नाम को 'रेखता' कहा गया है। मुगल काल के उत्तरार्द्ध में दिल्ली और उसके बाद लखनऊ के दरबारों में उर्दू के कवियों का एक अलग समुदाय बन गया जिसने उर्दू के बाजारू रूप को सुधार कर उसे साहित्यिक रूप दिया। इसमें फारसी भाषा के शब्दों का अधिक मिश्रण था इसी कारण कविता की इस उर्दू को 'रेखता' (शब्दार्थ मिश्रित) कहा गया। यह भाषा शुद्ध रूप से साहित्यिक नहीं थी। स्त्रियों की भाषा भी साधारणतया शुद्ध नहीं होती, इसीसे मुसलमानों में स्त्रियों की भाषा को 'रेख्ती' कहा जाता है। सम्भव है इसी 'रेख्ती' शब्द के अनुकरण पर इस भाषा का नाम 'रेखता' पड़ा हो। डा० श्यामसुन्दरदास 'रेखता' का अर्थ गिरना या पड़ना बताते हैं। चन्द्रवली पांडेय रेखता का अर्थ 'अपभ्रंश' मानते हैं। अपभ्रंश बिगड़ी हुई भाषा को कहते हैं। यह नवीन भाषा शुद्ध उर्दू का बिगड़ा हुआ पूर्व रूप था अतः इसे रेखता कहा गया। 'रेखता' शब्द में हीनत्व भावना है। सम्भव है इसी को लक्ष्य कर अपनी श्रेष्ठता घोषित करने के लिए इस

गिरी पड़ी भाषा के विरोध में दिल्ली मेरठ की नवीन साहित्यिक भाषा का नाम खड़ीबोली रखा गया हो।

दक्खिनी— डाक्टर बाबूराम सक्सेना दक्खिनी को आधुनिक खड़ी बोली के आदि रूप का विकसित रूप मानते हैं। उर्दू का साहित्य में प्रयोग सर्वप्रथम दक्षिण में हुआ। उस समय दिल्ली की राजभाषा फारसी थी। उर्दू का वहाँ कोई साहित्यिक मूल्य नहीं था। दक्षिण में यह मुसलमानी शासकों की भाषा होने के कारण सम्माननीय थी। इसलिये वहाँ साहित्य में उसका प्रयोग होने लगा। दक्षिण की इस भाषा के दो रूप मिलते हैं। एक रूप तो वह है जब तक उस पर वली औरंगाबादी का प्रभाव नहीं पड़ा था। उस समय तक अरबी फारसी के शब्दों से इस भाषा का अधिक परिचय नहीं था। दूसरा रूप वह है जब वली दिल्ली आए और वहाँ से प्रभावित होकर दक्षिण गये; तभी से इस दक्खिनी भाषा में भी अरबी फारसी का बोलबाला हुआ। अस्तु, आजकल दक्खिनी मुसलमानों की भाषा को 'दक्खिनी उर्दू' कहा जाता है। इसमें फारसी शब्द कम प्रयुक्त होते हैं। यह उर्दू की अपेक्षा कम परिमार्जित है। (दक्खिनी हिन्दी का आगे चलकर विस्तारपूर्वक विवेचन किया जायगा)

हिन्दुस्तानी—हिन्दुस्तानी भी खड़ी बोली का एक रूप है। यह हिन्दी उर्दू की अपेक्षा खड़ी बोली के अधिक निकट है क्योंकि इस पर अरबी फारसी का अस्वाभाविक प्रभाव कम पड़ा है। संस्कृत का अभाव भी साहित्यिक शुद्ध हिन्दी की अपेक्षा कम है। इसे हम साधारण जनों की बोलचाल की भाषा कह सकते हैं। दक्षिण के द्रविड़ भाषा-शैली क्षेत्रों को छोड़कर खड़ी बोली का यह हिस्दुस्तानी रूप भारत में प्रायः सर्वत्र माना जाता है। भारत के सम्पूर्ण बड़े-बड़े नगरों में इसका प्रचार है। दिल्ली और लखनऊ तो इस के गढ़ हैं। 'हिन्दुस्तानी' नाम यूरोपिय विद्वानों का दिया हुआ है। महात्मा गाँधी ने भी हिन्दी उर्दू के मिश्रित सरल साहित्यिक रूप को हिन्दुस्तानी कहा था। इसके लिये उन्होंने प्रेमचन्द की भाषा को आदर्श माना था। राष्ट्रभाषा के नाम से इसी भाषा का प्रचार हुआ और आजकल के प्रगतिवादी विद्वान भी इसी को राष्ट्रभाषा मानते हैं। हिन्दी का साधारण साहित्य, जो जनसाधारण में अधिक प्रचार पाता है जैसे किस्से, गजलें आदि इसी में

लिखा जाता है। इन्शा की 'रानी केतकी की कहानी' तथा हरिऔधजी की 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'बोलचाल' नामक आदि पुस्तकों में इसी भाषा का रूप मिलता है। डाक्टर ग्रियर्सन ने खड़ी बोली के इस रूप को 'वर्नाक्यूलर हिन्दुस्तानी' का नाम दिया था। इस भाषा का कोई विशिष्ट क्षेत्र नहीं है। यह भारत के सम्पूर्ण भागों में विशेषकर उत्तर भारत में, सर्वत्र समझी जाती है। डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा हिन्दुस्तानी को 'शिष्ट' लोगों की बोलचाल की कुछ परिमार्जित खड़ीबोली मानते हैं।

प्रश्न २२—भाषा-विज्ञान की दृष्टि से हिन्दी की ग्रामीण बोलियों का विवेचन कीजिए।

उत्तर— भाषा-शास्त्र की दृष्टि से मध्यदेश की बोलियों को समष्टि रूप से हिन्दी कहा जाता है। इस सम्पूर्ण समूह के दो वर्ग माने गये हैं। पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी। पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत खड़ी बोली, बाँगरू, ब्रज, कन्नौजी तथा बुन्देली मानी गई हैं। पूर्वी हिन्दी में अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी मानी गई हैं। कुछ लोग भोजपुरी को भी इस वर्ग के अन्तर्गत मानते हैं और कुछ बिहारी भाषा-समूह से सम्बन्धित मानते हैं। इस प्रकार यदि भोजपुरी को भी इस समुदाय में सम्मिलित कर लिया जाय तो कुल मिलकर हिन्दी की नौ बोलियाँ हैं। इनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

१—खड़ी बोली—खड़ी बोली का विवेचन हम पीछे कर आए हैं। परन्तु वह विवेचन साहित्यिक रूप का ही है; बोली रूप का नहीं। खड़ी बोली को सरहिन्दी भी कहा जाता है। यह पश्चिमी रुहेलखण्ड, गङ्गा के उत्तरी दोआब तथा अम्बाला जिले की बोली है। दिल्ली-मेरठ प्रदेश में यह बहुत बोली जाती है। दिल्ली प्राचीन काल से मुस्लिम शासन का केन्द्र रहा है। इस कारण इस बोली में अरबी, फारसी, तुर्की आदि अनेक भाषाओं के शब्द घुलमिल गये हैं। इन विदेशी शब्दों का प्रयोग तत्सम् रूप में न होकर अर्द्ध तत्सम् या तद्भव रूप में ही होता है। इन विदेशी शब्दों के अधिक प्रयोग के कारण ही इसे उर्दू कहा गया है। पहले अपने मूल रूप में यही गँवारू बोली थी पर धीरे-धीरे उसका रूप स्थिर होता चला गया। इसमें उर्दू गद्य का

निर्माण होने लगा। जब हिन्दी को गद्य की जरूरत महसूस हुई तो उसमें भी खड़ीबोली के इसी गद्य रूप को अपना लिया और उसमें संस्कृत के शब्दों का प्रयोग कर उसे आधुनिक रूप दिया है। बाद में इसका प्रयोग पद्यों में भी होने लगा। इस प्रकार इस बोली के दो रूप हो गए—उर्दू (अरबी फ़ारसी से प्रभावित) तथा हिन्दी (संस्कृत तथा प्राचीन हिन्दी से प्रभावित)। शुद्ध रूप में खड़ी बोली के मूल रूप के बोलने वालों की संख्या लगभग ८३ लाख है। आश्चर्य है कि ८३ लाख की जनसख्या वाली बोली आज ३५ करोड़ भारतीयों की राष्ट्रभाषा बनी हुई है। अपने मूल रूप में यह रामपुर रियासत, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून, अम्बाला तथा पटियाला रियासत के पूर्वी भाग में बोली जाती है। खड़ी बोली के मूल रूप में भी भिन्नता है। इसके दो रूप माने जाते हैं—बिजनौर जिला की खड़ी बोली और मेरठ की खड़ी बोली।

२—**बाँगरू**—महजाटू या हरयानी के नाम से प्रसिद्ध है। इसका क्षेत्र दिल्ली, करनाल, रोहतक, हिसार, पटियाला, नाभा तथा भींद रियासत है। एक प्रकार से यह राजस्थानी और पंजाबी मिश्रित खड़ी बोली है। पानीपत और कुरुक्षेत्र के प्रसिद्ध रणक्षेत्र इसी की सीमा में हैं। इस प्रकार इसे हम हिन्दी की पश्चिमी सरहदी बोली कह सकते हैं। वास्तव में यह खड़ी बोली का ही एक उपविभाग है। अभी तक यह निर्णय नहीं हो सका है कि बाँगरू को एक स्वतन्त्र बोली माना जाय अथवा नहीं।

३—**ब्रजभाषा**—मध्यकाल में अपने समृद्ध साहित्य के कारण ब्रजभाषा उत्तर भारत की साहित्य भाषा मानी जाने लगी। आजकल खड़ी बोली के कारण इसमें बहुत कम साहित्य लिखा जाता है। आज इसका रूप केवल हिन्दी की एक विभाषा और बोली के रूप में ही रह गया है। विशुद्ध रूप में यह अब भी मथुरा, आगरा, अलीगढ़ तथा धौलपुर में बोली जाती है। गुड़गाँव, भरतपुर, करौली तथा ग्वालियर के पश्चिमोत्तर भाग में इसमें बुन्देली तथा राजस्थानी की झलक आ जाती है। बुलन्दशहर, बरेली की तरफ इसमें खड़ी बोली का प्रभाव लक्षित होने लगता है। ऐटा, मैनपुरी, इटावा की ओर

कन्नौजीपन की लटक आ जाती है। ब्रजभाषा के बोलने वालों की संख्या लगभग ७० लाख है।

४—**कन्नौजी**—यह गङ्गा के मध्य दोआब की बोली है। इसका क्षेत्र ब्रज और अवधी के बीच में है। यह प्राचीन कन्नौज राज्य की बोली है। वास्तव में यह ब्रजभाषा का ही एक उपरूप है जिसका केन्द्र फर्रुखाबाद है। उत्तर में हरदोई, शाहजहाँपुर तथा पीलीभीत तक और दक्षिण में इटावा तथा कानपुर के दक्षिणी भाग में बोली जाती है। इन प्रदेश के सभी कवियों ने ब्रजभाषा में काव्य रचना की है, इसी से इसे ब्रजभाषा का एक उपरूप माना जाता है। इसके बोलने वाले ४७ लाख हैं।

५—**बुन्देली** यह बुन्देलखंड की भाषा है। इसका क्षेत्र ब्रजभाषा के दक्षिण में है। शुद्ध रूप में यह झाँसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, ओरछा, सागर, नृसिंहपुर, शिवनी तथा होशंगाबाद में बोली जाती है। इसके कई मिश्रित रूप दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह, 'बालाघाट तथा छिंदवाड़ा के कुछ भागों में पाए जाते हैं। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग ६९ लाख है। मध्यकाल में यह प्रदेश साहित्य का प्रसिद्ध केन्द्र रहा था पर यहाँ के कवियों ने कविता ब्रजभाषा में ही की थी। उसमें कहीं-कहीं बुन्देली का प्रभाव अवश्य है। बुन्देली और ब्रजभाषा में बहुत साम्य है।

६—**अवधी**—उत्तर प्रदेश में हरदोई जिले को छोड़कर शेष संपूर्ण अवध की बोली अवधी कहलाती है। यह लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, खीरी, फैजाबाद, बहराइच, प्रतापगढ़, बाराबङ्की तथा सुल्तानपुर में बोली जाती है। इसके अतिरिक्त गङ्गा के दक्षिणी किनारे पर इलाहाबाद, कानपुर तथा मिर्जापुर में भी इसका प्रचार है। बिहार के मुसलमान भी अवधी बोलते हैं। इस मिश्रित अवधी का प्रचार मुजफ्फरपुर तक है। इसके बोलने वालों की संख्या १ करोड़ ४५ लाख के लगभग है। हिन्दी के प्रसिद्ध रामभक्त कवि तुलसीदास ने अपनी प्रसिद्ध रामायण साहित्यिक अवधी में ही लिखी थी। अवधी का ठेठ रूप कुछ जायसी के पद्मावत में मिल जाता है। द्वारिकाप्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' नामक आधुनिक महाकाव्य भी इसी बोली में लिखा गया है। हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में अवधी का खूब प्रचार हुआ था परन्तु आगे

चलकर यह ब्रजभाषा की प्रतिद्वन्द्विता में न ठहर सकी। आज इसमें बहुत कम साहित्य लिखा जाता है।

७— **बघेली**— अवधी के दक्षिण में बघेली का क्षेत्र है। यह मध्यप्रांत के दमोह, जबलपुर तथा बालाघाट तक बोली जाती है। इसका केन्द्र रीवाँ राज्य माना जाता है। जिस प्रकार बुन्देलखण्ड के कवियों ने ब्रजभाषा को अपना रखा था उसी प्रकार रींवा राज्य के राज्याश्रित कवियों ने अवधी को ही साहित्यिक भाषा मान रखा था और उसी में कविता करते थे। नई खोज से यह सिद्ध हो चुका है कि बघेली कोई स्वतन्त्र बोली न होकर अवधी का ही एक उपरूप है। इसके बोलने वाले लगभग ४६ लाख हैं।

८— **छत्तीसगढ़ी**—इसे लरिया या खाही भी कहते हैं। इसके भिन्न रूप हैं। मध्यप्रान्त में रामपुर और बिलासपुर के जिलों तथा काँकर, नन्दगाँव, कोरिया, उदयपुर तथा जयपुर आदि राज्यों में इसके भिन्न-भिन्न रूप बोले जाते हैं। इस भाषा में प्राचीन साहित्य बिल्कुल नहीं है। कुछ नई बजारू किताबें अवश्य छपी हैं। इसके बोलने वाले लगभग ३१ लाख हैं।

९— **भोजपुरी**—यह बाराबंकी, जौनपुर, गाजीपुर, बलिया, मिर्जापुर, गोरखपुर, बस्ती, आजमगढ़, शाहाबाद, चम्पारन तक बोली जाती है। इसका केन्द्र बिहार के शाहाबाद का भोजपुर नामक कस्बा है। बोलने वालों की संख्या ३ करोड़ है।

प्रश्न २३—हिन्दी के ऐतिहासिक विकास-क्रम पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उत्तर—विद्वानों ने हिन्दी भाषा का प्रारम्भ १००० ई० से माना है। इस समय तक हिन्दी का प्रयोग साहित्य में होने लगा था। परन्तु हिन्दी एकाएक तो साहित्य की भाषा नहीं बन गई होगी? साधारण नियम के अनुसार पहले उसका रूप साधारण बोलचाल की भाषा का रहा होगा। धीरे-धीरे जनवादी साहित्यकारों ने उसका प्रयोग साहित्य में करना प्रारम्भ कर दिया होगा। इसलिए हिन्दी के विकास-क्रम का विवेचन करने के लिए यह आवश्यक है कि हम १००० ई० से पहले की हिन्दी का रूप समझ लें।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ संवत् १०५० से माना है। अन्य विद्वान भी इसी समय को हिन्दी साहित्य का प्रारंभिक काल मानते हैं। अतः हिन्दी भाषा के विकास क्रम को देखने के लिए हमें हिन्दी साहित्य के समानान्तर ही चलना पड़ेगा।

डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने इस विकास के इतिहास को तीन कालों में विभाजित किया है :—

१—**प्राचीन काल** (१००० ई० से १५०० ई० तक)—जब अपभ्रंश तथा प्राकृतों का प्रभाव हिन्दी भाषा पर मौजूद था तथा साथ ही हिंदी को बोलियों के निश्चित स्पष्ट रूप विकसित नहीं हो पाए थे।

२—**मध्यकाल** (१५०० ई० से १८०० ई० तक) जब हिन्दी पर से अपभ्रंसों का प्रभाव बिल्कुल हट गया था और हिन्दी की बोलियाँ, विशेषतया खड़ी बोली, व्रज, और अवधी, अपने पैरों पर स्वतन्त्रता-पूर्वक खड़ी हो गईं थी।

३—**आधुनिक काल** (१८०० ई० के बाद) जब से हिन्दी की बोलियों के मध्यकाल के रूपों में परिवर्तन आरम्भ हो गया है, तथा साहित्यिक प्रयोग को दृष्टि से खड़ी बोली ने हिन्दी की अन्य बोलियों को दबा दिया है।

प्राचीन काल

हिन्दी भाषा की प्राचीन काल की सामग्री डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार नीचे लिखे भागों में विभक्त की जा सकती है—

१—शिलालेख, ताम्रपत्र, तथा प्राचीन पत्रादि।

२—अपभ्रंश का काव्य।

३—चारण काव्य, जिनका आरम्भ गंगा की घाटी में हुआ था किन्तु राजनीतिक उथल-पुथल के कारण बाद में जो प्रायः राजस्थान में लिखे गए, तथा धार्मिक ग्रन्थ व अन्य काव्य ग्रन्थ।

४—हिन्दी अथवा पुरानी खड़ी बोली में लिखा साहित्य।

हिन्दी भाषा का प्राचीन या आरम्भिक युग विदेशी शासन का युग था। अतः उस काल के हिन्दू राजाओं द्वारा शिलालेख आदि खुदाए जाने की सम्भावना अपेक्षाकृत कम है। हिन्दी के सबसे प्राचीन नमूने पृथ्वीराज तथा समर-

सिंह के दरबारों से सम्बन्धित मिले थे परन्तु वे भी अब अप्रामाणिक घोषित किए जा चुके हैं। डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल एवं राहुल सांकृत्यायन ने नाथपंथ तथा वज्रयानी सिद्ध साहित्य पर प्रकाश डाल कर अनेक ग्रन्थों का पता लगाया है। इनमें कई बहुत प्राचीन हैं; इनके रचयिताओं का समय ७०० ई० से १३०० तक माना गया है। कुछ विद्वान इनकी प्रामाणिकता में भी सन्देह करते हैं। इनकी भाषा का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो चुका है कि इन सिद्धों की भाषा हिन्दी न होकर स्पष्ट रूप से अपभ्रंश (मागधी) है। साहित्य का परिचय हरप्रसाद शास्त्री के 'बौद्धगान और दोह' नामक ग्रंथ से हुआ था।

गुलेरी जी ने 'पुरानी हिन्दी' के नाम से प्राचीन भाषा के कुछ उदाहरण संकलित किए हैं परन्तु इन पर राजस्थानी प्रभाव अधिक है। दूसरे इनकी भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव इतना अधिक है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हें हिन्दी के अन्तर्गत न मानकर अपभ्रंश साहित्य के अन्तर्गत माना है। इन उदाहरणों से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि हिन्दी भाषा का विकास होने से पूर्व उसका क्या-क्या रूप था। इस काल की भाषा का तीसरा रूप चारण, धार्मिक तथा लौकिक काव्य ग्रन्थों में सुरक्षित माना जाता है। चारण काव्यों की भाषा भाषाशास्त्र की दृष्टि से संदिग्ध मानी गई है। इस भाषा को उस काल की भाषा नहीं माना जा सकता। इस तथा अन्य अनेक कारणों से लगभग सभी चारण ग्रंथ अप्रमाणिक सिद्ध हो चुके हैं। परन्तु उनमें कहीं कहीं प्राचीन भाषा के कुछ नमूने अवश्य मिल जाते हैं। इन ग्रंथों की भाषा उतनी प्राचीन इस कारण नहीं मानी जाती कि उसमें हिन्दी की उस अवस्था के लक्षण नहीं मिलते जब उसका विकास हो रहा था। इसका कारण यह माना जाता है कि बहुत समय तक ये ग्रंथ मौखिक रूप में ही प्रचलिए रहे। बाद में जाकर उनका संग्रह किया गया; इसी से भाषा में नवीनता आ गई। किसी भी चारण काव्य की हस्तलिखित प्रति १५०० ई० से पूर्व की नहीं मिली है।

दक्खिनी या हिंदवी भाषा का प्रारम्भ मुहम्मद तुगलक के दक्षिण आक्रमण (१३२६) के बाद हुआ। इसकी प्रारम्भिक रचनाएँ सूफी फकीरों ने लिखीं जिनकी लिपि फारसी थी। इस काल के साहित्य में विद्यापति का नाम भी बड़े आदर से लिया जाता है परन्तु उनकी पदावली की भाषा हिन्दी न होकर

मैथिली है। इनके किसी भी वर्तमान संग्रह की भाषा पंद्रहवी शताब्दी से पुरानी नहीं मानी जाती। विद्यापति चौदहवीं शताब्दी में हुए थे। कबीर (१४२३ ई०) आदि संत कवियों की भाषा के विषय में भी निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि वे अपने मूलरूप में उपलब्ध हैं। उनकी सधुक्कड़ी भाषा के अनेक रूप मिलते हैं। कबीर के काव्य में कहीं तो पंजाबी का घोर प्रभाव लक्षित होता है और कहीं पूरबी हिन्दी का।

इस काल में केवल अमीर खुसरो ही एक ऐसा कवि है जिसकी भाषा में साहित्यिक हिन्दी के दर्शन होते हैं।

हिन्दी के प्राचीन रूप की विवेचना करते हुए डाक्टर बड़थ्वाल कहते हैं कि आरम्भ में मध्यदेश में हिन्दी का सर्वग्राह्य रूप रहा होगा जो विकसित होकर ब्रज, अवधी और खड़ी बोली के अलग-अलग रूपों में मिलता है। उनका मत है कि गोरख, जलंधर, चौरंगी, करोरी आदि योगियों की वाणी में उस भाषा का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। नामदेव, मीर, रैदास आदि मध्यदेशी और बाहरी साधु सन्तों में भी भाषा का प्रायः यही स्पष्ट रूप दिखाई देता है।

हिन्दी भाषा का प्राचीन काल मुसलमानी प्रभुत्व का काल है। अतः यह स्वाभाविक है कि हिन्दी से उनकी भाषाओं का आदान-प्रदान अवश्य हुआ होगा। चन्द आदि में इनके उदाहरण भी मिल जाते हैं। चन्द की कविता में मशाल, शेख, सुल्तान, याकूब आदि अरबी के; शक्कर, कमाप, रूख, शाह आदि फारसी के तथा उजवक आदि तुर्की भाषा के शब्दों का प्रयोग हुआ है। चन्द की दूसरी भाषा प्राकृत के ढङ्ग की है। उसमें कम्म, धम्म आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। चन्द की तीसरी भाषा सरल है। वह ब्रज से बहुत मिलती जुलती है। अनुमान है कि वही स्वच्छ और सरल होकर ब्रजभाषा बनी होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी अपने विकास के आदि काल में चारों ओर से शक्ति ग्रहण करते हुए विकसित होती जा रही थी। उसने संस्कृत के समान अपने को नियमबद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया था। आदान-प्रदान

करने वाली भाषा बड़ी शक्तिशाली होती है । वह मरती या कभी स्थिर नहीं होती । हिन्दी का वह गुण आज भी अक्षुण्ण है ।

इस काल के प्रसिद्ध कवियों में नरपति नाल्ह, चन्द, खुसरो, जगनिक, गोरखनाथ, अमीर ख़ुसरो, विद्यापति तथा कबीर विशेष प्रसिद्ध हैं ।

मध्यकाल

मध्यकाल तक आते-आते तुर्कों का प्रभुत्व समाप्त होकर मुगलों का साम्राज्य स्थापित होने लगा था । सत्ता के इस परिवर्तन के संक्रान्ति काल में कुछ समय तक राजपूतों का भी प्रभुत्व रहा था । इन राजपूतों ने हिन्दी को विशेष प्रोत्साहन दिया । दूसरे मुगल शासक यह समझते थे कि बिना जनता की सहानुभूति प्राप्त किए भारत का शासन करना असम्भव है । इसलिए उन लोगों ने जनता से सम्पर्क स्थापित करना प्रारम्भ किया । जनता से सम्पर्क जनता की ही बोली में स्थापित किया जा सकता था । अकबर आदि ने यही किया । जनता की बोली हिन्दी थी । जब उसके कवियों का शाही दरबार में सम्मान होने लगा तो जनता भी स्वच्छन्द रूप के उसे लेकर आगे बढ़ी । इधर अकबर आदि ने भी इस भाषा को अपनाया । अकबर, जहाँगीर यहाँ तक कि औरङ्गजेब ने भी हिन्दी में कविता की । मुगल साम्राज्य में शांति थी । शान्ति काल में ही कला और साहित्य पनपते हैं । मुगलों की, विशेषकर अकबर की, उदारता ने हिन्दी साहित्य को पनपने का अवसर प्रदान किया । सामाजिक कारणों में सबसे प्रबल कारण धार्मिक आन्दोलन थे । इन धार्मिक प्रचार सम्बन्धी आन्दोलनों के प्रचारकों ने जनता के हृदय तक पहुँचने के प्रयत्न की आवश्यकता का अनुभव किया । कबीर आदि इसका श्रीगणेश कर चुके थे । सूफी कवियों ने भी यही किया । बाद में तो राम के जन्मस्थान अवधी और कृष्ण के जन्मस्थान की भाषा ब्रज ने धार्मिक आन्दोलनों का सहारा पाकर अपना साहित्यिक विकास किया । इस प्रकार धर्म की सहायता पाकर ये भाषाएँ आगे बढ़ चलीं । खड़ी बोली का यह सौभाग्य नहीं प्राप्त हो सका इसलिए उसका विकास रुक गया ।

"अवधी और ब्रजभाषा के दो मुख्य साहित्यिक रूपों का विकास सोलहवीं

सदी में ही प्रारम्भ हुआ। इन दोनों में ब्रजभाषा तो समस्त हिन्दी प्रदेश की साहित्यिक भाषा हो गई किन्तु अवधी में लिखे गए 'रामचरित्रमानस' का का हिन्दी जनता में सबसे अधिक प्रचार होने पर भी साहित्य के क्षेत्र में अवधी भाषा का प्रचार नहीं हो सका।" (डा० धीरेन्द्र वर्मा) कृष्ण भक्ति के अधिक प्रचार ने ब्रजभाषा को प्रधानता दी। सूर ने सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में इसे सर्वप्रथम साहित्यिक रूप दिया। उसके बाद तो ब्रजभाषा में भक्ति का स्रोत अवाध गति से प्रवाहित हो चला। भाषा के इन तीनों रूपों की विवेचना करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि इनकी उत्पत्ति कैसे हुई थी। इस विषय में डाक्टर श्यामसुन्दर दास का कहना है कि—'पुरानी बोलियों ने किस प्रकार नया रूप धारण किया। इसका क्रमबद्ध विवरण देना अत्यन्त कठिन है, पर इसमें सन्देह नहीं कि वे एक बार ही साहित्य के लिए स्वीकृत हुई होंगी। इस अधिकार और गौरव को प्राप्त करने में उनको न जाने कितने वर्षों तक साहित्यिकों की तोड़ मरोड़ सहनी तथा उन्हें घटाने बढ़ाने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे रखनी पड़ी होगी।" डाक्टर साहब ने इन तीनों भाषाओं को बोलियाँ माना है परन्तु उन्होंने यह नहीं बताया कि इनकी उत्पत्ति कहाँ से और कैसे हुई थी? डाक्टर बड़थ्वाल ने इस पर कुछ प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि—"अनुमान होता है कि आरम्भ में हिन्दी का मध्यकाल भर में एक सर्वग्राह्य रूप प्रचलित रहा होगा जिसमें खड़ी, ब्रज आदि के रूप छिपे रहे होंगे। अपने मत के समर्थन में उन्होंने गोरख, जलंधर आदि योगियों की वाणियों के उदाहरण दिए हैं। हिन्दी से पूर्व मध्यदेश की सर्वमान्य भाषा शौरसेनी अपभ्रंश थी। अतः ब्रज और खड़ी बोली की उत्पत्ति इसी से मानी जा सकती है। अवधी की प्रकृति अर्द्ध मागधी अपभ्रंश से मिलती जुलती है। अतः उसमें अर्द्ध मागधी और शौरसेनी का प्रभाव माना जा सकता है। अस्तु,

हम ऊपर कह आए हैं कि कृष्णभक्ति के प्रचार के साथ-साथ ब्रजभाषा का महत्व बढ़ा। सूर, नन्ददास, कुम्भनदास, हितहरिवंश, परमानन्द, हरिराम, व्यास आदि भक्त कवियों की वाणी ने उसमें प्राण और सौन्यर्य का संचार किया। रसखान आदि मुसलमान भक्त कवियों ने भी उसे ही माध्यय बनाकर

अपने सरस उद्‌गारों को साकार रूप दिया। कृष्ण भक्ति के साथ-साथ ब्रज-भाषा समस्त उत्तर भारत में फैल गई। बंगाल में चंडीदास, गुजरात में नरसी मेहता और महाराष्ट्र में तुकाराम आदि ने इसी भाषा में काव्य की रचना की। यह एक प्रकार से उत्तर भारत की काव्य भाषा बन गई। इस समय तक उसमें पर्याप्त गाम्भीर्य और शक्ति आ गई थी। रीतिकाल में जाकर उसकी प्रांजलता, सौन्दर्य और शक्ति अपने चरम रूप में दिखाई दी। बिहारी, देव, मतिराम, केशव, चिंतामणि, घनानंद, सेनापति आदि ने उसका खूब अलंकार शृंगार किया। भूषण ने उसे वीर रस की पुट दी। दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता आदि के रूप मे ब्रजभाषा गद्य के भी दर्शन हुए परन्तु उसका पर्याप्त विकास न हो सका। यह भाषा यहाँ तक सर्वप्रिय हुई कि—"बंगाल में ब्रजबूली नाम से उसका एक अलग रूप चल पड़ा जो कृत्रिम होने पर भी उसका महत्व बतलाता है।" (डा० बड़थ्वाल)

सूर के समय तक ब्रजभाषा काव्यभाषा का रूप धारण कर चुकी थी। उस पर प्राचीन काव्यभाषा का पूरा-पूरा प्रभाव था। क्रिया, सर्वनाम आदि के प्रयोग में प्राकृत और अपभ्रंश का स्पष्ट प्रभाव था। इसका कारण यह था कि यह 'पुरानी सार्वदेशिक काव्यभाषा का विकसित रूप है। यह मध्यदेश की प्रधान बोली होने के कारण प्रमुखता पा गई। चुने हुए उपयुक्त विदेशी शब्दों का खुलकर प्रयोग होने लगा। अष्टछाप के कवियों तक यह रूप रहा। परन्तु उनके बाद के कुछ कवि, जिनका भाव और भाषा पर अधिकार नहीं था, अरुचिपूर्ण ढंग से विदेशी शब्दों का व्यवहार करने लगे। परन्तु घनानन्द तक आते आते भाषा की विशुद्धता पर पुनः ध्यान दिया जाने लगा। घनानन्द इस आन्दोलन के अगुआ थे। अनिच्छित विदेशी प्रयोगों का बहिष्कार होने लगा। विशुद्धता की भावना आधुनिक काल में रत्नाकर आदि में भी दिखाई दी।

अवधी भाषा का प्रथम रूप हमें कबीर आदि सन्तों की सधुक्कड़ी भाषा में मिलता है जो काशी के आस पास रहते थे। यह अवधी का असांस्कृतिक एवं अपरिमार्जित रूप था। आगे चलकर जायसी आदि प्रेमाख्यानक कवियों ने इसे अपने साहित्य का माध्यम बना कर इसके रूप को कुछ परिमार्जित किया। अन्त में तुलसी ने उसे प्रौढ़ता प्रदान कर साहित्यिक आसन पर प्रति-

ष्ठित कर दिया। प्रेमाख्यानक कवियों की अवधी बोलचाल की अवधी थी। "तुलसी ने इसे संस्कृत के योग से परिमार्जित और प्रांजल बनाकर साहित्यिक भाषा का गौरव प्रदान किया। अवधी में अधिकतर प्रबन्ध काव्य ही अच्छे लिखे गए। जायसी का 'पद्मावत', कुतबन की 'मृगावती', शेखनबी का 'ज्ञान दीप', नूर-मुहम्मद की 'इंद्रावती' आदि सूफी कवियों द्वारा रचित प्रबन्ध काव्य हैं। अवधी का सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ तुलसीदास का 'रामचरितमानस' माना जाता है। तुलसी यद्यपि मूलरूप से अवधी के कवि थे परन्तु वे भी ब्रजभाषा के प्रभाव से न बच सके। विनयपत्रिका, गीतावली आदि में उन्होंने ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। सोलहवीं सदी के बाद अवधी में कोई भी महत्वपूर्ण ग्रन्थ नहीं लिखा गया। वह तुलसी द्वारा चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुई और उनके बाद साहित्यिक क्षेत्र से एक प्रकार से लुप्त सी हो गई।

प्राचीन अपभ्रंश की कविता में खड़ी बोली का रूप दिखाई देने लगा था। अवधी और ब्रज के समान ही प्राचीन होने पर भी उसे साहित्य में यथेष्ठ सम्मान न प्राप्त हो सका। समय-समय पर उसने उठ कर अपने अस्तित्व का परिचय अवश्य दिया। इसका रूप सबसे पहले हमें भक्त नामदेव (जन्म संवत् ११६२) की कविता में मिलता है।

आधुनिक काल

यदि मध्ययुग की धार्मिक परिस्थिति ब्रजभाषा के उत्कर्ष में सहायक हुई तो राजनीतिक परिस्थिति ने खड़ीबोली को प्रोत्साहन दिया। मुसलमानों के साथ उर्दू के रूप मे यह चारों ओर फैल गई। ब्रजभाषा का साहित्यिक महत्व घटने लगा। आधुनिक काल में खड़ी बोली की इतनी आशातीत उन्नति का प्रधान कारण उसका गद्य रहा है। इस काल की सबसे बड़ीं विशेषता यह मानी जाती है कि साहित्य जन-साधारण की वस्तु बन गया। उसका केन्द्र राजसभा से हट कर शिक्षित जन समाज में आ गया। इसका परिणाम यह हुआ कि रूढ़िगत काव्य भाषा 'ब्रज' को हटा कर उसके स्थान पर खड़ी बोली की स्थापना की गई और दूसरी तरफ खड़ी बोली गद्य-साहित्य का मूलाधार बन गयी।

परिवर्तन के लक्षण अठारहवीं सदी के अन्त से ही प्रारम्भ हो गए थे। मुगलों के पराभव के समय बाहर की तीन शक्तियों ने हिन्दी क्षेत्र पर अधिकार करने का प्रयत्न किया—अफगान, मराठा और अँग्रेज। इनमें परस्पर खूब युद्ध हुए। अन्त में अँग्रेज विजयी हुए और सन् १८५६ तक आगरा व अवध प्रान्त पर उनका एकाधिकार स्थापित हो गया। इस परिवर्तन का प्रभाव मध्यदेश की भाषा हिन्दी पर पड़ना स्वाभाविक था, परिणाम यह हुआ कि ब्रजभाषा का महत्व घटा। उधर मुसलमानों के प्रचार के कारण मेरठ-बिजनौर की बोली, खड़ी-बोली, उर्दू का रूप धारण कर आगे बढ़ रही थी। शासन कार्य के सुचारु रूप से संचालन के लिये अँग्रेजों को गद्य की आवश्यकता हुई। फल-स्वरूप फोर्ट विलियम कालेज के अँग्रेज अधिकारियों की प्रेरणा से लल्लूजीलाल ने खड़ी बोली गद्य का सर्वप्रथम प्रयोग 'प्रेमसागर' द्वारा किया (यद्यपि खड़ी बोली गद्य इससे पहले भी लिखा जा चुका था) परन्तु इस गद्य पर ब्रजभाषा का प्रभाव रहा। बाद में साहित्यिक क्षेत्र में भारतेन्दु के प्रभाव से और धार्मिक क्षेत्र में स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रभाव से खड़ीबोली गद्य का खूब प्रचार हुआ। उन्नीसवीं सदी तक काव्य की भाषा ब्रजभाषा रही और गद्य की खड़ी बोली।

प्राचीन विचारधारा के लोग, जिन्हें प्राचीन के प्रति अत्यधिक मोह होता है, ब्रजभाषा की हिमायत करते रहे। शिक्षा प्रसार, मुद्रण कला और पत्र-पत्रिकाओं के प्रचार से काव्य भाषा ब्रज और शिक्षित जनता की भाषा खड़ी बोली के बीच का यह अन्तर जनता को असह्य हो उठा। फलस्वरूप महावीर प्रसाद द्विवेदी और अयोध्याप्रसाद खत्री ने ब्रजभाषा के विरुद्ध झंडा उठाया। जनता के सहयोग से उन्हें सफलता मिली। इस सफलता का एक कारण यह भी था कि ब्रजभाषा कविता में विनाश के अंकुर थे। बदरीनाथ भट्ट के शब्दों में—"भाषा के इतिहास में एक समय ऐसा भी आता है जब असली कवित्व शक्ति न रहने पर भी लोग बनावटी भाषा में कुछ भी भला बुरा लिखकर शब्दों की खींचा-तानी करते हुए अपनी लियाकत का इजहार करते हैं और चाहे जैसी अश्लील या अनर्गल बात को छन्द के खोल में छिपा हुआ देख, लोग उसी को कविता समझने और समझाने लगते हैं।" उन्नीसवीं सदी में

ब्रजभाषा-कविता इसी अवस्था को पहुँच गई थी। रूढ़िगत अलंकारों के भार से लदी हुई यह काव्य की भाषा प्रगति के मार्ग पर बढ़ने में असमर्थ थी। अस्तु, बीसवीं शताब्दी में हिन्दी साहित्य की प्रगति और विकास खड़ी बोली साहित्य का इतिहास है।

खड़ी बोली के प्रारम्भिक रूप पर ब्रजभाषा का थोड़ा बहुत प्रभाव रहा परन्तु बाद में जाकर इस प्रभाव को दूर कर वह विशुद्ध बन गई परन्तु अपने साहित्यिक रूप में यह मेरठ विजनौर की बोली से दूर हट गई। यह भिन्नता अभी अधिक नहीं हो पाई है। खड़ी बोली हिन्दी एक जीवनी शक्ति से ओत-प्रोत सशक्त भाषा है। वह बाहर से उपयुक्त शब्द ग्रहण करने में संकोच नहीं करती। उसका व्याकरण अभी जटिल नहीं हो पाया है। यहाँ संक्षेप में खड़ीबोली के रूपों पर भी विचार कर लिया जाय। इस समय हिन्दी के स्वरूप निर्धारण के विषय में दो मत हैं। एक पक्ष उसे पूर्ण रूप से संस्कृत गर्भित बनाकर उसकी शुद्धता की रक्षा करना चाहता है। दूसरा पक्ष यह चाहता है कि हिन्दी एक उन्मुक्त स्रोतस्विनी के समान चारों ओर से बल संचित करती हुई, जनता रुपी कगारों के साथ-साथ बहती रहे। भाषा तभी जीवित रहती है जब वह जनता की अपनी बोली के आस-पास रहती है। दूर हटते ही उसका रूप तो सुन्दर हो जाता है; परन्तु उसकी जींवनी शक्ति मारी जाती है। इस कारण आज जनता का बहुमत इस पक्ष में है कि हिन्दी जनसाधारण की भाषा का रूप ग्रहण कर आगे बढ़े।

खड़ी बोली का साहित्य बहुत तेजी से पनपा है। अवधी और व्रज से उसे बड़ी सहायता मिली है क्योंकि थोड़े से रूप भेद से तीनों की शब्द सम्पत्ति एक ही है। संस्कृत से भी उसने बहुत लिया है। अरबी, फारसी, अंग्रेजी आदि शब्दों से भी उसे परहेज नहीं है। इतना सबकुछ होते हुए भी उसमें वैज्ञानिक और औद्योगिक शब्दावली का अभाव खटकता है।

हिन्दी की अन्य प्रादेशिक बोलियाँ अपने-अपने प्रान्तों में आज भी पूर्ण जीवित हैं। ग्रामीण जनता अपनी स्थानीय बोली का ही प्रयोग करती है। नागरिक जनता में से शिक्षित समुदाय खड़ी बोली का प्रयोग करता है और अशिक्षित समुदाय ऐसी बोली बोलता है जिसमें उस प्रदेश की ग्रामीण बोली और खड़ी बोली का अद्भुत मिश्रण होता है।

प्रश्न २४—हिन्दी शब्द-समूह का विवेचन करते हुए हिन्दी पर अन्य भाषाओं के प्रभाव को स्पष्ट कीजिये।

अथवा

हिन्दी शब्द-समूह का उद्गम की दृष्टि से वर्गीकरण कीजिए और उन्हें स्पष्ट करने के लिए उदाहरण भी दीजिये।

उत्तर—भाषा समाज-सापेक्ष वस्तु है। अतः जन-संसर्ग में रहने के कारण भाषा में नित्य परिवर्तन होता रहता है। परस्पर विचार विनियम से एक भाषा के शब्द समूह का प्रभाव दूसरी भाषा पर पड़ना स्वाभाविक है। वक्ता जब अपने विचारों को अभिव्यक्त करता है, तो श्रोता भी कुछ नवजात शब्दों को सीखने की इच्छा से उनका प्रयोग करने का प्रयास करता है। इसी से एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा में स्वभावतः मिल जाते हैं। 'संसार की प्रत्येक भाषा में अन्य विदेशी भाषाओं के शब्दों का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य होता है। केवल एक देश की भाषा का दूसरे देश की भाषा पर प्रभाव ही नहीं पड़ता वरन् प्रान्त-विशेष का भी अन्य प्रान्तों के शब्द-समूह पर पूरा-पूरा प्रभाव पड़ता है। अन्य समस्त भाषाओं की भाँति भारतीय आर्य-शाखा की हिन्दी भाषा के शब्द-समूह में भी अनेक जीवित तथा मृत भाषाओं के शब्द मिलते हैं। हिन्दी-भाषा शब्द-समूह को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है—

(१) भारतीय आर्य भाषाओं का शब्द-समूह।

(२) भारतीय अनार्य भाषाओं से आए हुए शब्द।

(३) विदेशी भाषा के शब्द।

१—भारतीय आर्य-भाषाओं का शब्द-समूह—हिन्दी के शब्द-समूह अधिकांश रूप में तद्भव शब्दों से परिपूर्ण हैं। तद्भव शब्दों का सम्बन्ध संस्कृत शब्दों से है परन्तु उनमें से कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका उद्गम प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा के शब्दों से हुआ है। इस श्रेणी के शब्द मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में होकर हिन्दी में प्रविष्ट हुए हैं, अतः उनमें कुछ न कुछ परिवर्तन स्वाभाविक रूप से ही हो गया है। साधारण बोलचाल की भाषा में तद्भव शब्दों का प्रयोग अधिकांश रूप में मिलता है। संस्कृत के विशुद्ध रूप 'कृष्ण' के 'कान्हा' 'कन्हैया', 'किशन' रूप हिन्दी में मिलते हैं।

बोलचाल की भाषा में जहाँ तद्भव शब्दों की अधिकता है वहाँ साहित्यिक हिन्दी में तत्सम् अर्थात् संस्कृत के विशुद्ध रूप का व्यवहार होता है। आधुनिक साहित्यिक भाषा में तो इन शब्दों का अधिक व्यवहार होता है। शायद इनके प्रयोग में विद्वता प्रकट करने की आकांक्षा ही मूल कारण हो। इन संस्कृत शब्दों में कुछ ऐसे हैं, जिनका रूप आधुनिक काल में विकृत हो गया है, और जो उच्चारण की सरलता तथा ध्वनियों की दृष्टि से सुगम होने के कारण परिवर्तित नहीं हुए। इस प्रकार के शब्द अर्द्ध-तत्सम् कहलाते हैं। उदाहरणार्थ—'कान्हा' संस्कृत का तद्भव रूप है, किन्तु 'किशन' अर्द्ध-तत्सम् रूप है, क्योंकि संस्कृत 'कृष्ण' का ही यह कुछ विकृत रूप है।

२—**भारतीय अनार्य भाषाओं से आये हुए शब्द**—हिन्दी के तत्सम् और तद्भव शब्दों में कुछ ऐसे हैं जो प्राचीन काल में अनार्य भाषाओं से ले लिये गए थे। जो प्राकृत शब्द संस्कृत शब्द-समूह में उपलब्ध नहीं होते, वे अनार्य भाषाओं में अर्थात् द्रविड़, तमिल, तेलुगु, कोल, आदि अन्य भाषाओं में पाए जाते हैं। परन्तु इन अनार्य भाषाओं के शब्द हिन्दी में बहुत कम मिलते हैं।

द्रविड़ भाषाओं से आये हुए शब्द हिन्दी में परिवर्तित अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। द्रविड़ में 'पिले' शब्द 'पुत्र' के अर्थ में प्रयुक्त होता है, वही शब्द हिन्दी में 'पिल्ला' होकर 'कुत्ते के बच्चे' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। मूर्द्धन्य वर्णों का प्रभाव हिन्दी के शब्द-समूह पर स्पष्ट है। मूर्द्धन्य वर्ण द्रविड़ भाषा की प्रधान विशेषता है। कोल आदि भाषाओं का प्रभाव हिन्दी शब्द-समूह पर बहुत कम है। हिन्दी का 'कोड़ी' शब्द कोल भाषाओं से आया है।

३—**विदेशी भाषाओं के शब्द**— भारत की बागडोर बहुत समय तक विदेशियों के हाथ में रहने के कारण हिन्दी भाषा पर विदेशी भाषाओं का प्रभाव भारतीय भाषाओं की अपेक्षा अधिक पड़ा है। मुसलमान और अंग्रेजों के भारत में दीर्घकालीन शासन के कारण इस देश की भाषा पर भी दोनों का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा है। इस प्रकार मुसलमानी प्रभाव और योरोपीय प्रभाव हिन्दी भाषा पर गम्भीर रूप से दिखाई देता है। परन्तु इन विदेशी शब्दों का हिन्दी भाषा में इस प्रकार मेल हो गया है कि ये शब्द सहसा विदेशी प्रतीत नहीं होते।

मुसलमानी प्रभाव—मुसलमानी प्रभाव के अन्तर्गत फारसी, अरबी, तुर्की तथा पश्तो भाषाओं के शब्द आते हैं। मुसलमानी प्रभुत्व के साथ हिन्दी साहित्य के आदिकाल से ही इसमें फारसी शब्द ग्रहण किये जाने लगे थे। पृथ्वीराज रासो में फारसी, अरबी और तुर्की तीनों भाषाओं के शब्द मिलते हैं। परन्तु अरबी और तुर्की के शब्द सीधे न आकर फारसी द्वारा आये हैं। इन भाषाओं के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

अरबी—मशाल, शेख, सुलतान, याकूब आदि।

फारसी—शक्कर, कमान, रुख, शाह, खानजादे, कुशावा, तेग, तेज आदि।

तुर्की—आका, उजबक, उर्दू, कलगी, कैंची, गलीचा, चाकू, तोप, दरोगा, बबर्ची, सौगात।

पश्तो—पठान, रोहिला (रोह-पहाड़) आदि।

यूरोपीय प्रभाव—यूरोपीय लोग १५०० ई० के लगभग भारत में आने शुरू हुये थे। परन्तु बहुत समय तक भारतीयों से इनका घनिष्ट सम्बन्ध नहीं हो सका। इसी कारण प्राचीन हिन्दी में यूरोपीय शब्दों का नितात अभाव है। १८०० ई० के बाद भारत पर अँग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित हो गया। तभी से हिन्दी शब्द समूह पर अँग्रेजी शब्दों की संख्या सबसे अधिक है। कुछ अँग्रेजी शब्द तो गाँवों तक पहुँच गये हैं। यूरोपीय भाषाओं से आए हुये शब्दों के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

अँग्रेजी—अक्टूबर, आपरेशन, इंच, कलक्टर, गजट, चाक, जज, टब, ठेठर, डबल, तारकोल, थर्मामीटर, दर्जन, नर्स, परेड, फर्स्ट, बस, मशीन, रँगरूट, सम्मन आदि। इन शब्दों में कुछ तो शुद्ध रूप में अपना लिए गये हैं और कुछ विकृत रूप में।

पुर्तगाली—अनन्नास, अचार, काजू, फीता, फांसीसी, बपतिस्मा, आदि।

फ्रांसीसी– कार्तूस. कूपन, अँग्रेज।

डच- तुरुप, बम (गाड़ी का)

उपर्युक्त शब्दों को हिन्दी ने किंचित परिवर्तन के साथ पूर्णतः अपना बना लिया है। इन सभी शब्दों को अपना लेने पर भी हिन्दी के व्याकरण

पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। परन्तु जब मुसलमान और फारसीदाँ हिन्दू ऐसी हिन्दी लिखते हैं जिसमें अरबी फारसी के शब्द अधिक होते हैं, तब उसके वाक्य विन्यास का क्रम साधारण हिन्दी से कुछ भिन्न हो जाता है। इसी तरह अब हिन्दी वाक्य-विन्यास पर अँग्रेजी का प्रभाव पड़ने लगा है।

प्रश्न २५—दक्खिनी हिन्दी की उत्पत्ति और विकास पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उत्तर—दक्षिण के मुसलमान जो हिन्दी बोलते हैं उसे दक्खिनी हिन्दी या केवल दक्खिनी नाम दिया गया है। कुछ विद्वान इसे 'सरल दक्खिनी उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी' भी कहते हैं। इस हिन्दी के बोलने वाले बम्बई, बड़ौदा, बरार, मध्यप्रदेश, कोचीन, कुर्ग, हैदराबाद (दक्षिण), मद्रास, मैसूर और ट्रावनकोर तक में पाये जाते हैं। यह भाषा यद्यपि फारसी अक्षरों में लिखी जाती है परन्तु उत्तरी भारत की उर्दू की तरह उसमें अरबी फारसी के शब्दों की भरमार नहीं रहती। इस बोली के बोलने वालों की संख्या लगभग ६३ लाख बताई जाती है।

दक्खिनी हिन्दी वर्तमान खड़ी बोली का ही एक रूप है। खड़ी बोली साहित्यिक हिन्दी के विकास में चौदहवीं पन्द्रहवीं शताब्दी के दक्षिण भारत के लेखकों—रियासतों के नबाबों, उनके दरबारी कवियों तथा फकीरों इत्यादि—ने महत्वपूर्ण योग दिया था। इस कार्य में मुसलमानों का हाथ अधिक रहने और रचनाओं की लिपि फारसी होने के कारण इसे प्रायः उर्दू समझने की भूल होती चली आई है। वास्तव में दक्खिनी हिन्दी आधुनिक खड़ी बोली के आदि रूप का विकसित रूप है। डा० बाबूराम सक्सेना ने गम्भीर अध्ययन एवं विवेचन द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि खड़ी बोली के विकास और समृद्धि में दक्षिणी रियासतों ने अत्यन्त महत्वपूर्ण योग देकर उसे मुगल-साम्राज्यकालीन राष्ट्रभाषा का रूप देने का प्रयत्न किया था।

प्राचीन काल में खड़ी बोली के तीन नाम प्रचलित थे—हिन्दवी, हिन्दी और दक्खिनी। संस्कृत-निष्ठ हिन्दी से यह भाषा कई बातों में भिन्न है। यह जनसाधारण की भाषा थी। हिन्दी अथवा हिन्दवी शब्द का अर्थ है—हिन्दुओं

की भाषा। हिन्दवी शब्द बहुत पुराना है। शेख अशरफ (१५०३ ई०), मुल्ला वजही (१६३५ ई०) आदि प्रसिद्ध दक्खिनी विद्वानों ने इस भाषा के लिए स्पष्ट रूप से 'हिन्दवी' शब्द का प्रयोग किया है। इब्न निशाती, रुस्तमी आदि लेखकों ने इसे 'दक्खिनी' कहा है। शाह बुर्हानुद्दीन जानम बीजापुरी इसे हिन्दी कहते है। प्रकारान्तर से इन तीनों शब्दों का अभिप्राय एक ही भाषा से है। 'हिन्दवी' शब्द का प्रचार इन्शाअल्लाखाँ तक भी था। उन्होंने ऐसी कहानी कहने का प्रयत्न किया जिसमें—"हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले।" इन्शा की इस बात से यह भी प्रमाणित होता है कि 'हिन्दवी' उस समय की जन-साधारण की बोलचाल की भाषा थी। तभी इंशा इस भाषा में हिन्दी साहित्य का प्रथम उपन्यास या कहानी कहने के लिए उत्सुक थे। दूसरी बात यह कि उस समय तक यह भाषा उत्तरी भारत में साहित्य की भाषा नहीं बनी थी। उस समय इस भाषा में साहित्य लिखना दुष्कर कार्य समझा जाता था। इंशा इस भाषा के विषय में जनमत का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—"यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस, जैसे भले लोग—अच्छों से अच्छे—ज्यों का त्यों ही डौल रहे और छाँव किसी की न हो। वह नहीं होने का।" इंशा अपनी सफलता के विषय में इसलिए शंकित हैं कि हिन्दवी के साहित्यिक रूप 'दक्खिनी' का प्रचार उस समय उत्तर भारत में नहीं था। वहाँ उस समय यह भाषा उपेक्षणीय समझी जाती थी। यह सबकुछ होते हुए भी इस भाषा की साहित्यिक शक्ति का इससे बड़ा और सशक्त प्रमाण और क्या हो सकता है कि इतने अल्पकाल में ही यह खड़ीबोली का रूप धारण कर सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य की प्रधान भाषा और भारत की राष्ट्रभाषा बन बैठी।

'हिन्दवी' के इस रूप का नाम दक्खिनी क्यों पड़ा? यह प्रश्न विचारणीय है। इसका किसी भी दक्षिणी आर्य या द्रविड़ भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं है। पारिवारिक दृष्टि से यह उत्तर भारत की आर्य भाषाओं और विशेष रूप से हिन्दी से सम्बन्धित है। इसका 'दक्खिनी' नाम पड़ने का कारण ऐतिहासिक माना जाता है। अलाउद्दीन खिलजी ने १३२० ई० तक दक्षिण का कर्नाटक तक का प्रदेश जीत कर अपना साम्राज्य दृढ़ बना लिया था। कुछ समय

बाद मुहम्मद तुगलक ने दक्षिण पर अपना अधिकार कायम रखने के लिए दौलताबाद को राजधानी बनाने का प्रयत्न किया। परन्तु दक्षिण पर उत्तर भारत का यह अधिकार अधिक दिनों तक न रह सका। फीरोजशाह के समय में दक्षिण पूर्ण रूप से स्वन्तत्र हो गया। वहाँ छोटी-छोटी सल्तनतें कायम हो गईं। इन सल्तनतों के संस्थापक प्रमुख रूप से उत्तर भारत के मुसलमान सरदार ही रहे। इसलिए दक्षिण के उस अपरिचित भाषा वाले प्रदेश में उनका मोह उत्तर भारत की भाषा के प्रति ही अधिक रहा जिसे वे अपने साथ दक्षिण में लाए थे। ये छोटे-छोटे राज्य हिन्दी के लेखकों और कवियों को संरक्षण देते रहे। १७ वीं शताब्दी तक वहाँ इस भाषा में अच्छे साहित्य का निर्माण होता रहा परन्तु औरङ्गजेब ने जब पुनः दक्षिण पर अधिकार कर लिया तो ये साहित्यकार तितर-बितर हो गये। लेकिन न्यूनाधिक रूप में वहाँ साहित्य सृजन होता रहा। हैदराबाद में निजामशाही की स्थापना के उपरान्त इस राज्य में दक्खिनी भाषा के साहित्यकारों को निरन्तर आश्रय और प्रोत्साहन मिलता रहा। इस भाषा का सम्बन्ध प्रमुख रूप से दक्षिणी राज्यों से रहा। इसी कारण इसे 'दक्खिनी' के नाम से पुकारा गया।

जिस समय दक्षिण में यह भाषा पनप रही थी उस समय वहाँ मराठी, तेलगू, कन्नड़ आदि भाषाओं में उच्चकोटि के साहित्य का सृजन हो रहा था। इन समृद्ध साहित्यों की प्रतिद्वन्द्विता में दक्खिनी का साहित्य क्योंकर पनप सका? इसका कारण यह था कि इसके मूल में वहाँ के मुसलमानों का विशेष हाथ था। वहमनी, आदिलशाही, कुतुबशाही आदि सल्तनतों ने हिन्दुओं से निकट सम्पर्क स्थापित कर उन्हें उच्च पदों पर आसीन किया। मुसलमानों ने अपने अरबी फारसी आदि के साहित्य के साथ भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्य को भी अवश्य देखा होगा। परन्तु दक्षिणी हिन्दू इस भाषा के प्रति पूर्ण रूप से उदासीन रहे क्योंकि वहाँ उनकी अपनी मातृभाषाएँ थीं। इसी से सत्रहवीं शताब्दी तक के दक्खिनी के लेखकों एवं कवियों में सब मुसलमान हैं। इसका कारण यह भी था कि हिन्दी के आदिकाल में विद्वानों की भाषा संस्कृत थी। साहित्य की भाषा अपभ्रंश मानी जाती थी। परन्तु भाषा-शास्त्रियों की धारणा है कि उस समय भी अपभ्रंश के साहित्यिक रूप के

साथ उसका बोलचाल का रूप भी अवश्य रहा होगा। इस बोलचाल की भाषा द्वारा उस समय अन्तर्प्रान्तीय सम्बन्ध स्थापित किए जाते होंगे। प्रसिद्ध यात्री अल्बेरुनी ने लिखा है कि उस समय (भारत में मुस्लिम शासन स्थापित होने से पूर्व) यहाँ एक ही भाषा के दो रूप थे—एक साहित्य की, दूसरी जनसाधारण की।

साहित्य के क्षेत्र में इस बोलचाल की भाषा को सर्वप्रथम मुसलमानों ने अपनाया। उस समय हिन्दू अपनी प्रचलित साहित्यिक भाषाओं—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश—में साहित्य रच रहे थे। विदेशियों के लिए इन भाषाओं का कोई मूल्य नहीं था क्योंकि वे जनसाधारण की भाषाएँ नहीं थीं। मुसलमान जनसाधारण की बोलचाल की भाषा को अपनाना चाहते थे। भारतीय जनता के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिये उन्होंने इस प्रदेश की बोलचाल की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी खड़ी बोली को अपनाया। मुस्लिम सन्त और फकीर अपने धर्म का प्रचार इसी भाषा में करने लगे। डा० अब्दुल हक ने सूफी सन्तों के विषय में लिखा है कि—"इन बुजुर्गों के घरों में भी हिन्दी बोलचाल का रिवाज था और चूँकि यह उनके मुफीद मतलब था इसलिए वह अपनी तालीम और तकलीन में भी इसी से काम लेते थे।" क्रमशः मुस्लिम संस्कृति और राज्य के विस्तार के साथ-साथ इस खड़ी बोली (हिन्दी) की भी व्यापकता बढ़ती गई।

उत्तर भारत में इस हिन्दी के सर्वप्रथम कवि अमीर खुसरो (१२५३-१३२५ ई०) माने माने जाते हैं। इसकी हिन्दी बोलचाल की साधारण भाषा थी जिसमें खड़ी बोली के साथ ब्रजभाषा का भी पुट था। खुसरो से पूर्व शेख फरीरुद्दीन शकरगंजी एवं खुसरो के समकालीन शेख सरफुद्दीन बू अली कलन्दर नामक सन्तों ने इस भाषा में कविताएँ लिखी थीं। कलन्दर का एक दोहा द्रष्टव्य है—

"सजन सकारे जायेंगे और नैन मरेंगे रोय।
विधना ऐसी रैन कर भोर कदी ना होय॥"

इसी तरह उत्तर भारत में खड़ी बोली में काव्य निर्माण १५ वीं शताब्दी तक का प्राचीन मिलता है। इसके उपरान्त यह परम्परा कई शताब्दियों तक लुप्त रही। अस्तु,

दक्खिनी के पहले लेखक ख्वाजा बन्दानवाज गेसूदराज मुहम्मद हुसैनी (१३१८-१४२२) हैं। आपने मीराजुल आशकीन, हिदायता नामा और रिसाला सेहवारा नामक तीन रिसाले लिखे। इनके पौत्र अब्दुला हुसैनी ने भी 'निशा-तुल इश्क' नामक ग्रन्थ लिखा। आदिलशाही और कुतुबशाही सल्तनतों ने दक्खिनी साहित्य को सदैव संरक्षण दिया। इन राज्यों के सुल्तान स्वयं भी कवि थे। इनमें मुहम्मद कुल कुतुबशाह और इब्राहीम आदिलशाह उल्लेखनीय हैं। बीदर राज्य में भी कुछ साहित्य रचा गया। शाह मीरानजी, बर्हानुद्दीन जानिम, इब्न निशाती आदि इस भाषा के प्रमुख साहित्यकार माने जाते हैं। सन् १६८५-८६ में औरंगजेब ने इन सल्तनतों को समाप्त कर दिया इस काल में यहाँ वली औरंगाबादी, जईदी, वहरी, वजदी, इशरती, वेलूर आदि अच्छे कवि हुए।

१७२३ ई० में आसफजाह दक्खिन के सूबेदार नियुक्त हुए। कुछ दिनों तक तो आसफजाही खानदान मुगलों के अधीन रहा, फिर स्वतंत्र हो गया। वली औररंगाबादी एक बार दिल्ली गए। उनकी इस दिल्ली यात्रा का परि-णाम दो प्रभावों के रूप में पड़ा। दिल्ली के साहित्यकारों ने फारसी को छोड़कर हिन्दी या रेखता को अपनाना शुरू किया और 'दक्खिनी' में स्वदेशी शब्दों के स्थान पर अरबी फारसी के शब्दों का प्रयोग कर इस भाषा के स्वरूप को स्टैन्डर्ड बनाने का प्रयत्न किया। दिल्ली से दक्षिण का सम्पर्क बढ़ता गया। उन्नीसवीं शताब्दी में दिल्ली का केन्द्र टूट गया। दिल्ली के कलाकार लखनऊ और हैदराबाद चले गए। लखनऊ की नवाबी भी समाप्त होने पर शायरों का यह आश्रय भी समाप्त हो गया। इनमें से हैदराबाद कलाकारों का सुन्दर आश्रय बना। दिल्ली के हफीज दक्खिन चले गए। परन्तु इन नवीन कला-कारों की कृतियों में 'दक्खिनी की विशेषताएँ' गायब होने लगीं। उन पर फारसी का गहरा रङ्ग चढ़ गया था।

अब तक दक्खिनी के सभी कलाकार मुसलमान हुए थे परन्तु आसफजाही राज्य में कुछ हिन्दुओं ने भी 'दक्खिनी' में रचनाएँ कीं जिनमें लाला मोहन-लाल मेहताब और लाला लक्ष्मीनारायण 'शफीक' उल्लेखनीय हैं। हैदराबाद ही बीसवीं सदी में इसका पोषक रह गया था किन्तु अब वहाँ भी उर्दू का प्रभुत्व हो गया है। शिक्षित समुदाय साहित्यिक हिन्दी की ओर भी झुक रहा है।

प्रश्न २६—नागरी लिपि के सुधार का इतिहास संक्षेप में लिखिये तथा उसमें परिवर्तन सम्बन्धी सुझाव भी दीजिये।

अथवा

'देवनागरी लिपि में सुधार' इस विषय पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उत्तर – देवनागरी लिपि में सुधार करने का आन्दोलन मुख्यत: दो कारणों से चला है। प्रथम कारण यह है कि समय, शक्ति और धन का अपव्यय किए बिना मुद्रण कला से नवीनतम साधनों का पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सके। दूसरा यह कि भारतीय भाषाओं में विशेषकर अपभ्रंशों से निकली हुई उत्तर भारत की समस्त भाषाओं में लिपि सम्बन्धी कुछ एकता और एकरूपता अवश्य होनी चाहिए। यह इसलिए आवश्यक है कि एक राज्य का निवासी दूसरे राज्य की भाषा को सरलता से सीख सके और हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में लोगों के गुजराती, बंगला आदि सीखने तथा इनके प्रदेशों के लोगों के हिन्दी सीखने के फलस्वरूप राष्ट्रीय एकता सुदृढ़ हो एवं भ्रातृत्व-भावना जागृत हो।

प्रसिद्ध दक्षिणी विद्वान श्री अनन्त शयनम आयंगर ने यह आशा प्रकट की है कि भविष्य में दक्षिण की द्रविड़ भाषाएँ भी नागरी लिपि के परिवर्तित एवं संशोधित रूप को स्वीकार कर लेंगी। इससे देवनागरी लिपि ही भारत की एकमात्र राष्ट्रीय लिपि बन जायगी। हिन्दी अब राष्ट्रभाषा बन चुकी है। इसलिए अब वह केवल हिन्दी वालों की ही न रह कर सारे राष्ट्र की सम्पत्ति बन गई है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि अहिन्दी-भाषी लोगों की सुविधा और आवश्यकतानुसार, लिपि के मूल रूप की रक्षा करते हुए, उसमें आवश्यक और उचित संशोधन कर लेना चाहिए। 'देवनागरी लिपि सुधार सम्मेलन' के विद्वानों और लिपि-विशेषज्ञों ने नागरी लिपि में कम से कम परिवर्तन कर और उसके मूल सौन्दर्य की रक्षा करते हुए अनेक बहुमूल्य सुझाव दिये। उन्होंने इस बात का पूरा प्रयत्न किया कि देवनागरी का रूप न बिगड़ने पावे। उसकी विशेषताएँ यथापूर्व बनी रहें और उसका जो नया रूप बने वह अहिन्दी-भाषियों के लिये तो सुगम हो ही, हिन्दी भाषियों के लिये नए अभ्यास की आवश्यकता न पड़े। इस सम्मेलन में 'इ' की मात्रा, अ का रूप, अंक ९ के नये रूप, व्यंजनों के नये स्वरूप, शिरोरेखा और चिन्ह,

संयुक्त अक्षर तथा एक नये अक्षर पर विचार किया गया जिसका सारांश निम्नलिखित है—

'इ' की मात्रा—सम्मेलन के सदस्यों ने केवल 'इ' की मात्रा में ही परिवर्तन स्वीकार किया है। अन्य मात्राएँ ज्यों की त्यों स्वीकार कर ली हैं। नवीन सुझाव के अनुसार अब छोटी 'इ' की मात्रा 'ि' होगी तथा बड़ी 'ई' की मात्रा पूर्ववत 'ी' होगी। पाई शिरोरेखा के नीचे पूरी-पूरी खींचने पर बड़ी 'ई' का बोध होगा और शिरोरेखा के नीचे जरा सी खड़ी पाई निकाल देने पर छोटी 'इ' का बोध होगा। यह अन्तर इस प्रकार है—छोटी 'इ' और बड़ी 'ई' की मात्राश: 'ि' 'ी'। अ के अतिरिक्त स्वराक्षरों में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है।

'अ' का रूप—'अ' के प्रचलित दो रूपों 'अ' और 'अ' में से सुविधा के दृष्टिकोण से केवल एक ही रूप 'अ' को स्वीकार किया है।

९ की नई सूरत—'नरेन्द्र देव समिति' के सुझाव को स्वीकार कर नागरी अङ्कों में बम्बइया टाइप के '९' को मान्यता दी गयी जो प्रचलित है। '९' के रूप को उड़ा दिया गया।

व्यंजनों के स्वरूप—अक्षर व्यंजनों में से 'ख', 'छ', 'झ', 'ण', 'ध', 'भ', 'ल' आदि में परिवर्तन किए गए। 'ख' का र व से भ्रम न हो इसलिए र के नीचे के वक्र को घुमाकर व के वृत के नीचे जोड़ देने का निर्णय हुआ जैसे—'ख'। 'छ' के रूप में इतना अन्तर हुआ कि वह शिरोरेखा के नीचे खड़ी पाई से शुरू न होकर 'छ' की गोलाई से शुरू हो और नीचे की घुंडी की पूँछ काट दी जाय जैसे—'छ'। झ के भी दो रूप हैं—झ और 'झ'। इनमें से 'झ' को स्वीकार किया गया। 'ण' के भी दो रूप हैं—ण और ण। इनमें भी 'ण' को स्वीकार किया गया। इसकी सिफारिश नरेन्द्र देव कमेटी ने भी की थी। ध और भ में शिरारेखा के बाँये भाग को घुमाकर अक्षर का अंश बना दिया गया जैसे—ध और भ। 'ल' का मराठी रूप न माना जाकर प्राचीन रूप 'ल' ही स्वीकार किया गया। क्ष, त्र, ज्ञ में से त्र को निकाल दिया गया।

शिरोरेखा और चिन्ह—शिरोरेखा को यथापूर्व स्वीकार कर लिया गया। विराम चिन्हों में अँग्रेजी के पूर्ण विराम (फुलस्टोप) को छोड़ कर, अँग्रेजी में

प्रयुक्त सही सम्बोधन व विराम चिन्ह अपना लिए गए। पूर्ण विराम वही स्वीकार किया गया जो प्रचलित है—(।)। 'सरिता' आदि मासिक पत्रों में प्रयुक्त पूर्ण विराम (.) का विरोध किया गया।

संयुक्त अक्षर—संयुक्ताक्षर बनाने के लिए केवल क, फ, के आधे अक्षर रखे गये हैं। शेष व्यंजनों में हलन्त (्) लगा कर या आखिरी खड़ी पाई हटाकर संयुक्त अक्षर बनाये जायँगे। इस तरह द्य, द्व, आदि के स्थान पर अब द्‌य, या द्‌व लिखा जायगा। अनुस्वार और अनुनासिक चन्द्र बिन्दु दोनों चिन्हों का प्रयोग होगा। विसर्ग रहने के कारण अँग्रेजी (:) नहीं रखा जायगा।

नया अक्षर—हिन्दी में मराठी भाषा से एक नया अक्षर लिया गया है जिसकी ध्वनि ल और ड़ के बीच की होती है। इसका रूप 'ल' है। यह ध्वनि वेद में पाई जाती है।

उपर्युक्त परिवर्तनों एवं संशोधनों के अतिरिक्त सभी विदेशी तथा दूसरी भारतीय भाषाओं में कुछ ऐसी ध्वनियाँ जिनका उच्चारण हिन्दी वर्णमाला द्वारा नहीं किया जा सकता। 'ए' और 'ओ' ध्वनियों में ह्रस्व व दीर्घ का अन्तर बताने वाली कोई ध्वनि देवनागरी लिपि में नहीं है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक ध्वनियाँ हैं जिनका शुद्ध उच्चारण करने के लिए हमें अपनी लिपि में नए प्रतीक और चिन्ह बनाने पड़ेंगे। विशेषज्ञ इस दिशा में प्रयत्नशील हैं। इस सम्मेलन में उपस्थित प्राय: सभी विद्वानों ने काका कालेलकर की 'स्वराखड़ी' का घोर विरोध किया। कुछ समय पूर्व 'नरेन्द्रदेव नागरीलिपि समिति' के सामने मध्य प्रदेश के श्री कामताप्रसाद सागरीय ने एक नई लिपि का रूप उपस्थित किया था। उक्त समिति ने इस लिपि को इसलिए स्वीकार नहीं किया कि यह लिपि वर्तमान नागरी लिपि से इतनी भिन्न है कि उसे पहचानने में बहुत कठिनाई होती है। नरेन्द्रदेव समिति ने 'सागरी लिपि' के केवल भ और ध को स्वीकार कर लिया था। भ और ध के वही रूप इस सम्मेलन में भी स्वीकार कर लिए गये हैं। परन्तु गत वर्ष उत्तर प्रदेश की सरकार ने इस नवीन संशोधित एवं परिवर्द्धित लिपि का प्रयोग वर्जित कर पुन: उसी प्राचीन लिपि के प्रचलन का ही आदेश दिया है। इस तरह नवीन लिपि आजकल व्यवहार में नहीं लाई जा रही है।

भारत में सबसे अधिक प्रचलित लिपि देवनागरी लिपि ही रही है। इसलिए राष्ट्रभाषा के लिये, युग के अनुरूप सुधार कर, उसे ही इस योग्य बनाना पड़ेगा जिससे कि वह सम्पूर्ण ध्वनियों को व्यक्त कर सके। देवनागरी लिपि का परिवर्तित एवं संशोधित रूप नीचे के चार्ट में दिया जा रहा है।

देवनागरी लिपि का परिवर्तित रूप

अ इ ई उ ऊ ए ऐ

ा ि ी ु ू े ै

ं ँ ः ो ौ ृ ॄ

क ख ग घ ङ

च छ ज झ ञ

ट ठ ड ढ ण

त थ द ध न

प फ ब भ म

य र ल व

श ष स ह

क्ष ज्ञ ळ ़ क़ फ़ ह्

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ ०

प्रश्न २७—'देवनागरी लिपि ही क्यों भारत की राष्ट्रीय लिपि मानी जाय' इस विषय पर अपना मत प्रकट कीजिए ।

उत्तर—जब से भारत में राष्ट्रीयता का आन्दोलन चला है तभी से भारतीय मनीषी राष्ट्रीय एकता के लिए एक भाषा और एक लिपि की आवश्यकता का अनुभव करते आये हैं । जो लोग यह समझते हैं कि एक लिपि का नारा अभी हाल की उपज है वे भ्रम में हैं । बीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही एक लिपि की माँग उठाई जाती रही है । इस आन्दोलन के आरम्भ से ही बहुमत देवनागरी लिपि की उपयोगिता को स्वीकार कर उसे ही राष्ट्र-लिपि बनाने पर जोर देता आया है । इस लिपि के समर्थकों में बंगाली, मराठी और मद्रासी विद्वान भी हैं । इसे समझने के लिए लिपि-आन्दोलन को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है ।

लिपि के विषय में सबसे प्रथम महत्वपूर्ण मत कलकत्ता हाईकोर्ट के माननीय जस्टिस सारदाचरण मित्र का है । उन्होंने कलकत्ता यूनिवर्सिटी इन्स्टीट्यूट में एक निबन्ध पढ़कर सुनाया था । उस निबन्ध में उन्होंने बड़ी सुन्दर युक्तियों और दीर्घकालीन अनुभव के आधार पर यह स्पष्ट किया था कि अब भारतवर्ष में एक लिपि की आवश्यकता है । उनके मतानुसार केवल देवनागरी लिपि ही एक ऐसी लिपि है, जो समस्त भारत में प्रचलित की जा सकती है । मित्र महोदय तो यहाँ तक इस लिपि से प्रभावित हुए थे कि वे इसका प्रचार ब्रह्मा, चीन, जापान और लंका तक करना चाहते थे । उन्होंने भारत भर की समस्त प्रचलित लिपियों में नागरी को ही सबसे सुगम, सुन्दर और विस्तृत माना था । वे इसे संसार की समस्त लिपियों में भी सर्वश्रेष्ठ मानते थे । उन्होंने अपने निबन्ध में यह भी बताया था कि भारत में मुद्रण कला का प्रचार होते ही बम्बई, काशी और कलकत्ता आदि में संस्कृत के अच्छे अच्छे ग्रन्थ देवनागरी लिपि में ही छापे गये थे ।

जस्टिस महोदय के उपर्युक्त निबन्ध के छपने के उपरान्त कलकत्ते में एक समिति की स्थापना की गई जिसका नाम 'एक लिपि विस्तार परिपद्' रखा गया । इस समिति ने 'देवनागर' नामक एक मासिक पत्रिका भी निकालनी प्रारम्भ की जिसमें हिन्दी, बङ्गाली, मराठी, गुजराती, उड़िया, तमिल इत्यादि अनेक भाषाओं के लेखादि देवनागरी लिपि में छापे जाते थे । इस पत्रिका का उद्देश्य

यह प्रमाणित करना था कि देवनागरी अक्षर भारत की प्रत्येक भाषा को शुद्ध रूप से व्यक्त कर देने की क्षमता रखते हैं। इस पत्रिका के लगभग ५० वर्ष उपरान्त दिल्ली से आत्माराम एण्ड सन्स ने 'देवनागर' नामक एक मासिक पत्रिका निकाली है। इसमें भी विभिन्न भारतीय भाषाओं के लेखादि देवनागरी अक्षरों में छापे जाते हैं।

यदि प्रमुख भारतीय भाषाओं की लिपि एक ही रहती तो यहाँ भी यूरोप की तरह भिन्न-भिन्न भाषाओं के पढ़ने की सुविधा रहती। हमारी हिन्दी और मराठी भाषाओं की लिपि तो देवनागरी है ही, बङ्गला, गुजराती, गुरुमुखी, उड़िया व असमी लिपियों का आधार भी देवनागरी लिपि ही रही है। उनमें केवल रूप का भेद है। मूल में एक ही हैं। सब अक्षर वही हैं जो देवनागरी लिपि में हैं, केवल उनकी बनावट में स्थान-भेद के कारण कुछ अन्तर पड़ गया है। नागरी लिपि जानने वाला इन लिपियों को सरलता से सीख सकता है। उपर्युक्त लिपियों में से बंगला, असमी और उड़िया में अधिक साम्य है। दक्षिण की लिपियों का मूलाधार भी नागरी अक्षर ही बताये जाते हैं; परन्तु उनके रूप इतने भिन्न हैं कि उन्हें समझ लेना, नागरी लिपि से परिचित व्यक्ति के लिये असम्भव है। कुछ विद्वानों का मत है कि नागरी लिपि को लंका, ब्रह्मा और तिब्बत ने भी कुछ रूप-भेद के साथ अपनाया है। इससे यह सिद्ध होता है कि भारत की भाषाओं में से एक बड़ी संख्या ने नागरी लिपि या उसके किंचित रूप-भेद-युक्त स्वरूप को स्वीकार कर लिया है। ऐसी दशा में यदि नागरी लिपि को ही सब भाषाओं की लिपि बना दिया जाय तो असंगत न होगा।

यहाँ हमें यह भी देख लेना चाहिए कि अहिन्दी प्रान्तों में नागरी लिपि की क्या स्थिति थी और क्या है? महाराष्ट्र में कुछ सीमा तक लिखने में मुड़िया अक्षरों का प्रयोग होता था परन्तु अब उसका प्रचार घट रहा है। पहले महाराष्ट्र की लिपि दूसरी थी परन्तु उन्होंने नागरी की शक्ति और सौन्दर्य से प्रभावित होकर, बहुत दिन हुये तभी इसे स्वीकार कर लिया था। गुजराती भाषा के लिए गुजराती अक्षरों का प्रयोग होता है। ये अक्षर नागरी से बहुत मिलते-जुलते हैं। इनकी उम्र १५० वर्ष से अधिक नहीं है।

इनमें मात्रा चिन्ह नागरी से आये हैं। इसी से वे संस्कृत को गुजराती लिपि में न लिखकर नागरी लिपि में ही लिखते हैं। गुजराती लिपि की पुस्तकों में जब बीच में संस्कृत के श्लोक या संस्कृत नाम आते हैं तो उन्हें नागरी अक्षरों में ही छापा जाता है। गुजराती अक्षर भी संस्कृत अक्षरों से मिलते-जुलते हैं। इससे गुजरातियों को नागरी लिपि अपनाने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती।

विहार में यद्यपि लगभग सभी देवनागरी अक्षर जानते हैं पर अपनी रोजमर्रा की लिखा-पढ़ी का काम कैथी अक्षरों में करते हैं। आज वहाँ छपाई का सारा काम प्रायः नागरी अक्षरों में ही होता है। उत्तर भारत की प्रमुख लिपियों में केवल बङ्गला लिपि का प्रश्न बड़ा जटिल है। बंगालियों को अपनी लिपि की प्राचीनता का गर्व है। इन दोनों लिपियों में बहुत समानता है। इसलिए बंगाली संस्कृत की पुस्तकें अपनी ही लिपि में छाप लेते हैं। परन्तु वेदादि ग्रन्थ अभी तक देवनागरी में ही छपते हैं। बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने अपनी व्याकरण कौमुदी चार भागों में तैयार की थी। इनमें से तीन भाग बंगला अक्षरों में छपे थे और चौथा भाग जिसमें सूत्र थे देवनागरी में छपवाया था और उन सूत्रों की व्याख्या बंगला में। सुप्रसिद्ध बंगाली उपन्यासकार बंकिमबाबू ने एक लेख लिखकर अपना मत प्रकट किया था कि भारत में केवल एक ही लिपि होनी चाहिए और वह केवल देवनागरी ही हो सकती है। आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व 'माडर्न रिव्यू' के प्रसिद्ध सम्पादक बाबू रामानन्द चटर्जी ने 'चतुर्भाषी' नाम का एक पत्र निकालने का प्रयत्न किया था, जिसमें हिन्दी, बंगला, मराठी और गुजराती चार भाषाओं के लेख होते और सब देवनागरी अक्षरों में छपते। जस्टिस मित्र, बंकिमबाबू, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर एवं रामानन्द चटर्जी जैसे बंगाली विद्वानों ने देवनागरी लिपि को राष्ट्रीय लिपि बनाने की अभिलाषा उसकी पूर्णता, सम्पन्नता और सौन्दर्य को देखकर ही की थी।

कुछ लोग रोमन या अरबी लिपि को ही भारत की राष्ट्रीय लिपि बनाना चाहते हैं। रोमन लिपि का प्रश्न उठाना तो व्यर्थ की बात है क्योंकि इससे हमारे सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक या धार्मिक जीवन से कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। आश्चर्य है कि सुभाष बोस जैसे देश-प्रेमी न

मालूम किस दृष्टिकोण से इसे अपनाने की सलाह दे रहे थे। अब प्रश्न केवल अरबी लिपि का रह जाता है। अरबी लिपि या उसके आधार पर बनी हुई लिपियों में भारत की केवल तीन भाषाएँ लिखी जाती थीं—सिन्धी, पश्तो और उर्दू। सिन्ध में आज से लगभग सौ वर्ष पहले तक नागरी या मुन्डी लिपि का प्रयोग होता था। अँग्रेजों के आ जाने पर यह प्रश्न उठा कि सिन्धी भाषा किस लिपि में लिखी जाय। सरकारी अफसर प्राय: जनता को मुन्डी या हिन्दी लिपि का प्रयोग करते थे अत: वे नागरी लिपि को रखना चाहते थे। किन्तु प्रमुख आमिल लोग नागरी के स्थान पर अरबी या फारसी लिपि को अपनाना चाहते थे। उनके प्रभाव से वहाँ अरबी लिपि स्वीकार कर ली गई। पाकिस्तान बन जाने के उपरान्त उर्दू लिपि का प्रश्न ही नहीं उठता। पश्तो पर तो विचार करना ही नहीं है। आज भारत में और वह भी देश के मध्य भाग में, एक ऐसी भाषा है जिसके बोलने वाले लगभग १६ करोड़ हैं। वह नागरी लिपि में ही लिखी जाती है। अत: जन-संख्या की दृष्टि से भी नागरी को ही अपनाना अधिक श्रेयस्कर है।

प्रश्न २८—सिद्ध कीजिये कि भाषाविज्ञान की दृष्टि से हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है।

अथवा

भारत की राष्ट्रभाषा की परम्परा का परिचय देते हुए सिद्ध कीजिए कि हिन्दी ही वर्तमान समय में भारत की राष्ट्रभाषा है।

उत्तर—भारतीय संविधान द्वारा हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा स्वीकार कर ली गई है। भारत में अनेक देशी, विदेशी एवं प्रान्तीय समृद्ध भाषाओं के रहते हुए हिन्दी को ही क्यों भारतीय राष्ट्रभाषा स्वीकार किया गया? साहित्यक समृद्धि कीं दृष्टि से अंग्रेजी हिन्दी से अधिक समृद्ध है। संस्कृत भाषा का साहित्य संसार की प्राचीन भाषाओं में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। अरबी, फारसी भाषाओं की गणना संसार की समृद्धिशालिनी भाषाओं में की जाती है। दक्षिण भारत की भाषाएँ साहित्यिक समृद्धि की दृष्टि से हिन्दी से न्यून नहीं ठहरतीं। उत्तर भारत की प्रान्तीय आर्य भाषाओं में से महाराष्ट्रीय,

गुजराती और बंगाली भाषाएँ साहित्यिक समृद्धि के क्षेत्र में यदि हिन्दी से श्रेष्ठ नहीं हैं तो कुछ सीमा तक न्यून भी नहीं हैं। फिर इन भाषाओं के रहते हुए हिन्दी को ही क्यों राष्ट्रभाषा स्वीकार किया गया है? इस स्वीकृति के मूल में प्राचीन भारतीय राष्ट्रभाषा की वह परम्परा कार्य कर रही है जिसने हिन्दी को जन्म देकर यह महत्वपूर्ण पद प्रदान किया है। हिन्दी मध्यदेश की भाषा है। भारत का प्राचीन इतिहास बताता है कि भारत राष्ट्र की राष्ट्रभाषा का पद सदैव मध्यदेश की भाषा को ही मिला है। धार्मिक आग्रह के कारण कुछ समय तक अन्य भाषायें जैसे पाली आदि भारत की राष्ट्रभाषायें बन गई थीं परन्तु उस धार्मिक आग्रह के मूल में काम करने वाले राजकीय प्रभुत्व की सम्पत्ति के साथ उन भाषाओं का वह गौरव भी नष्ट हो गया। कालान्तर में उनका अस्तित्व एक प्राचीन धार्मिक भाषा अथवा एक प्रान्तीय विभाषा के रूप में ही सुरक्षित रहा। ऐसे समय जब पुनः राष्ट्रभाषा की आवश्यकता अनुभव की गई तो मध्यदेश की भाषा ने आगे बढ़कर उस आवश्यकता की पूर्ति की। ऐसा क्यों हुआ? इसके लिए हमें राष्ट्रभाषा की प्राचीन परम्परा को देखना पड़ेगा।

भारतवासियों की सभ्यता और संस्कृति सदैव से समन्वय और सामन्जस्य पर आधारित रही है। इसी समन्वय और सामन्जस्य की भावना ने प्राचीन भारत की भाषा समस्या को सुलझा लिया था। उन्होंने संस्कृत को सम्पूर्ण भाषाओं की प्रकृति तथा अन्य भाषाओं को उसकी 'विकृति' मान कर एक ओर तो एक को अनेक कर दिया और दूसरी ओर फिर अनेक में से एक को प्रधानता देकर उसे चलित या सर्वसाधारण में प्रचलित राष्ट्रभाषा के रूप में अपना लिया। इस प्रक्रिया में विनाश किसी भी भाषा का नहीं हुआ परन्तु, विकास सबका हुआ है। वाल्मीकीय रामायण से यह प्रमाणित होता है कि उस समय संस्कृत समस्त देश की राष्ट्रभाषा थी। दक्षिण के द्रविड़ देशों में भी उसका प्रचार था। प्रसिद्ध विद्वान डाक्टर रांगेय राघव तो यह मानते हैं "किसी समय वैदिक संस्कृत भी आमफहम जुबान रही थी। यह जब साहित्यिक बन गई तब तक भाषा बदली और पहली प्राकृत का बोलबाला हुआ। उस प्राकृत के भौगोलिक भेदों से कई रूप थे। उनमें से मेरठ की बोली बढ़ी और

वह सबने स्वीकार कर ली। वह संस्कृत कहलाती है।" डा० साहब ने संस्कृत को मेरठ की बोली से विकसित साहित्यिक भाषा माना है परन्तु उन्होंने यह नहीं बताया कि उनकी इस धारणा का आधार क्या है। उनका यह मत यदि सही है तो वर्तमान हिन्दी का राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त करना उसका वंशगत दायित्व है। पहले भी मेरठ की बोली राष्ट्रभाषा बनी थी और अब भी मेरठ की बोली (खड़ीबोली) राष्ट्रभाषा मानी गई है। भाषा के इतिहास की यह परम्परा अभूतपूर्व है।

वाल्मीकीय-संस्कृत भाषा के दो रूप हैं—द्विजी और मानुषी। अशोक वाटिका में जब सीता के पास हनुमान पहुँचे तो उनके सामने यह समस्या उठ खड़ी हुई कि वे द्विजी वाणी में बात करें या मानुषी में। यदि वे द्विजी में बात करते तो सीता उन्हें मायावी रावण मान लेती क्योंकि रावण विद्वान था। उस समय द्विजी विद्वत्वर्ग की भाषा थी। साधारण जनता उसी के बोलचाल वाले रूप को बोलती थी। यही सोच कर हनुमान ने 'मानुषी' का प्रयोग किया। हनुमान द्रविड़ थे। मानुषी उनकी अपनी भाषा नहीं थी। परन्तु द्विजी और मानुषी का प्रचार दक्षिण भारत तक में था। इसी से हनुमान दोनों भाषाएँ जानते थे। यह उस काल में संस्कृत की व्यापकता का सबसे बड़ा प्रमाण है। आगे चलकर संस्कृत साहित्य की भाषा के रूप में प्रचलित रही और मानुषी विकसित होकर पहली प्राकृत बन गई। भाषा के इन दोनों रूपों का प्रचार उस समय सम्पूर्ण आर्यावर्त में था।

पाणिनी ने संस्कृत का व्याकरण लिखकर उसे पूर्ण बना दिया। प्राकृत अपने स्वाभाविक रूप में प्रचलित रही। इसी प्रकार बहुत समय तक संस्कृत साहित्यिक राष्ट्रभाषा के रूप में चलती रही और प्राकृत सामान्य राष्ट्रभाषा के रूप में विकसित होती रही। सम्पूर्ण भारत में प्राचीन काल में सुदूर स्थित प्रदेशों से निकट सम्पर्क स्थापित करने के लिए संस्कृत का प्रयोग होता रहा। इसका प्रमाण सुदूरवर्ती भाषाओं पर पड़ा हुआ संस्कृत का प्रभाव है।

गौतम बुद्ध ने या महावीर स्वामी ने किसी नवीन भाषा का निर्माण नहीं किया था। संस्कृत का शिष्ट रूप तो अनुशासित होने के कारण एक रूप ही

गया था पर उसका प्राकृत रूप सदैव परिवर्तनशील रहा। इसी परिवर्तनशीलता के कारण एक ही भाषा के देशकाल के भेद से अनेक रूप हो गए जो 'प्राकृत' कहलाये। यह भाषा 'मानुषी' जन-साधारण की भाषा का ही रूप था। गौतम बुद्ध ने अपने सद्धर्म का प्रचार करने के लिए उसी 'मानुषी' रूप को अपनाया। इस धर्म के प्रचार से भाषा के द्विजीरूप 'संस्कृत' का प्रचार कम हो चला। जैनियों ने पहले तो अर्द्ध-मागधी को अपनाया किन्तु कालान्तर में उन्हें भी अपने धर्म को व्यापकता देने के लिए संस्कृत को अपनाना पड़ा और उनकी भाषा 'जैन संस्कृत' कहलाई। इसका कारण यह था कि अर्द्धमागधी एक प्रान्त-विशेष की भाषा थी। सम्पूर्ण देश में उसका समझा जाना असंभव था। इसी-लिए जैनियों को सस्कृत अपनानी पड़ी।

बौद्धों ने मागधी को अपनाया जिसे कहीं-कहीं पाली भी कहा गया है। परन्तु मागधी भाषा पाली से बहुत भिन्न थी। इसी कारण बौद्ध ग्रंथों में मागधी को तो मानुषी भाषा कहा गया है और पाली को देवगण तथा बुद्धगण की भाषा। बौद्धों ने प्रचलित भाषा को क्यों अपनाया और उसका रूप क्या था, इस विषय में चन्द्रवली पांडेय का मत दृष्टव्य है—"जब बौद्धों को व्यापक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता हुई तो उनकी दृष्टि इस भाषा पर पड़ी जो न जाने कितने दिनों से शिष्ट तथा चलित रूपों में देश की राष्ट्रभाषा थी। उसके शिष्ट रूप का ग्रहण तो इसलिए सम्भव न था कि वह द्विजों की भाषा थी और जनता से कुछ दूर थी। मागधी का प्रसार इसलिए असम्भव था कि वह प्रांतीय तथा अति सामान्य भाषा थी, निदान यह निश्चय हुआ कि देववाणी के चलित या मानुषी रूप को ग्रहण किया जाय और उसी में 'बुद्ध वचन' का संग्रह भी कर दिया जाय।" परन्तु कालान्तर में धर्म के सूक्ष्म तत्वों के विवेच-नार्थ बौद्धों को भी संस्कृत अपनानी पड़ी। जैनों ने भी उसे इसी कारण अपना लिया था। इस प्रकार संस्कृत पुनः राष्ट्रभाषा बन गई।

बौद्धों ने अपनी भाषा को देवगण की भाषा या देववाणी भी कहा है। देववाणी को 'ब्राह्मी' भी कहा गया है। वह सम्पूर्ण ब्रह्मावर्त (उत्तर भारत) की भाषा थी इसी से उसे ब्राह्मी कहा गया। भाषा का दूसरा नाम 'भारती' भी है। इससे सिद्ध होता है कि—"भारत की राष्ट्रभाषा का नाम भी भारती

और देववाणी इसीलिए पड़ा कि वह भारत की सन्तानों यानी भारतीयों की भाषा तथा सरस्वती और दृद्वतीं के मध्य देवनिर्मित देश की वाणी थी।"

प्राकृतों के प्रभुत्व के साथ कुछ समय तक महाराष्ट्री भाषा का बहुत प्रचार हुआ। परन्तु यह जनसाधारण की भाषा न होकर काव्य की प्रमुख भाषा रही। विद्वानों ने महाराष्ट्री को किसी की प्रकृति नहीं कहा है, प्रत्युत पैचाशी तथा मागधी की प्रकृति शौरसेनी को ठहराया है और शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत को माना है। शौरसेनी संस्कृत का विकसित मानषी भाषा का रूप था।

प्राकृतों के उपरान्त अपभ्रंशों का युग आया। विद्वानों ने शौरसेनी प्राकृत को अन्य प्राकृतों की 'प्रकृति' कहा है। अपने समय में वही भारत की जन-साधारण की राष्ट्रभाषा थी। इसी शौरसेनी अपभ्रंश का विकास हुआ। आगे चलकर अपनी परम्परागत समृद्धि के कारण शौरसेनी अपभ्रंश भारत की राष्ट्रभाषा बनी। उस समय शूरसेनी प्रदेश भारतीय राज्य शक्ति का केन्द्र था। राज्य शक्ति का सहयोग पाकर यह आगे बढ़ी। राज्याश्रय पाकर वह देश-देशान्तर में फैलने लगी। मुसलमानों के आने के समय तक यह भारत की राष्ट्रभाषा थी। यही अपभ्रंश आगे चलकर हिन्दी के रूप में विकसित हुई।

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में ब्रज और अवधी प्रधान काव्य भाषाएँ बनीं परन्तु सुदूर प्रदेशों की जनता में पारस्परिक विचार-विनिमय के लिए मेरठ प्रदेश की बोली खड़ीबोली का व्यवहार होता रहा जो खड़ीबोली के इतिहास से स्पष्ट हो जाता है। काव्य भाषाएँ बहुत समय तक बढ़ती रहीं परन्तु साधारण व्यवहार खड़ीबोली में ही होता रहा। राजकार्य का संचालन इसी बोली द्वारा सम्पन्न किया जाता रहा। दक्षिण में तो शासन वर्ग में इसी का प्राधान्य रहा। उन्नीसवीं सदी में जब विशृङ्खलित भारत को पुनः एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न हुआ तो ऐसे आड़े समय में खड़ीबोली ने ही सामने आकर हमारी सहायता की। तूफान की तेजी से उसका विकास हुआ और बहुत थोड़े समय में ही वह सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य की एकमात्र भाषा बन बैठी। उसके इस प्रत्याशित विकास में उसकी उस प्राण-शक्ति की कहानी छिपी हुई है जिसे वह युगान्तरों से संचित करती आ रही थी। यदि खड़ीबोली में वह

परम्परागत शक्ति न होती तो वह कदापि भारत की राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती थी। संस्कृत भी मेरठ प्रदेश की भाषा थी और खड़ीबोली भी वहीं की है। इस प्रकार खड़ीबोली को राष्ट्रभाषा के रूप में अपना कर भारतीय जनता ने इतिहास की पुनरावृत्ति की है।

भारतीय राष्ट्रभाषा की परम्परा का विकास दिखाते हुए हमने यह सिद्ध कर दिया है कि हिन्दी परम्परागत राष्ट्रभाषा की आधुनिक कड़ी है। इसका स्वरूप कैसा होना चाहिए इसका विवेचन प्रश्न संख्या १३ में 'हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी' की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया जा चुका है कि आज भारत की राष्ट्रभाषा का स्वरूप प्रेमचन्द की हिन्दुस्तानी का ही हो सकता है। वहाँ हम यह भी बता आए हैं कि पाकिस्तान बन जाने मे उर्दू का प्रश्न कुछ काल के लिए समाप्त हो गया था परन्तु गत दो-चार वर्षों से कुछ प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ (सम्प्रदायवादी) पुनः उर्दू के प्रश्न को साम्प्रदायिक स्तर पर उभार रही हैं। ऐसी दशा में यह प्रश्न उठता है कि भारत में उर्दू का जो विशाल साहित्य रचा गया है, उसका क्या होगा, यदि हम उर्दू का पूर्ण बहिष्कार कर दें। उर्दू के बहिष्कार का प्रश्न संकीर्ण संप्रदायवाद और हिन्दी-उर्दू की परम्परा और विकास को ठीक तरह से न समझने का परिणाम है। वस्तुतः हिन्दी और उर्दू दो भिन्न भाषाएँ नहीं हैं वरन् एक ही भाषा (हिन्दी) की दो शैलियाँ हैं जिन्हें सम्प्रदायवादियों ने धार्मिक रंग देकर एक दूसरे से पृथक करने का प्रयत्न किया है। इस पृथक्की-करण के मूल में विदेशी अँग्रेजों का बहुत बड़ा हाथ और राजनीतिक उद्देश्य रहा है। १९ वीं सदी से पूर्व हिन्दी उर्दू में कोई मौलिक अन्तर नहीं था। यह भेद की खाई अँग्रेजों ने चौड़ी की। परन्तु जब कि फूट डालने वाले अँग्रेज चले गये हैं तो हमारा यह प्रयत्न होना चाहिए कि इन दो सगी बहनों के मनमुटाव को दूर कर उन्हें पुनः एक कर दें।

उर्दू को अपना लेने से हिन्दी को एक समृद्ध साहित्य की निधि मिल जायगी। इसके लिये डाक्टर रांगेय राघव का सुझाव निम्न है—**"उर्दू का पूर्ण इतिहास हिन्दी साहित्य में लिया जाय। उर्दू की मँजाहट, नफासत, चुभन, हिन्दी साहित्य के गौरव का विषय बन जायेगी। उर्दू वालों का कोई नुकसान नहीं होगा। वे नागरी लिपि में एक अधिक कीमती और बड़े साहित्य के वारिस हो जायँगे। आपस की फूट न रहेगी और सबसे बड़ी बात**

होगी कि तब अपने आप नई भाषा का जन्म होगा।" इस मिलन का परिणाम यह होगा कि भाषा के विकास का रास्ता खुल जायगा। फिर काका कालेलकर आदि के समान एक नवीन भाषा गढ़ने की आवश्यकता नहीं रहेगी। परन्तु इस मार्ग की सबसे बड़ी बाधा कांग्रेस सरकार की तुष्टीकरण की नीति है। वह अब भी मुसलमानों को (सम्प्रदायवादी मुसलमानों को) खुश रखने के लिए उर्दू और हिन्दी को दो प्रथक भाषाओं के रूप में देखती है। भाषा के प्रश्न को लेकर भारतीय जनता के साथ कॉंग्रेस सरकार ने जो सबसे बड़ा मजाक किया था, वह था मौलाना अबुल कलाम आजाद को भारत का शिक्षामंत्री बनाना। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मौलाना साहब एक उदार व्यक्ति थे। परन्तु किसी व्यक्ति की उदारता ही तो उसे शिक्षा मंत्री के महत्वपूर्ण पद पर आसीन कराने के लिए यथेष्ट नहीं है। हमारा शिक्षा मंत्री ऐसा हो जिसे देश की प्राचीन परम्परा, इतिहास, संस्कृति के क्रमिक विकास का ज्ञान हो। साथ ही वह देश की प्रधान भाषाएँ जानता हो। शिक्षा मंत्री के लिए शिक्षा विज्ञान का भी ज्ञान होना आवश्यक है। हमारे मौलाना अरबी फारसी के विद्वान थे परन्तु उनमें उपर्युक्त ज्ञान अरबी और फारसी भाषा की परम्परा, इतिहास और संस्कृति तक ही सीमित था। वे राष्ट्रभाषा हिन्दी को अटक अटककर बोल लेते थे। ऐसी दशा में घूम-फिरकर उनका ध्यान अरबी फारसी और उर्दू की तरफ चला जाता था। हिन्दी के विषय में उनकी अनभिज्ञता ने उन्हें हिन्दी के प्रति उदासीन बना रखा था। हमारा शिक्षा मंत्री ही अगर राष्ट्रभाषा के प्रति उदासीनता दिखाएगा तो उसके पद का महत्व व्यर्थ है। मौलाना साहब की उर्दू पक्षपातिनी नीति से सम्पूर्ण हिन्दी संसार क्षुब्ध हो उठा था। उर्दू कलाकारों, संस्थाओं आदि को सरकारी सहायता मुक्त-हस्त होकर प्रदान की जा रही थी और हिन्दी वाले ऐसे देखते रह जाते थे जैसे वे सौतेले पुत्र हों।

हिन्दी के प्रति इस उपेक्षापूर्ण नीति के लिए अकेले मौलाना ही जिम्मेदार नहीं थे अपितु हमारे नेहरू इत्यादि वे नेता भी हैं जो सोचते अँग्रेजी में हैं और बोलते टूटी-फूटी हिन्दी में हैं। जब तक बागडोर इन अँग्रेजी-दाँ नेताओं के हाथ में रहेगी तब तक हिन्दी को अपना पद पूरी तरह से हासिल करने के लिए संघर्ष करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में हमारा विश्वास केवल हिन्दी की

अप्रतिम शक्ति को देखकर ही डगमगाता नहीं है। सदियों से भयंकर सम्प्रदाय-वादी शासक भी हिन्दी का विकास रोकने में असमर्थ रहे हैं तो पूँजीवादी व्यवस्था के इन ध्वंशावशेषों में इतनी शक्ति कहाँ कि वे उसकी गति को रोक सकें। हिन्दी के विकास का पूर्ण उत्तरदायित्व हिन्दी उर्दू के लेखकों के सम्मिलित प्रयत्न पर निर्भर कर रहा है। यदि ये दोनों मिलकर एक हो जायँ तो हमारा धार्मिक मतभेद भी नष्ट हो जायगा। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम हिन्दी उर्दू को दो भिन्न भाषाएँ न मानकर एक भाषा मानें। डाक्टर रांगेय राघव के शब्दों में यह कार्य तभी सम्पन्न हो सकता है, जब—**"समस्त उर्दू साहित्य को, अधिक सरल होने के कारण नागरी लिपि में लेकर, हिन्दी साहित्य में जोड़ कर हिन्दी साहित्य को फिर से लिखा जाय।"** वे इसके लिए राजनीतिक एवं सामाजिक विश्लेषण करते हुये कहते हैं—"भाषा का प्रश्न मुहब्बत का सवाल नहीं है। एक दूसरे की खातिर तवज्जह नहीं है। वह वैज्ञानिक प्रश्न है। जनवाद उसका आधार है आर्थिक व्यवस्था और सामाजिक अन्तर्भुक्ति जनताओं को समीप लाती है। यह साम्प्रदायिकत्व, जातीयता, इस समाज की विषमता के कारण है। भाषा के प्रश्न को सुलझाना इसीलिए सीधे ही हमारे जनवादी प्रगतिशील आंदोलन से सम्बन्ध रखता है। शोषण-हीन समाज में ही जनताएँ एक दूसरे की सीमा को तोड़कर गले मिलती हैं और पारस्परिक वैमनस्य दूर होता है।" इस कथन का अभिप्राय यही है कि शोषणहीन वर्गमुक्त समाज की स्थापना होने पर यह भाषा भेद स्वतः ही समाप्त हो जायगा।

इस वर्ग संघर्ष का अन्त करने की शक्ति भारतीय भाषाओं में से हिन्दी में ही सबसे अधिक है। उसका विकास जनवाद के बल पर हुआ है। उसने सदैव धार्मिक संकीर्णता और पुरोहित वर्ग का घोर विरोध किया है। कबीर, तुलसी का साहित्य इसका प्रमाण है। हिन्दी जनता की भाषा है। उसके पास एक समृद्ध परम्परा की समृद्ध विरासत है। इस कार्य को केवल हिन्दी ही कर सकती है।

हिन्दी के राष्ट्रभाषा हो जाने से भाषावार प्रांतों का प्रश्न राजनीतिक उद्देश्य को लेकर आगे आया है। भाषावार प्रान्तों के निर्माण से राष्ट्रभाषा

का कोई अहित नहीं हो सकता। प्रांतीय भाषाएँ फूलती-फलती रहेंगी और हिन्दी उन्हें एक कड़ी में बाँधने का कार्य करती रहेगी। प्रांतीय भाषाएँ ही नहीं वरन् बोलियों में भी साहित्य का निर्माण होना चाहिए। हिंदी दूसरे प्रान्तों पर लादी नहीं जा रही। 'हिन्दी साम्राज्यवाद' के भय का हौवा संकीर्ण प्रान्तीयतावादियों ने उठा रखा है। इसमें कोई तथ्य नहीं। हिन्दी सबकी सेवा करना चाहती है। वह दूसरी भाषाओं से विनिमय में भी संकोच नहीं करती। वह एक ऐसी अजस्र प्रवाहिनी स्रोतस्विनी के समान है जिसमें दूसरी भाषाओं रूपी नदी नालों का संयोग अनिवार्य है। जिस दिन वह एक कृत्रिम नहर का रूप धारण कर लेगी उसी दिन उसका राष्ट्रभाषा का गौरवमय पद समाप्त हो जायगा।

हिन्दी के राष्ट्रभाषा के स्वरूप के साथ ही उसका अपना इलाका है, जिसका भूत और वर्तमान अत्यन्त समृद्ध और उज्ज्वल है। हिन्दी-भाषी क्षेत्र की इसी समृद्धि से मुग्ध होकर हिन्दी के वर्तमान प्रखर आलोचक डाक्टर रामविलास शर्मा ने लिखा है—"हिन्दी भाषी इलाका भारत का सबसे बड़ा इलाका है। संख्या के लिहाज से हिन्दुस्तानी जाति दुनिया की चार सबसे बड़ी जातियों में गिनी जायगी। ऋग्वेद और महाभारत की रचना इसी प्रदेश में हुई है। यहीं की नदियों के किनारे वाल्मीकि और तुलसी ने अपने अनुष्टुप और चौपाइयाँ गाई हैं। तानसेन और फैयाज खाँ, हाली, मीर, अकबर, गालिब, भारतेन्दु, प्रेमचद, निराला यहीं के रत्न हैं। ताजमहल और विश्वनाथ के मंदिर यहीं के हाथों ने गढ़े हैं। आल्हा और कजली ने सैकड़ों साल तक यहीं का आकाश गुंजाया है। अठारह सौ सत्तावन में यहीं की धरती हिन्दुओं और मुसलमानों के खून से सींची गई है। जिस दिन यह विशाल हिन्द प्रदेश एक होकर नए जन-जीवन का निर्माण करेगा, उस दिन इसकी संस्कृति एशिया का मुख उज्ज्वल करेगी। किसानों और मजदूरों की एकता, जो जनता के संयुक्त मोर्चे की मुख्य शक्ति है, वह दिन निकट लायेगी। हिन्दी और उर्दू के लेखकों को इस जनता के हितों को ध्यान में रखकर अपनी जातीय परम्पराओं के अनुसार लोकप्रिय भाषा और जनवादी साहित्य के विकास में आगे बढ़ना चाहिये।" इस वक्तव्य में 'जातीव परम्पराओं' से डाक्टर शर्मा का

उद्देश्य हिन्दू, मुसलमान दो जातियों से न होकर केवल एक भारतीय जाति से ही है।

प्रश्न २९—हिन्दी सर्वनामों की उत्पत्ति पर प्रकाश डालिये।

उत्तर— हिन्दी में जिन सर्वनामों का प्रयोग किया जाता है उनको आठ मुख्य भेदों में विभक्त किया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ सर्वनाम विशेषणों के समान प्रयुक्त होते हैं। हिन्दी सर्वनामों में प्रायः संज्ञाओं के समान ही कारक चिह्न लगते हैं।

१— **उत्तम पुरुष**—(पुरुषवाचक सर्वनाम)

उत्तम पुरुष 'मैं' के निम्न रूप से मुख्य रूपान्तर हैं—

	एक०	बहु०
मूलरूप	मैं	हम
विकृत रूप	मुझ (मुझे)	हम (हमें)
सम्बन्ध कारक	मेरा	हमारा

'मैं' का सम्बन्ध संस्कृत तृतीया के रूप 'मया' से माना जाता है। संस्कृत में 'मया' रूप, प्राकृत में 'मइ', 'मए'; अपभ्रंश में मइ', 'मई' और हिन्दी में 'मैं' हो जाता है। संस्कृत के 'अहं' से इसका कोई सम्बन्ध नही है।

हिन्दी के 'मुझ' का सम्बन्ध षष्ठी कारक के प्राकृत रूप 'मह' के अतिरिक्त एक अन्य रूप 'मज्ज', प्राकृत 'मह्य' और संस्कृत 'मह्य' से माना जाता है। 'हम' का सम्बन्ध प्राकृत के अम्हे' से है, जिसके 'म' और 'ह' में स्थान-परिवर्तन हो गया है। इन प्राकृत रूपों की व्युत्पत्ति 'अस्मे' से मानी जाती है। संस्कृत प्रथम पुरुष बहुवचन 'वयं' से हिन्दी 'हम' का सम्बन्ध किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। 'हमें' का सम्बन्ध प्राकृत तथा अपभ्रंश 'अम्हई' से किया जाता है।

'मेरा', 'हमारा' रूप अथवा मध्यम पुरुष के 'तेरा', 'तुम्हारा' रूप विशेषण के समान प्रयुक्त होते हैं अतः साथ में आने वाली संज्ञा के अनुरूप इनके लिंग तथा वचन में भेद होता है। 'र' लगाकर बने हुए षष्ठी के इन सब रूपों का सम्बन्ध 'कारक', करौ', 'केरा', 'करा' आदि प्राकृत प्रत्ययों के प्रभाव

के फलस्वरूप हैं। उदाहरणार्थ—प्राकृत में 'मह केरो' या 'महकरो' रूप से हिन्दी में 'म्हारो', मारो', 'मेरा' आदि समस्त रूप विकसित हुए हैं—

अम्ह करको>अम्ह अरओ>अम्हारौ>हमारो>हमारा;

तुम्ह करको>तुम्ह अरओ>तुम्हारौ>तुम्हारो>तुम्हारा।

हिन्दी के मध्य पुरुष के 'तू' का सम्बन्ध संस्कृत के 'त्वया', प्राकृत के 'तुअ' और अपभ्रंश के 'तुह' से माना जाता है। 'तुम' का सम्बन्ध प्राकृत के 'तुम्हें', 'तुम्ह' और संस्कृत के 'तुष्मे' से माना जाता है। हिन्दी के 'तुम्हें' का सम्बन्ध प्राकृत और अपभ्रंश के 'तुम्हई' से है। 'तुझ' का सम्बन्ध प्राकृत के षष्ठी के 'तुह' के रूपान्तर 'तुज्झ' तथा संस्कृत के 'तुभ्य' से माना जाता है। 'तुझे' में 'ए' विकृत रूप का चिह्न है।

२—निश्चयवाचक सर्वनाम— (यह, वह)

हिन्दी में निश्चयवाचक सर्वनाम अन्य पुरुष के स्थान पर कार्य करता है। 'यह', 'ये', की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'एषः', 'एते', 'एतानि' आदि रूपों में स्पष्ट होती है। चटर्जी का कहना है कि समीपवर्त्ती निश्चयवाचक सर्वनाम के समस्त रूपों का सम्बन्ध संस्कृत के मूल शब्द 'एत' से है। 'इस' का सम्बन्ध चटर्जी के अनुसार 'एतस्य' से माना जाता है, किन्तु संस्कृत 'अस्य', प्राकृत 'एअस्स' के स्पष्ट ज्ञात होता है। 'इन' का सम्बन्ध 'एतेन' से सम्भव नहीं है, वरन् संस्कृत सम्बन्ध कारक के बहुवचन के चिन्ह के प्रभाव से 'न' का होना प्रतीत होता है। 'इसे' और 'इन्हें' मूल रूपों के विकृत रूप हैं।

दूरवर्त्ती निश्चयवाचक सर्वनाम 'वह' के मुख्य रूपान्तर इस प्रकार हैं—

	एक०	**बहु०**
मूल रूप	वह	वे
विकृत रूप	उस (उसे)	उन (उन्हें)

'वह' का सम्बन्ध संस्कृत के 'तद्' रूपों से नहीं माना गया है। वस्तुतः इन सर्वनाम की व्युत्पत्ति अनिश्चित् सी प्रतीत होती है। चटर्जी के अनुसार 'वह' की व्युत्पत्ति संस्कृत के कल्पित रूप 'अब' तथा 'उस' की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'अवस्य' से हुई है। इसी प्रकार 'वे' और 'उन' के सम्बन्ध में कल्पित विचार हैं। 'उसे' और 'उन्हें' बिकृत रूप माने जाते हैं।

३—सम्बन्धवाचक सर्वनाम—(जो)

हिन्दी के सम्बन्धवाचक सर्वनाम के रूपान्तर निम्न रूप से हैं—

	एक०	बहु०
मूल रूप	जो	जो
विकृत रूप	जिस (जिसे)	जिन (जिन्हें)

'जो' का सम्बन्ध संस्कृत के 'य:' से है। 'जिस' का सम्बन्ध संस्कृत के 'यस्य' और प्राकृत के 'जिस्स' से है। 'जिन' शब्द संस्कृत के षष्ठी बहु-वचन 'यानाम्' से विकसित माना जाता है। 'जिसे' और 'जिन्हें' अन्य प्रचलित रूपों के समान बने हैं।

४—नित्य-सम्बन्धी सर्वनाम—(सो)

नित्य-सम्बन्धी 'सो' का व्यवहार हिन्दी में प्राय: कम ही होता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'सो' का सम्बन्ध संस्कृत के 'स:' और प्राकृत के 'सो' से है। प्राचीन हिन्दी और उसकी बोलियों में 'सो' का प्रयोग अन्य पुरुष के रूप में समान रूप से होता आया है। 'तिस' का सम्बन्ध प्राकृत 'तस्स' और संस्कृत के 'तस्य' से माना जाता है। 'तिन' की व्युत्पत्ति प्राकृत के 'तेणं' और संस्कृत के 'ताना' (तेषां) से मानी गई है।

५—प्रश्नवाचक सर्वनाम—(कौन, क्या)

प्रश्नवाचक सर्वनाम 'कौन' के मुख्य रूपान्तर निम्न रूप से हैं—

	एक०	बहु०
मूल रूप	कौन	कौन
विकृत रूप	किस (किसे)	किन (किन्हें)

'कौन' की व्युत्पत्ति प्राकृत 'कवन', 'कवण', 'कोउण' और संस्कृत 'क' से मानी जाती है। 'क्या' की व्युत्पत्ति अनिश्चित् है। 'किस' का सम्बन्ध प्राकृत 'कस्स, और संस्कृत 'कस्य' से स्पष्टत: प्रमाणित होता है। हिन्दी 'किन' की व्युत्पत्ति प्राकृत 'केणा', संस्कृत 'काना' (केषां) से कल्पित की जाती है। 'किसे' और 'किन्हें' रूप विकृत रूपों के समान हैं।

६—अनिश्चयवाचक सर्वनाम—(कोई, किसी)

'कोई' की व्युत्पत्ति प्राकृत के 'कोबि' और संस्कृत के 'कोऽपि' से मानी जाती है। 'किसी' का सम्बन्ध संस्कृत के 'कस्यापि' से माना जाता है। 'किन्ही' रूप की तो व्युत्पत्ति ही अनिश्चित् है। 'कुछ' का सम्बन्ध संस्कृत के 'कश्चिद' रूप से कल्पित किया जाता है।

७—निजवाचक सर्वनाम—(आप)

निजवाचक सर्वनाम 'आप' की व्युत्पत्ति प्राकृत के 'अप्पा', 'आपा' और संस्कृत के 'आत्मन्' से हुई है। अपना 'आप' का सम्बन्धकारक रूप है। किन्तु हिन्दी में निजवाचक होकर स्वतन्त्र हो गया है। इस रूप का सम्बन्ध संस्कृत के 'आप्पणो' अपभ्रंश के 'अप्पाण' के रूपों से माना जाता है। हिन्दी के 'आपस' का सम्बन्ध प्राकृत के 'आपस्य' और संस्कृत के 'आत्मस्य' के सम्भावित रूपों से जोड़ा जाता है।

८—आदरवाचक सर्वनाम—(आप)

व्युत्पत्ति की दृष्टि के आदरवाचक 'आप' और निजवाचक 'आप' एक शब्द के समान रूप हैं।

९—विशेषण के समान प्रयुक्त होने वाले सर्वनाम

विशेषण के समान प्रयुक्त होने वाले सर्वनाम दो रूपों में मिलते हैं—परिमाणवाचक और गुणवाचक।

परिमाणवाचक—'इतना, उतना, कितना, जितना, तितना' आदि रूपों का सम्बन्ध संस्कृत के 'इयत्, कियत्', और प्राकृत के 'एत्तिय, केत्तिय' आदि से है।

गुणवाचक—ऐसा, वैसा, तैसा, जैसा का सम्बन्ध संस्कृत के 'यादृश', 'तादृश्' आदि रूपों से जोड़ा जाता है। जैसे—संस्कृत का 'कीदृश्', प्राकृत का 'केरिसा' और हिन्दी—'कैसा'।

प्रश्न ३०—हिन्दी के कारक-चिह्नों के उद्‌गम तथा विकास पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। प्रति-क्षण हर ऐहिक वस्तु में परिवर्तन होता रहता है, कोई भी चीज स्थिर नहीं है। यही भारतीय

क्षणिकवाद का अटल सिद्धान्त है। वास्तव में परिवर्तन और अस्थैर्य ही जीवन है। अतः भाषा भी जीवित वस्तु होने के कारण काल-गति के साथ विकसित होती जाती है। आज मध्य-देशीय अथवा केन्द्रस्थ भाषाएँ वियोगावस्था में हैं और बहिरङ्ग उपशाखा की भाषाएँ इस अवस्था से निकल कर प्राचीन आर्य भाषाओं के समान संयोगावस्था को प्राप्त कर चली हैं। उदाहरणार्थ—हिन्दी में सम्बन्ध-कारक 'का', 'के', 'की' लगाकर बनाया जाता है। इस चिन्हों का संज्ञा से पृथक् अस्तित्व है। यह कारक बँगला में, जो बाहरी उपशाखा की भाषा है, संज्ञा में 'एर' लगाकर बनता है और यह संज्ञा का एक रूप हो जाता है। संसार की भाषाओं में भारोपीय परिवार की मध्यदेशीय वर्ग की हिन्दी भाषा में संज्ञा के रूपों में लिंग, वचन, कारक आदि के द्वारा परिवर्तन होता है। कारक-चिह्न लगाने के पूर्व हिन्दी संज्ञा के मूल रूप में जब परिवर्तन होता है तब ऐसे रूपों को संज्ञा का विकृत रूप कहा जाता है। संज्ञा में कारक-चिह्न लगाने से हिन्दी विभक्तियों के रूप बनाये जाते हैं। प्राचीन तथा मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के संयोगात्मक रूपों के धीरे-धीरे घिस जाने पर मध्य-कालीन के अन्त में संज्ञा के मूल रूप विभक्तियों के रूप में प्रयुक्त होने लगे। हिन्दी के वर्तमान कारक-चिह्न मध्यकाल के अन्त में प्रयुक्त किये गये सहकारी शब्दों के अवशिष्ट रूप हैं। घिसते-घिसते ये कारक-चिह्न इतने संक्षिप्ताकार हो गए हैं कि इनके मूल रूपों का परिचय प्राप्त करना दुर्लभ-सा प्रतीत होता है। इसी कारण संज्ञा के मूल रूपों के साथ इनका प्रयोग किया जाता है। भिन्न-भिन्न कारकों में विभिन्न चिह्नों को प्रयुक्त किया जाता है परन्तु प्रश्न यह उठता है कि कारकों के इन चिह्नों की व्युत्पत्ति किस प्रकार हुई ? हिन्दी में संज्ञा के मूल रूप को समझने में इन चिह्नों का सहयोग लेना पड़ता है। अत-एव कारक रूपों में इनका (कारक चिह्नों का) महत्वपूर्ण स्थान है।

कर्त्ता या करण कारक—हिन्दी में कर्त्ता के रूपों में कोई भी कारक-चिह्न प्रयुक्त नहीं होता। संस्कृत तथा प्राकृत में भी संज्ञा के प्रथमा के रूपों में विकार नहीं होता। प्रत्यय-सहित कर्त्ता कारक का चिह्न 'ने' पश्चिमी हिन्दी की विशेषता है। बोलना, भूलना, समझना, लाना, जानना आदि सकर्मक क्रियाओं के अतिरिक्त शेष सकर्मक क्रियाओं के और नहाना, छींकना, खाँसना

आदि सकर्मक क्रियाओं के भूतकालिक कृदन्त से बने कालों के साथ सप्रत्यय कर्त्ता कारक आता है।

'ने' कारक चिह्न के उद्गम और विकास के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रदर्शित किये गये हैं। बीम्स के अनुसार इसे करण कारक के अनुसार माना जाता है और यह कर्मणि तथा भावे प्रयोग का अर्थ-बोधक है। उनका कहना है कि गुजराती जैसी प्राचीन भाषा तक में करण तथा सम्प्रदाय कारकों का एक-दूसरे के लिए प्रयोग होता रहता है। नेपाली में भी सम्प्रदाय में 'लाई' तथा करण में 'ले' का प्रयोग होता है। प्राचीन हिन्दी के कर्मकारक के चिह्न 'नै' तथा आधुनिक हिन्दी के कारक के चिह्न 'ने' में भी बहुत साम्य है। मराठी में 'ने' करण का और गुजराती में कर्म-सम्प्रदान का प्रतीक है। बीम्स इस विवेचन के अनुसार इस निष्कर्ष का मण्डन करते हैं कि वास्तव में सम्प्रदान तथा करण के चिन्ह व्युत्पत्ति की दृष्टि से समान थे। इस प्रकार उनके मतानुसार 'ने' का सम्बन्ध 'लागि' जैसे शब्दों से है।

ट्रंप तथा अन्य कुछ विद्वानों का मत है कि 'ने' का सम्बन्ध संस्कृत की अकारान्त संज्ञाओं के कारण कारक चिन्ह 'एन' से है। अन्तिम रूप चन्द के ग्रन्थों में भी कुछ स्थलों पर मिलता है। आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में यह मराठी में 'ऐ' तथा गुजराती में 'ए' के रूप में लक्षित होता है। इस प्रकार 'एन' के 'न' का धीरे-धीरे लोप हो गया फिर 'एन' का 'ने' किस प्रकार सम्भव है। यदि संस्कृत में 'एन' के स्थान पर 'नेन' होता तो 'ने' चिन्ह का होना सम्भव था। परन्तु ऐसा कोई भी चिन्ह संस्कृत में उपलब्ध नहीं होता।

बीम्स ने इस व्युत्पत्ति के प्रति विरोध प्रकट करते हुए कहा कि यदि 'ने' प्राचीन करण कारक के चिन्ह का रूपान्तर होता; तो प्राचीन हिन्दी में इस रूप का प्रयोग अधिक रूप में पाया जाता। परन्तु इसके विपरीत पुरानी हिन्दी में 'ने' प्रयोग बहुत कम मिलता है। आधुनिक हिन्दी में ही यह कारक-चिन्ह प्रचलित हुआ है। ऐसी स्थिति में बीम्स का कहना है कि सम्भव है १६ वीं, १७ वीं शताब्दी के लगभग सम्प्रदान कारक के लिए प्रयुक्त 'ने' का प्रयोग करण कारक की कुछ क्रियाओं के साथ भी होने लगा हो। हार्नली के अनुसार सम्प्रदान के लिए ब्रज में 'कौ', 'को' और मारवाड़ी में 'नै' 'ने' का प्रयोग होता

था। सम्भव है 'नै', 'ने' को सम्प्रदान के लिए सुविधापूर्ण समझकर इसे सप्रत्यय कर्त्ता या करण कारक के लिए उपयुक्त समझकर ले लिया गया हो। वास्तव में 'ने' की व्युत्पत्ति संदिग्ध है।

कर्म तथा सम्प्रदान—हिन्दी में कर्म तथा सम्प्रदान के लिए ही एक प्रकार से कारक-चिन्ह प्रयुक्त होते हैं। खड़ीबोली में 'को' दोनों विभक्तियों में और 'के' रूप सम्प्रदान में विशेष रूप से आता है।

ट्रंप के अनुसार 'को' की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'कृत' से हुई है जो प्राकृत में 'कितो' और 'किओ' होकर 'क' का रूप धारण करता है। इसके अनुसार जब कृदंत' की 'ऋ' का लोप हुआ होगा तब 'त' महाप्राण हो गया। परन्तु यह विचार-शृङ्खला अधिक मान्य नहीं समझी जाती।

हार्नली और बीम्स 'को' का सम्बन्ध संस्कृत के 'कक्ष' से बताते हैं। चटर्जी आदि अन्य विद्वानों ने भी इस विषय का मण्डन किया है यद्यपि ट्रंप की 'को' सम्बन्धी व्युत्पत्ति का वे खण्डन नहीं करते। संस्कृत के 'कक्ष' से 'कक्ख', कक्ख से काँख, काँख से काहं, काहं से कहं, कहं से 'कौ' और अन्त में 'कौ' से 'को' रूप परिवर्तन की सीढ़ी पर चढ़ा। बोलियों में भी 'को' में साम्य रखते हुए रूपों की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'कक्ष' से मानी जाती है।

हिन्दी के 'के लिए' का सम्बन्ध संस्कृत की 'कृते' से है। सत्य जीवन वर्मा 'के' को सम्बन्ध कारक के प्राचीन चिन्ह 'करेक' का रूपान्तर मानते हैं। इनके मतानुसार 'को' भी 'केहि' का रूपान्तर मात्र है जिसमें 'के' अंश 'करेक' का परिवर्तित रूप है और 'हिं' अंश अपभ्रंश की सप्तमी विभक्ति का चिन्ह है। किन्तु 'को' तथा 'के' की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में यह मत निर्मूल सिद्ध किया गया है। इस सम्बन्ध में प्रथम सिद्धान्त ही अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होता है।

'के लिए' के 'लिए' अंश का सम्बन्ध संस्कृत 'लग्ने' से माना जाता है। हार्नली के अनुसार 'लिए' की उत्पत्ति सं० 'लब्धे' से हुई है। किन्तु यह मत भी मान्य नहीं समझा गया। अनुमानतः प्राकृत के 'ले' से इसका सम्बन्ध हो। हिन्दी के 'लगें, 'लागि' आदि रूपों की व्युत्पत्ति भी 'लिए' के ही समान

मानी जाती है। संस्कृत के 'लग्ने' प्राकृत में 'लग्ने' या 'लाग्गि' और हिन्दी बोलियों में 'लागि' या 'लगे', ये सम्भव परिवर्तन हैं।

अपादान—हिन्दी में अपदान के लिए 'से' चिन्ह का प्रयोग होता है। बीम्स के मतानुसार 'से' का वास्तविक अर्थ 'साथ' भी है और 'अलग' होना भी है। उदाहरणार्थ—'राम श्याम से कहता है, चाकू से आम काटो' व्युत्पत्ति की दृष्टि से बीम्स 'से' का सम्बन्ध संस्कृत अव्यय 'सम' से जोड़ते हैं। हार्नली के अनुसार 'से' का सम्बन्ध प्राकृत 'सतो', 'सुतो' तथा संस्कृत के 'आस' से है। आज बीम्स का मत ही सर्वमान्य समझा जाता है।

सम्बन्ध—सम्बन्ध के रूपों का सम्बन्ध क्रिया से न होकर संज्ञा से होता है। हिन्दी में सम्बन्ध-सूचक चिन्ह आगे आने वाली संज्ञा के अनुसार लिङ्ग भेद का ध्यान रखते हुए होता है। उदाहरणार्थ—लड़के का लोटा के लिङ्ग-भेद को समझकर 'का' और 'की' का प्रयोग हुआ है। सम्बन्ध-कारक चिन्हों का 'का' और 'की' का सम्बन्ध 'लोटा' और 'गेंद' संज्ञा से है। हिन्दी पुल्लिग एक वचन में 'का', बहुवचन में 'के' और स्त्री-लिंग में 'की' का व्यवहार होता है।

इन रूपों की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में हार्नली और बीम्स एक ही मत की पुष्टि करते हैं कि वे सभी रूप संस्कृत की 'कृतः' तथा प्राकृत 'केरो' या 'केरक' से सम्बन्धित हैं। हार्नली इन रूपों के क्रमिक विकास को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं। संस्कृत का 'कृत', प्राकृत में 'करितो', 'करिओ', 'केरिको', पुरानी हिन्दी में 'केरओ', 'केरो' तथा हिन्दी में 'केर' और 'का' हो जाता है। चटर्जी 'क' का सम्बन्ध प्राकृत 'क्क' से युक्ति-सङ्गत नहीं मानते। बीम्स और हार्नली का 'के', 'की' सम्बन्धी व्युत्पत्ति का मत अधिक मान्य समझा जाता है।

अधिकरण—अधिकरण के लिये हिन्दी में 'में' का प्रयोग होता है। 'में' की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'मध्ये', अपभ्रंश तथा प्राकृत के 'मज्झे', 'मज्झि', 'मज्झहिं', 'पुरानी' हिन्दी के 'माहि' और 'महि' से हुई है। हिन्दी 'पर' की उत्पत्ति संस्कृत 'उपरि' से हुई है। इस विषय में कोई भी आपत्ति नहीं उठाई गई है। अतः यह मत सर्वमान्य और युक्ति-संगत ठहरता है।

प्रश्न ३१—संख्यावाचक विशेषणों की व्युत्पत्ति स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—भाषा सार्थक ध्वनि-संकेतों का समूह होता है अतः काल-गति के साथ-साथ भाषा में भी परिवर्तन होने के कारण ध्वनियों में भी विकार स्वाभाविक रूप से होते हैं। भाषा के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग—संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि में विकार विभिन्न प्रकार से नियमानुसार ही होते हैं। भारोपीय परिवार की हिन्दी भाषा के संख्यावाचक विशेषणों में जो ध्वनि-परिवर्तन होता है, वह विचित्र ही प्रकार का है। संख्यावाचक विशेषण पाँच प्रकार के होते हैं—पूर्ण संख्यावाचक विशेषण, अपूर्ण संख्यावाचक विशेषण, क्रम संख्यावाचक विशेषण, आवृत्ति संख्यावाचक विशेषण तथा समुदाय संख्यावाचक विशेषण। ये विशेषण अन्य हिन्दी शब्दों की भाँति प्राकृतों में होकर संस्कृत से अवतरित नहीं हुए हैं, वरन् पाली अथवा मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं की भाँति किसी अन्य सर्वप्रचलित भाषा से सम्बद्ध हैं। केवल कुछ ही रूपों में प्रादेशिक, प्राकृत अथवा अपभ्रंश की छाप है। यथा—गुजराती-'बे', मराठी-'दोन' और बंगाली 'दुई। हिन्दी संख्यावाचक विशेषणों का सर्वप्राचीन और परिष्कृत रूप बीम्स के ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। चटर्जी ने भी इस विषय में नयी सामग्री एकत्र की है। इस प्राचीन और नवीन, परिष्कृत और परिमार्जित सामग्री के आधार पर हिन्दी के संख्यावाचक विशेषणों तथा उनमें होने वाले ध्वनि-विकारों पर यथातथ्य रूप में विचार किया गया है।

हिन्दी का **'एक'** प्राकृत में 'एक्क' और संस्कृत में 'एक' रूप में मिलता है। हिन्दी 'एक' के अनेक रूप मिलते हैं। 'ग्यारह' में 'ग्या' अंश प्राकृत 'एगा' रूप से प्रभावित प्रतीत होता है अर्थात् 'क्' का घोष रूप हो जाता है, संस्कृत एकादश में 'आ' द्वादश के सादृश्य पर ही हुआ है। यह 'आ' प्राकृत तथा हिन्दी दोनों में इसी रूप में आ गया है। संयुक्त संख्या में 'ए—का 'इ' रूप हो जाता है, यथा—'इक्कीस' 'इकत्तीस', 'इक्तालीस' आदि। इन शब्दों में गुण की ध्वनि (ए) मूल ध्वनि है तथा मूल स्वर (इ) गुण की ध्वनि का विकारी रूप है।

हिन्दी के **'दो'** का रूप प्राकृत में 'दो तथा संस्कृत में 'द्वौ' मिलता है। संस्कृत का 'द्वौ' का व' अंश प्राकृत तथा गुजराती के 'ब' में मिलता है। हिन्दी

में भी यह रूप संयुक्त संख्याओं में उपलब्ध होता है, यथा—बारह, बाइस, बत्तीस, बयालीस आदि। समासों में 'दो' के स्थान पर 'दु' 'दू' तथा 'दो' रूप मिलता है, जैसे—'दुपट्टा'; दुधारी', 'दूसरा', 'दोहरा', 'दोनों' आदि।

हिन्दी का **'तीन'** प्राकृत में 'तिण्णि' तथा संस्कृत में 'त्रिणि' के रूप में मिलता है। सयुक्त संख्याओं में 'ते', 'ती', या 'तिर' रूप मिलते हैं जिन पर संस्कृत के 'त्रय' का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है। जैसे तेरह, तेतीस, तितालिस, तिरपन आदि। ये रूप तिपाई, तेहरा आदि शब्दों में भी मिलते हैं।

हिन्दी का **'चार'** प्राकृत में 'चत्तारि' तथा संस्कृत में 'चत्वारि' के रूप में मिलता है। संयुक्त संख्याओं तथा समासों में सं० मूल रूप 'चतुर' तथा प्राकृत 'चउरो' का प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिकोण होता है। अतः हिन्दी में **'चौ'** तथा 'चौर' रूप मिलते हैं, जैसे—चौदह, चौंतीस, चौधरी, चौरासी, 'चौमासा' आदि। नवीन समासों में 'चार' का रूप अधिक मात्रा में मिलता है, यथा-चारखाना आदि।

हिन्दी का **'पाँच'** प्राकृत में 'पंच' तथा संस्कृत में 'पंच' के रूप में मिलता है। संयुक्त संख्याओं के प्राकृत रूपों 'पन' तथा 'पण' का प्रभाव भी हिन्दी पर पड़ा है जिससे ध्वनि में परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणार्थ--पन्द्रह, पेंतालीस, पेंतीस आदि। कुछ संख्याओं में 'पन' के स्थान में 'वन' हो जाता है। जैसे—इक्यावन, चौवन आदि। अन्य संयुक्त संख्याओं में पाँच का 'पंच' रूप हो जाता हैं, जैसे-पचपन, पचीस, पचासी आदि। प्राकृत का 'पंच' हिन्दी में अब भी उसी तत्सम् रूप में मिलता है। यथा—पंचवटी, पंचांग, पंचामृत, पंचपात्र आदि। कभी-कभी इसका रूप 'पच' भी हो जाता है, जैसे—पचमेल, पचमुखी आदि।

हिन्दी की 'छः' प्राकृत में 'छ' तथा संस्कृत में 'षट्' के रूप में मिलती है। हिन्दी और प्राकृत रूप तो प्रायः एक-सा ही है। परन्तु प्राकृत का 'छ' रूप संस्कृत में 'षट्' किस रूप में हो गया है, यह विचारणीय है। हिन्दा के 'सोलह' और 'साठ' में संस्कृत के 'ष' की ध्वनि कुछ प्रतिध्वनित होती है। अन्य संयुक्त संख्याओं में 'छया' या 'छ' रूप समान रूप से मिलता है, उदाहरणार्थ—छयासठ, छत्तीस आदि। चटर्जी के कथनानुसार 'छः' का सम्बन्ध प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा के एक कल्पित रूप 'छय' या 'क्षक' से है। परन्तु इस

सम्बन्ध में अभी तक यह स्पष्ट नहीं हुआ कि प्राकृत काल से पहले इसका ठीक रूप क्या था।

हिन्दी का '**सात**' प्राकृत में 'सत्त' तथा संस्कृत में 'सप्त' है। कुछ संयुक्त संख्याओं में प्राकृत का तत्सम् रूप सत्त या सत अब भी इसी रूप में चलता आ रहा है। उदाहरणार्थ—सत्तरह, सतासी सतानवें, आदि। इसके अतिरिक्त 'सैं' रूप भी प्रयुक्त होता है, जैसे—सैंतीस, सैंतालीस आदि। 'सरसठ' या 'सड़-सठ' की संख्या 'अड़सट' से प्रभावित होकर उसी के सादृश्य पर रख दी गयी है।

हिन्दी का '**आठ**' प्राकृत में 'अठ्ठ' और संस्कृत में 'अष्ट' रूप में मिलता है। संयुक्त संख्याओं में अट्ठ, अठा, अठ, आदि रूप मिलते हैं; जैसे—अट्ठाईस, अठारह, अठहत्तर आदि। 'अठ' का 'अड़' रूप होकर अड़तालीस, अड़सठ आदि रूप भी बनते हैं।

हिन्दी का '**नौ**' प्राकृत में 'नअ' और संस्कृत में 'नव' के रूप में मिलता है- संयुक्त संख्याओं की रचना '**नौ**' के प्रयोग से नहीं बनती, वरन् दहाई की संख्याओं में संस्कृत 'उन' (एक कम), प्राकृत 'ऊण' तथा हिन्दी का 'उन' लगाकर बनती हैं। जैसे—उन्नीस, उनासी, उन्तालीस आदि। केवल नवासी और निन्यानवे में 'नौ' का प्रयोग होता है। इन संख्याओं में संस्कृत में भी यही रूप होता है, जैसे—संस्कृत का 'नवशति, नवनवति'।

हिन्दी का '**दस**', प्राकृत में 'दस' और संस्कृत में 'दश' के रूप में मिलता है। 'ग्यारह' आदि संयुक्त संख्याओं में प्राकृत के 'दह', 'रह', 'लह' आदि समस्त रूप वर्तमान हैं, जैसे—चौदह, अठारह, सोलह आदि। हिन्दी में 'र' का 'ल' या 'स' का 'ह' हो जाना साधारण परिवर्तन है। दहाई की संख्याओं के नाम प्रायः प्राकृत में होकर संस्कृत से उद्भासित हुए हैं।

हिन्दी का '**बीस**' प्राकृत में 'बीसइ' तथा संस्कृत में 'विंशति' के रूप में मिलता है। हिन्दी 'कोड़ी' शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'कोल' शब्द से माना जाता है। 'चौबीस' और 'छब्बीस' के अतिरिक्त 'इक्कीस' आदि सभी संयुक्त संख्याओं में 'बीस' की 'ईस' ध्वनि रह जाती है; उदाहरणार्थ—बाईस, तेईस, चौबीस, पच्चीस आदि।

हिन्दी का **'तीस'** प्राकृत में 'तीसा' और संस्कृत में 'त्रिंशत' के रूप में आता है। संयुक्त संख्याओं में 'बीस' रूप ही रहता है; जैसे—इकत्तीस, बत्तीस, तेंतीस आदि।

'चालीस' हिन्दी रूप संस्कृत में 'चतालीसा' और प्राकृत में 'चत्वारिंशत' मिलता है। संयुक्त संख्याओं में प्राकृत के 'च' का लोप होकर 'चालीस' का 'तालीस' और 'त' के लुप्त हो जाने से 'यालीस' या 'आलीस' रूपान्तर हो जाते हैं, जैसे—बयालीस, चवालीस आदि।

हिन्दी का **'पचास'** प्राकृत में 'पंचासा' और संस्कृत में 'पंचाशत्' हो जाता है। संयुक्त संख्याओं में 'पचास' के स्थान पर 'पन' अथवा 'वन' और 'अन' रूपान्तर हो जाते हैं। इनका सम्बन्ध प्राकृत के 'पंचासा' के प्रचलित रूप 'पण्णासा', 'पन्ना' आदि से विदित होता है, जैसे—हिन्दी का 'बामन' प्राकृत में 'बावण, तिरेपन, चौअन, आदि मिलता है। 'उनञ्चास' में 'पचास' का रूपान्तर है।

हिन्दी का **'साठ'** प्राकृत में 'सट्टि' तथा संस्कृत में 'षष्ठि' हो जाता है। संयुक्त संख्याओं में 'सठ' रूप हो जाता है; जैसे—इकसठ, बासठ, तिरेसठ आदि।

हिन्दी के **'सत्तर'** का प्राकृत में 'अत्तरि' और संस्कृत में 'सप्तति' हो जाता है। पाली में भी अन्तिम त' ध्वनि 'र' में परिवर्तित हो गयी थी। चटर्जी के मतानुसार प्राचीन रूप 'संत्तति' में 'ति' स्वमेव ही 'टि' हो गया और 'टि'—'डि' होकर 'रि' में परिवर्तित हो गया। परन्तु इस मत से भाषा-वैज्ञानिकों की सन्तुष्टि नहीं हुई है। फिर भी यह तो माननीय है कि हिन्दी के 'सत्तर' में 'र' प्राकृत की ही देन है। संयुक्त संख्याओं में 'सत्तर' के 'स' का 'ह' हो जाता है। जैसे—उनहत्तर, इकहत्तर, बहत्तर आदि। 'सतत्तर' में 'ह' का लोप हो गया है तथा 'अठत्तर' में 'ह' 'ट' को महाप्राण करके उसमें मिल जाता है।

हिन्दी का **'अस्सी'** रूप प्राकृत में 'असीइ' और संस्कृत में 'अशीति' है। संस्कृत संख्याओं में 'अस्सी' अथवा 'आसी' रूप मिलता है; जैसे—उनासी, बयासी आदि। अस्सी में 'स' का दुगुना हो जाना पंजाबी से ही प्रभावित है।

हिन्दी का नब्बे प्राकृत में 'नब्वए' और संस्कृत में 'नवति' मिलता है। संयुक्त संख्याओं में 'नवे' रूप मिलता है; जैसे—इक्यानवे, बानवे, तिरानवे आदि।

हिन्दी का 'सौ' प्राकृत में 'सअ', 'सय' तथा संस्कृत में 'शत' के रूप में मिलता है। संयुक्त संख्याओं में 'से' रूप भी मिलता है; यथा—सैकड़ा, एक एक, चार सै आदि। हिन्दी का 'हजार' फारसी का तत्सम् शब्द है। 'संस्कृत 'सहस्र' के स्थान में संस्कृत 'दशशत' का प्रचार मध्य युग में हो गया था। कदाचित् इसी कारण से फारसी का एक शब्द 'हजार' मुस्लिम काल से समस्त उत्तर भारत में प्रचलित हो गया। हिन्दी के 'लाख' का संस्कृत में 'लक्ष' रूप मिलता है। समास में 'लख' रूप हो जाता है, यथा—लखपति। अरब और खरब का प्रयोग साधारणतः असंख्यता का बोध कराने के निमित्त किया जाता है।

अपूर्ण संख्यावाचक विशेषणों से पूर्ण संख्या के किसी भाग का बोध होता है। हिन्दी का 'पाव', 'पउआ', प्राकृत में 'पाव', 'पाअ' और संस्कृत में 'पाद' और 'पादक' मिलते हैं। संयुक्त रूपों में संस्कृत 'पादिका' से आया 'पई' रूप भी मिलता है, यथा—अधपई। हिन्दी का 'चौथाई' संस्कृत के 'चतुर्थिक' से सम्बद्ध है। हिन्दी का 'ढाई' अथवा 'अढाई' प्राकृत में 'अढ़तीय' और संस्कृत में 'अर्द्धतृतीय' मिलता है। हिन्दी का 'ढाई' भी संस्कृत के 'अर्द्ध तृतीय' से सम्बद्ध है। 'अ' का लोप बलाघात के कारण हुआ है। हिन्दी का 'सवा' प्राकृत में 'सवाअ' और संस्कृत में 'सपाद' के रूप में मिलता है। 'सवा' के अनेक रूपान्तर हो जाते हैं; जैसे—सवाया, सवाई, सवाये इत्यादि।

क्रमसंख्यावाचक विशेषणों का सम्बन्ध संस्कृत के प्रचलित क्रम-वाचक रूपों से सीधा नहीं होता, वरन् संस्कृत के आधार पर नये ढङ्ग से ये बाद में बने हैं। हिन्दी में 'पहला' प्राकृत में आकर 'पढिल्ल' अथवा 'पथिल्ल' और संस्कृत में 'प्र-थ+इल' हो जाता है। संस्कृत के 'प्रथम' से आधुनिक प्रचलित शब्द 'पहला' की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। बीम्स के मतानुसार हिन्दी के 'पहला' रूप-क्रम,संख्या-वाचक विशेषण का सम्बन्ध संस्कृत के 'प्रथम' से सम्भव है। संस्कृत की 'द्वितीय' और 'तृतीय' से हिन्दी का 'दूजा' और 'तीजा'

रूपों का उद्‌भव तो सम्भावित है परन्तु 'दूसरा' और 'तीसरा' रूपों का विकास असम्भव प्रतीत होता है। बीम्स का कहना है कि इनका सम्बन्ध संस्कृत की 'द्वःसृतः' 'त्रिसृतः' से होता है। इस प्रकार चार की संख्या तक क्रम वाचक विशेषणों की व्युत्पत्ति भिन्न भिन्न ढङ्ग से हुई है। इसके आगे 'वाँ' लगाकर भिन्न-भिन्न रूप बनाये जाते हैं, उदाहरणार्थ—पाँचवाँ, सातवाँ, बीसवाँ इत्यादि। यह रूप संस्कृत 'तम' से प्रसूत माने जाते हैं। हिन्दी का 'छठा' रूप प्राकृत में भी 'छठा' मिलता है। यह संस्कृत 'षष्ठ' का ही रूपान्तर है।

आवृत्ति संख्यावाचक विशेषण दुगुना, तिगुना, चौगुना संस्कृत का 'गुण' लगा कर बनते हैं। हिन्दी में कुछ समुदायवाचक विशेषण भी प्रचलित हैं किन्तु ये प्रायः अन्य भाषाओं से अवतरित हुए हैं। कौड़ियों की गिनती करने में चार के लिए 'गंडा' शब्द प्रयुक्त होता है। 'बीस' की संख्या के लिए 'कौड़ी' शब्द और 'बारह' के लिए आधुनिक प्रचलित अंग्रेजी शब्द 'दर्जन' उपयुक्त समझा गया है। अंगरेजी शब्द 'ग्रौस' बारह दर्जन के लिए कुछ प्रचलित हो गया है। इसी प्रकार और भी अनेक शब्द हैं जो समुदाय के रूप में प्रयुक्त होने लगे हैं।

प्रश्न ३२—निम्नलिखित शब्दों की व्युत्पत्ति बताइए—ग्यारह, साँझ, साँप, सोहाग, ढाई, दियासलाई, मूँछ, भबूत, रैन, कौड़ी, आज, झा, नाच, तेल, चीता।

उत्तर—ग्यारह—इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'एकादश' से है। एकादश का अघोष वर्ण 'क' अपने घोष रूप 'ग' में परिवर्तित हुआ। ऊष्म व्यंजन 'श' का 'के' हो गया आदि स्वर 'ए' का लोप हुआ। इतने परिवर्तन तो सनियम पर 'द' का 'र' अनियम हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'त्रयोदश' और 'षोड़ष' के परिवर्तित रूप 'तेरह' और 'सोलह' के सादृश्य पर ग्यारह, बारह पन्द्रह, सत्रह आदि में 'द' के स्थान पर 'र' आता गया है।

साँझ—शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत शब्द 'संध्या' से है। सन्ध्या में स्पर्श और अन्तःस्थ का संयोग है। अन्तःस्थ और स्पर्श दोनों का लोप है पर अन्तःस्थ 'य' के सवर्गीय तालव्य, 'च' का चतुर्थ वर्ण हो गया था, इस प्रकार 'ध्या' का 'झ' बना। 'त्' 'सर' पर अनुस्वार बना और 'अ' दीर्घ हो गया।

साँप—की व्युत्पत्ति 'सर्प' शब्द से है। मध्य व्यंजन 'र' का लोप हो गया। ह्रस्व 'अ' दीर्घ हो गया। पर इसका अनुनासिक अनियम है। इस प्रकार के अनेक शब्दों पर अकारण अनुस्वार पाया जाता है। जैसे—श्वास से साँस।

सोहाग—की व्युत्पत्ति 'सौभाग्य' शब्द से है। महाप्राण ध्वनि 'भा' परिवर्तित होकर केवल 'हा' बचा है। 'ग्या' में मध्य व्यंजन 'य' का लोप होकर 'ग' बचा है।

ढाई—की व्युत्पत्ति 'अर्द्धतृतीय' से है। अर्द्धतृतीय प्राकृत में 'अड़तीय' हो गया था। इस परिवर्तन में व्यंजन-लोप का नियम है और 'दकार' अपने समीप के उच्चारण स्थान में 'डकार' में बदल गया है। 'अड़तीय' से 'अढ़ाई' बना। 'अड़ती' में मध्य व्यंजन 'त' का लोप हो गया। 'ड़' अपने महाप्राण स्वरूप 'ढ़' में परिवर्तित होकर दीर्घ हो गया। 'अढ़ाई' का आदि स्वर 'अ' लुप्त होकर 'ढाई' बना।

दियासलाई—की व्युत्पत्ति 'दीपशलाका' से है। 'प' से 'ब' और 'ब' से 'य' बना है। अंतिम शब्द 'का' में मध्य 'क' का लोप हुआ है। अन्त्य स्वर 'आ' 'ई' बन गया है।

मूँछ—शब्द की व्युत्पत्ति 'श्मश्रु' से है। व्यंजन 'क' का लोप हुआ और स्वर-विपर्यय के नियम से अन्त्य स्वर 'उ' आदि व्यंजन 'म' पर गया। अंतःस्थ और ऊष्म 'श' के संयोग में 'र' का लोप हो गया, पर 'श' ने परिवर्तित होकर सवर्गीय तालव्य रूप धारण कर लिया। 'र' अंतःस्थ का द्वितीय वर्ण था अतः तालव्य वर्ग का द्वितीय वर्ण 'छ' बन गया।

भबूत—इस शब्द की व्युत्पत्ति 'विभूति' से है। इसमें व्यंजन-विपर्यय का ही नियम है। मध्य व्यंजन 'भ' आदि में 'आ' हो गया है और मध्य स्वर 'इ' 'अ' हो गया है।

रैन—इस शब्द की व्युत्पत्ति 'रजनी' से है। मध्य व्यंजन 'ज' तालव्य बदल कर तालव्य अर्द्ध स्वर 'य' हो गया। 'अ' और 'य' मिलकर संयुक्त स्वर 'ए' हो गए। इस प्रकार रजनी, र=नी, रैन हो गया।

कौड़ी—की व्युपत्ति 'कपर्द' से है। मध्य व्यंजन 'प' अपने घोष रूप 'व' में परिवर्तित हुआ। 'अ' और 'व' के संयोग से संयुक्त स्वर 'औ' बना। 'र' और 'द' के संयोग से 'ड़' बना। प्रयत्न के अनुसार 'र' लुण्ठित और 'ढ' उत्क्षिप्त है, दोनों निकट ही हैं। इसी प्रकार उच्चारण-स्थान की दृष्टि से 'द' और 'ठ' में एक स्थान का भेद है। इसलिये 'द' का रूप 'ड़' हो गया है। अन्त्य स्वर 'अ' 'इ' में परिवर्तित हो गया है।

आज—इसकी व्युत्पत्ति 'अद्य' से है। स्पर्श और अंतःस्थ के योग में दोनों लुप्त हुए हैं पर 'य' की तालव्य ध्वनि शेष रही है और 'द' का वर्गीय तृतीय वर्ण 'ज' बना है। आदि स्वर दीर्घ हो गया है।

झा—संस्कृत शब्द 'उपाध्याय' का सूक्ष्म रूप है। इसमें लोप की चरम-सीमा है। आदि, मध्य और अंतकर्ष लुप्त हो गये हैं। 'ध्या' में दन्त्य स्पर्श और अन्तस्थ का योग था। अन्तस्थ के लोप होने पर दन्त्य स्पर्श व्यंजन अपने स्थान के तालव्य स्पर्श में परिवर्तित होता है इसीलिये 'य' का तो लोप हो गया और 'ध' तालव्य 'झ' में बदल गया। इस प्रकार 'ध्या' ही 'झा' बन गया।

नाच—संस्कृत 'कृत्य' शब्द से उत्पन्न है। 'त्' और 'य' में स्पर्श और अन्तस्थ का योग है। अन्तस्थ लुप्त हो गया है और स्पर्श 'त्' तालव्य के प्रथम 'च' ध्वनि में बदला और 'ऋ' का लोप हुआ और उसके प्रभाव से आदि वर्ण 'न' दीर्घ हो गया है।

तेल—इसकी उत्पत्ति संस्कृत शब्द 'तैल' से हुई है। 'ऐ' 'ए' हो गया है।

चीता—'चित्रक' शब्द से इसकी व्युत्पत्ति हुई है। मध्य व्यंजन 'र' और 'क' का लोप हुआ है और ह्रस्व 'इ' और 'अ' दीर्घ होकर 'चीता' में रूपन्त-रित हुए हैं।

तृतीय प्रश्नपत्र को हल करने की विधि

इस प्रश्नपत्र के तीन भाग होते हैं—

१. साहित्यालोचन

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास और

३. काव्यशास्त्र

१—'साहित्यालोचन' के अंतर्गत सैद्धान्तिक प्रश्न पूछे जाते हैं। इन प्रश्नों के उत्तर शास्त्रीय पद्धति पर लिखे होने चाहिये—व्यर्थ के विस्तार की गुंजाइश यहाँ नहीं है। प्रश्नों के उत्तर में उस विषय से सम्बन्धित भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्रियों के आवश्यक मतों को उद्धृत करना अच्छा रहता है। उत्तर में क्रमबद्धता होनी चाहिये, अंत में निष्कर्ष द्वारा अपना मत प्रकट करना चाहिये। एक दो प्रश्न सामान्य रूप से कला, कलाओं और काव्य का सम्बन्ध, कला का मानव जीवन से सम्बन्ध आदि पर पूछे जाते हैं। उदाहरणार्थ—

"कला की परिभाषा बताते हुए उसके वर्गीकरण पर प्रकाश डालिये।"

"सिद्ध कीजिये ललित कलाओं में काव्य ही सर्वश्रेष्ठ कला है।"

"कला कला के लिये है अथवा लोकहित के लिये—"इस विषय पर विभिन्न विद्वानों के मतों का विवेचन करते हुए अपना मत दीजिये।

कुछ प्रश्न काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि के तात्विक विवेचन से सम्बन्धित होते हैं। जैसे—

"काव्य में भावपक्ष और कलापक्ष के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डालिये।"

"नाटक की परिभाषा करते हुए नाटक के तत्वों पर प्रकाश डालिये।"

"उपन्यास का स्वरूप निर्धारित करते हुए उसके तत्वों का विवेचन कीजिये तथा उपन्यास और नाटक के पारस्परिक भेद को स्पष्ट कीजिये।"

इन सभी प्रश्नों का तर्कसंगत विवेचन इस 'गाइड' में मिलेगा। इसके

लिये अन्यत्र भटकने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी यदि विद्यार्थी चाहें तो बाबू गुलाबराय की 'सिद्धान्त और समीक्षा', 'काव्य के रूप', सुमन और मल्लिक की 'साहित्य विवेचन', डा० भगवत्स्वरूप मिश्र की 'हिन्दी आलोचना का उद्भव और विकास' आदि पुस्तकों का अवलोकन कर सकते हैं।

२. हिन्दी साहित्य के इतिहास के अंतर्गत चारों कालों से सम्बन्धित प्रश्न पूछे जाते हैं। उदाहरणार्थ—

"भक्तिकाल की सामान्य विशेषताओं का संक्षेप में निरूपण कीजिये।"

एक-दो प्रश्न काल विशेष के प्रतिनिधि कवि पर भी पूछ लिया जाता है जैसे—

"कबीर के समन्वयवाद पर प्रकाश डालो"

"सिद्ध कीजिये तुलसी बुद्धदेव के बाद भारत के सबसे बड़े लोकनायक थे।"

इन प्रश्नों के उत्तर देते समय यह ध्यान में रखना चाहिये कि विवेचन सुस्पष्ट और सरल भाषा में हो तथा तथ्यों का प्रतिपादन 'To the Point' होना चाहिये। उलझन और अस्पष्टता से अंक कट जाते हैं।

३. काव्यशास्त्र वाले भाग में काव्य की परिभाषा, रस, अलंकार, गुण, रीति, छन्द आदि की परिभाषा तथा प्रमुख अलंकार, छन्द, दोष आदि के लक्षण उदाहरण आदि के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे जाते हैं। परिभाषा वाले प्रश्नों में उस विषय से सम्बन्धित प्रमुख विद्वानों के मतों को उद्धृत करना चाहिये और उनकी सुस्पष्ट आलोचना करते हुए अपना स्पष्ट मत अंत में दे देना चाहिये। लक्षण और उदाहरण में लक्षणों एवं उदाहरणों को सम्पूर्ण रूप से कंठस्थ कर लेना चाहिये। काव्यशास्त्र से सम्बन्धित प्रायः सभी आवश्यक सामग्री को यहाँ दे दिया गया है फिर भी यदि परीक्षार्थी चाहें डा० भगीरथ मिश्र कृत 'काव्यशास्त्र', रामदहिन मिश्र लिखित 'काव्यदर्पण', डा० शम्भुनाथ पाण्डेय लिखित 'काव्य शास्त्र', विश्वम्भर 'अरुण' लिखित 'अलंकार प्रबोध' आदि पुस्तकों का अध्ययन भी कर लें।

विषय-सूची

साहित्यालोचन

विषय | पृष्ठ

काव्यशास्त्र

प्रश्नपत्र—३

साहित्यालोचन

हिन्दी साहित्य का इतिहास

और

काव्य-शास्त्र

साहित्यालोचन

प्रश्न १—कला की परिभाषा बताते हुए उसके वर्गीकरण पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—कला की परिभाषा

कला की परिभाषा करना असम्भव नहीं तो कठिव अवश्य है। कला का सम्बन्ध मानव से है। मानव चेतना-सम्पन्न प्राणी है। वह बाह्य जगत को देखता है और उसे देखकर कुछ अनुभव करता है। वह उन अनुभवों को व्यक्त भी करना चाहता है। अनुभव को व्यक्त करने में ही कला की उत्पत्ति होती है। मनुष्य की यह मानसिक क्रिया इतनी पुरातन है, जितनी यह सृष्टि स्वयम्। मानव के चेतन मन पर उसके चतुर्दिक वातावरण के चित्र अनजान में अंकित होते रहे होंगे और मनुष्य उन्हें मूर्त रूप देने का प्रयत्न भी तभी से करता रहा होगा। वास्तव में अभिव्यक्ति की यह क्रिया उसके लिए सन्तोष-दायिनी सिद्ध हुई है क्योंकि मानव-मस्तिष्क का निर्माण ही कुछ इस प्रकार से हुआ है कि वह अपनी इस प्रवृत्ति को रोक नहीं सकता। जिस प्रकार चचल समीर जलराशि पर स्वतः अपना चित्र अंकित कर देती है, उसी प्रकार मनुष्य के मस्तिष्क में इस जीव-जगत के सुख-दुःख, हित-अहित, सुन्दर-असुन्दर आदि की भावनाएँ स्वतः ही अंकित हो जाती हैं और उसकी अन्तरात्मा उसे गोचर रूप में चित्रित कर देना चाहती है, अभिव्यंजना की इसी विधि को "कला" का नाम दिया गया है। आरम्भ में तो साधनों के अभाव से मनुष्य इङ्गित तथा संकेत आदि से ही यत्किंचित सन्तोष लाभ करता रहा होगा, किन्तु कालान्तर में अभिव्यंजना के अदम्य आवेग से कला की शक्ति का

पर्याप्त विकास हुआ और धीरे-धीरे अभिव्यक्ति की विधियों का बाहुल्य हो गया। । इस प्रकार अभिव्यंजना की विविध विधियों को ही हम 'कला' की संज्ञा दे सकते हैं।

यद्यपि अभिव्यजना को ही 'कला' की संज्ञा दी गई है तथापि सम्पूर्ण अभिव्यंजना कला नहीं है। इसका स्पष्ट प्रमाण तो यही है कि यद्यपि इतिहास, विज्ञान, दर्शन आदि विषय अभिव्यक्ति का परिणाम हैं तथापि वे कला के अन्तर्गत नहीं रखे जा सकते। मानव-प्रकृति विश्व के विविध चित्रों को देखकर कभी तो चमत्कृत हो उठती है और कभी अपने सूक्ष्म दर्शन से सृष्टि-चक्र के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विवेचन, विश्लेषण और श्रेणी विभाजन करती है। कभी वह तर्क-शास्त्रों की विविध प्रणालियों तथा प्रक्रियाओं का लेखा उपस्थित करती है तो कभी वह एक ऐतिहासिक व्यक्ति की भाँति स्थूल और घटित घटनाओं के माध्यम से ऐतिहासिक पात्रों का चरित्र-चित्रण करती है। कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ एक ओर वह अपने बुद्धि-विकास तथा विश्लेषण के द्वारा हमें किसी निश्चित सिद्धान्त की ओर प्रेरित करती है वहाँ दूसरी ओर वाह्य जगत की विशिष्ट वस्तुओं को देखकर उनकी परिष्कृत रूप में अभिव्यक्ति भी करती है। प्रथम स्थिति में वह तर्क-शास्त्र के बल पर विविध प्रणालियों, वैज्ञानिक अनुसन्धानों, दार्शनिक तथ्यों तथा तार्किक सारणियों का साङ्गोपाङ्ग परिचय प्राप्त करती है तो दूसरी ओर काल्पनिक क्रिया-कलापों द्वारा अनुभूतियों और कल्पनाओं से युक्त समग्र सौन्दर्य को एक ही बार में ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार पहले प्रकार की स्थिति वैज्ञानिक तथा दार्शनिक दृष्टि से है तथा दूसरे प्रकार की कलाकार की दृष्टि से है। अभिव्यंजना की विविध विधियों में अभिव्यंजना आवश्यक है; परन्तु अभिव्यंजना-मात्र 'कला' नहीं है। अतः प्रत्येक प्रकार की अभिव्यंजना को 'कला' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। गुप्त जी के शब्दों में अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही कला होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामान्य अभिव्यंजना में और कला की अभिव्यंजना में पर्याप्त अन्तर है।

कलाओं का वर्गीकरण

कलाओं के वर्गीकरण के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। क्रोचे के कथनानुसार कला एक अखण्ड अभिव्यक्ति है जिसका वर्गीकरण किसी भी दृष्टि से नहीं हो सकता। उनका कथन है कि कला एक नैसर्गिक विधान है। वस्तु-जगत के भिन्न-भिन्न प्रभावों का मूर्त रूप है। वैसे कलाओं का वर्गीकरण कई दृष्टियों से किया जाता है।

व्यावहारिक दृष्टि से कलाओं का वर्गीकरण—इस दृष्टि से कलाओं को दो प्रमुख वर्गों में विभक्त किया जाता है—**१—उपयोगी कला। २—ललित कला।**

"**उपयोगी कला**" में वे सब कलायें आ जाती हैं जिनका हमारे दैनिक जीवन से सम्बन्ध है तथा जिनका उपयोग हम नित्यप्रति करते हैं। वैसे तो उपयोगिता का जहाँ तक सम्बन्ध है, प्रत्येक कला में शारीरिक अथवा मानसिक उपयोगिता होती है, परन्तु लालित्य कला की एक ऐसी विशेषता है जो ललित कला को उपयोगी कला से पृथक करती है। जैसे बढ़ईगीरी, लुहार का कार्य आदि उपयोगी हैं, परन्तु इनमें लालित्य नहीं है। अतः ललित कलायें वे हैं, जिनका हमारे दैनिक तथा व्यावहारिक जीवन से इतना सम्बन्ध नहीं है जितना मानसिक और लोकोत्तर जीवन से। वे कुछ समय के लिये हमें लोकोत्तर अवस्था में पहुँचा देती हैं; जिसका सम्बन्ध ब्रह्म सहोदर आनन्द से है। वे समय आने पर हमारे जीवन को अनुप्राणित तथा अनुप्रेरित करती हैं।

अनुभूति के आधार पर वर्गीकरण—कला का दूसरा विभाजन अनुभूति को लेकर किया गया है। इस विचार से कला के दो पक्ष प्रकट होते हैं—**१—अनुभूति, और २—कला-पक्ष।** अनुभूति और उसकी रूप-व्यंजना से कलावस्तु का संघटन होता है। अतः इन दोनों को लेकर ही कला का वर्गीकरण किया गया है। कलापक्ष में आधार या भौतिक उपकरणों के माध्यम से कलाकार अपने विचारों की अभिव्यक्ति करता है। अनुभूति-पक्ष में अनुभूति आती है, जिसके द्वारा कलाकार एक बार चमत्कृत और उद्वेलित हो उठता है और अनुभूति को वह पाठक या द्रष्टा तक पहुँचाकर उससे सामन्जस्य स्थापित करता है।

कला की सफल अभिव्यंजना और कला की असफल अभिव्यंजना इसी वर्ग का दूसरा सुविधाजनक विभाजन है, जिनका संघठन अनुभूति तथा उसकी रूपव्यंजना से होता है। रूप-पक्ष ही वास्तव में अनुभूति को अभिव्यक्ति देता है। लेखक या कवि प्रथमतः किसी वस्तु को हृदयस्थ करके उसका अनुभव करता है, फिर उसे तद्वत् अथवा उत्तरोत्तर उत्कर्ष से अभिव्यक्त करता है। इससे स्पष्ट है कि कला का स्फुरण अथवा उसकी अभिव्यक्ति अनुभूति तथा अभिव्यंजना की सम्मिलित प्रक्रियाओं के द्वारा ही होती है। जब हम किसी काव्य की समीक्षा करते हैं तो प्रायः हम यह कह देते हैं कि अमुक पुस्तक में कवि या लेखक की अनुभूति में सशक्तता तथा रूप-व्यंजना सफल नहीं हो पाई। इसका सारांश यह होता है कि भावनाओं का प्रबल और अदम्य वेग उसके पाण्डित्य को आच्छादित कर देता है जिससे उसका कलापक्ष कमजोर हो जाता है। क्योंकि हृदय के आवेश या उद्वेग को ऐसा कलाकार रूपपक्ष के या कला के समुचित सशक्त बन्धन में बाँध नहीं सकता, उसके विचार धारा-वाहिक रूप में अबाध गति से आगे बढ़ते हैं कि कलापक्ष के समस्त बन्धन उसके प्रबल प्रहारों से छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। कभी जब कलाकार का अनुभूति-पक्ष शिथिल हो जाता है तो वह तत्संबन्धी न्यूनता को बाह्य-पक्ष के परिच्छेद से ढाँकना चाहता है। तब वह केवल पाण्डित्य-प्रदर्शन-मात्र करके ही रह जाता है। ऐसी अवस्था में कलाकार का अनुभूति पक्ष शिथिल तथा बाह्य-पक्ष प्रबल होता है। उदाहरणार्थ—केशव तथा अधिकांश रीतिकालीन कवि इसी कोटि के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं जिनकी अनुभूति-पक्ष सम्बन्धी शिथिलता सर्वविदित है। इसी प्रकार मीरा, जायसी, कबीर आदि अनुभूति-पक्ष की पुष्टता के लिए प्रख्यात हैं। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो उपर्युक्त दोनों प्रकार की अभिव्यक्ति कला की दृष्टि से अपूर्ण और असफल कही जायेंगी; क्योंकि इस दृष्टि से दोनों पक्षों का सामंजस्य नहीं रहता। किन्तु कई ऐसे कलाकार भी हैं, जिनका अनुभूति-पक्ष उतना ही सशक्त, वेगमय, प्रबल और अदम्य है जितना कि रूप-पक्ष। इस दृष्टि से उनके काव्य में दोनों पक्षों का संतुलन हो जाता है। जिस कलाकार अथवा कवि की कृति में इन दोनों पक्षों का उचित समन्वय है वही कृति उच्चकोटि की तथा उत्तम

कृति है और उसका कर्त्ता सफल सृष्टा तथा सर्वश्रेष्ठ कलाकारों में अग्रगण्य होता है। हिन्दी साहित्य के कवियों में ऐसे कलाकारों में सूर और तुलसी का नाम निःसंकोच लिया जा सकता है, जिन्होंने अपने अनुभव तथा पाण्डित्य के बल पर इस श्रेय को प्राप्त किया।

इस प्रकार कलापक्ष के अवयव-संघठन की दृष्टि से कलाओं को कई भागों में बाँटा जाता है। जैसे—

कलापक्ष के अवयव संघठन के आधार पर—कलापक्ष के अवयव-संघटन के आधार पर कलाओं को कई भागों में बाँटा जाता है।

१—अनुभूति-पक्ष का अभाव और अभिव्यंजना-पक्ष सशक्त

२—अनुभूति-पक्ष सफल और अभिव्यंजना-पक्ष असफल

३—अनुभूत एवं रूप-पक्ष का उचित सन्तुलन एवं समन्वय और

४—अनुभूति एवं रूप, दोनों पक्षों का अभाव।

स्पष्ट तो यह है कि वह कलाकृति सफल है जिसमें दोनों पक्षों का उचित सन्तुलन एवं समन्वय हो।

अन्य वर्गीकरण के आधार—इस अवयव संघठन विभाग के अतिरिक्त कला के अन्य श्रेणी विभाग भी किए गये हैं जिनमें कुछ ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हैं और कुछ धार्मिक, लौकिक तथा आधुनिक कला के रूप में किये गये हैं। सामान्य जन-समाज में काव्य-कला की प्रतिष्ठा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है और अधिकांश मनुष्य उससे परिचित और लाभान्वित हो रहे हैं। कहीं-कहीं तो कलाओं के प्रति लोगों का दृष्टिकोण श्रद्धा की कोटि में चला गया है। भारतवर्ष में आज मूर्तियाँ यहाँ के सामाजिकों के लिए कलाकृति से अधिक पूजा की वस्तु हैं। वे मूर्तियाँ भारतीय जन-समाज का एक अङ्ग बन गई हैं। इसी प्रकार कुछ पुस्तकें—रामायण, महाभारत, गीता आदि अधिक साहित्यिक महत्व वाली न होकर पूजा की पात्र हैं। प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप में इस विचार-धारा का प्रभाव कला के विवेचन का एक अभिन्न अङ्ग बन गया है। ऐसी रुग्ण दृष्टि कलाओं के उचित विश्लेषण, विवेचन तथा वर्गीकरण में बाधा उपस्थित करती है। अब कलाओं का वर्गीकरण भी इन्हीं आधारों और विचारों को लेकर हो रहा है। कुछ विद्वान् तो कलाओं की संख्याओं के सम्बन्ध

कला की सफल अभिव्यंजना और कला की असफल अभिव्यंजना इसी वर्ग का दूसरा सुविधाजनक विभाजन है, जिनका संघठन अनुभूति तथा उसकी रूपव्यंजना से होता है। रूप-पक्ष ही वास्तव में अनुभूति को अभिव्यक्ति देता है। लेखक या कवि प्रथमतः किसी वस्तु को हृदयस्थ करके उसका अनुभव करता है, फिर उसे तद्वत् अथवा उत्तरोत्तर उत्कर्ष से अभिव्यक्त करता है। इससे स्पष्ट है कि कला का स्फुरण अथवा उसकी अभिव्यक्ति अनुभूति तथा अभिव्यंजना की सम्मिलित प्रक्रियाओं के द्वारा ही होती है। जब हम किसी काव्य की समीक्षा करते हैं तो प्रायः हम यह कह देते हैं कि अमुक पुस्तक में कवि या लेखक की अनुभूति में सशक्तता तथा रूप-व्यंजना सफल नहीं हो पाई। इसका सारांश यह होता है कि भावनाओं का प्रबल और अदम्य वेग उसके पाण्डित्य को आच्छादित कर देता है जिससे उसका कलापक्ष कमजोर हो जाता है। क्योंकि हृदय के आवेश या उद्वेग को ऐसा कलाकार रूपपक्ष के या कला के समुचित सशक्त बन्धन में बाँध नहीं सकता, उसके विचार धारा-वाहिक रूप में अबाध गति से आगे बढ़ते हैं कि कलापक्ष के समस्त बन्धन उसके प्रबल प्रहारों से छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। कभी जब कलाकार का अनुभूति-पक्ष शिथिल हो जाता है तो वह तत्संबन्धी न्यूनता को बाह्य-पक्ष के परिच्छेद से ढाँकना चाहता है। तब वह केवल पाण्डित्य-प्रदर्शन-मात्र करके ही रह जाता है। ऐसी अवस्था में कलाकार का अनुभूति पक्ष शिथिल तथा बाह्य-पक्ष प्रबल होता है। उदाहरणार्थ—केशव तथा अधिकांश रीतिकालीन कवि इसी कोटि के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं जिनकी अनुभूति-पक्ष सम्बन्धी शिथिलता सर्वविदित है। इसी प्रकार मीरा, जायसी, कबीर आदि अनुभूति-पक्ष की पुष्टता के लिए प्रख्यात हैं। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो उपर्युक्त दोनों प्रकार की अभिव्यक्ति कला की दृष्टि से अपूर्ण और असफल कही जायेंगी; क्योंकि इस दृष्टि से दोनों पक्षों का सामंजस्य नहीं रहता। किन्तु कई ऐसे कलाकार भी हैं, जिनका अनुभूति-पक्ष उतना ही सशक्त, वेगमय, प्रबल और अदम्य है जितना कि रूप-पक्ष। इस दृष्टि से उनके काव्य में दोनों पक्षों का संतुलन हो जाता है। जिस कलाकार अथवा कवि की कृति में इन दोनों पक्षों का उचित समन्वय है वही कृति उच्चकोटि की तथा उत्तम

कृति है और उसका कर्त्ता सफल सृष्टा तथा सर्वश्रेष्ठ कलाकारों में अग्रगण्य होता है। हिन्दी साहित्य के कवियों में ऐसे कलाकारों में सूर और तुलसी का नाम निःसंकोच लिया जा सकता है, जिन्होंने अपने अनुभव तथा पाण्डित्य के बल पर इस श्रेय को प्राप्त किया।

इस प्रकार कलापक्ष के अवयव-संघठन की दृष्टि से कलाओं को कई भागों में बाँटा जाता है। जैसे—

कलापक्ष के अवयव संघठन के आधार पर—कलापक्ष के अवयव-संघटन के आधार पर कलाओं को कई भागों में बाँटा जाता है।

१—अनुभूति-पक्ष का अभाव और अभिव्यंजना-पक्ष सशक्त

२—अनुभूति-पक्ष सफल और अभिव्यंजना-पक्ष असफल

३—अनुभूत एवं रूप-पक्ष का उचित सन्तुलन एवं समन्वय और

४—अनुभूति एवं रूप, दोनों पक्षों का अभाव।

स्पष्ट तो यह है कि वह कलाकृति सफल है जिसमें दोनों पक्षों का उचित सन्तुलन एवं समन्वय हो।

अन्य वर्गीकरण के आधार—इस अवयव संघठन विभाग के अतिरिक्त कला के अन्य श्रेणी विभाग भी किए गये हैं जिनमें कुछ ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हैं और कुछ धार्मिक, लौकिक तथा आधुनिक कला के रूप में किये गये हैं। सामान्य जन-समाज में काव्य-कला की प्रतिष्ठा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है और अधिकांश मनुष्य उससे परिचित और लाभान्वित हो रहे हैं। कहीं-कहीं तो कलाओं के प्रति लोगों का दृष्टिकोण श्रद्धा की कोटि में चला गया है। भारतवर्ष में आज मूर्तियाँ यहाँ के सामाजिकों के लिए कलाकृति से अधिक पूजा की वस्तु हैं। वे मूर्तियाँ भारतीय जन-समाज का एक अङ्ग बन गई हैं। इसी प्रकार कुछ पुस्तकें—रामायण, महाभारत, गीता आदि अधिक साहित्यिक महत्व वाली न होकर पूजा की पात्र हैं। प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप में इस विचार-धारा का प्रभाव कला के विवेचन का एक अभिन्न अङ्ग बन गया है। ऐसी रुग्ण दृष्टि कलाओं के उचित विश्लेषण, विवेचन तथा वर्गीकरण में बाधा उपस्थित करती है। अब कलाओं का वर्गीकरण भी इन्हीं आधारों और विचारों को लेकर हो रहा है। कुछ विद्वान् तो कलाओं की संख्याओं के सम्बन्ध

में अभी तक निर्णय नहीं कर सके हैं। वे ललित कलाओं में नृत्य को एक स्वतन्त्र स्थान देते हैं। कई उसे अभिनय का एक अङ्ग मानते हैं। इस प्रकार कलाओं के वर्गीकरण में अनेक प्रकार के मतभेद प्रचलित हैं। वास्तव में येसब मतभेद स्वाभाविक ही हैं; क्योंकि 'क्रोचे' के आधार पर कला तो एक अखण्ड अभिव्यक्ति है जिसका वर्गीकरण असम्भव है। वर्गीकरण तो कला के बाह्य अङ्गों का होता है अथवा उन माध्यमों का, जिनके द्वारा कला-कृतियाँ विविध रूप में प्रकट होती हैं।

वास्तव में कला का मूल 'अनुभूति' है जो प्रत्येक कलाकार, कवि, लेखक व सङ्गीतज्ञ के हृदय मे एक ही प्रकार से होती है। परन्तु उसकी अभिव्यंजना प्रणाली की विविधता प्रत्येक कला-कृति को विशिष्टता प्रदान करती है, अतः कलाओं का वर्गीकरण तात्विक दृष्टि से नहीं अपितु व्यावहारिक दृष्टिकोण से किया जा सकता है। अत: यह तो मानना ही पड़ेगा कि "ललित और उपयोगी" कला ही इसका विभाजन अधिक वैज्ञानिक है।

ललित कलाओं का वर्गीकरण पाँच भागों में किया गया है। १. वास्तुकला, २. चित्रकला, ३. मूर्तिकला, ४. संगीतकला और ५. काव्यकला। यह स्मरणीय है कि वह वर्गीकरण अनुभूति की दृष्टि से नहीं, बल्कि उपकरणों की दृष्टि से है। वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला, ये नेत्र का विषय हैं। संगीतकला कान का विषय है और काव्य-कला दृश्य और श्रव्य दोनों ही है।

प्रश्न २—सिद्ध कीजिए कि ललित कलाओं में काव्य ही सर्वश्रेष्ठ कला है।

उत्तर—सृष्टि में जो कुछ भी देखा जाता है अथवा देखा गया है वह सभी किसी-न-किसी उपयोग में अवश्य आता है। प्रत्येक वस्तु में तत्सम्बन्धी उपादेयता का गुण वर्तमात होता है। जैसे-जैसे हमारे ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है वैसे ही वैसे हम प्रत्येक वस्तु की उपादेयता को बोधगम्य बनाते जाते हैं। जिस प्रकार हम प्राकृतिक दृश्यों; यथा—फल-फूलों, पशु-पक्षियों, नक्षत्र-तारों में किसी प्रकार का सौन्दर्य पाते हैं उसी प्रकार मनुष्य द्वारा निर्मित पदार्थों को भी उपयोगिता और सुन्दरता की दृष्टि से देखा जाता है। इस दृष्टि से कला के दो विभाग हैं—एक उपयोगी कला तथा दूसरा ललित कला।

उपयोगी कला के माध्यम से व्यक्ति अपनी नित्य-प्रति की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और ललित कलाओं के द्वारा अलौकिक आनन्द को प्राप्त करता है। अन्तर केवल इतना ही है जहाँ एक के द्वारा मनुष्य की आर्थिक एवं शारीरिक उन्नति होती है वहाँ दूसरी स्थिति में उसका मानसिक तथा आत्मिक विकास होता है।

वास्तव में देखा जाय तो पता चलता है कि कला में जितने अधिक स्थूल उपकरण होंगे, वह कला उतनी ही निकृष्ट मानी जायेगी, क्योंकि अनुभूति की स्थिति सदैव क्षणभंगुर मानी गई है। इन स्थूल उपकरणों द्वारा अभिव्यक्त होने के कारण वह एक रस नहीं रह पाती। अतः स्पष्ट है कि उसकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही कम प्रभावशाली होगी। कला तो एक अखण्ड अभिव्यक्ति है। यह एक नैसर्गिक विधान है। उसमें जितनी ही कम भौतिक एवं स्थूल उपकरणों की अपेक्षा होगी, अनुभूति उतनी ही सरल और उत्कृष्ट होगी। इसी कसौटी पर सम्पूर्ण कलाओं की उत्कृष्टता परखी जा सकती है।

सर्वप्रथम उपयोगी कलाओं को ही लें। यदि ध्यान-पूर्वक देखा जाये तो उपयोगी कलाओं को कला कहना कठिन है; क्योंकि वे हमारे दैनिक उपयोग की वस्तु हैं, उनका हमारी सौन्दर्यवृत्ति से कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। मनुष्य स्वभावतः सौंदर्य-प्रिय प्राणी है। वह अपने सम्पर्क में आने वाली, सदा निकट व्यवहार में आने वाली प्रत्येक वस्तु को सुन्दर देखना चाहता है। सौंदर्य से युक्त वस्तु मनुष्य को शीघ्र आकृष्ट कर लेती है। एक काष्ठ अथवा प्रस्तर की प्रतिमा के निर्माण के लिए कितने ही उपकरणों की आवश्यकता होती है। परन्तु उचित उपकरणों के तात्कालिक अभाव के कारण कलाकृति में कुरूपता आ जाती है। सारांश यह कि इतने अधिक उपकरणों के संग्रह करने में इतना अधिक समय लगेगा कि उतने समय में हृदयस्थ भाव और अनुभूति मन्द पड़ जायेगी और भिन्न-भिन्न खण्डों के निर्माण करने के कारण उनका सौंदर्य इतना प्रभावशाली नहीं रह पायेगा, अतः समस्त उपयोगी कलाएँ निकृष्ट होंगी; क्योंकि सृष्टा अपने हृदयस्थ भावों को पाठकों व दर्शकों के हृदयों में तद्वत् जाग्रत करने में असमर्थ होगा।

ललित कलाओं में भी कई कलायें ऐसी हैं जिनके आधार स्थूल उपकरण हैं। सामान्य रूप से ललित कलाओं में कुछ बातें अवश्य मिलेंगी; जैसे—

१—किसी न किसी प्रकार के आधार की आवश्यकता प्रत्येक कला को होती हैं।

२—नेत्रेन्द्रिय तथा श्रवणेन्द्रिय के सन्निकर्ष से हम कला से मानसिक तृप्ति प्राप्त करते हैं।

इन उपकरणों के माध्यम से कलाकार अपने हृदयस्थ भावों को पाठकों के हृदय में तद्वत् जाग्रत करने में समर्थ होता है। उन्हें दूसरों के लिए बोधगम्य बनाता है। अतः कलाकृति की उत्कृष्टता के लिए कुछ बातों का ज्ञान आवश्यक है; जैसे—

१—सब कलाओं में किसी न किसी आधार की आवश्यकता है।

२—वे उपकरण आवश्यक हैं जिनके द्वारा कलाकार अपनी अभिव्यक्ति को मूर्तरूप देता है।

३—कर्त्ता कहाँ तक पाठक, दर्शक या श्रोता के हृदय में भाव जाग्रत करने में समर्थ हुआ अथवा वह जाग्रत कर भी सका या नहीं।

अब इसी आधार पर कलाकृतियों का निर्णय किया जायगा। ललित कलायें पाँच प्रकार की होती हैं—१—वास्तुकला, २—मूर्तिकला, ३—चित्रकला, ४—सङ्गीत-कला तथा ५—काव्यकला।

१. वास्तुकला—इसका आधार स्थूल उपकरण ही होते हैं, जैसे—ईंट, पत्थर, लकड़ी, चूना, आदि। ये सब मूर्त पदार्थ हैं। अतः इनका प्रभाव दर्शक के हृत्पटल पर वैसा ही पड़ता है जैसा कि किसी भी मूर्त पदार्थ का पड़ सकता है। यद्यपि यह कला दर्शक के मानसिक स्तर तक अपने प्रभाव को पहुँचाने का प्रयत्न करती है तथापि कुछ विशिष्ट व्यक्ति ही इसकी परिभाषिकता तथा व्यक्त प्रभाव से अवगत होते हैं। कुछ दर्शक तो केवल पत्थरों के जुड़ाव तथा ईंटों आदि के चिनने की प्रशंसा करके ही रह जाते हैं, उनका मस्तिष्क निर्माता के मानसिक भावों की अभिव्यक्ति को नहीं देख पाता। इस प्रकार स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न प्रकार के स्थूल उपकरणों को जुटाकर अनेक मनुष्यों द्वारा बनाया गया प्रासाद, भवन व गिरजाघर उसके कलाकार या निर्माण-

कर्त्ता के हृदयस्थ भावों की तद्वत् अभिव्यक्ति को ग्रहण नहीं कर पाते। इस कला में मूर्त पदार्थों का इतना अधिक बाहुल्य है कि दर्शक उन्हीं को देखकर आनन्दित और चकित होता है, चाहे वह उसके आन्तरिक भाव को अवगत करे या न करे। भवन या प्रासाद के समग्र रूप को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि इसका निर्माण कितनी कुरूप वस्तुओं के संचय से हुआ है। यूँ मानसिक आनन्द का अपेक्षाकृत इसमें अभाव है अतः यह कला निकृष्ट कोटि के अन्तर्गत रखी जायेगी।

२. **मूर्तिकला**—मूर्तिकला के आधार भी स्थूल उपकरण हैं, जैसे—धातु, पत्थर, मिट्टी, लकड़ी आदि। इन्हीं सब उपकरणों को काट-छाँटकर मूर्तिकार इन्हें एक सुन्दर तथा भावमयी मूर्ति का रूप देता है। मूर्तिकार इसमें अपने हृदयस्थ भावों को तद्वत् प्रकट करने का अधिक सफलता से प्रयास करता है अतः इसमें सन्देह नहीं कि वास्तुकला की अपेक्षा यह कला मानसिक भावों की अच्छी अभिव्यक्ति करती है। मूर्त्तिकार के पास जो उपकरण होते हैं उनके द्वारा वह निर्जीव मूर्ति को सजीव रूप देने का पूरा प्रयत्न करता है; केवल उसे गति देना उसकी सामर्थ्य के बाहर रह जाता है। भारतीय मूर्तिकार मूर्तियों में मानसिक तथा बाह्य सौन्दर्य का स्फुरण अन्य देशों की अपेक्षा अधिक सफलता से कर पाये हैं। यद्यपि यूनान की मूर्तियाँ सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं जिनमें शारीरिक गठन और भिन्न-भिन्न अङ्गों का निर्माण बड़े सुचारु रूप से हो पाया है किन्तु वे सुन्दर शव के समान ही होती हैं। स्वयं मृत होने से दूसरे के हृदय में सुन्दर भावों को जाग्रत नहीं कर पातीं। बुद्ध की प्रस्तर प्रतिमायें मानसिक छाया का प्रकाश अपनी बाहरी अभिव्यक्ति के द्वारा फैलाती हैं। भारतीय मूर्तियों की विशेषता उनके अवयव-गठन में है। उङ्गलियों को कमल की पत्ती के समान तथा नेत्रों को अर्धोन्मीलित देखकर भिन्न-भिन्न अङ्गों की कोमलता का आभास होता है। भारतीय मूर्तियाँ मानसिक भावों के प्रत्यक्षीकरण का सुन्दरतम निदर्शन हैं। मूर्तिकार जब प्रस्तर-खण्डों को एक मूर्ति का रूप देता है तो वह स्थूल उपकरणों की सहायता के बिना कुछ भी नहीं कर सकता और न ही अपनी अखण्ड अनुभूति की अभिव्यक्ति ही कर सकता है। ये भौतिक उपकरण किसी सीमा तक कलाकार की अनुभूति की तीव्रता

को कम कर देते हैं। अतः मूर्तिकला भी उतनी उत्कृष्ट नहीं मानी जा सकती जितनी कि कम स्थूल उपकरणों वाली अन्य कलायें।

३. **चित्रकला**—चित्रकला का आधार कपड़े, कागज, चित्रपट आदि हैं जिन पर चित्रकार अपने बुरुश, कलम या कूची आदि से हृदयस्थ भावों को भिन्न-भिन्न रूपों में अभिव्यक्त करता है। कागज, चित्रपट या कपड़े का अपना अस्तित्व इतना नहीं। उस पर तो चित्रकार को रङ्ग से, कलम या कूची के द्वारा अपनी अनुभूति को प्रकट करना होता है। चित्रकार इन भौतिक उपकरणों के बिना अपनी अनुभूति को मूर्त रूप नहीं दे सकता अतः वह इन सब चीजों का मुखापेक्षी है। उसे अपनी कला की खूबी को दिखाने के लिए बड़े कौशल व सावधानी से काम लेना पड़ता है। चित्रकार जिस पदार्थ को देखता है उसे इस ढङ्ग से मूर्त रूप देता है कि दर्शक उसे देखकर उसे वास्तविक वस्तु ही मानता है। वास्तुकला और मूर्तिकला की अपेक्षा चित्रकला में मानसिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का अधिक अच्छा अवकाश या अवसर मिलता है। चित्र को मूर्त रूप देना, उसे उचित ढङ्ग से व्यक्त करना या उसमें अधिक तीव्रता या आवेग से काम करना—सब चित्रकार पर ही निर्भर है। इसमें संदेह नहीं कि किसी एक क्षण की मार्मिक अनुभूति का जितना सुन्दर प्रत्यक्षीकरण चित्रकला में हो सकता है उतना किसी अन्य में नहीं। परन्तु चित्र में सजीवता सम्भव नहीं क्योंकि जिस भाव को चित्रकार ने एक बार चित्रित कर दिया वह वैसा ही रहेगा, उसमें फिर परिवर्तन नहीं हो सकता। भाव तो सदैव क्षण-भंगुर होते हैं, चित्रकला तो उसे स्थायित्व प्रदान करती है, उसे अबाध गतिशील नहीं बना सकती, अतः इसे संगीत और काव्य-कला की तुलना में श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता।

४. **संगीत कला**—इस कला का आधार नाद है जिसे मनुष्य कई यंत्रों के माध्यम से अपने कण्ठ से उत्पन्न करता है। नाद के स्पष्टीकरण के लिए मनुष्य को अनन्त समय लगता है। नाद पैदा करने का नियम संगीत-शास्त्र के अनेक निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर होता है। संगीत के माध्यम से संगीतज्ञ अपनी अनुभूति को व्यक्त करता है। संगीत और काव्य एक-दूसरे के अत्यन्त निकट माने गये हैं जिन्हें संस्कृत साहित्य में सरस्वती देवी के दो कुचों

के समान कहा जा सकता है। अतः उनका नैकट्य सर्वमान्य है। संगीत या नाद को पैदा करने के लिए सप्तस्वर इसके आधार माने गये हैं। नाद को प्रकट करने के लिए भौतिक उपकरणों का होना इतना अधिक अनिवार्य नहीं। संगीतज्ञ अपने कण्ठ-स्वर से भी श्रोताओं को आकर्षित कर सकता है। वह श्रोताओं को रुला सकता है, हँसा सकता है, मन्त्रमुग्ध भी कर सकता है। इसी नाद के द्वारा हम अपने मानसिक विचार प्रकट कर सकते हैं। संगीत की विशेषता इस बात में है कि इसका प्रभाव अनन्त काल तक मनुष्य के मन.पटल पर रहता है। संगीत का प्रभाव इतना अधिक विस्तृत है कि जंगली से जङ्गली पुरुष से लेकर सभ्यातिसभ्य पुरुष भी इससे मन्त्रमुग्ध हो जाता है। संगीत हमें रुला सकता है, हँसा सकता है, मन में आनन्द की हिलोर तथा समवेदना की लहर पैदा कर सकता है, हमें क्रोधित कर सकता है। विद्वानों का इसमें मतभेद है। कोई संगीत को तथा कोई काव्य को सर्वोत्कृष्ट कला मानते हैं। 'पंत' की निम्न पंक्तियाँ यह प्रमाणित करती हैं कि संगीत और काव्य का कितना प्रगाढ़ सम्बन्ध है, जिनको किसी भी स्थिति में पृथक् नहीं किया जा सकता—

"वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान॥"

संगीत मानसिक दृष्टि से भी काव्यकला से बढ़कर है। जङ्गली जीव-जन्तुओं पर इसका प्रभाव सर्वविदित है। संगीत हमारे अन्तःकरण को प्रभावित करता है और हमारे हृदय को पवित्र बनाता है। परन्तु काव्य की भाँति उसमें इतनी विविधता नहीं होती। काव्य में विषय-विविधता के नाते संगीत काव्य से उत्तम नहीं कहा जा सकता। फिर नाद एक स्थूल उपकरण है जिससे संगीत को काव्य से कुछ निम्न माना गया है।

५—**काव्यकला**—काव्यकला शाब्दिक संकेतों के आधार पर अपना अस्तित्व प्रकट करती है। हमारा मन इसका ज्ञान नेत्र तथा कान दोनों इन्द्रियों द्वारा करता है। प्रत्येक शब्द किसी न किसी भाव का प्रतीक होता है। जीवन की घटनाओं के भिन्न-भिन्न चित्र, प्रकृति के बाहरी दृश्य हमारे मनःपटल पर भावमय रूप से रहते हैं। उन भावों के द्योतक कुछ सांकेतिक शब्द

जब उन्हें मूर्तरूप देते हैं तब वे रूप काव्य-कला के अन्तर्गत आ जाते हैं। यद्यपि उत्कृष्टता की दृष्टि से काव्य-कला की तुलना केवल संगीत से हो सकती है, तथापि इसी कला को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है, क्योंकि इसमें किसी मूर्त आधार की आवश्यकता नहीं होती। इसका प्रादुर्भाव शब्द समूहों तथा वाक्यों से होता है। इसमें चक्षुरिन्द्रिय तथा कर्णेन्द्रिय--दोनों का आधार अपेक्षित है। इसमें शब्द और अर्थ—दोनों की रमणीयता आ सकती है।

काव्यकला का महत्त्व—काव्यकला की उत्कृष्टता सर्वविदित है। वह अपनी उत्कृष्टता मे अपने सम्मुख कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखती। जो माधुर्य और सौन्दर्य काव्य-कला में है वह अन्यत्र कहाँ? सचमुच ही कवित्त रस को एक अलौकिक आसव कहा गया है जिससे हृदय में अनूठी तरगें पैदा होती हैं। इसका आस्वादन करने वाले प्रकृति तथा काल से सदैव निर्लिप्त रहते हैं। काव्य में सत्यं, शिवं, सुन्दरं की भावना फल में रस के समान निहित रहती है।

काव्य के द्वारा कितनी ही बातों का चित्रण एक साथ ही किया जा सकता है। कभी-कभी तो एक-एक शब्द एक-एक चित्र सामने उपस्थित कर देता है। यथा—

"सन्ध्या का झुटपुट, बासों की झुरमुट
चिड़ियाँ करतीं टी वी टी टुट्-टुट्।"

प्रत्येक शब्द वातावरण की अभिव्यक्ति कर देता है। संगीत के द्वारा घटनाओं व दृश्यों का वर्णन नहीं हो सकता, परन्तु काव्य-कला के माध्यम से हम तलवारों की झनझनाहट, हाथियों की भगदड़, घोड़ों की टाप आदि की आवाज शब्द-चित्र द्वारा व्यक्त कर सकते हैं। काव्य-कला कितने ही क्षणों को घनीभूत कर सकती है। संसार की प्रत्येक बात का वर्णन काव्य-माध्यम से किया जा सकता है। जहाँ संगीत, वास्तु, चित्र तथा मूर्तिकला किसी सीमा तक भावों की अभिव्यक्ति करती हैं वहाँ काव्य में ये सभी कलायें अन्तर्निहित हैं। काव्य हमारे समाज का दर्पण है। 'सु' और 'कु' विचारों का लेखा है। जहाँ तक मानव जीवन पर प्रभाव का सम्बन्ध है वहाँ तक काव्य-कला की

उत्कृष्टता सर्वमान्य है। मानव जीवन पर काव्य-कला का जितना गहरा प्रभाव पड़ सकता है, उतना तलवार के आघात का भी नहीं। यदि तलवार मनुष्य के बाह्य चर्म पर आघात करती है तो काव्य का आघात सीधा हृदय पर होता है। काव्य की एक पंक्ति कत्लेआम करवा सकती है, मृतप्राय: में रक्त का संचार कर सकती है। अकर्मण्य को कर्मशील बना सकती है। काव्य शान्ति स्थापित कर सकता है, क्रान्ति मचा सकता है। उसमें निर्माण करने की शक्ति है और वह विध्वंस भी करा सकता है। काव्य में एक ऐसी शक्ति निहित है जो कि तलवार, तोप या बम में भी नहीं। काव्य ने विदेशों में कई राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक परिवर्तन कराये। मानव जीवन के सम्पूर्ण मार्मिक भावों की अभिव्यक्ति जितनी कुशलता से काव्य कर सकता है उतनी कोई अन्य कला नहीं।

काव्य को हम मानव जाति के अनुभवों, भावों, कार्यों तथा अन्तर्वृत्तियों का समष्टि रूप कह सकते हैं। वह मनुष्य के सब प्रकार के ज्ञान को सुरक्षित रखता है। जिस प्रकार वह मनुष्य की अन्तर्वृत्तियों का रक्षित भण्डार है उसी प्रकार वह जाति-विशेष के साहित्य को, उसकी सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक परिस्थितियों के उत्थान और पतन को सुरक्षित रखता है। समय आने पर उसे स्पष्ट करता है। वह जाति-विशेष का अन्तःकरण और मस्तिष्क है। अत: निश्चित रूप से काव्य कला ही सर्वोत्कृष्ट कला है।

प्रश्न ३—'कला कला के लिये है अथवा लोकहित के लिये है—इस विषय पर विभिन्न विद्वानों के मत का विवेचन करते हुए अपना मत दीजिये।

उत्तर—पाश्चात्य समीक्षकों ने काव्य को ललित कलाओं के अन्तर्गत माना है। इस कारण वहाँ काव्य के प्रयोजनों का विवेचन व्यापक रूप से कला के प्रयोजनों के साथ चलता है। कला के अनेक प्रयोजन माने गए हैं जिनमें निम्नांकित नौ प्रसिद्ध हैं—

(१) 'Art for Arts sake, (कला कला के लिए)

(२) 'Art for life's sake' (कला जीवन के लिए)

(३) 'Art as an escape from life,' (कला जीवन से पलायन के अर्थ)

(४) 'Art as an escape into life,' (कला जीवन में प्रवेश के लिए)

(५) 'Art for service's sake,' (कला सेवा के लिए)

(६) Art for self-realisation, (कला आत्मानुभूति के लिए)

(७) Art for joy, (कला आनन्द के लिए)

(८) Art for recreation, (कला मनोरंजन के लिए)

(९) Art as creative necessity (कला सृजन की आवश्यकता-पूर्ति के लिए)

उपर्युक्त प्रयोजन एक दूसरे से नितान्त भिन्न नहीं। उनमें केवल दृष्टिकोण की भिन्नता है। इनमें से प्रयोजन संख्या १, ३, ७, ८, और ९ कला को मानव-जीवन के एक आवश्यक अङ्ग के रूप में गृहण नहीं करते। इसके विपरीत प्रयोजन संख्या २, ४, ५ और ६ उसे एक आवश्यक अङ्ग मानते हैं। इस प्रकार इनके स्पष्टतः दो भेद हो जाते हैं। १—वह जो कला को जीवन के लिए आवश्यक एवम् आचार और नैतिकता का कलात्मक माध्यम नहीं मानता। २—वह जो कला को जीवन की उन्नति और नैतिक सदाचार की स्थापना के हेतु अत्यन्त आवश्यक और प्रधान सहायक मानता है। इसमें लोक-हित की भावना का प्राधान्य है।

भारत में 'कला के लिए कला' का नारा यूरोप से आया है। अतः इसके विकास का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना अत्यावश्यक है। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू कला को जीवन की प्रतिकृति मानता था। उसके मतानुसार कला और जीवन दो वस्तुएँ हैं, जिनका नित्य और घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्लेटो ने कला को जीवन की अनुकृति माना। उसके अनुसार जीवन की प्रति-कृति सम्भव नहीं। कलाकृतियों में जीवन का केवल अनुकरण सम्भव है। यह जीवन की प्रतिकृति नहीं बन सकती। अरस्तू का मत था कि हम जिस वस्तु को जिस रूप में देखते हैं उसे ठीक उसी रूप में उपस्थित करना चाहिए। इस प्रकार अरस्तू 'कला जीवन के लिए' तथा प्लेटो 'कला कला के लिए' वाले सिद्धान्तों के आदि प्रतिष्ठापक हैं।

'कला कला के लिए' वाले सिद्धान्त का पालन-पोषण फ्राँस में हुआ। फ्रांस से वह इंगलैंड पहुँचा। इंगलैण्ड में इसके दो भेद हो गए। एक दल 'कला-कला के लिए' सिद्धान्त का समर्थक था। इसमें वाल्टरपेटर, विवलर कोच, क्लाइब वैल, आस्कर वाइल्ड ब्रेडले आदि प्रमुख थे। 'कला जीवन के लिए' सिद्धान्त के समर्थकों में मैथ्यू आर्नल्ड, आई० ए० रिचार्ड्स, रस्किन, अम्बर क्राबी आदि प्रमुख थे। इनमें लोकपक्ष, धर्म मिश्रित कलावाद, उपयोगिता वाद, मूल्य निर्धारण वाद आदि का प्राधान्य था। प्रथम पक्ष में केवल सौंदर्य की भावना थी और दूसरे में कल्याण की। प्रथम पक्ष कला के क्षेत्र में सद्-असद् सभ्य-असभ्य का विवेक नहीं करना चाहता। आचार को कला से दूर मानता है।

उपर्युक्त विचारधाराओं के अतिरिक्त साहित्य से अलग, यूरोप में कुछ ऐसी विचारधाराएँ भी चल रहीं थीं जो कला को कल्पना-मूलक मानती थीं। इस कारण वे भी 'कला कला के लिए' सिद्धान्त की समर्थक थीं। इनमें फ्रायड का 'स्वप्न-सिद्धांत', यथार्थवाद और अभिव्यंजनावाद प्रमुख हैं। नीचे क्रमशः इन पर विचार किया जायगा।

स्वप्न-सिद्धान्त—फ्रायड के अनुसार मानव जिन वस्तुओं को इस जगत में नहीं प्राप्त कर पाता उन्हें वह स्वप्न में प्राप्त करता है। उसकी अवरुद्ध वासनाओं की पूर्ति स्वप्न के काल्पनिक लोक में होती है और क्योंकि साहित्य का मूलाधार कल्पना है इसलिए इसमें उन अवरुद्ध वासनाओं का चित्रण होना स्वाभाविक है। इसी से साहित्य में शृंगार भावना की प्रधानता मिलती है। कलाकार अपनी कलाकृतियों द्वारा उन्हीं के विरुद्ध वासनाओं का प्रदर्शन करते हैं। परन्तु फ्रायड महोदय का यह सिद्धान्त भ्रमपूर्ण है क्योंकि कला के ऐतिहासिक विवेचन से यह सिद्ध हो चुका है कि—**"संसार की अब तक की श्रेष्ठ कलाकृतियाँ अधिकाँश में विवेकवान और आचारनिष्ठ पुरुषों द्वारा प्रस्तुत की गई हैं।"** कलाकार का व्यक्तित्व असाधारण होता है। हम उसकी कलाकृति को देखकर उससे पूर्ण व्यक्तित्व का अनुमान नहीं कर सकते। यह आवश्यक नहीं कि सुन्दर रमणी की मूर्ति गढ़ने वाला कलाकार विलासी ही हो। कलाकार महान आत्मा होता है। संसार की कल्याण भावना उसकी प्रेरक शक्ति

होती है, फिर वह कला को आचार से हीन किस प्रकार चित्रित कर सकता है ।
यथार्थवाद—इस मत के पोषकों का कहना है कि आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि मानव की मूल वृत्तियाँ हैं । उसकी सदाचार सम्बन्धी उदात्त वृत्तियाँ सभ्यता-प्रसूत हैं अतः दृढ़मूल नहीं हैं । अतः यह स्वाभाविक है कि मनुष्य की प्राकृतिक वृत्तियाँ ही उसकी कृतियों में सजीव हों । परन्तु ये आलोचक यह भूल जाते हैं कि उनकी ये 'स्वाभाविक वृत्तियाँ' पशुओं की वृत्तियाँ हैं जिनमें विवेक नहीं होता । मानव विवेकशील प्राणी होने के कारण इन वृत्तियों पर नियंत्रण रख कर मानव समाज की कल्याण भावना में रत रहता है । इसी कारण उसकी कृतियों में सदाचार की छाप होती है क्योंकि सदाचार भावना कल्याण की जननी है । मानव इन पाशविक वृत्तियों से संघर्ष करता हुआ ही निरन्तर सभ्यता की ओर अग्रसर होता रहा है, फिर उस पर ये वृत्तियाँ हावी कैसे हो सकती हैं । 'कला' सभ्यता की प्रतीक है । इसलिए उसमें उदात्त वृत्तियों का चित्रण सबसे अधिक आवश्यक है । "मनुष्य हृदय में अनुभव करता है और मस्तिष्क से मनन करता है । अतः हृदय और मस्तिष्क के संयोग से प्रसूत कलाकृति जीवन से दूर कैसे रह सकती है और जीवन से पृथक उसका मूल्य भी क्या होगा ?"

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद—क्रोचे केवल 'अभिव्यक्ति' को ही कला मानता है । उसकी दृष्टि में 'वस्तु' का कोई मूल्य नहीं । भारतीय 'अभिव्यञ्जनावाद' भी इसी मत का समर्थक है परन्तु इसमें 'वस्तु' की इतनी उपेक्षा नहीं की जाती । साहित्य के दोनों पक्षों—भावपक्ष और कलापक्ष में प्रथम का सम्बन्ध भाव या अनुभूति से तथा द्वितीय का उस भाव या अनुभूति को अभिव्यक्त करने की प्रणाली विशेष से है । द्वितीय का आधार प्रथम ही है । यदि अनुभूति ही नहीं होगी तो अभिव्यक्ति किसकी की जायगी । अभिव्यक्ति का सम्बन्ध जीवन से है अतः उसमें जीवन का प्रतिबिम्ब आना स्वाभाविक है । केवल अभिव्यक्ति की ही अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती । अभिव्यक्ति तो साधन या आच्छादन-मात्र है । वह वस्तु का रूप या गुण नहीं धारण कर सकती । इसमें सत्यता के स्थान पर कल्पना का आधिक्य होता है । अतः क्रोचे का मत असंगत और अपूर्ण है ।

उपर्युक्त तीनों वाद 'कला कला के लिए' मत का समर्थन करते हैं। यह दृष्टिकोण सर्वथा एकांगी और अपूर्ण है। भारतीय मनीषियों ने कला को जीवन का एक अभिन्न अंग माना है। वे कला को प्रचार द्वारा उपदेश देने का साधन नहीं मानते। उपदेश तो धर्म की चीज है। उनका मत है कि हमारे विचार कला का सुन्दर आवरण पहनकर जनता के हृदय पर अक्षुण्ण प्रभाव डालते हैं। उनके लिए कला जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति रही है। इसी से कलाकार—विशेष रूप से साहित्यकार—को 'कांतासम्मित' उपदेश देने वाला कहा गया है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज का आधार सदाचार है। कलाकार इसी सदाचार का कलात्मक स्वरूप उपस्थित कर समाज में असत् और विषमता के प्रति विरक्ति की भावना उत्पन्न करता है। समाज की इसी भावना ने कला और आचार का निसर्गसिद्ध सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। हमारी उदात्त वृतियाँ सभ्यता की आवश्यकताओं के अनुसार जागृत होती हैं। अतः सत के प्रति समाज का आकर्षण और असत् के प्रति द्वेष एक ऐसा स्वाभाविक प्रमाण है कि कला और आचार के पार्थक्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। पश्चिमी विद्वान भी अब इस विचार को मानने लगे हैं।

एंगिल्स ने कहा था कि हम जो कुछ साहित्य में कहें वह आकर्षक रूप में हो। उसमें यह अभिव्यञ्जित न हो कि कलाकार उपदेश दे रहा है या अपने मत का प्रचार कर रहा है क्योंकि राजनीति, इतिहास, धर्मशास्त्र और साहित्य में पर्याप्त अन्तर है। इसी का समर्थन बंकिमचन्द्र के ये शब्द करते हैं—**"कवि संसार के शिक्षक हैं किन्तु नीति की व्याख्या करके शिक्षा नहीं देते हैं। वे सौन्दर्य की चरम सृष्टि करके संसार की चित्त शुद्ध करते हैं। इसी सौन्दर्य की चरमोत्कर्ष सृष्टि करके साधक संसार की चित्त-शुद्धि करते हैं। यही सौन्दर्य की चरमोत्कर्ष सृष्टि साधक के काव्य का मुख्य उद्देश्य है।"** कवि या कलाकार सुधार की बात भी सौन्दर्य के आवरण में कहता है। तुलसी ने अपने काव्य की रचना 'स्वान्तःसुखाय' की थी; किन्तु तुलसी का सुख मानव-मात्र का सुख था। इसी से उनके काव्य में मानव-जीवन के विविध पक्षों के अत्यन्त मार्मिक और प्रभावकारी चित्रों के दर्शन होते हैं। कुछ आलोचक उन्हें उपदेशक या धर्म-प्रचारक भी कहते हैं। उपदेश तीन प्रकार

का होता है—१—गुरु-सम्मित, २—मित्र-सम्मित, ३—कान्ता सम्मित। कला 'कांता-सम्मित' उपदेश मानी जाती है। यहाँ उपदेश कलात्मक व्यंग के रूप में आता है।

संसार के प्राय: सभी नेताओं और साहित्यकारों ने कला को उपयोगिता की कसौटी पर कसा है। टाल्स्टाय, लेनिन, महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ आदि सभी इसके समर्थक हैं। महात्मा गांधी का मत है—'**कला से जीवन का महत्व है। जीवन में वास्तविक पूर्णता प्राप्त करना ही कला है। यदि कला जीवन को सुमार्ग पर न लाए तो वह कला क्या हुई?**" टाल्स्टाय के अनुसार—"**कला समभाव के प्रचार द्वारा विश्व को एक करने का साधन है।**" लेनिन कला में उपयोगिता के पूर्ण समर्थक थे। आस्कर वाइल्ड, इब्सन आदि का भी यही मत है। उनके विचार से सुनीति संगत प्रवृति ही मानव जीवन की मूल मित्ति है। मानव का ऐसा कोई भी अनुष्ठान नहीं जिसमें नैतिक प्रभाव विद्यमान न हो। वर्क के अनुसार आत्मप्रकाश की भावना ही हर प्रकार की कला का मूल है। मानव अपने को दूसरों पर व्यक्त करना चाहता है। इसमें दो बातों की प्रधानता है—

१—मुक्ति का आनन्द

२—साधना का संयम। ब्रह्मा ने तपस्या द्वारा सृष्टि का निर्माण किया। सृष्टि ब्रह्मा की कला है और कला मानव की सृष्टि है।

सत्य की उपलब्धि ही कला का उद्देश्य है और मनन जीवन का लक्ष्य। सत्य संसार में सर्वत्र व्याप्त है। ईश्वर सत्य-स्वरूप है। साथ ही वह आनन्द-रूप और अमृत-रूप भी है। कला द्वारा हम उसी सत्य की उपासना करते हैं किन्तु करते हैं सुन्दर रूप में। सुन्दर वही हो सकता है जिसमें चेतन, अमूर्त के भाव की विजय है। ब्रह्म इसीलिए सबसे बढ़कर सुन्दर है क्योंकि वह चेतन है, अमूर्त है और भावमय है। इस प्रकार सुन्दर सत्य का ही रूप है। साथ ही सत्य और शिव में कोई अन्तर नहीं है। अत: जो सत्य और शिव है वह स्वत: ही सुन्दर भी है। इस प्रकार कला जिसमें सौन्दर्य प्रधान है, स्वभावत: जन-कल्याणकारी है। धर्म का उद्देश्य भी यही होता है। फिर कला और धर्म में

भी विशेष भेद नहीं रह जाता । उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कला जीवन से भिन्न कोई वस्तु नहीं है । यहाँ तक तो बात ठीक है ।

परन्तु गम्भीरता-पूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो जायगा कि 'कला कला के लिए' तथा 'कला जीवन या लोकहित के लिए' सिद्धान्तों को मानने वाले अतिवादी हैं । प्रथम कला का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं मानते । द्वितीय कला को सदाचार का प्रचारक मात्र बनाना चाहते हैं । ऐसी कला में शुष्कता आ जाती है । यह ठीक है कि हमारी कला में हमारी समस्यायें मुखरित हों परन्तु उनका रूप सुन्दर होना चाहिए । प्रचारात्मक कला शाश्वत न होकर क्षणिक होती है । परिस्थितियों के बदलते ही वह गतिहीन हो जाती है । मेरे एक मित्र के शब्दों में—"किन्तु मानव की सहज भावनाओं तथा प्रवृत्तियों पर आधारित साहित्य शाश्वत होता है, क्योंकि इस प्रकार की शाश्वत भावनाएँ जहाँ मूर्तरूप धारण कर लेती हैं वहाँ कला सार्वकालिक बन जाती है । आनन्द, क्रोध, घृणा, प्रेम आदि की अभिव्यक्ति कला में जब सफलता-पूर्वक होती है तो वह समय, देश और जाति के बन्धन में न बँधकर सार्वदेशीय तथा सार्वकालिक हो जाती है और उसके स्रष्टा कलाकार भी अमर हो जाते हैं ।" वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी, सूर आदि इसी कारण अमर हैं । प्रसाद जी की 'कामायनी' इस प्रकार की कला का सुन्दर उदाहरण है ।

कलाकार की कृति में लोकहित की भावना अनजाने ही आ जाती है । इसलिए हमें मध्यम मार्ग का अनुसरण ही करना चाहिए । कला न तो जीवन से एकदम पृथक ही हो जाय और न उपदेश या प्रचार का साधन ही बने । ये दोनों अतिवादी मार्ग हैं । तुलसी ने "स्वान्तः सुखाय रघुनाथ गाथा" लिखते समय श्रेष्ठतम कला—साहित्य—के इस उद्देश्य को नहीं भुलाया था कि—

> "कीरत भणिति भूत भल सोई ।
> सुरसरि सम सब कर हित होई ॥"

"काव्य में अथवा कला में शिवत्व की भावना तो फल में रस की भाँति स्वाभाविक रूप से सर्वदा रहती ही है । कला मनुष्य के मानसिक स्तर को

ऊँचा उठाती है, उसमें देवत्व के गुणों की प्रतिष्ठा करती है। अतः वास्तव में कला जीवन की सुन्दर अभिव्यक्ति ही है।"

प्रश्न ४—साहित्य और काव्य का स्वरूप निर्धारित करते हुए उनमें पारस्परिक अन्तर को स्पष्ट कीजिये तथा मानव-जीवन में काव्य का क्या महत्व है यह भी बताइये।

उत्तर—भारतीय विद्वानों ने साहित्य और काव्य में कोई अन्तर नहीं माना है। वहाँ साहित्य काव्य का ही पर्याय है। इसी कारण साहित्य और काव्य में कोई अन्तर नहीं माना जाता। भारतीय साहित्य में दो शब्द पाए जाते हैं – वाङ्मय और साहित्य। वाङ्मय के अन्तर्गत ज्ञान विज्ञान की जितनी बातें हैं सब आ जाती हैं। साहित्य, भूगोल, इतिहास, राजनीति, विज्ञान, धर्म आदि सभी विषयों का समावेश वाङ्मय में हो जाता है। लोग साहित्य के भी दो अर्थ मानते हैं—वाङ्मय और शुद्ध साहित्य। यहाँ विवेचना का विषय शुद्ध साहित्य है। आचार्य शुक्ल ने साहित्य का स्वरूप निर्धारित करते हुए साहित्य के अन्तर्गत पाँच विषयों को ही स्वीकार किया है—गद्य, पद्य, नाटक, उपन्यास तथा वह साहित्य जिसमें इन चारों रूपों की आलोचना हो। यही पाँच रूप शुद्ध साहित्य के अन्तर्गत माने जा सकते हैं। उनके अनुसार साहित्य की दो कसौटियाँ हैं—१—जो सुप्त भावों को जाग्रत कर सके, २—जिसमें चमत्कार-पूर्ण अनुरंजन हो। साहित्य में भावों की प्रेषणीयता या भाषा का कलात्मक चमत्कार होना ही चाहिए। साहित्य के अतिरिक्त वाङ्मय के किसी भी अन्य विषय में इन दो विशेषताओं का होना आवश्यक नहीं है।

आज साहित्य शब्द का व्यवहार अनेक अर्थों में होने लगा है। अंगरेजी में 'लिटरेचर' शब्द का जो अर्थ है वही हिन्दी में 'साहित्य' का। संस्कृत के अनुसार साहित्य का अर्थ है— '**जो हित सहित हो।**' साहित्य में हित की भावना तो प्रधान रही है परन्तु उसके अभिव्यक्तीकरण में कलाकार का कौशल कार्य करता है। इसी से गुप्त जी ने कौशल के अर्थ में साहित्य का प्रयोग किया है—'**और ऐन्द्रजालिक भी अपना भरते हैं नूतन साहित्य।**' भामह,

रुद्रट और मम्मट जैसे संस्कृत के प्रसिद्ध आचार्यों ने शब्द और अर्थ के सहित उक्ति को काव्य या साहित्य माना है। भामह का कथन है कि—'**शब्दार्थौ सहितः काव्यम्।**' कवीन्द्र रवीन्द्र साहित्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि—"**साहित्य शब्द से साहित्य में मिलने का एक भाव देखा जाता है। वह केवल भाव-भाव का, भाषा-भाषा का, ग्रन्थ-ग्रन्थ का ही मिलन नहीं है, किन्तु मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यन्त अंतरंग मिलन साहित्य के अतिरिक्त अन्य किसी से सम्भव नहीं।**" कवीन्द्र साहित्य में ज्ञान के अतिरिक्त कुछ अत्यधिक गहरा, प्रभावशाली और अलौकिक सुख देखते हैं।

महावीर प्रसाद द्विवेदी का मत है कि—"**विचारों के संचित कोष का नाम ही साहित्य है।**" यदि इस कथन को ठीक मान लिया जाय तो सभी प्रकार के ज्ञान विज्ञानों को साहित्य के अन्तर्गत मानना पड़ेगा। फिर वह शुद्ध साहित्य न रह कर वाङ्मय का रूप धारण कर लेगा। साहित्य और विज्ञान में स्पष्ट अन्तर है। साहित्य में आकर्षण और विज्ञान में विकर्षण का भाव रहता है। इसका कारण यह है साहित्य का जगत भावना और कल्पना का जगत है, जिसमें मनोरंजन के साथ वास्तविकता का चित्रण होता है; परन्तु विज्ञान का जगत बुद्धि वैभव का संसार है, जहाँ मनोरमता और भावना का कोई मूल्य नहीं। ज्ञान वस्तुओं के गुप्त रूप, रचना और स्वभाव के विषय में विचार करता है, जब कि साहित्य उनके सौंदर्य की प्रदर्शिनी सजाकर उन्हें आकर्षक बनाकर दिखाता है। वह अनन्तकाल से, अनन्त साधनों द्वारा भिन्न-भिन्न रीतियों से भाव-कुसुम सजाकर साहित्य के अमित सौंदर्य से सृष्टि को आकर्षित करता आया है। यही उसका ध्येय है, और यही उसका इप्सित।

प्रसिद्ध अंगरेजी लेखक डी० क्वेंसी ने साहित्य को दो भागों में बाँटा है—१–शक्ति का साहित्य और २–ज्ञान का साहित्य। शक्ति का साहित्य मनुष्य के हृदय में स्थित स्थायी भावों को उद्दीप्त कर आनन्द की सृष्टि करता है। ज्ञान का साहित्य मनुष्य का केवल ज्ञान वर्द्धन करता है! हमारा विवेच्य साहित्य शक्ति का साहित्य है। आनन्द और अनुरंजन की भावना ही साहित्य को वाङ्-

मय के अन्य अंगों से पृथक कर देती है। बाबू श्यामसुन्दरदास काव्य का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि—"काव्य वह है जो हृदय में अलौकिक आनन्द या चमत्कार की सृष्टि कर दे। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि काव्य कला' है और 'काव्य' शब्द साहित्य का समानार्थक है। बहुत से लोग काव्य को कविता के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि कविता काव्य का एक अङ्गमात्र है। किसी पुस्तक को हम साहित्य या काव्य की उपाधि तभी दे सकते हैं जब जो कुछ उसमें लिखा गया है वह कला के उद्देश्यों की पूर्ति करता हो।" उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्वतः काव्य और साहित्य दोनों एक ही वस्तु हैं। अस्तु—

श्यामसुन्दरदास जी का मत है कि—"भिन्न भिन्न काव्य-कृतियों का समष्टि संग्रह ही साहित्य है। इसी विचार के संग्रह रूप में जो साहित्य है, मूल रूप में वही काव्य है।···साहित्य और काव्य में केवल व्यावहारिक भेद मानना चाहिए। संस्कृत में प्रायः काव्य शब्द से गद्य, पद्य और चम्पू का बोध होता है। एक दृष्टि से यह काव्य का पूर्ण और व्यापक स्वरूप कहा जा सकता है।" संस्कृत के विद्वानों ने काव्य की अनेक परिभाषाएँ स्थापित की हैं। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' मानते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ—"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्द काव्यम्" कह कर रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्दों को ही काव्य कहते हैं। मम्मट—"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणवनलंकृती पुनः क्वापि" कह कर अलंकार और गुणों से युक्त वाक्यों को काव्य मानते हैं। इनमें पंडितराज की उक्ति अधिक अर्वाचीन है। रमणीय का अर्थ है अनुकूल वेदनीयता एवं अलौकिक चमत्कार की अनुभूति। इन्हें व्यक्त करने वाले शब्द ही काव्य कहलाने के वास्तविक अधिकारी माने जा सकते हैं। वामन काव्य की आत्मा रीति को मानते हैं। आनन्दवर्धन 'ध्वनि' को ही केवल काव्य मानते हैं।

उपर्युक्त सभी परिभाषाएँ अपने रूप में एकांगी हैं। इन सब मतों का समन्वय कर देने से ही काव्य की एक पूर्ण तर्क-संगत परिभाषा बन सकेगी। विभिन्न विद्वानों में से किसी ने काव्य के भाव पक्ष और किसी ने केवल कला-पक्ष पर बल दिया है। इसे समझने के लिए प्रथम उन तत्वों का ज्ञान लेना

अवश्यक है जिनसे काव्य का निर्माण होता है। काव्य के मूल तत्व चार माने गए हैं :—

१—भावात्मक,

२— बुद्धि,

३—कल्पना और

४—काव्यांग। काव्य में भावों की तीव्रता बुद्धि के द्वारा भावों का उचित नियंत्रण, कल्पना द्वारा नवीन चित्रों की अवतारणा तथा उनको अभिव्यक्त करने का कौशल होना चाहिये। इन्हीं को संक्षेप में काव्य के भावपक्ष और कलापक्ष कहते हैं। भावपक्ष में कलाकार अपनी अनुभूति को व्यक्त करने का प्रयत्न करता है और कलापक्ष उस अनुभूति को व्यक्त करने का माध्यम है। अतः इन दोनों के समन्वय से ही सुन्दर काव्य की सृष्टि सम्भव है। यदि इनका सन्तुलन बिगड़ जाता है तो काव्य की पूर्णता नष्ट हो जाती है। विश्वनाथ ने केवल रस को प्रधान मान कर भावपक्ष पर बल दिया है। वहाँ कलापक्ष की उपेक्षा है। मम्मट ने भावपक्ष की उपेक्षा कर कलापक्ष पर अधिक बल दिया है। वामन ने भी कलापक्ष को ही प्रधान माना है। आनन्द-वर्धन ने भावपक्ष को प्रधानता देकर कलापक्ष को विशेष महत्व नहीं दिया है। इस प्रकार ये परिभाषाएँ अपने में पूर्ण नहीं हैं। काव्य में रस प्रमुख है परन्तु साथ ही उस रस को उत्पन्न करनेवाली वस्तु अर्थात् कलापक्ष की अवहेलना नहीं की जा सकती। भक्तिकाल में भावपक्ष प्रधान था और रीतिकाल में कलापक्ष-अतः दोनों ही काल का साहित्य अपने में पूर्ण नहीं है।

मानव-जीवन में काव्य का महत्व

अब प्रश्न यह आता है कि मानव-जीवन में काव्य का क्या महत्व है। मानव-हृदय में सदैव विभिन्न प्रकार के भाव उठा करते हैं। कभी वह हँसता है, कभी रोता है, कभी गम्भीर रहता है, और कभी आश्चर्य से अभिभूत होकर मुँह फाड़े रह जाता है। आचार्यों ने मानव-मन के इन विभिन्न भावों का वर्गीकरण कर इन्हें 'नवरसों' में विभक्त कर दिया है। साहित्य या काव्य मानव के इन्हीं भावों को भाषा के माध्यम से व्यक्त करता आया है। काव्य

का यह व्यक्तीकरण इतना प्रभावशाली और मनोरंजक होता है कि वह सहृदय मानव के मन में उन्हीं भावों को उद्दीप्त कर देता है। पढ़ते समय या नाटक देखते समय हम कभी हँसने लगते हैं, कभी रो उठते हैं और कभी घृणावश हमारे रोम खड़े हो जाते हैं, यद्यपि पुस्तक में वर्णित घटनाओं या नाटकों के दृश्यों या पात्रों से हमारा निकट का कोई सम्बन्ध नहीं होता। सम्बन्ध केवल यही होता है कि हम उनमें वही भावनाएँ पाते हैं जो स्वयं हमारे अपने हृदय में हैं। इससे हम अपने व्यक्तिगत धरातल से उठकर उस स्थिति तक पहुँच जाते हैं जहाँ मानव-मात्र की भावनाओं को हम अपना अनुभव करने लगते हैं। "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना का प्रचार इसी कारण केवल साहित्य के द्वारा ही सम्भव है। मानवमात्र के प्रति हमारी सहानुभूति रहती है। हमारी भावनाएँ इससे इतनी सुकुमार और हृदय इतना विशाल हो जाता है कि हम एक मानसिक समरसता का अनुभव करने लगते हैं। काव्य के पात्र हमें अपनी प्रतिच्छाया प्रतीत होते हैं।

काव्य का दूसरा प्रभाव यह पड़ता है कि उससे हमारे मन का संस्कार एवं परिष्कार होकर हमारी रुचि अधिक उदात्त बनती है। काव्य का प्रभाव सात्विक होता है क्योंकि उसके मूल में साहित्यकार की भावना ही कार्य कर रही होती है। काव्य में वर्णित विषय अन्यन्त कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है जो कलाकार की अपनी अनुभूति से ओतप्रोत रहता है। इससे उसका हमारे हृदय पर सीधा प्रभाव पड़ता है। काव्य यथावत् चित्र नहीं उपस्थित करता वरन् कलाकार की अनुभूति और कल्पना, बुद्धि का सहयोग पाकर उसे आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करती है। इसी से उसका अमिट प्रभाव पड़ता है। कलाकार अपनी वस्तु को सदैव अत्यन्त परिष्कृत रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत करेगा। वह 'मक्खीमार अनुकृति' नहीं करता। अरस्तू के अनुसार—,**अनुकरणकारी होने के कारण कवि तीन विषयों में से एक विषय का अनुकरण कर सकता है—वस्तु वैसी थी या है, वस्तु जैसी होने लायक कही या सोची गई है या वस्तु को जैसा होना चाहिए।"** कलाकार के हृदय में जिस भाव का जैसा प्रभाव पड़ता है वह उसी अनुपात में उसका चित्रण करता है। यदि प्रभाव गहरा है तो उसका चित्रण भी अधिक मार्मिक और गहरा होगा और

पाठक पर उसका प्रभाव भी उतना ही अधिक पड़ेगा। वह अपनी विभिन्न प्रकार की कल्पनाओं द्वारा अत्यन्त सुन्दर चित्र खींचता है। कलाकार जो कुछ देखता, अनुभव करता है, समझता है, उसे सुन्दरतम रूप में उपस्थित करना चाहता है। इसमें वह सावधान रहता है कि जो कुछ कुरूप है, अग्राह्य है उसका या तो बहिष्कार कर दे या यदि उनका चित्रण करे तो उन्हें सुन्दरता का आवरण पहनाकर। यही उसकी सफलता है। तुलसी के राम इसके आदर्श हैं। वे मानव की उच्चतम विशेषताओं का एक काल्पनिक समुच्चय हैं। यही काव्य का सत्य कहलाता है जो वास्तविक जगत में भले ही असम्भव या झूठ हो। इतिहास और साहित्य मे यही अन्तर है। इतिहास सुन्दर असुन्दर सब की रूपरेखा नग्न रूप में प्रस्तुत करता है। साहित्य में उसी पर कला का आवरण चढ़ाकर कल्पना के बल पर उसे सुन्दर बना दिया जाता है। सौन्दर्य का प्रभाव मानव हृदय पर सदैव से होता आया है। इसी से साहित्य इतिहास की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली माना जाता है।

विज्ञान विश्लेषण प्रधान है। वह 'वस्तु' का खण्ड-खण्ड करके विश्लेषण कर उसका सौन्दर्य नष्ट कर देता है। साहित्य संश्लिष्ट वस्तु है। उसका सम्बन्ध वस्तु की समग्रता से है। वह केवल भावों की अभिव्यक्ति मात्र करता है, वैज्ञानिक के समान नियम निर्धारण नहीं करता। अपनी इस अभिव्यक्ति के द्वारा वह पाठक को उस भाव का अनुभव उसके चरम रूप में कराना चाहता है। धार्मिक उपदेश व्यक्ति की कुण्ठा को जाग्रत करता है परन्तु साहित्य 'प्रिया' के समान मधुर सम्मति देकर उसके मानवीय भावों को जाग्रत करता है। हम प्रेमपूवक कही बात का अधिक आदर करते हैं। इसी से साहित्य का प्रभाव मानव हृदय पर अधिक प्रभावकारी होता है। धर्म से मानव भयभीत रहता है। साहित्य से वह प्रेम करता है और हम अपने प्रेमास्पद की बात को अपने स्वामी की बात की अपेक्षा अधिक मान लेते हैं। राजा जयसिंह को बिहारी के एक दोहे ने कर्त्तव्यपथ की ओर उन्मुख कर दिया था। यह साहित्य का प्रभाव है।

सारांश यह है—"काव्य मनुष्य की उदार वृत्तियाँ जाग्रत कर उसे

देवत्व की ओर उठाता है, उसे असाधारण रूप से सहृदय और महान् बनाता है।" यही काव्य की महत्ता है।

प्रश्न ५—काव्य में भाव-पक्ष और कलापक्ष के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डालिये।

अथवा

क्या आप इससे सहमत हैं कि काव्य में भावपक्ष और कलापक्ष का नित्य सम्बन्ध है। सतर्क उत्तर दीजिये।

उत्तर—काव्य के प्रायः दो पक्ष माने जाते है—एक भावपक्ष और दूसरा कलापक्ष। भावपक्ष में काव्य के समस्त वर्ण्य विषय आ जाते हैं और कला-पक्ष में वर्णन शैली के सब अंग सम्मिलित हैं। भावपक्ष का सम्बन्ध काव्य की वस्तु से है और कला का सम्बन्ध आकार से है। वस्तु और आकार एक दूसरे से पृथक नहीं हो सकते। कोई वस्तु आकारहीन नहीं हो सकती और न आकार वस्तु से अलग किया जा सकता है। वैसे तो व्यापक दृष्टि से भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही रस से सम्बन्धित हैं क्योंकि कलापक्ष के अन्तर्गत जो अलंकार, लक्षणा, व्यंजना और रीतियाँ हैं वे सभी रस की पोषक हैं तथापि भावपक्ष का रस से सम्बन्ध है। वह उसका अंग है। कलापक्ष के विषय उसके सहायक और पोषक हैं।

अपनी भावनाओं का ज्ञान मनुष्य की एक विशेषता है। जब मनुष्य अपनी भावनाओं को अपने तक ही सीमित न रख कर अपने समान उनको समझने वाले व्यक्तियों के सन्मुख उपस्थित करता है, तभी कला का जन्म होता है। काव्य मनुष्यमात्र की हृदय की शाब्दिक अभिव्यक्ति है, जो कि हृदय साम्य के कारण पाठक या श्रोता के हृदय में भी उन्हीं भावनाओं की सृष्टि कर उसको असाधारण आनन्द प्रदान करती है। अनुभूति तो प्रत्येक मानव में होती है—सभी में प्रेम, घृणा, उत्साह, भय आदि आते जाते रहते हैं और सभी उनको अभिव्यक्त भी करते रहते हैं। परन्तु वह अभिव्यक्ति भावावेश की अभिव्यक्ति होती है। उसमें पशुत्व भावना का प्रावल्य रहता है। "काव्य तो शान्ति के समय में स्मरण किए हुए प्रबल मनोवेगों का

स्वच्छन्द प्रवाह है।" इससे जब तक हम पशु बने रहेंगे, हम कविता नहीं लिख सकते। मनोवेगों की शाब्दिक अभिव्यक्ति केवल उनकी स्मृति से हो सकती है, उनके अस्तित्व से नहीं। यह सिद्धान्त यह भी बतलाता है कि प्रत्येक रस की कविता 'आनन्द' ही क्यों देती है, दुःख क्यों नहीं देती। मनोवेगों से दुःख आदि भी मिलता है परन्तु उनके स्मरण से केवल आनन्द।

केवल अनुभूतियों के स्मरण-मात्र से ही काम नहीं चल सकता। कवि को निरीक्षण और कल्पना की सबसे अधिक आवश्यकता है। उसे संसार की घटनाओं का सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा अध्ययन करना पड़ेगा और फिर अपनी कल्पना का योग देकर उस निरीक्षण को अनुभूतियों का जामा पहना कर काव्य सृष्टि करनी होगी। जिस व्यक्ति में अनुभूतियों की भी कल्पना शक्ति नहीं, जो सहृदय नहीं, वह कवि प्रतिभा से हीन है। यही काव्य की अनुभूति या भावपक्ष है, जिसका स्थान बड़े महत्व का है। पारिभाषिक शब्दावली में 'रस' तथा भाव से भी यही तात्पर्य समझा जाता है। अपूर्ण रस को भाव कहते हैं, प्रत्येक रस भाव भी होता है, परन्तु प्रत्येक भाव रस नहीं हो सकता। रस ही काव्य की आत्मा है। जो रस में सिद्ध है, वही महाकवि हो सकता है। महाकवियों ने इस अनुभूति पक्ष को बड़ा महत्व दिया है—तुलसी, सूर, बिहारी, प्रसाद आदि भाव-पक्ष में प्रवीण थे।

समाज और व्यक्ति के संस्कार और विकास की सूचना देने वाले उसके भाव ही हैं जिनकी परिष्कृति समाज की एक स्वाभाविक क्रिया बन गई है। इन संस्कृत और परिष्कृत भावों को धारण करने वाले, तथा उत्तरोत्तर उन्नति को प्राप्त करने वाले समाज अपने काव्य में अपनीं विकसित रुचि का परिचय देते आये हैं। भावों के इस निरन्तर विकास और परिष्कार का देश और साहित्य का इतिहास साक्षी है।

"भाव तो प्रत्येक कविता के मूल में होंगे ही, परन्तु उन भावों को भाषा का स्वरूप देना, भाषा को उचित रीतियों के अनुसार संगठित करना, उसे सजाना, अलंकारों से सुशोभित करना, उसे गुणवती बना, दोषों को दूर करना; सरांश यह है कि भाषा की लक्षणा, व्यंजना आदि शक्तियों को उद्बुद्ध और पुष्ट करके उन भावों को रसमय बना देना—यह साहित्य के कला-

पक्ष का काम है।" कलात्मक रीति से सजी हुई भाषा, जिसमें भावों का व्यंजन होता है, कविता है। भावों का यह व्यंजन अभिव्यक्ति कहलाता है– इसके चार अङ्ग हैं—भाषा, छन्द, अलंकार, वर्णन। बिना भाषा के भाव नहीं रह सकता। भाषा स्वयं ही भाव की मूर्ति है। भाषा का सबसे छोटा अवयव 'शब्द' है। शब्दों की तीन शक्तियाँ मानी गई हैं—अभिलाषा, लक्षणा और व्यंजना। इनमें से जिसमें व्यञ्जना शक्ति का आधिक्य होता है, वही काव्य श्रेष्ठ माना जाता है। व्यञ्जना से कुछ कम उत्तम लक्षणा का अर्थ है; परन्तु अभिधा का कोष सम्मत अर्थ काव्य में उत्तम नहीं समझा जाता, ऐसा काव्य निकृष्टतम माना जाता है।

सदा से कविता किसी न किसी छन्द मे होती आई है। परन्तु नीरस पद्य रचना भी काव्य नही हो सकती, इसी कारण कुछ लोग छन्द बन्धन के विरोधी हैं। निराला जी का मुक्तक छन्द इसी भावना की उपज है। काव्य में रमणीयता का प्राधान्य मानने वाले अलंकार को ही कविता का सबकुछ समझते थे। अग्निपुराण में अलङ्कार रहित काव्य को विधवा के समान माना जाता है। केशव अलङ्कारों को अत्यधिक महत्व देते हुए कहते हैं :—

"जदपि सुजाति, सुलक्षणी, सुवरन, सरस, सुवृत्त।
भूषन बिनु नहि राजई, कविता बनिता मित्त"॥

अभिव्यक्ति का अङ्ग 'वर्णन' है। गीतकाव्य एवं प्रबन्ध काव्य दोनों में वर्णन एक विशेष रमणीयता का प्रतिपादन करता है। इसमें प्रकृति-चित्रण भी आ जाता है। प्राचीन कवियों में वर्णन का विशेष मान था। जायसी, तुलसी आदि का मन विभिन्न प्रकार के वर्णनों में खूब रमा है। रीतिकाल में विलासी घरेलू जीवन का अधिक वर्णन हुआ। नवीन युग के रहस्यवादी तथा छायावादी कवि तो प्रकृति के उपासक हैं। प्रगतिवादी मजदूर-किसान जीवन के। इनके हाथों से प्रकृति तथा समाज के स्वाभाविक और मनोहर चित्र उतरे हैं। काव्य की सफलता भावों की व्यंजना में है, इसलिए वर्णन उसका एक प्रमुख अँग बन जाता है, क्योंकि भावों का काव्य केवल भुक्त-भोगी को ही आनन्द दे सकता है, परन्तु वर्णन से सहृदय प्रभावित होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्य में भावपक्ष और कलापक्ष दोनों का महत्वपूर्ण स्थान है। एक के बिना दूसरे का काम नहीं चल सकता। दोनों को उचित स्थान देना ही काव्य की सफलता है। यदि काव्य में भाव या अनुभूति की अभिव्यक्ति सफल न हो सकी तो काव्य एक पहेली बन जायगा। यदि काव्य में अनुभूति है ही नहीं, केवल बाहरी टीम-टाम है तो एक कौतूहल अवश्य होगा, आनन्द नहीं मिल सकता। कविता कामिनी निश्चय ही रसरूपी आत्मा के कारण ही समाज में आगे योग्य समझी जायगी, परन्तु यदि उसको वस्त्ररूपी भाषा, अलंकार, छन्द, गति, या वर्णन शरीर के बिना या इनकी हीनता में देखा जाय तो उसी प्रकार आनन्द नहीं मिल सकता जिस प्रकार कि रोगिणी, वृद्धा, वस्त्र-हीना या आभरण-रहित विधवा को देखकर कोई उल्लास नहीं प्राप्त होता। कवि की सामग्री कैसी ही उत्तम क्यों न हो; भाव विचार, कल्पना कैसी ही परिपक्व और अद्भुत क्यों न हो, जब तक उसकी कृति में रूप-सौन्दर्य नहीं आएगा, अनुक्रम सौष्ठव और प्रभावोत्पादकता नहीं होगी, तब तक वह कृति काव्य नहीं कहला सकती।

प्रश्न ६—श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य में क्या अन्तर है? नाटक के दृश्य काव्य होने से उसमें ऐसी कौनसी विशेषताएँ आ जाती हैं जिनके कारण वह अन्य काव्य रूपों से भिन्न हो जाता है। सतर्क विवेचन कीजिए।

उत्तर—प्रयोजन की दृष्टि से काव्य के दो भेद माने जाते हैं—१ दृश्य काव्य और २ श्रव्य काव्य। जो काव्य अभिनीत होकर देखा जाय वह दृश्य काव्य है। इसमें आँख और कान दोनों का उपयोग होता है। जो कानों से सुना जाता है उसे श्रव्य काव्य कहते हैं। यद्यपि श्रव्य काव्य पढ़े भी जाते थे तथापि मुद्रण कला के अभाव में उनका प्रचार गायन के द्वारा ही होता था। प्राचीन काल में भारतीय काव्य में वैयक्तिकता की अपेक्षा सामाजिकता अधिक थी। लोग एकाँत में बैठकर उसका उपयोग नहीं करते थे वरन् समाज में बैठकर उसका रसास्वादन करना अधिक श्रेयस्कर समझते थे। इसी कारण प्रारम्भिक काल में श्रव्य काव्य का प्रचार अधिक था और इसीलिए वेदों को श्रुति भी कहा गया है।

दृश्य काव्य का अर्थ है—देखना। दृश्य काव्य उसे कहते हैं जिसके कथानक का अभिनय किया जा सके; इसमें कल्पित पात्र राजा-रानियों अथवा अन्य व्यक्तियों का रूप धारण कर, उनके वचन एवं कार्यों का शरीर, वचन, वेशभूषा और शारीरिक चेष्टाओं द्वारा अनुकरण करते हैं। इसका दूसरा नाम रूपक भी है क्योंकि इसमें अभिनेता दूसरों का रूप धारण करके अपने में उनका आरोप किया करता है। दृश्य काव्य में प्रधानता देखने की वस्तु है परन्तु उस पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है कि वह पढ़ा या सुना नहीं जा सकता। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि उसका वास्तविक आनन्द तभी आता है जब उसका अभिनय रंगशाला में देखा जाता है। इसके भी दो विभाग हैं— रूपक और उपरूपक। रूपक के दस और उपरूपक के अठारह भेद होते हैं। नाटक रूपक का एक प्रमुख अंग है। आज के छापेखानों की सुविधा तथा रंगशालाओं की शिथिलता होने के कारण अधिकाँश दृश्य काव्य श्रव्य की कोटि में आ गए हैं। हाँ, आजकल रंगशालाएँ सिनेमा के रूप में अवश्य आ गई हैं।

श्रव्य काव्य केवल सुना या पढ़ा जा सकता है। उसका अभिनय नहीं किया जाता। इसमें शब्दों द्वारा कल्पना की सहायता से मानसिक चित्र उपस्थित किये जाते हैं। श्रव्य का शाब्दिक अर्थ है 'सुनना'। प्राचीन काल में लेखन-कला और मुद्रण कला का अभाव होने से साहित्य को सुरक्षित रखने का कोई साधन नहीं था। इसलिए शिष्य गुरु से सुनकर किसी कृति-विशेष को कण्ठस्थ कर लेता था और गुरु-शिष्य की भावी परम्पराएँ कण्ठस्थ रूप में उस कृति को सुरक्षित रखती थीं। आज लेखन और मुद्रण दोनों कलाओं का प्रचलन होते हुए भी उसी रूढ़िगत शब्द 'श्रव्य' का प्रयोग किया जाता है। जब कि उसे पढ़ा भी जा सकता है। श्रव्य काव्य अधिकाँश में पठित समाज के लिए ही था जबकि दृश्य काव्य में जनसाधारण भी आनन्द ले सकते थे। इसीलिए दृश्य काव्य को पाँचवा वेद कहा गया है जिसमें शूद्र अर्थात् अल्प बुद्धि के लोग भी भाग ले सकें।

शैली भेद से श्रव्य काव्य के तीन भेद किए गए हैं। पद्य, गद्य और मिश्र या चम्पू। पद्य रचना की वह शैली है जिसमें छन्दों का विधान होता है।

इसमें व्याकरण के सामान्य नियमों का उल्लंघन हो सकता है। इसमें संगीत का समावेश रहता है। अतएव उसके संगीतमय स्वरूप के लिये छन्द विधान आवश्यक है। किन्तु आजकल पद्य में नियम और छन्द का उतना मान नहीं रहा जितना श्रवण सुखदता का। इसमें भाव का भी प्राधान्य रहता है। गद्य में व्याकरण के नियमों के अनुसार वाक्यों का विन्यास किया जाता है। इससे छन्द की आवश्यकता नहीं रहती। गद्य शब्द 'गद्' धातु से बना है। वह बोलचाल की स्वाभाविक भाषा है। गद्य का विकास शुद्ध साहित्य के अतिरिक्त अन्य वाङ्मयों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए हुआ है। आज गद्य से पद्य लिखना कठिन है जबकि प्राचीन काल में पद्य से गद्य लिखना कठिन था। रचनाकार की परख के लिए गद्य कसौटी था। गद्य और पद्य दोनों के मिश्रित रूप को 'मिश्र' कहा गया है। संस्कृत में उसे 'चम्पू' कहते हैं। इसमें अलङ्कार का चमत्कार, समास का गुम्फन तथा कल्पना का विशेष उद्रेक रखा जाता है। आधुनिक युग में गुप्त जी की 'यशोधरा' तथा प्रसाद जी की 'उर्वशी' दो ही 'चम्पू' लिखे गए हैं। नाटक में भी गद्य और पद्य की मिश्रित शैली का प्रयोग किया जाता है पर उसमें काव्य तत्व की वैसी योजना नहीं रहती जैसी 'चम्पू' में। अतः उसे इस मिश्र शैली में नहीं माना जा सकता। आजकल इस शैली का पूर्ण अभाव है।

नाटक के दृश्य काव्य होने से उसमें तथा अन्य काव्य रूपों में पर्याप्त भिन्नता आ जाती है। दृश्य काव्य का अर्थ है जो देखा जाय। इस दृश्य काव्य को दूसरे शब्दों में 'रूपक' भी कहते हैं। श्यामसुन्दरदास जी के शब्दों में **"रूपक काव्य की वह विशेष दिशा है जिसमें लोक परलोक की घटित अघटित घटनाओं का दृश्य दिखाने का आयोजन किया जाता है और इस कार्य के लिए अभिनय की सहायता ली जाती है। यद्यपि काव्य में कवि जीव जगत के भिन्न-भिन्न व्यापारों की अनुकृति ही करता है पर दृश्य काव्य में वह अनुकृति नकल—प्रत्यक्ष रूप में होती है और अनुकृति की उसमें अन्य काव्य रूपों से प्रधानता रहती है।"** नाटक 'रूपक' का एक अंग है। किन्तु बात ऐसी नहीं है कि नाटक का अनुकरण ही एकमात्र अङ्ग हो। अनुकरण के अतिरिक्त नृत्य, गीत, आदि अन्य उपकरण भी प्रायः सदैव उसके साथ रहते

हैं किन्तु अनुकरण के अभाव में नाटक की वास्तविक प्राण-प्रतिष्ठा नहीं होती। दृश्य काव्य की प्रधान विशेषता, व्यक्तित्व, आत्मा अनुकरण ही है। अतः नाटक में भी इन्हीं गुणों का होना अनिवार्य है। इसी गुण के कारण वह नाटक कहलाया है। इस अनुकरण का क्षेत्र बहुत विस्तृत और व्यापक है। नाटक में इसी अनुकरण के कारण कल्पना पर उतना बल नहीं दिया जाता जितना श्रव्य काव्य में। कारण उसमें हमको यही ज्ञान होता है कि हम वास्तविकता को देख रहे हैं। अमूर्त से मूर्त का प्रभाव अधिक होता है। नाटककार की भाषा में जो कमी होती है वह नटों या अभिनेताओं की भाव-भंगी से पूरी हो जाती है। इसलिए नाटकों में प्रभावोत्पादन शक्ति बहुत बढ़ी चढ़ी रहती है और इसीलिए इसमें लोकरंजन और लोकहित की भावनाएँ भी विपुल रूप से वर्तमान रहती हैं।

अनुकरण के कारण नाटकों में अभिनय की प्रधानता रहती है। यह अभिनय नाटक के मूल पात्रों का किया जाता है। अभिनय चार प्रकार से किया जाता है (१) आँगिक (२) वाचिक (३) असहार्य (४) सात्विक जिसमें कि क्रमशः अङ्ग संचालन, वाणी, वेषभूषा और भावप्रदर्शन होता है। इस अभिनय के कारण नाटकों के लिये रंगशाला का होना आवश्यक है। रङ्गशाला के कारण नाटक हमारे लिए हर बात, हर घटना का प्रत्यक्ष ज्ञान देने लगता है। लिखित नाटक तो अधूरा ही होगा; किन्तु अभिनय उसमें पूर्णता लाकर उसके सम्पूर्ण छिपे हुए भावों को व्यक्त कर देता है। इसीलिए अभिनय नाटक का प्राण है और अभिनय ही नाटक की सजीवता है।

रङ्गशाला में नाटक का अभिनय किया जाता है और सामान्य दर्शक उसका उसी अभिनय द्वारा रस-मग्न होकर आनन्द प्राप्त करते हैं इसीलिए नाटक में समय, कार्य, व्यापार, घटना आदि की विशेष व्यवस्था होती है। उसमें समय का भी विशेष ध्यान रक्खा जाता है। कारण, दर्शकगण रंगशाला में अधिक से अधिक तीन घन्टे ही बैठकर आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। इससे अधिक समय तक बैठने का धैर्य न दर्शक ही संवरण कर सकते हैं और न अभिनेता ही अधिक समय तक अभिनय कार्य कर सकते हैं। फिर नाटक का समूचा अभिनय एक ही समय में समाप्त होना चाहिए क्योंकि रस-मग्नता

के लिए कुछ आज और शेष कल करना अच्छा नहीं लगता। इसलिए नाटक के लिए यह आवश्यक है कि वह इतना लम्बा हो जो अधिक से अधिक तीन घन्टे में ही समाप्त हो सके। अतः नाटक में समय का बन्धन बड़ा आवश्यक है।

नाटक का रूप रंगशाला के प्रतिबंधों के अनुसार बहुत कुछ निश्चित करना पड़ता है पर उपन्यास में इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। नाटक कुछ नियमों में जकड़े होते हैं और उपन्यास उनसे पूर्णतया स्वन्तत्र होता है। नाटक में एक सजीवता और प्रत्यक्षानुभव की छाया रहती है जो उपन्यास में नहीं होती। साथ ही उपन्यास और नाटक की परिस्थितियाँ भी भिन्न होती हैं। उपन्यास में जहाँ उपन्यासकार को ही सबकुछ करना पड़ता है वहाँ नाटक में अभिनय द्वारा ही बहुत कुछ दिखा दिया जाता है। यद्यपि निबन्ध में कसावट का ध्यान तो रखा जाता है, किन्तु उसमें कसावट विषय के लिए होती है किन्हीं प्रतिबन्धों के कारण नहीं। यहाँ लेखक स्वयं हमारे समक्ष आकर विषय-सम्बन्धी अपने विचार व्यक्त करता है जबकि नाटक में नाटककार बिलकुल परोक्ष में रहता है। वह तो अपने अस्तित्व को अपने नाटक के पात्रों में ही मिला देता है। नाटक किसी कथावस्तु को लेकर चलता है जिसमें प्रख्यात, कल्पित या दोनों का मिश्रण भी हो सकता है; किन्तु निबन्धकार किसी विषय का विश्लेषण करता है और विश्लेषण के साथ अपना व्यक्तित्व अथवा प्रसंगानुसार अपनी व्यक्तिगत घटनाओं का परिचय साथ-साथ करता चलता है। इधर का एकांकी तो नाटकों का ही एक अंग है। इसलिए जो तत्व नाटक में हो सकते हैं वे एकांकी में तो होने ही चाहिएँ। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि समय की बचत के कारण एकांकी केवल एक ही अङ्क का होता है जो नाटक से बहुत छोटा होता है। थोड़े समय में ही समाप्त हो जाने वाला होता है। कहानी तो उपन्यास की तरह कथा साहित्य का एक अङ्ग है, तथापि इसमें संक्षिप्तता तो रहती है; परन्तु वह संक्षिप्तता अपने में पूर्ण होती है। उसे नाटक की तरह किसी और की अपेक्षा नहीं रहती। कहानी की संक्षिप्तता का अर्थ होता है कि केवल एक ही घटना थोड़े से पात्रों द्वारा, तीव्र गति से किन्तु कलात्मक रूप में अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती है। नाटक में पात्र का

चरित्र-चित्रण एक विशेष स्थान रखता है, कहानी में नहीं। उसमें वातावरण, प्रभाव आदि ही विशेष है। समालोचना साहित्य ही दूसरे प्रकार का है। वह साहित्य की आलोचना है। अतः साहित्य की विश्लेषणात्मक आलोचना की नाटक से तुलना ही क्या है। पहले नाटक है फिर उसके गुण दोषों के सम्यक विवेचना समालोचना है। नाटक में जो चीज संक्षिप्त और सूत्र रूप में रहती है समालोचनार्थ में उसकी विवेचना की जाती है। कविता में तो उसका सम्पूर्ण कार्य केवल शब्दों द्वारा ही करना पड़ता है। कवि अपनी भावनाओं को मूर्त रूप या बिम्ब रूप में रचता तो अवश्य है किन्तु केवल शब्दों द्वारा ही और वह भी अधिक से अधिक व्यंजना शक्ति द्वारा। इसीलिए पाठक को उसका रसास्वादन करने के लिए स्वयं को ही उसी भावभूमि पर लाना होता है, जहाँ पर कवि ने पहुँचकर उस कविता का निर्माण किया है। अतः उसमें कल्पना का कार्य अधिक रहता है और श्रवणेन्द्रियाँ उसमें सहायक होती हैं। कविता की रङ्गशाला उसके शब्दों में ही पूर्ण रहती है। उसे अलग से स्थूल रङ्गशाला निर्माण करने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटक दृश्य काव्य होने से अन्य सभी काव्य रूपों से अपने को भिन्न कर लेता है।

प्रश्न ७—साहित्य और समाज के सम्बन्ध पर प्रकाश डालिए।

अथवा

'साहित्य समाज का दर्पण या चित्र है'—क्या आप इस उक्ति से सहमत हैं। सप्रमाण उत्तर दीजिये।

उत्तर - साहित्य, संसार के प्रति हमारे मानसिक विचारों, भावों और सङ्कल्पों की शाब्दिक अभिव्यक्ति है। वह हमारे किसी-न-किसी प्रकार से हितों का साधन है। 'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में कई प्रकार की परिभाषाएँ बताई गई हैं। वास्तव में 'साहित्य' शब्द का यह अर्थ "हितेनसह सहित" लगाते हुए यह कह सकेंगे कि साहित्य वह है जिससे मानवहित का सम्पादन हो, मानसिक आनन्द का लाभ हो, सामाजिकता का उत्थान हो, मानवीय विकास हो। साहित्य सारे वाङ्मय का पर्याय है। जितना शब्द

भण्डार या वाणी का विस्तार है, सब इसी के अन्तर्गत है। व्यापक रूप से साहित्य ऐसी शाब्दिक रचना-मात्र का वाचक है जो कुछ हित का प्रयोजन रखता हो।

साहित्य की प्रारम्भिक अवस्था आत्माभिव्यक्ति रूप में रही। आदिम मनुष्य ने अपने आकर्षण और विकर्षण की वस्तु के सम्बन्ध में शाब्दिक अभिव्यक्ति को जन्म दिया। प्राथमिक रूप में वह बहुत अस्पष्ट रही। धीरे-धीरे वह अभिव्यक्ति निश्चित हो गई और उसने भाषा का रूप धारण कर लिया। वास्तव में मनुष्य की सभी अभिव्यक्तियाँ संरक्षणीय नहीं होतीं। जो होती हैं, वही साहित्य का रूप धारण कर लेती हैं। वे ही मानव-समाज के हित की साधक होती हैं, आनन्द का कारण बनती हैं। जहाँ हित और मनोहरता—दोनों भावनायें अभिव्यक्ति में आ जाती हैं, तभी सत्साहित्य की सृष्टि होती है।

भाषा मनुष्य की सामाजिकता को विशेष रूप से पुष्ट करती है। उसी के द्वारा मनुष्य-समाज में सहकारिता उत्पन्न होती है। साहित्य मनुष्य जाति के सामाजिक सम्बन्धों को और भी दृढ़ बनाता है। मनुष्य जाति का सम्मिलित हित और सहकारिणी शक्ति के कारण ही साहित्य की रक्षा आवश्यक है। साधारण भाषा की अपेक्षा साहित्य की भाषा कुछ अधिक प्रभावशाली होती है और वह लेखक और कवि के भावों को समाज में प्रस्तारित करती है, जिससे उसमें सामाजिक जीवन स्वयं मुखरित हो उठता है। हमारा जीवन आनन्दित होकर द्रवित होने लगता है।

हिन्दी साहित्य में अब जो नई शक्तियाँ आ रही हैं उसमें बहुभाग को सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं है। कुछ काल पहले तक हमारा हिन्दी साहित्य उच्चवर्गीय था। उस उत्पादक समाज के प्रतिष्ठापक व्यक्ति थे। आज साहित्य की बागडोर उन लेखकों के हाथ में आ गई है जिन्हें समाज में पैर टेकने को ठीक ठौर नहीं है। उससे ही यह प्रश्न उठता है कि समाज और साहित्य की परम्परा से क्या अपेक्षा है? उनमें क्या सम्बन्ध है?

साहित्य में अब अधिकाधिक वैयक्तिक तत्वों का समावेश होता जा रहा है। पहले वह अपेक्षाकृत समाजगत था। समाज की नीति-अनीति की मान्य-

ताओं की ज्यों-की-त्यों स्वीकृति साहित्य में प्रतिबिम्बित दीखती थी। अब उसी समाज में स्वकृत और निर्णीय धाराओं के प्रति व्यक्ति का विरोध और विद्रोह अधिक दिखाई पड़ता है। अतः यह कहा जा सकता है कि साहित्य यदि पहले दर्पण के तौर पर सामाजिक अवस्थाओं को अपने प्रतिबिम्बित भाव से धारण करने वाली वस्तु था तो अब चाहे वह समाज को प्रतिबिम्बित करता है; पर अधिक रूप में वह चाटुकारिता को चोट देता है, इस भाँति वह समाज को आगे बढ़ाने में सहायक रूप है। साहित्य अब प्रेरक भी है। आज हमारी बीती ही केवल उसमें नहीं, हमारे संकल्प और मनोरथ भी उसमें हैं।

जो व्यक्ति समाज के प्रति विद्रोही है, समाज की नीति धर्म की मर्यादाओं की रक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर न लेकर अपनी ही राह चल रहा है, जो बहिष्कृत है और दण्डनीय है—ऐसा व्यक्ति भी साहित्य सृजन के लिए आज एकदम अयोग्य नहीं ठहराया जा सकता। यह प्रायः देखा गया है कि ऐसे भी लोग हैं जो आज दुतकारे जाते हैं परन्तु अपनी अनोखी लगन और अनुपम प्रतिभा शक्ति के बल पर, अनन्य विचार-साहित्य के बल पर, एक आदर्श रूप मान लिए जाते हैं। वे लोग जो साहित्याकाश में आज द्युतिमान नक्षत्रों की भाँति आलोकित हो रहे हैं, बहुधा आरम्भ में तिरस्कृत रह चुके हैं, फिर अन्त में सामाजिकों द्वारा गौरवान्वित हुए हैं। उन्होंने अपने जीवन-विकास में समाज की लाञ्छना की वैसे ही परवाह नहीं की जैसे सामाजिक गौरव की।

कला-भेद की अपेक्षा प्रकृति साहित्य उत्तम है। गुण-भेद से भी साहित्य दो प्रकार से देखा जा सकता है। एक वह जो समाज के स्थायित्व के लिए आवश्यक है, दूसरा वह जो समाज को प्रगतिशील बनाता है। साहित्य दोनों प्रकार से आवश्यक है। लेकिन यदि अधिक आवश्यक, अधिक सप्राण, अधिक चिरस्थायी किसी को कहना है तो उसे कहा जा सकता है जो समाज का उत्तरदायित्व अपने ऊपर समझे, जो समाज को आगे बढ़ाए। वह साहित्य आदर्श-प्राण है, भविष्यदर्शी है, चिरनूतन, अमर और चिरस्थायी है।

समाज में प्रायः दो तरह के व्यक्ति काम करते हुए दिखाई देते हैं। समाज के प्रायः सभी व्यक्ति न्यूनाधिक रूप में इन्हीं दोनों तत्वों के प्रतिनिधि

हैं। एक ग्राहक है, एक विकीर्णक। एक व्यक्तित्व शून्य दूसरा सव्यक्तित्व। एक तो वह है जो अपने भीतर ही अपने केन्द्र का अनुभव करता है, दूसरा वह है जो अपने बाहर देखने की भी अपेक्षा रखता है। एक गतिशील है, दूसरा संवरणशील। सामाजिक जीवन अथवा समाज का व्यक्ति इन्हीं दोनों तत्वों के न्यूनाधिक अनुपात का मिश्रण है। व्यवसायबद्ध और गतिशील—दोनों प्रकार के जीवनों और व्यक्तियों का साहित्य में समावेश है। दोनों में साहित्य के लिए कोई अनपयुक्त नहीं, कोई वर्ज्य नहीं। साहित्य में सब प्रकार के सामाजिक भावों और विचारों की प्रतिच्छाया रहती है। कवि और लेखक किसी अंश तक समाज के प्रतिनिधि होते हैं और किसी अंश में वे समाज को अपनी प्रतिभा और व्यक्तित्व के आधार पर नये भाव और विचार प्रदान करते हैं। समाज कवि और लेखक को बनाता है, कवि और लेखक समाज को बनाते हैं। इसी प्रकार इनका आदान-प्रदान तथा क्रिया-प्रतिक्रिया भाव चलता ही रहता है। यही सामाजिक उन्नति का नियामक सूत्र है।

आज का संसार विचारों का समाज है। वट-बीज के समान विचारों की बड़ी सम्भावनाएँ हो सकती हैं। वर्तमान काल के सभी सामाजिक, राजनैतिक व धार्मिक आन्दोलन इन विचारों के ही फल हैं। साहित्य द्वारा ही हमारा ज्ञान विस्तृत होकर हमको वर्तमान से असन्तुष्ट बनाता है। साहित्य हमारी हीनावस्था की दूसरों की उन्नत अवस्था से तुलना करके हमारा नेत्रोन्मीलन करता है। प्रेमचन्द के साहित्य ने निम्नवर्गीय व्यक्तियों का चित्रण कर साधारण समाज की उनके प्रति सहानुभूति कराई है।

वर्तमान निष्क्रिय प्रतिरोध बौद्धकालीन विचारों एवं टालस्टाय के विचारों का फल है। जिस प्रकार साहित्य मारकाट और क्रान्ति के लिए उत्तरदायी है, उसी प्रकार साहित्य सुख, शान्ति और स्वातन्त्र्य के भावों का भी कारण है। तुलसी का 'मानव' अनेक दुखित व्यक्तियों के हृदय में शान्ति का संचार करता है। जनता के हृदय का हार और समाज के पथ पर प्रकाश स्तम्भ है। हिन्दू जाति की आध्यात्मिक संस्कृति, धर्मभीरुता और अहिंसावाद में भारतीय साहित्य की झलक दिखाई देती है। सन्तों के उपदेश, वीर कवियों की उत्तेजनामयी वाणी, राष्ट्र के उत्थान में पर्याप्त सीमा तक सहायक हुई। वीर-

गाथाकाल की सूक्तियाँ मृत व्यक्ति में भी रक्त का संचार करती हैं। रूसी क्रान्ति वहाँ के साम्यवादी विचारों का परिणाम है। फ्रान्स की राजक्रान्ति बालतेयर और रूसों के विचारों का ही प्रतिबिम्ब है।

साहित्य हमारे अपूर्व और अस्पष्ट भावों को प्रकाश में लाकर हमें ही उनसे प्रभावित करता है। हमारे ही विचार साहित्य में मूर्तिमान होकर जनता का नेतृत्व करते हैं। साहित्य ही विचारों की गुप्त शक्ति को केन्द्रस्थ करके उसे कार्यकारिणी बनाता है। वर्तमान भारतवर्ष में जो परिवर्तन, जो धर्म में अश्रद्धा उत्पन्न हुई, वह सब विदेशी साहित्य का ही फल है। साहित्य द्वारा किया हुआ परिवर्तन स्थायी होता है। आज हमारे सौन्दर्य-सम्बन्धी विचार, हमारी कला का आदर्श, हमारा शिष्टाचार—सब विदेशी साहित्य से प्रभावित हो रहे हैं। हमारा साहित्य हमारे जीवन को सुधारता है, हमारा मनोविनोद कर हमारे बोझ को हल्का करता है।

साहित्य गुप्त रूप से सामाजिक-संगठन और जातीय-जीवन के उत्थान का भी वर्द्धक होता है। हम अपने विचारों को अमूल्य समझते हैं, उन पर गर्व करते हैं। शेक्सपीयर पर अँग्रेरेजों को गर्व है। तुलसी और सूर के कारण हम आज भी अपना मस्तक ऊँचा कर सकते हैं। साहित्य हमें एक संस्कृति और जातीयता के सूत्र में बाँधता है। जैसा साहित्य होगा वैसी हमारी मनो-वृत्तियाँ होंगी। इसलिए साहित्य केवल समाज का प्रतिबिम्ब ही नहीं, वह उसका नियामक और उन्नायक भी हैं। कवि या लेखकगण अपने समाज के मस्तिष्क और मुख दोनों ही हैं। कवि की पुकार समाज की पुकार है, वह समाज के भावों को व्यक्त कर शक्तिशाली और सजीव बना देता है। इस प्रकार कवि और लेखक समाज के उन्नायक और इतिहास के विधायक होते हैं। उनकी भाषा में हमको समाज के प्रतिनिधि-स्वरूप कवियों और लेखकों के विचार ही संगृहीत हो साहित्य का रूप धारण करते हैं।

साहित्य में धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, और राजनैतिक परिस्थितियों की छाप होती है। भारत के स्वच्छ, उन्मुक्त, उज्ज्वल, ज्योत्स्नामय तपोवनों में भारतीय हृदय में जो अनन्तता के भाव उत्पन्न किये थे, उनकी झलक हमें उपनिषद्-साहित्य में मिलती है। परिस्थितियों की आड़ में, उनके आवर्तन

और परिवर्तन में, राज्य के उलट-पुलट में, विचारों के संघर्ष में और क्रान्ति की उलझन में विचार दब जाते हैं किन्तु समय पाकर फिर उदय होते हैं।

किसी सम्प्रदाय, धर्म व जाति के विचारों और मान्यताओं के आधार पर उसके साहित्य का निर्माण होता है। मुसलमान मूर्ति-पूजा के घोर विरोधी हैं। इसलिए मुसलमानी-साहित्य में नाटकों का पूर्ण रूप से अभाव है। हिन्दू अपने हिन्दुत्व का चित्र साहित्य में अंकित कर गये हैं। हमारे भारतीय लेखक सौ बार भी चाहें तो अंगरेजी साहित्य का अनुकरण नहीं कर सकते। शेक्सपीयर लाख प्रयत्न करे 'मानस' का प्रणयन नहीं कर सकता। मिल्टन के (Paradise Lost) का तुलसी विचार तक भी नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि प्रत्येक देश की अपनी संस्कृति, अपना रीति-रिवाज, रहन-सहन और अपनी सभ्यता है जो दूसरे के साहित्य से कम मेल खाती है। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि हम दूसरों से प्रभावित हों या दूसरे हमसे प्रभावित होकर कुछ लिख डालें; परन्तु पूर्णतया उनका साहित्य उन्हीं की चित्तवृत्तियों की प्रतिच्छाया देगा।

हिन्दू जाति धर्म-भीरु है। हिन्दू-साहित्य आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। इसमें त्याग, अहिंसा, करुणा, दया आदि पर बहुत बल दिया गया है, तभी तो यहाँ के साहित्य में मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र त्यागी, बुद्ध, सत्य-परायण हरिश्चन्द्र और परोपकारी शिवि और दधीचि जैसे महानुभावों का वर्णन मिलता है। उर्दू और फारसी साहित्य में प्रेम-कथा को प्राधान्य दिया गया है तो वहाँ लैला-मजनू, हीर-राँझा, शीरी-फरहाद जैसे प्रेमी और प्रेयसियों के कथानक हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक जाति, धर्म और राष्ट्र के साहित्य का अपना व्यक्तित्व होता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि साहित्य देश की परिस्थितियों के अनुकूल वहाँ की सभ्यता, संस्कृति और नैतिकता को एक जातीयता के सूत्र में बाँधता है। साहित्य के बल पर ही समाज की नीति-धारणा विकसित होती है। जैसा साहित्य होता है वैसी ही हमारी मनोवृत्तियाँ हो जाती हैं, फिर हमारी मनोवृत्तियों के अनुकूल हमारा कार्य होने लगता है। इससे स्पष्ट है कि साहित्य केवल हमारे समाज या हमारी चित्तवृत्तियों का प्रतिबिम्ब ही

नहीं, उसका मार्ग प्रशस्त करता है; भविष्य के लिए पथ आलोकित करता है; उसके उन्नयन में सहायक होता है; जिसके कारण समाज, राष्ट्र, धर्म और जाति का कल्याण होता है।

प्रश्न ८—नाटक की परिभाषा करते हुए नाटक के तत्वों पर प्रकाश डालिये।

नाटक की परिभाषा

उत्तर—इन्द्रियों को प्रभावित करने के आधार पर काव्य के दो विभाग किए गये हैं—दृश्य और श्रव्य। श्रव्य काव्य में शब्द द्वारा कल्पना की सहायता से मानसिक चित्र उपस्थित किए जाते हैं। दृश्य काव्य में कल्पना पर इतना बल नहीं देना पडता। उसमें हमको यही प्रतीत होता है कि हम वास्तविकता को देख रहे हैं। नाटककार की भाषा में जो कमी रह जाती है वह नटों या अभिनेताओं की भावभङ्गी से पूरी हो जाती है। इसलिए नाटक की प्रभावोत्पादक शक्ति अधिक बढ़ चढ़कर है। कम पढ़े-लिखे तथा अशिक्षि लोगों को मूर्त और प्रत्यक्ष जितना बुद्धिगम्य होता है, उतना अमूर्त नहीं। इसलिए नाटक जनता की वस्तु है। उसे पंचम वेद कहा गया है। इसमें लोकहित तथा लोकरंजन की भावना अधिक होती है। नाटक में साधारण काव्य की अपेक्षा सामाजिकता अधिक है। इसका आस्वादन एकान्त में नहीं हो सकता। काव्यों तथा शास्त्रों में नाटक का महत्व अधिक है क्योंकि उसमें सब कलाओं का समावेश है। कहा भी है—"**काव्येषु नाटक रम्यम्**"—दर्शकों के सामूहिक सहयोग के कारण उसमें जातीय जीवन की छटा दिखाई देती है। नाटक में अभिनय की प्रधानता है। नाटक की परिभाषा इस प्रकार है—"**अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्**।"

नाटक के तत्व

नाटक एक प्रकार का काव्य है। उसकी कुछ विशेषताएँ हैं; उन्ही विशेषताओं के अनुकूल उसके तत्त्व होते हैं। नाटक के लिए वस्तु, पात्र, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, अभिनय तथा उद्देश्य आवश्यक हैं। यूरोप की समीक्षा-पद्धति के आधार पर जो तत्व गिनाए जाते हैं, उनका इन तत्वों के साथ

समन्वय हो सकता है। योरोपीय समीक्षकों के अनुसार जो उद्देश्य-तत्व हैं वह भारतीय नाटकों में रस-संचार का रूप ले लेते हैं। इस प्रकार नाटक के निम्न तत्व माने गये हैं—१—कथावस्तु, २—कथोपकथन, ३—पात्र, ४—रस या उद्देश्य, ५—शैली और ६ - अभिनय।

१—**कथावस्तु**—नाटक के कथानक को कथावस्तु कहते हैं। उपन्यासों के विस्तार में कोई नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता अतः सामग्री का उपयोग लेखक पर निर्भर है। पर नाटककार को यह स्वतंत्रता प्राप्त नहीं। नाट्य-साहित्य के निर्माण के प्रायः ऐसे नियम बन गए हैं कि नाटककार को उनका पालन करना आवश्यक होता है। नाटककार कथा का इस प्रकार संघ-ठन करे जिससे वह एक ही बैठक में समाप्त हो जाय। नाटक यथासाध्य संक्षिप्त होना चाहिये। नाटक में दो प्रकार की कथावस्तु रहती है १—आधिकारिक, और २—प्रासङ्गिक। आधिकारिक कथा प्रमुख कथा कहलाती है जिसका वर्णन आरम्भ से अन्त तक होता है। प्रासङ्गिक कथा वह है जो नाटक में प्रसङ्गवश ही आती है। आधिकारिक कथा नाटक के प्रधान पात्रों से सम्बन्ध रखती है। जैसे फल के स्वामी को अधिकारी कहा जाता है, वैसे ही आधिकारिक कथा का सूत्र आरम्भ से फल-प्राप्ति तक होता है। प्रासङ्गिक कथा में अभीष्ट फल की सिद्धि नायक के अतिरिक्त किसी और को होती है। किन्तु उसमें नायक का हित साधन अवश्य होता है। प्रासङ्गिक कथावस्तु दो प्रकार की होती है—पताका और प्रकरी। पताका उसे कहते हैं जब प्रासङ्गिक कथा का प्रसंग आधिकारिक कथा के साथ अन्त तक चलता रहे। प्रकरी उसे कहते हैं जब कथा-प्रसङ्ग बीच में ही रुक जाये।

कथावस्तु के आधार के सम्बन्ध में तीन प्रकार के भेद माने गये हैं। प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र। प्रख्यात—वह कथावस्तु है जिसका आधार इति-हास, पुराण या जनश्रुति हो। उत्पाद्य—जिसे नाटककार किसी कल्पना के माध्यम से गढ़ता है। मिश्र—उसे कहते हैं, जिसमें इतिहास और कल्पना दोनों का मिश्रण हो। इसमें कल्पना के लिए कवि को काफी गुंजाइश होती है। लेकिन वह एक निर्दिष्ट सीमा से बाहर नही जा सकता। वह मूल बात को

जरा हेर-फेर कर कह सकता है परन्तु बहुत अधिक नहीं—अन्यथा स्वतंत्रता का दुरुपयोग कहलायेगा। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से कथावस्तु के भाग या अंग बतलाये गये हैं। नाटकों में कार्य के व्यापार की दृष्टि से पाँच अवस्थाएँ मानी गई हैं। १—प्रारम्भ, २—यत्न, ३—प्राप्त्याशा, ४—नियताप्ति, ५—फलागम। यूरोपीय समीक्षा-शास्त्र ने छः अवस्थाएँ मानी हैं। १—व्याख्या (Exposition), २—प्रारम्भिक संघर्ष (Incident), ३—कार्य का चरम सीमा की ओर बढ़ना (Rising Action), ४—चरम सीमा (Crisis), ५—डन्यूमेन्ट (Denoument), ६—केटेस्ट्रोफी (Catastrophe)।

अर्थप्रकृतियों से अभिप्राय कथावस्तु के उन चमत्कारपूर्ण अङ्गों से है जो कथावस्तु को कार्य की ओर ले जाते हैं। अर्थ प्रकृतियों को "प्रयोजनसिद्धि "हेतव" भी कहा गया है। ये भी पाँच हैं—(१) बीज, (२) बिन्दु, (३) पताका (४) प्रकरी, और (५) कार्य।

इसके अतिरिक्त नाटक में सन्धियाँ आती हैं जो अर्थप्रकृतियों तथा अवस्थाओं का मेल कराती हैं। ये सन्धियाँ एक-एक अवस्था की समाप्ति तक चलती हैं। ये भी संख्या में पाँच हैं। १—मुख, २—प्रतिमुख, ३—गर्भ, ४—विमर्श, ५—निर्वहण। अर्थप्रकृतियों और अवस्थाओं में यही अन्तर है कि अर्थप्रकृतियाँ कार्य की सिद्धि के हेतुओं व साधनों से सम्बन्ध रखती हैं तो अवस्थाएँ उस सिद्धि की ओर अग्रसर होने की श्रेणियाँ हैं।

२—**कथोपकथन**—नाटक में कथावस्तु और पात्र उसका मोटा आवरण है जिससे नाटक के ऊपरी भाग से पाठक या दर्शक परिचित हो जाता है। कथोपकथन के माध्यम से हम नाटककार की कुशलता, उसकी शैली व पद्धति को समझ सकते हैं। पात्रों के भावों, विचारों, प्रवृत्तियों आदि के विकास, पतन आदि का बहुत-कुछ ज्ञान हमें कथोपकथन के माध्यम से होता है कथोपकथन नाटक का प्राण है। यह अभिनय का प्रधान अंग है। कथावस्तु का अच्छा या बुरा होना, विकास या विरोध होना—कथोपकथन पर आधारित है। कथोपकथन चरित्र-चित्रण का एक साधन है। नाटक का कथोपकथन सरल, सुन्दर, धारावाहिक तथा संक्षिप्त होना चाहिए। नाटक साधारण जनों की वस्तु है। उसका कार्य मनोरंजन देना है। अतः उसका सरल होना उस

सीमा तक आवश्यक है, जिस सीमा तक वह साधारण जनता को बोधगम्य हो सके।

कथोपकथन कई प्रकार का है—१—श्राव्य, २—अश्राव्य, ३—नियत-श्राव्य।

१—श्राव्य या सर्वश्राव्य—जो सबके सुनने के लिए हो। जिसे पात्र रंगमंच पर प्रकट रूप में कहता है।

२—अश्राव्य—जो दूसरे पात्रों के सुनने के लिए न हो। यह एक प्रकार का मुखरित रूप में विचार करना है। जिसमें पात्र आकाश की तरफ देखकर स्वयं अपने से ही बातें करता है। इसे स्वगत-कथन या आत्म-कथन भी कहते हैं।

३—नियत श्राव्य—जो कुछ पात्रों के लिए सुनने योग्य हो और कुछ के लिए न हो। यह दो प्रकार का होता है—(१) अपवादित, (२) जनान्तिक। इसमें जिन पात्रों के सुनाने के लिए बात नहीं होती वे उसे न सुनने का बहाना करते है।

३. पात्र—नाटक में पात्रों की प्रमुखता रहती है। नाटक के सभी तत्व पात्रों पर ही आधारित होते हैं।

नायक नाटक का प्रधान पात्र होता है जिसके द्वारा सारे नाटक की कथा आगे बढ़ती है। कथा का फल नाटक के साथ लगा रहता है। श्रोता, द्रष्टा या पाठक नायक के उत्थान, पतन तथा संघर्ष की ओर ही रुचि रखते हैं। भारतीय नाटकों में नायक को सब प्रकार से उच्च और उदार गुणों से युक्त माना गया है। उसके लिए त्यागी, दयाशील, सुन्दर, कुशल, विनयशील, बुद्धिमान, शूरवीर, तेजस्वी, साहसी आदि होना आवश्यक माना गया है। अतः नाटक में नायक के चरित्र के विकास की स्थिति अपेक्षित नहीं मानी गई, क्योंकि जो पहले ही विकसित है उसे और अधिक विकसित क्या किया जा सकता है। भारतीय नाटककार नायक में कुविचार दिखाकर समाज के नैतिक विचारों पर आघात नहीं पहुँचाना चाहते। नायक के लोक-प्रतिष्ठित होने से उसका साधारणीकरण पाठकों से शीघ्र हो जाता है। अतः नायक

देशों में नाटकों का विकास हुआ था। अभिनय चार प्रकार का माना गया है—आंगिक, वाचिक, आहार्य, और सात्विक। आंगिक अभिनय में अंगों के संचालन के भिन्न-भिन्न प्रकार बताये जाते हैं। इस अभिनय का सम्बन्ध नाटक की परिस्थिति तथा भावों की अनुकूलता के साथ है। वाचिक अभिनय वाणी के माध्यम से होता है जो आंगिक अभिनय को अधिक स्पष्ट कर देता है। भरतमुनि ने वाणी के अभिनय में छन्दशास्त्र, स्वरशास्त्र तथा व्याकरण को भी लिया है। आहार्य अभिनय के सम्बन्ध में नाना प्रकार के आभूषणों, वस्त्रों के रंगों आदि का उल्लेख किया गया। नाट्यशास्त्र में भिन्न-भिन्न जाति के लोगों के रंग भी बतलाये गये हैं। शिरोभूषा तथा मुकुटों का भी वर्णन इसमें होता है। सात्विक अभिनय— भारतेन्दु बाबू के अनुसार स्वेद, स्तम्भ, रोमाञ्च, कंप, अश्रु प्रभृति द्वारा अवस्थानुकरण का नाम सात्विक अभिनय है। इसमें भावों का प्राधान्य होता है।

सारांश यह कि हमारा नाट्यशास्त्र बहुत ही विकसित रूप में हमें प्राप्त है। उसमें नाटक से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु का पूर्ण मनोवैज्ञानिक विवेचन है।

प्रश्न ९—नाटक के साथ रंगमंच का क्या सम्बन्ध है ? स्पष्ट कीजिये।

अथवा

'नाटक के लिये रंगमंच अनिवार्य है ?' क्या आप इस उक्ति से सहमत हैं। अपना मत सतर्क दीजिये। हिन्दी-रंगमंच की स्थिति पर भी प्रकाश डालिये।

उत्तर—नाटक अभिनय के लिये लिखा जाता है अत: रंगमंच से उसका घनिष्ट सम्बन्ध है। रंगमंच नाट्यकला के कार्य में प्रयुक्त होने वाली उस वस्तु का नाम है जिसके बिना नाट्यकला का अस्तित्व ही फीका पड़ जाता है। जिस प्रकार नवजात शिशु अपने दोनों हाथ फैलाकर, चन्द्र-खिलौना मांगने का हठ करता है उसी प्रकार नाट्यशाला में बैठी हुई जनता भी मंच से एक असम्भव सुख लूटना चाहती है। पात्रों से अनुसूचित और कठिन अभिनय माँगती है। इसमें सन्देह नहीं कि पात्रों का अभिनग जनता की रुचि के अनुसार होना चाहिए। पर इसका अर्थ यह नहीं कि जनता की गिरी हुई आकांक्षाओं और इच्छाओं के अनुसार ही पात्रों को रंगमंच पर वैसे ही नाच नाचने पड़ें। जिस समय विविध विचारों में डूबी हुई कजा के रूप की विभिन्न कल्पनाएँ

करती हुई जनता नाट्यशाला में प्रवेश करती है उस समय संचालकों को इस बात का डर सदैव बना रहता है कि उनका नाटक जनता द्वारा प्रशंसित होगा अथवा नहीं। ऐसी ही स्थिति में नाटककार और उसके संचालक जनता की रुचि को पहचानने का प्रत्यन करते हैं। उसकी रुचि के पीछे दौड़ते हैं जैसे कोई उत्सुक भोला बालक किसी सुन्दर सी वस्तु को लेने के लिये उत्सुक होता है। नाटककार या संचालक अगर एक बार जनता की हार्दिक इच्छा समझ जाते हैं तो उनकी सबसे बड़ी सफलता इसी में होती है। रस्किन ने कहा है कि जनता की माँग एक निर्दोष बालक के विचारों से मेल खाती है। जिस प्रकार बच्चा प्रतिक्षण अपने विचारों को भिन्न-भिन्न रंगों से चित्रित करता और फिर मिटा देता है उसी प्रकार जनता किसी समय एक प्रकार के विचारों में पूर्णरूप से संलग्न होकर फिर मिटा देती है।

भारतीय नाटक का जन्म धर्म की गोद में हुआ था; उसी के सहारे नाटक में जीवन की शक्तियाँ आईं थीं। उसी ने उसका अस्तित्व संसार में रहने दिया। भारतीय नाटक का धर्म से अत्यन्त गहरा सम्बन्ध रहा है। ई० पी० हरविज रचित "दि इंडियन थियेटर" में नाटक को पंचम वेद माना है। पहला रंग-मंच बनाने के लिये विश्वकर्मा को बुलाया गया। इन्द्र-भवन के विषाल मंच पर अभिनय हुआ और अमृत मन्थन का अभिनय किया गया। इससे स्पष्ट है कि भारतीय नाटकों के तत्व वेदों में विद्यमान हैं। नाटक की इस परम्परागत कथा ने भारतीयों के हृदय में धर्म और नाटक के एकीकरण की एक अमिट छाप अङ्कित कर दी है। भारतीय जनता की यही रुचि इस समय धर्म और वर्तमान सभ्यता की सर्वतोन्मुखी प्रवृत्ति के बीच में उलझी हुई है।

आज हिन्दी में अच्छे नाटकों की संख्या बहुत कम है। आज जनता की रुचि को परिष्कृत करने के लिये उन्नत और परिष्कृत विचारों वाले नाटकों की आवश्यकता है। परन्तु आज की थियेटर कम्पनियाँ जनता की अपरिमार्जित रुचि में गुदगुदी पैदा करने के लिये नाट्यशास्त्र का एकमात्र अंग ऊपरी चमक-दमक और जगमगाहट मानती हैं। उनके नाटकों में जनता के हृदय में कौतूहलवर्द्धक भावनाओं को जागरित करने की विधियाँ जुटाई जाती हैं।

रंगमंच को एक जादू की दुकान की भाँति समझती हैं जिस पर क्षण-प्रतिक्षण आश्चर्यजनक परिवर्तन दिखाए जाते हैं। कथावस्तु इन कौतूहलों के झंझट में न जाने कहाँ रास्ता भूल जाती है। बस वहीं पर ऐसे नाटकों का 'कमाल' है। बस यहीं जनता की रुचि की इतिश्री है। पर अगर ध्यानपूर्वक देखा जाये तो ऐसे नाटकों से हमारा रंगमंच उन्नत नहीं हो सकता। नाटक जो कि मूर्त-रूप में जातीय और राष्ट्रीय उन्नयन मे सहायक माना जाता है, अगर उसका यही एकमात्र कार्य है तो जनता की रुचि आने वाले आकस्मिक समय के लिये कभी भी परिष्कृत नहीं हो सकती।

नाटकों का सार्थक अस्तित्व तो रंगमंच में ही है। पूर्वकाल में जब नाटक अपने शिशुपन में था उस ससय नृत्य और वार्तालाप नाटक के लिये अनिवार्य था। सत्रहवीं शताब्दी में इंगलैंड में पात्र रंगमँच पर कपड़े पहन-पहन कर सूचना आदि दिया करते थे। नाटक और अभिनय और रंगमंच इन तीनों का इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि इनको किसी भी रूप में अलग नहीं किया जा सकता। इनका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। नाटक प्राण है तो मंच उसके लिये शरीर है। रंगशाला में नाटक का महत्व मंच पर खेले जाने से ही है, अगर उसकी साहित्यिक ख्याति नहीं हुई तो न सही। क्योंकि नाटक प्रथमत: अभिनय करने की वस्तु है, फिर उसके पश्चात् साहित्य को अलंकृत करने की वस्तु। चूँकि नाटक अभिनय की वस्तु है इसलिए इसे साधारण जनता के सामने खेला जाता है; इसके साथ-ही-साथ यह मनोरंजन की वस्तु है इसलिये नाटक के कथोपकथन बड़ी सरल और सीधी भाषा में होते हैं। अत: नाटक साहित्यिक अङ्ग होते हुए भी इसे साहित्थिकता से अलग रखा जा सकता है। क्योंकि नाटक बोलने और अभिनय करने की वस्तु है; वह पढ़ने या मनन करने की वस्तु नहीं है। ई० सी० मोंटेग्यू का कथन है कि नाटक जितने अधिक साहित्यिक होंगे वे उतने अधिक रंगमंच की दृष्टि के अयोग्य माने जायेंगे और अभिनीत नहीं हो सकेंगे। यह आवश्यक नहीं कि नाटकों के कथोपकथन अगर साहित्यिक भाषा में नहीं लिखे गये तो वे नाटक साहित्य के अन्तर्गत नहीं हैं। रंगमंच की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करते हुए भी नाटक में साहित्य का सौन्दर्य पाया जा सकता है। माखनलाल चतुर्वेदी का

'कृष्णार्जुन' नाटक ऐसा ही नाटक है, जहाँ साहित्य और मंच का सुन्दर मिलाप हुआ है। सुसंस्कृत वातावरण में रहते हुए सभ्यगण बड़ी साहित्यिक और परिष्कृत भाषा का प्रयोग करते हैं। ऐसी स्थिति में नाटककार मंच की रक्षा और साहित्यिक सौन्दर्य—दोनों ही नाटक में ला सकता है।

रंगमंच की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह नाटककार के आत्म-प्रदर्शन में सहायक रूप सिद्ध हुआ है। एक चित्रकार स्वान्तः सुखाय सुन्दर चित्र खींचता है, मूर्तिकार मूर्ति का संघटन करता है, संगीतज्ञ गाकर हृदय को प्रसन्न करता है, उसी प्रकार नाटककार भी रंगमंच की सहायता से आत्म-प्रदर्शन करता है। उसको इसमें ही असीम सुख की प्राप्ति होती है। वह अपने जीवन का प्रदर्शन रंगमंच के बिना नहीं कर सकता। आज हिन्दी में ऐसे ही नाटकों की आवश्यकता है जो वास्तव में जीवन की प्रतिकृति हों। जो रंगमंच पर सुविधानुसार पूरे उतरें। उनमें साहित्यिक व्यंजना भी यथेष्ट हो। रंगमंच की आवश्यकताओं की सामग्री की व्यंजना भी पूर्ण रीति से हो।

नाटकों में अभिनय का समय अधिक-से-अधिक दो-तीन घण्टों तक ही परिमित रहना चाहिए। एक स्थिति में दर्शक अधिक-से-अधिक तीन घण्टे बैठ सकते हैं। अतः नाटककार को नाटक में दो-तीन घण्टों की अवधि रखनी चाहिए और उसी में अपने हृदय की सब भावनाओं की अभिव्यक्ति कर देनी चाहिए। जो नाटककार दर्शकों एवं रंगमंच की अवहेलना करते हैं, वे दर्शकों की रुचि के साथ-साथ अपना सम्मान भी खो बैठते हैं। इससे नाटक के साहित्यिक सौन्दर्य को भी क्षति पहुँचती है।

हिन्दी के नाटकों में सांकेतिक शब्द ही बहुत कम पाये जाते हैं। आज के नाटककार कथोपकथनों में अपनी सारी भावनाओं को भर, अपने कर्तव्यों की इतिश्री समझते हैं। परन्तु पाश्चात्य नाटकों में ऐसी बात नहीं होती। वे सांकेतिक शब्दों का प्रयोग करने में पटु होते हैं। हिन्दी नाटककारों में भी यह आकांक्षा उत्पन्न होनी चाहिए, जिससे वे नाटक में अपनी रुचि के अनुसार अभिनीति वस्तुओं का प्रयोग करें।

हिन्दी नाटकों में स्वगत-कथन की परिपाटी भी बहुत पुरानी है। यद्यपि यह परिपाटी बहुत पुरानी है, पर यह नितान्त अस्वाभाविक। कोई व्यक्ति

स्वयं ही जो मन में आये बोलता चला जाय तो ऐसी स्थिति में उसे उच्छृङ्खल प्रलाप मात्र ही कहा जा सकता है। यद्यपि स्वगत-कथन पात्रों के आन्तरिक विचारों का प्रकाश स्तम्भ है तथापि स्वाभाविकता के लिए इसका दूर रखना नितान्त आवश्यक है।

आज के युग में रंगमंच पर पद्य में बोलना भी अस्वाभाविकता को उत्पन्न करना है। यह भी आज के नाटकों में दोष माना जाता है। जहाँ नाटककार की अभिव्यक्ति में भावातिरेक हो जाता है तो वह झट पद्य में लिखने लगता है। वह उत्साह, करुणा, आशा, निराशा, प्रेम आदि का प्रदर्शन पद्य में अधिक सुन्दर ढंग से कर पाता है। परन्तु नाटक में इससे अरुचि पैदा होती है। नाटक जीवन की प्रतिच्छाया है इसलिए उसमें जीवन का चित्र भी रहना चाहिए। हम अपने व्यावहारिक जीवन में पद्य का प्रयोग नहीं करते, यदि ऐसा हो जाये तो चप्पे-चप्पे पर कवि ही दृष्टिगोचर हों। भाव यह है कि यदि हम रंगमंच पर यथार्थ जीवन को देखना चाहते हैं तो उसका चित्रण वैसा ही होना चाहिए जैसा कि साधारणत: होता है।

अभी तक हमारा रंगमंच अच्छे अभिनेताओं से सूना है। उसका कारण यह है कि भारतवर्ष का सभ्य समाज मंच को निकृष्ट समझता है और वहाँ उन्हीं लोगों की कल्पना करता है जो ज्ञान और मान से रहित हैं। उनका विश्वास है कि अभिनेता बनना भारी अपमान का विषय है। परन्तु आज के युग में जबकि संसार नाट्य और मंच-कला में आगे बढ़ रहा है तो केवल हिन्दी नाट्य संसार ही क्या पीछे रहे? अत: अब समाज को अपनी इस विचारधारा का वहिष्कार कर देना चाहिए।

हिन्दी रंगमंच पर स्त्रियाँ भी नाट्यकला में बहुत कम भाग लेती हैं। प्राचीन समय के नाटकों में प्राय: वे नाटकों में भाग लेती थीं, गन्धर्वों के साथ अप्सराएँ भी नृत्व और गान करती थीं। परन्तु आज तो पुरुष ही स्त्री का अभिनय करते हैं। इसके दो कारण हैं। एक तो परदा प्रथा, दूसरा शिक्षा का अभाव। ये दोनों बातें पाश्चात्य समाज में नहीं। अतएव वहाँ स्त्रियाँ स्वतन्त्रता पूर्वक रंचमंच पर आती हैं। भारत में भी अब स्त्रियाँ नाटक में भाग लेने लगी हैं।

रंगमंच का सम्बन्ध आधुनिक चित्रपट से बहुत निकट का हो गया है। आज इस सभ्यता और संस्कृति के युग में हिन्दी रङ्गमंच का अस्तित्व ही रह नहीं पाया। हिन्दी नाठकों का प्रणयन रंगमंच की दृष्टि से सर्वप्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया। आगे चलकर भारतेन्दु बाबू ने स्वयं 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का मंच पर प्रदर्शन किया। यद्यपि उस समय के नाटक आज के नाटकों से बहुत भिन्न हैं, फिर भी विकृत रूप में हमें रंगमंच मिलता तो था। इनके पश्चात् अन्य लेखकों ने इसी दिशा में प्रयत्न किया परन्तु उनके नाटक इस दृष्टि से ठीक नहीं उतर सके। क्योंकि आज के नाटककार स्वयं ही रंगमंच के स्वरूप से अपरिचित हैं। बीसवीं शताब्दी में अनेक विद्वानों ने कई भावपूर्ण नाटक लिखे। साहित्यिक दृष्टि से वे बहुत सुन्दर थे परन्तु अभिनय से बहुत दूर थे। आज हमारे रंगमंच के इतिहास में चित्रपट का महत्वपूर्ण स्थान हो गया है। यदि हम चित्रपट को रंगमंच का अमर रूप कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। रंगमंच पर जो चित्र व अभिनय दिखाया जाता है वह किसी परिमित सीमा तक अपने अस्तित्व को बनाये नहीं रख सकता। चित्रपट में एक बार प्रदर्शित दृश्यों को पूर्णरूपेण भविष्य के लिए रखा जा सकता है। रंगमंच की संकीर्णता, पात्रों के कार्य करने की अस्वच्छन्दता और दूरी दिखाने की असमर्थता तथा स्थल परिवर्तन की अस्वाभाविकता बनी रहती है— चित्रपट इन सब अभावों को दूर करता है। वह स्थान की विभिन्नता, मीलों फैले हुए मनोहर दृश्य, उड़ते हुए वायुयान, प्रलय, आँधी, मृत्यु, युद्ध आदि सबकुछ दिखाने में समर्थ है। अतः चित्रपट वास्तव में रंगमंच के सब प्रकार के अभावों की पूर्ति करते हैं। यही कारण है कि आज रंगमंच का प्रचलन इतना कम हो गया है। फिर भी रंगमंच को चित्रपट के रूप में ही हम जीवित समझते हैं। हम चित्रपट को रंगमंच की प्रतिकृति मानते हैं। क्योंकि चित्रपट ने हमारी कई प्रकार की असुविधाओं को सुलझाया और हमारे भविष्य तक को भी दृष्टिगत करवाने का साहस किया। आज के युग में इन्हीं का बोलबाला है।

प्रश्न १०— नाटक में संकलन-त्रय की उपयोगिता पर प्रकाश डालिये।

उत्तर— संकलन-त्रय के अन्तर्गत काल, वस्तु, और स्थान संकलन माने

जाते हैं। किसी भी नाटक, उपन्यास अथवा कहानी मे कुछ अंशों तक इनका निर्वाह आवश्यक माना है। यद्यपि ये तीनों सङ्कलन प्राचीन यूनानी नाटकों के मुख्य अङ्ग थे और अब प्रायः फ्रांसीसी नाटकों को छोड़कर और कहीं देखने में नहीं आते। प्राचीन यूनानी आचार्यों ने यह सिद्धान्त निश्चित किया था कि आदि से अन्त तक सारा अभिनय किसी एक ही कृत्य के सम्बन्ध में होना चाहिए, किसी एक ही स्थान का होना चाहिए, और एक ही दिन का होना चाहिए अर्थात् एक दिन में एक स्थान पर जो कृत्य हुए हों, उन्हीं का अभिनय एक बार में होना चाहिए। नाटक-रचना का वह नियम यूनान से इटली में और इटली से फ्रान्स में गया था। परन्तु आधुनिक युग में इस सिद्धान्त का कोई महत्व नहीं रहा है। आधुनिक आलोचकों का मत है कि संकलन का ध्यान अवश्य रखना चाहिए, पर उसके कारण कला के सौन्दर्य और उसकी उपयोगिता का नाश नहीं होना चाहिए। इसी बात का ध्यान रखकर शेक्सपियर ने संकलन-त्रय के इस नियम का मनमाना उल्लंघन किया था।

प्राचीन काल के यूनानी नाटक बहुत ही सादे होते थे और उनमें बहुधा तीन या पाँच ही पात्र हुआ करते थे। उन नाटकों में इन नियमों का पालन सहज में हो सकता था। पर आजकल के नाटकों और रंगशालाओं की अवस्था उस समय के नाटकों और रंगशालाओं से बिल्कुल भिन्न है, इसीलिए इन नियमों के उसी प्राचीन रूप में पालन करने की अब आवश्यकता नहीं रही है। इन नियमों के पालन से लेखक को अपनी पूरी सामग्री का उपयोग करने का अवसर नहीं मिलता और उसकी कृति में अस्वाभाविकता आदि दोष आ जाते हैं।

वस्तु-संकलन—वस्तु-संकलन के लिए नाटककार को अपनी रचना में इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि कथा का निर्वाह आदि से अन्त तक बिल्कुल समान हो। आदि से अन्त तक एक ही मुख्य कथावस्तु और एक ही मुख्य सिद्धान्त हो। कुछ गौण कथावस्तुएँ और सिद्धान्त भी उसमें समाविष्ट हो सकते हैं, पर उनका समावेश ऐसे ढंग से होना चाहिए जिसमें मूल कथा वस्तु या सिद्धान्त के साथ उनका पूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाय। गौण या

प्रासंगिक कथावस्तु के कारण मूल या आधिकारिक कथावस्तु में कभी बाधा न पड़ने देनी चाहिए, क्योंकि प्रासंगिक कथावस्तु का उद्देश्य आधिकारिक कथावस्तु की सौन्दर्य वृद्धि ही है। प्रासंगिक कथावस्तु का इतना विस्तार न होना चाहिए कि उसके आगे मूल या आधिकारिक कथावस्तु दब जाय और प्रासंगिक कथावस्तु ही आधिकारिक कथावस्तु जान पड़ने लगे।

काल-संकलन—का वास्तविक अर्थ यह है कि 'जो कृत्य वास्तव में जितने समय में हुआ हो, उसका अभिनय भी उतने ही समय में होना चाहिए।' इस नियम के पालन के फलस्वरूप प्राचीन यूनानी नाटक दिन-दिनभर और रात-रात भर होते रहते थे। बाद में अरस्तू ने चौबीस घन्टों का समय निर्धारित किया। फिर एक फ्रांसीसी विद्वान ने तीस घन्टे का समय उचित माना। पर साधारणतः नाटक प्रायः तीन या चार घन्टे में ही पूरे हो जाते हैं, इसलिए चौबीस या तीस घण्टों का काम तोन चार घण्टों में ही दिखलाया जाय तो उसे काल-सङ्कलन का उल्लंघन नहीं कह सकते। अतः यह माना जा सकता कि सङ्कलन का यह नियम नाटकों की बिल्कुल प्रारम्भिक अवस्था में बना था। बाबू श्यामसुन्दरदास का मत है कि नाटक की घटनाएँ चाहे एक दिन की हों चाहे एक वर्ष की, काल सङ्कलन को उसमें कभी बाधक नहीं होना चाहिए। इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि पहले होने वाली घटनाओं का उल्लेख पीछे होने वाली घटनाओं के पीछे न हो। दूसरी बात यह है कि दो घटनाओं के बीच में जो समय वास्तव में बीता हो, उस पर दर्शकों का ध्यान न जाने पावे। तीसरी बात यह है कि साधारणतः नाटकों में दो चार वर्षों की घटनाएँ तो सहज में खप सकती हैं, पर इससे अधिक समय की घटनाएँ एक ही नाटक में दिखलाने के लिए रचना सम्बन्धी कौशल और चातुर्य की आवश्यकता होती है। भवभूति ने 'उत्तर रामचरित' में १२ वर्ष की घटनाओं का वर्णन किया है। उसमें विष्कम्भकों द्वारा समय की सूचना दी गई है। इसी कारण हमारे आचार्यों ने रूपक के भेद व्यायोग समवकार एवम् दुर्मल्लिका में इन नियमों का विशेष ध्यान रखा है।

देश या स्थल-संकलन—तीसरा सङ्कलन स्थल या देश का है। यूनानियों के अनुसार रंगशाला का दृश्य आदि से अन्त तक एक ही रहना चाहिए।

अर्थात् नाटक की रचना ऐसी होनी चाहिए जो एक ही स्थान में, एक ही दृश्य मे दिखलाई जा सके। अभिनय के बीच में रंगभूमि के दृश्य में इस नियम के अनुसार किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता। यूनानियों ने यह नियम इसलिए बनाया था कि उनके नाटकों के गायक आदि से अन्त तक रंगमंच पर ही रहते थे और आवश्यकता होने पर गाने लगते थे। उनमें अङ्क और गर्भाङ्क आदि नहीं होते थे, इस कारण विश्राम की आवश्यकता ही नहीं थी। दूसरे उनके नाटक अत्यन्त सादे होते थे। नाटकों में अनेक ऐसे दृश्य होते हैं जो उनके चुने हुए पात्रों के अतिरिक्त दूसरे पात्रों के सामने नहीं होने चाहिएँ। पर यूनानी नाटकों में ऐसे प्रयोग सभी पात्रों के सामने हुआ करते थे। यह व्याख्या कला की दृष्टि से दूषित और नाटक के तत्वों का ध्यान रखते हुए अस्वाभाविक थी, इसीलिए हमारे यहाँ इसका ग्रहण नहीं हुआ। इन्हीं सब बातो का विचार करते हुए अनेक विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यूनानियों आदि की अपेक्षा हिन्दुओं की सृष्टि-सौन्दर्य की कल्पना अधिक ललित और वर्णन अधिक सजीव होता है।

प्रश्न ११—उपन्यास का स्वरूप निर्धारित करते हुए उसके तत्वों पर विवेचन कीजिये तथा उपन्यास और नाटक के पारस्परिक भेद को भी स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—उपन्यास का स्वरूप—उपन्यास नामक साहित्यांग केवल आधुनिक युग की ही देन है। भारतवर्ष की कई प्रान्तीय भाषाओं में यह शब्द अन्य अर्थों में प्रयुक्त होता है। दक्षिण की भाषाओं—तेलगू आदि में—यह शब्द उस अर्थ में प्रयुक्त होता है जिस अर्थ में हिन्दी के 'व्याख्यान', 'वक्तृता' आदि शब्द प्रचलित हैं। 'उपन्यास' शब्द का दक्षिण में किया गया प्रयोग उत्तर भारतीय प्रयोग की अपेक्षा संस्कृत साहित्य की प्रयोग परम्परा से अधिक सम्बद्ध है। अमरुक के प्रसिद्ध श्लोक '**नियतिः शन कैरलीक बचनोपन्यासमालीजनैः**' में का 'उपन्यास' शब्द बहुत कुछ इसी अर्थ में व्यवहृत हुआ है। दक्षिण की उक्त भाषाओं में अंग्रेजी 'नावेल' शब्द के लिए उसी की तौल पर एक संस्कृत शब्द 'नवल' गढ़ लिया गया है। यह शब्द वास्तव में उपन्यास की प्रकृतिगत सर्वोत्तम विशेषता का परिचायक है। उपन्यास वस्तुतः ही 'नवल'

अर्थात् नया और ताजा साहित्यांग है। परन्तु हिन्दी में 'कथा', 'आख्यायिका' आदि शब्दों को छोड़कर अंग्रेजी 'नावेल' का प्रति शब्द 'उपन्यास' माना गया है। अभी तक इस बात का पता नहीं लग सका है कि 'उपन्यास' शब्द का प्रचलित अर्थ में प्रयोग सर्वप्रथम किसने किया था। प्रयोक्ता ने इस नवीन शब्द के प्रयोग द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि यह साहित्यांग प्राचीन कथाओं और आख्यायिकाओं से भिन्न जाति का है। 'उपन्यास' शब्द के, ऊपर दिए गये, अर्थ के अनुसार यद्यपि यह शब्द पुरानी परम्परा के प्रयोग के अनुकूल नहीं पड़ता तथापि उसका प्रयोग उपन्यास की विशिष्ट प्रकृति के साथ बिलकुल बेमेल भी नहीं कहा जा सकता।

विभिन्न विद्वानों ने उपन्यास की परिभाषा देते हुए इस शब्द के शाब्दिक अर्थ की ओर इसी कारण ध्यान नहीं दिया है। उन्होंने उपन्यास की विशेषता एवं गुण को दृष्टि में रखकर ही उपन्यास की परिभाषा उपस्थित की है। डाक्टर श्यामसुन्दरदास "**मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा**" को उपन्यास मानते हैं। मुंशी प्रेमचन्द जी अपना मत देते हुए कहते हैं—"**मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्रमात्र समझता हूं। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।**" बाबू गुलाबराय के शब्दों में संक्षेप में हम कह सकते हैं कि "**उपन्यास कार्य कारण शृङ्खला में बँधा हुआ वह गद्य कथानक है जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित वास्तविक काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव-जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है।**"

उपन्यास का प्रणयन उस स्थिति में होता है जब कि समाज की कोई समस्या ज्वलन्त रूप में उभर कर सामने आती है, जब राजनैतिक, सामाजिक या धार्मिक स्थितियों को साहित्यिक रूप देना होता है अथवा ऐसी समस्या—जिसका विश्लेषण आवश्यक होता है, जिसका जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। आज के युग में उपन्यास लोकप्रिय तथा प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। क्योंकि विश्व में कोमल भावनाओं का अभाव हो गया है, जीवन—कटु और शुष्क बन चुका है। अतः उसे सरस तथा सुन्दर रूप देने के लिए उपन्यास ही

एकमात्र आधार शिला है। संक्षेप में उपन्यास कार्य-कारण शृंखला में बँधा हुआ वह गद्य कथानक है जिसमें अधिक विस्तार के साथ वास्तविक जीवन से सम्बन्धित वास्तविक तथा काल्पनिक मनुष्यों तथा घटनाओं द्वारा मानव जीवन के सत्य का साहित्यिक ढंग से उद्घाटन किया जाता है।

उपन्यास के तत्व

उपन्यास के तत्त्व इस प्रकार हैं—(१) कथावस्तु, (२) पात्र और चरित्र-चित्रण, (३) कथोपकथन, (४) वातावरण, (५) विचार और उद्देश्य, (६) शैली।

भिन्न-भिन्न उपन्यासकार अपनी रुचि के अनुकूल भिन्न-भिन्न अंगों व तत्त्वों पर बल देते हैं। वास्तव में वे तत्त्व एक दूसरे से मिले रहते हैं। उनको उसी प्रकार अलग नहीं किया जा सकता जिस प्रकार फूल और उसके रंग का पृथक्करण नहीं हो सकता।

१. **कथावस्तु**—कथा साहित्य की किसी भी रचना में कथावस्तु सर्वप्रधान वस्तु है। कथावस्तु उपन्यास की भित्ति है। इस भित्ति पर मनचाहे रंगों से चित्र अङ्कित किये जा सकते है। एक महान् साहित्यिक रचना का उद्देश्य मनोरंजन के साथ शिक्षण भी होता है। जिस साहित्य में यह गुण होता है वह उच्चकोटि का साहित्य है। मनुष्य की पाशविक वृत्तियों को जाग्रत करना साहित्य का कार्य नहीं। उसका कार्य मुख्य रूप से समाज को मनोरंजन के साथ शिक्षा देना है। उपन्यास का विषय और कथानक जीवन से सम्बन्धित है, अतः उसमें सजीवता सहज रूप से लाई जा सकती है। उपन्यासकार चुन-कर ढंग से विन्यास करता है। उचित और अनुचित का विचार कर उसे शृङ्खला रूप में बाँधता है। कथावस्तु की दृष्टि से उपन्यास के दो भेद हैं—भाव-प्रधान और घटना-प्रधान। भाव-प्रधान उपन्यास में घटना घटना के लिये नहीं लाई जाती बल्कि उद्देश्य या चरित्र को स्पष्ट करने के लिये होती है। घटना-प्रधान उपन्यास में बहुत-सी कुतूहलपूर्ण घटनायें एक सूत्र में आबद्ध रहती है। ऐसे उपन्यासों में जासूसी, तिलिस्मी तथा अय्यारी के उपन्यास आते हैं जिनका उद्देश्य विचित्रता पैदा करना है। चन्द्रकान्ता सन्तति, भूतनाथ

सरकती लाश, आदि इसी कोटि के उपन्यास हैं। इनको पढ़ने के पश्चात् पाठक कुछ अधिक नहीं प्राप्त कर पाता।

वस्तु के गठन के लिये लेखक को सतर्क रहना आवश्यक है। जहाँ तक हो सके उसमें मौलिकता लाने का प्रयत्न करे। व्यर्थ के वर्णन से उपन्यासकार बचे। अनुभव का गाम्भीर्य तथा सूक्ष्म निरीक्षण के अभाव से सफल उपन्यास नहीं लिखा जाता। संक्षेप में घटनाओं का समुचित नियोजन, मौलिकता, कथावस्तु के सम्बन्ध में कौशल, प्रत्येक घटित होने वाली घटना में सम्भवतः घटनाओं का संघटन, क्रम और रोचकता का होना उपन्यास में अत्यन्त आवश्यक है। उपन्यास में अलौकिक अन्शों की जितनी कमी होगी, उपन्यास उतना ही स्वाभाविक तथा सफल होगा।

२. पात्र और चरित्र-चित्रण— उपन्यास में पात्रों के चरित्र का चित्रण सजीवता, सत्यता तथा स्वाभाविकता के साथ होना चाहिए। जो पात्र जैसा है वैसी ही उसकी बातें और कार्यकलाप होना चाहिए। विभिन्न पात्रों की विभिन्नताएँ कथावस्तु के विकास में सहायक होती हैं। पात्रों सम्बन्धी प्राचीन एवं नवीन धारणा में अन्तर पड़ गया है। प्राचीन काल में नायक और नायिका की महत्ता मान कर अन्य पात्रों को गौण स्थान दिया जाता था। उपन्यासकार का ध्येय भी इन्हीं दोनों चरित्रों को प्रस्फुटित करना होता है। चरित्रों के चित्रण में जहाँ पहले कुछ पात्र देवता बना दिये जाते थे और कुछ राक्षस वहाँ आज के देवताओं में चारित्रिक दोषों का प्रदर्शन एवं राक्षसों में देवत्व का आरोप किया जाने लगा है। लेखकों ने एक प्रकार से समाज की मान्यताओं का खोखलापन दिखाना ही अपना ध्येय बना लिया है। इस चरित्र-चित्रण में प्रायः दो उपायों का अवलम्बन किया जाता है— १ विश्लेषणात्मक या साक्षात और २ अभिनयात्मक या परोक्ष। पहले प्रकार में उपन्यास लेखक अपने पात्रों का चरित्र चित्रण स्वयं अपने शब्दों में करता है। दूसरे प्रकार में लेखक मानो स्वयं तटस्थ खड़ा रहता है और स्वयं पात्रों को अपने कथन और व्यापार से तथा अपने सम्बन्ध में दूसरे पात्रों की टीका-टिप्पणी तथा सम्मति से अपने चरित्र का चित्रण करने देता है। दूसरा प्रकार ही अधिक उत्तम माना जाता है।

३. **कथोपकथन**— कथोपकथन का सम्बन्ध पात्रों तथा कथावस्तु दोनों से है। वार्तालाप प्रायः पात्रों के व्यक्तित्व के उद्घाटन तथा कथाक्रम के विकास के लिये होता है। कथोपकथन उपन्यास के कथानक को अग्रसर नहीं करता या चरित्र पर प्रकाश नहीं डालता। वह कथोपकथन चाहे कितना ही सजीव हो उपयुक्त न होगा। कथोपकथन परिस्थिति और पात्र के बौद्धिक विकास के अनुकूल होने चाहियें। मुंशी प्रेमचन्द के पात्र सजीव हैं क्योंकि उन्होंने पात्रों के अनुकूल भाषा का प्रयोग किया है।

कथोपकथन उपन्यास का सबसे अधिक रोचक अंग है। इसके द्वारा उपन्यास में नाटक का-सा आनन्द आता है। यह संक्षिप्त, सारगर्भित तथा रोचक होना चाहिये। कथोपकथन स्वाभाविकता लिये हुए होने चाहिएँ। वे कृत्रिम नहीं लगने चाहियें। "प्रसाद" के सभी पात्र संस्कृत-गर्भित भाषा बोलते हैं। वह उन पात्रों की भाषा नहीं है परन्तु वह भाषा कवि प्रसाद की अपनी है। लेखक कभी-कभी अपने निजी सिद्धान्तों के उद्घाटन और गूढ़ तथा विशेष ज्ञान के प्रदर्शन का मोह नहीं छोड़ता। समष्टि रूप से कथोपकथन स्वाभाविक, सार्थक तथा सजीव होने चाहिएँ।

४. **देश-काल या वातावरण**—उपन्यासकार जिस देश का वर्णन अपने उपन्यास में कर रहा है, वह उसके अनुकूल ही होना चाहिए। यदि उपन्यासकार बौद्ध-काल या आर्य-युग के पास घूम रहा है तो उसे तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के अनुकूल चित्रण करना चाहिये। कथानक के पात्र भी वास्तविक पात्र की भाँति देश-काल के बन्धन में रहने चाहियें। यदि वे भगवान् की भाँति देश-काल से परे होंगे तो वे पाठकों के लिये अभेद्य रहस्य बन जायेंगे। घटनाक्रम को समझने के लिए इसका होना आवश्यक है। ऐतिहासिक उपन्यास में देशकाल-वर्णन अपेक्षाकृत अधिक आवश्यक है। श्री वृन्दावनलाल कृत "गढ़कुण्डार" में बुन्देलखण्ड का पूरा इतिहास होने के कारण वह पठनीय है। जो वस्तु जहाँ की उपज न हो, जो जिस काल में प्रचलित न हो, उसे वहाँ चित्रित करना भारतीय समीक्षा में दूषण माना गया है। आगरा की सड़कों पर देवदारु के वृक्ष दिखाना तथा शिमला में लू चलते दिखाना देशकाल

विरुद्ध दूषरण है। किशोरीलाल गोस्वामी तथा गहमरी के उपन्यासों में ऐसे अभाव खटकते हैं। परन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि देशकाल तथा वातावरण कथानक के केवल साधन ही रहें, कहीं साध्य न बन जायँ। अगर इसका अनुपात बढ़ जाता है तो पाठक ऊबने लग जाता है। प्रकृति-चित्रण भी उपन्यास में होना आवश्यक है। ये दृश्य प्रकृति तथा पाठक की मानसिक स्थिति का सामंजस्य करते हैं।

५. उद्देश्य—प्रत्येक साहित्यिक कृति का कुछ-न-कुछ उद्देश्य होता है। उसी प्रकार उपन्यास का भी कुछ-न-कुछ उद्देश्व होता है जिसके कारण वह लिखता है। वास्तव में उद्देश्य ही में लेखक का रूप स्पष्ट होता है कि वह किस दृष्टिकोण का है। लिखने से पूर्व लेखक का कुछ-न-कुछ उद्देश्य होता है जिसे वह घटना के आवरण में उपस्थित करता है। आज आदर्शवादी तथा यथार्थ-वादी दो प्रकार के दृष्टिकोरा हैं। कुछ लेखकों का दृष्टिकोण किसी विषय को उसी रूप में रख देने का होता है तथा कुछ का दृष्टिकोण उसे परिष्कृत रूप में रखने का होता है। किन्तु प्रेमचन्द ने जिस मत का अनुसरण किया वह बिल्कुल उपयुक्त प्रतीत होता है। वह है आदर्शोन्मुख यथार्थवाद, अर्थात् किसी वस्तु का ज्यों का त्यों चित्र रखकर उसको फिर सुन्दर बनाने का सुझाव देना। इनका यह सिद्धान्त हिन्दी-उपन्यास-साहित्य के लिये श्रेयस्कर सिद्ध हुआ है।

६. शैली—उपन्यास का मुख्य अंग शैली है। काव्य में शैली का वही स्थान है जो मनुष्य में उसकी आकृति और वेशभूषा का है। चित्त का प्रसादन जितना कथा की मौलिकता और रोचकता से होता है, उतना ही शैली से भी। समय-समय पर प्रसन्नता प्रदान करना और उत्सुकता को कायम रखना बहुत-कुछ शैली पर निर्भर करता है। कथावस्तु के गुण यथा संगठन-क्रम, संगति आदि शैली के आन्तरिक पक्ष से सम्बन्ध रखते हैं। शैली में गुण का होना आवश्यक है। स्थान-स्थान पर विषयानुकूल ओज और माधुर्य भी आना चाहिए। भाषा को सुबोध और प्रसादमय बनाने लिए मुहावरों तथा अलङ्कार का प्रयोग भी अपेक्षित है, जिसमें मौलिकता का आभास होता है। प्रकृति-चित्रण, नदी, ग्राम, पर्वत, नगर, पुरवासियों आदि का वर्णन करने से रोचकता

६—उपन्यास में धैर्य की आवश्यकता है।	६-नाटक में रंगमंच के नियमों की जानकारी आवश्यक है।

प्रश्न १२—"एक ही चीज का कहानी लघु संस्करण है और उपन्यास वृहद संस्करण"—क्या आप इससे सहमत हैं। अपने मत की स्थापना करते हुए उपन्यास और कहानी के भेद को इस प्रकार स्पष्ट कीजिये कि कहानी का स्वरूप भी प्रकट हो जाये।

उत्तर—कहानी और उपन्यास दोनों में कुछ समानताएँ होने के कारण हिन्दी के पूर्ववर्ती आलोचकों ने यह मत प्रकट किया था कि "**कहानी को कटा छँटा उपन्यास या उपन्यास को विस्तार-पूर्वक कही गई कहानी कहा जा सकता है।**" दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि एक ही चीज का कहानी लघु सस्करण है और उपन्यास वृहद् संस्करण। यदि हम इस कथन को ही प्रामाणिक मान लें तो तात्विक दृष्टि से इन दोनों में कोई अन्तर नहीं जान पड़ता परन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है। आज कहानी और उपन्यास, कला की दृष्टि से कुछ समताएँ रखते हुए भी दो पूर्णतः पृथक विधाएँ मानी जाती हैं। इस भिन्नता का विवेचन करने से पूर्व हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम कहानी और उपन्यास की विशेषताओं और उनके संक्षिप्त विकास पर एक दृष्टि डाल लें। यहाँ हमारा विवेच्य विषय कहानी है। अतः उस पर ही विचार करेंगे।

कहानी अपने आधुनिक रूप में पश्चिम की देन है। संस्कृत साहित्य के कथा साहित्य में हमें अनेक कथाओं के संग्रह मिलते हैं परन्तु आलोचक उन्हें कहानी की संज्ञा न देकर हमारे वर्तमान उपन्यासों का पूर्वरूप सा मानते हैं। प्राचीन जातक कथायें तथा ईसप की कहानियों को भी हम आधुनिक कहानी का पूर्व रूप नहीं मान सकते क्योंकि वे कहानियाँ स्वतन्त्र कहानियों का रूप न होकर किसी महापुरुष के जीवन की विशिष्ट घटनाओं एवं रूपक कथाओं के रूप में हैं। आधुनिक कहानी के कोई भी गुण उनमें नहीं मिलते। अतः हमारे साहित्य में कहानी का प्राचीन रूप नहीं मिलता।

आरम्भ में जब कहानी कला का समुचित विकास नहीं हो पाया था तब उसकी गणना छोटे उपयान्सों में की जा सकती थी। उस समय कहानी

और उपन्यास में केवल आकार का भेद था। इस आकार की भी कोई निश्चित मर्यादा नहीं थी। यदि कहानी का आकार बड़ा हो जाता तो उसे उपन्यास कहने लगते थे और यदि उपन्यास का आकार छोटा होता तो उसे कहानी कहते थे। इस प्रकार कहानी और उपन्यास अपने प्रारम्भिक युग में परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध थीं। प्रसिद्ध अँग्रेजी उपन्यासकार स्काट और डिकेन्स आदि के कुछ उपन्यास आकार में दीर्घ न होने के कारण उस समय कहानी की कोटि में ही माने गए थे। परन्तु जैसे-जैसे कथा-साहित्य की इन दोनों विधाओं में उन्नति होती गई तो आलोचकों एवं साहित्य-शास्त्रियों की आकार की तुलना शिथिल होती गई और एक समय आया जब केवल आकार ही कहानी की एकमात्र कसौटी नहीं रह गया। आकार का भेद गौण स्थान का अधिकारी माना गया। यद्यपि साधारण रूप से यह स्वीकार किया गया कि कहानी का आकार ६००० शब्दों से लेकर १२००० शब्दों तक का होना चाहिए परन्तु ऐसी उच्चकोटि की कहानियाँ भी पाई जाती हैं जिनमें नियत संख्या से अधिक और कम शब्द हैं। इसका कारण यह है कि उनमें कहानी कला के अन्य उपकरण सुचारु रूप से प्रस्फुटित हुए हैं और इस प्रकार आकार का प्रश्न अनाश्यक हो गया है। यह बात कहानी कला के विकास की प्रौढ़ावस्था में आकर हुई। प्राचीनकाल में क्योंकि आकार का प्रश्न ही प्रमुख था इसी कारण तत्कालीन आलोचकों ने "कहानी को कटा छँटा उपन्यास और उपन्यास को विस्तार पूर्वक कही गई कहानी" माना था।

भारतीय तथा पाश्चात्य आलोचकों ने कहानी के गुणों को लक्ष्य कर उसकी अनेक परिभाषाएँ उपस्थित की हैं। उपन्यास एक प्रकार से जीवन का पूर्ण चित्र है और कहानी उस जीवन के केवल एक अंश की ही झलक उपस्थित करती है। इसीलिए अंग्रेजी आलोचकों ने कहानी को जीवन का स्नेपशॉट (Snap shot) माना है। दूसरे शब्दों पें हम उसे जीवन का टुकड़ा भी कह सकते हैं। किन्तु बाबू गुलाबराय के शब्दों में "**वह टुकड़ा ऐसा होता है कि छिपकाली की पूँछ की भाँति बिल्कुज सफाई से अलग हो जाता है**" और फिर उसमें प्राणों का स्पन्दन होता रहता है। वह स्वतः पूर्ण होता है। उसमें सम्बन्ध स्थापित करने के लिए बाहर से कोई घटना

नहीं जोड़नी पड़ती। वह छोटी होते हुए भी किसी बड़े तथ्य का उद्‌घाटन करती है और जितना ही वह तथ्य व्यापक होता है, उतनी ही कहानी उत्तम होती है। पाश्चात्य देशों में एडगर एलिन पो आधुनिक कहानी के जन्मदाताओं में से माने जाते हैं। उनके शब्दों में "**कहानी एक ऐसा आख्यान है जो इतना छोटा है कि एक बैठक में पढ़ा जा सके और जो पाठक पर एक ही प्रभाव उत्पन्न करने के उद्देश्य से लिखा गया हो। उसमें ऐसी सब बातों का बहिष्कार किया जाता है जो उस प्रभाव को अग्रसर करने में सहायक न हों।**" इसी परिभाषा के आधार पर यदि किसी कहानी में अनावश्यक घटनाओं एवं पात्रों की अवतारणा की जाती है तो कला की दृष्टि से उसमें दोष माना जाता है।

सर ह्यू वाल पोल के शब्दों में "कहानी कहानी होनी चाहिए अर्थात् उसमें घटित होने वाली वस्तुओं का लेखा-जोखा होना चाहिए और आकस्मिकता से पूर्ण हो। उसमें क्षिप्रगति के साथ अप्रत्याशित विकास हो जो कौतूहल द्वारा चरम बिन्दु और सन्तोषजनक अन्त तक ले जाय। इस परिभाषा से सिद्ध होता है कि कहानी की सभी घटनाएँ एवं पात्र सार्थक होने चाहिएँ, उसमें तीव्रता हो और कौतूहल हो। डा० श्यामसुन्दरदास भी कहानी में लक्ष्य या प्रभाव को आवश्यक मानते हैं। उनकी परिभाषा इस प्रकार है "**आख्यायिका एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को लेकर नाटकीय आख्यान है।**" वे कहानी के नाटकीय ढंग पर अधिक बल देते हैं। उक्त सब परिभाषाओं के आधार पर बाबू गुलाबराय जी ने अपना निष्कर्ष निकाला है कि "छोटी कहानी एक स्वतः पूर्ण रचना है जिसमें एक दिन या प्रभाव को अग्रसर करने वाली व्यक्ति केन्द्रित घटना या घटनाओं के आवश्यक परन्तु कुछ-कुछ अप्रत्याशित ढंग से उत्थान पतन और मोड़ के साथ पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने वाला कौतूहल-पूर्ण वर्णन हो।" इस प्रकार कहानी एक ही निश्चित लक्ष्य की ओर उन्मुख होने के कारण उपन्यासों से भिन्न अपनी एक नई शैली बनाने में समर्थ हुई है। उपन्यासों से ही नहीं, पुरानी कहानियों से भी आधुनिक कहानी की शैली नितांत भिन्न हो गई है।

कहानी अपने प्राचीन रूप में तो उपन्यास की बड़ी बहन मानी जा सकती

है और अपने नये रूप में उसकी छोटी बहन। उपन्यास और कहानी दोनों ही कथा साहित्य के अंग हैं। इस कारण दोनों में कुछ बातों में समानता है। ये दोनों ही विधाएँ कलात्मक रूप से मानव जीवन पर प्रकाश डालती हैं। एक में जीवन का विस्तृत विश्लेषण होता है और दूसरे में उस जीवन के एक अंग का। दोनों में ही एक प्रमुख कथा होती है। उपन्यासों में अन्तर्कथाएँ भी होती हैं परन्तु कहानियों में अन्तर्कथाओं को अधिक प्रोत्साहित नहीं किया जाता यद्यपि कुछ श्रेष्ठ कहानियों में अन्तर्कथाओं के दर्शन होते हैं। पात्र दोनों में होते हैं—एक में अधिक दूसरे में कम। उपन्यास में चरित्र-चित्रण की प्रधानता होती है परन्तु उसमें अनेक पात्रों का चरित्र-चित्रण होता है। कहानी में भी चरित्र-चित्रण की प्रधानता है परन्तु केवल नायक की। अन्य पात्र गौण होते हैं।

उपन्यास और कहानी की अपनी-अपनी पृथक विशेषताएँ हैं जो दोनों को एक दूसरे से अलग कर देती हैं। कहानी को जीवन की एक झलक अथवा झाँकी कहा जाता है। झाँकी प्रायः क्षणिक परन्तु प्रभावपूर्ण होती है। जैसे ठाकुरजी के मन्दिर में एक निश्चित समय तक क्षण भर के लिए पर्दा हटाकर ठाकुरजी की झाँकी कराई जाती है और उस झाँकी की झलक लेकर भक्त आत्मविभोर होकर लौट आते हैं। इसी प्रकार कहानीकार भी केवल एक ही दृश्य पर सारा आलोक केन्द्रस्थ कर उसके प्रभाव को तीव्रतम बना देता है। उपन्यासकार अर्जुन को छोड़कर शेष सभी राजकुमारों के समान वृक्ष पर बैठी हुई पूर्ण चिड़िया ही नहीं, वरन् आस पास बैठी हुई दूसरी चिड़ियों को तथा जहाँ तक उसकी दृष्टि जाती है, पूरे दृश्य का निरीक्षण करता है, किन्तु कहानीकार धनुर्विद्या-विशारद अर्जुन के समान अपने लक्ष्य को अचूक बनाने के लिए केवल आँख को लक्ष्य कर तीर छोड़ता है।

कहानीकार अपने पाठक को अन्तिम संवेदना के लक्ष्य तक शीघ्रतिशीघ्र ले जाता है और एक साथ पर्दा उठाकर सजी-सजाई झाँकी की आकर्षक एवं मोहक छटा से पाठक को मुग्ध कर देता है। वह बीच-बीच में रहस्योद्घाटन के लिए नहीं ठहरता क्योंकि उसके पास समय का अभाव है, एक दो संकेत चाहे कर दे; किन्तु अन्तिम क्षण तक स्पष्ट रूप से उस रहस्य का उद्घाटन

नहीं करता। अन्तिम संवेदना से ही बीच के संकेत सार्थक हो जाते हैं। उपन्यास के पाठक को जहाँ ग्रन्थकार के विश्वास पात्र होने का गौरव प्राप्त है, वहाँ कहानी के पाठक को अधिक प्रभावपूर्ण दृश्य के देखने और केन्द्रीभूत आनन्द के प्राप्त करने का संतोष है। कहानी की एकतथ्यता ही उसका जीवन रस है और वह उसे उपन्यास से पृथक करता है।

इस मौलिक भेद के कारण उपन्यास और कहानी के शिल्प-विधान में भी अन्तर पड़ जाता है। वातावरण का विस्तार, जीवन की अनेकरूपता प्रासंगिक कथाओं के तारतम्य के कारण कथा प्रवाह का बहुशाखा होकर अन्त की ओर अग्रसर होना, पात्रों की बहुलता आदि बातें जो उपन्यास में आवश्यकीय समझी जाती हैं वे कहानी को कला की दृष्टि से गिरा देती हैं। कहानी में चरित्र की एक झलक दिखाई जाती है जिससे पूरे चरित्र का भी आभास मिल जाता है। वास्तव में यह चित्रण नहीं होता वरन् क्षणिक प्रकाश होता है। इसके विपरीत उपन्यास में प्रारम्भ से अन्त तक चरित्र को गढ़ना पड़ता है। चरित्र की प्रत्येक विशेषता को स्पष्ट रूप से दिखाना पड़ता है। वहाँ संकेत से काम नहीं चलता। कहानी के किसी पात्र में यदि चरित्र परिवर्तन होता है तो प्रायः एक ही प्रभावपूर्ण घटना से ही हो जाता है। उसमें उपन्यास के समान विभिन्न घटनाओं के रूप में सुनार की सी चोटों की जरूरत नहीं पड़ती, वरन् लुहार की एक गहरी चोट काम कर जाती है। मुंशी प्रेमचंद की 'आत्माराम', 'शङ्खनाद', कौशिक जी की 'ताई', चंद्रगुप्त विद्यालङ्कार की 'डाकू' शीर्षक कहानियाँ चरित्र परिवर्तन के सुन्दर उदाहरण हैं। कहानी में कथानक, चरिच चित्रण और वातावरण होते सब हैं किन्तु मुख्यता इनमें एक को ही मिलती है। शेष दो बहुत गौण हो जाते हैं। परन्तु उपन्यास तभी सफल माना जाता है जब उसमें तीनों तत्वों का संतुलित चित्रण होता है।

कहानी की शैली अपनी संक्षिप्तता के कारण अधिक व्यंजना प्रधान होती है। उसकी गति अत्यन्त तीव्र होती है। इसी कारण कहानी की गति को तूफान मेल कहा है और उपन्यास की गति को पैसेंजर ट्रेन। कहानीकार को इतनी फुर्सत नहीं होती कि वह प्रत्येक घटना पर ठहर कर उसका

विवरण प्रस्तुत करे। अतः वह जङ्क्शनों के समान प्रमुख घटनाओं का ही विवरण देता हुआ आगे बढ़ जाता है। जबकि उपन्यासकार प्रत्येक घटना का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता चलता है। कहानीकार संक्षेप में बहुत कुछ कहता है। उसमें 'गागर में सागर भरने' की प्रवृत्ति पाई जाती है। व्यंजना जो काव्य का प्राण है, उपन्यास की अपेक्षा कहानी में अधिक मात्रा में वर्तमान रहती है; इसीलिए वह काव्य के अधिक निकट मानी जाती है। इसके विपरीत उपन्यास का काव्यत्व बिखरा सा रहता है; किन्तु कहानी का यह गुण उसकी एक ध्येयता के कारण अन्तिम विन्दु में स्थित रहता है।

कहानीकार की शैली प्रत्यक्ष शैली कही जा सकती है। उपन्यास आदि की भांति उसमें अस्पष्ट इंगितों और उल्लेखों का अभाव रहता है। उपन्यासकार की भाँति वह अपने व्यक्तित्व को छिपा कर नहीं रखना, उसे प्रत्येक क्षण अपने व्यक्तित्व को प्रकट रखना और अपने संपूर्ण मन्तव्य को स्पष्ट कहना पड़ता है। उपन्यासकार के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह अपने पाठकों के सन्मुख मित्र रूप में उपस्थित हो और अन्तरङ्ग की ही भांति बातें करे। उसे अपना रहस्य छिपाने का भी अधिकार है। किन्तु कहानी लेखक की शैली पाठक के अंतरंग मित्र की सी होती है। वह घरेलू और आपसी आदमियों की भांति गपशप करता है। उसकी कला ऐसी ही शैली की अपेक्षा रखती है। वह व्यक्तित्व प्रधान शैली की कला है। अपनी इसी विशेषता के कारण कहानी गीतिकाव्य से मिलती जुलती होती है क्योंकि दोनों ही व्यक्तित्व प्रधान सृष्टियाँ हैं। इसी से कहानी को गीति काव्य अथवा एकांकी नाटक के समान माना जाता है। उपन्यास प्रबन्ध काव्य के समान होता है।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा हमने देखा कि कहानी और उपन्यास कथा साहित्य के दो अङ्ग होते हुए भी उद्देश्य, संगठन एवं शैली की दृष्टि से एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। जब उनके तत्वों में इतनी भिन्नता है तब हम उन्हें एक ही वस्तु के दो रूप कैसे मान सकते हैं। प्रश्न में दिए उदाहरण का विश्शेषण करते हुए बाबू गुलाबराय ने लिखा है कि "**दोनों की अपनी विशेषताएँ हैं। दोनों में केवल आकार का ही भेद नहीं है। हम यह नहीं कह सकते कि कहानी छोटा उपन्यास है अथवा उन्यास बड़ी कहानी है। यह**

कहना ऐसा ही असंगत होगा, जैसे चौपाए होने की समानता के आधार पर मेंढक को छोटा बैल और बैल को बड़ा मेंढक कहना। दोनों के शारीरिक संस्कार और संगठन में अन्तर है। बैल चारों पैरों पर बल देकर चलता है, तो मेंढक उछल उछल कर रास्ता तय करता है। इस प्रकार कहानीकार भी बहुत सी जमीन छोड़ता हुआ उछाल मार कर चलता है।"

प्रश्न १३—निबंध का स्वरूप निर्धारण करते हुए उसके भेदों पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—निबंध का स्वरूप "Style is the man him self" की उक्ति निबंध पर जितनी चरितार्थ होती है उतनी साहित्य के किसी अन्य अंग पर नहीं। यदि साहित्य के किसी अंग में शैली का महत्व है तो वह निबन्ध ही है। कोई भी विषय इसके क्षेत्र से बाहर का विषय नहीं। क्या इतिहास, भूगोल, विज्ञान, आलोचना, दर्शन, पुरातत्व, यात्रा, उत्सव, त्यौहार आदि सभी इसके व्यापक क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाते हैं। निबन्ध साहित्य की सभी विधाओं से उपयुक्त सामग्री ग्रहण करता है। अतः निबन्ध साहित्यिक विधाओं की विशेषताओं के संग्रह का रूप है। शब्द-शक्ति, भाषा, अलंकार, मुहावरे, कहावतें, रस विधान आदि सभी का सुन्दर सामंजस्य इसमें मिलता है। इसमें मुक्तक काव्य की सी स्फुरता, प्रबन्ध का सा तारतम्य, कविता की सी कल्पना-शक्ति का संग्रहीत रूप है। यह कहानी और खण्डकाव्य के अधिक निकट है।

"निबन्ध" शब्द स्वयं ही अपनी परिभाषा का परिचायक है। अर्थात् "निबन्ध का अर्थ है जहाँ विशेष रूप से बन्धन का संगठन हो। इसके अतिरिक्त 'Essay' शब्द से इसका अर्थ "प्रयत्न" माना गया है। डा० जानसन के अनुसार निबन्ध को "असंगठित, अपूर्ण और अव्यवस्थित मन का विवरण" कहा गया है। वास्तव में हम निबन्ध को, जो कि जीवन के अत्यन्त निकट है— एक निश्चित् सीमा में नहीं बाँध सकते। अतः यह साहित्यांग अत्यन्त विस्तृत और वैविध्यपूर्ण है। संक्षेप में निबन्ध का आकार अपेक्षाकृत छोटी गद्य-रचना के रूप में होता है। उसमें लेखक का निजीपन और व्यक्तित्व झलकता रहना चाहिए। वह जो कुछ भी लिखे उसमें उसका अपना दृष्टिकोण

हो। उसे स्वत:पूर्ण होना चाहिए। इसका साधारण गद्य की अपेक्षा रोचक और सजीव होना आवश्यक है। बौद्धिक विचारों की शुष्कता और नीरसता को दूर करने के लिए निबन्ध-लेखकों का कर्त्तव्य है कि वे पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सकें। बाबू गुलाबराय परिभाषा देते हुए कहते हैं— **"निबन्ध उस गद्य-रचना को कहते हैं जिसमें सीमित आशा के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्भाव्य के साथ किया गया हो।"**

अँग्रेजी लेखक "मौनटेन" जगतप्रसिद्ध लेखक हुए हैं जिनकी शैली निजी विशेषताओं से युक्त है। "वेकन" की निबन्ध-रचना परिपुष्ट विचारों तथा तार्किक शैली से युक्त है। जानसन, स्टील, ऐडिसन आदि अँग्रेजी निबन्ध-लेखकों ने निबन्ध साहित्य को पर्याप्त उत्कर्ष तक पहुँचाया।

निबन्ध के प्रकार

हिन्दी साहित्य में निबन्ध के विषयों की सीमा नहीं रही है। समझदार की मौत, माँ, (श्री प्रतापनारायण मिश्र); कल्पना, आप, आँसू (बालकृष्ण भट्ट); कौशिक के "शिव शम्भु के चिट्ठे"; अध्यापक पूर्णसिंह के 'मजदूरी और प्रेम,' 'आचरण की सभ्यता;, पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के 'लज्जा और ग्लानि,' 'भय,' 'उत्साह,' 'कविता क्या है' आदि; श्यामसुन्दरदास के 'साहित्य और समाज' आदि। साहित्यिक एवं आलोचनात्मक निबन्धों की संख्या दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही है--

निबन्धों को हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं—

१—वर्णनात्मक
२—विचारात्मक } व्याख्यात्मक शैली के रूप में

३—विचारात्मक (निरूपणात्मक और आलोचनात्क)

४—भावात्मक

इन प्रकारों के मिश्रण से बहुत प्रकार के और भी बन सकते हैं।

विवरणात्मक निबन्ध—इनका सम्बन्ध अधिकांश में काल से है जिसमें वस्तु को उसके गतिशील रूप में दिखाया जा सकता है। इन निबन्धों में प्रायः विषयों को उनके मूर्त रूप में दिखाकर विषयों का पदार्थगत वर्णन होता है।

इनकी शैली चमत्कारपूर्ण और कलापूर्ण होती है। भाषा अलंकृत और लाक्षणिकता को लिए हुए होती है। किसी व्यक्ति, प्राकृतिक दृश्य, ऋतु, बन, पर्वत आदि मूर्त वस्तु का किसी घटना—युद्ध यात्रा, विवाह, पर्व, त्यौहार आदि का, अवस्थाओं में—दुःख, सुख, बीमारी, करुणा, गरीबी, अमीरी आदि का पदार्थनिष्ठ वर्णन ही वर्णनात्मक और विवरणात्मक निबन्धों के अन्तर्गत आता है। विवरणात्मक तथा वर्णनात्मक निबन्धों में भावना और कल्पना का आश्रय कम लिया जाता है। इन निबन्धों में प्रायः व्यास शैली का प्रयोग होता है, जिसमें एक बात को समझा-समझाकर कई रूपों में कहा जाता है।

विवरणात्मक निबन्धों में श्री सियारामशरण गुप्त के 'हिमालय की झलक', पूर्णसिंह की 'ब्रह्मकान्ति', 'चन्द्रलोक की यात्रा' आदि उल्लेखनीय हैं। वर्णनात्मक निबन्धों का एक नमूना—

"निर्मल वेत्रवती पर्वत को विदार कर बहती है और पत्थरों की चट्टानों से सम भूमि पर, जो स्वयं पथरीली है, गिरती है, जिससे एक विशेष आनन्द-दायक शंखनाद मीलों से कर्ण कुहर में प्रवेश करता है और जलकण उड़-उड़ कर मुक्ताहार की छवि देखाते और रविकिरण के संयोग से सैकड़ों इन्द्रधनुष बनाते हैं। नदी की थाह में नाना रंग के प्रस्तरों के छोटे-छोटे टुकड़े पड़े रहते हैं। जिन पर वेग से बहती हुई धारा नवरत्नों की चादर पर बहती हुई जलधारा की छटा दिखाती है।"

विचारात्मक निबन्ध—इन निबन्धों में बुद्धि-तत्त्व को प्रधानता दी जाती है। इन निबन्धों में समास शैली का प्रयोग होता है। विचारात्मक निबन्धों की दो बड़ी श्रेणियाँ हैं। १—निरूपणात्मक, और २—आलोचनात्मक। निरूपणात्मक निबन्धों में किसी पदार्थ, तत्व, सिद्धान्त, विचार और विज्ञान आदि के किसी विशेष वाद आदि का निरूपण किया जाता है, और आलोचनात्मक निबन्धों में दूसरों द्वारा प्रतिपादित विचारों या रचनाओं का आलोचन—गुण-दोष, सद्असद् विवेचन अथवा समीक्षण रहता है। निरूपणात्मक निबन्ध अधिकांश में वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, सदाचारिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक तथा ऐतिहासिक आदि अनेक प्रकार के होते हैं। इसी प्रकार आलोचनात्मक भी विषय-भेद की दृष्टि से विविध प्रकार के होते

हैं। इनके साहित्यिक और पारभाषिक दो भेद हैं। हिन्दी साहित्य में आलोचनात्मक निबन्धों ने विशेष प्रगति की है।

विचारात्मक निबन्धों का एक उदाहरण "भाव या मनोविकार" नामक रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध से देखिये—

"समस्त मानव जीवन के प्रवर्त्तक भाव या मनोविकार हैं। मनुष्य की प्रवृत्तियों की तह में अनेक प्रकार के भाव ही प्रेरक के रूप में पाये जाते हैं।

शील या चरित्र का मूल भी भावों के विशेष प्रकार के संगठन में ही समझना चाहिये। लोक-रक्षा और लोक-रंजन की सारी व्यवस्था का ढाँचा इन्हीं पर ठहराया गया।

भावात्मक निबन्ध—इन निबन्धों में प्रायः अमूर्त एवं इन्द्रियातीत विषयों का भावनिष्ठ एवं तात्विक विवेचन किया जाता है। इनकी शैली साहित्यिक होने पर भी स्वाभाविक होती है। इसमें लाक्षणिकता कम और अभिधावृत्ति की प्रधानता होती है। भाषा को सरल और विचार की संदेशवाहिनी बनाकर संयम में रखना पड़ता है। उसे चाञ्चल्य, स्वच्छन्दता और उछल-कूद का कम अवसर मिलता है। उसे अनैसर्गिक साधनों द्वारा सौंदर्य-लिप्सा की पूर्ति का भी पूरा मौका नहीं मिलता। इसमें व्यास शैली तो रहती है किन्तु भावावेश के न्यूनाधिक्य के कारण कई प्रकार की श्रेणियाँ हो जाती हैं। उनमें धारा शैली का समावेश हो जाता है। भावात्मक निबन्धों में तीन प्रकार की शैली का प्रयोग होता है—१—धारा शैली, २—तरंग शैली, ३—विक्षेप शैली। धारा शैली में भावों की धारा प्रवाहमय होकर प्रायः एक गति से चलती है। किन्तु तरंग शैली में वही भाव तरंगें मारते दिखाई देते हैं। विक्षेप शैली में भाव कुछ उखड़े हुए से रहते हैं। उसमें तारतम्य और नियन्त्रण का अभाव रहता है। एक उदाहरण देखिये—

"तारागणों को देखते-देखते भारतवर्ष अब समुद्र में गिरा-कि-गिरा। एक कदम और धड़ाम से नीचे ! कारण केवल यही है कि यह अपने अटूट स्वप्न में देखता रहा है और निश्चय करता रहा है कि मै रोटी के बिना जी सकता हूँ·············यदि अब भी इसकी निन्द्रा न खुली तो बेधड़क शंख

फूँक दो। कूँच का घड़ियाल बजा दो, कह दो ! भारतवासियों का इस असार संसार से कूच हुआ।"

हास्य-व्यंग्यात्मक लेख भी विषयानुकूल भावात्मक और विचारात्मक लेखों की संज्ञा में आ सकते हैं। कुछ लोग इनकी पृथक्-पृथक् विधा स्वीकार करते हैं।

कहानी और निबन्ध में अन्तर

कहानी और निबन्ध में विषय की दृष्टि से अन्तर कम जान पड़ता है। क्योंकि कहानी भी जीवन की किसी घटना या अंग को लेकर चलती है, और निबन्ध भी विषय के किसी अंश को ही लेकर चलता है। निबन्ध में निबन्धकार ही सबकुछ होता है जबकि कहानीकार अपने को छिपाकर रख कुछ कल्पित पात्रों के आधार पर ही अपनी भावनाओं और विचारों को व्यक्त करता है। कथानक के अभाव में कहानी अपने को साकार रूप में नहीं ला पाती जबकि निबन्ध के लिए ऐसी कोई बात नहीं। कहानी का उद्देश्य मनोरञ्जन के साथ-साथ रुचि का परिष्कार और सद्वृतियों को मांजना होता है जब कि निबन्ध इनके साथ ज्ञानवर्द्धन भी करता है। कहानी में कहानीकार को अधिक नियमों से बँध कर चलना होता है। घटनाओं में क्रमहीनता, चरित्र की अस्पष्टता, संवादों में अस्वाभाविकता, वातावरण के सृजन करने वाले वर्णन का अभाव, आकर्षण और प्रभावशून्यता आदि से कहानीकार अपने को बचाता है। यद्यपि निबन्धकार को भी इनमें से बहुत सी बातों का ध्यान रखना पड़ता है किन्तु चरित्र, संवाद, वातावरण, वर्णन, घटना आदि निबन्ध की वस्तु हैं ही नहीं, अतः उसे इन बातों के लिए स्वयं को परेशान नहीं करना पड़ता है। हाँ निबन्ध में विचारों का क्रम अवश्य रखा जाता है।

प्रश्न १४—साहित्य के निर्माण में समालोजना की क्या उपादेयता है ? आधुनिक समालोचना के मुख्य रूपों का निर्देश कीजिए और सप्रमाण सिद्ध कीजिए कि "सैद्धान्तिक समालोचना ही समालोचना का चिरन्तन स्वरूप हैं।"

उत्तर—जिस प्रकार कवि बाह्य जगत से उत्पन्न अपने भावों और विचारों को अभिव्यक्त करता है और पाठकों के हृदय में वैसे ही भाव जागृत करके रसमग्न करता है उसी प्रकार आलोचक भी कवि की कृति के पठन-पाठन से उत्पन्न अपने विचारों को दूसरों के लिये अभिव्यक्त करता है। आलोचक इस प्रकार कवि और पाठक के बीच की महत्वपूर्ण कड़ी है। इस आलोचक और आलोचना का बड़ा महत्व है। आलोचना की परिभाषा देते हुए डा० श्याम-सुन्दरदास कहते हैं कि "**साहित्य-क्षेत्र में ग्रन्थ को पढ़कर उसके गुणों और दोषों का विवेचन करना और उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है।...... यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।**" बाबू गुलाबराय के शब्दों में "**आलोचना का मूल उद्देश्य कवि की कृति का सभी दृष्टिकोणों से आस्वाद कर पाठकों को उस प्रकार के आस्वाद में सहायता देना तथा उनकी रुचि को परिमार्जित करना एवं साहित्य की गति निर्धारित करने में योग देना है।**"

हमारे यहाँ के हिन्दू आदर्शों में कवि की सृष्टि को "नियतिकृति नियम-रहिताँ" मानकर भी काव्य के उद्देश्य बतलाते हुए "व्यवहार बिदे" और "कान्तासम्मतियोपदेशेयुजे" को भी स्वीकार किया है। इस 'कवि की सृष्टि' के रहस्य से पाठक को परिचित कराना ही सच्चे आलोचक का कार्य है। यदि कोई अच्छा कवि जीवन की व्याख्या करता है, तो एक अच्छा आलो-चक हमें वह व्याख्या समझाने में सहायक होता है। समालोचना के दो उद्देश्य प्रमुख होते हैं—(१) सत्साहित्य के निर्माण को प्रोत्साहन तथा (२) असत् साहित्य का निराकरण।

साहित्य और आलोचना में अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। अत्यन्त प्राचीन काल से हम इन दोनों को साथ-साथ चलता पाते हैं। जहाँ साहित्य है, वहाँ किसी न किसी रूप में समालोचना भी है। वास्तव में प्रत्येक वस्तु के परखने और उसके गुण-दोष निश्चित करने की प्रवृत्ति प्रत्येक में होती है। ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से प्रत्येक मनुष्य को किसी वस्तु के लिए 'अच्छी है या बुरी है या इस श्रेणी की है' इस प्रकार कुछ निश्चित करना होता

है। आलोचना के मूल में भी यही भावना है। आलोचक साहित्य को परखता है, उसके गुण दोष का निर्णय करता है, उसकी सामान्य विशेषताओं की रूपरेखा निर्धारित करता है।

आलोचना के प्रकार

आधुनिक समालोचना चार प्रकार की मानी जाती है– आत्मप्रधान, व्याख्यात्मक, निर्णयात्मक तथा सैद्धान्तिक।

१—**आत्मप्रधान**—इसमें आलोचक आलोच्य विषय की विवेचना करता हुआ उसमे इतना तल्लीन या उसके इतना विमुख हो जाता है कि विवेचना को छोड़कर भाव-लहरी में बह चलता है। आलोच्य रचना या विषय उसके भावों का आलम्बन बन जाता है। ऐसी आलोचनाएँ रचनात्मक साहित्य की कृतियाँ हो जाती हैं। मनोवैज्ञानिक क्रम से इस आत्मप्रधान या प्रभाववादी आलोचना का स्थान पहले आता है। श्रोता, पाठकों या दर्शकों का स्वाभाविक हर्षोल्लास इसका पूर्व रूप है। भरतमुनि के नाट्य शास्त्र के अनुसार किसी कृति का मूल्य निर्णय इस आधार पर किया जाता था कि उसे देखकर दर्शकों पर क्या प्रभाव पड़ता है। दर्शकों के मुस्कराने, हँसने, साधुवाद या इसके विपरीत मानसिक कष्ट को व्यक्त करने वाले वाक्यों तथा हर्ष-सूचक जन-कोलाहल आदि के आधार पर उस कृति का मूल्यांकन किया जाता था। इस आलोचना के समर्थक कहते हैं कि आलोचना के लिए इससे बढ़कर क्या प्रमाण है कि कृति हमको अच्छी लगी या बुरी। हमारे यहाँ जैनेन्द्र जी इस प्रकार की आलोचना के पक्षपाती हैं। ऐसे आलोचक एक प्रकार की 'सत् असत् विवेक बुद्धि' में विश्वास रख अपनी रुचि को ही अन्तिम प्रमाण मानते है।

२—**व्याख्यात्मक**—इसमें साहित्यिक रचनाओं का विश्लेषण और व्याख्या की जाती है। इससे रचनात्मक साहित्य की विभिन्न कृतियों के वर्गीकरण और विकास में सहायता पहुँचती है। इसी व्याख्या के बल पर हम किसी कृति के महत्व का निर्णय कर सकते हैं। इसमें समालोचक किसी भी रचना का अध्ययन एक अन्वेषक के रूप में करता है, न्यायाधीश के रूप

में नहीं। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों तक पहुँचता है तथा इस बात का पता लगाता है कि उसका विषय क्या है। रचियता के ढंग, दृष्टिकोण और मत से उदारतापूर्वक अपने विचारों का सामंजस्य स्थापित करके उसकी आलोचना करता है। ऐसी आलोचना उदारतापूर्ण तथा प्रस्तुत रचना के पूर्ण पर्यवेक्षण पर अवलम्बित रहती है। अतः यह न्यायपूर्ण और बुद्धिसंगत होती है। इसका सबसे सरल और प्रारम्भिक स्वरूप टिप्पणियों और भाष्यों में मिलता है।

बाबू गुलाबराय व्याख्यात्मक आलोचना की सहायिका रूप से उपस्थित होने वाली चार आलोचना पद्धतियों को मानते हैं—ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, तुलनात्मक और समाजवादी। ऐतिहासिक आलोचना में कवि पर तत्कालीन इतिहास, समाज और संस्कृति के वातावरण का प्रभाव आँका जाता है और साथ ही साहित्यिक परम्पराओं के बीच में उसकी स्थापना की जाती है। तुलनात्मक आलोचना में पूर्ववर्ती, समकालीन और परवर्ती साहित्यिकों के साथ कवि और उसकी सामग्री की तुलना की जाती है और इस प्रकार उसके महत्व को स्थापित किया जाता है। मनोवैज्ञानिक आलोचना में कवि के जीवन और काव्य तथा काव्यांगों में सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। इस वर्ग के आलोचक काव्य को मनः स्थिति का चित्रण या अङ्कन-मात्र मानते हैं। समाजवादी आलोचना में साहित्य को वर्ग विशेष की उपज मानकर सामाजिक आवश्यकताओं के सहारे उसका मूल्याङ्कन किया जाता है।

३—**निर्णयात्मक**— इसमें सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर साहित्यिक रचनाओं के महत्व का निर्णय किया जाता है। इसमें समालोचक न्यायाधीश के रूप में आता है। उसका काम निर्णय देना है। उसकी जिज्ञासा "यह काव्य कैसा होना चाहिए था!" के रूप में होती है। पाश्चात्य देशों में कुछ समय तक अरस्तू के नियम ईश्वरीय वाक्य के समान समझे जाते थे। हमारे यहाँ भी बहुत काल तक मम्मट और विश्वनाथ के नियम सर्वमान्य समझे जाते रहे। इस आलोचना को शास्त्रीय आलोचना भी कहते हैं। ऐसी समालोचना भले बुरे का फैसला देने के कारण साहित्य की प्रगति को रोकने वाली होती है।

४—**सैद्धान्तिक**—इसमें साहित्य के विभिन्न रूपों के विवेचन द्वारा साहित्यिक सिद्धांतों की स्थापना होती है। जब लोकरुचि सूत्र-बद्ध हो जाती है और युग की प्रवर्तक कवियों की अमर रचनाओं का विश्लेषण कर उनके नमूनों के आधार पर सिद्धांत और नियम निर्धारित किये जाते हैं तब सैद्धांतिक आलोचना का जन्म होता है। यह साहित्य और उसकी समालोचना के लिए एक प्रकार के सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना करती है। इसका विषय है साहित्य या काव्य के स्वरूप का विश्लेषण। साहित्य क्या है? कविता क्या है? उनका लक्ष्य क्या है? वह समालोचना का शास्त्रीय पक्ष है। इस आलोचना के इतिहास से भी विभिन्न युगों के इतिहास को समझने में सहायता मिलती है।

लक्ष्य ग्रन्थों के पश्चात् ही लक्षण ग्रन्थों का निर्माण होता है। भाषा के बाद ही व्याकरण का उदय होता है। योरुप में अरस्तू के काव्य सिद्धान्त से लगाकर कालरिज, एडीसन, वर्डसवर्थ, रिचर्डस, क्रोचे, इलियट, जेम्म स्कार्ट आदि के सैद्धांतिक ग्रन्थ और हमारे यहाँ के भरतमुनि का नाट्य शास्त्र, दण्डी का काव्यादर्श, मम्मट का काव्यप्रकाश, विश्वनाथ का साहित्य दर्पण, पण्डितराज जगन्नाथ का रस-गङ्गाधर आदि इसी प्रकार की आलोचना के ग्रन्थ हैं। हिन्दी में रीतिकाल के लक्षण ग्रन्थ, डाक्टर श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन', शुक्लजी की 'चिन्तामणि' एवं 'रस मीमांसा', सुधांशु जी का 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', कन्हैयालाल पोद्दार का 'काव्य कल्पद्रुम', रामदहिन मिश्र का 'काव्यालोक', बाबू गुलाबराय का 'सिद्धान्त और अध्ययन', तथा 'काव्य के रूप' आदि इसी प्रकार की आलोचनाएँ हैं। यह रूप हमें प्रारम्भ से आज तक मिलता है और गम्भीर आलोचकों में इन्हीं ग्रन्थों का विशेष महत्व है। इसी प्रमाण के आधार पर डा० श्यामसुन्दरदास सैद्धांतिक समालोचना को ही समालोचना का चिरन्तन स्वरूप मानते हैं। अन्य प्रकार की आलोचनाएँ नवीन-युग की उपज हैं। प्राचीन काल में यदि कहीं इसका दर्शन होता भी है तो गौण रूप में।

हिन्दी साहित्य का इतिहास

प्रश्न १—हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन आप किस आधार पर करेंगे—तर्कपूर्ण उत्तर दीजिये।

अथवा

हिन्दी साहित्य के काल-विभाजन का संक्षिप्त परिचय दीजिये एवं काल विभाजन के औचित्य पर भी विचार कीजिये।

या

आचार्य शुक्ल ने अपने साहित्य के इतिहास में जो काल-विभाजन किया है, क्या आप उससे सहमत हैं—सतर्क अपने विचार प्रकट कीजिये।

उत्तर—हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल विभाजन करने से पूर्व यह उचित होगा कि हम 'साहित्य' और 'इतिहास' का अर्थ समझ लें। प्रथमतः हम 'साहित्य' शब्द के तात्पर्य को समझने का प्रयास करेंगे। भारतीय साहित्याचार्यों ने 'साहित्य' शब्द की परिभाषा में विभिन्न मत दिये है। किन्तु उन परिभाषाओं का उल्लेख करना यहाँ हमारा मन्तव्य नहीं है। हम 'साहित्य' के तात्पर्य को संक्षेप में समझने का प्रयास करेंगे। 'साहित्य' शब्द से आजकल बड़ा व्यापक अर्थ लिया जाता है। किसी विशेष विषय की समस्त पुस्तकें उस विषय के साहित्य की संज्ञा पाती हैं और इस प्रकार हम नित्य ही ज्योतिष-साहित्य, राजनीति-साहित्य, अर्थशास्त्र-साहित्य इत्यादि इत्यादि कहते हैं। इसके अतिरिक्त जनता के मुँह में रहने वाला एक अलिखित साहित्य भी होता है जिसमें नानी की कहानी, किम्वदन्तियाँ, बड़ों का कहना, मुहावरे, घरेलू गीत इत्यादि आते हैं। आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने समूचे ग्रन्थ-समूह को

साहित्य मानकार उसे तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—सूचनात्मक साहित्य, विवेचनात्मक साहित्य और रचनात्मक साहित्य। इनमें अन्तिम प्रकार का साहित्य ही हमारे विवेचन की वस्तु है। आचार्य द्विवेदी जी ने इस साहित्य में उन पुस्तकों का समावेश किया है जो "हमें सुख-दुख की व्यक्तिगत संकीर्णता और दुनियावी झगड़ों से ऊपर ले जाती हैं, और सम्पूर्ण मनुष्य जाति के—और, और भी आगे बढ़कर प्राणिमात्र के—दुःख-शोक, राग-विराग, आह्लाद-आमोद को समझने की सहानुभूतिमय दृष्टि देती हैं। वे पाठक के हृदय को इस प्रकार कोमल और संवेदनशील बनाती हैं कि वह अपने क्षुद्र स्वार्थ को भूलकर प्राणिमात्र के दुःख-सुख को अपना समझने लगता है—सारी दुनियाँ के साथ आत्मीयता का अनुभव करने लगता है। पुराने शास्त्रकारों ने इस प्रकार के मनोभाव को 'सत्वस्थ' होना कहा है।" एक अन्य स्थान पर द्विवेदी जी ने 'सत्वस्थ' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—"जब काव्यार्थ इस प्रकार उपस्थित होता है तो उसके फलस्वरूप सत्त्वगुण का उद्रेक होता है—मनुष्य दुनिया की संकीर्णता से ऊपर उठता है, उसका चित्त प्रकाशमय और आनन्दमय हो जाता है। प्रकाश और आनन्द सत्वगुण के ही धर्म कहे जाते हैं, इसलिए जिस अवस्था में मनुष्य छोटे-मोटे स्वार्थ के अन्धकार से बाहर निकल आता है, संकीर्णता के भार से हल्का हो जाता है और एक आनन्द की अवस्था में आ जाता है, उस समय सत्वगुण का उद्रेक हुआ करता है।... रस की अनुभूति के समय ऐसा ही होता है।" प्राचीन संस्कृत के आचार्यों ने इसी रस की अनुभूति को लोकोत्तर आनन्द की संज्ञा दी है। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध इत्यादि पुस्तकें इसी श्रेणी में आती हैं और यही 'रचनात्मक साहित्य' या संक्षेप में 'साहित्य' यहाँ हमारा विवेच्य है।

'साहित्य' शब्द नवीन नहीं है। इसका अर्थ प्रायः 'रचनात्मक साहित्य' के अर्थ में ही होता आया है। साहित्य की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से होती है। यहाँ हम हिन्दी भाषा में उद्भूत एवं विकसित साहित्य-परम्परा का अध्ययन करने जा रहे हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "हिन्दी भारतवर्ष के एक बहुत विशाल प्रदेश की साहित्यिक भाषा है। राजस्थान और पंजाब राज्य की पश्चिमी सीमा से लेकर बिहार के पूर्वी सीमान्त तक तथा

उत्तर प्रदेश के उत्तरी सीमान्त से लेकर मध्यप्रदेश के मध्य तक के अनेक राज्यों की साहित्यिक भाषा को हम हिन्दी कहते आए हैं।" 'हिन्दी' शब्द की व्यापकता का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य द्विवेदी जी आगे लिखते हैं--"**इस प्रदेश में अनेक स्थानीय बोलियाँ प्रचलित हैं। सब का भाषा-शास्त्रीय ढाँचा एक जैसा ही नहीं है। साहित्य में भी किसी एक ही बोली के ढाँचे का सदा व्यवहार नहीं होता था, फिर भी हिन्दी साहित्य की चर्चा करने वाले सभी देशी विदेशी विद्वान इस विस्तृत प्रदेश के साहित्यिक प्रयत्नों के लिए व्यवहृत भाषा या भाषाओं को हिन्दी कहते हैं। वस्तुतः हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'हिन्दी' शब्द का व्यवहार बड़े व्यापक अर्थों में होता रहा है।**" उपर्युक्त विवेचन से दो शब्दों—साहित्य और हिन्दी—की स्थिति तो स्पष्ट हो चुकी है। अब इतिहास 'शब्द' को समझना भी आवश्यक है।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में जनता की चित्तवृत्तियों की परम्परा के साथ साहित्य-परम्परा का सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' बतलाया है। उनके शब्दों में—"**जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही "साहित्य का इतिहास" कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारण-स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है।**"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के ९०० वर्षों के इतिहास का कालविभाजन इसी दृष्टिकोण को आधार मान कर किया है। काल-विभाजन के नामकरण के सम्बन्ध में शुक्ल जी का मत है कि जिस काल-खण्ड के भीतर किसी विशेष प्रकार की रचनाओं की प्रचुरता दिखाई पड़े तो उसका नामकरण उन्हीं रचनाओं में प्रदर्शित प्रधान प्रवृत्ति के आधार पर किया जाय। वे आगे लिखते हैं—**इस प्रकार प्रत्येक काल का एक निर्दिष्ट सामान्य लक्षण बताया जा**

सकता है । किसी एक ढंग की रचना की प्रचुरता से अभिप्राय यह है कि शेष दूसरे ढंग की रचनाओं में से चाहे किसी (एक) ढंग की रचना को लें वह परिमाण में प्रथम के बराबर न होगी……दूसरी बात है ग्रन्थों की प्रसिद्धि। किसी के भीतर जिस एक ढंग के बहुत अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ चले आते हैं उस ढंग की रचना उस काल के लक्षण के अन्तर्गत मानी जायगी……प्रसिद्धि भी किसी काल की लोक-प्रवृत्ति की प्रतिध्वनि है । इन दोनों बातों की ओर ध्यान रखकर काल-विभाग का नामकरण किया गया है ।" आचार्य शुक्ल के परवर्ती अधिकांश हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखकों ने आचार्य शुक्ल ही के उपर्युक्त मानदण्ड को स्वीकार कर काल-विभाजन किया है । डा० रामकुमार वर्मा, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पंडित कृष्णशंकर शुक्ल, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र प्रभृति विद्वानों ने इसी आधार पर काल-विभाजन किया है । कालों के नामकरण एवं समय के विषय में थोड़ी-बहुत भिन्नता अवश्य मिलती है; परन्तु मूल आधार एक ही है ।

उपर्युक्त व्यवस्था के अनुसार हिन्दी साहित्य के ९०० वर्षों के इतिहास को आचार्य शुक्ल ने चार कालों में विभक्त किया है—

१—**आदिकाल** … (वीर-गाथाकाल, संवत् १०५०–१३७५)
२—**पूर्वमध्य-काल** … (भक्तिकाल, संवत् १३७५–१७००)
३—**उत्तर मध्यकाल** …. (रीतिकाल' संवत् १७००-१९००)
४—**आधुनिक-काल** … (गद्यकाल, संवत १९००……)

उन्होंने प्रत्येक काल का वर्णन इस प्रकार किया है कि पहले तो उक्त काल की विशेष प्रवृत्ति सूचक उन रचनाओं का वर्णन है जो उस काल के लक्षण के अन्तर्गत होंगी । पीछे संक्षेप में उनके अतिरिक्त अन्य प्रकार की ध्यान देने योग्य रचनाओं का उल्लेख है । डा० रामकुमार वर्मा ने आदिकाल के दो खण्ड किये हैं—सन्धिकाल और चारणकाल । सन्धिकाल को उन्होंने संवत् ७५० से १२०० तक माना है और शेष कालों को शुक्लजी के अनुसार ही माना है । डाक्टर हजारीप्रसाद विवेदी ने वीरगाथा-काल को 'आदिकाल' माना है। वे इसे वीरगाथा-काले नहीं मानते । उनके मतानुसार—**"इस काल में वीर रस को सचमुच ही बहुत प्रमुख स्थान प्राप्त है । परन्तु इस काल में सिद्ध-साहित्य और**

जैन-साहित्य का प्रणयन प्रचुर मात्रा में हुआ है । इसलिए इसे केवल वीरगाथा काल नहीं माना जा सकता ।" राहुल जी का मत है कि आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक के काव्य में दो प्रकार के भाव पाए जाते हैं—सिद्धों की वाणी और सामन्तों की स्तुति । इसलिए इस काल को 'सिद्ध-सामन्त युग' कहा जाना चाहिए । कुछ आलोचकों को इस काल का नाम 'आदिकाल' ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है । परन्तु बहुमत शुक्ल जी का ही समर्थक है ।

डाक्टर श्यामसुन्दरदास ने यद्यपि काल-विभाजन आचार्य शुक्ल के अनुसार ही किया है परन्तु उन्होंने प्रत्येक प्रधान प्रवृत्ति का विकास एवं इतिहास आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक एक साथ किया है । उनका काल-विभाजन निम्न प्रकार से है—

१—**आदियुग** ····(वीरगाथा का युग सं० १०५० से १४०० तक)
२—**पूर्वमध्ययुग** ····(भक्ति का युग „ १४०० से १७०० तक)
३—**उत्तर मध्ययुग**···(रीति-ग्रन्थों का युग „ १७०० से १९०० तक)
४—**आधुनिक युग**···(नवीन विकास का युग „ १९०० से अब तक)

डा० दास के काल-विभाजन में एवं आचार्य शुक्ल द्वारा किए गए काल विभाजन में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, दोनों समान ही हैं, परन्तु डाक्टर साहब ने कालों का विवेचन करते समय प्रत्येक प्रधान प्रवृत्ति का पूर्ण इतिहास एक ही स्थान पर प्रस्तुत कर अपने किए हुए विभाजन का एक प्रकार से उल्लंघन ही किया है । प्रत्येक काल की प्रधान प्रवृत्ति के साथ उस काल की अन्य गौण प्रवृत्तियों का विवेचन उसी काल के अन्तर्गत करना, इतिहास की दृष्टि से अधिक समीचीन होता है । यदि प्रत्येक प्रवृत्ति का सम्पूर्ण इतिहास एक ही स्थान पर देना था तो सम्पूर्ण इतिहास को चार कालों में विभाजित कर उसे समय की सीमा में बाँधा ही क्यों गया ? इतिहास में काल-विभाग और तिथियों का विशेष महत्व है । उनकी अवहेलना कर इतिहास नहीं लिखा जा सकता । तिथियों के अभाव में वह सम्पूर्ण साहित्य का क्रमबद्ध इतिहास न होकर विशृङ्खलित साहित्यिक विवेचन-मात्र रह जायगा । इसलिए आचार्य शुक्ल का आधार अधिक वैज्ञानिक, तर्क-सम्मत और उपयुक्त प्रतीत होता है ।

डाक्टर श्यामसुन्दरदास की काल-विभाजन प्रणाली में सबसे बड़ा दोष यह है कि उसमें एक विशिष्ट काल की प्रधान प्रवृत्ति का तो पूर्ण इतिहास आ जाता है परन्तु अन्य गौण प्रवृत्तियों पर यथेष्ट प्रकाश नहीं पड़ता। किसी विशेष काल में कोई नवीन विचार-धारा प्रारम्भ होकर कुछ समय उपरान्त समाप्त हो जाती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी नवीन प्रकार के काव्य का आरम्भ तो हो जाता है परन्तु उस काल में उसका विकास नहीं हो पाता। जैसे आधुनिक काल में बच्चन का 'हालावाद' प्रारम्भ होकर अल्पकाल में ही समाप्त हो गया। वीरगाथा-काल के अन्तिम चरण अथवा भक्तिकाल के प्रारम्भ में विद्यापति के शृङ्गार और भक्ति-विषयक काव्य का आरम्भ तो हो गया परन्तु उसका पूर्ण विकास क्रमशः भक्तिकाल के अन्तिम चरण और रीति-काल में जाकर हुआ। अतः श्यामसुन्दरदास जी प्रणाली के आधार पर ऐसी प्रवृत्तियों का विवेचन पृथक् रूप से नहीं किया जा सकता। इसलिये यही उचित प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का विवेचन एक ही स्थान पर किया जाय। आचार्य शुक्ल ने यही किया है। श्यामसुन्दरदास का कथन है कि कोई भी एक विचारधारा या प्रवृत्ति प्रारम्भ होकर नष्ट नहीं होती। वह निरन्तर चलती ही रहती है। कभी उसका शक्तिशाली रूप प्रकट होता है और कभी क्षीण रूप। यह ठीक है, परन्तु जब उसका विवेचन प्रत्येक काल के साथ हो जाता है तो उसका एक साथ, समष्टि रूप से विवेचन करने के प्रति इतना उत्कट आग्रह क्यों? इससे केवल एक लाभ होता है कि पाठक को एक स्थान पर तद्विषयक सम्पूर्ण सामग्री उपलब्ध हो जाती है। परन्तु यह प्रणाली निबन्ध-लेखन में अधिक सुचारुता के साथ व्यवहृत की जा सकती है—इति-हास लेखन में नहीं। इससे साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन में व्याघात पड़ता है।

आचार्य शुक्ल द्वारा किया हुआ कालों का नामकरण सर्वथा सार्थक और तर्क-संगत है। आदिकाल (वीरगाथा काल) के अतिरिक्त तीनों कालों के नाम-करण के विषय में विद्वानों में विशेष मतभेद नहीं है। आदिकाल पर अभी हुई खोजों के आधार पर उस काल के अनेक ऐसे ग्रन्थ, जिनके कारण शुक्लजी ने इस काल को वीरगाथा-काल की संज्ञा दी थी, अप्रामाणिक सिद्ध हो चुके

हैं। इसके अतिरिक्त तत्कालीन जैन और सिद्ध साहित्य इतना विस्तृत और बहुमुखी है कि उस काल में केवल वीर-रस की ही प्रधानता नहीं मानी जा सकती। अतः किसी विशेष प्रमुख प्रवृत्ति के अभाव में इसे 'आदिकाल' कहना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। वीरगाथा-काल के विषय में एक बात और विचारणीय है। इस काल के वीरगाथात्मक ग्रन्थों में सर्वप्रथम 'खुमान रासो' है। इसका रचनाकाल संवत् ११८० से ११६५ तक माना जाता है। जब यह इस काल का सर्वप्रथम ग्रन्थ है तो वीरगाथा-काल इसी समय से मानना चाहिए। परन्तु विद्वानों ने वीरगाथा-काल को इससे लगभग १२६ वर्ष से पहले से माना है, जिसका कोई तर्क-संगत कारण नहीं दिया है। इसी प्रकार विद्यापति का रचना-काल संवत् १४६६ के लगभग माना जाता है तथा वीरगाथा-काल १३७५ तक ही समाप्त हो जाता है। ऐसी दशा में विद्यापति को वीरगाथा-कालीन कवि मानना अनुचित है। इसी कारण कुछ विद्वानों ने विद्यापति को भक्तिकाल में स्थान दिया है।

भक्तिकाल को सभी लेखकों ने 'भक्तिकाल' ही माना है क्योंकि उस काल में भक्ति की प्रधानता रही है। इस काल की रचनाओं में निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार की भक्तियों का चरम उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। इसे हिन्दी का स्वर्ण युग भी कहते हैं। इस काल के कवियों में अनेक प्रकार की विचित्रता और विभिन्नता होते हुए भी कुछ सामान्य भावनाएँ पाई जाती हैं जिनको लक्ष्य कर इस काल का नाम 'भक्तिकाल' रखा गया है। रीतिकाल में शृंगार की प्रधानता देखकर कुछ इतिहासकारों ने इसे 'शृंगार काल' ही कहा है। इस काल में रीति-ग्रन्थों की ही अधिक रचना हुई है परन्तु शृंगारिक भावना व्यक्त रीति-ग्रन्थों द्वारा ही हुई है। भूषण जैसा वीर-काव्य का प्रणेता भी रीति-ग्रन्थों के इस मोह को त्यागने में असमर्थ रहा है। इस काल में नायिका-भेद और अलंकार शास्त्र का संस्कृत के ढंग पर ही अधिक विकास हुआ है। उसमें मौलिकता की अपेक्षा अनुवाद ही अधिक है। कवियों की प्रवृत्ति मौलिकता की अपेक्षा रीति की ओर अधिक झुकी हुई है। रीति-ग्रन्थों की इस प्रचुरता एवं प्रधानता के कारण ही इसे 'रीतिकाल' कहा गया है।

आधुनिक काल में गद्य का पूर्ण विकास एवं प्रधानता होने के कारण शुक्लजी ने इसे 'गद्य-काल' की संज्ञा दी है। डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी भी एक प्रकार से इसे गद्यकाल ही मानते हैं। श्यामसुन्दरदास इसे 'नवीन विकास का युग' कहते हैं। गद्य का विकास इस काल की सबसे महत्वपूर्ण घटना है। इस काल में कविता भी यथेष्ट मात्रा में हुई है परन्तु जैसा विकास गद्य के विभिन्न अंगों का हुआ है वैसा कविता का नहीं हो सका है। अतः इसे गद्य-काल कहना ही अधिक उचित है। यह काल अनेक प्रकार की प्रवृत्तियों से भरा पड़ा है। इसलिए आधुनिक काल के विवेचन के लिये एक पृथक् शृङ्खलाबद्ध इतिहास की आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति अनेक विद्वानों ने की भी है। आचार्य शुक्ल ने इस काल के दो विभाग कर दिये हैं—गद्य-खण्ड और पद्य-खण्ड। इन दोनों खण्डों को प्रथम-उत्थान, द्वितीय-उत्थान एवं तृतीय-उत्थान में विभाजित कर दिया है। आधुनिक अधिकांश विद्वान् उन्हें क्रमशः भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, शुक्ल-प्रसाद-प्रेमचन्द युग के नाम से पुकारते हैं। काव्य के क्षेत्र में द्विवेदी युग के उपरान्त छायावादी और प्रगतिवादी युग माने गये हैं। छाया वाद के पूर्ण दर्शन पद्य में नहीं होते, अतः यह शीर्षक गद्य-पद्य दोनों के लिए अनुपयुक्त है। भारतेन्दु से लेकर द्विवेदी युग तक तो आधुनिक युग की धारा सीधी रही है किन्तु छायावाद के जन्म के साथ ही उसमें नाना वादों और प्रवृत्तियों की बाढ़-सी आ गई है। आधुनिक काल की प्रगति इतनी विशाल और बहुमुखी है कि उसे किसी विशिष्ट वाद या प्रवृत्ति की संकुचित सीमा में नहीं बाँधा जा सकता है।

प्रश्न २—हिन्दी साहित्य के इतिहास की प्रधान आधारभूत सामग्री की परीक्षा कीजिए। क्या वह सामग्री हिन्दी साहित्य के प्रामाणिक इतिहास की रचना के लिए पर्याप्त है? कारण सहित उत्तर दीजिए।

उत्तर—हिन्दी-साहित्य के इतिहास की सामग्री दो रूपों में प्राप्त होती है—**अन्तर्साक्ष्य** और **बाह्यसाक्ष्य**। साहित्य के परिचय ग्रन्थों में प्राप्त सामग्री अन्तर्साक्ष्य रूप में तथा साहित्य के अतिरिक्त अन्य साधनों में उपलब्ध सामग्री बाह्य साक्ष्य के रूप में है। डा० रामकुमार वर्मा ने अन्तर्साक्ष्य की सामग्री का उल्लेख करते हुए २५ ग्रन्थों का विवरण दिया है। ये निम्नलिखित हैं—

१—**चौरासी और दो सौ वैष्णवन की वार्ताएँ**—लेखक गोकुलनाथ। इसमें पुष्टिमार्ग में दीक्षित वैष्णवों की जीवनी पर प्रकाश डाला गया है। अष्ट-छाप के कवि भी इन्हीं वैष्णवों में से थे।

२—**भक्तमाल**—लेखक नाभादास। इसमें प्रत्येक प्रसिद्ध वैष्णव कवि की प्रशस्ति में एक-एक छप्पय मिल जाता है।

३—**श्री गुरु ग्रन्थ साहब**—लेखक गुरु अर्जुनदेव। इसमें नानक, कबीर, रैदास, नामदेव आदि १६ सन्त कवियों की कविताओं का संकलन है।

४—**गोसाईं चरित्र**—लेखक बाबा बेनीमाधवदास। इसमें गोस्वामी तुलसीदास का चरित्र गान किया गया है।

५—**भक्त नामावली**—ध्रुवदास। इसमें ११६ भक्तों का संक्षिप्त चरित्र वर्णित है।

६—**कविमाला**—तुलसी। ये तुलसी रामचरितमानस के तुलसीदास से भिन्न हैं। इस ग्रन्थ में सं० १५०० से सं० १७०० तक के प्रसिद्ध कवियों की कविताओं का संग्रह है।

७—**कालिदास हजारा**—कालिदास त्रिवेदी। २१२ कवियों की कविताओं का संग्रह। इन कवियों का समय सं० १४८० से लेकर सं० १५७५ तक है। इसी ग्रन्थ के आधार पर शिवसिंह सेंगर ने अपना 'सरोज' लिखा था।

८—**काव्य निर्णय**—भिखारीदास। इस ग्रन्थ में काव्य के आदर्शों के साथ-साथ कवियों का निर्देश भी मिल जाता है।

९—**सत्कवि-गिरा-विलास**—बलदेव। सत्रह कवियों का काव्य संग्रह जिनमें केशव, चिन्तामणि, मतिराम, बिहारी आदि मुख्य हैं।

१०—**कवि नामावली**—सूदन। इसमें सूदन ने दस कवियों के नाम गिना-कर उन्हें प्रणाम किया है।

११—**विद्वान मोद तरंगिणी**—सुब्बासिंह! ४५ कवियों का काव्य संग्रह जिसमें षटऋतु, नखशिख, दूती आदि का वर्णन है।

१२—**राग सागरोद्भव रागकल्पद्रुम**—कृष्णानन्दव्यास देव। १०० से अधिक कृष्णोपासक वैष्णवों का वर्णन है जिसमें अन्य प्रान्तीय भाषाओं के भी कवि आ जाते हैं।

१३—**शृङ्गार संग्रह**—सरदार कवि। इसमें १२५ कवियों के उदाहरण हैं।

१४—**रस-चन्द्रोदय**—ठाकुरप्रसाद त्रिपाठी। बुन्देलखण्ड के २४२ कवियों का संग्रह।

१५—**दिग्विजय भूखन**—गोकुलप्रसाद। १९२ कवियों का काव्य-संग्रह।

१६—**सुन्दरी तिलक**—हरिश्चन्द्र। ६९ कवियों का काव्य-संग्रह।

१७—**काव्य संग्रह**—महेशदत्त। कवियों का काव्य संग्रह।

१८—**कवित्त रत्नाकर**—मातादीन मिश्र। २० कवियों का काव्य संग्रह।

१९—**शिवसिंह 'सरोज'**—शिवसिंह 'सेंगर'। १००० कवियों का जीवन-वृत्तान्त, उनकी कविताओं के उदाहरणों सहित। इसी के आधार पर डा० ग्रियर्सन ने 'दि मार्डन वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तानी' लिखा है।

२०—**विचित्रोपदेश**—नकछेदी तिवारी। अनेक कवियों का काव्य संग्रह

२१—**कवि रत्नमाला**—देवीप्रसाद मुन्सिफ। राजपूताने के १०८ प्रसिद्ध कवियों की कविताओं का संग्रह तथा जीवन-चरित्र।

२२—**हफी जुल्लाखाँ**—हफीजुल्ला खाँ। अनेक कवियों की कविताओं का संग्रह।

२३—**सन्तबानी संग्रह तथा अन्य सन्तों की बानी**—'अधम'। जीवन चरित्र के सहित २४ सन्त कवियों का काव्य संग्रह।

२४—**सूक्ति सरोवर**—लाला भागवानदीन। ब्रजभाषा के अनेक कवियों की साहित्यिक विषयों पर सूक्तियों का संग्रह।

२५—**सेलेक्शन फ्राम हिन्दी लिटरेचर**—लाला सीताराम। साहित्य के अनेक विषयों पर आलोचनाएँ और उनका काव्य संग्रह।

अब **बाह्य साक्ष्य** की सामग्री पर भी विचार कर लेना चाहिए। बाह्य साक्ष्य के अन्तर्गत दो रूपों में सामग्री प्राप्त होती है। पहले रूप में साहित्यिक सामग्री है तथा दूसरे रूप में शिलालेख तथा अन्य प्राचीन स्थानों के निर्देश आदि हैं। बाह्य साक्ष्य के अन्तर्गत निम्नलिखित १० ग्रन्थों के नाम उल्लेखनीय हैं—

१—**राजस्थान**—टॉड । राजस्थान के चारणों का निर्देश है ।

२—**हिन्दुईज्म एण्ड ब्राह्मनिज्म**—मानियर विलियम । हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों के निरूपण में हिन्दी कवियों और आचार्यों के विचारों की आलोचना ।

३—**नागरी प्रचारिणी सभा की खोजों की रिपोर्ट**—श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु, हीरालाल । अनेक अज्ञात कवियों का परिचय एव उनकी रचनाओं के उदाहरण ।

४—**कबीर एण्ड दि कबीर पन्थ**—वेसकट । कबीर और कबीर के आदर्शों का स्पष्टीकरण ।

५—**हिस्ट्री आव दि सिख रिलीजन**—मैकालिक । सिक्ख धर्म का आविर्भाव, उसके अन्तर्गत हिन्दी कवियों का भी उल्लेख ।

६—**इण्डियन थीज्म**—मैकनिकाल । हिन्दू दार्शनिक सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण । इस सम्बन्ध में कवियों का उल्लेख है ।

७—**ए डिस्क्रिप्टिव केटलाग आव बार्डिक एण्ड हिस्ट्रीकल मैन्युस्क्रिप्ट**—डा० एल० पी० टेसीटेरी । राजस्थान में डिंगल काव्य के अन्तर्गत अनेक ग्रन्थों के विवरण और उदाहरण ।

८—**एन आउट लाइन आव दि रिलीजस लिटरेचर आव इण्डिया**—फर्कुहर । धार्मिक सिद्धान्तों के प्रकाश में कवियों पर आलोचना ।

९—**गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज**—ब्रिग्ज । गोरखनाथ और नाथ सम्प्रदाय का धार्मिक एवं दार्शनिक विवेचन ।

१०—**राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज**—मोतीलाल मैनारिया । राजस्थान के अनेक ज्ञात और अज्ञात कवियों और लेखकों का परिचय और उनकी रचना के उदाहरण ।

अन्य बाह्य साक्ष्यों में चन्देल राजा परिमाल के शिलालेख आदि हैं । ऐसे शिलालेख केवल प्राचीन इतिहास पर ही प्रकाश डालते हैं । ऐतिहासिक स्थानों की सामग्री में निम्नलिखित मुख्य हैं—

१—कबीर चौरा, काशी ।

२—असीघाट, काशी ।

३—कबीर की समाधि, बस्ती जिले में आमी नदी का तट।

४—जायसी की समाधि, अमेठी।

५—तुलसी की प्रस्तर मूर्ति, राजापुर।

६—तुलसीदास के स्थान का अवशेष सोरों।

७—नरसिंह जी का मन्दिर, सोरों।

८—केशवदास का स्थान, टीकमगढ़ और सागर।

उपर्युक्त सामग्री से तत्कालीन कवियों और लेखकों के जीवन-चरित्र पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अतः यह आलोचकों और साहित्यिकों के लिये महत्व की है। इस समस्त सामग्री के अतिरिक्त कवियों के विषय में जनश्रुतियों द्वारा भी ज्ञान होता है। जनश्रुतियाँ यद्यपि विशेष प्रामाणिक तो नहीं होतीं तथापि उनके द्वारा सत्य का कुछ संकेत तो मिलता ही है।

तथापि उपर्युक्त सम्पूर्ण अन्तर्साक्ष्य और बाह्य-साक्ष्य की सामग्रियाँ भी एक प्रामाणिक साहित्यिक इतिहास के लिए अपर्याप्त हैं। अभी अनेक ऐसे विषय हैं जो विवादग्रस्त हैं, जैसे—गोरखनाथ का समय, जटमल का गद्य, सूर की जन्म-तिथि, कबीर का चरित्र आदि। इन पर विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। वीरगाथा-काल के अधिकांश ग्रन्थ जो पहले प्रामाणिक माने जाते थे अब अप्रामाणिक माने जाने लगे हैं। इस अभाव के दो मुख्य कारण हैं—हमारे यहाँ प्राचीन काल में इतिहास-लेखन की प्रथा नहीं थी, इसी करण भक्तमाल आदि ग्रन्थ में तिथियों का निर्देश नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त हमारे कवि अपने विषय में इतने अनासक्त रहते थे कि अपने ग्रन्थों में उन्होंने अपने विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। वे अत्यन्त नम्र स्वभाव के थे। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि ने अपने प्रति कहीं भी स्पष्ट संकेत नहीं किया है। रीतिकालीन कवियों मे यह प्रवृत्ति अवश्य कुछ अधिक मात्रा में पाई जाती है। केशव, सेनापति, देव, दास आदि ने अपनी गर्वोक्तियों द्वारा अपने जीवन-चरित्र पर अवश्य कुछ प्रकाश डाला है परन्तु वह भी इतना पर्याप्त नहीं कि उसके आधार पर उनका प्रामाणिक जीवन-चरित्र लिखा जा सके। तुलसीदास ने भी

,कवितावली, और 'विनय-पत्रिका, में ग्लानि के वशीभूत होकर अपने जीवन की कुछ घटनाओं का वर्णन किया है ।

उपर्युक्त दोनों साक्ष्यों की सामग्री इतनी अपर्याप्त है कि उसके आधार पर एक प्रामाणिक साहित्यिक इतिहास की रचना नहीं की जा सकती । अन्तर्साक्ष्य विषयक सामग्री संदिग्ध है । क्योंकि उसका आधार प्रधान रूप से जनश्रुतियाँ और किम्वदन्तियाँ हैं जिनमें सत्य का आंशिक रूप तो मिल जाता है परन्तु पूर्ण सत्य के दर्शन नहीं होते । बाह्य-साक्ष्य की साहित्यिक सामग्री अधिक प्रामाणिक और खोजपूर्ण है । शिलालेखों और स्थानों से विशेष सहायता नहीं मिलती । आजकल विभिन्न विश्वविद्यालयों में ऐतिहासिक सामग्री विषयक महत्वपूर्ण शोध-कार्य हो रहे हैं । कई नवीन शोधों के कारण हमारी प्राचीन मान्यताएँ बदल रही हैं । राजस्थान में हस्तलिखित प्राचीन ग्रन्थों के रूप में ऐसी सामग्री बिखरी पड़ी है जिसका यदि पता लग जाय तो हमारे साहित्य का आदिकाल अधिक प्रामाणिक और सुश्रृङ्खलित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है ।

प्रश्न ३—आदिकाल की जो साहित्यिक सामग्री प्राप्त है उसका विवरण दीजिये तथा यह भी बताइये कि क्या इस काल का नाम 'वीरगाथाकाल' दिया जा सकता है ?

अथवा

हिन्दी साहित्य का आदिकाल का प्रारम्भ कब से माना जा सकता है—इस पर विचार करते हुए उसकी समाग्री और भाषा पर प्रकाश डालिये तथा उसके नामकरण के औचित्य पर भी प्रकाश डालिये ।

उत्तर—हिन्दी साहित्य की परम्परा कब से चली इस सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं । साधारणतया इतिहासकारों ने दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के साहित्य-रचना-काल को 'हिन्दी साहित्य का का आदिकाल' कहा है । दसवीं शताब्दी से पहले साहित्यिक प्रयत्नों का विकास परिनिष्ठित अपभ्रंश भाषा में हुआ था । यह परिनिष्ठित अपभ्रंश भाषा में रचित साहित्य पर्याप्त विकसित एवम् सूक्ष्म भावनाओं की अभिव्यंजना करने वाला है । इसी का विकसित रूप दसवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के वेशभाषा या लोकभाषा के साहित्य

में मिलता है। भाषा की दृष्टि से परिनिष्ठित अपभ्रंश का स्थान लोकभाषा या देशभाषा ने ग्रहण कर लिया था; किन्तु साहित्यिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से आदिकाल का साहित्य अपभ्रंश साहित्य का ही बढ़ाव है। भाषा-परिवर्तन की दृष्टि से ही इस काल का विशेष महत्व है। दसवीं शताब्दी से पूर्ववर्ती साहित्य में देशभाषा का स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट नहीं हुआ। जब अपभ्रंश भाषा परिनिष्ठित होकर साहित्यिक भाषा के पद पर आसीन हुई तब उससे उदभूत तथा व्याकरण के नियमों की कठोर शृङ्खला से मुक्त बोलचाल की एक भाषा प्रचलित हुई। धीरे धीरे इस लोकभाषा का व्याकरण-संस्कार हुआ, सभ्य समाज एवं साहित्य में इसका प्रयोग हुआ और क्रमशः इसने परिनिष्ठित अपभ्रंश का साहित्यिक भाषा-पद ले लिया। जब दसवीं शताब्दी से धीरे-धीरे परिनिष्ठित अपभ्रंश 'साहित्यिक मरण' को प्राप्त हुई तब उसके स्थान पर बोलचाल की भाषा विकसित होकर साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई। इस भाषा का नाम देशभाषा या लोकभाषा तभी से पड़ गया। अपभ्रंश के विरोध में यह लोकभाषा के नाम से प्रसिद्ध हुई। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदीजी ने अपने 'हिन्दी साहित्य' में लिखा है—"**दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक के समय में लोकभाषा में लिखित जो साहित्य उपलब्ध हुआ है, उसमें परिनिष्ठित अपभ्रंश से कुछ आगे बढ़ी हुई भाषा का रूप दिखाई देता है। दसवीं शताब्दी की भाषा के गद्य में तत्सम शब्दों का व्यवहार बढ़ने लगा था; परन्तु पद्य की भाषा में तद्भव शब्दों का ही एकच्छत्र राज्य था। चौदहवीं शताब्दी तक के साहित्य में इसी प्रवृति की प्रधानता मिलती है।**" विद्यापति की 'कीर्तिलता' में इस प्रवृति का पूर्ण परिचय मिलता है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल की भाषा के सम्बन्ध में आचार्य द्विवेदी जी ने आगे लिखा है कि— "**दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के उपलब्ध लोकभाषा साहित्य को अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न भाषा का साहित्य कहा जा सकता है। वस्तुतः वह हिन्दी की आधुनिक बोलियों में से किसी-किसी के पूर्वरूप के रूप में ही उपलब्ध होता है। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखक दसवीं शताब्दी से इस साहित्य का आरम्भ स्वीकार करते हैं। इसी समय से हिन्दी भाषा का आदिकाल माना जा सकता है।**"

यहाँ तक तो भाषा की दृष्टि से विचार हुआ। वस्तुतः हिन्दी भाषा का

प्रारम्भ दसवीं शताब्दी से हुआ और इसी आधार पर हिन्दी भाषा के साहित्य का प्रारम्भ भी दसवीं शताब्दी से माना जाता है किन्तु जहाँ तक साहित्यिक प्रवृत्तियों का सम्बन्ध है, दसवीं शताब्दी से चौदहवी शताब्दी तक का साहित्य दसवीं शताब्दी से पूर्ववर्ती परिनिष्ठित अपभ्रंश भाषा के साहित्य का ही बढ़ाव है । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है—'वस्तुतः छन्द, काव्य रूप, काव्यगत रूढ़ियों और वक्तव्य-वस्तु की दृष्टि से दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक का लोकभाषा का साहित्य परिनिष्ठित अपभ्रंश में प्राप्त साहित्य का ही बढ़ाव है, यद्यपि उसकी भाषा उक्त अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न है ।" दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के साहित्य की प्रवृत्तियों का विवेचन करते हुए विद्वान आलोचकों ने इस काल को विविध नामों से पुकारा है । यहाँ हम कुछ नामों पर विचार करेंगे । पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल का नामकरण इस काल की वीरगाथा की विशेष प्रवृत्तिमूलक रचनाओं को लक्ष्य करके वीरगाथाकाल किया है । शुक्लजी के नामकरण के सम्बन्ध में तीन बातें मुख्य हैं—पहली, इस काल में वीरगाथात्मक ग्रन्थों का प्राचुर्य; दूसरी, अन्य ग्रन्थ जैन धर्म से सम्बन्धित होने के कारण नोटिसमात्र हैं तथा साहित्य की परिधि में नहीं आते और तीसरी मुख्य बात उन साहित्य कोटि में आने वाली रचनाओं की है जिनमें भिन्न-भिन्न विषयों पर फुटकल दोहे हैं किन्तु जिनके अनुसार उस काल की कोई विशेष प्रवृत्ति निर्धारित नहीं की जा सकती । शुक्लजी ने आदिकाल की बारह रचनाओं का अपने इतिहास में उल्लेख किया है, इनमें साहित्यिक पुस्तकें चार हैं जिनकी भाषा अपभ्रंश है—

१—**विजयपाल रासो** (नल्लसिंहकृत सं० १३५५) २—**हम्मीर रासो** (शार्ङ्गधरकृत सं० १३५७) ३—**कीर्तिलता और** ४—**कीर्ति पताका** (विद्यापतिकृत सं० १४६०)

देशभाषा काव्य की आठ पुस्तकें प्रसिद्ध हैं—

५—**खुमान रासो** (दलपतिविजय कृत सं० ११८०-१२०५) ६—**बीसलदेव रासो** (नरपतिनाल्ह कृत सं० १२१२) ७—**पृथ्वीराज रासो** (चन्दबरदाई कृत सं० १२२५—१२४९) ८—**जयचन्द-प्रकाश** (भट्टकेदार कृत सं० १२२५) ९—**जयमयङ्क-जस-चन्द्रिका** (मधुकर कवि कृत सं० १२४०) १०—**परमाल**

रासो (आल्हा का मूलरूप जगनिक कवि कृत सं० १२३०) ११—**खुसरो की पहेलियाँ आदि** (अमीर खुसरो कृत सं० १३५०) १२—**विद्यापति की पदावली** (विद्यापति कृत सं० १४६०)

शुक्लजी ने इन्हीं पुस्तकों के आधार पर आदिकाल का लक्षण-निरूपण और नामकरण किया है। इनमें से अन्तिम दो तथा बीसलदेव रासो को छोड़कर शेष नौ ग्रंथ वीरगाथात्मक हैं इसीलिए उन्होंने इस काल का नामकरण वीरगाथाकाल किया है।

शुक्लजी ने मिश्रबन्धुओं द्वारा गिनाई गई 'आदिकाल' की दस पुस्तकों का उल्लेख करते हुए उन्हें जैन-धर्म से सम्बन्धित देखकर साहित्य की परिधि से बाहर कर दिया है। इन ग्रन्थों के नाम ये हैं—

१. भगवद्गीता, २. वृद्ध नवकार, ३. वर्त्तमाल, ४. संमतसार, ५. पत्तलि, ६. अनन्य योग, ७. जम्बूस्वामी रासो, ८. रैवतिगिरि रासो, ९. नेमिनाथ चउपई, १०. उवएस माला (उपदेशमाला)।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त कुछ अन्य उत्कृष्ट अपभ्रंश भाषा की पुस्तकें प्राप्त हुई हैं जिनमें उच्चकोटि का साहित्य उपलब्ध होता है। शुक्लजी की दृष्टि में ये पुस्तकें नहीं आई थीं। इनमें से महत्वपूर्ण पुस्तकों के नाम ये हैं—

सन्देशरासक (कवि अद्दहमाण या अब्दुलरहमान कृत ११ वीं श०) वज्रस्वामिचरित्र (अप्रकाशित) अन्तरङ्गसन्धि चौरंगसन्धि सुलसाख्यान चच्चरी भावनासार परमात्माप्रकाश आराधना मयणरेहासन्धि नमयासुन्दरि सन्धि भविसयत्त कहा (धनपाल नामक जैन कवि कृत) १० वीं शताब्दी पउमसिरीचरिउ तिसट्ठीलक्खण-महापुराण (पुप्फयन्त या पुष्पदन्त कृत) पउमचरिउ (स्वयम्भूकृत रामायण) हरिवंशपुराण (स्वयम्भू कृत महाभारत) जसहरचरिउ करकण्डुचरिउ (१२ वीं शताब्दी) सावयधम्म दोहा पाहुड़ दोहा

इसी प्रकार राहुल जी ने 'हिन्दी काव्य धारा' नाम से एक अपभ्रंश-काव्यों का संग्रह प्रकाशित कराया है जिसमें आठवीं से तेरहवीं शताब्दी तक के कवियों का परिचय एवं काव्य का संकलन है। उनके मतानुसार यह अपभ्रंश वस्तुतः पुरानी हिन्दी ही है। इसीलिए उन्होंने आठवीं शताब्दी के प्रसिद्ध

पउम चरिउ' (रामायण) काव्य के रचियता स्वयंभू को हिन्दी का प्रथम श्रेष्ठ कवि माना है। दूसरा स्थान उन्होंने पुष्पदन्त (राष्ट्रकूट के राजा कृष्णराज के आश्रित) को दिया है।

ऊपर जिन अपभ्रंश के काव्य ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है, उनमें कुछ रचनाएँ उच्चकोटि की हैं और साहित्य की कोटि में आ सकती हैं। संदेश-रासक, स्वयंभू की रामायण, भविसयत्त कहा, पउमसिरीचरिउ इत्यादि कुछ ऐसे ग्रन्थ हैं जो जैनाश्रय में रचित एवं रक्षित होकर भी ऐसी साहित्यिक विशेषताएँ लिये हुए हैं कि उन्हें शुक्ल जी के अनुसार धर्म से सम्बन्धित होने के कारण साहित्य की कोटि से बाहर नहीं निकाला जा सकता। इन ग्रन्थों में धार्मिक आधार भूमि होने के साथ ही वह सरसता भी है जो तुलसीदास के रामचरितमानस को धार्मिक-ग्रन्थों की परिधि से खींचकर उच्चकोटि के साहित्य की श्रेणी में ला बैठाती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में **"धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए।"** इस प्रकार अपभ्रंश के नवीन काव्य ग्रन्थों की खोज एवं उनका साहित्यिक मूल्यांकन होने के बाद आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का इस काल का नामकरण उपयुक्त नहीं बैठता। शुक्ल जी ने मिश्र बन्धुओं द्वारा उल्लिखित तथा अन्य अपभ्रंश ग्रन्थों को 'आदिकाल' के लक्षण निरूपण तथा नामकरण के लिये विवेच्य नहीं समझा था। आज नवीनतम खोजों के आधार पर तथा अन्य नवीन उत्कृष्ट अपभ्रंश के (पुरानी हिन्दी) काव्य ग्रन्थ प्राप्त होने से शुक्ल जी का दृष्टिकोण त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है। इतना ही नहीं, उन्होंने जिन १२ ग्रन्थों के आधार पर 'आदिकाल' के नामकरण का प्रयत्न किया है उनमें कुछ तो परवर्ती काल की रचनाएँ हैं, कुछ नोटिसमात्र हैं और कुछ वीरगाथाओं से रिक्त।

'खुमान रासो', 'बीसलदेव रासो', 'हम्मीर रासो', विजयपाल रासो' आदि ऐसी रचनाएँ हैं जिनकी प्रामाणिकता में आज संदेह किया जाने लगा है। श्री मोतीलाल मैनारिया ने ऐतिहासिक आधार एवं ठोस खोजपूर्ण तर्कों के आधार पर सिद्ध कर दिया है कि खुमान रासो के रचियता को रावल खुमाण (सं० ८७०) का समकालीन मानना गलत है। वास्तव में इनका रचना काल

सं० १७३० से लेकर १७६० के मध्य तक है। बीसलदेव रासो के रचियता नरपति नाल्ह को मोतीलाल मैनारिया ने गुजराती के नरपति (सं १५४५) नामक कवि से अभिन्न माना है। शार्ङ्गधर कवि के हम्मीर रासो की रचना का आधार 'प्राकृतपैंगलम्' में आए हुए कुछ पद्य हैं। यह ग्रन्थ प्राप्य नहीं है। इस ग्रन्थ का भी आदिकाल का होना असंदिग्ध नहीं है। शिवसिंह सरोज में उल्लिखित शार्ङ्गधर कृत 'हम्मीर रासो' और 'हम्मीर काव्य' को ध्यान में रखकर और 'प्राकृतपैंगलम्' में आए हुए पद्यों के आधार पर 'हम्मीर रासो' की शुक्लजी की कल्पना पुष्ट प्रमाणों पर आधारित नहीं है। विजयपाल रासो को मिश्रबन्धुओं ने सं० १३५५ का ग्रंथ माना है। भाषा और शैली पर विचार करने पर यह ग्रन्थ भी परवर्ती काल की रचना प्रतीत होता है।

इसी प्रकार भट्ट केदार कृत 'जयचंद-प्रकाश', (सं० १२२५) और मधुकर कवि कृत 'जयमयंक-जस-चंद्रिका' (सं० १२४०) ग्रंथ नोटिसमात्र हैं। केवल इनका उल्लेख सिंघायच दयालदास कृत 'राठौड़ां री ख्यात' में मिलता है जो बीकानेर के राजपुस्तक-भण्डार में सुरक्षित है। शिवसिंह सरोज में इन दोनों कवियों को शहाबुद्दीन गौरी के दरबार का कवि माना है। वस्तुतः जब तक ये दोनों पुस्तकें प्राप्त नहीं हो जातीं तब तक इनके विषय में कुछ भी निश्चित एवं अन्तिम रूप से नहीं कहा जा सकता।

'पृथ्वीराज रासो' की ऐतिहासिकता में बड़े-बड़े विद्वानों ने अनेक त्रुटियाँ निकाली हैं। इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता का विस्तृत विवेचन हम एक अलग अध्याय में करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस ग्रंथ में बहुत से अंश प्रक्षिप्त हैं तथा यह अपने मूल रूप से बहुत दूर हो गया है। इसलिये यह भी अर्द्ध प्रामाणिक एवं अर्द्ध ऐतिहासिक रचना है। परमाल रासो भी अपने मूल-रूप से बहुत दूर हट गया है। यह भी पृथ्वीराज रासो की भाँति अर्द्ध प्रामाणिक रचना है। जगनिक भाट का परमाल रासो या आल्हखण्ड आज इतना बदल गया है कि इसके मूल रूप को खोज निकालना बहुत कठिन हो गया है। हाँ, इन दोनों ग्रन्थों में वीरत्वपूर्ण स्वर सुरक्षित है।

अमीर खुसरो की पहेलियों में प्रारम्भिक हिन्दी का सुन्दर रूप मिलता है।

किन्तु खुसरो के नाम पर भी बहुत-सी पहेलियाँ जोड़ दी गई हैं। दूसरे खुसरो की पहेलियों से वीरगाथा-काव्य का कोई सम्बन्ध नहीं। अब विद्यापति की रचनाओं के सम्बन्ध में भी विचार कर लेना चाहिए। विद्यापति की पदावली का विषय राधा तथा अन्य गोपियों के साथ कृष्ण की प्रेम लीला है। कीर्तिलता में विद्यापति ने अपने प्रथम आश्रयदाता राजा कीर्तिसिंह की कीर्ति का गुण गाया है। इसमें यथाप्रसंग युद्ध के वर्णन आने से वीरत्व का स्वर भी पूर्ण रूप से मुखरित है। कीर्तिपताका मैथिली का ग्रन्थ है, इसकी एक खण्डित प्रति नेपाल दरबार पुस्तकालय में है। इसमें प्रेम कविताएँ हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान ज्ञान के अलोक एवं खोजों के आधार पर शुक्लजी द्वारा किया हुआ आदिकाल का नामकरण उपयुक्त नही ठहरता। उन्होंने जिन १२ ग्रन्थों को आदिकाल के लक्षण-निरूपण एवं नाम-करण के लिए चुना, एवं उन १२ ग्रन्थों में वीरगाथा की प्रमुखता दिखलाई, उनमें से अधिकांश ग्रन्थ सन्दिग्ध एवं अप्रामाणिक हैं। साथ ही जिन अपभ्रंश ग्रन्थों का बाद में पता चला है वे भी पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं और आज उन ग्रंथों को देखते हुए शुक्लजी का नामकरण उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। हाँ, इतना अवश्य सिद्ध है कि इस काल की सामन्ती रचनाओं में वीरत्व का बड़ा ओज-स्वी स्वर सुनाई पड़ता है जिसमें तत्कालीन युद्ध के वातावरण की ध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है।

महापण्डित राहुलजी ने हिन्दी-साहित्य के आदिकाल की साहित्य-सामग्री का विवेचन करके उसमें दो प्रवृत्तियों की प्रमुखता देखकर इस काल का नाम-करण 'सिद्ध-सामन्त युग' किया है। उन्होंने आठवी से तेरहवीं शताब्दी के काव्य में दो प्रमुख भाव पाए हैं—

१—सिद्धों की वाणी—इसके अन्तर्गत बौद्ध तथा नाथ सिद्धों की तथा जैन मुनियों की रुक्ष तथा उपदेशमूलक और हठयोग की महिमा एवं क्रिया का विस्तार से प्रचार करने वाली रहस्यमूलक रचनाएँ आती हैं। इसके अन्तर्गत धार्मिक एवं आध्यात्मिक प्रेरणा से अनुप्राणित कुछ उत्कृष्ट जैन-धर्मावलम्बी कवियों की रचनाएँ नहीं आतीं।

२—**सामंतों की स्तुति**—इसके अन्तर्गत चारण कवियों में चरित-काव्य (रासो ग्रन्थ) आते हैं जिनमें कवियों ने अपने आश्रयदाता राजा एवं सामन्तों की स्तुति के लिए युद्ध, विवाह इत्यादि के प्रसंगों का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया है। इन ग्रन्थों में वीरत्व का एक नवीन स्वर मुखरित हुआ है।

राहुलजी के नामकरण से लौकिक रस से अनुप्राणित महत्वपूर्ण रचनाओं का कुछ भी आभास नहीं मिलता। इस नामकरण को स्वीकार करने से हमारे साहित्य की प्रवृत्तियों का निरूपण भलीभाँति नहीं हो सकता। संदेशरासक, विद्यापति की पदावली, पउमचरिउ (रामायण) इत्यादि अनेक ग्रन्थों, जिनकी प्रवृत्तियों का विकास परिवर्ती साहित्य में हुआ था, का इस नामकरण से संकेत नहीं मिलता।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य के आदिकाल का लक्षण विवेचन करके इसका नाम 'बीज वपन काल' रखा। किन्तु यह नाम निश्चय ही उपयुक्त नहीं है। जैसा कि हम प्रारम्भ में ही कह चुके हैं कि साहित्यिक-प्रवृत्तियों की दृष्टि से यह काल आदिकाल नहीं है। यह तो पूर्ववर्ती परिनिष्ठित अपभ्रंश की साहित्यिक प्रवृत्तियों का विकास है। हाँ, हिन्दी भाषा की दृष्टि से यह काल आदिकाल है या हिन्दी भाषा में उच्च साहित्यिक प्रयत्नों का प्रारम्भ है।

कुछ आलोचकों को इस काल का नाम 'आदिकाल' ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। इनमें प्रसिद्ध विद्वान पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का नाम ही विशेष महत्व का है। द्विवेदीजी ने आदिकाल के काव्य रूपों के उद्भव एवं विकास की कहानी बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के सम्मुख मार्च सन् १९५२ में सुनाई थी जिसका पुस्तकाकार रूप 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' प्रकाशित हुआ है। इस कहानी के सुनने एवं पढ़ने के पश्चात् हिन्दी साहित्य के आदि-काल का अन्धकारमय प्रकोष्ठ आलोकमय हो गया है। इस नामकरण की एक भ्रामक धारणा की सम्भावना करके आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है "वस्तुतः 'हिन्दी का आदिकाल' शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम मनोभावापन्न, परम्पराविनिर्मुक्त, काव्य-रूढ़ियों से अछूते साहित्य का

काल है। यह ठीक नहीं है। यह काल बहुत अधिक परम्परा प्रेमी, रूढ़ि-ग्रस्त और सजग और सचेत कवियों का काल है।" और आगे द्विवेदीजी लिखते हैं—"यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहें तो वह नाम बुरा नहीं है। क्योंकि यद्यपि साहित्य की दृष्टि से यह काल बहुत कुछ अपभ्रंश काल का बढ़ाव ही है, पर भाषा की दृष्टि से यह परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा की सूचना लेकर आता है। इसमें भावी हिन्दी भाषा और उसके काव्य-रूप अङ्कुरित हुए हैं।"

सारांश यह कि हिन्दी साहित्य के आदिकाल का लक्षण निरूपण करने में निम्नलिखित पुस्तकें सहायक सिद्ध होती हैं—

१—पृथ्वीराज रासो २—परमाल रासो ३—विद्यापति की पदावली ४—कीर्तिलता ५—कीर्ति पताका ६—सन्देश रासक (अब्दुल रहमान कृत) ७—पउमचरिउ (स्वयंभू कृत रामायण) ८—भविसयत्त कहा (धनपाल कृत १० वीं शताब्दी) ९—परमात्म प्रकाश (जोइन्दु कृत) १०—बौद्ध गान और दोहा ११—स्वयंभू छन्द १२—प्राकृत पैंगलम्

अपने आलोच्य काल की इन प्रमुख पुस्तकों पर विचार करने पर हमें चार प्रकार की प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं—

१—ऐतिहासिक व्यक्तियों के आधार पर चरित काव्य लिखने की 'कहाणी' प्रथा जैसे रासक ग्रंथ, कीर्तिलता इत्यादि। इनमें कवि अपने नायक को भगवत्स्वरूप बताकर कहानी में थोड़ा धार्मिकता का पुट देने का प्रयत्न करते हैं। कीर्तिलता में विद्यापति ने इस प्रवृत्ति को इस प्रकार दर्शाया है—"पुरुष कहाणी हौं कहौं जसु पत्थावैं पुन्नु।"

२—लौकिकरस की रचनाएँ लिखने की प्रवृत्ति, जैसे सन्देश रासक, विद्यापति पदावली, कीर्तिपताका, स्वयंभू छन्द इत्यादि। सन्देशरासक की कहानी बहुत सरल एवं मर्मस्पर्शी है। यह एक विरहिणी का सन्देश है अतः विप्रलम्भ-शृङ्गार की सुन्दर व्यंजना करता है। विद्यापति की पदावली एक धार्मिक सम्प्रदाय का धार्मिक ग्रन्थ है; साथ ही उसके पदों में शृंगार रस की सुन्दर व्यंजना है। कीर्तिपताका में प्रेम कविताएँ हैं।

३—बौद्ध एवं नाथ सिद्धों की तथा जैन मुनियों की रुक्ष तथा उपदेश-मूलक और हठयोग का प्रचार करने वाली रचना लिखने की प्रवृत्ति। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार हिन्दी साहित्य के इतिहास में इन रचनाओं का महत्व दो कारणों से है, "एक तो परवर्ती धार्मिक काव्य रूपों के विकास में ये सहायक हैं, और उस धार्मिक पृष्ठभूमि को समझने में सहायता पहुँचाती हैं जिसके बिना हम परवर्ती काव्य-प्रयत्नों को समझ ही नहीं पायेंगे, और दूसरे इनके अध्ययन से उस युग की भाषा, शैली, छन्दोविधान आदि का अध्ययन सुकर होता है।"*

४—धार्मिक रचनाएँ जिनमें उच्चकोटि के साहित्य के दर्शन होते हैं। जैसे परमात्म प्रकाश, भविसयत्तकहा, पउमचरिउ, हरिवंश पुराण इत्यादि। 'भविसयत्तकहा' धार्मिक कथा है किन्तु इसमें उच्चकोटि के साहित्य के दर्शन होते हैं। इन धार्मिक प्रेरणा एवं आधार को लेकर रचे गए काव्य ग्रन्थों में उच्चकोटि के साहित्य के दर्शन होते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ऐसे धार्मिक ग्रंथों को साहित्य की कोटि में लेने के लिए बड़ा सुन्दर तर्क उपस्थित किया है— **'राजशेखर सूरि जैनमत के साधु थे, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार नन्ददास या हितहरिवंश वैष्णव धर्म के साधु थे। राजशेखर ने नेमिनाथ का चरित्र वर्णन करते हुए 'नेमिनाथ फागु' लिखा था और नन्ददास ने अपने उपास्य की लीलाओं का वर्णन करते हुए रास-पंचाध्यायी। दोनों में ही धर्म-भाव प्रधान है और दोनों में ही कवित्व है। जिस प्रकार 'राधा-सुधानिधि' में राधा की शोभा के वर्णन में कवित्व है और वह कवित्व उपास्य बुद्धि से चालित है उसी प्रकार 'राजलदेवी' की शोभा में कवित्व भी है और वह उपास्य बुद्धि से चालित भी है।'** ऽ

* हिन्दी साहित्य (उसका उद्भव और विकास) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० ८०

ऽ 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल', आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १२-१३।

इन चार प्रमुख प्रवृतियों को दर्शाने वाली रचनाओं के अतिरिक्त अन्य प्रकार की रचनाएँ भी मिलती हैं जैसे अमीर खुसरो की पहेलियाँ इत्यादि।

उपर्युक्त विवेचन से एक बात स्पष्ट हो गई है, वह यह कि केवल वीरगाथात्मक ग्रन्थों पर दृष्टिपात करके इस काल का नामकरण 'वीरगाथा काल' रखना आज के ज्ञान के आलोक में उपयुक्त नहीं जान पड़ता। दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के साहित्य में वीरत्व का एक नया स्वर अवश्य मुखरित हुआ है किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य साहित्यिक प्रवृत्तियाँ भी हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। लेकिन 'वीरगाथाकाल' नामकरण को अनुपयुक्त बतलाकर तथा वीरगाथात्मक ग्रन्थों की प्रामाणिकता जाँचने में कुछ आलोचकों ने वीरगाथाओं के महत्व को भुला दिया है। मैनारिया जी का यह मत देखिए—
"ये रासो ग्रन्थ जिनको वीरगाथाएँ नाम दिया गया है और जिनके आधार पर वीरगाथा काल की कल्पना की गई है, राजस्थान के किसी समय विशेष की साहित्यिक प्रवृत्ति को भी सूचित नहीं करते, केवल चारण, भाट आदि कुछ वर्ग के लोगों की जन्म-जात मनोवृत्ति को प्रकट करते हैं। प्रभुभक्ति का भाव इन जातियों के खून में है और ये ग्रन्थ उस भावना की अभिव्यक्ति करते हैं।" मैनारिया जी का यह कथन निराधार है। जिन चारण भाटों की जन्मजात मनोवृत्ति की सूचक उत्साहवर्धक एवं प्रशंसा परक उक्तियों की ओर मैनारियाजी ने संकेत किया है उनका चिन्ह भी नहीं मिलता। चारण भाटों की ऐसी निम्न कोटि की रचना तो उनके मुँह में ही रहतीं थी और उनके साथ ही समाप्त हो जाती थी। ऐतिहासिक चरित नायकों को उपजीव्य बनाकर रचे गए रासो ग्रन्थ उच्च कोटि के साहित्यिक ग्रन्थ हैं तथा उस युग की राजस्थान की विशेष साहित्यिक प्रवृत्ति के परिचायक हैं। यह चारण भाटों की प्रभुभक्ति एवं चाटुकारिता पूर्ण प्रशस्ति के परिचायक नहीं हैं वरन् उस युग की साहित्यिक मनोवृत्ति का परिचय देते हैं। मैनारिया जी ने इन रासक ग्रन्थों को उसी कोटि की रचना समझ लिया है जो युद्ध में राजाओं के साथ जाने वाले भाटों द्वारा सेना को प्रोत्साहित करने लिये रची जातीं थीं। इस बात को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि आदिकालीन कविता प्रमुख रूप से राज्या-

श्रय में पल्लवित हुई। राज्यश्रय में पल्लवित वीरगाथाएँ उस युग की दरबारी मनोवृत्ति की परिचायक हैं। हिन्दी के आदिकाल में अधिकाँश कवि ऐसे हुए हैं जिन्हें समाज को संगठित तथा सुव्यवस्थित कर उसे विदेशी आक्रमणों से रक्षा करने में समर्थ बनाने की उतनी चिन्ता नहीं थी जितनी अपने आश्रय-दाताओं की प्रशंसा द्वारा स्वार्थ-साधन की थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि वीरगाथा काल के कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की वीरता का गान तो उत्साह के साथ किया है किन्तु उनमें वांछनीय राष्ट्रीय भावना का एक प्रकार से अभाव ही रहा है।

प्रश्न ४— वीरगाथा-काल की परिस्थितियों एवं प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिए।

उत्तर—आदिकाल अथवा जिसे शुक्ल जी ने वीरगाथा-काल कहा उसका समय दसवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक माना जाता है। इस काल में लोक-भाषा में लिखित जो साहित्य उपलब्ध है उसमें परिनिष्ठित अप-भ्रंश से कुछ आगे बढ़ी हुई भाषा का रूप है। छन्द, काव्य रूप, काव्यगत रूढ़ियों और विषय की दृष्टि से भाषा में थोड़ी-सी भिन्नता लिए हुए यह अप-भ्रंश का ही विकसित रूप प्रतीत होता है। इस काल में दो प्रकार की रचनाएँ प्राप्त हुई हैं—जैन-भंडारों में सुरक्षित परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रंश की रचनाएँ तथा लोक-परम्परा में बहती हुई लोक भाषा की रचनाएँ। प्रथम श्रेणी में हेमचन्द्र का व्याकरण, मेरुतुंग का प्रबन्ध चिन्तामणि, राजशेखर का प्रबन्ध-कोष, अब्दुर्रहमान का 'सन्देश-रासक' तथा लक्ष्मीधर के 'प्राकृत पैंगलम्' में सग्रहीत लोक-भाषा के छन्द हैं। ये सभी प्रामाणिक रचनाएँ हैं। दूसरी श्रेणी में रासो ग्रन्थ हैं जिनका मूल रूप परिवर्तित और विकृत रूप में उपलब्ध है। ये संदिग्ध रचनाएँ हैं। मूल मध्य देश में चौदहवीं शताब्दी से पूर्व की एक भी प्रामाणिक रचना प्राप्त नहीं हुई है। राजपूताने के 'ढोलामारूरा दोहा' जैसे प्रसिद्ध काव्यों की प्रामाणिकता भी संदिग्ध है। मूल मध्य-प्रदेश में प्रामा-णिक रचनाओं के अभाव का क्या कारण है, इस पर हमें विचार करना है।

आदिकाल भारतवर्ष के इतिहास में वह काल था जब उत्तर भारत पर

राष्ट्रीयता का अभाव है। इस काल के कवियों की वाणी अपने आश्रयदाताओं के अतिशयोक्तिपूर्ण कीर्ति-कथन में कभी भी कुण्ठित नहीं हुई। देश की स्थिति और भविष्य की ओर उनका ध्यान नहीं था। इसलिए उनमें एक व्यापक राष्ट्रीयता का पूर्ण अभाव था। (२) दूसरी विशेषता युद्धों के सजीव एवं सुन्दर वर्णनों की है। इनका युद्ध-वर्णन अत्यन्त मार्मिक और सजीव है। कर्कश पदावली से युक्त वीर भावों से ओतप्रोत हिन्दी के आदि युग की यह कविता हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। उनकी वीर रचनावली में शस्त्रों की झनकार स्पष्ट सुनाई पड़ती है। हिन्दी के परवर्ती साहित्य में फिर ऐसी कविता के दर्शन नहीं हुए। (३) तीसरी विशेषता वीर रस के साथ शृङ्गार रस का सम्मिश्रण है। तत्कालीन युद्धों के मूल में, कवियों ने सदैव किसी रमणी की कल्पना कर, अपने आश्रयदाता के शौर्य का वर्णन किया है। अतः युद्ध-वर्णन के साथ-साथ उनका रूप वर्णन भी आवश्यक था। इसलिए शृंगार और वीर का मिश्रण हुआ। इसके अतिरिक्त शान्ति के समय में वीरों के विलास-प्रदर्शन में भी शृंगार का अत्यन्त सुन्दर वर्णन हुआ। (४) चौथी विशेषता ऐतिहासिकता की अपेक्षा कल्पना का प्राचुर्य है। अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा करने में इन कवियों ने इतिहास की अधिकांशतः अवहेलना ही की है। उन्होंने उनका शौर्य प्रदर्शित करने के लिए ऐसे ऐतिहासिक पुरुषों से उनका युद्ध कराया है जो उनके समकालीन नहीं थे। इससे अनेक ऐतिहासिक विवरणों का लोप हो गया और उनकी रचनाएँ संदिग्ध मानी जाने लगीं। इन सभी रचनाओं में 'डिंगल' भाषा का प्रयोग किया गया है। दूहा, पाघड़ी, कवित्त आदि डिंगल के छन्दों का विशेष प्रयोग हुआ है। रसों में वीर रस का प्राधान्य है। वीर के साथ शृंगार के भी दर्शन होते हैं। शृंगार के दोनों पक्ष—संयोग और वियोग—अपनाए गए हैं। युद्ध-वर्णन में अद्भुत, रौद्र और वीभत्स रसों का चित्रण है। नारियों के विलाप में करुण रस है। इस प्रकार हास्य और शान्त रसों को छोड़कर अन्य सभी रसों का समावेश इस काव्य में मिलता है।

इस काल की अधिकांश सामग्री संदिग्ध है। ग्रंथों की प्रतियाँ अप्राप्य हैं। इस काल के ग्रंथ या तो मौखिक रूप से मिलते हैं या केवल उनके निर्देष मात्र

ही प्राप्त हुए हैं। राजस्थान की 'ख्यातों' में उनके विवरण से ही हम परिचित हो सकते हैं। प्राप्त ग्रंथ भी मूल रूप से नहीं मिलते। उनमें प्रक्षिप्त अंशों का बाहुल्य हो गया। डा० द्विवेदी के अनुसार "**इन ग्रन्थों का महत्व इतना ही है कि इन्होंने हमारे साहित्य के आदि भाग का निर्माण और भविष्य की रचनाओं के लिये मार्ग निर्देश किया। यदि ये साहित्य सौन्दर्य की दृष्टि से नहीं तो भाषा विकास की दृष्टि से तो अवश्य ही महत्वपूर्ण हैं।**"

प्रश्न ५—'डिंगल' से क्या तात्पर्य है ? इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विद्वानों के विषयों का दिग्दर्शन कराते हुए अपना मत प्रकट कीजिए।

अथवा

'डिंगल' की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मतों की समीक्षा कीजिये।

उत्तर—पश्चिमी राजस्थानी या मारवाड़ी के साहित्यिक रूप को 'डिंगल' कहते हैं। इस शब्द का व्यवहार लगभग उन्नीसवीं शताब्दी से होने लगा है। कुछ लोग डिंगल को मारवाड़ी से भिन्न चारणों की एक अलग भाषा बतलाते हैं। यह विचार भ्रमपूर्ण है। वस्तुतः डिंगल और मारवाड़ी में उतना ही अन्तर है जितना साहित्यिक हिन्दी और बोल-चाल की हिन्दी में है।' प्रश्न यह है कि यह डिंगल नाम कैसे और क्यों पड़ा ? इस विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं।

पहला मत—डा० टैसीटरी का मत है कि—"**डिंगल शब्द का असली अर्थ अनियमित अथवा गँवारू था। ब्रज भाषा परिमार्जित थी और साहित्य-शास्त्र के नियमों का अनुसरण करती थी। पर डिंगल इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र थी। इसलिए इसका यह नाम पड़ा।**"

समीक्षा—डिंगल वस्तुतः शिक्षित चारण-भाटों की भाषा थी। दूसरे राज-दरबारों में डिंगल का ब्रजभाषा से अधिक सम्मान था, अतः शिष्ट समुदाय की भाषा गँवारू नहीं कही जा सकती। इसके अतिरिक्त उनका यह भी कथन कि, डिंगल अनियमित थी, ठीक नहीं है। यह व्याकरण के नियमों से मुक्त नहीं थी। छन्द, रस, अलङ्कार, ध्वनि आदि का इसमें उतना ही ध्यान रखा जाता

था जितना कि ब्रजभाषा में। हाँ, शब्दों की तोड़-मरोड़ अवश्य इसमें ब्रजभाषा से अधिक थी, किन्तु इसी आधार पर डिंगल को गँवारू मान लेना ठीक नहीं हैं। अतः डिंगल का अर्थ न तो गँवारू भाषा माना जा सकता है और न वह अनियमित थी जिससे उसका यह नाम पड़ा हो।

दूसरा मत—प्रारम्भ में इस भाषा का नाम 'डगल' था, परन्तु बाद में पिंगल से तुक मिलाने के लिए 'डिंगल' कर दिया गया। उन्होंने अपने मत के समर्थन में एक प्राचीन गीत का अंश भी उद्धृत किया है, जो उन्हें कविराजा मुरारिदान से प्राप्त हुआ था; वह अंश इस प्रकार है -

'दोसे जंगल डगल जेय जल बगव चाटे।
अनुहुँता गल रिये गलाहुँता गल काटे॥'

—हरप्रसाद शास्त्री

समीक्षा—शास्त्री जी ने इस अंश का अर्थ नहीं दिया। केवल इतना ही कहा है कि, 'इससे स्पष्ट है कि जंगल देश अर्थात् मरु देश की भाषा डिंगल कहलाती थी।' भाषा और रचना शैली की दृष्टि से भी यह पद सोलहवीं शताब्दी का प्रतीत होता है। किन्तु यदि इसे चौदहवीं शताब्दी का ही मान लें तो यह प्रश्न उठता है कि आरम्भ में डिंगल का नाम 'डगल' क्यों पड़ा। राजस्थानी में 'डगल' मिट्टी के ढेले या अनगढ़ पत्थर को कहते हैं। अतएव यदि डिंगल अपरिमार्जित भाषा थी तो किस परिमार्जित भाषा की तुलना में उसे यह संज्ञा दी गई। ब्रजभाषा का तो चौदहवीं शताब्दी तक ऐसा प्रौढ़ रूप था नहीं कि डिंगल उसके सामने ढेले के समान असंस्कृत दीख पड़े। इस सम्बन्ध में एक और भी बात विचारणीय है। वस्तुतः कोई भी चारण अपने द्वारा प्रयुक्त साहित्यिक-भाषा को, जो उसकी उदरपूर्ति का साधन हो, डगल नहीं कह सकता।

तीसरा मत—गजराज ओझा का मत है। उनके अनुसार डिंगल में 'ड' वर्ण बहुत प्रयुक्त होता है। यहाँ तक कि यह डिंगल की एक विशेषता कही जा सकती है। 'ड' वर्ण की इस प्रधानता को ध्यान में रखकर ही पिंगल के

साम्य पर इस भाषा का नाम डिंगल रक्खा गया है। जिस प्रकार पिंगल अलं-कार-प्रधान भाषा है, उसी प्रकार डिंगल भी डकार प्रधान भाषा है।

समीक्षा—यह मत भी निराधार है। डिंगल की दो-चार कविताओं में 'ड' वर्ण की प्रचुरता देखकर उसे इसकी प्रमुख विशेषता बतलाना तथा उसी आधार पर उसके नामकरण होने की क्लिष्ट कल्पना ठीक नहीं है। दूसरे वर्ण की प्रधानता के कारण किसी भाषा का कोई नाम रक्खा गया हो यह भी नहीं देखा गया। तीसरी बात यह है कि पिंगल के साम्य पर इसका डिंगल नाम नहीं पड़ा क्योंकि डिंगल भाषा पिंगल से अधिक पुरानी है।

चौथा मत—पुरुषोत्तम स्वामी इसके प्रतिपादक हैं। उनके अनुसार—**'डिंगल शब्द डिम + गल से बना है। डिम का अर्थ डमरू की ध्वनि और गल का गला होता है। डमरू की ध्वनि रणचंडी का आह्वान करती है तथा वह वीरों को उत्साहित करने वाली है। डमरू वीर रस के देवता शिव का बाजा है। गले से जो कविता निकलकर डिम-डिम की तरह वीरों के हृदय उत्साह से भर दे उसी को डिंगल कहते हैं। डिंगल भाषा में इस तरह की कविता की प्रधानता है। इसलिए वह डिंगल नाम से प्रसिद्ध हुई।**

समीक्षा— यह मत भी निराधार है। शिव न तो वीररस के देवता हैं और न डमरू की ध्वनि उत्साह-वर्धक मानी गई है। इन्द्र वीररस के देवता हैं और महादेव रौद्ररस के अधिष्ठाता।

पाँचवा मत— राजस्थान में प्रसिद्ध मत यह भी है कि 'डिंगल' शब्द डिंभ+गल से बना है। डिंभ का अर्थ बालक है और गल का गला, इस प्रकार डिंगल का अर्थ बालक की भाषा करते हैं। जैसे प्राकृत किसी समय बाल-भाषा कहलाती थी वैसे ही डिंगल भी डिंभगल' कहलाई।

अन्य मत—पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के अनुसार डिंगल शब्द पिंगल के साम्य पर बना है। किन्तु इस शब्द का कोई विशेष अर्थ नहीं है। पिंगल से भेद करने के लिए इस श्रुतिकटु भाषा को डिंगल नाम दिया गया है। बाबू श्यामसुन्दरदास का कहना है कि जो लोग ब्रजभाषा में कविता करते थे उनकी भाषा पिंगल कहलाती थी, और उससे भेद करने के लिये मारवाड़ी भाषा का

उसी की ध्वनि पर गढ़ा हुआ डिंगल नाम पड़ा। रामकर्ण आसोपा और ठाकुर किशोरीसिंह बारहठ ने डिंगल शब्द की उत्पत्ति क्रमशः 'डंगि' और 'डीङ' धातुओं से बतलाई है। इसी तरह कुछ अन्य विद्वानों ने भी इस विषय पर विचार प्रकट किए हैं, परन्तु उनके विचार उल्लेखनीय प्रतीत नहीं होते।

श्री मोतीलाल मेनारिया के मतानुसार प्रारम्भ में डिंगल चारण-भाटों की भाषा थी। इसके द्वारा ये लोग अपने आश्रयदाताओं के यश का वर्णन बहुत ही बढ़ा-चढ़ा कर किया करते थे। धन के लोभ से कायर को सूर, कुरूप को सुन्दर और मूर्ख को पण्डित कह देना इनके लिए साधारण बात थी। इनकी कविता अतिशयोक्तिपूर्ण हुआ करती थी। वे डींग हाँका करते थे। अतएव जो भाषा डींग हाँकने के कार्य में प्रयुक्त होती थी, उसका सम्भवतः श्रोताओं ने डींगल नाम रख दिया जिसका परिमार्जित अथवा विकृत रूप यह आधुनिक शब्द डिंगल है। राजस्थान में वृद्ध चारण-भाट आज भी इसे डींगल नाम से ही पुकारते हैं। इस तरह से बने हुए और भी शब्द इस भाषा में मिलते हैं, जैसे—"अकबरिये इक बार दागल की सारी दुनी।" दागल शब्द दाग+ल, (अर्थात् दाग से युक्त) से बना है। दूसरे इस शब्द में भाषा काठिन्य का भाव भी निहित है।

सारांश—इस प्रकार हम देखते हैं, कि डिंगल भाषा में साहित्य की रचना पिंगल में सहित्य रचना शुरू होने से पूर्व ही से हो रही है, अतएव पिंगल के आधार पर डिंगल नाम होने की अपेक्षा डिंगल के आधार पर पिंगल भाषा का नामकरण समीचीन प्रतीत होता है। इसका प्रयोग चारण-भाट अपने आश्रयदाताओं के यश का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करने में किया करते थे। वीररस-प्रधान काव्य का ही इसमें (डिंगल भाषा में) सृजन अधिक हुआ है। शब्दों के साधारण रूपों की अपेक्षा द्वित्व वर्ण वाले रूपों का ही प्रयोग कविगण करते थे, और तोड़-मरोड़ अधिक होने के कारण यह भाषा जन-साधारण को कम बोधगम्य होती गई। आरम्भ में साधारण बोलचाल की राजस्थानी और डिंगल में कोई भेद नहीं था, किन्तु कालान्तर में यह बोलचाल की राजस्थानी भाषा ही परिमार्जित होकर साहित्यिक हो गई। मेनारियाजी का यह

मत कि डिंगल शब्द डींगल का परिमार्जित रूप है और इसका नाम डींग से युक्त भाषा इसलिए पड़ा क्योंकि इसमें कविगण आश्रयदाताओं के यश का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करते थे, ठीक ही प्रतीत होता है। किन्तु एक बात अवश्य है कि मेनारिया ने डींग शब्द की व्युत्पत्ति नहीं दी तथा यह भी स्पष्ट नहीं किया कि इस शब्द (डींगल) का प्रयोग अपने आधुनिक अर्थ में राजस्थान में कब से होता है। किन्तु अन्य मतों से इनका मत युक्तिपूर्ण है और इसमें सार भी है। दूसरे इनका यह भी मत बहुत समीचीन है कि डींगल का डिंगल रूप अङ्गरेजों के कारण हो गया। डा० ग्रियर्सन आदि इस शब्द के उच्चारण से अपरिचित थे अतएव अपने ग्रन्थों मे दोनों हिज्ज: एक तरह से लिखीं; Pingala और Dingala। Pingala का उच्चारण हिन्दी वाले पिंगल करते थे अतएव यह समझकर कि डींगल का भी इसी तरह उच्चारण होगा, उन्होंने इसे डिंगल बोलना और लिखना शुरू कर दिया। बाद में यहाँ के पढ़े-लिखे लोग भी इस शब्द का इसी रूप में प्रयोग करने लगे, और अब यही रूप हमारे सम्मुख आता है। परन्तु राजस्थान के वृद्ध चारणों में, जो डिंगल साहित्य का आदर करते हैं, आज भी इसे डींगल कहते हैं।

राजस्थानी भाषा के अन्तर्गत कई बोलियाँ हैं। इनमें परस्पर कोई अन्तर नहीं है। भिन्न-भिन्न प्रदेशों में बोली जाने के कारण इनके भिन्न-भिन्न नाम पड़ गए हैं। मुख्य बोलियाँ पाँच हैं— मारवाड़ी, ढूढ़ाड़ी, मालवी, मेवाती और बागड़ी। डिंगल भाषा साहित्य की भाषा है जो मारवाड़ी भाषा अर्थात् बोलचाल की भाषा का परिमार्जित रूप है। यह एक तथ्य है कि हर समय दो भाषाएँ चलती हैं, एक साहित्यिक तथा दूसरी बोलचाल की या देश भाषा। साहित्यिक भाषा तो व्याकरण के नियमों से बद्ध होकर संकुचित परन्तु प्रौढ़ होती रहती है किन्तु बोलचाल की भाषा का स्वच्छन्दतापूर्वक विकास होता रहता है और कालान्तर में पुरानी साहित्यिक भाषा का ह्रास हो जाता है और जो बोलचाल की भाषा होती है वही परिमार्जित होकर उसका स्थान ग्रहण कर लेती है और उसके स्थान पर दूसरी बोलचाल की भाषा आ जाती है। इसी प्रकार यह क्रम चलता रहता है। इस प्रकार जब (राजस्थानी) बोलचाल

की भाषा परिमार्जित होकर साहित्यिक-भाषा हो गई तो उसका नाम पिंगल पड़ा और उसके स्थान पर दूसरी बोलचाल की भाषा आई।

प्रश्न ६—'पिंगल' का तात्पर्य समझाते हुए डिंगल और पिंगल में भेद स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—'पिंगल' शब्द का वास्तविक अर्थ—छन्द-शास्त्र है। परन्तु राजस्थान में इससे ब्रजभाषा का अर्थ भी लिया जाता है। इधर कुछ वर्षों से 'पिंगल' से ब्रजभाषा का अर्थ न लेकर 'राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा' से अर्थ लेते हैं और ब्रजभाषा को शुद्ध ब्रजभाषा कहते हैं। पिंगल में राजस्थानी की कुछ विशेषताएँ मिलती हैं। पिंगल एक मिश्रित भाषा है।

पिंगल भाषा के सम्बन्ध में जो प्रसिद्ध विद्वानों के भिन्न मत हैं, उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

(१) बाबू श्यामसुन्दरदास अपने 'हिन्दी-साहित्य' में लिखते हैं—

"उसी प्रकार हिन्दी के भी एक सामान्य साहित्यिक रूप की प्रतिष्ठा हो गई और साहित्य ग्रन्थों की प्रचुरता होने के कारण उसी की प्रधानता मान ली गई और उसमें व्याकरण आदि का निरूपण भी हो गया। हिन्दी के उस साहित्यिक रूप को उस काल में 'पिंगल' कहते थे और अन्य रूपों की संज्ञा 'डिंगल' थी। 'पिंगल' भाषा में अधिकतर वे विद्वान रचना करते थे जो अपने ग्रन्थों में संयत भाषा तथा व्याकरण-सम्मत प्रयोगों के निर्वाह में समर्थ होते थे। पिंगल की रचनाओं में धीरे-धीरे साहित्यिकता बढ़ने लगी और नियमों के बन्धन भी जटिल होने लगे।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि बाबू साहब के अनुसार पिंगल में निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :—

१—पिंगल आदिकाल की साहित्यिक भाषा थी।

२—वह एक संयत और व्याकरण-सम्मत भाषा थी।

३—उसमें जैसे-जैसे साहित्यिकता बढ़ने लगी वैसे वैसे उसमें नियमों के बंधन जटिल होने लगे।

समीक्षा—किन्तु डा० साहब के उपर्युक्त मत की समीक्षा करने पर वह विशेष सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होता है। एक तो यह कहना अत्यन्त कठिन है

कि पिंगल आदिकाल की प्रधान साहित्यिक भाषा थी भी अथवा नहीं। पिंगल में ऐसे अनेक प्रयोग मिलते हैं जिन्हें न तो संयत ही कहा जा सकता है, और न व्याकरण-सम्मत। इसके अतिरिक्त जहाँ तक नियमों की जटिलता का प्रश्न है वह डिंगल भाषा में भी मिलती है। कोई भी भाषा अधिक दिनों तक साहित्य में व्यवहृत होने पर नियमों की जटिलता से युक्त हो जाती है।

(२) पिंगल के विषय में आचार्य शुक्ल स्वरचित "हिन्दी साहित्य का इतिहास" में लिखते हैं :—

"इससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रादेशिक बोलियों के साथ-साथ ब्रज या मध्य देश का आश्रय लेकर एक सामान्य साहित्यिक भाषा भी स्वीकृत हो चुकी थी जो चारणों में 'पिंगल' भाषा के नाम से पुकारी जाती थी।"

समीक्षा—आचार्य शुक्ल का मत भी बहुत कुछ डा० श्यामसुन्दरदास के मत से मिलता-जुलता है। किन्तु शुक्लजी ने डा० साहब की भाँति पिंगल भाषा के वास्तविक स्वरूप के साथ व्याकरण-सम्मतता, नियमों की जटिलता की कोई पाबन्दी नहीं लगाई।

(३) डा० रामकुमार वर्मा ने अपने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में पिंगल और ब्रजभाषा में कोई भेद नहीं किया है। वे लिखते हैं:—

"शौरसेनी अपभ्रंश से उत्पन्न ब्रजबोली में साहित्य की रचना बारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुई। उस समय इसका नाम 'पिंगल' था। यह राजस्थानी साहित्य पिंगल के समान मध्यदेश की साहित्यिक रचना का नाम था।"

समीक्षा—इस प्रकार हम देखते हैं कि डा० वर्मा ने 'पिंगल' और ब्रज-भाषा को एक माना है। इसके अतिरिक्त आपने 'पिंगल' का मध्यदेश से सम्बन्ध बताकर राजस्थान से उसका कोई लगाव नहीं बताया है। किन्तु यह मत निराधार सिद्ध हो जाता है। वास्तव में पिंगल राजस्थान की साहित्यिक भाषा का ही नाम है। हाँ यह अवश्य है कि मध्यदेश की बोलियों का 'पिंगल' के ऊपर प्रभाव काफी पड़ा है। पिंगल का साहित्यिक रूप ब्रजभाषा से प्रभावित अवश्य था किन्तु उसे ब्रजभाषा कहना बड़ी भूल होगी।

(४) पिंगल भाषा के सम्बन्ध में मुन्शी देवीप्रसाद का कथन है :—

"मारवाड़ी भाषा में गल्ल का अर्थ बात या बोली है। 'डींगा' लम्बे और ऊंचे को और 'पाँगला' पंगे या लूले को कहते हैं। चारण अपनी मारवाड़ी कविता को बहुत ऊँचे स्वरों में पढ़ते हैं और ब्रजभाषा की कविता धीरे-धीरे मन्द स्वरों में पढ़ी जाती है। इसलिए डिंगल और पिंगल संज्ञा हो गई— जिसको दूसरे शब्दों में ऊँची और नीची बोली की कविता कह सकते हैं।"

समीक्षा—उपर्युक्त कथन की समीक्षा करने पर विदित हो जाता है कि 'पिंगल' राजस्थान की साहित्यिक भाषा थी, व्रजभाषा का राजस्थानी कवियों द्वारा उच्चरित रूप नहीं। किन्तु ऊँचे और नीचे के भेद से दो भाषाओं का भेद करना ठीक नहीं है। वास्तव में डिंगल और पिंगल के सम्बन्ध में विद्वानों में परस्पर पर्याप्त मतभेद है।

कुछ विद्वान पिंगल के सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार प्रकट करते हैं कि पिंगल वीरगाथा काल की साहित्यिक भाषा थी और उसका छन्द शास्त्र अलग होने के कारण उसका नाम पिंगल पड़ा। डिंगल का कोई स्वतन्त्र छन्द-शास्त्र नहीं है। संस्कृत में पिंगल छन्द को कहते हैं।

उपर्युक्त मतों पर दृष्टिपात करने से पिंगल के वास्तविक स्वरूप का कोई निश्चय नहीं हो पाता है। इतने परस्पर विरोधी मतों का अवलोकन करने से पिंगल भाषा के विषय में कोई सम्बद्ध विचारधारा नहीं मिलती।

डिंगल और पिंगल का भेद

डिंगल और पिंगल इन दोनों भाषाओं के सम्बन्ध में विद्वानों में परस्पर बहुत मतभेद है, कुछ विद्वान तो इन भाषाओं को पृथक्-पृथक् नहीं मानते हैं तथा कुछ इन दोनों को दो भिन्न भाषाओं के रूप में स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने पिंगल को ब्रजभाषा कहा है तथा डिंगल को राजस्थान की भाषा। कुछ लोगों का यह मत है कि 'पिंगल' एक सामान्य साहित्यिक भाषा थी तथा डिंगल में उतनी साहित्यिकता नहीं थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि डिंगल और पिंगल के सम्बन्ध में अनेक मत-मतान्तर प्रचलित हैं। इस विषय में विद्वानों में परस्पर पर्याप्त मतभेद है। अभी तक किसी विद्वान् ने पिंगल भाषा के विषय में निश्चित रूप से कोई प्रकाश नहीं डाला है। इसका

विशेष कारण यही है कि वीरगाथा काल के चारणों ने डिंगल और पिंगल दोनों ही भाषाओं में कविताएँ लिखी हैं। एक ही कवि ने दोनों भाषाओं का प्रयोग किया है, यही नहीं एक कवि की रचना में एक ही स्थल पर डिंगल और पिंगल दोनों भाषाएँ मिल जाती हैं। इस प्रकार भाषाशास्त्री के लिए दोनों भाषाओं का विश्लेषण कर पिंगल भाषा के वास्तविक स्वरूप का निर्णय करने में बहुत कठिनाइयाँ हैं। कहीं-कहीं तो दोनों भाषाओं में कोई भेद नहीं जान पड़ता और भाषा-वैज्ञानिक यह समझ बैठता है कि डिंगल और पिंगल दो स्वतन्त्र भाषाएँ नहीं हैं वरन् एक ही भाषा के अन्तगत हैं। अब हम डिंगल और पिंगल भाषा के भेद के सम्बन्ध में अनेकं प्रसिद्ध विद्वानों के मतों का उल्लेख करेंगे। आचार्य शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में इस सम्बन्ध में प्रकाश डाला है। शुक्लजी के अनुसार डिंगल और पिंगल का भेद निम्नलिखित है :—

१—पिंगल एक सामान्य साहित्यिक भाष। है जब कि डिंगल केवल राजस्थान की साहित्यिक भाषा है।

२—पिंगल का ढांचा ब्रज अथवा मध्यदेश की भाषा पर खड़ा हुआ है जब कि डिलग अपभ्रंश और राजस्थानी के मिश्रण से बनी है।

इसी विषय पर प्रकाश डालते हुये डा० श्यामसुन्दरदास ने स्वरचित 'हिन्दी-साहित्य' में लिखा है।

बाबू श्यामसुन्दरदास के मत का अवलोकन करके हम निम्न निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

(१) पिंगल एक सामान्य साहित्यिक भाषा थी जब कि डिंगल केवल राजपूताने और उसके आस-पास की ही भाषा थी।

(२) पिंगल भाषा सँयत तथा व्याकरण-सम्मत थी जब कि डिंगल भाषा में यह बात न थी।

(३) पिंगल भाषा में साहित्यिकता अधिक थी तथा वह नियमों से जकड़ी हुई थी जब कि डिंगल भाषा अपेक्षाकृत कम साहित्यिक थी और उसमें नियमों की जटिलता न थी।

आचार्य शुक्ल और डा० साहब दोनों के मतों को मिलाकर देखने से हमें

यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ तक पिंगल को एक सामान्य साहित्यिक भाषा मानने का प्रश्न है वहाँ तक दोनों आचार्य सहमत हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ पिंगल भाषा के सँयत और व्याकरण-सम्मत होने तथा डिंगल के नहीं होने का प्रश्न है, वहाँ शुक्लजी चुप हैं तथा डा० साहब इस मत के समर्थक हैं। किन्तु यह कहना कि डिंगल में व्याकरण सम्मतता और सँयम का अभाव है तथा पिंगल में ये बातें अधिक हैं, भ्रम में डाल देता है। बहुत से स्थानों पर डिंगल भाषा के ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि हमें उसकी व्याकरण-सम्मतता और संयम के आगे पिंगल भाषा की कविता तुच्छ लगती है, इसके अतिरिक्त ऐसे स्थानों का भी अभाव नहीं है जहाँ पिंगल भाषा अपना संयम और व्याकरण-सम्मतता खोए हुए है।

डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार पिंगल वास्तव में और कुछ नहीं है—ब्रजभाषा का पुराना रूप है—तथा डिंगल राजस्थान की भाषा का पुराना साहित्यिक रूप है। डा० वर्मा स्वरचित 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में पिंगल के सम्बन्ध में लिखते हैं—

"शौरसेनी अपभ्रंश से उत्पन्न ब्रजबोली में साहित्य की रचना विक्रम की बारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुई। उस समय इसका नाम 'पिंगल' था। यह राजस्थानी साहित्य डिंगल के समान मध्यदेश की साहित्यिक रचना का नाम था।"

इसी प्रकार डिंगल के विषय में भी डा० साहब लिखते हैं :—

"नागर अपभ्रंश से प्रभावित राजस्थान की बोली साहित्यिक रूप में डिंगल के नाम से प्रसिद्ध हुई।"

इस प्रकार डा० वर्मा के अनुसार :—

(१) पिंगल ब्रज प्रदेश की भाषा है तथा ब्रजभाषा का पूर्व रूप है और डिंगल राजस्थान की भाषा है तथा नागर अपभ्रंश से निकली है।

(२) साहित्यिकता पिंगल में भी है तथा डिंगल में भी पाई जाती है।

डा० वर्मा के मत की समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्यिकता का अभाव डिंगल और पिंगल दोनों भाषाओं में नहीं है। दोनों भाषायें साहित्यिकता की दृष्टि से पूर्ण हैं। बाबू श्यामसुन्दरदास की एक बात खटकने वाली

है। वह यह है कि पिंगल भाषा राजस्थान की ही भाषा थी, ब्रजप्रदेश की नहीं। डा० वर्मा ने उसे ब्रजप्रदेशक माना है। यह भी पूर्णतया ठीक नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि वह ब्रजप्रदेश की भाषा से बहुत कुछ प्रभावित थी, किन्तु उसे ब्रजभाषा कह देना सरासर भूल होगी।

मुंशी देवीप्रसाद का कहना है कि "मारवाड़ी भाषा में 'गल्ल' का अर्थ बात या बोली है। 'डींगा' लम्बे और ऊँचे को और 'पांगला' पंग या लूले को कहते हैं। चारण अपनी मारवाड़ी कविता को बहुत ऊँचे स्वरों में पढ़ते हैं और ब्रजभाषा की कविता धीरे-धीरे मन्द स्वरों में पढ़ी जाती है। इसलिए डिंगल और पिंगल संज्ञा हो गई—जिसको दूसरी भाषा में ऊँची बोली और नीची बोली की कविता कह सकते हैं।"

इस प्रकार मुंशी जी भी डा० रामकुमार वर्मा की भाँति पिंगल भाषा को ब्रजप्रदेश की और डिंगल को राजस्थान की मानते हैं। मुंशी जी ने जो ऊँचे स्वर और नीचे स्वर के अनुसार डिंगल और पिंगल में भेद किया है वह न्यायसङ्गत नहीं है। पिंगल की कविता भी ऊँचे स्वरों में पढ़ी जा सकती है तथा डिंगल की कविता नीचे स्वरों में, इस प्रकार ऊँचे और नीचे स्वरों के भेद से पिंगल और पिंगल का भेद करना कोई अर्थ नही रखता।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में **'डिंगल'** अपभ्रंश के योग से बनी हुई राजस्थानी भाषा का साहित्यिक नाम था। डिंगल के तौल पर राजस्थानी कवियों ने एक और शब्द गढ़ लिया था, जिसका नाम है **पिंगल'**। प्रादेशिक बोलियों के साथ मध्यदेशीय भाषा का मिश्रण होने से एक प्रकार की सर्वभारतीय भाषा बनी, हिन्दी में ब्रजभाषा या केवल 'भाषा' कहते थे। इसी श्रेणी की भाषा को राजस्थानी कवि पिंगल कहा करते थे।······पिंगल छन्द-शास्त्र के रचयिता का नाम था, और इसीलिए उस काल की परिष्कृत भाषा (ब्रजभाषा) का नाम **'पिंगल'** दे दिया गया है।······सम्भवतः पिंगल का अर्थ हुआ शौरसेनी प्राकृत या ब्रजभाषा। युद्धों के प्रसंग में पृथ्वीराज रासो की भाषा का डिंगल रूप धारण करती है, किन्तु विवाह और प्रेम के सुकुमार प्रसंगों में वह प्रधान रूप से पिंगल ही बनी रहती है।"

सारांश यह है कि डिंगल और पिंगल के भेद का विषय बड़ा विवादग्रस्त है।

प्रश्न ७—'रासो' शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मतोंका दिग्दर्शन कराइये।

उत्तर—'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मत प्रचलित हैं। फ्रांसीसी इतिहाकार गार्सां द तासी इसकी उत्पत्ति **'राजसूय'** से मानते हैं। किन्तु उनके पास इसकी पुष्टि के लिए कोई प्रमाण नहीं है। आचार्य रामचन्द्र-शुक्ल ने **'रासो' का मूल 'रसायण' शब्द से खोला है**—"कुछ लोग इस शब्द का सम्बन्ध 'रहस्य' से बतलाते हैं। पर बीसलदेव रासो में काव्य के अर्थ में 'रसायण' शब्द बार बार आया है। अत: हमारी समझ में इसी 'रसायण' शब्द से होते-होते 'रासो' हो गया है।" ५ नरपति नाल्ह के 'बीसलदेव रासो' में एक ऐसी पंक्ति आयी भी है जिससे शुक्ल जी के मत का समर्थन होता है—"**नाल्ह रसायण आरम्भई शारदा तुठी ब्रह्मकुमारि।**" नरोत्तम स्वामी ने **'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति रसिक शब्द से मानी है** जिसका अर्थ प्राचीन राजस्थानी भाषा के अनुसार 'कथा-काव्य' होता है। इसी शब्द के रूप क्रमश: 'रासउ' और 'रासो' मिलते हैं। ब्रजभाषा में **'रासो' शब्द झगड़े के अर्थ में प्रचलित है।** आचार्य चन्द्रवली पाँडेय **'रासो' शब्द की उत्पत्ति शुद्ध संस्कृत रूप 'रासक' से मानते हैं।** संस्कृत साहित्य में 'रासक' की गणना रूपक किया उपरूपक में हुई है। पाँडे जी ने इस मत के समर्थन में पृथ्वीराज रासो के प्रारम्भ करने के ढंग का हवाला दिया है। इस ग्रन्थ का प्रारम्भ नट और नटी की भाँति कवि चन्द और उसकी पत्नी को लेकर हुआ है। आगे चलकर भी ग्रन्थ में रूपक का रूप बना रहता है। पांडेय जी के अनुसार रासो की रचना प्रदर्शन के हेतु हुई थी और पृथ्वीराज के यश का गायन इस प्रकार करने की प्रथा थी।

आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने आदिकाल के काव्य रूपों की कहानी

५ हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३२।

कहते हुए 'रासो' शब्द पर भी विस्तार से विचार किया है। 'सट्टक' के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए उन्होंने 'रासो' या 'रासक' पर भी विचार किया है—"सो, सट्टक एक प्रकार का नाटक है या लौकिक तमाशा है नौटंकी की तरह। 'रासक' भी इसी प्रकार का एक रूपक भेद है और छन्द तो है ही। श्री हरिवल्लभ भायाणी ने सन्देशरासक की प्रस्तावना में रासक छन्द और काव्य रूप पर विचार किया है। उससे जान पड़ता है कि रासक एक छन्द का नाम है। संदेशरासक का यह मुख्य छन्द है। इस पुस्तक का एक तिहाई रासक छन्द में ही लिखा गया है। यह इक्कीस मात्राओं का छन्द है। अनुमान किया जाता है कि शुरू-शुरू में रासक जातीय ग्रंथ प्रधानतः इसी छन्द में लिखे जाते होंगे।" इससे आगे द्विवेदी जी कहते हैं—"विरहाङ्क ने अपने वृत्त-जातिसमुचय में दो प्रकार के रासक काव्यों का उल्लेख किया है। एक में विस्तारितक या द्विपदी और विदारी वृत्त होते थे और दूसरे अडिल्ल दोहा मत्ता रड्ड और रोला छन्द हुआ करते थे। सन्देशरासक दूसरी श्रेणी की रचना है। स्वयंभू अपने स्वयंभू छन्दस् में बताते हैं कि रासाबन्ध में घत्ता छड्डणिया (छप्पय ?) और पद्धड़िया के प्रयोग से जनमन-अभिराम हो जाता है।···इससे पता चलता है कि उन दिनों रासोबन्ध काव्य का एक मुख्य भेद था और उसमें विविध छन्दों का प्रयोग होता था। पृथ्वीराज रासो इसी श्रेणी का काव्य है। इसमें रासक छन्द का प्रयोग बहुत कम हुआ है।"

आचार्य द्विवेदी जी ने 'रासो' के सम्बन्ध में हिन्दी विद्वानों के अटकल की चर्चा करते हुए कहा है—"रासक वस्तुतः एक विशेष प्रकार का खेल या मनोरंजन है। रास में वही भाव है। सट्टक भी ऐसा ही शब्द है। लोक में इन मनोरंजक विनोदों को देखकर संस्कृत के नाट्यशास्त्रियों ने इन्हें रूपकों और उपरूपकों में स्थान दिया था। इन शब्दों का अर्थ विशेष प्रकार के विनोद और मनोरंजन थे। परवर्ती राजस्थानी चरितकाव्यों में चरितनायक के नाम के साथ 'रासो', 'विलास', 'रूपक' आदि शब्द देकर ग्रन्थ लिखना रूढ़ हो गया था। राजस्थानी में रणमल्ल रासो, राणारासो, संगत सिंह रासो, रतनरासो आदि रासो नामधारी ग्रंथ बहुत हैं।" आगे द्विवेदी जी ने रासो से 'वीरगाथा' समझने की प्रवृत्ति को अनुचित बतलाया है। वे कहते हैं—

"रासो या रासा नाम देखकर ही वीरगाथा समझ लेना अच्छे अध्ययन का सबूत नहीं है। शुक्लजी ने बीसलदेव रासो को स्पष्ट रूप से वीरगाथा के बाहर घोषित किया था और अब तो दर्जनों ऐसे रासो या रासानाम धारी ग्रन्थ मिले हैं जो वीरगाथा किसी प्रकार नहीं कहे जा सकते। रासो केवल चरितकाव्य का सूचक है।"

उपर्युक्त विवेचन से 'रासो' की स्थिति स्पष्ट हो गई है। रासो आदिकालीन साहित्य में एक महत्वपूर्ण काव्यरूप है। इससे जैन-अपभ्रंश साहित्य के चरितकाव्यों की परम्परा में रचे जाने वाले चरितकाव्यों की सूचना मिलती है। द्विवेदी जी के अनुसार इनका लोक में अधिक प्रचलन देखकर नाट्य-शास्त्रियों ने इनकी गणना रूपकों और उपरूपकों में की है किन्तु राजस्थानी साहित्य में यह चरितकाव्यों में चरितनायक के साथ रूढ़ हो गया। इसलिए आदिकाल में 'रासो' शब्द से रूपकों और उपरूपकों का कोई संकेत नहीं मिलता है। आदिकाल में निश्चय रूप 'रासो' राजस्थानी भाषा में रचित चारण कवियों के चरितकाव्यों का सूचक है। 'रासो' नामधारी चरितकाव्यों की सामान्य विशेषता ऐसी घटनाओं का वर्णन है जिनका ऐतिहासिक महत्व हो तथा जिनमें कथा चमत्कार एवं शौर्यपूर्ण महन्कार्यों की कल्पना से अतिरंजित होकर बड़ी भव्यता का प्रदर्शन करती हो।

प्रश्न ८—क्या आप 'पृथ्वीराजरासो' को प्रामाणिक मानते हैं? अपने मत को विभिन्न विद्वानों के मतों की समीक्षा करते हुए प्रतिपादन कीजिये।

अथवा

पृथ्वीराज रासो की ऐतिहासिकता का विवेचन कीजिये।

उत्तर—'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता का प्रश्न हिन्दी साहित्य का सबसे अधिक विवादग्रस्त विषय बना हुआ है। इसके विषय में विभिन्न उच्च-कोटि के विद्वानों के इतने मत प्राप्त हुए हैं कि उनसे हिन्दी साहित्य के इतिहास का विद्यार्थी यह नहीं निश्चय कर पाता कि किस मत को सत्य माना जाय। अतः विवेचन की सुविधा के लिए आलोचकों ने, मतों की समा-

नता के आधार पर उन्हें चार वर्गों में विभाजित कर लिया है जो निम्न-लिखित हैं—

प्रथम वर्ग—रासो के वर्तमान रूप को प्रामाणिक और पृथ्वीराज की समकालीन रचना मानता है। इस पक्ष में श्यामसुन्दरदास, मथुराप्रसाद दीक्षित, प० मोहनलाल विष्णुलाल पाँड्या, मिश्रबन्धु, कर्नल टाड आदि हैं। इनमें से कुछ रासो में प्रक्षिप्त अंशों का बहुत बड़ी संख्या में होना भी मानते हैं।

द्वितीय वर्ग—रासो को सर्वदा अप्रामाणिक रचना मानता है। यह वर्ग पृथ्वीराज के दरबार में चन्द कवि के अस्तित्व का तथा रासो को पृथ्वीराज की समकालीन रचना नहीं मानता। इस पक्ष के समर्थकों में कविराज श्यामल-दास, कविराजा मुरारिदीन, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, डाक्टर बूलर, मारि-सन, मुंशी देवीप्रसाद, श्री अमृतलाल शील तथा रामचन्द्र शुक्ल हैं।

तृतीय वर्ग—यह वर्ग मानता है कि पृथ्वीराज के दरबार में चन्द नामक कवि था जिसने रासो लिखा था किन्तु वह अपने मूल रूप में अप्राप्य है। आज उसका परिवर्तित एवं परिवर्द्धित विकृत रूप ही उपलब्ध है। इस पक्ष के सम-र्थकों में डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी, मुनि जिन विजय, अगरचन्द नाहटा, डाक्टर दशरथ शर्मा, कविराज मोहनसिंह, हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रमुख हैं।

चतुर्थ वर्ग—यह वर्ग मानता है कि चन्द पृथ्वीराज का समकालीन था परन्तु उसने प्रबन्ध रूप में रासो की रचना नहीं की थी। यह पक्ष जैन-ग्रन्थ माला में प्राप्त पदों को उसकी फुटकल रचना मानता है। नरोत्तम स्वामी का यही मत है।

रासो की अप्रामाणिकता का प्रश्न सबसे पहले कविराजा श्यामलदास ने उठाया था। इस पर पांड्याजी ने रासो का पक्ष ग्रहण किया। आगे चलकर ओझा जी ने पुष्ट प्रमाणों के आधार पर रासो को जाली ग्रन्थ घोषित किया. कुछ वर्ष हुए मुनि **जिन विजय जी को 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में अपभ्रंश भाषा में लिखित चन्द के चार छन्द मिले। इससे अनुमान लगाया गया कि रासो पूर्णतः जाली नहीं है।** अब तक 'रासो' का वृहद रूप ही प्राप्त था परन्तु अब उसकी दो लघुतम प्रतियाँ मिली हैं, जिनके आधार पर पं० मथुराप्रसाद

दीक्षित और दशरथ शर्मा ने रासो को प्रामाणिक ग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। आजकल अधिकांश विद्वानों का मत यही है कि 'रासो' लिखा अवश्य गया था परन्तु श्रव्य-काव्य होने से उसके वर्तमान रूप में बहुत परिवर्तन हो गया है।

'रासो' को अप्रामाणिक मानने के दो कारण बताये जाते हैं—घटना-वैषम्य और काल-वैषम्य। इसमें इतिहास सम्बन्धी अनेक भ्रान्तियाँ हैं, जिनका आधार अनेक शिलालेख, ताम्रपत्र और 'पृथ्वीराज विजय' नामक ग्रन्थ हैं। जब 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी बंगाल' पृथ्वीराज रासो का प्रकाशन कर रही थी तभी डा० बूलर को कश्मीर में जयानक कवि रचित 'पृथ्वीराज विजय' नामक ग्रंथ की एक खंडित प्रति मिली। उसका अध्ययन करने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि उसमें वर्णित अधिकांश घटनाएँ ऐतिहासिक दृष्टि से 'पृथ्वीराज रासो' की तुलना में अधिक शुद्ध हैं। अतः उन्होंने रासो का प्रकाशन रुकवा दिया। इसी ग्रंथ को लेकर विद्वानों में हलचल मच गई और रासो पर ऐतिहासिक दृष्टि से खोज प्रारम्भ हो गई। इससे पूर्व कर्नल टाड ने रासो को ऐतिहासिक दृष्टि से शुद्ध मानकर राजस्थान का इतिहास लिख डाला था। घटना-वैषम्य के प्रधान कारण यहीं हैं। रासो में दिए गए अधिकाँश नाम और घटनायें इतिहास-सम्मत प्रमाणित नहीं होतीं। रासो में परमार, चालुक्य और चौहान अग्निवंशी माने गये हैं। परन्तु प्राचीन ग्रन्थों एवं शिलालेखों के आधार पर वे सूर्यवंशी प्रमाणित होते हैं। साथ ही चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज की माता का नाम, माता का वंश, पुत्र का नाम, सामन्तों के नाम आदि भी ऐतिहासिक शिलालेखों एवं 'पृथ्वीराज विजय' से भिन्न और अशुद्ध हैं। पृथ्वीराज की माता अनंगपाल की दुहिता नहीं थी और न जयचद ही अनंगपाल का दौहित्र तथा राठौर वंशीय था। शिलालेखों में जयचन्द्र सर्वत्र गहवार क्षत्रिय बताया गया है। ओझा जी पृथ्वीराज और जयचन्द्र की शत्रुता एवं संयोगिता स्वयंवर को भी कल्पना मानते हैं। इतिहास के अनुसार न तो पृथ्वीराज की माता का मान कमला था और न उस समय अनङ्गपाल दिल्ली का राजा ही था। पृथ्वीराज की बहन पृथा का विवाह मेवाड़ के राजा समरसिंह के साथ भी नहीं हुआ था क्योंकि शिलालेखों से ये प्रमाण मिल चुके हैं कि समरसिंह पृथ्वीराज

के उपरान्त १०६ वर्ष तक जीवित रहे। गुजरात के राजा भीम चालुक्य का पृथ्वीराजा द्वारा वध होना भी गलत है क्योंकि राजा भीम के एक दान-पत्र से यह सिद्ध होता है कि वह पृथ्वीराज की मृत्यु के उपरान्त ५० वर्ष तक जीवित रहा था। इसी प्रकार पृथ्वीराज के विवाह आदि का वर्णन भी इतिहास विरुद्ध ठहरता है। साथ ही शहाबुद्दीन गोरी द्वारा समरसिंह का वध और पृथ्वीराज द्वारा सोमेश्वर का वध भी अनैतिहासिक हैं।

काल-वैषम्य— दूसरा कारण यह है कि रासो में दी गई सभी तिथियाँ अशुद्ध हैं। कर्नल टाड के अनुसार रासो में दिये गये संवतों और ऐतिहासिक साधनों द्वारा प्राप्त संवतों में १०० वर्ष का अन्तर है। रासो में पृथ्वीराज की मृत्यु संवत् ११५८ है जब कि इतिहास से यह संवत् १२४८ ठहरती है। जन्म संवत् रासो मे १११५ है, इतिहास से वह १२१८ ठहरता है। इसी प्रकार आबू पर भीम चालुक्य के आक्रमण, शहाबुद्दीन के साथ पुराडौर युद्ध आदि की तिथियाँ भी अशुद्ध हैं। इसके अतिरिक्त पृथ्वीराज का दिल्ली गोद जाना, मेवाती मुगल युद्ध, सयोगिता-स्वयंवर आदि घटनाओं का संवत् १४६० के आसपास रचित 'हम्मीर' महाकाव्य में कहीं उल्लेख नहीं मिलता। रासो के अनुसार शहाबुद्दीन गोरी संवत् ११३६ में पृथ्वीराज द्वारा मारा गया था परन्तु इतिहास के अनुसार संवत् १२६३ में गक्खरों द्वारा उसका वध किया गया था। अतः इस अनैतिहासिकता के कारण रासो को जाली ग्रन्थ ठहराया गया है क्योंकि यदि चन्द्र पृथ्वीराज का समकालीन होता तो उससे इतनी भयंकर भूलें होनी असम्भव थीं।

रासो का निर्माण किस काल में हुआ, इसके सम्बन्ध में ओझाजी का मत है कि १४६६ में रचित 'हम्मीर' महाकाव्य में रासो का आधार ग्रहण नहीं किया गया। अतः रासो की रचना उसके उपरान्त हुई होगी। मुगल-मेवाती युद्ध के वर्णन से भी वह १४५५ और १५८७ के बीच का ही ठहरता है। ओझा जी के अनुसार रासो की सबसे प्राचीन प्रति संवत् १६४२ की है। अतः रासो का निर्माण काल संवत् १६०० के लगभग है। बाबू रामनारायण दूगड़ को प्राप्त पुस्तक के अन्तिम छन्द से ज्ञात होता है कि चन्द्र के छन्द जगह-जगह

पर बिखरे हुए थे जिनका संकलन महाराणा अमरसिंह ने कराया था। इसकी पुष्टि महाराणा रामसिंह द्वारा निर्मित नौचोकी बाँध के संवत् १७३२ के शिलालेख से भी हो जाती है। परन्तु पण्डित हरप्रसाद शास्त्री को रासो की एक प्रति चन्द्र के वंशधर नेनूराम जी के पास मिली थी जिसका रचनाकाल सम्वत् १४५५ है। मोतीलाल मेनारिया का मत है कि अठारहवीं शताब्दी से पूर्व के किसी भी भाषा-ग्रन्थ में रासो का उल्लेख नहीं है। राजसिंह की 'राजप्रशस्ति' का लिखना सम्वत् १७१८ मे प्रारम्भ हुआ था। अतः उसके अनुसार इसी के लगभग रासो का निर्माण-काल माना जा सकता।

रासो को प्रामाणिक मानने वाले विद्वान रासो में प्रक्षिप्त अंशों का होना तो स्वीकार करते हैं किन्तु उसे पूर्णरूपेण जाली नहीं मानते। वे इस बात को मानते हैं कि चन्द पृथ्वीराज का समकालीन कवि था। ओझाजी चन्द का होना तो मान लेते हैं परन्तु उसे पृथ्वीराज का समकालीन नहीं मानते। मिश्र-बन्धुओं का मत है कि नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से प्रकाशित पट्टे, पर-वानों से इन भ्रांतियों का निराकरण हो जाता है। परन्तु ओझाजी इन्हें भी जाली मानते हैं। पाण्डया जी ने आनन्द सम्वत् की कल्पना कर बताया है कि रासो की सभी घटनाओं में ६० वर्ष जोड़ देने से सम्वत् ठीक हो जाते हैं परन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसा करने पर भी तिथियाँ इतिहास से मेल नहीं खातीं। श्यामसुन्दर का कथन है कि चन्द्र पृथ्वीराज का दरबारी कवि था। समयानुसार उसके लिखे हुए रासो की भाषा और वर्णित विषयों में बहुत परि-वर्तन हो गया है; परन्तु उनकी राय का भी कोई पुष्ट आधार नहीं है। पहले आचार्य शुक्ल श्यामसुन्दरदास से सहमत थे किन्तु बाद में उन्होंने लिखा कि—"**इस सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त और कुछ कहने को जगह नहीं कि यह** घटना-वैषम्य और काल-वैषम्य के अतिरिक्त दो कारण और हैं जिनसे यह अप्रामाणिक ठहरता है। प्रथम कारण रासो में अरबी-फारसी के बहुत से शब्दों का प्रयोग है जो चन्द के समय में किसी प्रकार व्यवहार में नहीं लाए जा सकते थे। इस प्रकार रासो की भाषा चन्द के समय की न होकर १६ वीं शताब्दी की ठहरती है। परन्तु रासो को प्रामाणिक मानने वाले विद्वानों का कथन है कि उस समय मुसलमानों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे। अतः

लाहौर का निवासी होने के कारण चन्द की भाषा में उन शब्दों का प्रयोग उचित और तर्क-संगत है । दूसरा कारण अनुस्वारान्त शब्दों की भरमार है । इसमें प्राकृत और अपभ्रंश की शब्द रूपावली का कोई विचार नहीं है और नए-पुराने ढंग की विभक्तियाँ बुरी तरह मिली हुई हैं । भाषा में कहीं सोलहवीं शताब्दी के और कहीं प्राचीन भाषा के दर्शन होते हैं । समर्थक विद्वान् इसे प्रक्षिप्तांश का कारण मानते हैं ।

अब तक रासो के चार रूपान्तर प्राप्त हुए हैं । प्रथम में लगभग एक लाख छन्द, द्वितीय में दस हजार छन्द, तृतीय में चार हजार छन्द और चतुर्थ में दो हजार छन्द हैं । सर्वप्रथम मुनि जिन विजय ने इस बात पर जोर दिया कि रासो का मूल रूप अल्पकाय था और उसकी भाषा अपभ्रंश थी; क्योंकि 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' में चार छन्द ऐसे मिलते हैं जो रासो की लघुतम प्रतियों में भी हैं ' जिस प्रति से ये छन्द उद्धृत किये गये हैं वह पन्द्रहवीं शताब्दी की है । हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि —"इन पद्यों के प्रकाशन के बाद से अब इस विषय में किसी को सन्देह नहीं रह गया है कि चन्द नामक कोई कवि पृथ्वीराज के दरबार में अवश्य थे और उन्होंने ग्रन्थ भी लिखा था । सौभाग्यवश वर्तमान रासो में भी ये छन्द विकृत रूप में प्राप्त हो गये हैं । इस पर से यह अनुमान किया जा सकता है कि वर्तमान रासो में चन्द के मूल छन्द अवश्य मिले हुए हैं ।"

डा० दशरथ शर्मा ने रासो के ऊपर बहुत परिश्रम किया । अपने लम्बे और कठोर परिश्रम के उपरान्त वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि रासो का मूल रूप अल्पकाय था अतः वह प्रामाणिक है । उन्होंने रासो को अप्रामाणिक बताने वाले विद्वानों के मतों का खण्डन करते हुए उसे प्रामाणिक प्रमाणित किया है । उनके तर्क निम्नलिखित हैं—

१—मूल रासो न तो जाली ग्रन्थ है और न उसकी रचना सं० १६०० के आस-पास हुई थी । इधर मिली हुई रासो की लघुतम प्रतियों के आधार पर घटना-वैषम्य एवं भाषा-सम्बन्धी शंका का समाधान हो जाता है । इन प्रतियों में इतिहास विषयक त्रुटिपूर्ण घटनाओं का कहीं भी उल्लेख नहीं है । २—राजपूत-कुलों के आबू के अग्निकुण्ड से उत्पत्ति का उल्लेख भी इस प्रति में

नहीं है। इसमें केवल इतना लिखा है कि ब्रह्मा के यज्ञ से वीर चौहान मानिकराय उत्पन्न हुआ। सुर्जन-चरित्र, हम्मीर काव्य और पुष्कर तीर्थ में भी यह कथा इसी प्रकार है। ३—ओझाजी के अनुसार रासो की अशुद्ध वंशावली का यह विस्तार बीकानेर की लघुतम प्रति में नहीं है। 'पृथ्वीराज विजय' में और इस प्रति की वंशावली में कुछ ही नामों में अन्तर है। ४—अनङ्गपाल और पृथ्वीराज के सम्बन्ध की अशुद्धि इस प्रति में भी है। शर्माजी इसका कोई कारण नहीं बता सके हैं। ५—संयोगिता स्वयम्वर का वर्णन सभी प्रतियों में विस्तारपूर्वक है : लघुत्तम प्रति में केवल इच्छिनी के विवाह का ही वर्णन है। ६—प्रथा का विवाह तथा शहाबुद्दीन-साँभरसिंह-युद्ध और भीम और सोमेश्वर तथा पृथ्वीराज और सोमेश्वर के यूद्ध का इस प्रति में कहीं उल्लेख नहीं है। इसमें पृथ्वीराज और पद्मावती के विवाह की कथा भी नहीं है। लघुतम प्रति में कैमास वध का वर्णन है। 'पृथ्वीराज विजय' के अनुसार वह पृथ्वीराज का प्रधान सेनापति था। यह मूल रासो की कथा थी।

निष्कर्ष—उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि अपने मूल में रासो की ऐतिहासिकता अक्षुण्ण है। परन्तु लघुतम प्रति भी दो घटनाओं की शुद्धता नहीं प्रमाणित कर सकी है। शर्माजी के पास पृथ्वीराज का अनङ्गपाल तोमर का नाती होने का और इच्छिनी से विवाह का प्रमाण नहीं है। इसके अतिरिक्त संयोगिता स्वयंवर और चौहानों की उत्पत्ति भी सन्देहास्पद है। अभी इस दिशा में विद्वानों की खोज चल ही रही है। इस सम्बन्ध में तरुण समीक्षक विश्वम्भर 'अरुण' का मत उद्धृत करना असंगत न होगा – "**अभी निष्कर्ष रूप से 'रासो' को ऐतिहासिक कहने की स्थिति उत्पन्न नहीं हुई है लेकिन 'रासो' को निष्कर्ष रूप से अप्रामाणिक और अनैतिहासिक कह सकने का दावा भी सत्य नहीं हो सकता। विद्वानों का झुकाव 'रासो' को प्रामाणिक एवं ऐतिहासिक मानने की ओर ही अब अधिक है। ऐसी स्थिति में 'रासो' को प्रामाणिक मान लेना ही श्रेयष्कर होगा। भविष्य में 'पृथ्वीराज रासो' निर्विवाद रूप से प्रामाणिक एवं ऐतिहासिक मान लिया जायेगा—ऐसी आशा करन सर्वथा उचित है।**"—(चन्दवरदायी कृत पृथ्वीराज रासो) इस प्रकार

कहा जा सकता है कि पृथ्वीराजरासो को हम ओझा आदि विद्वानों की भाँति जाली और अनैतिहासिक ग्रन्थ मानने का दावा नहीं कर सकते—अपितु हमें तो 'रासो' को ऐतिहासिक ग्रन्थ मानना उचित समझते हैं ; क्योंकि अधिकांश तर्क इसकी प्रामाणिकता की पुष्टि ही करते हैं।

प्रश्न ६—सिद्ध कीजिये कि भक्ति काल के आविर्भाव के मूल में सांस्कृतिक एवं धार्मिक भावना कार्य कर रही थी।

अथवा

भक्तिकाल सम्बन्धी काव्य के उदय होने में जिन-जिन परिस्थितियों ने योग दिया था उनका उल्लेख कीजिए। उस काल की प्रमुख धाराएँ कहाँ तक उनके अनुकूल थीं ?

उत्तर—तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के अनुरूप ही किसी काल के साहित्य का निर्माण होता है। भक्तिकाल के प्रारंभ में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो चुकी थीं जिनसे प्रभावित होकर काव्य का क्षेत्र बदल गया। मुस्लिम-प्रभुत्व के स्थापित हो जाने पर वीरगाथा-कालीन भावना लुप्त हो गई और विधर्मियों के अत्याचार बढ़ने लगे। कवियों का राज्याश्रय समाप्त हो गया। काव्य को राज-दरबार से हटकर विरक्त साधुओं की कुटिया में आश्रय प्राप्त हुआ। फलस्वरूप आश्रयदाताओं के गुण-गान के स्थान पर देश का समस्त वातावरण भगवान् के कीर्तिगान से ध्वनित हो उठा। भारत की आध्यात्मिक कविता की परम्परा, जो कुछ समय से दब गई थी, शान्त वातावरण पाकर पुनः उभर आई। भक्ति की इस प्रबल धारा से आश्चर्य-चकित हो ग्रियर्सन ने लिखा था कि—**"हम अपने को ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं जो उन सब आन्दोलनों से कहीं अधिक व्यापक और विशाल है, जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा है। इस युग में धर्म ज्ञान का नहीं बल्कि भावावेश का विषय हो गया था। बिजली की चमक के समान समस्त पुराने धार्मिक मतों के अन्धकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी। कोई हिन्दू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आई।"** ग्रियर्सन का अनुमान है यह ईसाइयत की देन थी। परन्तु यह कथन अब सर्वथा असत्य सिद्ध हो चुका है।

भक्तिकाल के उदय होने का दूसरा कारण यह बताया जाता है कि जब मुसलमान हिन्दुओं पर अत्याचार करने लगे तो हिन्दू निराश होकर उस दीन-रक्षक भगवान् से प्रार्थना करने लगे। यह तर्क भी निराधार है, क्योंकि जब उत्तर भारत में धार्मिक अत्याचार हो रहे थे उस समय निरापद एवं शान्त दक्षिण भारत में भक्ति की अबाध धारा प्रवाहित हो रही थी। वहाँ के भक्तों ने भगवान् की शरणागति की प्रार्थना की। उत्तर भारत में उसका प्रभाव अपेक्षाकृत अत्यन्त क्षीण था। यह भक्ति की धारा 'अचानक बिजली के समान' उत्पन्न नहीं हुई थी। इसके लिए सहस्रों वर्षों से मेघखण्ड एकत्र हो रहे थे। उत्तर भारत में भी पौराणिक शास्त्रों के आधार पर भक्ति-भावना फैली। यहाँ की जनता स्मृति-मतावलम्बी थी। नाथ पंथियों का शैव-धर्म भी पर्याप्त प्रभावशाली था। इस युग में अवतार को मानने वाली दृष्टि में भी परि-वर्तन हो गया था। पहले विश्वास के अनुसार भगवान् साधुओं के परित्राण और दुष्टों के दमन के लिए अवतार धारण करते हैं परन्तु भक्ति के युग तक आते-आते यह विश्वास किया जाने लगा कि—"भगवान् के अवतार का मुख्य हेतु भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए लीला का विस्तार करना ही है। भक्त भगवान् के चरित्र का अनुशीलन किसी अन्य उद्देश्य से नहीं- भक्ति पाने के उद्देश्य से करते हैं। भागवत का मुख्य प्रतिपाद्य विषय एकान्तिक भक्ति ही है। कैवल्य या अपुनर्भव को भी भक्त उसके सामने तुच्छ समझता है। मध्य-काल के भक्ति-मार्ग में इसी एकान्तिक भक्ति का स्वर प्रबल रहा है।" साथ ही अवतारों का महत्त्व बढ़ा। वस्तुतः सगुण भक्ति-मार्ग के मूल में अवतार की कल्पना प्रमुख रही है।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि भक्ति की यह भावना न तो ईसाइयत की देन थी और न राजनीतिक एवं धार्मिक अत्याचार का ही परि-णाम था। इसका विकास स्वाभाविक था। भक्ति के इस विकास में विभिन्न परिस्थितियों का प्रभाव कारण रहा है। सामाजिक स्थिति में हिन्दू-मुसलमानों का पारस्परिक संघर्ष और घृणा-भाव वृद्धि पर था। रक्षा की भावना ने हिन्दुओं के सामाजिक बन्धन दृढ़ कर दिये थे। इसलिए इस सामाजिक संकीर्णता के आवरण में धार्मिकता गौण हो गई। प्रतिभाशाली कवियों

को यह संकीर्णता अखरी। उन्होंने शुद्ध आध्यात्मिकता के बल पर, जिसमें शास्त्रों का कोई बन्धन स्वीकार नहीं था, इस संकीर्णता को दूर करना चाहा। सन्तों और सूफियों ने यही किया। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम-संस्कृति एवम् धार्मिक भावना में समन्वय करने का प्रयत्न किया। कबीर, जायसी का काव्य इसका प्रमाण है। इनके इस नवीन और सराहनीय प्रयास के कारण हिन्दू-मुस्लिम विचारधाराओं के समन्वय से निर्गुण उपासना की एक प्रणाली उत्पन्न हुई जिस पर अनेक प्राचीन एवं नवीन धार्मिक मत-मतान्तरों, वादों और विचारधाराओं का प्रभाव था।

धार्मिक स्थिति के क्षेत्र में दक्षिण की भक्ति भावना का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। दक्षिण के दार्शनिक विद्वान् वहाँ के शान्तिपूर्ण वातावरण में रह कर आध्यात्मिक तत्वों के चिन्तन में रत रहे। शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य', निम्बार्काचार्य प्रभृति दार्शनिकों ने परमात्मा के स्वरूप की भिन्न-भिन्न व्याख्या की। रामनुजाचार्य, इन्हीं भावनाओं को लेकर उत्तर भारत में प्रचारार्थ आये। उनके पश्चात चैतन्य महाप्रभु से बङ्गाल में तथा वल्लभाचार्य ने ब्रज में कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। सूर और तुलसी ने इन्हीं के सिद्धान्तों का आश्रय ग्रहण कर कृष्ण-भक्ति और राम-भक्ति की अक्षय धारा प्रवाहित की जो आज तक चली आ रही है। दक्षिण भारत की इसी धारा को उत्तर भारत में सगुण भक्ति को प्रतिष्ठित करने का गौरव प्राप्त है।

कबीर से पूर्व की उत्तर भारत की धार्मिक स्थिति के प्रभाव के परिणाम-स्वरूप निर्गुण भक्ति की उत्पत्ति हुई। आदिकाल में सिद्धों और नाथपंथियों का समाज पर बहुत प्रभाव था। दोनों ही सम्प्रदायों के मुखिया और अनु-यायी प्रायः निम्न जाति के अशास्त्रज्ञ प्राणी थे। नाथ सम्प्रदाय के कनफटे योगी घट के भीतर चक्रों, सहस्रदल कमल, इड़ा, पिंगला आदि की ओर संकेत करने वाली रहस्यपूर्ण बातों से लोगों पर प्रभाव जमाते थे। वे जाति-पाँति के विरोधी थे तथा वेदाध्ययन आदि को व्यर्थ समझते थे। इस पंथ में कुछ मुसल-मान भी थे। परन्तु इस पंथ की सबसे बड़ी निर्बलता यह थी कि भक्ति-भावना के लिए यह हृदयपक्ष शून्य था। इस रसहीनता के कारण सन्त और सूफी

पूर्ण रूप से, इसे ग्रहण करने में असमर्थ रहे। इस अभाव की पूर्ति महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त भक्त नामदेव ने की। इस प्रकार नाथों के हठयोग, वैष्णवों की सरसता, शङ्कर के मायावाद, सूफियों के प्रेमवाद आदि के मिश्रित प्रभाव से कबीर ने अपना 'निर्गुण पन्थ' चलाया। ये कभी हिन्दुओं के ब्रह्मवाद की ओर झुकते थे और कभी सूफियों के प्रेमवाद की ओर। साथ ही कबीर ने नाथ पंथियों से प्रभावित, प्रेमभाव और भक्तिरस से शून्य जनता का उद्धार किया। सूफी संतों पर भी उपर्युक्त प्रभाव पड़े। जायसी ने पद्मावत में उनका सुन्दर निरूपण किया। कबीर आदि ने सुधार के लिए साकार ब्रह्म का विरोध किया और निराकार के प्रति सूफियों की प्रेम-भावना को लेकर एक नए प्रकार की भक्ति का प्रचार किया।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्तिकाल की सम्पूर्ण धाराओं के उद्गम के मूल में एक अविच्छिन्न सांस्कृतिक एवं धार्मिक भावना कार्य कर रही थी। अनुकूल अवसर पाकर वह प्रस्फुटित एवं पल्लवित होकर फलवती बनी। इसके मूल में न तो कोई विदेशी प्रभाव कार्य कर रहा था और न राजनीतिक परिस्थिति ही। यद्यपि प्रभाव इन दोनों का भी था परन्तु गौण रूप में। दक्षिण की भक्तिधारा ने; जिसका आधार शास्त्रीय विवेचन था, उत्तरी भारत में सगुण की भक्ति का बीजारोपण किया। इसके दो प्रमुख भेद हुए—कृष्ण-भक्ति धारा और राम-भक्ति धारा। बौद्धमत के ध्वंसावशेषों-सिद्धों एवं नाथों के प्रभाव से एवं उनकी प्रतिक्रिया-स्वरूप निर्गुण धारा का प्रारम्भ हुआ जिसमें सूफियों की सरसता, मायावाद की नीरसता आदि अनेक बातों का अद्भुत मिश्रण हुआ। निर्गुण धारा को हम एक प्रकार से विभिन्न विचारधाराओं की अद्भुत खिचड़ी कह सकते हैं। इसके भी दो भेद हुए—ज्ञानमार्गी शाखा और प्रेममार्गी शाखा। इस प्रकार उपर्युक्त चारों प्रमुख धाराएँ उस काल की परिस्थितियों के पूर्ण-रूपेण अनुकूल थी।

प्रश्न—१० भक्तिकाल की सामान्य विशेषताओं का संक्षेप में निरूपण कीजिए।

अथवा

भक्तिकाल की समान भावनाओं का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर—भक्तिकाल की चारों शाखाओं—ज्ञानमार्गी, प्रेममार्गी तथा कृष्ण-भक्ति और राम-भक्ति—में कुछ ऐसी समान भावनाएँ थीं जिनके कारण इतिहास लेखकों ने उन्हें एक ही काल में प्रतिष्ठित किया है। ये विशेषताएँ सन्तों और भक्त कवियों में समान रूप से पाई जाती है।

१—नाम की महत्ता—जप, कीर्तन, भजन आदि के रूप में भगवान् का गुण 'कीर्तन' सन्तों, सूफियों और भक्तों में समान रूप से पाया जाता है। कृष्ण-भक्तों और सूफियों में कीर्तन का अधिक महत्त्व है। तुलसी भी राम के नाम को राम से भी बड़ा मानते हैं क्योंकि नाम में निर्गुण और सगुण दोनों का समन्वय हो जाता है। कबीर का कथन है—"निर्गुण की सेवा करो, सगुण का करो ध्यान।" जायसी भी उसी का स्मरण करते हैं—"सुमिरौं आदि एक करतारू, जेहि जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू।" तुलसी निर्गुण और सगुण से नाम को श्रेष्ठ मानते हैं—"मोरे मत बड़ नाम दुहूते। किये जेहि जग निज वस निज बूते।"

२—गुरु महिमा—कबीर गुरु को भगवान् से अधिक महत्व देते हैं—"गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागों पाँव।" उन्होंने दोनों में से गुरु को ही अधिक सम्मान दिया क्योंकि—"बलिहारी वा गुरु की जिन गोविन्द दिया दिखाय।" कबीर ने स्थान-स्थान पर गुरु की महिमा का बखान किया है। जायसी ने भी गुरु को बहुत महत्व दिया है—'गुरु सुआ जेहि पंथ दिखावा, बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।" इसी प्रकार तुलसी ने भी गुरु की वन्दना की है—"वन्दौ गुरु पद कंज, कृपासिंधु नर रूप हरि।" 'मानस' में आरम्भ में तुलसी ने गुरु की महिमा का खूब बखान किया है। सूर ने भी अपने गुरु को अत्यन्त श्रद्धा और भक्तिपूर्वक स्मरण किया है—"बल्लभ नख चन्द्र छटा बिन सब जग माँहि अँधेरो।" इस प्रकार दोनों धाराओं में गुरु की समान महिमा मानी गई है।

३—भक्ति भावना का प्राधान्य—चारों शाखाओं में भक्ति-भावना का प्राधान्य रहा है। निर्गुणोपासक कबीर ने भी भक्ति को प्रधानता दी है। उनका मत है कि बिना भक्ति के ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती और ज्ञान के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति होती है—"हरि भक्ति जाने बिना बूढ़ि मुआ

संसार।" प्रेममार्गी कवियों ने प्रेम को ईश्वर की भक्ति माना है यद्यपि उसका रूप शुद्ध भक्ति का नहीं है। सूफी भी चारों अवस्थाओं—शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत को भगवद् भक्ति का साधन मानता है। सूर और तुलसी की तो प्रत्येक पंक्ति में भक्ति-भावना आकंठ ओत-प्रोत है।

४—**अहङ्कार का त्याग**—अहङ्कार का त्याग भक्ति का प्रथम लक्षण है। हृदय में अहङ्कार रखते हुए भक्ति असम्भव है। कबीर ने कहा है—"जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु हैं हम नाहिं। प्रेमगली अति साँकरी ता में दो न समाहिं।" भक्त चाहे किसी भी वाद का मानने वाला क्यों न हो, अहङ्कार का त्याग उसके लिए पहली शर्त है। सूर और तुलसी अत्यन्त दीन होकर भगवान् से अपने उद्धार की प्रार्थना करते हैं। "प्रभु हौं सब पतितत को टीकौ" तथा "प्रभु अबकी राखि लेउ लाज हमारी।"

५—**आडम्बर का खण्डन**—सभी भक्त कवि सादा, सरल त्यागमय जीवन में विश्वास करते थे। सांसारिक वाह्याडम्बर उनके लिए सर्वथा त्याज्य थे। ये सभी भक्त थे अतः संसार के माया-मोह से भी मुक्त थे।

प्रश्न ११—हिन्दी के सन्त-कवियों पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए, जिसमें इस बात की छानबीन कीजिए कि उन्होंने देश का क्या उपकार किया ?

अथवा

हिन्दी संत काव्य की प्रवृत्तियों का विवेचन करते हुए उसका मूल्यांकन कीजिये।

उत्तर—ईसा की सातवीं-आठवीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म विकृत होकर वज्रयानों के तन्त्रवादी स्वरूप को ग्रहण कर चुका था। तारा, कृत्या आदि की पूजा से ये ताँत्रिक योगी अवतारवाद में भी विश्वास करने लगे थे। ब्राह्मणों के पाखंड और बाह्याडम्बर का भी प्रभाव उन पर पड़ने लगा था। समाज में अन्धविश्वासों का साम्राज्य था। इसी काल में ऐसे महात्मा हुए जिन्होंने अपनी व्यक्तिगत साधना के बल पर धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति की। उनके विचारों की अभिव्यंजना तत्कालीन कला और वाङ्मय द्वारा प्रकाश

में आई। इनमें हिन्दी के आदि कवि सरहपा, लूरिपा, कण्हपा, करेढ़िया आदि मुख्य थे, जिन्होंने परम्परागत काव्य भाषा — संस्कृत और पाली का त्याग कर जन-भाषा अपभ्रंश मिश्रित हिन्दी में अपनी वाणी मुखरित की।

ये सन्त 'वज्रयानी' संप्रदाय से प्रभावित थे। इन्होंने ही सर्वप्रथम संस्कृत की अवहेलना कर उस परवर्ती अपभ्रंश में काव्य रचना की जो आगे विकसित होकर हिन्दी का रूप धारण करने लगी। ये शिक्षित नहीं थे। इसीलिए इनकी रहस्यात्मक उक्तियाँ अत्यन्त अटपटी वाणी में प्रकट हुईं। इन उक्तियों का सांकेतिक अर्थ अध्यात्म से सम्बन्ध रखता था। इनके ग्रन्थों का साहित्यिक मूल्य यद्यपि गौण है परन्तु ऐतिहासिक मूल्य बहुत अधिक है। इन्हीं की परम्परा में आगे चलकर संत-साहित्य की रचना हुई। इसी परम्परा का विकसित रूप गोरखनाथ के नाथ सम्प्रदाय में, एवं व्यापक और पुष्ट रूप निर्गुण मार्गी ज्ञानाश्रयी शाखा में, जो संत-काव्य की पराकाष्ठा है, पाया जाता है।

समय व्यतीत होने पर इन प्राचीन संतों की अटपटी वाणी का उल्टा अर्थ लगाया जाने लगा, जिसके परिणाम-स्वरूप कौल, कापालिक आदि कई नई श्रेणियाँ उठ खड़ी हुईं। इनमें वासना और भोग-लिप्सा का आग्रह बढ़ा। सिद्धों की सिद्धताई समाप्त हो गई। इसी समय गोरखनाथ ने नाथ-पंथ की स्थापना कर इनका विरोध किया और मूर्ति-पूजा, तन्त्रवाद आदि का खंडन कर योग के आधार पर एकेश्वरवाद की स्थापना की। हठयोग इनका बल पाकर पल्लवित हुआ। इनकी रचनाओं में रहस्यवाद की प्रधानता थी। लेकिन यह रहस्यवाद अटपटा न होकर, भाव और भाषा की दृष्टि से उत्कृष्ट था। गोरखनाथ के अनुयायियों में जालंधर, कणेरीनाथ, चरपटनाथ आदि प्रमुख महात्मा हुए। इन्हीं की पृष्ठभूमि पर कबीर ने अपना साहित्य प्रतिष्ठित किया।

कबीर नाथ-पन्थ के हठयोग से प्रभावित अवश्य थे परन्तु उनका रहस्यवाद भिन्न था। सिद्ध-सन्तों का योग-मार्ग आचरण या जीवन की साधना का मार्ग है जो अलौकिक सत्ता की ओर ले जाता है। योग की चरमावस्था के उपरान्त ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान प्राप्त होने पर योग छूट जाता है। अतएव जहाँ योग समाप्त होता है वहाँ से ज्ञान प्रारम्भ होता है। दोनों में प्रधान अन्तर

यही है। दूसरे कबीर की साधना में प्रेम और राग का प्राधान्य है, जब कि योगियों में इसका अभाव है। हजारीप्रसाद जी के शब्दों में, "सहजयानी सिद्धों और नाथ-पंथियों का अक्खड़पन कबीर में पूरी मात्रा में है और उसके साथ उनका स्वाभाविक फक्कड़पन मिल गया है। इस परम्परागत अक्खड़पन और व्यक्तिगत फक्खड़पन ने मिलकर कबीरदास को अत्यधिक प्रभावशाली और आकर्षक बना दिया है।"

अपनी अव्यावहारिकता के कारण धीरे-धीरे नाथ-पन्थ का भी ह्रास हो गया। कबीर का काल प्रौढ़ सन्त-मत का काल है। कबीर के अतिरिक्त इस काल में दादू, सुन्दरदास, रैदास, मलूकदास, पल्टू साहब, गुरु नानक, भीखा-साहब, दयाबाई और सहजोबाई आदि प्रसिद्ध सन्त हुए हैं। ये सभी सुधारवादी थे। इन्होंने बाह्याडम्बरों का विरोध कर एकेश्वरवाद का प्रचार किया। इनके मत पर एक ओर भक्ति, योग, एकेश्वरवाद के रूप में सिद्धों और नाथों का प्रभाव है तो दूसरी ओर प्रेम की तीव्रता, भक्ति और माधुर्य उपासना के रूप में सूफियों का तथा वैष्णवों की अहिंसा और प्रेम का प्रभाव है। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की भावना से प्रेरित होकर इन्होंने मूर्ति-पूजा और बहुदेववाद का भी खंडन किया। पंडितों के संकीर्ण विधान वाले शास्त्र एवं धार्मिकों के नियम इन्हें अमान्य थे। काव्य-रचना करते समय इनका उद्देश्य सुन्दर काव्य का प्रणयन करना न होकर केवल अपने मत का प्रचार करना था। वे भावुक थे अतः अनजाने ही उनके काव्य में काव्य की सरसता आ जाती थी।

सभी सन्त अक्खड़ थे। उन्होंने निर्भय होकर धार्मिक एवं सामाजिक विषमताओं पर निर्मम प्रहार किए। वे शुद्ध मानवता के प्रेमी थे। प्रत्येक मानव उनकी दृष्टि में समान और धर्म का अधिकारी था। इसलिए इन्हें समाज के रूढ़िवादी कर्णधारों से संघर्ष लेना पड़ा जिससे इनकी वाणी में कर्कशता आ गई। हिन्दू-मुसलमान दोनों की तथा उनकी धार्मिक बुराइयों की इन्होंने जी खोलकर कटु आलोचना की। साथ ही सद्गुणों का उपदेश दिया। फल यह हुआ कि सम्पूर्ण सन्त-साहित्य धर्म और उपदेशों के कारण नीरस और रूखा हो गया। उसमें केवल एक श्रेष्ठ सन्देश का सौन्दर्य अवश्य है परन्तु साहि-

त्यिक दृष्टि से वह हिन्दी वाङ्मय का निकृष्टतम कोटि का साहित्य माना जाता है। उसमें सरसता कहीं-कहीं भूले-भटके ही मिलती है।

इन सन्त कवियों के विषय में एक बात अत्यन्त विचित्र है कि ये सभी अन्त्यज थे। दादू धुनियाँ, कबीर जुलाहा, मदन कसाई, रैदास चमार, नाभादास डोम और नामदेव दर्जी थे। उनके लिए शास्त्र, ज्ञान, मन्दिर आदि के द्वार बन्द थे। इसी से उन्हें अपने अन्तर में ही ब्रह्म का साक्षात्कार करना पड़ा; परन्तु इनकी साधना सच्ची थी। इसी के बल पर इन्होंने ईश्वरत्व की अनुभूति प्राप्त की। उस अनुभूति की व्यंजना ही सन्त-काव्य कहलाई। "उसमें वाणी का चमत्कार या प्रयत्न की बोझिलता नहीं, एक नैसर्गिक स्वच्छता और सरलता है। उनमें भावों की एक तीव्रता है जो स्वयं इतनी प्रभावोत्पादक है कि उसे किसी बाह्य सम्बल की आवश्यकता नहीं।"

सन्तों का ईश्वर निर्गुण और एक है। साम्प्रदायिकता की संकीर्णता उनमें नहीं है। गुरु की महत्ता है। रहस्यात्मक ढंग से योग के प्रति संकेत है। आत्मा का परमात्मा से मिलन बड़ी कठोर साधना और प्रतीक्षा के बाद होता है। उनका ईश्वर के प्रति प्रेम अडिग खरा और निर्मल है परन्तु 'सन्तों के प्रेम में गलदश्रु भावुकता नहीं जो जरा-सी आँच से पिघल जाय। भक्ति के अतिरेक में वे झुके नहीं। सिर से पैर तक मस्तमौला थे, बेपरवाह, दृढ़ और उग्र।' सन्तों में वैष्णवी-भक्ति का प्राधान्य है। इस कारण उनका निराकार कुछ-कुछ साकार-सा भासित होने लगता है। इसलिए उनकी ईश्वरीय भावना अस्पष्ट तथा कुछ-कुछ असंगत-सी है।

सन्त-काव्य में गीतों की प्रधानता है। प्रबन्ध-काव्य नहीं के बराबर है। काव्य की रचना उनका उद्देश्य भी नहीं था। वह सुधार एवं साधना का माध्यम-मात्र था, जिसके लिए प्रबन्ध पटुता की आवश्यकता भी नहीं थी। गीत ही सबसे सरल और बोधगम्य साधन थे। उनका काव्य शास्त्रीय-ज्ञान से शून्य था। कबीर से दोहा जैसे साधारण छन्द का भी शुद्ध निर्वाह नहीं हो सका। समस्त सन्त-काव्य में पद या गीत 'शब्द' या 'सबद' के नाम से मिलते हैं। 'झूलना' का भी यत्र-तत्र प्रयोग हुआ है।

भाषा इनकी सधुक्कड़ी अथवा खिचड़ी थी जिसमें ब्रजभाषा, अवधी, खड़ी बोली, पंजाबी, राजस्थानी आदि का अद्भुत मिश्रण है। ये सन्त भ्रमणशील थे अतः प्रत्येक स्थान की भाषा के शब्दों को अपनाते जाते थे। दूसरा कारण यह है कि इनकी वाणीं लिपिबद्ध नहीं हुई अतः जिस प्रान्त में उसका संग्रह हुआ वहाँ की भाषा का उस पर पूर्ण प्रभाव पड़ा। भाषा प्रायः शुष्क और नीरस है। कहीं-कहीं लालित्य भी मिल जाता है। प्रधानतया इस काव्य का रस 'शान्त' या भक्ति है। कभी-कभी प्रतीकात्मक उक्तियों के अन्तर्गत विरह-वर्णन के कारण विप्रलम्भ शृङ्गार के भी दर्शन होते हैं। हठयोग में वीभत्स रस है।

इस धारा का सबसे बड़ा दोष यह है कि इन सन्त कवियों ने स्वमत प्रचारार्थ खंडनात्मक प्रणाली का आश्रय ग्रहण किया। वे दलित थे इससे अपनी जाति की उपेक्षा को भूल न सके। इस विरोध की तीव्रता के कारण ही उनका प्रभाव दलित वर्ग तक सीमित रह गया। दूसरे, उनका निर्गुण दर्शन भी जन-साधारण की समझ में नहीं आया। साथ ही व्यक्तिगत साधना का प्राधान्य होने से उसमें लोकोपचार के आदर्शों का अभाव रहा। शिक्षित एवं उच्च वर्ग उनसे सदैव दूर रहा। इस वर्ग के प्रति तीव्र विरोध की भावना ने सन्त काव्य में सामाजिक अशिष्टता और उछृङ्खलता भर दी। कुछ आलोचक इन्हें इस्लामी परम्परा की उपज बताते हैं परन्तु पद्धति, भाव, विषय, अलङ्कार, भाषा, छन्द, पद आदि से ये पूर्णतः भारतीय ही सिद्ध होते हैं। इस मत की स्थायी देन है—(१) वैदिक और ब्राह्मण धर्म के प्रति अविश्वास तथा साहित्यिक क्रान्ति की भावना, (२) आधुनिक रहस्यवाद।

सन्त-मत ने प्रत्यक्ष रूप से तो भारतीय समाज का विशेष उपकार नहीं किया परन्तु उन्हें ही इस बात का श्रेय है कि हिन्दू समाज के दलित वर्ग में उन्होंने स्वाभिमान की भावना उत्पन्न की। इसके अतिरिक्त अछूतोद्धार की भावना, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य, धार्मिक आडम्बरों के प्रति उपेक्षा, भक्ति का लौकिक दृष्टि-कोण, स्त्रियों को भक्ति का अधिकार आदि बातें सन्तों की ही देन मानी जा सकती हैं; परन्तु आंशिक रूप से ही। सन्तों की परम्परा में आगे चलकर अङ्गद, अमरदास, अर्जुनदेव, आनन्दघन, अक्षर अनन्य तुरसी, दूलनदास,

चरणदास आदि हुए। १८ वीं शताब्दी तक आते-आते वे सम्प्रदाय-स्थापना में दत्तचित्त हो गए और उन्हीं से उनमें आडम्बर और सांसारिक माया-मोह का प्रभाव बढ़ने लगा। आज इस मत की दशा भी अन्य मन्तों से अच्छी नहीं है। सुधारवादी सन्त-सम्प्रदाय स्वयं रूढ़ियों में फँस गया है।

प्रश्न १२—'कबीर का समन्वयवाद' शीर्षक से एक निबन्ध लिखिये।

अथवा

"कबीर सारग्राही महात्मा थे। जहाँ कहीं भी उन्हें सत्य की उपलब्धि हुई उसे उन्होंने ग्रहण किया है—यही कारण है कि उनकी विचारधारा अनेक मतों, ग्रन्थों और सम्प्रदाओं से प्रभावित है।"—इस कथन पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

अथवा

'कबीर का काव्य तत्कालीन संस्कृतियों और विचार-धाराओं के समन्वय का पूरा प्रयत्न करता है, अतएव वह अपने समय का प्रतिनिधि काव्य कहा जा सकता है।" इस कथन की विवेचना करते हुए बताइये कि क्या कबीर को अपने समय का लोकनायक माना जा सकता है?

उत्तर—कबीर का प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ जब विभिन्न, धर्म, दर्शन एवं संस्कृतियाँ अपने को उच्च सिद्ध करने के लिए आपस में संघर्ष-रत थे। हिन्दू मुसलमानों में आपस में तीव्र संघर्ष चल ही रहा था। मुसलमान अपने को विजेता समझकर अपने धर्म को जबरन हिन्दुओं के गले मढ़ना चाहते थे, दूसरी ओर हिन्दू अपने धर्म को अनादि और श्रेष्ठ समझकर इस पर अभिमान प्रकट कर रहे थे। इधर हिन्दुओं में भी अनेक धार्मिक मतों का प्रादुर्भाव हो गया था, फलतः पारस्परिक संघर्ष तेजी पर था। ऐसे समय में इस प्रकार के नेता की आवश्यकता थी जो सामाजिक सुधारों को अपना लक्ष्य बनाये तथा विभिन्न धर्म तथा मतों के दोषों का खण्डन करके उनमें समन्वय स्थापित करे। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"युग का प्रतिनिधि या लोकनायक उसे माना जा सकता है जो विभिन्न विरोधों में समन्वय उपस्थित कर सके।" कबीर का व्यक्तित्व इसी प्रकार का था। उन्होंने विभिन्न

धर्मों एवं मतों के दोषों का तीव्र विरोध, किया, उनकी कुरीतियों पर निर्मम प्रहार किया ! फिर कुछ ऐसी बातों की प्रतिष्ठा की जो सभी को मान्य हो । उन्होंने इसीलिए हिन्दुओं तथा मुसलमानों के एक हीं परम ब्रह्म को माना, चाहे उसे कोई राम कहे चाहे उसे रहीम । हिन्दू मुसलमानों को एक करना बड़ी बात थी और कबीर ने यह कार्य किया । डा० रामकुमार वर्मा ने इस सम्बन्ध में ठीक लिखा है—"**हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की साम्प्रदायिक सीमा तोड़ कर उन्हें एक ही भावधारा में बहा ले जाने का अपूर्व बल कबीर के काव्य में था ।**"

कबीर का प्रादुर्भाव सक्रान्ति काल में हुआ था—और सक्रान्ति काल में सभी धार्मिक मतावलम्बी पारस्परिक होड़ाहोड़ी में रत थे । कबीर ने इस विषम परिस्थिति को देखा और परखा । उन्होंने हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों का संघर्ष देखा, एक निष्पक्ष एवं तटस्थ दर्शक की भाँति । तत्कालीन प्रचलित धार्मिक विचारधाराओं में इस्लामी एकेश्वरवाद, शंकर का अद्वैतवाद, सिद्धों का हठयोग, वैष्णवों की भक्ति, सूफियों के प्रेम की पीर जनता में अपना प्रभाव जमाये हुये थे । कबीर ने एक सार-ग्राहक दर्शक के रूप में इनका अध्ययन कर अपने मतलब की वस्तु प्रत्येक से ले ली । उन्होंने अपने को राजनीति से सर्वथा पृथक् रखा । उनका क्षेत्र तत्कालीन समाज और प्रचलित विचार-धारायें थीं । इस प्रकार वे इन सब विरोधी मार्गों से प्रशस्त चौरस्ते पर खड़े होकर सबकी अच्छाई बुराई को भली प्रकार देख सके । यह एक भगवद्-प्रदत्त सुयोग था । कबीर ने इसका खूब उपयोग किया । अस्तु ।

कबीर ने दोनों संस्कृतियों के मूलभूत सिद्धान्तों को शिरसा स्वीकार कर दोनों के बाह्याडम्बरों की जी खोलकर निन्दा की । उन्होंने केवल एक ईश्वर की उपासना पर जोर दिया । ईश्वर की दृष्टि में 'कीरी' और 'कुंजर' समान हैं; ब्राह्मण और चांडाल में कोई भेद नहीं । दोनों में एक ही ब्रह्म की ज्योति है । इस उपदेश द्वारा उन्होंने विभिन्न वादों के महारण्य में भटकती हुई जनता को, जनता की ही बोली में, मुक्ति का सच्चा मार्ग दिखाया । कठिन और दुरूह धार्मिक सिद्धान्तों को अत्यन्त सरल सीधी-सादी भाषा में जनता को हृदयंगम कराया । जीवन के प्रत्येक अंग की समीक्षा कर उन्होंने धर्म और

जीवन को इतना सरल और सुगम साधना-सम्पन्न बनाया कि वह प्राणों में निवास करने योग्य बन गया। उन्होंने अपनी अटपटी भाषा का निर्माण किया जिसने सरस्वती को 'संस्कृत के कूपजल' से मुक्त कर भाषा के बहते नीर में स्नान कराया। उन्होंने भाषा और मतों में संकीर्ण क्षेत्र से दूर रह कर ही अपने काव्य-की सृष्टि की थी। इसी कारण उनके काव्य में समन्वय एवं उदारता की प्रधानता मिलती है।

उन्होंने अपनी समन्वयात्मक एवं संग्रहात्मक बुद्धि द्वारा हिन्दू धर्म और इस्लाम की एकता प्रतिनिष्ठित कर बताया कि संसार का सृष्टा एक ईश्वर है। सबके हृदय में एक ही ब्रह्म है। इस प्रकार दोनों धर्मों के अच्छे सिद्धांतों का समन्वय कर उन्होंने एक नये पंथ का निर्माण किया। कबीर के धार्मिक मत एवं दार्शनिक विचारों की विवेचना पिछले प्रश्न में कर हमने देखा था, कि कबीर मूलतः वैष्णव थे, यद्यपि विभिन्न मतों का उन पर प्रभाव पड़ा था। संक्षेप में कहा जा सकता है कि कबीर ने हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों की सीमायें तोड़कर उन्हें एक करने का प्रयत्न किया। उपर्युक्त समन्वय के अतिरिक्त कबीर ने दोनों धर्मों के अन्धविश्वासों एवं वाह्याडम्बरों की, बिना किसी भेद-भाव के अत्यन्त कटु आलोचना की। धार्मिक स्थान, नाम साधन आदि का उनके निकट कोई मूल्य नहीं। उन्होंने एक अल्लाह, निरंजन, निर्लेप के प्रति लगन को ही अपना लक्ष्य घोषित किया। रूढ़ियों और कुसंस्कारों की विशाल वाहिनी से वे आजीवन जूझते रहे, क्षमा की तलवार उसका एकमात्र साधन था। अकारण सामाजिक ऊँच-नीच मर्यादा के समर्थकों को वे कभी क्षमा नहीं कर सके।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "कबीर" सिर से पैर तक मस्तमौला थे, स्वभाव से फक्कड़, आदत से अक्खड़, भक्त के सामने निरीह, भेषधारी के आगे प्रचंड, दिल के साफ, दिमाग के दुरुस्त, भीतर से कोमल, बाहर से कठोर, जन्म के अस्पृश्य, कर्म से वंदनीय थे। इस प्रकार हमने देखा कि कबीर ने अपने समय की परिस्थिति एवं संस्कृतियों का सुन्दर समन्वय उपस्थित किया। उन्होंने खण्डन-मण्डन दोनों का सहारा लिया। उनके काव्य में तत्कालीन समाज का एक सजीव चित्र उतर आया है। कोई भी सहृदय

पाठक कबीर के काव्य का अध्ययन कर तत्कालीन दशा का पूर्ण परिचय पा सकता है। अतः हम कह सकते हैं कि कबीर का काव्य अपने युग का प्रतिनिधि काव्य है। प्रभाव, भावना की गहरी अनुभूति एवं स्वाभाविकता की दृष्टि से युग का अन्य कोई भी कवि उनकी समानता नहीं कर सकता। केवल कलापक्ष को ही साहित्य की कसौटी मानने वाले आलोचक भले ही कबीर के साहित्य में कला के दर्शन न कर सकें परन्तु उपयोगिता एवं प्रचार की दृष्टि से कबीर अपने युग के अग्रगण्य हैं। इसी विशेषता को लक्ष्य कर आचार्य हजारीप्रसाद उन्हें **"साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के सृष्टा"** मानते हैं और एक स्थान पर वे लिखते हैं—**"युगावतार की शक्ति और विश्वास लेकर वे पैदा हुए थे और युग-प्रवर्तक की दृढ़ता उनमें वर्तमान थी। इसीलिए वे युग-प्रवर्तन कर सके थे।"**

प्रश्न १३—प्रेमगाथा काव्य की प्रमुख विशेषताएँ बताते हुए ज्ञानी संत परम्परा से उसकी तुलना कीजिये।

उत्तर—लोक-प्रचलित कथानकों को लेकर लोकभाषा में प्रेम-कथाओं के रूप में सुन्दर साहित्य का निर्माण हुआ था। कभी-कभी ये काव्य किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के नाम के साथ जुड़े होते थे और कभी इनके नायक पूर्णतः कल्पित भी हुआ करते थे। प्रेम कथाओं का यही साहित्य हिन्दी-साहित्य में 'प्रेमगाथा-काव्य' के नाम से प्रसिद्ध है। जायसी का 'पद्मावत' इस परम्परा का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है और जायसी सर्वश्रेष्ठ कवि। इसके अतिरिक्त कुतबन की 'मृगावती', मंझन की 'मधुमालती', उसमान की 'चित्रावली' तथा अन्य अनेक प्रेमकथाएँ लिखी गईं जिनमें 'स्वप्नावती', 'मुग्धावती', 'खण्डरावता' "प्रेमावती', 'इन्द्रा-वती', 'हंस जवाहर' आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें से कुछ प्राप्य हैं और कुछ का केवल उल्लेख मिलता है। इन कथाओं के कवि प्रायः सभी सूफी मुसलमान हैं।

सूफी कवियों ने तीन प्रकार की प्रेम कथाएँ लिखी हैं—(१) आध्यात्मिक सिद्धान्तों के प्राचार के लिए लिखे गए ग्रन्थ, इनमें मुख्य रूप से सूफी कवियों की लिखी प्रेम-कहानियाँ आती हैं। (२) विशुद्ध लौकिक प्रेम-काव्य,

(३) अर्द्ध ऐतिहासिक प्रेम गाथाएँ। इन प्रेमगाथाओं के कवियों में कुछ हिन्दू भी हुए हैं।

प्रेमगाथा काव्य की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

१—ये गाथाएँ भारतीय 'चरित्र-काव्य' की सर्गबद्ध शैली में न होकर फारसी की मसनवी शैली में हैं। इनमें मसनवी-पद्धति के अनुसार प्रारम्भ में ईश्वर वन्दना, मुहम्मद साहब की स्तुति, तत्कालीन बादशाह की स्तुति आदि है।

२—प्रेमगाथाओं के रचयिता प्रायः सभी मुसलमान सूफी कवि हैं। इन्हें हिन्दुओं के धार्मिक सिद्धान्तों, आचार-विचारों, रहन-सहन आदि का भी सामान्य ज्ञान था, जिसका प्रमाण इनके ग्रंथों द्वारा मिलता है।

३—इन कथाओं में अधिकाश हिन्दुओं की कथाएँ हैं। परम्परा से प्रचलित इन कहानियों को अपना आधार बनाकर इन कवियों ने इतिहास और कल्पना के अद्भुत मिश्रण से सुन्दर प्रेम-कथाओं का सृजन किया है। इनमें इतिहास की रक्षा वहीं तक है जहाँ तक वह उनके साध्य—अलौकिक—की अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार इन्होंने हिन्दुओं के घरों की प्रेम-कथाओं को लेकर अपने धार्मिक सिद्धान्तों को व्यक्त किया है।

४—इन कथाओं में लौकिक आख्यानों द्वारा अलौकिक की व्यंजना की गई है। इसका कारण इस्लाम का धार्मिक प्रतिबन्ध था। सूफी मत के अनुसार ईश्वर एक है और आत्मा उसी का अंश है। इन गाथाओं के अलौकिक प्रेम से, जीवात्मा का परमात्मा के प्रति तीव्र प्रेम के साधन के मार्ग की कठिनाइयों का चित्रण है। आत्मा-परमात्मा के इस मिलन में शैतान बाधक है। गुरु की सहायता से उसे दूर कर साधक ईश्वर की प्राप्ति करता है। इन कथाओं का प्रतिपाद्य विषय इसी प्रयत्न और प्राप्ति का वर्णन है।

५- इन कवियों का केन्द्र अवध प्रान्त था, इसलिए इनकी भाषा भी अवधी है। परन्तु इसमें तुलसीदास जी की अवधी की सी साहित्यिकता का अभाव है। कथानक को गति देने के लिए इन कवियों ने प्रायः उन सभी कथानक रूढ़ियों का व्यवहार किया है जो परम्परा से भारतीय कथाओं में व्यवहृत होती आई

हैं; जैसे — चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन, शुक-सारिका द्वारा नायिका का वर्णन सुनकर आसक्त होना, पशु-पक्षियों के वार्तालाप से भावी घटनाओं की सूचना, मन्दिर या चित्रशाला में मिलन आदि।

६—सभी सूफी कवियों ने प्रायः दोहा और चौपाई छन्दों में ही अपने काव्यों की रचना की है। हिन्दी साहित्य में जायसी एक प्रकार से इन छन्दों के प्रवर्त्तक माने जाते हैं।

७—इनके प्रेम के चित्रण मे विदेशीपन के साथ-साथ भारतीय शैली की भी छाप है। कुछ विद्वानों का कथन है कि इसी से जायसी ने प्रारम्भ में नायक को प्रियतमा (ईश्वर) की प्राप्ति में प्रयत्नशील दिखाकर बाद में नायिका (प्रियतमा) के प्रेमोत्कर्ष का भी चित्रण किया है। पद्मावत में उन्होंने पद्मावती के सतीत्व तथा उत्कृष्ट पति-प्रेम आदि के दृश्य दिखाकर भारतीय पद्धति का परिचय दिया है।

८—इन कवियों ने किसी विशेष सम्प्रदाय का खण्डन-मण्डन नहीं किया। इन्होंने सरल भाषा और साधारण शैली में केवल अपने साम्प्रदायिक भावों की अभिव्यक्ति को ही प्रधानता दी है। इसी से उनकी अभिव्यक्ति में आडम्बर का प्रदर्शन नहीं है।

९—इन्होंने अधिकतर प्रबन्धकाव्य लिखे हैं, जिनमें कथा की रमणीयता के साथ सुव्यवस्थित सम्बन्ध-निर्वाह भी है। परन्तु इन्होंने वस्तु-वर्णन या कथा-प्रवाह को वहीं तक महत्त्व दिया है जहाँ तक वह उनके उस अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना में सहायक हुआ है।

१०—इनकी भाव-व्यंजना अपना विशेष महत्व रखती है। इन्होंने मानव-हृदय के अत्यन्त सूक्ष्म भावों तक पैठ कर रति और शोक आदि के अत्यन्त भाव-पूर्ण वर्णन किए हैं।

११—ये सभी कवि प्रायः मुसलमान थे परन्तु इन पर भारतीय अद्वैतवाद का भी यथेष्ट प्रभाव पड़ा था। इन्होंने वैष्णव के अहिंसा की भावना ली है। उपनिषदों के 'प्रतिबिम्बवाद' की झलक जायसी में कई स्थानों पर मिलती है। सन्तों के समान इन्होंने हठयोग की क्रियाओं को भी उसी रूप में ग्रहण किया है।

१२—आचार्य शुक्ल के शब्दों में सूफियों के काव्य में रहस्यवाद की बड़ी सुन्दर और सरल व्याख्या हुई है। उसमें सन्तों के रहस्यवाद की सी नीरसता और शुष्कता नहीं है। सूफियों ने प्रेम द्वारा अव्यक्त सत्ता को प्रकट किया है।

संक्षेप में प्रेम-गाथा काव्य की सामान्य विशेषताएँ यही हैं। परन्तु समष्टि रूप से इस काव्य की, ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि से, सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसने हिन्दू-संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति का समन्वय कराने का, आंशिक रूप से, सफल प्रयास किया था। मसनवी शैली, विभिन्न प्रकार की स्तुतियाँ (अल्लाह, पैगम्बर, बादशाह के प्रति), सूफी सिद्धान्त, इस्लाम में पूर्ण आस्था, इस्लामी प्रेम-पद्धति का अनुसरण, विरह वर्णन में वीभत्सता, मसनवी शैली की वर्णनात्मक आदि बातें इस्लामी साहित्य एवं संस्कृति के अङ्ग हैं। दूसरी ओर हिन्दू-संस्कृति एवं हिन्दी-साहित्य के प्रभाव एवं प्रतीक रूप में उन्होंने अवधी भाषा, दोहा, चौपाई की पद्धति, अनेक धार्मिक और दार्शनिक विचार, हठयोग, रसायन, शृङ्गार के दोनों पक्ष, हिन्दू पात्र, हिन्दू दृष्टिकोण, षट्ऋतु वर्णन, बारहमासा, अलंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का चित्र-आधार एकमात्र हिन्दू संस्कृति और साहित्य से ओत-प्रोत है। इसीलिए कहा जाता है कि सन्त कवियों ने हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति को एक-दूसरे के अधिक निकट पहुँचाया।

ज्ञानाश्रयी संत काव्य से तुलना

संत-काव्य और प्रेम-गाथा काव्य में निम्नलिखित बातों में भिन्नता है—

सन्त काव्य	प्रेम-गाथा काव्य
१—माया का स्थान माना है।	१—माया का कोई स्थान नहीं है।
२—ईश्वर की प्रियतम के रूप में कल्पना।	२—प्रियतमा के रूप में कल्पना।
३—भारतीय वेदान्त से प्रभावित।	३—प्रेरणा स्रोत फारस।
४—भिन्न प्रतीत होती हुई ईश्वर की परोक्ष सत्ता की एकता का आभास।	४—भिन्न प्रतीत होती हुई मानव हृदय की एकता का आभास।

५—खंडनात्मक दृष्टिकोण।	५—खंडन-मंडन से सर्वथा दूर।
६—अहं का प्राधान्य।	६—सरलता और नम्रता की भावना।
७—मुक्तक काव्य, प्रबंध का अभाव।	७—प्रबंध-काव्य, मुक्तक का अभाव।
८—खिचड़ी भाषा।	८—व्यवस्थित भाषा—अवधी।
९—ब्रह्म का दर्शन हृदय में प्रकृति उपेक्षित।	९—व्यक्त प्रकृति में उसी ब्रह्म के रूप का दर्शन।
१०—ज्ञान, ईश्वर प्राप्ति का प्रधान साधन—प्रेम सहायक मात्र।	१०—प्रेम-प्रधान—ज्ञान सहायक-मात्र।

उपर्युक्त भिन्नताओं के होते हुए भी निम्नलिखित बातों में साम्य भी दिखाई देता है—

(१) निर्गुण ईश्वर, (२) गुरु की महत्ता, (३) प्रेम-माधुरी, (४) हठ-योग, (५) विरह, (६) माया और शैतान का एक ही रूप।

प्रश्न १४—सूफी काव्य परम्परा में जायसी का स्थान निर्धारित करते हुए उनका साहित्यिक महत्व बताइए।

उत्तर—जायसी ने अपने से पूर्व की चार प्रेम-कहानियों—सपनावती, मुग्धावती, मृगावती, मधुमालती—का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त 'खंडरावती' और 'प्रेमावती' नामक दो और प्रेमाख्यानक काव्यों का पता चला है जो जायसी से पूर्व लिखे गये थे। मुल्ला दाऊद सूफी परम्परा के सब से प्राचीन कवि हैं। इन्होंने 'नूरक और चन्दा' नामक प्रेम-कथा लिखी है। इसके उपरान्त 'प्रेमपन जीव निरंजन' नामक ग्रन्थ की रचना रंजन ने की। सन् १५९१ में शेख कुतबन ने अपनी भाषा और दोहा-चौपाई छन्दों में मृगावती लिखी। यह सूफी साहित्य का प्रथम प्राप्य ग्रन्थ है। कहा जाता है कि इसी ग्रन्थ के द्वारा हिन्दी साहित्य में सूफी मत का प्रवेश हुआ। कुतबन के बाद मंझन की मधुमालती की गणना की जाती है। इसमें विस्तृत वर्णन एवं विषद् कल्पना की विशेषता है। इसके उपरान्त सूफी फकीर शेख मोहिदी के शिष्य मलिक मुहम्मद जायसी इस क्षेत्र में अपने 'पद्मावत' को लेकर आए। जायसी से पूर्व की सभी कथाएँ कल्पित थीं। जायसी ने अपनी कथा में इतिहास

और कल्पना का सुन्दर समन्वय किया। प्रबन्धात्मकता, कवित्व गुण और भाषा की दृष्टि से जायसी अन्य सूफी कवियों से श्रेष्ठ हैं।

जायसी के पश्चात् जमालउद्दीन का 'जमाल पच्चीसी' नामक एक हस्त-लिखित ग्रन्थ प्राप्त हुआ है। जहाँगीर के समय में उस्मान ने 'चित्रावली' लिखी। इसकी रचना 'पद्मावत' के ढङ्ग की है। 'चित्रावली' के योगी अँग्रेजों को भी देख आए थे। हिन्दी साहित्य में सम्भवतः अँग्रेजों का स्पष्ट उल्लेख सर्वप्रथम इसी पुस्तक में मिलता है। 'चित्रावली' के उपरान्त शेख नवी ने 'ज्ञानदीप' नामक एक प्रेमाख्यान लिखा। इसमें राजा ज्ञानदीप और रानी देवयानी की कथा वर्णित है। जटमल की 'गोरा बादल की बात' भी इसी परम्परा में मानी जाती है। इसके पश्चात् खड़ी बोली मिश्रित भाषा में लिखी हुई प्रेमी नामक सूफी सन्त की 'प्रेम परकाश' नामक एक पुस्तक प्राप्त हुई है। इसमें प्रेम और विरह का सुन्दर वर्णन है। कासिमशाह की 'हंस जवाहर' और नूरमुम्मद की 'इन्द्रावती' की रचना भी अपना विशेष महत्व रखती है। 'इन्द्रा-वती' में दोहा-चौपाई के बीच में बरवै छन्द का भी प्रयोग हुआ है। फाजिल-शाह ने 'प्रेमरतन' नामक ग्रन्थ में वैराग्य, विरह और प्रेम का सुन्दर वर्णन किया है।

इधर आधुनिक काल में खड़ी बोली में भी कुछ प्रेमाख्यानक काव्य लिखे गए हैं। कुतुबशाह, मुहम्मदअली तथा मुहम्मद कुतुबशाह ने कुछ प्रेम कथाओं की रचना की है। खड़ी बोली एवं फारसी छन्दों में लिखी हुई इब्नु निशाती की 'फूलवान' और तहसीनुद्दीन की 'किस्सए कामरूप और कला' भी इस श्रेणी की सुन्दर रचनाएँ मानी जाती हैं। गद्य में मौलाना वजीद ने 'सब रस' नामक एक प्रेम कहानी लिखी है। नसरती ने मसनवी शैली में 'गुलशने इश्क' और हाशिमी ने 'यूसुफ जुलेखा' इसी परम्परा में लिखी हैं। हिन्दी की सूफी काव्य परम्परा का यही संक्षिप्त इतिहास है।

जायसी मुसलमान सूफी कवियों की प्रेमाख्यानक परम्परा के एक जग-मगाते रत्न हैं। उनका 'पद्मावत' हिन्दी साहित्य की एक अमूल्य निधि एवं प्रेमा-ख्यानक परम्परा का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है। जायसी से पूर्व की अन्य प्रेमगाथाएँ प्रायः सभी कल्पित हैं। जायसी ने ही सर्वप्रथम रत्नसेन और पद्मा-

वती के ऐतिहासिक वृत्त को अपनी कथा का आधार बनाया, यद्यपि उसमें आधा इतिहास और आधी कल्पना है। जायसी मुसलमान थे अतः उनका फारसी काव्य-ज्ञान अच्छा था जिसका परिचय 'पद्मावत' में सफलतापूर्वक अपनायी गई मसनवी शैली से मिल जाता है। परन्तु हिन्दी साहित्य और काव्य का उनका ज्ञान केवल सुना-सुनाया था। वे न तो हिन्दी काव्य के मर्मज्ञ ही थे और न बहुश्रुत ही। उन्हें भारतीय मत-मतान्तरों और काव्यशास्त्र का केवल स्थूल ज्ञान था। परन्तु उन्होंने बड़े प्रयत्न और कौशल-पूर्वक हिन्दुओं के देवी-देवताओं, रीति-रिवाजों, रहन-सहन आदि का सुन्दर और कुछ सीमा तक यथार्थ चित्रण किया है। काव्याङ्गों में रस, अलङ्कार आदि का निर्वाह भी सुन्दर है। भाषा शुद्ध अवधी है, जिसमें अरबी-फारसी के शब्दों, हठयोग की पारिभाषिक शब्दावली आदि का भी मिश्रण है। भाषा साहित्यिक न होकर बोलचाल की प्रतीत होती है।

अन्य सूफी कवियों ने भी अपने काव्य में जहाँ प्रेम, करुणा, श्रद्धा, भक्ति आदि कोमल भावों का ही निरूपण किया है वहाँ जायसी ने अपने काव्य में लोकपक्ष का समन्वय कर वीरता, उत्साह, क्रोध, ओज, युद्ध आदि का भी वर्णन किया है। उनकी रचनाएँ हैं—पद्मावत, अखरावट, आखिरी कलाम तथा चित्ररेखा। 'पद्मावत'--की कहानी पूर्वार्द्ध काल्पनिक और उत्तरार्द्ध ऐतिहासक है। इसमें भौतिक प्रम के आधार पर आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना की गई है। हिन्दी साहित्य में जायसी अपने विप्रलम्भ शृङ्गार के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। यद्यपि उन्होंने वर्णन संयोग और वियोग दोनों का ही किया है परन्तु कुछ आलोचकों की दृष्टि में नागमती का विरह-वर्णन हिन्दी-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ विरह-वर्णन है। पद्मावत में वेदान्त, हठयोग आदि का भी सुन्दर सम्मिश्रण है। जायसी का रहस्यवाद भावात्मक रहस्यवाद कहा जाता है क्योंकि इसमें प्रेम की प्रधानता है। सन्त कवि ब्रह्म का दर्शन हृदय में करते हैं। सूफी कवि ब्रह्म का दर्शन व्यक्त प्रकृति में करते हैं। इसी से इनके काव्य में अधिक सरसता और रमणीयता है। जायसी ने अपने काव्य में शिक्षाप्रद सूक्तियों, भौतिक तत्वों, मुहावरों और किम्वदन्तियों का भी सुन्दर प्रयोग किया है।

जायसी के ग्रंथों का मनन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सूफी प्रेम काव्य-परम्परा का पूर्ण परिपाक यदि कहीं हुआ है तो केवल जायसी के ही साहित्य में। वे एक विशेष वर्ग के कवि हैं। उन्होंने इस्लामी सूफी धारा को वेदान्त, योग समन्वित भारतीय रूप में उपस्थित किया है। वेदान्त और योग उनके समय की प्रमुख धाराएँ थीं। उनके काव्य में प्रेम की पीर का जो महत्व है, इसकी जायसी ने अपने काव्य में अत्यन्त सुन्दर अभिव्यक्ति की है। धर्म के क्षेत्र में इनकी दृष्टि बड़ी उदार है। एक आलोचक के अनुसार—**"उनकी उदार प्रवृत्ति, उनके हृदय की कोमलता और उनकी माधुर्य भावना उन्हें अपने वर्ग का और अपने समय का सफल कवि सिद्ध करती है। उनका स्थान सूफी काव्य-परम्परा में सर्वोपरि है।"**

प्रश्न १५—सगुण भक्ति-धारा की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति शाखाओं के पारस्परिक साम्य-वैषम्य पर अपना मत प्रकट कीजिए।

उत्तर—सगुण मत के विकास में दो प्राचीन ग्रन्थों का विशेष प्रभाव पड़ा है—भागवत और वाल्मीकि रामायण। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक स्मृतिग्रन्थों का भी प्रभाव पड़ा है परन्तु सर्वाधिक प्रभाव भागवत का ही माना जाता है। वैष्णव मत का जो सगुण भक्ति-धारा का मूल है, उद्गम ईसा के पाँच सौ वर्ष पूर्व हो गया था। इसमें नारायण की भावना भागवत या पांचरात्र धर्म के रूप में की गई थी। आठवीं शताब्दी के शङ्कर के मायावाद से इसका संघर्ष हुआ। कालान्तर में यह रामानुजाचार्य के श्री-सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुआ। आगे चलकर निम्बार्क ने इसमें नारायण अथवा विष्णु के स्थान पर कृष्ण की भावना को अधिक महत्व दिया। तेरहवीं शताब्दी में मध्वाचार्य ने इस भावना को और विकसित किया। दूसरी ओर रामानन्द ने विष्णु के स्थान पर राम की भावना पर अधिक बल दिया। सोलहवीं शताब्दी के लगभग वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु ने राधा और कृष्ण का प्रेमात्मक निरूपण कर उनके सौन्दर्य पक्ष को अधिक महत्वशाली रूप में प्रतिपादित किया। अन्त में रामानन्द ने राम के शील, शक्ति, सौन्दर्य समन्वित रूप का प्रचार कर लोकहित की भावना को पुष्ट किया। आचार्य शुक्ल के मतानुसार भक्ति के

सम्यक् प्रसार का दृढ़ आधार रामानुजाचार्य द्वारा स्थापित विशिष्टाद्वैत का सिद्धान्त था। इस भक्ति के दो रूप रहे। कृष्ण-भक्ति में केवल प्रेम-स्वरूप भगवान् की आराधना की गई। उसमें प्रेम-लक्षणा भक्ति का प्राधान्य था। दूसरी धारा राम-भक्ति की थी। राम-भक्तिधारा की भक्ति ही सर्वाङ्गपूर्ण रही। उसमें विलासिता के लिए स्थान नहीं था। साथ ही उसमें कर्म एवं ज्ञान का पूर्ण सामजस्य रहा।

सगुण भक्तिधारा की निम्न प्रमुख विशेषताएँ हैं—

(१) वैष्णव धर्म के आदर्शों को सामने रख कर विष्णु के दो रूप—राम और कृष्ण की क्रमशः दास्य भाव और सख्य-भाव से उपासना की गई है। (२) दोनों ने ज्ञान और कर्म से भक्ति को श्रेष्ठ ठहराया है। (३) राम-काव्य में लोक-मर्यादा का विशेष ध्यान रखा गया है। इसमें भगवान् के लोक-रक्षक और लोक-रंजक दोनों स्वरूपों को अपनाया गया है। कृष्ण-काव्य में केवल लोक-रंजक रूप की ही स्थापना है। (४) राम-काव्य में प्रबन्ध काव्य और मुक्तक तथा कृष्ण-काव्य में केवल मुक्तकों की रचना हुई है। (५) दोनों ने ही ज्ञानमार्गी और प्रेममार्गी कवियों की रहस्य-भावना और अटपटी वाणी को स्थान न देकर वेद शास्त्र द्वारा निर्धारित साधना मार्ग को श्रेयस्कर समझा है। (६) अपने कर्मों और गुणों की अपेक्षा भगवान् की कृपा को अधिक महत्व दिया है। (७) साहित्यिक और परिमार्जित भाषा का प्रयोग हुआ है। राम-काव्य में ब्रज और अवधी तथा कृष्ण-काव्य में केवल ब्रज भाषा को अपनाया गया है। (८) विविध प्रकार की रचना शैलियों का प्रयोग किया गया है। भाषा, छन्द, अलङ्कार, भाव, कल्पना, अनुभूति आदि की दृष्टि से सगुण-भक्ति काव्य हिन्दी-साहित्य का सबसे विस्तृत और समृद्ध काव्य माना जाता है। संक्षेप में इस धारा की यही विशेषताएँ हैं।

राम-भक्तिशाखा और कृष्ण-भक्तिशाखा की तुलना

राम-भक्तिशाखा	कृष्ण-भक्तिशाखा
१—मुख्य प्रवर्त्तक—रामानुजाचार्य पश्चात् रामानन्द	१—मुख्य प्रवर्त्तक—वल्लभाचार्य

२—दास्यभाव की उपासना	२—माधुर्य एवं सख्य भाव की उपासना
३—भगवान् के लोक रक्षक और लोक-रंजक दोनों रूप	३—केवल लोक-रंजक रूप
४—साधनावस्था को मान्यता—प्रयत्न पक्ष प्रधान	४—सिद्धावस्था को मान्यता
५—प्रबन्ध और मुक्तक रचनाएँ	५—केवल मुक्तक रचनाएँ
६—उद्गम स्थान—रामायण, रघुवंश, उत्तर रामचरित, हनुमन्नाटक आदि।	६—उद्गम स्थान—मूल स्रोत भागवत
७—मर्यादावादी—शास्त्रीय मर्यादा का प्राधान्य।	७—स्वतन्त्र प्रेम-प्रधान अतः मर्यादा की अवहेलना।
८—नियमों का पालन	८—प्रेम के आगे नियमों की अवहेलना
९—काव्य में गाम्भीर्य—हास्य का अभाव	९—व्यंगात्मक काव्य—उपालम्भ की प्रधानता
१०—ब्रज और अवधी दोनों भाषाएँ	१०—केवल ब्रजभाषा
११—अनेक शैलियों का प्रयोग—संगीत का समावेश	११—अधिकतर पदों की शैली का उपयोग—संगीत का प्राधान्य
१२—लोक जीवन के समानान्तर	१२—लोक-जीवन के प्रति उपेक्षा की भावना।

प्रश्न १६—क्या आप ग्रियर्सन के इस कथन से सहमत हैं कि बुद्धदेव के पश्चात् भारत में सबसे बड़े लोकनायक तुलसीदास थे।

अथवा

"भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके।" इस कथन को ध्यान में रखकर बताइये कि क्या तुलसी भारत के लोक-नायक थे।

उत्तर—जब समाज में विशृंखलता उत्पन्न होकर उसकी गति रुद्ध हो जाती है और सड़ाँध उत्पन्न होने लगती है, उस समय किसी एक ऐसे महापुरुष

का आविर्भाव होता है जो सम्पूर्ण विरोधी तत्त्वों एवं गतिरुद्धता के कारणों का परिष्कार कर उनमें पारस्परिक सहयोग और समानता की भावना उत्पन्न करता है। इतिहास इसका साक्षी है। महाभारत-काल में रामयुग की मर्यादाएँ नष्ट होने के कारण भारतीय संस्कृति के लिए एक भयानक संकट उत्पन्न हो गया। ब्राह्मण क्षत्रियों के पारस्परिक द्वेष से उत्पन्न विषमता के कारण जनता त्रस्त थी। साधकों के विभिन्न दल ज्ञान, कर्म और भक्ति की मनमानी व्याख्या कर विरोध को व्यापकता दे रहे थे। ऐसे समय योगिराज कृष्ण ने महाभारत का संचालन कर प्रतिकूल शक्तियों का उन्मूलन किया और ज्ञान, कर्म और भक्ति की एकता स्थापित की। कालान्तर में पुनः कर्मकाण्ड की प्रधानता हो जाने के कारण सामाजिक गतिरोध उत्पन्न हुआ। उसका परिष्कार करने के लिए भगवान् बुद्ध का अवतार हुआ। भगवान् बुद्ध के लगभग डेड़ हजार वर्ष उपरान्त जब बुद्ध धर्म भी बाह्य कर्मकाण्ड और आडम्बर के माया-जाल में उलझ गया तो भगवान् शंकर ने समाज का उद्धार किया। परन्तु शङ्कर का प्रभाव केवल धार्मिक क्षेत्रों तक ही सीमित रहने से अधिक स्थायी और ठोस नहीं रहा क्योंकि उसमें समाज की उपेक्षा सी थी। धार्मिक आचार्यों ने उन्हीं के सिद्धान्त के आधार पर धर्म का पुनः परिष्कार कर सामाजिक मर्यादा स्थापित करने का प्रयत्न किया। आगे चलकर गोस्वामी तुलसीदासजी ने उनके इस प्रयत्न को पूर्णता प्रदान कर समाज को मर्यादा के बन्धन में बाँध दिया और उसमें समन्वय की भावना उत्पन्न की। यह परिष्कार लगभग बारह सौ वर्षों से चली आती हुई विषमता का था। इसी से तुलसी द्वारा स्थापित लोक-धर्म आज भी हिन्दुओं का लोकधर्म माना जाता है और उनका 'मानस' हिन्दुओं का सर्वाधिक लोकप्रिय धर्म-ग्रन्थ। तुलसी की महानता का यही ऐतिहासिक महत्त्व है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—**"लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके, क्योंकि भारतीय जनता में नाना प्रकार की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचारनिष्ठा और विचार-पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्यकारी थे। गीता में समन्वय की चेष्टा है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे।"** लोकनायक वही हो सकता है जो समाज

के मनोविज्ञान को भली-भाँति समझ सके। वह प्राचीनता का संस्कार कर, उसमें अपनी नवीनता का मिश्रण कर उसे इस रूप में ढाल देता है जिससे समाज के प्रत्येक वर्ग का लाभ होकर उसे सन्तोष और शान्ति प्राप्त होती है। भौतिक बल के आधार पर कोई व्यक्ति लोक-शासक तो हो सकता है परन्तु लोक-नायक नहीं। शासक से जनता प्रायः भयभीत और दूर रहती है जबकि नायक जनता की श्रद्धा का भाजन होता है। शासक का अधिकार केवल तन पर ही रहता है परन्तु नायक का अधिकार तन और मन, दोनों पर रहता है। इसी से इसका प्रभाव स्थायी, दृढ़ और स्नेहसिक्त होता है। लोकनायक स्वयं त्याग कर समाज की श्रद्धा, प्रेम और सम्मान प्राप्त करता है। अकबर और तुलसी दोनों समकालीन थे। अकबर लोकशासक था और तुलसी लोकनायक। अकबर का केवल ऐतिहासिक महत्व मात्र अवशिष्ट है और तुलसी आज भी हिन्दू समाज के कर्णधार का आसन ग्रहण किए हैं। यही दोनों में अन्तर है। साथ ही लोकनायक का पद उस व्यक्ति को प्राप्त होता है जो सामाजिक परिस्थितियों का सम्यक् अध्ययन कर प्रचलित ऐसी मान्यताओं को जो समाज के लिए घातक हो उठती हैं, मानने से स्पष्ट इन्कार कर देता है। उसमें प्रगतिशीलता की भावना होती है। वह प्राचीन मान्यताओं का निराकरण कर, समय के अनुकूल उचित मान्यताओं की स्थापना करता है। तुलसी ने यही किया था। इसी से सुप्रसिद्ध समाजवादी आलोचक डाक्टर रामविलास शर्मा तुलसी को प्रगतिशील साहित्यकार की संज्ञा से विभूषित करते हैं। जो साहित्यकार, प्राचीन हो अथवा नवीन, आधुनिक प्रगतिवादी आलोचकों की प्रशंसा और सहानुभूति प्राप्त कर लेता है। वह निश्चय ही प्रगतिशील और लोकनायकत्व का वास्तविक अधिकारी माना जा सकता है। तुलसी ने यह प्रशंसा और सहानुभूति प्राप्त की है।

तुलसी लोकनायक क्यों माने गए ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए सर्व-प्रथम तुलसी के युग पर एक दृष्टि डाल लेना उचित है। उस समय तक देश पर मुसलमानों का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। समाज की दशा विशृङ्खलित थी। उसके सामने कोई उच्च आदर्श नहीं था। उच्च वर्ग विलासिता में निमग्न था और निम्न वर्ग अत्याचार का शिकार हो रहा था। संसार त्याग

कर वैरागी हो जाना साधारण-सी बात थी। विभिन्न सम्प्रदाय अपने मतों का प्रचार करने में प्रयत्नशील थे। सन्तगण वेद, पुराण, साधु आदि की निन्दा कर मर्यादा पर कुठाराघात कर रहे थे। योगमार्गी साधु अपने चमत्कारों से जनता को चमत्कृत करने में ही प्रयत्नशील थे। 'अलख' को लखने की भावना जोरों पर थी। सन्तों, योगमार्गियों के इस दल में अशिक्षा एवं उच्च वर्ग के प्रति उपेक्षा होने के कारण उनके आत्मविश्वास ने दुर्वह: गर्व का रूप धारण कर लिया था। ऊँची जातियाँ इनसे चिढ़ा करती थीं। हिन्दू समाज बल-वैभवहीन था तो मुसलमानी समाज विलास में डूबा हुआ था। मदांध मुस्लिम शासक तलवार के बल पर इस्लाम का प्रचार कर रहे थे। हिन्दू त्रस्त थे। तुलसी से पूर्व कबीर ने इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया था। परन्तु उन्हें आंशिक सफलता ही प्राप्त हुई थी। सूफियों के साहित्य में इस्लाम की गंध थी। कृष्ण-भक्त भी एक शक्तिशाली आदर्श उपस्थित करने में उदास रहे थे। अत: भयभीत जनता को इन प्रयत्नों से कोई ढाढ़स नहीं मिला। अन्त में तुलसी ने इस भयभीत जनता के मनोनुकूल, राम के शक्ति, शील एवं सौन्दर्य-समन्वित रूप की स्थापना कर उसे सम्बल दिया। तुलसी के राम सर्वशक्तिमान, दीन-प्रतिपालक और दयालु थे। जनता ने गद्‌गद् हृदय से तुलसी का आभार नतमस्तक होकर स्वीकार किया। हिन्दू धर्म की रक्षा हुई और जनता में अत्याचार का प्रतिरोध करने की शक्ति उत्पन्न हुई।

तुलसी के राम का कार्य यही है कि—

"जब जब होहि धर्म की हानी, बाढ़हिं असुर महा अभिमानी।
तब तब धरि प्रभु मनुज सरीरा, हरहिं सकल सज्जन भव-पीरा॥"

राम के इस स्वरूप की कल्पना में जनता को अपना रक्षक मिला, वह संतुष्ट हुई। 'मानस' के विभिन्न पात्रों में जनता ने अपने आदर्श पात्रों का साकार रूप देखा।

तुलसी समन्वयकारी थे। उन्होंने समाज के नाना स्तरों का जीवन भोगा था। गृहस्थ जीवन की निकृष्टतम कोटि की आसक्ति के वे शिकार रह चुके थे। उच्च कुल के ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होकर भी दरिद्रता के कारण उन्हें

दर-दर भटकना पड़ा था। जीवन में अशिक्षित एवं निम्नकोटि के व्यक्तियों से लेकर परम साधकों और काशी के दिग्गज पण्डितों के सम्पर्क में रह चुके थे। उनका प्राचीन संस्कृत-साहित्य एवं प्रचलित भाषा-साहित्य का ज्ञान विस्तृत और गम्भीर था। पिंगल शास्त्र का उनका ज्ञान भी अपूर्व था। लोक और शास्त्र के इस सम्मिलित और यथार्थ ज्ञान ने उनके काव्य को व्यापक बनाया। कुछ कवि केवल आश्रयदाताओं की प्रशंसा में ही अपनी सम्पूर्ण काव्य-शक्ति का अपव्यय कर रहे थे। तुलसी क्रान्तिकारी थे। ज्ञान के इस दुरुपयोग से वे तिलमिला उठे। उनकी दृष्टि में "कीन्हे प्राकृत जन गुणगाना, सिर धुनि गिरा लागि पछताना"—वाला सिद्धान्त था। 'गिरा' का वास्तविक उपयोग प्राकृत जन गुणगान करने के लिए न होकर जन-कल्याण के लिए होना चाहिए। तभी उसकी सार्थकता है। कहा जाता है, तुलसी ने अपना काव्य 'स्वान्तः सुखाय' लिखा था। परन्तु उस 'फक्कड़' का अपना व्यक्तिगत सुख ही क्या था? समाज और वह दोनों अभिन्न थे। इसलिए उनके सुख में निश्चित रूप से समाज का सुख सम्मिलित था।

तुलसी का सम्पूर्ण काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, भाषा और संस्कृति का समन्वय, भक्ति, ज्ञान और कर्म का समन्वय, गार्हस्थ और वैष्णव का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, ब्राह्मण और चांडाल का समन्वय, भिन्न-भिन्न काव्य प्रणालियों का समन्वय आदि के द्वारा उन्होंने विषमता का निराकरण कर एक स्वस्थ, नवीन और स्फूर्तिदायक समानता का आदर्श उपस्थित किया। राम के शक्ति, शील, सौन्दर्य समन्वित चित्रण के रूप में उपर्युक्त सभी समन्वयों का उपयोग कर उन्होंने राम के लोक-संग्रही रूप का अत्यन्त मार्मिक और कलापूर्ण चित्र प्रस्तुत किया। उस काल के हिन्दू धर्म में अनेक भ्रान्तियाँ प्रचलित थीं। शैवों, वैष्णवों और शाक्तों में घोर वैषम्य था। उन्होंने शिव और राम की एकता स्थापित कर इस विरोध को मिटाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि उन्होंने बुराई से समझौता करने का प्रयत्न किया था। वे शाक्तों के विरोधी थे। इसी कारण उनके लिए "वैष्णव की छपरी

भली, ना साकत को बड़ गाँव" था। शाक्तों की रीति-नीतियों को वे समाज के लिए घातक समझते थे। इसी से उन्होंने सीता में 'आदि शक्ति' का रूप प्रतिष्ठित कर शाक्तो का भी संस्कार करने का प्रयत्न किया। शैवों, वैष्णवों और शाक्तों का यह समन्वय उनके काव्य में सर्वत्र बिखरा पड़ा है। इसी प्रकार तुलसी के काव्य में अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत और पुष्टि मार्ग के सिद्धान्तों का भी समन्वय हुआ है। उन्होंने भगवत कृपा को ही प्रधान माना है। वे ज्ञान, कर्म और भक्ति की पृथक् रूप में कोई उपयोगिता स्वीकार नहीं करते। परन्तु समय की परिस्थितियों के अनुसार उन्होंने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को ही प्रधान माना है, क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियों में ज्ञान की उपादेयता क्षीण हो चली थी। जन-साधारण का मानसिक स्तर उसे समझने मे असमर्थ था।

तुलसी समाज के सजग प्रहरी थे। उन्हें लोकहित का पूर्ण ध्यान था। वे जानते थे कि जब तक लोकमर्यादा का पालन नहीं होगा तब तक जनकल्याण असम्भव है। तुलसी इसीलिये मर्यादा पालन की ओर सर्वाधिक सचेष्ट रहे हैं। उनके राम मर्यादा पुरुषोत्तम है। फिर मर्यादा का उल्लंघन कैसा ? उन्होंने शृङ्गार के दोनों पक्षों का ऐसा संतुलित और मर्यादित चित्रण किया है कि सहसा इस मनीषी कवि की प्रतिभा पर साधारण बुद्धि अविश्वास कर उठती है। हिन्दी साहित्य की यह निधि शाश्वत है। राम पूर्ण मानव हैं। मानव के सुख-दुख, राग-विराग की सम्पूर्ण भावनाएँ उनमें हैं। राम के रूप में युग ने जनता का पूर्ण रूप देखा। उनमें अपने आदर्शों का पूर्ण प्रतिबिम्ब देखकर लोक ने उन्हें दौड़कर अपना लिया। यह तुलसी की ही विराट कल्पना का परिणाम था।

तुलसी ने कबीर आदि की हठधर्मी के स्थान पर सहिष्णुता का सम्बल ग्रहण किया था। उन्होंने समाज की अव्यवस्था पर प्रहार भी किया परन्तु उस प्रहार में कबीर की सी निर्ममता और विध्वंषक भावना न होकर, एक निर्माणकारी और कल्याणमयी भावना थी। तुलसी का व्यक्तित्व सौम्य था और समन्वय का आधार सौम्यता ही मानी जाती है। बुद्ध, ईसा आदि सभी महापुरुषों का चरित्र सौम्य था। तुलसी के खंडन में कटुता के स्थान पर

मिठास अधिक है। उन्होंने असन्तों की भी वन्दना की है—"बन्दो सन्त असज्जन चरना।" वे घोर मर्यादावादी भी हैं। वेद, पुराण, शास्त्र, मूर्तिपूजा, तीर्थ, वर्ण-व्यवस्था, लोकमत आदि का उन्होंने पूर्ण समर्थन किया है। वे विध्वंसक क्रान्ति में विश्वास न कर निर्माणक परिवर्तन में अवस्था रखते हैं। इसी कारण धर्म-प्राण हिन्दू समाज में उन्हें सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त [illegible]।

भाषा और काव्यशास्त्र के क्षेत्र में भी इस युगपुरुष ने समन्वय किया था। वे भाषा और भावों के पूर्ण अधिकारी थे। उन्होंने अपने समय में प्रचलित दोनों साहित्यिक भाषाओं—ब्रज और अवधी को—एक समान अपनाया। दोनों पर उनका पूर्ण अधिकार था। वे संस्कृत के प्रकांड पण्डित थे परन्तु उन्होंने लोकहित की भावना से प्रेरित होकर इन जन-भाषाओं को ही अपनाया और प्रतिदान मे वे अमर हो गये। भाषा के अतिरिक्त पिंगल शास्त्र के सभी नियमों का उन्होंने पालन किया था। इसी कारण आलोचक साहित्यिक दृष्टि से भी हिन्दी साहित्य में 'मानस' का स्थान अत्यन्त उच्च मानते हैं। भाषा और पिंगल शास्त्र के साथ ही उन्होंने अपनी समकालीन एवं अपने से पूर्व प्रचलित समस्त काव्य-पद्धतियों का सफलतापूर्वक उपयोग किया। चन्द के छप्पय, कुण्डलियाँ, कबीर के दोहे और पद, सूर और विद्यापति की गीत-पद्धति, जायसी, ईश्वरदास की दोहा-चौपाई पद्धति, रहीम के बरवै, गंग आदि की सवैया कवित्त पद्धति एवं मङ्गल काव्यों की मंगल-पद्धति को उन्होंने अपनाया। साथ ही तत्कालीन जनता में प्रचलित सोहर, नरछू, गीत, चाँवर वेली, वसन्त आदि रागों में भी उन्होने रामकाव्य लिखा। इस प्रकार साधारण जनता में प्रचलित गीत-पद्धति से लेकर शिक्षित जनता में प्रचलित काव्य रूपों तक को उन्होंने अपनाया। यह उनकी काव्य प्रतिभा का प्रमाण है।

इतनी विषमताओं में साम्य स्थापित करने वाला पुरुष यदि लोकनायक नहीं होगा तो और कौन होगा ? तुलसी ने बुद्ध, कबीर, चैतन्य आदि की भाँति कोई मत नहीं चलाया, पर हिन्दुत्व के क्षेत्र में आज तुलसी का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। तुलसी कवि, 'भक्त,, पण्डित, सुधारक, लोकनायक और भविष्य सृष्टा थे। उन्होंने सब ओर समता की रक्षा करते हुए ऐसे काव्य का

सृजन किया जो अब तक उत्तर भारत का 'पथ-प्रदर्शक रहा था और अब भी है।

प्रश्न १७—अष्टछाप से क्या तात्पर्य है। इस सम्प्रदाय के कवियों का संक्षेप में परिचय देते हुए हिन्दी में अष्टछाप के महत्व पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—विक्रम की १६ वीं शताब्दी के मध्य में महाप्रभु वल्लभाचार्य ने वैष्णव-धर्म की एक विशिष्ट शाखा की स्थापना की थी। यह सम्प्रदाय 'पुष्टि संप्रदाय' के नाम से विख्यात है। महाप्रभु वल्लभाचार्य के अनन्तर उनके पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ ने अपने पिता द्वारा स्थापित सम्प्रदाय की सांगोपाँग उन्नति की। विट्ठलनाथजी के २५२ शिष्य मुख्य थे जिनका वृतान्त 'दो सो बावन वैष्णवन की वार्ता' से ज्ञात होता है। वल्लभाचार्य के भी ८४ शिष्य मुख्य थे, जिनका विवरण 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में दिया हुआ है।

पुष्टिमार्गी कवियों में से गोसाईं विट्ठलनाथ ने चार अपने पिता के और चार अपने शिष्यों की एक मण्डली बनाई। उस मण्डली के आठों भक्त अपने समय में पुष्टि संप्रदाय के सर्वश्रेष्ठ काव्यकार, संगीतज्ञ और कीर्तनकार थे। ये आठों भक्त-कवि गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के सहवास में एक दूसरे के समकालीन थे और ब्रज में गोवर्द्धन पर्वत पर स्थित श्रीनाथ-जी के मन्दिर में कीर्तन सेवा और वहीं रह कर भगवद्-भक्ति की पद रचना करते थे। पुष्टि सम्प्रदाय के अनेक शिष्यों में से उन आठों का निर्वाचन करके गोसाईं विट्ठलनाथ ने उस पर अपने आशीर्वाद की छाप लगाई थी। इस मौखिक तथा प्रशंसात्मक छाप के वाद ही ये महानुभाव 'अष्टछाप' कहलाने लगे थे। हिन्दी ब्रज-भाषा के निम्नलिखित आठ कवि अष्टछाप के नाम से प्रसिद्ध हैं—

१—सूरदास	**महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य।**
२—कुंभनदास	,, ,, ,,
३—परमानन्ददास	,, ,, ,,
४—कृष्णदास	,, ,, ,,
५—नंददास	**गोसाईं विट्ठलनाथ के शिष्य।**
६—गोविंदस्वामी	,, ,, ,,

७—छीत स्वामी ,, ,, ,,

८—चतुर्भुजदास ,, ,, ,,

पुष्टि सम्प्रदाय की मान्यता है कि ये आठो भक्तजन श्रीनाथजी की नित्य लीला में अन्तरंग के रूप में सदैव उनके साथ रहते है। ये पुष्टि सम्प्रदाय में 'अष्टमखा' के नाम से विख्यात हैं। वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय में नैमित्तिक कर्मों की प्रधानता है, अतः इस सम्प्रदाय के कवि भगवान कृष्ण की नैमित्तिक लीलाओं पर पद रचना किया करते थे, वही रचनाएँ अब हमें उपलब्ध होती हैं। अष्टछाप के कवि भी अपनी मनोहर पद-रचना द्वारा श्रीनाथजी की लीलाओं का गायन किया करते थे।

अष्टछाप के कवि उच्चकोटि के भक्त, कवि तथा गवैये थे। अपनी रचनाओं में प्रेम की बहुरूपिणी अवस्थाओं के जो चित्र इन कवियों ने उपस्थित किए हैं, वे काव्य-कौशल की दृष्टि से उत्कृष्ट काव्य के नमूने हैं। लौकिक तथा आध्यात्मिक दोनों अनुभूतियों की दृष्टि से देखने पर इनका काव्य महान है। अब हम अष्टछाप के कवियों का पृथक पृथक संक्षेप में परिचय देंगे।

सूरदास—अष्टछाप के आठों कवियों में ही नहीं, बल्कि ब्रजभाषा के समस्त कवियों में सर्वश्रेष्ठ महाकवि हैं। हिन्दी में कृष्ण काव्य के आरम्भ करने का श्रेय मैथिल कोकिल विद्यापति को है किन्तु उसका पूर्ण विकास सूरदास की कविता में ही दिखलायी देता है। सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे। आपका जन्म संवत् १५५० के लगभग हुआ था। आपने वल्लभाचार्य के उपदेश से श्रीमद्भागवत की छाया पर ब्रजभाषा में 'सूरसागर' के नाम से एक विशद ग्रंथ का प्रणयन किया, जिसमें सवा लाख पद माने जाते हैं।

किन्तु अब तक केवल सात आठ हजार पद ही मिले हैं। सूरदास की सात रचनाएँ मिल जाती हैं—सूर-सारावली, साहित्य लहरी, सूरदास, सूरसाठी, सूर पच्चीसी, सेवा-फल, सूरदास के विनय के पद। इनके अतिरिक्त सूरदास के रामकथा सम्बन्धी पदों का एक संग्रह हाल ही में गीता प्रेस से प्रकाशित हुआ है। सूरदास के उक्त ग्रंथों में सूर-सारावली, साहित्य-लहरी और सूरसागर बड़ी रचनाएँ हैं, शेष सब छोटे संग्रह-मात्र हैं। इन सब में सूरसागर ही

प्रसिद्ध रचना है। 'सूर सारावली' में कवि ने वल्लभाचार्य का शिष्यत्व ग्रहण करने और गोवर्धन में श्रीनाथजी के मन्दिर में रहकर सेवा करने का संकेत दिया है। साहित्य लहरी में अलंकारों और नायिका भेद के उदाहरण प्रस्तुत करने वाले कूट पद हैं। कुछ विद्वान आलोचक इसे सूर की रचना नहीं मानते।

सूरदास की कविता ब्रजभाषा साहित्य का शृंगार है। उनका वात्सल्य, शृङ्गार, भक्ति और विनय का वर्णन आज भी अपनी तुलना नहीं रखता। वास्तव में सूरदास ने जिस क्षेत्र में पदार्पण किया उसका वे कोना-कोना झाँक आए हैं। सूरदास ने वात्सल्य और शृंगार का ऐसा अपूर्व और सांगोपांग वर्णन किया है कि पाठक उसमें तन्मय हो जाता है। वात्सल्य रस के उदाहरण के लिए वह संसार भर के साहित्य में बेजोड़ हैं। संयोग और विप्रलम्भ दोनों प्रकार के शृंगार की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। गोपियों के विरह-वर्णन मे वियोग की समस्त दशाओं का ऐसा मार्मिक वर्णन हुआ है कि जिसे पढ़कर पत्थर का कलेजा भी पिघल जाता है। कला की दृष्टि से भी सूर का काव्य बड़ा उत्कृष्ट है। आपका सम्पूर्ण काव्य, बल्लभाचार्य के पुष्टि सम्प्रदाय में जो नैमित्तिक कर्मों की उपासना की विधि थी, उन्हीं अवसरों पर नित्य नए पदों का जो सृजन उन्होंने किया, उसका संकलित रूप है।

श्री कुम्भनदास—महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य तथा उच्च-कोटि के भक्त-कवि और गायक थे। इनका जन्म संवत् १५२५ में हुआ था। आपका रचा हुआ कोई विशेष ग्रंथ प्रसिद्ध नहीं है, किन्तु कीर्तन-संग्रहों में उनके स्फुट पद यथेष्ट संख्या में मिलते हैं। शुक्लजी ने इनकी काव्य-रचना के सम्बन्ध में लिखा है कि "इनका कोई ग्रन्थ न तो प्रसिद्ध है और न अब तक मिला है। फुटकल पद अवश्य मिलते हैं। विषय वही कृष्ण की बाल-लीला और प्रेम-लीला।" कुम्भनदास की आसक्ति निकुंज लीला में थी, अतः उनके काव्य में माधुर्य भक्ति सूचक दान-मान आदि के पद अधिक संख्या में मिलते हैं। काव्योत्कर्ष की दृष्टि से उनकी कविता मध्य श्रेणी की है किन्तु उसमें माधुर्य भक्ति की प्रचुरता है। यह बड़े सरल, निर्लोभ, निरीह तथा सच्चे अर्थों में सन्त थे।

अकवर ने इन्हें फतेहपुर सीकरी बुलाया था, ये वहाँ गए भी, किन्तु इन्हें राज-सम्मान कुछ रुचा नहीं। इन्होंने एक पद में भक्त के जीवन की महानता को दर्शाया है—

सन्तन को कहा सीकरी सों काम।
आवत जात पनहिया टूटी बिसरि गए हरिनाम।
जिनको मुख देखें दुख उपजत तिनको करन परी परनाम।
कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु और सबै बेकाम।

परमानन्ददास—वल्लभाचार्य के शिष्य थे। आपका जन्म सं० १५५० में हुआ था। वात्सल्यरस का अष्टछाप के कवियों में सूरदास के बाद इन्होंने सुन्दर और सरल वर्णन किया है। इनकी कविता बड़ी सरस होती थी। इनकी कविता को सुनकर आचार्य जी प्रेमोन्मत्त हो जाते थे। इनका काव्य ग्रन्थ 'परमानन्द सागर' बहुत प्रसिद्ध है। इन पर हिन्दी साहित्य के शोधकों ने विशेष कार्य नहीं किया है। खोज होने पर अष्टछाप के कवियों में इनका महत्व स्पष्ट होगा। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इनके सम्बन्ध में लिखा है "**इनके पदों में भाषा का लालित्य दर्शनीय है। इस प्रकार महाप्रभु बल्लभाचार्य के जिन शिष्यों को अष्टछाप की मर्यादा मिली, उन सबमें विशिष्ट व्यक्तित्व दिखाई देता है।**"

कृष्णदास जी—का जन्म सं० १५५३ में हुआ था। आप बल्लभाचार्य के शिष्य थे। इनकी आशक्ति रास-लीला में थी। अतः इनके काव्य में प्रिया-प्रियतम के विहार विषयक पदों की अधिकता है। उन्होंने अतिशय शृङ्गार प्रधान पद प्रचुर संख्या में रचे हैं। इनके 'कृष्णदास जी का कीर्तन, और 'जुगलमान चरित्र' नामक पद संग्रह मिलते हैं। इनकी कविता बड़ी सरस और भावमयी है।

नन्ददास—गोस्वामी विठ्ठलनाथ के शिष्यों में नन्ददास का स्थान प्रमुख है। अष्टछाप के कवियों में इनका स्थान सूरदास के बाद प्रमुख है। अपनी बहुमुखी प्रतिभा, सरस कविता एवं कोमलकांत पदावली के कारण इनके काव्य का स्थान व्रजभाषा साहित्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इनका जन्म सं० १५९०

के लगभग माना जाता है। इनके ग्रन्थों की संख्या १६ है—रासपंचाध्यायी, सिद्धान्त पचाध्यायी, अनेकार्थ मंजरी, मान मंजरी, रूपमंजरी, रस मंजरी, विरह मंजरी, भँवरगीत, गोवर्द्धनलीला, श्याम सगाई, रुक्मिणीमंगल, सुदामा चरित, भाषा दशम स्कन्ध , पदावली हितोपदेश और नासिकेत पुराण (गद्य में)। इनमें रासपंचाध्यायी एवं भँवरगीत का ही साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्व है। 'सिद्धान्त पंचाध्यायी' का भक्ति-सिद्धान्त के नियमों की दृष्टि से विशेष महत्व है। अनेकार्थ मंजरी कोश ग्रन्थ है।

नन्ददास उच्चकोटि के भावुक कवि हैं। भ्रमरगीत में उद्धवगोपियों के संवाद द्वारा निर्गुण पर सगुण की विजय और योग एवं ज्ञानमार्ग पर प्रेम की विजय दिखलाई है तथा नाथ पंथ के योगमार्ग और कबीर आदि के ज्ञान मार्ग को हीन दिखाकर वल्लभाचार्य की प्रेम, भक्ति का महत्व स्थापित किया है। 'रासपंचाध्यायी' में इनकी कवित्व शक्ति का और विकास हुआ। उसमें कोमल-कांत पदावली एवं श्रुतिमधुर भाषा शैली के कारण 'गीतगोविन्द' का सा पद-लालित्य आ गया है। नन्ददास के काव्य की दो विशेषताएँ हैं—भाषा की मधुरता और शब्दों की सजावट। इसीलिए इनके सम्बन्ध में यह उक्ति प्रसिद्ध है—**'और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया।'**

गोविन्दस्वामी—ये गोसाईं विट्ठलनाथ के शिष्य थे। आपका जन्म सं० १५६२ में हुआ था। इनके गाने की ऐसी ख्याति थी कि स्वयं तानसेन इनका गाना सुनने कभी-कभी आते थे। आप जैसे परम उच्च श्रेणी के गायक थे वैसी उच्च श्रेणी की आपकी कविता नहीं है। आपके श्रीनाथ जी के कीर्त्तन स्वरूप कुछ स्फुट पद ही मिलते हैं। काव्य का विषय राधा-कृष्ण की शृङ्गारात्मक लीलाएँ हैं। इनके रचे हुए कुछ बाल-लीला के पद भी प्रसिद्ध हैं।

छीतस्वामी—गोसाईं विट्ठलनाथ के शिष्य थे। इनका जन्म सं० १५७३ में हुआ था। आपकी कविता बड़ी भक्तिपूर्ण है, जिसकी भाषा सीधी और सरल है। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से आपकी कविता का महत्व नहीं है। आपने कीर्त्तन के केवल स्फुट पदों की रचना की थी।

महात्मा चतुर्भुजदास—गोसाईं विट्ठलनाथ के प्रिय शिष्य थे। आपका जन्म सं० १५८७ में हुआ था। आपने कीर्तन के स्पुट पदों की रचना की

थी। आपकी कविता में भक्ति-भावना और शृङ्गार की अच्छी छटा दिखलाई देती है। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से भी यह उत्तम रचना है। इन्होंने पदों में कृष्ण के जन्म से लेकर गोपी-विरह तक की ब्रजलीला का गायन किया है। इनकी तीन पुस्तकें द्वादशयश, भक्ति प्रताप, हितजू को मङ्गल तथा कुछ फुटकल पद प्राप्त हुए हैं।

हिन्दी साहित्य में अष्टछाप का महत्व— हिन्दी साहित्य में अष्टछाप का महत्व उसके काव्य के कारण है, किन्तु पुष्टि सम्प्रदाय में उसके महत्व का अन्य कारण भी है। पुष्टि सम्प्रदाय की मान्यता है कि अष्टछाप के आठों महानुभाव श्रीनाथ जी के अन्तरंग सखा हैं जो उनकी नित्यलीला में सदैव उनके साथ रहते हैं। गिरिराज नित्य-निकुंज के आठ द्वार हैं और अष्टछाप के आठों सखा इन द्वारों के अधिकारी हैं। वे इन द्वारों पर रहते हुए ठाकुरजी की सदैव सेवा करते हैं। लौकिक-लीला में वे भौतिक शरीर से इन द्वारों पर स्थित रहते हैं और लौकिक-लीला की समाप्ति पर वे अपने भौतिक शरीर को त्याग कर अलौकिक रूप से नित्य-लीला में विराजमान रहते हैं। इसके अतिरिक्त अष्टछाप का हिन्दी-काव्य में बहुत महत्व है। हिन्दी के प्राचीन साहित्य की उन्नति से भी इसका घनिष्ट सम्बन्ध है। गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने जिस समय अष्टछाप की स्थापना की थी, उस समय ब्रजभाषा साहित्य का अधिक प्रचार नहीं था। किन्तु उनके प्रश्रय के कारण साम्प्रदायिक भक्तों में इसका व्यापक प्रचार हो गया। इसके अनुसरण पर वैष्णव धर्म के अन्य कई सम्प्रदायों ने भी ब्रजभाषा काव्य को प्रश्रय दिया, जिसके कारण सुदीर्घकाल तक ब्रजभाषा साहित्य की अतिशय उन्नति होती रही। सच बात तो यह है कि अष्ठछाप ने ब्रजभाषा के पद्यात्मक भक्ति-साहित्य पर इतना व्यापक प्रभाव डाला है कि कई शताब्दियों के पश्चात् अब तक भी उनका महत्व अक्षुण्ण है। अष्टछाप के महानुभावों ने यद्यपि स्वयं ब्रजभाषा गद्य में रचना नहीं की है, तथापि उनके प्रासंगिक चरित्र वार्ता रूप में ब्रजभाषा गद्य में रचित होने से अन्ततः वे गद्य साहित्य के भी कारण हैं। चौरासी वैष्णवन की वार्ता, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, अष्टसखान की वार्ता, जिनमें अष्टछाप के कवियों के जीवन वृतांत दिए हुए है, इत्यादि, ब्रजभाषा के साहित्यिक गद्य की आर-

म्भिक पुस्तकें हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि पुष्टि सम्प्रदाय के कारण ब्रज-भाषा गद्य की अत्यधिक उन्नति हुई थी । इस प्रकार पद्य और गद्य दोनों क्षेत्र में अष्टछाप का साहित्यिक महत्व बहुत अधिक है ।

अष्टछाप की स्थापना का एक उद्देश्य पुष्टि सम्प्रदाय के मन्दिरों में ठाकुर जी के नित्य और नैमित्तक उत्सवों के लिये कीर्तन की उचित व्यवस्था करना भी था । कीर्तन में भिन्न-भिन्न राग-रागनियों के पद ताल-स्वर से गाए जाते हैं, इसलिए कीर्तनकार को संगीत-शास्त्रानुसार गान-वाद्य का यथोचित ज्ञान होना आवश्यक है । अष्टछाप के आठों महानुभाव कवि होने के अतिरिक्त गान और वाद्य के मर्मज्ञ और अपूर्व ज्ञाता थे । इसी कारण से अष्टछाप का कलात्मक महत्व इतना अधिक है कि शताब्दियों तक देश में सर्वोच्च श्रेणी के कलाकारों में उसकी रचनाओं का पूर्ण प्रभाव रहा है और भविष्य में भी रहेगा ।

संगीत कला के अतिरिक्त अष्टछाप पर अन्य कलाओं का भी प्रभाव है । सूरदास आदि के पदों में नाना प्रकार के व्यंजनों का विस्तृत उल्लेख मिलता है । ये पद ठाकुर जी के राज भोग, छप्पन भोग अथवा अन्नकूट आदि उत्सवों पर गाये जाते थे । इस प्रकार अष्टछाप का पाक-कला-विषयक महत्व भी स्पष्ट है ।

प्रश्न १८—रीतिकाल की परिस्थितियों पर संक्षेप में प्रकाश डालिये ।

उत्तर—विभिन्न विद्वानों ने रीतिकाल को अनेक नामों से पुकारा है, जैसे-अलंकृत-काल, कला-काल, शृङ्गार-काल आदि । इस युग मे अलंकरण, रीति-शैली, कलात्मकता और शृङ्गार-भावना का ही प्राधान्य रहा है । उक्त चारों प्रवृत्तियों का इतना अधिक संतुलन इस युग में देखा जाता है कि उनमें से किसी एक के आधार पर इस युग का नामकरण किया जा सकता है । आचार्य शुक्ल का दिया हुआ नाम 'रीतिकाल' यद्यपि तत्कालीन लक्षण-उदाहरण-शैली की प्रमुख प्रवृत्ति को व्यक्त करता है तथा रीतिबद्ध शैली से इतर रचनाएँ इस नाम द्वारा उपेक्षित होती हैं। शृङ्गारकाल नाम तत्कालीन सम्पूर्ण कृतियों को समेट कर चलता है । आचार्य शुक्ल ने भी इस नाम की व्यापकता और सार्थकता को स्वीकार कर अन्त में कहा था—"वास्तव में शृङ्गार और

वीर दो रसों की कविता इस काल में हुई । प्रधानता शृङ्गार की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई शृङ्गार काल कहे तो कह सकता है।" शृङ्गार की प्रवृत्ति तत्कालीन समाज तथा वातावरण की व्यापक प्रवृत्ति थी। काव्य का कोई भी अङ्ग इससे अछूता नहीं था।

शृङ्गार की इस सर्वव्यापी भावना के मूल में तत्कालीन परिस्थितियाँ पूर्ण सहयोग दे रही थीं। रीतिकाल सम्वत् १७०० से १६०० तक माना गया है। यह मुगल साम्राज्य की अवनति और विनाश का काल था। परन्तु इससे पूर्व शक्तिशाली मुगल साम्राज्य देश में एकछत्र शान्ति स्थापित कर चुका था। छोटे-छोटे रजवाड़े आन्तरिक रूप में स्वतन्त्र थे। मुगल शासकों की कलाप्रियता से कला-कौशल को अतीव प्रोत्साहन मिला। यह सौंदर्योपासना का युग था। अकवर, जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन-काल में काव्य, कला और संगीत की पर्याप्त उन्नति हुई थी। शाहजहाँ के शासनकाल के उत्तरार्द्ध तक इन ललित कलाओं का रूप विकृत नहीं हो पाया था। परन्तु औरङ्गजेब की धार्मिक असहिष्णुता ने एक बार पुनः देश की शान्ति को भंग कर दिया। इससे हिन्दू मुसलमानों में पार्थक्य की भावना का पुनः उदय हुआ। किन्तु दोनों ही जातियाँ जर्जरित हो रही थीं। मुसलमान अपनी अत्यधिक विलास-प्रियता के कारण और हिन्दू पदाक्रान्त होने के कारण। इसका प्रभाव साहित्य, कला आदि पर भी पड़ा।

औरंगजेब के उत्तराधिकारी कर्मचारियों के हाथों की कठपुतली मात्र थे। नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों ने देश के रहे-सहे नैतिक बल को भी समाप्त कर दिया था। इस काल में भी परम्परागत काव्य तथा कला की पूजा तो बहुत चलती रही। शासक कला-प्रेमी थे। उनके दरबार में कलाकारों और कवियों को आश्रय प्राप्त था। अलङ्करण तथा विलास के प्रति शासकों की बड़ी रुचि थी, अतः उनकी रुचि के अनुकूल कवियों को भी रचनाएँ करनी पड़ती थीं। सुन्दर महल, वस्त्राभूषण, भरे-पुरे रनवास, नृत्य, संगीत, चित्रकला, मादक द्रव्य, हास्य-विनोद आदि के वातावरण ने जनसाधारण और शासकों के मध्य एक गहरी खाई उत्पन्न कर दी थी।

इस राजनीतिक परिस्थिति का समाज पर पूर्ण प्रभाव था। विलास की

प्रधानता से भक्ति की धारा मन्द हो गई थी। जन-साधारण अशिक्षित और निर्धन था। बाल-विवाह तथा बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। सुन्दरी दासियों की माँग दरबारों में बढ़ रही थी। अमीर नैतिक आदर्शों से पतित हो गये थे। प्रत्येक दरबार स्वयं में केन्द्रित था। प्रदेशों से सम्बन्ध विच्छिन्न हो गये थे। इससे समाज की आत्मा संकुचित हो गई। अन्धभ्रान्तियों और अन्ध-रूढ़ियों की जड़ें समाज में गहरीं पैठती रहीं। कला वासना-पूर्ति का साधन बन गई। इस काल का आलम्बन नारी बनी। नारी का सांगोपांग चित्रण कलाकारों का आदर्श बना, उसके जीवन के एक-एक पक्ष का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण कर कविगण अपनी तथा अपने आश्रयदाताओं की वासना तृप्त करने लगे। अपंगु वीरता का अतिशयोक्तिपूर्ण गान भी हुआ। आश्रित कवि प्रभुओं को चमत्कार-पूर्ण पद्य सुना कर तत्काल पुरस्कार प्राप्त करने में ही अपना कल्याण समझते रहे।

धार्मिक क्षेत्र में कोई नई उद्‌भावना नहीं हुई। साम्प्रदायिक पन्थों का रूप धारण करने लगे। कृष्णभक्तों की शृङ्गारिकता ने जनता को आकर्षित किया। कृष्ण और राधा की अनुराग लीलाओं के साथ जनता का हार्दिक तादात्म्य हो चुका था और शनैः शनैः यह रासलीला का प्रसंग ही लौकिक शृङ्गार के चरम उत्कर्ष का प्रतीक बन गया। राधाकृष्ण के रागात्मक स्वरूप के समक्ष रामोपासना की शुष्क धार फीकी पड़ गई। राधाकृष्ण की आड़ में कवियों ने अपनी कुत्सित वासनाओं का नग्न चित्रण किया।

साहित्यिक क्षेत्र में संस्कृत के रीतिग्रन्थों एवं फारसी की ऊहात्मक प्रवृति का प्रभाव पड़ रहा था। इस काल में प्रमुख रूप से दो प्रकार के साहित्य का निर्माण हुआ—राज्याश्रय प्राप्त साहित्य और लोक-साहित्य। राज्याश्रय प्राप्त साहित्य दरबारी कवियों द्वारा उद्‌भूत हुआ और लोक-साहित्य—भूषण, लाल, और सूदन जैसे कवियों द्वारा। पहले में विलास की तीव्र गन्ध थी और दूसरे में वीरता और शौर्य की भावना, किन्तु भूषण जैसा कवि भी कला प्रदर्शन अथवा चमत्कार प्रदर्शन से बच न सका।

प्रश्न १९—रीतिकालीन काव्य की प्रवृत्तियों का स्पष्ट दिग्दर्शन कराइये।

उत्तर—रीतिकाल का साहित्य मध्यकालीन दरबारी संस्कृति का प्रतीक

है। राज्याश्रय में पली इस शृंगारी कविता में रीति और अलंकार का प्राधान्य हो गया है। जो कवि दरबारी संस्कृति को त्याग सके, उनकी कविता में 'प्रेम की पुकार' का स्वरूप रीति से मुक्त है। रीतिकाल में शृङ्गार की प्रधानता होने के कारण अनेक आलोचकों ने इसे 'शृङ्गार काल' नाम दिया है संक्षेप में 'रीतिकालीन' साहित्य की निम्नलिखित मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं—

शृंगार रस का प्राधान्य—

रीतिकाल की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति यह है कि इसमें तीन प्रकार के कवि मिलते हैं—रीतिमुक्त या रीतिबद्ध, रीतिमुक्त या स्वच्छन्दवादी और वीर-काव्य की रचना करने वाले। किन्तु इन तीनों धाराओं के काव्य का अध्ययन करने से स्पष्ट विदित होता है कि शृंगार की भावना इनके काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति है। वीरकाव्य रचियता भी अपने प्रारम्भिक जीवन में शृंगारी कविता लिखते थे। रीतिबद्ध कविता का प्रेरणा स्रोत प्रायः दरबारी संस्कृति थी। इसके अन्तर्गत शृंगारी भावना वासना को व्यक्त करने के लिए ही प्रयुक्त हुई है। रीतिबद्ध कवियों के आश्रयदाता सामन्त, सरदार, राजा और महाराजा आदि उच्चवर्ग के लोग मुगलों से विरासत में मिली विलासिता में डूबे हुए थे, इसलिए उनकी प्रेरणा से रचे हुए काव्य में स्वभावतया ही लौकिक प्रेम और उसके व्यंजन बाह्य सौन्दर्य के वर्णन बहुत अधिक हैं। इन वर्णनों में अलंकार की कुशलता भी दर्शनीय है। बिहारी की ऊहात्मक उक्तियाँ इसकी उदाहरण हैं। इन शृंगारी भावनाओं को व्यक्त करने का माध्यम कृष्ण राधा की मधुर-भाव की भक्ति बनी और कृष्ण-राधा साधारण नायक-नायिका के रूप में चित्रित किए जाने लगे। युग के नैतिक आदर्शों की अवनति होने के कारण शृंगार-काल में काम-प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण स्वच्छन्दता थी। इस काल की रीतिबद्ध कविता में शृंगारिकता में प्रेम की एकनिष्ठता न होकर वासना की झलक ही मिलती है– और उसमें भी सूक्ष्म आन्तरिकता की अपेक्षा स्थूल शारीरिकता का प्राधान्य है। रीतिबद्ध प्रतिनिधि कवि बिहारी, देव, मतिराम आदि रसिक ही थे, प्रेमी नहीं। इन्होंने बाह्य स्थूल सौन्दर्य की ही अभिव्यक्ति की है। उनके काव्य में मन के सूक्ष्म सौन्दर्य का और आत्मा के सात्विक सौन्दर्य का प्रायः बिल्कुल ही अभाव है। परन्तु जहाँ तक रूप

अर्थात् विषयगत सौन्दर्य का सम्बन्ध था, वहाँ इन कवियों की पहुँच बहुत गहरी थी। एक ओर बिहारी जैसे सूक्ष्मदर्शी कवि की निगाह सौन्दर्य के बारीक संकेत को पकड़ सकती थी, तो दूसरी ओर मतिराम, देव, पद्माकर जैसे रससिद्ध कवि रूप-सौन्दर्य का वर्णन करने में पूर्ण रूप से रमने लगे।

इस प्रकार शृङ्गार के विविध अंगों, उपांगों का इन कवियों ने सुन्दर वर्णन किया है। इस शृङ्गार के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि इसका स्वरूप गार्हस्थिक है। भारतीय शृङ्गार-परम्परा में पूर्वानुराग, संयोग, प्रवास, वियोग आदि सभी दशाओं में गार्हस्थ-तत्व बना रहता है। रीतिबद्ध शृङ्गारी कविता में नागरिकता का समावेश तो हुआ; किन्तु दरबारी वेश्या-विलास अथवा बाजारू रूप-सौन्दर्य की बू नहीं आई। राजाओं के दरबार में वेश्याएँ रहती थीं किन्तु उनके आश्रित कवि स्वकीया नायिका के प्रेम का ही गायन करते थे। परकीया प्रेम वर्णन का उनके काव्य में इसी कारण से अभाव ही रहा। इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतिबद्ध कविता में शृङ्गार का मूलाधार रसिकता है प्रेम नहीं। इस रसिकता में इन्द्रियजन्य वासना के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

रीतिमुक्त कविता में भी शृंगारी भावना है किन्तु वह दरबारी संस्कृति से दूर होने के कारण वासना की पर्याय नहीं है। इनकी कविता में शृंगारी भावना में हृदयगत प्रेम के उद्गार हैं, जिनमें बड़ी शुचिता है। इनमें शारीरिक वासना की गन्ध नहीं है वरन् हृदय की पुकार है। इन्होंने भी कृष्ण की मधुर भाव की भक्ति का आश्रय लिया किन्तु वह कुछ भक्तिकालीन कवियों की भाँति ही उन्मुक्त है। इस दिशा में ये रीतिबद्ध कवियों से बिलकुल पृथक हो जाते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि इस युग की सामान्य प्रमुख प्रवृत्ति शृङ्गारिकता की ही थी, अतः इसे शृंगारकाल कहना सर्वथा अयुक्तिसंगत भी नहीं है। सभी कवि अन्त में कृष्णलीला के गायक या भक्त हो जाते हैं। यों तो रीतिबद्ध कवि भी 'राधिका कन्हाई के सुमरिन' का बहाना करते थे, पर उनकी वृत्ति भक्ति में लीन नहीं हुई है। यही इन दोनों में पार्थक्य है।"

२—अलंकार का प्राधान्य

रीतिकाल की कविता में अलंकरण का बाहुल्य है। इसी विशेषता को लक्ष्य करके मिश्रबन्धुओं ने इसका नाम 'अलंकृतकाल' रखा था। कविता का

प्रमुख विषय शृंगार होने के कारण रूप आकार की सजावट भी अनिवार्य थी। दूसरे इस काल में संस्कृत साहित्य के पुष्ट अलंकार शास्त्र की लोकप्रियता भी आश्रयदाताओं की चमत्कारी मनोवृत्ति के कारण बढ़ गई थी। इसीलिए रीतिबद्ध कवियों ने उपमानों और प्रतीकों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। इस काल के रीतिबद्ध कवि आचार्यत्व का भी दावा रखते थे। अलंकार के ग्रन्थों में केशव की 'कविप्रिया', महाराजा जसवन्तसिंह का 'भाषा भूषण', मतिराम का 'ललित-ललाम' और महाराजा रामसिंह का 'अलंकार दर्पण' प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार रस सम्बन्धी ग्रन्थों में केशव की 'रसिक प्रिया', मति-राम का 'रसराज', महाराजा रामसिंह का 'रसनिवास' और 'रसविनोद' तथा देव का 'भाव-विलास' प्रसिद्ध हैं। इन्हीं कवियों में शृंगार की संयोग और वियोग की दशाओं का भी बड़ा अलंकारपूर्ण वर्णन मिलता है। किन्तु रीति के आधार पर बाँधे गए इस बंधान में सर्वत्र कलापक्ष की प्रधानता है, हृदयपक्ष या अनुभूतिपक्ष दब गया है। रीतिबद्ध कवियों की कलाप्रियता को लक्ष्य करके ही डा० रमाशंकर शुक्ल रसाल ने इस काल का नामकरण 'कलाकाल' दिया है।

रीतिमुक्त कवियों में भी तत्कालीन अलंकारिकता के दर्शन होते हैं। किन्तु यह अलंकरण रीतिबद्ध कवियों की भाँति चमत्कारी मनोवृत्ति को शांत करने या भाषा का खिलवाड़ करने के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ, वरन् वह प्रेमी हृदय की सच्ची स्थिति (जैसे विरह की तीव्रता) का सच्चा आभास देने के लिए ही है। इस अलंकारप्रियता में भी रीति मुक्त कवियों के हृदय की तीव्र भावनाओं एवं प्रेम की विषमता का सुन्दर निरूपण हुआ है।

रीतिबद्ध और रीतिमुक्त कवियों की कविता में ही नहीं वरन् इस काल के वीरकाव्य के रचयिता भूषण की कविता में भी अलंकारों की प्रधानता स्पष्ट है। उन्होंने अतिशयोक्ति के माध्यम से हिन्दू छत्रपति शिवाजी और वीर छत्रसाल की वीरता का बखान किया है। उन्होंने उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, अत्युक्ति, अनुप्रास इत्यादि अलंकारों की झड़ी सी लगा दी है।

३—मुक्तक शैली का प्राधान्य—

शृङ्गारकाल की शैली कविता के विषय के अनुरूप ही थी। इस काल में मुक्तक शैली प्रधान थी। रीतिबद्ध कवियों की सारी चातुरी मुक्तक शैली में ही

प्रकट हुई है। इनकी कविता का उद्देश्य भी कुछ ऐसा ही था कि जब आश्रय-दाताओं को अपनी काम-क्रीड़ाओं एवं काम-विलास में उत्तेजना की आवश्यकता हुई या वैसे भी ठाले मनोरंजन एवं चमत्कारी प्रवृत्ति को शान्त करने के लिए कवि कुछ पद्य सुना दिया करते थे। मानसिक थकान को दूर करने के लिए जो कविता रची गई, वह मुक्तक ही रही। इस प्रकार रीतिबद्ध कवियों में दोहा, कवित्त और सवैया का प्राधान्य हो गया। रीतिमुक्त कवियों में भी कवित्त, सवैया शैली का प्राधान्य है। वीरकाव्य के रचयिता भूषण ने भी इसी शैली को अपनाया है।

४—ब्रजभाषा का प्राधान्य—

भाषा की दृष्टि से इस काल में ब्रजभाषा ही प्रमुख साहित्यिक भाषा रही। इस काल में ब्रजभाषा का कोश बहुत भरा गया और वह बहुत उन्नत हो गई। उसमें प्रेम की विविध एवं सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्तियों की बड़ी सफल व्यंजना हुई। यही कारण था कि आधुनिक काल के प्रारम्भिक युग में ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली का इतना बड़ा आन्दोलन खड़ा हुआ। उन परिवर्तित परिस्थितियों में भी बहुत से ब्रजभाषा की माधुरी पर लट्टू ऐसे साहित्यिक थे जो केवल इसी भाषा को काव्यगत भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त मानते थे। इस प्रकार श्रृंगारकाल ब्रजभाषा की चरमोन्नति का काल है।

५—नारी के प्रेमिका स्वरूप का प्राधान्य—रीतिकालीन कविता में नारी केवल पुरुष के रतिभाव का आलम्बन बनकर रह गई है। उसके सामाजिक अस्तित्व का उद्घाटन नहीं हो पाया है। रीतिमुक्त कवि घनआनन्द के उन्मुक्त प्रेम के गीतों में भी 'सुजान' से मिलने की तड़पन ही व्यक्त है, सुजान का कोई सामाजिक रूप वर्णित नहीं है। इसी प्रकार रीतिबद्ध कवि देव, बिहारी, मति-राम इत्यादि में नारी के जीवन के व्यापक क्षेत्रों का परिचय नहीं मिलता वरन् एकमात्र नारी-देह की शोभाओं एवं चेष्टाओं का अवलोकन ही मिलता है। उसके अंग-प्रत्यंग की शोभा, हाव-भाव, विलास चेष्टाएँ इत्यादि प्रमुख विषय बन गए हैं। कृष्ण की श्रृंगारकालीन राधा का केवल नायिका रूप ही उद्घाटित हुआ है, ब्रज प्रदेश के गाँव में समाज के बीच में उनका रूप प्रदर्शित नहीं हुआ है।

६—लक्षण ग्रन्थों की प्रधानता—रीतिकाल में रीतिबद्ध कवियों की प्रमुखता है। इन कवियों ने रीति या शास्त्र की भूमिका पर अपनी कविता का निर्माण किया है। इन्हें संस्कृत के शास्त्र पक्ष की समृद्ध भूमिका मिली थी। इसलिए इनमें से कुछ कवियों ने काव्यशास्त्र के लक्षणों को पद्यबद्ध करके लक्ष्य रूप में अपनी रचना प्रस्तुत की है। कुछ कवियों ने लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखे किन्तु उनका सारा बंधान रीति की परिपाटी पर है। इस प्रकार लक्षण और लक्ष्य दो प्रकार के काव्य ग्रन्थों की रचना रीतिबद्ध कवियों ने की। केशव ने सर्वप्रथम शास्त्रीय पद्धति पर रस और अलंकारों का निरूपण रसिकप्रिय और कविप्रिया में किया। चितामणि त्रिपाठी से लक्षण ग्रन्थों की अखंड परम्परा चलती रही। इस कारण लक्षण ग्रन्थों की बहुलता हो गई।

७—प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण—रीतिकाल में प्रकृति के आलम्बन रूप में चित्रण का प्रायः अभाव ही है। वैसे तो यदि सेनापति के 'कवित्त रत्नाकार' को श्रृंगारकालीन कविता मान लें तो प्रकृति के आलंबन रूप में भी बड़े सुन्दर चित्रण मिल जाते हैं। इसी प्रकार केशव की रामचन्द्रिका में प्रकृति का सुन्दर चित्रण मिलता है। किन्तु प्रमुखतया प्रकृति श्रृंगारकालीन कविता में उद्दीपन रूप में ही आयी है। प्रकृति का चित्रण नायक-नायिका की मानसिक दशा के अनुकुल ही किया गया है। संयोग में प्रकृति का खिला हुआ उन्मादकारी रूप है तो वियोग में वह दग्ध करने वाली है। प्रकृति का उद्दीपन रूप का चित्रण षट्ऋतु और बारहमासे की पद्धति पर ही प्रमुख रूप से मिलता है।

८—वीर रस की कविता—

श्रृँगार के साथ-साथ इस काल में कुछ वीररस की भी उत्कृष्ट रचनाएँ हुईं जो अपना विशेष महत्व रखती हैं। मुसलमानी शासन भारत में विदेशी था। भारतीय जाति ने इनके कठिन अत्याचारों से पीड़ित होकर इनके विरुद्ध सिर उठाया। मराठे, सिख और कुछ रजवाड़े इस विद्रोह को आगे बढ़ाने वाले थे। मराठों में वीर छत्रपति शिवाजी का नाम बहुत ऊँचा है। भूषण कवि ने अपने उत्कृष्ट वीरकाव्य का उन्हें आलम्बन बनाया। वीर बुन्देला छत्रसाल भी ऐसा ही उत्कृष्ट राष्ट्रीय वीर था। भूषण, लाल, सूदन, पद्माकर

आदि कवियों ने हिन्दू वीरों की वीरता के सम्बन्ध में उत्कृष्ट वीररस की कविता का सृजन किया।

प्रश्न २०—रीतिकाल का प्रवर्त्तक आप किसे मानेंगे—केशव अथवा चिन्तामणि को ? अपना मत युक्ति पूर्वक लिखिये।

हिन्दी-रीति-ग्रन्थों की परम्परा कब से चली इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। भक्त कवियों में सर्वप्रथम नन्ददास (लगभग सं० १६००) ने 'रस मंजरी' लिखकर नायिका भेद का निरूपण किया है किन्तु यह भानुदत्त (१४ वीं० श०) की संस्कृत में लिखी 'रसमंजरी' का भाषा पद्य में अनुवाद ही है। कुछ विद्वान् कृपाराम की हिततरंगिणी (सम्वत् १५९८) को नायिका भेद की प्रथम भाषा पुस्तक मानते हैं किन्तु श्री चन्द्रवली पाण्डेय के अनुसार यह परवर्ती काल की रचना है। अन्तर्साक्ष्य के आधार पर इसका रचनाकाल संवत् १७९८ ठहरता है। इसलिए इसका विवेचन बाद में करना ही ठीक रहेगा। काव्यांगों का सम्यक् विवेचन भाषा में सबसे पहले आचार्य केशवदास ने किया। डा० श्यामसुन्दरदास इनको हिन्दी रीतिग्रन्थों का प्रवर्तक मानते है। इनकी 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' में क्रमशः अलंकार और रसों का चन हुआ है। शुक्लजी ने इनसे पहले एक और लेखक करनेस बन्दीजन के विवेतीन अलंकार ग्रन्थों की चर्चा की है— 'कर्णाभरण', 'श्रुति भूषण' और 'भूप-भूषण'। किन्तु इन ग्रन्थों का कोई पता नहीं चलता। इसलिए ये ग्रन्थ नोटिस-मात्र हैं। आचार्य शुक्लजी के अनुसार **"हिन्दी में रीतिग्रंथों की अविरल और अखंडित परम्परा का प्रवाह केशव की कविप्रिया के पचास वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्श को लेकर नहीं।"** आगे शुक्लजी स्पष्ट कहते हैं **"हिन्दी रीतिग्रन्थों की अखण्ड परम्परा चिंतामणी त्रिपाठी से चली अतः रीतिकाल का आरम्भ उन्हीं से मानना चाहिए।"** इस प्रकार हिन्दी में रीति ग्रन्थों के प्रवर्तक के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। शुक्लजी ने केशवदास को रीति-ग्रन्थों का प्रवर्तक मानने के विरुद्ध दो तर्क उपस्थित किए हैं। पहला यह कि केशव की 'कविप्रिया' के पचास वर्ष बाद तक हिन्दी में कोई लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखा गया। दूसरा, यह

कि बाद में भी जो रीति-ग्रन्थों की परम्परा चली वह "केशव के दिखाए हुए पुराने आचार्यों (भामह, उद्भट आदि) के मार्ग पर न चलकर परवर्ती आचार्यों के परिष्कृत मार्ग पर चली जिसमें अलंकार-अलंकार्य्य का भेद हो गया था। हिन्दी के अलंकार ग्रन्थ अधिकतर 'चन्द्रलोक' और 'कुवलयानन्द' के अनुसार निर्माण हुए। कुछ ग्रन्थों में 'काव्य प्रकार' और "साहित्यदर्पण' का भी आधार पाया जाता है। काव्य के स्वरूप और अंगों के सम्बन्ध में हिन्दी के रीतिकार कवियों ने संस्कृत के इन परवर्ती ग्रन्थों का मत ग्रहण किया।" (शुक्लजी) शुक्लजी ने आगे चिन्तामणि त्रिपाठी के रीतग्रन्थों की अखण्ड परम्परा की चर्चा करते हुए कहा है "उसके उपरान्त तो लक्षण ग्रन्थों की भरमार सी होने लगी। कवियों ने कविता लिखने की यह प्रणाली ही बनाली कि पहले दोहे में अलङ्कार या रस का लक्षण लिखना फिर उनके उदाहरण के रूप में कविता या सवैया लिखना।"

सारांश यह कि शुक्ल जी के अनुसार हिन्दी में रीतिग्रन्थों का प्रवर्तक चिन्तामणि त्रिपाठी को ही माना जा सकता है। इतना ही नहीं शुक्लजी ने हिन्दी के रीतिग्रन्थकार कवियों में केशव की चर्चा भी नहीं की है। उन्होंने केशव को भक्तिकाल की फुटकल रचनाओं के खाते में डाल दिया है। डा० श्यामसुन्दरदास का मत भी इस सम्बन्ध में विचारणीय है। वे केशव को रीतिकाल का आदि प्रवर्तक मानते हैं—"**यद्यपि समय विभाग के अनुसार केशवदास भक्तिकाल में पड़ते हैं और यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास आदि के समकालीन होने तथा रामचन्द्रिका आदि ग्रन्थ लिखने के कारण ये कोरे रीतिवादी नहीं कहे जा सकते; परन्तु उन पर पिछले काल के संस्कृत साहित्य का इतना अधिक प्रभाव पड़ा था कि अपने काल की हिन्दी काव्यधारा से पृथक होकर वे चमत्कारवादी कवि हो गए और हिन्दी में रीति-ग्रन्थों की परम्परा के आदि आचार्य कहलाए।**" एक बात तो स्पष्ट है कि केशवदास अपने काव्य की मूल प्रेरणा संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों से लेते हैं। उन्होंने 'रामचन्द्रिका' की रचना की फिर भी वे भक्त कवि नहीं कहे जा सकते क्योंकि उनके काव्य की मूल प्रेरणा भक्ति नहीं है। इसलिए वे निश्चय रूप से हिन्दी के सर्वप्रथम रीति-ग्रन्थकार ठहरते हैं। अब रीति ग्रन्थों का प्रवर्तन उन्होंने किया या नहीं यह विवादास्पद है।

शुक्लजी का तर्क यह है कि प्रवर्तक कवि वही हो सकता है जिसके परवर्ती लोग प्रेरणा लेकर उसका अनुगमन करें। इस दृष्टि से केशव प्रवर्तक नहीं ठहरते। किन्तु यह बात सर्वत्र ठीक नहीं है। ऐसा भी हो सकता है कि नवीन प्रवृत्ति का प्रवर्तन करने वाले के कुछ समय बाद उस प्रवृत्ति की परम्परा चले। फिर केशव और चिन्तामणि के बीच में दो-तीन रीति ग्रन्थों का पता चला है कि आगे की खोज द्वारा कुछ अन्य ग्रन्थों के मिलने की सम्भावना है। केशव ने निश्चय ही रीति ग्रन्थ लिखने की परिपाटी का आरम्भ किया। शुक्लजी का दूसरा तर्क यह है कि परवर्ती रीति ग्रन्थकारों में केशव के माने हुए संस्कृत के आचार्यों का अनुकरण नहीं हुआ। इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि केशव ने रीति ग्रन्थ लिखने की परिपाटी प्रारम्भ की। यह बात दूसरी है कि आगे के रीति-ग्रन्थकारों ने जिन आचार्यों का आधार लिया, केशव ने उन्हें छोड़कर अन्य आचार्यों के मतों को अपनाया। यों तो शुक्लजी ने कृपाराम का समय सं० १५९८ मानकर उन्हें केशव का पूर्ववर्ती रीतिग्रन्थ प्रणेता माना है किन्तु वस्तुतः कृपाराम का समय, जैसा कि श्री चन्द्रवली पाँडेय ने सिद्ध कर दिया है, सं० १७९८ ही ठहरता है और वे केशव के परवर्ती हैं—खैर, जो भी हो, केशव ने हिन्दी में सर्वप्रथम रीतिग्रन्थों का सृजन किया। अतः उन्हें ही रीतिकाल का प्रवर्त्तक मानना उचित है।

प्रश्न २१—भूषण को रीतिकालीन कवि क्यों माना जाता है—इसके कारणों पर प्रकाश डालते हुए यह भी बताइये कि क्या भूषण को अपने युग का राष्ट्रीय कवि कहा जा सकता है।

भूषण चूँकि रीतिकाल में उत्पन्न हुए थे अतः उन्हें रीतिकाल का कवि मानना होगा। और दूसरा कारण यह कि उन्होंने रीतिकाल की प्रधान प्रवृत्ति लक्षण-ग्रन्थ-रचना को भी अपने काव्य में स्थान दिया था। सामान्यतः उन्हें रीतिकाल में उत्पन्न वीर कवि ही माना जाता है। अलङ्कार सम्प्रदाय के अनुकरण में केशव, चिन्तामणि, भिखारीदास आदि कवि आचार्यों ने अलङ्कार-ग्रन्थों का सृजन किया। भूषण की राष्ट्रीय प्रतिभा को भी इस प्रगति ने आकर्षित किया और उन्होंने शास्त्रीयता के प्रभाव में आकर 'कवि-राज भूषण' नामक प्रसिद्ध अलङ्कार ग्रन्थ की रचना की। इसमें दोहों में लक्षण देकर

कवित्त और सवैयों में उनके उदाहरण लिखे हैं। उनके दूसरे ग्रन्थ 'शिवा-बावनी' में भी उनका झुकाव अलङ्कारों की ओर ही अधिक है। काव्यांगों में भूषण ने केवल अलकारों को ही लिया है। रस शब्द-शक्ति, नायिका-भेद आदि की पूर्ण उपेक्षा की है। काल की प्रधान प्रवृत्ति शृंगार के ऊपर उनके केवल दो-चार छन्द ही मिले है। इस प्रकार रीतिग्रन्थों की रचना में उन्होंने अलंकार सम्प्रदाय का तो प्रभाव ग्रहण किया परन्तु नायिका-भेद वर्णन के चक्कर से वे साफ बचकर निकल गये। भूषण का लक्षण-ग्रन्थ अव्यवस्थित तथा गड़बड़ी से भरा हुआ है। कई स्थानों पर लक्षण और उदाहरण दोनों ही अस्पष्ट हैं। अतः इस वर्ग के कवियों की तुलना में भूषण का कोई विशेष महत्व नहीं है। इन्हीं दो कारणों से भूषण को रीतिकाल का कवि माना जाता है।

भूषण का दूसरा रूप एक वीररस के प्रणेता कवि का है। इस दृष्टिकोण से उनकी गणना रीतिकाल के उन फुटकर कवियों में होनी चाहिए, जिन्होने तत्कालीन प्रवहमान धारा से हटकर वीर-काव्य को प्रश्रय दिया। भूषण के वास्तविक मूल्य का आधार उनकी वीर-रसात्मक कविता ही है। रीतिकाल के उस युग में जहाँ लोगों में भक्ति और शौर्य के प्रति बहुत कम आस्था रह गई थी, भूषण ने हिन्दू जाति को जागरण का मन्त्र देकर सुषुप्त देश को राष्ट्रीयता की ओर उन्मुख किया। इस प्रकार वे रीतिकाल में एक नवीन धारा के प्रवर्त्तक अथवा वीरगाथा के संरक्षक के रूप में स्वीकार किए जा सकते हैं। यद्यपि उन्होंने अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में नर-काव्य की ही रचना की परन्तु उसे वास्तविकता से दूर नहीं हटने दिया। उनका काव्य-कौशल भी उच्च-कोटि का है। इस प्रकार उन्होंने अपनी निर्भीकता और काव्य-कौशल के बल पर निर्भर करते हुए प्राचीन विलुप्त प्रायः वीर काव्य की धारा को पुनर्जीवित कर उसे आगे बढ़ाया। वे जातीय स्वातन्त्र्य संग्राम के संरक्षक और राष्ट्र उन्नति हेतु अग्रसर होने वाले सर्वप्रथम राष्ट्रीय कवि थे।

भूषण को राष्ट्र कवि माना जाय या नहीं, यह विवादग्रस्त प्रश्न रहा है। जो सारे भारत को एक राष्ट्र मानते हैं उनकी दृष्टि में भूषण एक संकुचित दृष्टिकोण वाले जातीय कवि हैं। उनकी दृष्टि से भूषण की कविता अराष्ट्रीय,

द्वेषपूर्ण और हिन्दू-मुसलमानों में घृणा फैलाने वाली है। ऐसे आलोचक यह भूल जाते हैं कि समय-समय पर राष्ट्रीयता की परिभाषा परिवर्तित होती रहती है। वीरगाथा काल में एक राज्य-विशेष ही राष्ट्र माना जाता था। भूषण के युग में सम्पूर्ण हिन्दू-जाति राष्ट्र मानी जाने लगी। आज सम्पूर्ण भारत एक राष्ट्र माना जाता है। लक्षण ऐसे हैं कि भविष्य में सम्पूर्ण विश्व ही एक राष्ट्र माना जाने लगेगा। इसलिए हम भूषण को जब उसी युग में रखकर देखने का प्रयत्न करेंगे तभी उनका महत्व हमारी समझ में आ सकेगा। यदि कवि होकर भूषण अपने युग के हिन्दुओं की उस स्वातन्त्र्य-भावना का प्रतिनिधित्व न करते तो वह अपने युग, अपने और अपनी कवित्व शक्ति के प्रति घोर विश्वासघात करते, जैसा कि अन्य रीतिकालीन कवियों ने किया है।

रीतिकालीन अनैतिकतापूर्ण गन्दे वातावरण में जन्म लेकर भी सरस्वती के इस वरद् पुत्र ने, विलासिता का मार्ग न अपनाकर राष्ट्रीयता को अपनाया। आश्रयदाताओं की मनस्तृप्ति के लिए कलुषित प्रेम की शत-सहस्त्र उद्भावनाएँ नहीं कीं। 'कलि के कविराजन' के विपरीत उन्होंने शिवाजी और छत्रसाल जैसे राष्ट्रनायकों का यश गाया। भूषण से पहिले अन्य किसी भी कवि को जातीय जीवन का आदर्श नहीं सूझा था। भूषण ने शिवाजी और छत्रसाल के राष्ट्रीय और जातीय रूप का ही चित्रण किया है। उनके वैयक्तिक जीवन या उनके प्रेम व्यापार पर उन्होंने एक भी शब्द नहीं कहा। उन्होंने अपने नायकों की प्रशंसा केवल इसलिये की कि उन्होने "हिन्दुवान द्रुपद की लाज बचैवे के काज" रण ठाना था। आधुनिक युग में जिस प्रकार अँग्रेजों के विरुद्ध एक हिन्दू-मुसलमान राष्ट्र की भावना का प्रचार किया गया उसी प्रकार उस सयय अंग्रेजों के स्थान पर मुसलमान आसीन थे, हिन्दू उनका विरोध कर रहे थे। इस विरोध का सबसे बड़ा समर्थन केवल भूषण ने ही किया। लाल, सूदन, पद्माकर आदि अन्य वीररस के कवि अधिकतर अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा करने तक ही सीमित रहे। भूषण की भावना व्यापक थी। उनकी दृष्टि में यदि—"शिवाजी न होतो सुनति होति सबकी" का भयंकर संकट था। इस सङ्कट से उबारने के लिए ही उन्होंने कहा था—"शिव सरजा न, यह महेश है शिव।"

भूषण अपने नायक को राष्ट्र का प्रतीक मानते हैं। वे उसकी विजय को वैयक्तिक विजय न मानकर राष्ट्र की विजय मानते हैं। इसी विशेषता को लक्ष्य कर आचार्य शुक्ल ने लिखा था—"**भूषण ने जिन दो नायकों की कीर्ति को अपने काव्य का विषय बनाया, वे अन्याय-दमन में तत्पर, हिन्दू धर्म के संरक्षक, दो इतिहास प्रसिद्ध वीर थे। उनके प्रति भक्ति और सम्मान की प्रतिष्ठा हिन्दू जनता के हृदय में उस समय भी थी और आगे भी बराबर बनी रही या बढ़ती गई। इसी से भूषण के वीर रस के उद्गार सारी जनता के हृदय की सम्पत्ति हुए। भूषण की कविता कवि-कीर्ति सम्बन्धी एक अविचल सत्य का दृष्टान्त है। जिस रचना को जनता का हृदय स्वीकार करेगा उस कवि की कीर्त्ति तब तक बराबर बनी रहेगी जब तक स्वीकृति बनी रहेगी।**" इस कथन से यह स्पष्ट हो जाती है कि जब रीतिकालीन अन्य कवि कामुकतापूर्ण विविध उक्तियों द्वारा हिन्दी-साहित्य के भण्डार में गन्दगी भर रहे थे, भूषण के भीतर का ओजस्वी कवि तड़प उठा और उसने अपनी तेजपूर्ण वाणी से राष्ट्र पर पड़ने वाली विपत्ति से मोर्चा लेने के लिए लोगों में जीवन फूँक दिया। अतः भूषण को सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय कवि मानना चाहिये।

प्रश्न २२—रीतिमुक्त शृङ्गारिक कवियों का महत्वांकन कीजिये।

उत्तर—अठारहवीं शताब्दी में रीतिकालीन कविता में एक प्रकार की स्वच्छन्द प्रेम-धारा का विकास हुआ; किन्तु इससे पूर्व भक्तिकाल में भी '**रसखान**' (लगभग सम्वत् १६२२) नाम के उन्मुक्त भक्त कवि हो चुके थे। ये यद्यपि भक्त कवि माने गए हैं तथापि उनमें उन्मुक्त प्रेम का वर्णन ही अधिक हुआ है। अपनी प्रेम की उमंग के कारण ही नहीं वरन् कृष्णभक्त कवियों की गीतात्मक शैली के स्थान पर कवित्त-सवैया पद्धति को अपनाकर भी उन्होंने भक्त-कवियों से अपना पार्थक्य सूचित किया। अपनी इसी स्वच्छन्द प्रवृत्ति के कारण वे भक्त कवियों से अलग और प्रेमी गायक कवियों में प्रमुख हो जाते हैं। इनमें शुद्ध भक्ति के स्थान पर शुद्ध प्रेम का ही विकास दर्शनीय है। दूसरी बात इन पर फारसी की ऐकान्तिक प्रेमवादी कवियों की रचनाओं का प्रभाव है। रसखान अत्यन्त प्रेमी जीव थे। उन्होंने अपने हृदय के सहज प्रेम को सरल

एवं सहज भाषा में अभिव्यक्त किया है। इनकी अनुभूति में बड़ी सरसता एवं तन्मयता है।

रसखान के बाद स्वच्छन्द प्रेमधारा के प्रसिद्ध कवि **आलम** हुए। आलम से पूर्व के वेनी और बनवारी में भी कुछ स्वच्छन्द प्रेमधारा की कविता का आभास मिलता है। फिर भी इनमें वह स्वच्छन्दता नहीं है जो स्वच्छन्द धारा के प्रेमी कवियों में पाई जाती है। आलम का रचनाकाल सं० १७४० से सं० १७६० के लगभग था। इनकी कविताओं का एक संग्रह "आलमकेलि" के नाम से निकला है। इनकी पत्नी शेख भी कविता करती थीं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनका बड़ा सुन्दर परिचय दिया है—"**ये प्रेमोन्मत्त कवि थे और अपनी तरंग के अनुसार रचना करते थे। इसी से इनकी रचनाओं में हृदय तत्व की प्रधानता है। 'प्रेम की पीर' या 'इश्क का दर्द' इनके एक एक वाक्य में भरा पाया जाता है। शृङ्गारस की ऐसी उन्मादमयी उक्तियाँ इनकी रचना में मिलती हैं कि पढ़ने और सुनने वाले लीन हो जाते हैं। यह तन्मयता सच्ची उमंग में ही सम्भव है···प्रेम की तन्मयता की दृष्टि से आलम की गणना 'रसखान' और घनआनन्द की कोटि में होनी चाहिये।**" कहने का तात्पर्य यह कि आलम की कविता में प्रेमोन्मत्त कवियों की धारा के सभी गुणों का परिपाक हुआ है।

आलम के बाद महाकवि **घनआनन्द** (जन्म लगभग संवत् १७४६) ने स्वच्छन्द प्रेम की कविता को समृद्ध किया। ये मुहम्मदशाह रंगीले के मीरमुंशी थे और सुजान नाम की वेश्या पर अनुरक्त थे। आगे चलकर इनकी सुजान अलौकिक कृष्ण का प्रतीक बन गई और इनका प्रेम चिन्मुख हो गया। शुक्लजी के शब्दों में 'लौकिक प्रेम की दीक्षा पाकर ही ये पीछे भगवत्प्रेम में लीन हुए।' अपने लौकिक प्रेम की असफलता एवं सुजान से वियोग होने के कारण इनके काव्य में विरह वर्णन की अधिकता है और इन्हीं वर्णनों में उनके हृदय के भावों की सच्ची अभिव्यक्ति भी हुई है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने ठीक ही लिखा है—"**घनानन्द ने विरह के महत्व को भलीभाँति समझा था। इसीलिये प्रेमी के विरहदग्ध हृदय तथा उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं अनिर्वचनीय मानसिक व्यापारों का जैसा सुन्दर वर्णन अपनी कविता द्वारा उन्होंने किया है वैसा**

बहुत कम कवि कर पर पाये हैं।...उनके विरह वर्णन में एक आश्रित का अनु-रोध एवं मर्यादित आत्मनिवेदन है जो अपनी स्वाभाविकता के कारण सुनने वाले का मन बरबस ही अपनी ओर खींच लेता है।"

घनआनन्द की विरहानुभूति बड़ी तीव्र है किन्तु सरस भी। उसमें हृदय का सच्चा एवं तीव्र प्रेम उमड़ कर बह रहा है। ये सच्चे प्रेमोन्मत्त गायक थे। इसीलिए इनकी कविता में चमत्कार प्रदर्शन का अभाव है। ये कविता सृजन करने के लिए परेशान नहीं होते थे। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के शब्दों में इनके "**हृदय का वेग ही कविता का रूप धारण कर लेता था।**"

घनआनन्द ने रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलङ्कारों का प्रयोग भी प्रेम की सच्ची अनुभूति व्यक्त करने के लिए किया है। घनआनन्द का भाषा-सौन्दर्य भी देखने योग्य है। इनकी भाषा के स्निग्ध, सरल और चलते प्रवाह एवं नाद-व्यंजना पर शुक्लजी मुग्ध थे। स्वाभाविकता एवं सरलता उनकी भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है।

अन्त में हम शुक्ल जी के शब्दों में कह सकते हैं कि "इनकी सी विशुद्ध, सरस और शक्तिशालिनी ब्रजभाषा लिखने में और कोई कवि समर्थ नहीं हुआ। विशुद्धता के साथ प्रौढ़ता और माधुर्य भी अपूर्व ही है। विप्रलम्भ शृङ्गार ही अधिकतर इन्होंने लिखा है। ये वियोग शृंगार के प्रधान मुक्तक कवि हैं। 'प्रेम की पीर' को लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। प्रेम-मार्ग का एक ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जाँवदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रज-भाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।"

घनआनन्द के बाद पन्ना दरबार के कवि (जन्म सं० १८०४) **बोधा** का नाम आता है। इनका नाम बुद्धसेन था। घनआनन्द की भाँति इनका सम्बन्ध भी सुभान नामक वेश्या से बताया जाता है। इनके दो ग्रन्थ हैं—विरहवारीश और इश्कनामा। इनके अतिरिक्त बहुत से फुटकल कवित्त सवैये भी मिलते हैं। इन पर सूफियों की 'प्रेम की पीर' का प्रभाव स्पष्ट है, देखिए—

"जबतें बिछुरे कवि बोधा हितू
तब तें उरदाह थिरातो नहीं।

हम कौन सों पीर कहैं अपनी,
दिलदार तो कोऊ दिखातो नहीं।"

बोधा ने विरह-वर्णन भारतीय पद्धति पर वर्णित किया है किन्तु साथ ही उन्होंने 'इश्कमजाजी' और 'इश्क हकीकी' का भी उल्लेख करके अपने ऊपर पड़े सूफी प्रभाव को स्पष्ट कर दिया है। श्री रामधारीसिंह दिनकर ने बोधा कवि की प्रेम की उमंग की अन्य प्रेमी कवियों से इस प्रकार तुलना की है—रीतिकाल में अगर घनआनन्द को लेकर एक अलग परिवार की कल्पना की जाय तो उनके सबसे अधिक विश्वासी कवि बोधा होंगे··· । बोधा घनआनन्द के ही गुटका संस्करण से लगते हैं। प्रेम का वही नशा, विरह की वही बेचैनी, भावुकता की वही लहर और निराशा में तड़प-तड़प कर जान दे देने की वही चाह। बल्कि जान दे देने का मजमून घनआनन्द में बहुत थोड़ा सा है, लेकिन बोधा इस मजमून के बहुत कायल हैं। बोधा का व्यक्तित्व एक भावुक प्रेमी का व्यक्तित्व है, जिसे प्रेम में निराशा हुई है, जिसके मन की आग मन में ही जल रही है और उसे कहीं भी वह आदमी नहीं मिलता, जिसके सामने अपनी वेदना कह कर वह अपने जी को हल्का करे।" इनकी श्री राधिकाजी के चरणों में प्रीति थी। अन्य सब प्रेम की उमङ्ग वाले कवियों की भांति इन्होंने भी राधा-कृष्ण के प्रेम का सहारा लेकर अपने हृदय की भावनाओं को व्यक्त किया।

ठाकुर—बोधा के पश्चात् स्वच्छन्द प्रेम धारा के कवि ठाकुर (जन्म सं० १८२३) का नाम आता है। इतिहास में दो अन्य ठाकुर नाम के कवि प्रसिद्ध हैं किन्तु प्रेमधारा के कवि ठाकुर का जन्म ओरछा (बुन्देलखण्ड) में हुआ था और इनकी रचनाओं में बुन्देलखण्डी कहावतें या मुहावरे बहुत आए हैं जिनसे इनकी रचनाएँ पहचानी जा सकती हैं। इनकी कविताओं का एक संग्रह 'ठाकुर ठसक' नाम से लाला भगवानदीन ने प्रकाशित कराया था। ठाकुर सच्ची प्रेम की उमंग के कवि हैं। इनकी प्रेमधारा पर फारसी प्रभाव बहुत कम है। इनकी रचनाओं में प्रेमभाव की बड़ी स्वाभाविक एवं सरल अभिव्यक्ति हुई है। शुक्लजी ने भी लिखा है—"ठाकुर बहुत ही सच्ची उमंग के कवि थे। उनमें कृत्रिमता का लेश नहीं। न तो कहीं व्यर्थ का शब्दाडम्बर

है, न कल्पना की झूठी उड़ान और न अनुभूति के विरुद्ध भावों का उत्कर्ष। जैसे भावों का जिस ढंग से मनुष्यमात्र अनुभव करते हैं वैसे भावों को उसी ढंग के यह कवि अपनी स्वाभाविक भाषा में उतार देता है। बोलचाल की चलती भाषा में भाव को ज्यों का त्यों सामने रख देना इस कवि का लक्ष्य रहा है। गोपियों के द्वारा इन्होंने प्रेम की अनुभूति की बड़ी सुन्दर अभिव्यंजना की है।'

यों तो अन्य दोनों ठाकुर कवियों की कविताओं में स्वच्छन्द प्रेम की झलक मिल जाती है किन्तु स्वच्छन्द प्रेम-काव्य-धारा में तीसरे बुन्देलखण्ड के ठाकुर का ही स्थान है। मुबारक और द्विजदेव की कविताओं में भी रीति मुक्त शृङ्गारी भावनाएँ व्यक्त हुई हैं। द्विजदेव की रचना बड़ी सरस एवं भावमयी है। इनके दो ग्रन्थ हैं—शृङ्गार बत्तीसी और शृङ्गारलतिका। इस प्रकार रीति मुक्त शृंगारी कवियों की परम्परा अठाहरवीं शताब्दी तक चलती रही। इसके बाद इस काव्यधारा का विकास रुक गया। यद्यपि कुछ आलोचक यह मानने लगे हैं कि आधुनिक काल में छायावादी काव्यधारा में रीतिमुक्त कवियों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति उभरी है।

प्रश्न २३—आधुनिक काल की परिस्थितियों एवं प्रेरक शक्तियों पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल का प्रारम्भ १८५० ई० से माना जाता है। यह सन् भारतेन्दु का जन्म-काल है और आधुनिक काल का प्रथम चरण भारतेन्दु से ही सम्बन्धित है। भारतेन्दु युग से ही आधुनिक युग का प्रारम्भ होता है। सन् १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता युद्ध के असफल हो जाने से ब्रिटिश शासन-सत्ता हमारे देश में पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हो गई। विरोधी शक्तियाँ एक दीर्घकाल के लिये हतप्रभ होकर शान्त बैठ गईं। इस असफलता से उन शक्तियों का तीव्र ह्रास हुआ जो मध्यकालीन समाज-व्यवस्था और संस्कृति की पोषक थीं। फलस्वरूप मध्यकालीन सामन्ती-व्यवस्था और संस्कृति इस देश से लुप्त होने लगी और एक नवीन परन्तु विदेशी शोषण पर आधारित आर्थिक, राजनीतिक प्रणाली का सूत्रपात हुआ। इस परिवर्तन के लक्षण बहुत पहले से दिखाई देने लगे थे। प्रख्यात कम्युनिस्ट लेखक रजनी पामदत्त का मत है कि विदेशियों के आगमन से इस क्रान्ति में विलम्ब ही हुआ। अंग्रेजों

ने हमारे निरन्तर विकासमान उद्योग-धन्धों का नाश कर हमारी सामाजिक और आर्थिक उन्नति में एक व्यवधान उत्पन्न कर दिया। रीतिकाल का अन्त सामन्ती समाज व्यवस्था और संस्कृति का अन्त था। आधुनिक युग व्यावसायिक क्रान्ति और सांस्कृतिक नवजागरण का युग है। भारत की साहित्यिक आत्मा, जो सीमित और रूढ़िवादी सामाजिक जीवन के कारण निष्प्राण हो रही थी, इस नई संस्कृति के संस्पर्श से जाग उठी।

आलोचक प्रकाशचन्द्र गुप्त ने आधुनिक युग की प्रेरक विभिन्न परिस्थितियों का विवेचन करते हुए लिखा है कि—"आधुनिक युग का आरम्भ उत्पादन, यातायात और वितरण के नए साधनों के साथ होता है। अंग्रेजों ने भारत की आर्थिक व्यवस्था में अनेक नए परिवर्तन किए। एक ओर तो उन्होंने देशी उद्योग-धन्धों को आमूल तहस-नहस किया, किन्तु दूसरी ओर उन्होंने विदेशी पूँजी से नए उद्योग-धन्धे भी भारत में स्थापित करने शुरू किए।···रेल, तार डाक आदि जो उन्होंने अपनी आर्थिक और राजनीतिक सत्ता कायम करने के लिए खड़े किए, वे भारत में एक नए जीवन और संस्कृति के दूत भी बन गए। अंग्रेजी शिक्षा का जो अस्त्र उन्होंने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए चलाया था, सुदर्शन-चक्र की भाँति उलट कर उन्हीं के मर्म-स्थान पर लगा।" परन्तु इस नवीन शिक्षा से जाति में नव चेतना का जागरण हुआ। साथ ही भारतीयों में अपने देश, समाज, साहित्य, संस्कृति आदि के प्रति हीन भावना उत्पन्नों हुई। अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से हमारा पश्चिम से अधिकाधिक सम्पर्क बढ़ता गया।

हमारा भक्तिकालीन साहित्य जनता का साहित्य था और रीतिकालीन साहित्य दरबारों का। आधुनिक हिन्दी साहित्य भारतीय समाज के एक सर्वथा नए वर्ग का साहित्य है जो नवीन शासन-प्रणाली और आर्थिक-प्रणाली के फलस्वरूप रंगमंच पर प्रवेश कर रहा है। यह साहित्य वस्तुतः भारतीय मध्यम वर्ग की सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक चेतना का फल है। इसका प्रधान कारण यह है कि पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आने से तथा भारतीय चिंतकों के नवीन दृष्टिकोण से राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक क्षेत्र में

भारतीय दृष्टिकोण बदल रहा था और इसी बदलते हुए दृष्टिकोण से प्रेरणा ग्रहण कर आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास हुआ। नव-जागरण से उत्पन्न विचार स्वातन्त्र्य के प्रभाव से हमारे साहित्य ने रूढ़ि के बन्धनों को तोड़ कर एक नए युग में प्रवेश किया।

ब्रह्म-समाज और आर्य-समाज के रूप में हमारा धार्मिक दृष्टिकोण सुधारवादी रूप ग्रहण करने लगा था। राजा राममोहनराय और स्वामी दयानन्द ने धार्मिक रूढ़ियों का विरोध कर सामाजिक सुधार की आवाज बुलन्द की। राय महोदय पश्चिम की ओर झुके और स्वामीजी प्राचीन वैदिक संस्कृति की ओर। दूसरी ओर 'टिक्कस', अकाल तथा राजकीय अत्याचारों से जनता में जागृति हुई। इस हलचल के युग में रीतिकालीन शृंगारिक भावना लुप्त हो चली।

मुद्रण कला के प्रचार ने भी इस काल के साहित्य को सर्व सुलभ और जन-प्रिय बनाने में बहुत योग दिया। पहले साहित्य का अध्ययन एक विशिष्ट वर्ग तक सीमित था। प्रेस ने साहित्य को प्रजातांत्रिक रूप दिया। समाचार-पत्र, उपन्यास, कहानियाँ आदि प्रेस के कारण खूब प्रचारित हुईं। अँग्रेजों के प्रयत्न से हिन्दी गद्य के सुव्यवस्थित रूप का प्रचार हुआ। इन्होंने भारतीय विद्वानों द्वारा हिन्दी-उर्दू की पूस्तकें लिखवाने का भी प्रयत्न किया।

इसके अतिरिक्त ईसाई प्रचारकों ने भी हिन्दी का प्रचार करने में योग दिया। उन्होंने अपनी धार्मिक पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद करके ईसाई धर्म के प्रचारार्थ, जनता में वितरित किया। अँग्रेजी की प्रेरणा से कई समाचार-पत्र भी निकाले गए। शिक्षा प्रसार के लिए स्कूलों और कालेजों की स्थापना की गई। अँग्रेजी शिक्षा के प्रचार से भारतीयों में स्वतन्त्रता की भावना अधिक उत्पन्न हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक सरकार द्वारा हिन्दी की उपेक्षा कर उर्दू को प्रश्रय दिया गया। देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा को कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। परन्तु समस्त विरोधों और उपेक्षाओं को पददलित करके, हिन्दी केवल अपनी आन्तरिक प्राण-शक्ति के बल पर आगे बढ़ती गई। सन् १८८५ में 'इण्डियन नेशनल काँग्रेस' की स्थापना हुई जिसने आगे चलकर भारतीय चिन्तन-धारा को बहुत अधिक प्रभावित किया, जो क्रमशः सामाजिक

सुधार और धार्मिक प्रचार के उत्साह को राजनीतिक आन्दोलन के रूप में बदल देने में समर्थ हुई। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में भारतवर्ष की साहित्यिक चेतना प्रधान रूप से राष्ट्रीय चेतना के रूप में प्रकट हुई। इस काल में कविता, नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि सभी साहित्यिक कृतियों में इन आन्दोलनों का प्रभाव लक्षित होता है। साथ ही इस साहित्य के भावों, विचारों तथा शैली पर अँग्रेजी का प्रभाव पड़ रहा था।

नवीन युग में जीवन-संघर्ष की प्रधानता थी—अतः कविता में भी संघर्ष को चित्रित किया गया। इस संघर्ष को ब्रजभाषा की कोमल-कान्त पदावली में व्यक्त करना सम्भव न था। अतः विचारों की वाहक खड़ीबोली गद्य के साथ पद्य में भी आ गई।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल की सबसे प्रधान प्रवृति राष्ट्रीयता, देश-प्रेम अथवा स्वतन्त्रता की भावना है। राष्ट्रीय वीरों का गान, राष्ट्र पतन के लिए दुख प्रकाश, समाज की अवनति के प्रति क्षोभ, कुरीतियों के परिहार के लिए अधीरता और तत्परता तथा हिन्दू जातीयता, ये आधुनिक युग के प्रारम्भिक उत्थान की प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। भारतेन्दु काल से चलकर ये प्रवृत्तियाँ निरन्तर विकसित, परिमार्जित और अन्य अनेक नवीन प्रवृत्तियों से प्रभावित होती चली आ रही हैं। बीसवीं शताब्दी में आकर इनमें कुछ नितान्त नवीन प्रवृत्तियों का मिश्रण हो गया है; जैसे—छायावाद और नवीन रहस्यवाद। भारतेन्दु काल से द्विवेदी काल तक इस साहित्य की धारा एकरस चलती आई। छायावादी युग में आकर इसमें अकस्मात् परिवर्तन दिखाई दिया। राजनीतिक आन्दोलनों की असफलता ने युवकों को निराश और पलायनवादी बना दिया। इस निराशा एवं पलायन की भावना और साथ ही सौन्दर्य की भावना ने छायावाद को जन्म दिया। यह काव्य मानव-जीवन के क्षेत्र से कुछ सीमा तक हट गया।

इस काल की सबसे प्रधान घटना खड़ी बोली गद्य का प्रारम्भ और खड़ी बोलीं द्वारा ब्रजभाषा को अपदस्थ कर स्वयं गद्य-पद्य में प्रभुत्व स्थापित करना है। इस काल में साहित्य कभी जन-जीवन को छूता हुआ चला है और कभी उसकी उपेक्षा भी की है। परिवर्तन बहुत शीघ्र और अस्थायी होते रहे हैं।

यह काल हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास में सबसे अधिक घटनापूर्ण, परिवर्तनशील और बहुमुखी रहा है।

आधुनिक काल को हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग कहा जा सकता है। साहित्य के प्रत्येक अङ्ग का पूर्ण विकास हुआ है। साथ ही विभिन्न साहित्यिक रूपों और प्रवृत्तियों की विविधता भी रही है। यह पूर्ववर्ती साहित्य से अधिक आशाजनक है। इसके कई कारण हैं—१--गद्य का विकास, २—राष्ट्रीय भावों की प्रधानता। आज की राष्ट्रीयता में आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक आदि सभी समस्याओं का समावेश है। ३—शुद्ध शृङ्गारिकता—भक्ति की मर्यादा एवं रीति की अति से दूर मध्यम मार्ग—शुद्ध वातावरण। ४—आज का साहित्य जीवन के अधिक समीप है—पहले कल्पना थी और अब वास्तविकता का प्राधान्य है। इस युग में छायावाद को छोडकर सर्वत्र मानव जीवन को प्रधानता दी गई है। ५—दार्शनिकता की अभिव्यक्ति छायावाद और रहस्यवाद के रूप में हुई है। साहित्य के सभी अङ्गों का पूर्ण विकास हुआ है। इससे पूर्व केवल कविता थी और आज गद्य के साथ सबकुछ है। ६—वादों की प्रधानता—अन्य युगों में वादों की प्रधानता नहीं थी; परन्तु इस युग में वादों की बाढ आ गई है।

प्रश्न २४—आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उत्तर - आचार्य शुक्ल ने आधुनिक काल के इतिहास को तीन उत्थानों में विभाजित किया—१—प्रथम उत्थान संवत् १९२५-५०; २-द्वितीय उत्थान संवत् (१९५०-७०), ३—तृतीय उत्थान संवत् १९७५ से प्रारम्भ। अन्य आलोचकों ने इस काल को भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग और छायावादी युग में विभक्त किया है। परन्तु 'छायावाद' अधिकतर आधुनिक हिन्दी काव्य से सम्बन्धित है इसलिए गद्य-साहित्य को इसके अन्तर्गत पूर्णरूप से नहीं माना जा सकता। कुछ आलोचकों ने इस काल के विभिन्न साहित्यांगों के प्रतिनिधि साहित्यकारों के नाम पर तृतीय उत्थान को प्रेमचन्द-प्रसाद-शुक्ल काल माना है।

प्रथम उत्थान—(भारतेन्दु-युग) भारतेन्दु आधुनिक साहित्य के जन्मदाता माने जाते हैं। उनका युग आधुनिक हिन्दी-साहित्य का प्रवेश द्वार है। इस युग

को हम संक्रान्तिकाल का युग अथवा संधि-युग भी कह सकते हैं। यह युग प्राचीन परम्पराओं और मर्यादाओं की रक्षा करते हुए भी नवीन राजनैतिक एवं सांस्कृतिक चेतना को लेकर आगे बढ़ा। इस युग में खड़ी बोली को सर्वप्रथम गद्य का माध्यम स्वीकार किया गया। पद्य की भाषा ब्रजभाषा ही रही। भारतेन्दु के नेतृत्व में खड़ी बोली का अभूतपूर्व विकास और प्रसार हुआ। परन्तु भारतेन्दु का अधिकांश काव्य ब्रजभाषा में है। यह मध्यकालीन परम्परा से भी काफी प्रभावित है। खड़ी बोली और ब्रजभाषा का संघर्ष इसी युग से प्रारम्भ हो गया। भारतेन्दु युग में अनेक नवीन गद्य रूपों का विकास हुआ। इन नये रूपों में पत्रकारिता, उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना, निबन्ध आदि का प्रारम्भ और विकास हुआ।

हिन्दी गद्य के प्रवर्त्तकों में चार प्रथम-पुरुषों के नाम आते हैं। मुंशी सदासुखलाल (सुखसागर), इंशाअल्लाखाँ (रानी केतकी की कहानी), लल्लूलाल (प्रेमसागर), और सदल मिश्र (नासिकेतोपाख्यान)। इस युग में खड़ी बोली गद्य की रूपरेखा प्रस्तुत हो रही थी। इस गद्य-निर्माण के कार्य में अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने यथेष्ट योग दिया। इनमें उदन्त मार्तण्ड, कविवचन सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन विशेष उल्लेखनीय हैं। उपन्यासों के क्षेत्र में श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षा-गुरु' हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यास माना जाता है। देवकीनन्दन खत्री के तिलस्मी उपन्यास और पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी के तथाकथित सामाजिक उपन्यासों ने हिन्दी उपन्यास लेखन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया। इन उपन्यासों में केवल घटना-वैचित्र्य है—चरित्र-चित्रण नहीं। हिन्दी में नाटक भी लिखे जाते थे। भारतेन्दु से पूर्व प्रबोध चन्द्रोदय, देवमाया प्रपंच, रुक्मिणी हरण नाटक आदि नाटक प्राप्त हुए हैं। परन्तु हिन्दी का पहला आधुनिक नाटक गिरधर का 'नहुष' माना जाता है। इसके उपरान्त भारतेन्दु ने दर्जनों मौलिक और अनुवादित नाटक लिखे। इनके नाटकों में साहित्यिकता के साथ साथ नाटकीय गुण भी हैं। आलोचना का आरम्भ श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' से होता है। लेखकों, पुस्तकों और साहित्यिक रूपों की विवेचना इसी युग से प्रारम्भ हुई। इस युग के लेखकों ने पाश्चात्य आलोचना शैली

का अध्ययन कर अपने युग के लेखकों के सम्मुख नये आदर्श उपस्थित किए। इस युग में निबन्ध, जीवनी आदि का प्रारम्भ हुआ।

काव्य के क्षेत्र में इस काल के लेखकों ने हिन्दी की प्राचीन परम्परा को अपनाया तो अवश्य परन्तु उसे विकास के नए पथ पर भी अग्रसर किया। भारतेन्दु ने प्रकृति, शृंगार, कृष्णलीला आदि का वर्णन अपनी स्वतन्त्र अनुभूति से किया। किन्तु सामाजिक और राजनीतिक विषयों का समावेश प्रथम बार इसी युग में हुआ। इस नवीन परिवर्तन से हमारा ध्यान शास्त्रीय पद्धतियों से हटकर जीवन की ओर बढ़ रहा था। राजनीतिक परिवर्तन से उत्पन्न विषम परिस्थितियों का चित्रण इस युग के लेखकों का प्रधान कार्य रहा। उन्होंने निरन्तर 'टिक्कस', अकाल और महामारी जैसी आपदाओं का वर्णन किया। राजनीतिक और सामाजिक सुधार के लिए उच्चकोटि के व्यंग्य और हास्य का आश्रय लिया। इस युग के लेखक उस वर्ग के लिये लिख रहे थे, जिसके वे स्वयं अङ्ग थे। यह साहित्य सामन्तों का साहित्य न होकर मध्यम वर्ग का साहित्य था। परन्तु यह युग नवीन विधाओं, नवीन भाषा और नवीन विचारों का प्रयोग-काल था। इसलिये इस साहित्य में एक नटखट, सरल बालक का सा उन्मुक्त उल्लास, खीज और मस्ती थी। यहाँ बनावट के लिए कम स्थान था। इस युग में अनेक नई प्रवृत्तियों के रूप सामने आए। इस युग का गद्य और पद्य नवीन विचार-धारा की आकुलता तो व्यक्त करता है किन्तु उसमें अभी परिष्कार और विकास की बड़ी आवश्यकता थी। वह कमी आगे आने वाले युग ने पूरी की। इस काल के गद्य लेखकों की शैली में प्रौढ़ता तो नहीं है, पर शक्ति अवश्य है। यह गद्य सीधा, स्पष्ट तथा सहज सशक्त है। इस काल के साहित्यकारों में भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।

द्वितीय उत्थान—(द्विवेदी युग)—इस युग की प्रेरक शक्ति महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। उन्होंने अपने प्रखर व्यक्तित्व की ऐसी अमिट छाप इस युग पर छोड़ी कि इस काल को आलोचकों ने 'द्विवेदी युग' की संज्ञा दी। आप सरस्वती सम्पादक के रूप में युग की भाषा और उसके साहित्य की रूपरेखा का निर्माण करते रहे। आपने खड़ी बोली को परिष्कृत कर उसे काव्य की

भाषा के पद पर आसीन कर ब्रजभाषा और खड़ीबोली की प्रतिद्वन्द्विता को समाप्त कर दिया। इस युग में हिन्दी साहित्य की आधुनिक परम्परा का यथेष्ट परिमार्जन और विकास हुआ। कविता, कथा-साहित्य और आलोचना में प्रौढ़ता के दर्शन हुए। इस युग की अनेकरूपता को लक्ष्य कर डाक्टर श्री कृष्णलाल ने लिखा है—"पच्चीस वर्षों में ही एक अद्‌भुत परिवर्तन हो गया। मुक्तकों के वनखण्ड के स्थान पर महाकाव्य, आख्यान काव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, प्रबन्ध-काव्य, गीति-काव्य और गीतों से सुसज्जित काव्योपवन का निर्माण होने लगा। गद्य में घटना प्रधान, भावप्रधान, ऐतिहासिक तथा पौराणिक उपन्यास और कहानियों की रचनायें हुईं। समालोचना और निबन्धों की भी अपूर्व उन्नति हुई।"

मैथिलीशरण गुप्त इस युग के सर्वोत्तम साहित्यिक प्रतिनिधि हैं। इन्होंने अनेक छोटे-बड़े काव्यों का सृजन कर प्रतिनिधि कवि की पदवी प्राप्त की है। इनके काव्य में प्रवाह, गति और एक सीमा तक गाम्भीर्य है। भारत-भारती, साकेत और यशोधरा इनके सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ माने जाते हैं। द्विवेदी युग की सफलता और असफलता दोनों का निदर्शन गुप्तजी के साहित्य में होता है। इनके काव्य में खड़ीबोली का साहित्यिक रूप अधिक स्पष्ट और मधुर हो गया। उसमें व्यंजना की गम्भीरता और कोमलता भी आई; परन्तु फिर भी भाषा में एक अटपटापन शेष रह गया, जिसका परिमार्जन छायावादी कवियों ने किया। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के साहित्य में अधिक प्रौढ़ता, कलात्मकता, कल्पना, अनुभूमि और गाम्भीर्य है। आप निरन्तर शैलियों का प्रयोग करते रहे तथा किसी भी शैली का समर्थ प्रयोग करने की क्षमता रखते थे। आपका 'प्रियप्रवास' हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है जिसमें संस्कृत के अतुकान्त छन्दों का प्रयोग किया गया। पं० श्रीधर पाठक ने अंग्रेजी अनुवादों द्वारा हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाने का प्रयत्न किया है। इस युग में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का भी प्रकाशन हुआ। इस काल के अन्य कवियों में सियारामशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, राय देवीप्रसाद पूर्ण, गोपालशरणसिंह, सत्यनारायण कविरत्न, एक भारतीय आत्मा आदि प्रसिद्ध हैं।

इस युग में गद्य-साहित्य का भी समुचित विकास हुआ। वास्तव में यह युग गद्य का युग था। इस युग में समालोचना का विकास संतोषजनक हुआ। द्विवेदी जी स्वयं उच्चकोटि के आलोचक थे। मिश्रबन्धुओं ने 'नवरत्न' लिखा। पंडित पद्मसिंह शर्मा ने 'विहारी' पर और पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने देव और विहारी पर अत्यन्त सुन्दर आलोचनात्मक ग्रंथ लिखे। इस आलोचना में भारतीय और यूरोपीय दोनों प्रभाव कार्य कर रहे थे। नाटक के क्षेत्र में बँगला से अनूदित नाटकों का खूब प्रचार हुआ किन्तु अभी तक हिन्दी में किसी स्वतन्त्र नाटक परम्परा का विकास नहीं हुआ था। उपन्यासों में गोपालराम गहमरी और खत्रीजी के उपन्यासों की धूम थी। अनुवाद भी खूब हुए। इन रचनाओं में सूक्ष्म मनोविज्ञान, चरित्र-चित्रण आदि की कमी थी। द्विवेदी-युग तैयारी का युग था। इस युग में आधुनिक साहित्य-शैली का निर्माण हो चुका था। यह हमारे देश में गहरी राजनीति और सामाजिक हलचल का काल था। इसी देशभक्ति की भावना का स्वर इस युग में प्रमुख रहा। इस युग की प्रेरणा बहिर्मुखी रही। इसी से उसमें कलात्मकता का पूर्ण विकास नहीं हुआ। द्विवेदीजी जैसा साहित्य का सतर्क प्रहरी अहर्निशि हमारी भाषा और साहित्य का परिष्कार कर उसे आदर्श की ओर उन्मुख करने में दत्तचित्त रहा। इसी से इस काल के साहित्य में अपेक्षित सरसता और नवीनता का अभाव मिलता है। साहित्य इतिवृत्तात्मकता के संकुचित दायरे में सीमित रहकर सुन्दर एवं बहुमुखी विकास नहीं कर सका।

तृतीय उत्थान—(नव जागरण का काल) इस काल में प्रेमचन्द के प्रसिद्ध उपन्यास 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम', 'गोदान' आदि प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक और 'कामायनी' जैसा काव्य; पंत, महादेवी और निराला के अनेक काव्य संग्रह पल्लव, गुंजन', 'ग्राम्या', 'अनामिका', 'गीतिका', 'परिमल', 'नीरजा', 'रश्मि', 'दीपशिखा' आदि तथा आचार्य शुक्ल के अनेक आलोचनात्मक ग्रंथ और निबन्ध संग्रह प्रकाश में आये। यह हिन्दी साहित्य का प्रौढ़तम रूप है। यह युग काव्य में छायावाद, उपन्यास में प्रेमचन्द, नाटक में प्रसाद और आलोचना में शुक्लजी का युग है। इस युग में ही हमने पहली बार विदेशी शासन-सत्ता से गहरी टक्कर ली। यह नवीन उल्लास इस काल के साहित्य में भी

प्रकट हुआ है। तृतीय उत्थान विचित्र साहित्यक युग है। इस युग का काव्य रोमांटिक है, कथा-साहित्य यथार्थवादी है, नाटक-साहित्य ऐतिहासिक है, आलोचना साहित्य पुरातनवादी और शास्त्रीय है। यही इस युग की बहुमुखी प्रतिभा थी।

इस काल में सभी शैलियों का पूर्ण विकास हुआ। विभिन्न भाषाओं के प्रभाव का इस शैली-निर्माण में विशेष हाथ रहा। डाक्टर श्रीकृष्ण लाल के शब्दों में—"हिन्दी ने अपनी जातीय विशेषताओं के अनुरूप अङ्गरेजी साहित्य की स्पष्ट भाव-व्यंजना, बंगला की सरसता और मधुरता, मराठी की गम्भीरता और उर्दू का प्रभाव ग्रहण किया।"

हिन्दी कथा-साहित्य का पूर्ण विकसित रूप प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में दिखाई दिया। उनके विभिन्न उपन्यासों और कहानियों में रोचकता और कलात्यकता के साथ-साथ तीव्रतम सामाजिक चेतना भी मिली। उनका दृष्टिकोण जनवादी था। उनकी रचनाएँ साहित्यिक भूख को तो शान्त करती ही थीं साथ ही आन्तरिक चेतना को भी प्रेरणा देती थीं। पण्डित विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक और सुदर्शन प्रेमचन्द की ही भाँति अपने कथा-साहित्य में उदार यथार्थवादी परम्परा का पोषण करते रहे। प्रेमचन्द के परवर्ती कलाकारों में जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, यशपाल, अमृतलाल नागर, नागार्जुन और अज्ञेय नए पथों का अनुसरण कर रहे हैं। प्रेमचन्द ग्राम्य-जीवन के चित्रकार थे और ये मध्यम वर्ग के हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों के रूप में भी कुछ सुन्दर रचनाएँ हुईं। इस युग में हिन्दी नाटक-साहित्य को प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक नाटकों से समृद्ध बनाया। इन नाटकों में उच्चकोटि की साहित्यिकता है। इनमें इतिहास का गम्भीर मनन और अध्ययन, कथावस्तु का सफल निर्वाह, गम्भीर चरित्र-चित्रण, गहरी अनुभूति आदि के दर्शन होते हैं। अन्य नाटकारों में रामकुमार वर्मा, लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्द-दास, उदयशंकर भट्ट, आदि उल्लेखनीय हैं। इन्होंने आधुनिक नाट्य शैली का अपनाने का प्रयत्न किया है। इस काल में एकांकी नाटकों का भी सुन्दर विकास हुआ है। आचार्य शुक्ल ने समालोचना और निबन्ध को बहुत ऊँचा उठाया। उनकी दृष्टि वैज्ञानिक थी। वह बड़ी खोज और परिश्रम के बाद

सूक्ष्म और मार्मिक विवेचन करते थे। उनके तुलसी, सूर, जायसी का अध्ययन, 'चिन्तामणि' और 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' इस काल के अप्रतिम उपहार हैं। उनके उत्तराधिकारी आलोचकों में नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, गुलाबराय, भगीरथ मिश्र, नगेन्द्र आदि प्रमुख है।

छायावाद ने आधुनिक काव्य परम्परा को विकसित और परिमार्जित कर उसे एक माधुरी और सुकुमारता प्रदान की। यह अन्तर्मुखी गीतिकाव्य की नवीन परम्परा है। प्रसाद के 'आँसू,' 'लहर' और 'कामायनी' से प्रारम्भ होकर यह धारा पन्त और निराला के काव्य में प्रवाहित हुई और महादेवी वर्मा के अश्रु विनिर्मित काव्य में विलीन हो गई। इस काव्य में सुन्दर शब्द-विन्यास, कल्पना विलास, तीव्र अनुभूति, प्रौढ़ता और सौष्ठव मिलता है।

श्री नगेन्द्र के शब्दों में सन् ३० के लगभग कवियों की एक नई पीढ़ी शुरू हुई। इस काल को छायावाद का उत्तरार्द्ध काल कहा जा सकता है। इस पीढ़ी के कवि अहम्वादी, अन्तर्मुखी और नियतिवादी हैं। इनका प्रारम्भ भगवती-चरण वर्मा के काव्य से होता है। इसके पोषकों में बच्चन, नरेन्द्र, अज्ञेय और अंचल प्रमुख हैं। इनमें नरेन्द्र कुछ दूर पर आलोक की किरण भी देख लेते हैं। इनकी सामाजिक चेतना अपेक्षाकृत तीव्र है। इनकी कल्पना एक अधिक उदार मानव संस्कृति का स्वप्न देखती है। यह प्रकृति कथा-साहित्य में कुछ विकृत रूप में इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय के उपन्यासों में परिलक्षित होती है।

सन् १९३६ से हिन्दी में नवीन प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ है जिसे प्रगति-वाद कहा जाता है। इसमें छायावाद की अन्तर्मुखी अभिव्यक्ति की प्रतिक्रिया है। इसका प्रारम्भ पन्त की 'युगवाणी' से होता है। शुक्लजी इसे समाजवादी धारा मानते हैं। यह नवीन धारा यथार्थवाद की ओर उन्मुख है। कलाकार एक नवीन शोषण रहित सामाजिक संस्कृति का निर्माण करना चाहता है। प्रेमचन्द, पंत और निराला इसके प्रधान उन्नायकों में माने जाते हैं। कवियों में नरेन्द्र शर्मा, अंचल, दिनकर, सुमन, नागार्जुन, केदार तथा कथा-साहित्य में राहुल, यशपाल, रांघेय राघव, आदि प्रमुख हैं। आलोचना में रामविलास शर्मा शिवदानसिंह चौहान और प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि के नाम प्रमुख हैं। ये प्रयोग-

वादी नाम से कविता में नई शैली का सूत्रपात हुआ जो काव्य में निरन्तर नये प्रयोग करने का आकांक्षी है। अज्ञेय इसके प्रवर्त्तक हैं। 'नई कविता' नाम से भी कविता में एक नई प्रवृत्ति उदित हुई है जो बहुत कुछ प्रयोगवाद के अन्तर्गत है। इसमें धर्मवीर भारती का नाम प्रमुख है—प्रपद्यवाद भी कुछ इसी प्रकार की चीज है जिसे बिहार के समीक्षक स्वर्गीय नलिन विलोचन शर्मा ने अपने दो साथियों से शुरू किया था।

नवीनतम हिन्दी गद्य-साहित्य में कुछ नई विधाओं के स्वरूप के दर्शन भी होने लगे हैं। इनमें रेडियो नाटक, रिपोर्ताज, इन्टरव्यू, रेखाचित्र आदि प्रधान हैं। इधर 'प्रयोगवादी' नामक एक नवीन काव्य-शैली का प्रारम्भ हुआ है जो अभिव्यक्ति को महत्व न देकर अभिव्यक्ति के 'प्रकार' को ही अधिक महत्व देती है। इसी के अन्तर्गत 'नई कविता' और 'प्रपद्यवाद है।

हिन्दी गद्यसाहित्य में कुछ नवीन विधाओं के स्वरूप के भी दर्शन हुए हैं। इनमें संस्मरण, इन्टरव्यू, रेखाचित्र, रेडियो नाटक, रिपोर्टाज आदि प्रमुख हैं। संस्मरण में राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह जी देव सर्वप्रमुख हैं। परिमाण और विषय की दृष्टि से वे संस्मरण-सम्राट हैं। इन्टरव्यू के क्षेत्र में पद्मसिंह शर्मा 'कंमलेश' ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उनकी 'मैं इनसे मिला' नामक कृति हिन्दी में इन्टरव्यू की प्रथम पुस्तक है। रेखाचित्र में महादेवी वर्मा का नाम उल्लेखनीय है। रेडियोनाटक रेडियो की माँग की पूर्ति के लिये विष्णु-प्रभाकर चिरंजीत आदि ने लिखे हैं।

प्रश्न २५—आधुनिक कालीन हिन्दी साहित्य की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—आधुनिक काल में जो ऐतिहासिक घटना घटी वह यह कि भारत-वासी अँग्रेजों के सम्पर्क में आये। पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क से भारतीय समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। वैज्ञानिक आविष्कारों और सभ्यता के विकास के साथ ही समाज का ढाँचा ही बदल गया। संस्कृति का ह्रास होता गया और साहित्य का केन्द्र जनवादी विचारधारा हुई। प्रेस के विकास के साथ ही गद्य का आविर्भाव और बहुमुखी विकास युग की परिस्थितियों एवं

समस्याओं के अनुरूप था। यहाँ हम संक्षेप में आधुनिक काल के साहित्य की विशेषताओं का अध्ययन करेंगे---

(१) **गद्य का प्रादुर्भाव**—पद्य के साथ ही गद्य का विकास हुआ। परन्तु गद्य के विकास से पद्य के विकास में कोई बाधा नहीं हुई। गद्य का आविर्भाव और बहुमुखी विकास इस युग की प्रमुख विशेषता है। मुद्रण के अभाव में साहित्य का केवल काव्यांग ही विकसित हुआ था और वस्तुतः आधुनिक काल से पूर्व साहित्य पद्य का पर्यायवाची भी था। आधुनिक काल की इसी विशेषता को लक्ष्य करके आलोचकों ने इसका नामकरण गद्यकाल किया है।

प्रेस के विकास से मुद्रण की सुविधा हुई और विचारों का प्रवाह पद्य की लय और गति के आश्रित न रहा। गद्य के माध्यम से मानव हृदय की भावनाओं का विविध रूपी विकास हुआ। आधुनिक काल में गद्य साहित्य के विविध रूप ये हैं—नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, समालोचना, गद्य-काव्य, संस्मरणात्मक गद्य, जीवन चरित् या आत्मकथात्मक गद्य, इत्यादि।

(२) **खड़ीबोली का प्रभुत्व**—आधुनिक काल में दूसरा परिवर्तन भाषा का दृष्टिगोचर होता है। यथार्थ की प्रवृति का प्रभाव पद्य क्षेत्र की भाषा-शैली के परिवर्तन में दृष्टिगत होता है। गद्य के लिए खड़ी बोली ही उपयुक्त भाषा थी। धीरे-धीरे नवयुग की चेतना की अभिव्यक्ति के लिए काव्य में भी इसका व्यवहार होने लगा। धीरे-धीरे वर्तमान युग में यह खड़ीबोली हिन्दी राष्ट्र-भाषा ही हो गई है और उसका वैज्ञानिक विकास हो रहा है। भाषा के सम्बन्ध में एक बात और स्मरण रखने योग्य है और वह है अँग्रेजी भाषा का प्रभाव। खड़ीबोली का क्षेत्र व्यापक होने के साथ ही इसमें अंग्रेजी और उर्दू के शब्दों का समावेश भी हुआ। वर्तमान युग मे सरकार द्वारा इसे संस्कृत-गर्भित बनाने का प्रयत्न हो रहा है जिससे देश की अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साथ इसका सामंजस्य स्थापित हो सके।

(३) **राष्ट्रीय भावना**—आधुनिक काल की तीसरी प्रमुख विशेषता राष्ट्रीय भावना की है। राजनीतिक चेतना इस युग की प्रमुख भावना रही है। इस चेतना का रूप प्रत्येक उत्थान में बदलता रहा है। प्रथम उत्थान में राजनीतिक चेतना के फल-स्वरूप राजभक्ति, देश-भक्ति, भारत के अतीत गौरव का गान और

उसकी अर्वाचीन शोचनीय दशा पर विलाप, जाग्रति का सन्देश और भारत के बचे गौरव की रक्षा करने का मन्त्र है। द्वितीय उत्थान में कांग्रेस की स्थापना तथा उसका अस्तित्व दृढ़ होने के साथ ही साहित्य में नवीन राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव हुआ। इस उत्थान की देशभक्ति की कविता में अतीत के गौरव के गान के साथ ही सामान्य जनता का महत्व बढ़ गया। कवियों ने गरीब किसान और मजदूरों की चर्चा की, विद्यार्थी-समाज के उत्थान का प्रयत्न किया और नवयुवकों में देशभक्ति का संचार किया। इसके साथ ही हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य भी राष्ट्रीय भावना का एक रूप बना। इस प्रकार द्विवेदी युग की देशभक्ति की कविता में विविधता है। इस प्रकार प्रथम उत्थान देश की दुर्दशा का ज्ञान कराता है तो द्वितीय उत्थान में संघटन की सच्ची प्रेरणा है, तृतीय उत्थान में इस राष्ट्रीय भावना का और अधिक विकास हुआ। साहित्य में गाँधी का अहिंसात्मक राष्ट्र प्रेम का सिद्धान्त प्रतिफलित हुआ, आत्म बलिदान का महत्व बढ़ा, सत्याग्रहियों की गौरव-गाथा का गान हुआ, और साथ ही प्राचीन स्वतन्त्रता के पुजारियों का यश-गान भी। मुख्य रूप से तृतीय उत्थान के राष्ट्रीय-प्रेम-भाव में वीर-पूजा, स्वतन्त्रता प्रेम, मानवतावादी विचारधारा का पोषण मिलता है। कहीं-कहीं अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्व बन्धुत्व के स्वर भी मुखरित हैं। चौथे उत्थान में हमें राष्ट्रीय-भावना में काँग्रेस की प्रशंसा के साथ ही हरिजन, श्रमिक, एक कृषक वर्ग के महत्व का प्रतिपादन मिलता है और राष्ट्रीय-एकता के सूत्र मिलते हैं। वर्तमान काल में राष्ट्रीय प्रेम अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम से समन्वित होकर विश्वशांति का तथा सहअस्तित्व का प्रतीक बन गया है -- और पंचशील इसका आदर्श है। राष्ट्रीय-भावना का यह विकास पद्य, गद्य-(नाटक उपन्यास, कहानी, निबन्ध) सभी क्षेत्रों में दृष्टिगोचर होता है।

(४) **जनवादी विचारधारा**—आधुनिक काल की चौथी विशेषता साहित्य में नवयुग की चेतना के अन्य रूपों का जैसे—मानव का स्वरूप, सामाजिक अवस्था इत्यादि का विस्तृत विवेचन है। अब साहित्य का साध्य उच्चवर्ग नहीं रह गया है और साहित्य जनवादी विचारों से समन्वित होकर यथार्थ की भूमिका पर विकसित हो रहा है। वर्तमान युग में तो यथार्थ की यह अनुभूति और भी व्यापक हो गई और निम्नवर्ग तथा शोषितों की चेतना को व्यक्त करने में

संलग्न हो गई। यहीं पर आकर मार्क्सवादी विचार-धारा का प्रभाव भी दृष्टि-गोचर होता।

(५) **नई शैलियों का प्रादुर्भाव**—आधुनिक काल की पाँचवीं विशेषता शैली के परिवर्तन की है। एक तो साहित्य में नई शैली का विकास हुआ जिसे हम गद्य के नाम से जानते हैं। दूसरे पद्य की शैली में भी विविध रूपी परिवर्तन हुआ। प्रथम उत्थान में हमें ग्राम साहित्य का स्वर कजरी, ठुमरी, लावनी, इत्यादि में मिलता है। द्वितीय उत्थान में शैली में इतिवृत्तात्मकता का समावेश होता है और तृतीय उत्थान की शैली का रूप छायावाद और रहस्यवाद के मिश्रण से उत्पन्न कोमलकान्त पदावली है। चतुर्थ उत्थान में एक बार कोमलकान्त और आलङ्कारिक शैली का फिर से विरोध हुआ और मार्क्सवाद से प्रभावित जन-वादी विचारधारा को व्यक्त करने के लिए सरल और अलङ्कार-रहित शैली का प्रयोग किया। वैसे छाया-वाद युग में ही मुक्त छन्द को महत्व प्रदान किया गया पर फिर भी छायावादी कवि संगीतमयता को नहीं छोड़ सके थे, चतुर्थ उत्थान में उन्होंने छन्द विधि-विधान को तोड़ दिया और नवीन-नवीन छन्दों की उद्‌भावना की। कहने का तात्पर्य यह कि शैलीपक्ष या कलापक्ष गौण नहीं हुआ अपितु जनवादी विचारधारा को व्यक्त करने के लिए सरल रूप में गढ़ा गया। वर्तमान युग में शैलीपक्ष के अन्तर्गत नवीन-नवीन प्रयोग हो रहे हैं। ईसमें शैली का यह प्रयोगपक्ष भावों को दबाने वाला है।

(६) **शृङ्गार का व्यापक रूप**—आधुनिककाल की छठी विशेषता शृङ्गार की भावना के विकास की है। शृंगारकालीन शृंगार परम्परा का प्रथम उत्थान में विरोध हुआ, द्वितीय उत्थान में यह अश्लीलता के नाम से विख्यात हुई किन्तु तृतीय उत्थान में शृङ्गार की शृंगारकालीन परम्परा का सुष्ठु और स्वस्थ रूप विकसित हुआ। छायावाद युग का काव्य उच्चकोटि का प्रेमकाव्य है। इसमें शृंगारकाल का शृंगार निखरकर और शुद्ध होकर आया है और उसमें काव्य में शास्त्र-स्थिति-सम्पादन के स्थान पर गहरी सौन्दर्यानुभूति है। छायावाद युग में नारी वासना की मूर्ति नहीं है, वह सौन्दर्यशालिनी एवं शक्ति विधायिनी है। इसलिए इस उत्थान का साहित्य सौन्दर्यानुभूति का साहित्य

हैं, शृंगार का नहीं। चतुर्थ उत्थान में पाप पुण्य की परिभाषा परिवर्तित हुई और यथार्थ की कटु कसौटी पर शृंगार की भावना कसी गई।

(७) **प्रकृति की महत्ता**—आधुनिक काल के साहित्य की सातवीं बड़ी विशेषता प्रकृति का विशद और विविध रूपों में चित्रण है। शृंगारयुग में प्रकृति उद्दीपन रूप में व्यवहृत थी। भारतेन्दुयुग से ही प्रकृति स्वतन्त्र आलम्बन के रूप में प्रतिष्ठित हुई। देश-प्रेम के वर्णन में तो प्रकृति-चित्रण मिलते ही हैं, साथ ही प्राकृतिक सौन्दर्य के स्वतन्त्र काव्य भी प्राप्त होते हैं, जिनमें रहस्यवादी पुट भी मिलता है। छायावाद काल में प्रकृति के उग्र और सौम्य दोनों प्रकार के चित्र मिलते हैं और यह रहस्यवादी भावनाओं को व्यक्त करने का माध्यम बनकर आती है। वर्तमान युग में प्रकृति के साधारण रूपों में सौन्दर्य दर्शन की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।

(८) **आत्मपरक काव्य की रचना**—व्यक्तिगत सुख-दुःख का चित्रण करने वाली कविताओं की इस युग में प्रधानता रही। आधुनिक गीतिकाव्य इसीलिये आत्मपरक है।

(९) **विविध वादों की प्रधानता**—आधुनिककाल की अगली महत्वपूर्ण विशेषता साहित्य में 'वादों' की प्रधानता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के अन्य कालों की अपेक्षा इस युग में यह प्रवृत्ति बड़ी बलवती हो गई है। इन वादों से इस युग का साहित्य विशेष समृद्ध हुआ है। इन वादों में प्रमुख इस प्रकार हैं—छायावाद, रहस्यवाद, अभिव्यंजनावाद, स्वच्छन्दतावाद, पलायनवाद, हालावाद, प्रगतिवाद, प्रतीकवाद और प्रयोगशीलता को अभिव्यक्त करने वाला प्रयोगवाद। इन विचारधाराओं के संघर्ष से एक ओर तो बौद्धिक परिमार्जन हुआ तथा दूसरी ओर साहित्यिकों की संख्या बढ़ी। इस प्रकार इन वादों के कारण आधुनिक काल हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

(१०) **पाश्चात्य प्रभाव**—आधुनिककाल की अन्य महत्वपूर्ण विशेषता साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव है। यह प्रभाव बड़ा व्यापक और बहुमुखी है। अँग्रेजी शिक्षा के विकास के साथ हमारा पाश्चात्य साहित्य से सम्पर्क बढ़ा। यह प्रभाव भावपक्ष और कलापक्ष दोनों पर ही पड़ा। भावपक्ष

की दृष्टि से मुख्य प्रभाव गद्य क्षेत्र में दृष्टिगोचर होता है। गद्य के विविध रूपों का जैसा विविध रूपी विकास पाश्चात्य साहित्य में हुआ उसका अनुकरण हिन्दी साहित्य के गद्य में भी हुआ। काव्य के भावपक्ष पर भी पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट ही परिलक्षित होता है। मुख्य रूप से रहस्यवाद और छायावाद पर यह प्रभाव महत्वपूर्ण है। काव्य के रूप और शैली पर भी पाश्चात्य प्रभाव बड़ा व्यापक है। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में जो विविध वाद जैसे छायावाद, रहस्यवाद, अभिव्यंजनावाद, स्वच्छन्दतावाद, पलायनवाद, प्रतीक-वाद, प्रयोगवाद इत्यादि दिखलाई पड़ते हैं, इन पर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट ही है।

(११) **साधारण वर्ण्य विषय**—आधुनिककाल के साहित्य की एक विशे-षता साधारण विषयों पर रचना करने की है जैसे—विधवा विवाह, बुढ़ापा, विधि विडम्बना, जगत-सचाई-सार, गो-रक्षा, माता का स्नेह, सपूत, कपूत, क्रोध, बात-चीत, करुणा, भिखारी, मिल का भोंपू, किसान का घर, गली, कूड़ा कर्कट, धोबियों का नाच, कुकुरमुत्ता, कृषक, रेल का इंजन इत्यादि इत्यादि। नवयुग की चेतना के साथ ही नवीन विषयों पर साहित्य रचना हुई।

सारांश यह कि इन विशेषताओं के कारण ही आधुनिक काल को हम हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग कह सकते हैं।

प्रश्न २६—हिन्दी गद्य के विकास का संक्षिप्त परिचय देते हुए आधुनिक युग की प्रमुख गद्य-शैलियों पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—आधुनिक काल की सबसे प्रधान घटना गद्य का आविर्भाव मानी जाती है। संसार के प्रत्येक साहित्य में प्रथम पद्य का विकास हुआ है और फिर गद्य का। हिन्दी की सभी प्रारम्भिक रचनाएँ पद्य में ही हैं। हिन्दी में गद्य का जन्म और विकास बहुत बाद में हुआ है। परन्तु हिन्दी के आदि काल में भी गद्य का अस्तित्व था जो अत्यन्त अपरिमार्जित और अस्पष्ट है।

हिन्दी-गद्य का प्राचीन रूप

ब्रजभाषा-गद्य—सबसे प्राचीन गद्य का नमूना चौदहवीं शताब्दी के एक

गोरखपंथी गद्य ग्रन्थ में मिलता है। यह ब्रजभाषा गद्य का नमूना है। इसके उपरान्त कृष्ण भक्तों ने ब्रज भाषा गद्य में कुछ ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें गोस्वामी विट्ठलनाथ का 'श्रृंगार रस मण्डन' ग्रंथ मिलता है, जिसका गद्य अव्यवस्थित है। विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" और "दो सौ वैष्णव की वार्ता" नामक दो साम्प्रदायिक ग्रंथ लिखे गये। इन पुस्तकों की भाषा व्यवस्थित है। प्रतिपाद्य विषय का अच्छा स्पष्टीकरण हुआ है। इन ग्रंथों का सृजन शुद्ध रूप से पुष्टि मार्ग का प्रचार करने के लिये हुआ था। परवर्ती काल में ब्रजभाषा गद्य में साधारणतः दो प्रकार के ग्रन्थ लिखे गए–कुछ साहित्यिक ग्रन्थों की टीकाएँ और कुछ स्वतन्त्र ग्रंथ। टीकाओं में हरिचरनदास की बिहारी सतसई की टीका, कविप्रिया की टीका, महंत बाबा रामचरन की रामचरितमानस की टीका, प्रतापसाहि की मतिराम के 'रसराज' की टीका आदि अनेक ग्रन्थ लिखे गए। स्वतन्त्र ग्रन्थों में प्रियादास की **'सेवक चन्द्रिका'**, हीरालाल की **'आइने अकबरी'** की भाषा बचनिका', लल्लूलाल का **'हितोपदेश'** का अनुवाद आदि ग्रन्थों का सृजन हुआ। इसी समय में नाभादास ने "**अष्टयाम**' नामक एक पुस्तक ब्रजभाषा गद्य में लिखी। एक अज्ञातनामा लेखक का **'नासिकेतोपाख्यान'** नामक ग्रन्थ भी पाया गया है। संवत् १६६७ में सूरति मिश्र ने **'बैताल पच्चीसी'** नामक ग्रन्थ लिखा। इसी प्रकार की ब्रजभाषा गद्य की अनेक अन्य पुस्तकें पाई जाती हैं जिनसे गद्य का कोई विकास नहीं हुआ। गद्य लिखने की परिपाटी का क्रमिक विकास न होने के कारण ब्रजभाषा-गद्य जहाँ-का-तहाँ रह गया।

खड़ीबोली-गद्य—खड़ी-बोली गद्य का सर्वप्रथम ग्रन्थ गंग कवि **'चन्द छन्द बरनन की महिमा'** माना जाता है। इसकी भाषा आधुनिक खड़ी-बोली के आस-पास है। इसमें तत्सम् शब्दों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है। शुरू-शुरू में मुसलमान औलियाओं ने इस भाषा में गद्य लिखा था जिसे वे 'हिन्दवी भाषा' कहते थे। शाह मीरानजी बीजापुरी, शाह बुरहान खान और सैयद मुहम्मद गैसूदराज के लिखे पुराने गद्य भी प्राप्त हुए हैं। संवत् १६६८ में रामप्रसाद निरंजनी ने **'भाषा-योग वाशिष्ठ'** नामक ग्रन्थ बहुत साफ-सुथरी खड़ी बोली में लिखा। इसका गद्य सुन्दर और परिमार्जित है।

इसके उपरान्त पं० दौलतराम ने 'जैन पद्म-पुराण' का खड़ी-बोली-गद्य में अनुवाद किया। किन्तु इसकी भाषा में निरजनी जी का सा सौन्दर्य और परिमार्जन नहीं है। अतः हम 'भाषा-योग वाशिष्ठ' को परिमार्जित खड़ी-बोली गद्य की प्रथम पुस्तक और निरंजनी जी को प्रथम प्रौढ़ लेखक मान सकते हैं। इसके उपरान्त लगभग दो-सौ वर्ष तक खड़ी बोली का गद्य-क्षेत्र सूना पड़ा रहा।

आधुनिक हिन्दी गद्य

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में वास्तविक रूप में हिन्दी गद्य का सूत्रपात हुआ। इसीलिये आधुनिक काल का नामकरण कुछ विद्वान 'गद्यकाल' करते हैं। इस समय तक साहित्य में ब्रज-भाषा का ही प्राधान्य था। कुछ पुस्तकों की टीकाएँ ब्रजभाषा गद्य में लिखी गईं। इस काल में खड़ी-बोली गद्य की प्रतिष्ठा करने वाले चार लेखक हुए—**मुंशी सदासुखलाल, इंशाअल्लाखाँ, लल्लूलाल** और **सदल मिश्र**। इन्हें खड़ीबोली के प्रथम चार आचार्य माना जाता है। इन्होंने क्रमशः '**सुखसागर**', '**रानी केतकी की कहानी**', '**प्रेमसागर**' और '**नासिकेतोपाख्यान**' नामक ग्रन्थ लिखे। इनको ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा फोर्ट विलियम कालेज के अध्यापक सर जान गिल क्राइस्ट से प्राप्त हुई थी। उन दिनों खड़ी-बोली जनता के व्यवहार की भाषा हो चली थी। इसीलिए फोर्ट विलियम कालेज को ही इसका सम्पूर्ण श्रेय नहीं दिया जा सकता, वस्तुतः उन दिनों हिन्दी गद्य अपनी आन्तरिक प्राणशक्ति के बल पर ही आगे बढ़ा था। खड़ी-बोली गद्य के इन चार लेखकों में से किसी की भी भाषा साफ सुथरी नहीं थी। सदासुखलाल की भाषा में पण्डिताऊपन है, इंशा की भाषा में अरबी-फारसी का अधिक प्रभाव है, लल्लूलाल जी का गद्य ब्रजभाषा के प्रयोगों से ओत-प्रोत है। इनमें केवल सदल मिश्र की भाषा अधिक व्यावहारिक और परिमार्जित है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सदल मिश्र की भाषा के सम्बन्ध में लिखा है—"**इनकी भाषा में भावी खड़ी बोली का मार्जित रूप स्पष्ट हुआ। आगे चलकर साहित्य में जो भाषा गृहीत हुई उसका गठन बहुत-कुछ सदल मिश्र की भाषा पर हुआ।**"

इन लेखकों के पश्चात् संवत् १८१५ तक हिन्दी-गद्य-क्षेत्र पुनः सूना सा पड़ा रहा। ईसाई धर्म प्रचारक गद्य का थोड़ा-बहुत प्रचार अवश्य करते रहे। उन्होंने ही पहले-पहल शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकें प्रस्तुत कराईं। **स्वामी दयानन्द** और **राजा राममोहनराय** के आन्दोलनों से भी इस गद्य के विकास में थोड़ी सी सहायता प्राप्त हुई। सन् १८२३ में कालेज के पाठचक्रम में हिन्दी को स्थान दिया गया। आगरा कालेज में हिन्दी शिक्षा की विशेष व्यवस्था की गई। १८३३ में 'आगराबुक सोसाइटी' की स्थापना हुई जिसने अच्छे-अच्छे पाठ्य-ग्रन्थ प्रस्तुत कराए। इन पाठ्यग्रन्थों में भाषा अधिक परिमार्जित और व्यवस्थित हुई।

संवत् १९११ में **राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द'** शिक्षा-विभाग के इन्सपेक्टर नियुक्त हुए। उनके सतत प्रयत्न से ही हिन्दी को शिक्षा-विधान में स्थान प्राप्त हुआ था। उन्होंने हिन्दी की रक्षा की भावना से उसका 'आमफहम' तथा 'खास पसन्द' रूप अधिक अपनाया। साथ ही ऐसी ही भाषा में 'इतिहास तिमिर नाशक', 'वीरसिंह वृत्तान्त' तथा 'राजा भोज का सपना' आदि ग्रन्थ लिखे। इस भाषा के विरोध में राजा लक्ष्मणसिंह अपनी संस्कृत-गर्भित भाषा को लेकर उपस्थित हुए। वे शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे जिसका रूप उनके 'शकुन्तला-नाटक' में मिलता है।

भारतेन्दु युग—इसके उपरान्त **भारतेन्दु का युग** आया। भारतेन्दु ने उपर्युक्त राजाद्वय की परस्पर विरोधिनी शैलियों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने बोलचाल की भाषा को अपना लक्ष्य बनाया जिसमें तत्सम शब्दों के तद्भव रूपों का ही विशेष प्रयोग किया गया। उनकी दो शैलियाँ हैं। १—**शुद्ध हिन्दी**—साधारण और सरल विषयों पर इस शैली में लिखा गया। २—**संस्कृत-प्रधान शैली**—इसमें ऐतिहासिक और विवेचना सम्बन्धी विषयों का विवेचन किया गया।

इसमें भाषा गाम्भीर्य था। भारतेन्दु मण्डल के अन्य लेखकों में श्रीनिवासदास, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, प्रेमघन आदि प्रसिद्ध हैं। विषयों और रुचि की भिन्नता के अनुसार इनका गद्य भी भिन्न

है। विभिन्न शैलियां काल-क्रम से संस्कृत-प्रधान होती गईं। भारतेन्दु युग गद्य के विकास की दृष्टि से प्रारम्भिक युग था। इसमें साहित्य निर्माण का कार्य तो प्रारम्भ हो गया; किन्तु भाषा के परिमार्जन और शुद्धता की ओर कम ध्यान दिया गया है।

द्विवेदी युग—भाषा-परिमार्जन और शुद्धता की ओर सर्वप्रथम महावीर प्रसाद द्विवेदी का ध्यान गया। उन्होंने अशुद्ध भाषा लिखने वाले लेखकों की कटु आलोचना कर उन्हें शुद्ध भाषा लिखने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने स्वयं लेख लिखकर शुद्ध खड़ी बोली का नमूना उपस्थित किया। इनकी शैली में सर्वत्र संयम लक्षित होता है। प्रसाद और ओज गुण उसकी विशेषताएँ हैं। द्विवेदी युग के लेखकों में **माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, गोपालराम गहमरी, बालमुकुन्द गुप्त, श्यामसुन्दरदास, अध्यापक पूर्णसिंह, पद्मसिंह शर्मा आदि** प्रमुख हैं। इन लोगों ने गद्य के विभिन्न अङ्गों—कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, आलोचना आदि सम्बन्धी प्रचुर साहित्य रचा। इन लोगों की रचनाओं में भी भिन्न-भिन्न शैलियों के दर्शन हुए।

शुक्ल, प्रसाद और प्रेमचन्द का युग—द्विवेदी युग में गद्य की भाषा का पर्याप्त परिमार्जन हो चुका था परन्तु फिर भी उसमें प्रौढ़ विषयों को व्यक्त करने की क्षमता नहीं आई थी। गद्य के विकास का पूर्ण और बहुमुखी रूप वर्तमान काल में आकर पूर्ण हुआ। शैली के विकास की दृष्टि से इस युग में **रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द** और **प्रसाद** मुख्य हैं शुक्लजी ने अपने निबन्धों और आलोचनाओं के द्वारा द्विवेदी-युगीन व्यास-शैली के स्थान पर समास-प्रधान शैली का प्रणयन किया। इससे गद्य के विकास में अपूर्व सहयोग मिला। इस शैली में पूर्ण संयम और गठीलापन है। आज सर्वत्र शुक्लजी की इस शैली का अनुकरण किया जा रहा है। कहानी और उपन्यास लेखकों के लिये प्रेमचन्द ने एक सरल शैली का निर्माण किया। उन्होंने सरल और मिश्रित गद्य का ऐसा स्वरूप उपस्थित किया जो जन-साधारण की भाषा का रूप था। प्रेमचन्द के अनेक परवर्ती कथा-लेखकों ने इस शैली का अनुकरण किया, जिनमें सुदर्शन, कौशिक, जैनेन्द्र, अमृतलाल नागर आदि प्रमुख हैं। इधर कुछ नवीन शैलियों के भी दर्शन हुए हैं। इनमें गंभीर और जटिल समस्याओं का अङ्कन है। इनके

उन्नायकों में इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, भगवती चरण वर्मा आदि प्रमुख हैं। नाटक के क्षेत्र में नवीन शैली के जन्मदाता प्रसाद हैं। इनकी शैली में प्राचीन आर्य संस्कृति और इतिहास का चित्रण हुआ। प्रसाद के साहित्य में हिन्दी का संस्कृतनिष्ठ रूप देखने को मिलता है। परवर्ती नाटककारों पर प्रसाद का बहुत प्रभाव पड़ा है। इनमें लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी आदि प्रमुख हैं।

प्रगतिवादी युग में सरल शैली का प्रयोग किया जा रहा है जो जन-भाषा के अत्यधिक निकट है। इस प्रकार इस युग में हिन्दी गद्य-साहित्य निरन्तर विकसित हो रहा है।

प्रश्न २७—हिन्दी-उपन्यास के उद्भव और विकास पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—गद्य की अन्य अनेक-विधाओं की भाँति हिन्दी उपन्यास को भी आधुनिक युग की देन माना जाता है। वैसे तो प्राचीन भारतीय साहित्य में 'वृहद् कथा', 'कादम्बरी' आदि कथा साहित्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ मिलते हैं किन्तु आधुनिक युग का उपन्यास प्राचीन कथा-साहित्य से भिन्न है। अतः आज के उपन्यास की परम्परा 'कादम्बरी' आदि से नहीं जोड़ी जा सकती है। प्राचीन काल में कथा साहित्य का मुख्य आधार कल्पना है जबकि आधुनिक उपन्यास का आधार यथार्थवाद है। अतः उपन्यास का उद्भव आधुनिक युग में हुआ मानना अधिक संगत है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव सर्वाधिक है। अतः बहुत से आलोचक अँग्रेजी से उसका आगमन मानते हैं। कुछ विद्वान यह कहते हैं कि बंगला से उपन्यास की प्रवृत्ति हिन्दी में आई। दोनों ही बातें हमें सही लगती हैं क्योंकि दोनों ही मत एक ही मत के दो पहलू हैं। अँग्रेजी का प्रभाव बंगला पर पड़ा और बंगला के माध्यम से अँग्रेजी का यह प्रभाव हिन्दी में आया। एक आलोचक ने इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—"**हिन्दी का उपन्यास साहित्य का वह पौधा है, जिसे यदि सीधे पश्चिम से नहीं लिया गया हो तो उसका कलम बँगला से तो लिया ही गया था न कि संस्कृत के कथाकार सुबंधु, दण्डी और बाण की लुप्त परम्परा पुनरुजीवित की गई थी।**" संस्कृत की कथाओं में आधुनिक उपन्यास के कोई तत्व नहीं मिलते। बंगला

के उपन्यासों का हिन्दी के उपन्यासों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। भारतेन्दु-युग में सर्वप्रथम हिन्दी उपन्यास लिखे गये थे।

उपन्यासों के विकास को हम चार कालों में विभाजित कर सकते हैं, जिनका विवेचन निम्नलिखित है :—

प्रथम अवस्था—(सन् १८५० से १९०० तक) कुछ आलोचक इन्शाअल्ला खाँ रचित 'रानी केतकी की कहानी' को हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यास मानते हैं। उपन्यास-कला की दृष्टि से इस पुस्तक का कोई मूल्य नहीं है; परन्तु सर्वप्रथम प्रारम्भिक कृति होने के नाते इसका ऐतिहासिक महत्व अवश्य है। आचार्य शुक्ल ने कथावस्तु और वर्णन-प्रणाली की दृष्टि से लाला श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षागुरु' को हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास माना है। चरित्र-चित्रण, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आदि का इसमें पूर्ण अभाव है। लालाजी के उपरान्त ठाकुर जगमोहनसिंह ने काव्य गुणों से परिपूर्ण 'श्यामा-स्वप्न' नाटक उपन्यास लिखा। इसमें उपन्यास की वास्तविकता के स्थान पर काव्य सौन्दर्य ही अधिक है। इसी समय अद्भुत घटनाओं से परिपूर्ण पण्डित अम्बिकादत्त व्यास 'आश्चर्य वृत्तान्त' नामक उपन्यास निकला। यह साधारण कोटि का परन्तु मनोरंजक उपन्यास है। इसके उपरान्त पण्डित बालकृष्ण भट्ट का "सौ अजान एक सुजान" तथा 'नूतन ब्रह्मचारी" नामक दो उपदेशात्मक उपन्यास प्रकाशित हुए।

इस काल में उपर्युक्त कुछ मौलिक उपन्यासों के अतिरिक्त अनुवादों की भी प्रथा चली। ये अनुवाद विशेषत: बँगला और अँग्रेजी उपन्यासों के ही हुए। अनुवादों का प्रारम्भ भारतेन्दु ने 'पूर्ण प्रकाश' और 'चन्द्र प्रभा' नामक उपन्यासों से किया। तत्पश्चात् बाबू गजाधरसिंह ने 'बंग विजेता' और 'दुर्गेशनंदिनी', तथा बाबू राधाकृष्णदास ने 'स्वर्णलता' और 'मरता क्या न करता आदि अनुवादित उपन्यास लिखे। राधाचरण गोस्वामी ने 'सावित्री', 'बिरजा' 'मृणमयी' का तथा प्रतापनारायण मिश्र ने 'राजसिंह', 'इन्द्रा', 'युगलांगुलीय' और 'राधारानी' के अनुवाद किए। इन अनुवादों में भाषा का स्वरूप तो उपलब्ध होता है पर वृत्त तथ्यहीन हैं। इन अनुवादों द्वारा एक लाभ यह हुआ कि हिन्दी पाठकों को नये ढङ्ग के सामाजिक और ऐतिहातिक उपन्यासों का

परिचय मिल गया। इससे मौलिक उपन्यास-लेखन की प्रवृत्ति और योग्यता का श्रीगणेश हुआ। यह उपन्यासों का बाल्यकाल माना जा सकता है।

द्वितीय उत्थान—(सन् १६०० से १६१५ तक) प्रथम युग के अन्तिम चरण के अनुवादों का क्रम द्वितीय युग में खूब विकसित हुआ यद्यपि अच्छे मौलिक उपन्यास कुछ काल उपरान्त ही लिखे गये। द्वितीय अवस्था रामकृष्ण वर्मा, कार्तिकप्रसाद खत्री और गोपालराम गहमरी के अनुवादों से प्रारम्भ होती है। वर्माजी ने 'ठग वृतान्तमाला', 'अकबर', 'अबला वृत्तान्तमाला', 'चित्तौर चातकी' का; खत्रीजी ने 'इला', 'प्रमला' का; तथा गहमरी जी ने 'चतुर चंचला' 'भानुमती', 'नये बाबू', 'बड़े भाई' तथा अन्य अनेक उपन्यासों के अनुवाद किए। उदितनारायण लाल का 'दीपनिर्वाण', रामचन्द्र वर्मा का 'छत्रसाल', गोस्वामी जी का 'तारा' आदि ऐतिहासिक उपन्यासों के अनुवाद भी किए गए। 'लंदन रहस्य' तथा 'टाम काका की कुटिया' नामक अंग्रेजी अनुवाद भी सामने आए। गंगाप्रसाद गुप्त ने उर्दू से 'पूना में हलचल' तथा हरिऔधजी ने 'वेनिस का बाँका' नामक अनुवाद किए। इन अनुवादों की भाषा अपेक्षाकृत अधिक सजीव और परिमार्जित थी। लिखने का भी ढँग मनोरंजक रहा।

इस युग के मौलिक उपन्यासकारों में से देवकीनन्दन खत्री ने 'नरेन्द्रमोहिनी' 'कुसुमकुमारी', 'चंन्द्रकान्ता सन्तति', 'भूतनाथ' नामक घटना-प्रधान मौलिक उपन्यास लिखे। इनमें ऐयारी और तिलस्मी घटनाओं का प्राधान्य रहा। इनमें साधारण मनोरंजन तो था परन्तु साहित्यिक गुणों का अभाव रहा। गोस्वामी जी के 'तारा', 'चंचला', 'तरुण तपस्विनी,' 'रजिया बेगम' आदि उपन्यासों में साहित्यिकता के साथ-साथ सामाजिकता के भी दर्शन हुए। वर्णन चमत्कार-पूर्ण और चरित्र-चित्रण स्वाभाविक रहा। हरिऔधजी ने 'ठेठ हिन्दी का ठाट' और 'अधखिला फूल' उपन्यास लिखकर भाषा का सरलतम रूप प्रस्तुत किया। लज्जाराम मेहता ने 'रसिकलाल', 'हिन्दू गृहस्थ', 'आदर्श दम्पत्ति', तथा बृजनन्दन सहाय ने 'राधाकांत' और 'सौन्दर्योपासक' नामक मौलिक उपन्यास लिखे।

तृतीय अवस्था—(सन् १६१५ से १६३६ तक) इस अवस्था में आकर उपन्यास साहित्य का सर्वाङ्गीण विकास हुआ। वह प्रेम-कथा, तिलस्मी, ऐयारी, चमत्कारों तथा धार्मिक उपदेशात्मक क्षेत्रों को छोड़कर समाज में आया।

मानव जीवन-दर्शन उसका लक्ष्य बना। साथ ही भाषा, कला तथा विधान के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। आदर्श और यथार्थ में चित्रण द्वारा जीवन संघर्ष और चेतन जगत का सुन्दर चित्रण हुआ।

इस युग में ही **प्रेमचन्द** का प्रादुर्भाव हुआ। अब तक उपन्यास-निर्माण का प्रमुख उद्देश्य मनोरंजन था। प्रेमचन्द ने सर्वप्रथम यथार्थ की भूमिका पर चरित्र-चित्रण की ओर पूर्णरूपेण ध्यान दिया और मानव-जीवन मुख्यतया कृपक वर्ग एवं राष्ट्रीय आन्दोलन को अपने उपन्यासों में बड़ी संवेदनशील शैली में प्रदर्शित किया। इसलिए उन्हें कुछ परिस्थिति-चित्रण भी करने पड़े जो बड़े सजीव एवं यथार्थ हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता उनकी सरलता एवं अकृत्रिमता ही है। वस्तुतः हिन्दी उपन्यासों में यथार्थवादी विचारधारा का उचित प्रकाशन प्रेमचन्द से ही प्रारंभ होता है। वैसे तो भारतेन्दु युग में भी यथार्थ की प्रवृत्ति थी किन्तु उस समय इसका मूल राष्ट्रीय चेतना थी और अब जीवन की विविध परिस्थतियाँ। इसीलिए इस युग की यथार्थानुभूति में वेदना की निवृति है। प्रेमचन्द ने जीवन के विस्तृत पक्ष का ईमानदारी के साथ उद्घाटन करके उपन्यास साहित्य को कला की पूर्ण कृति बनाने का सराहनीय प्रयत्न किया है। तत्कालीन युग की सभी प्रकार की परिस्थितियों का परिचय प्रेमचन्द के उपन्यासों में उपलब्ध है। आधुनिक उपन्यास की सबसे बड़ी विशेपता मानवतावादी दृष्टि एवं यथार्थ की अनुभूति का पूर्ण परिपाक प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में 'सेवासदन', 'गबन', 'रंगभूमि' 'कर्मभूमि' और 'गोदान' 'प्रमुख हैं।' 'गोदान' उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना जाता है।

इस उत्थान के दूसरे महत्वपूर्ण लेखक **जयशंकरप्रसाद** हैं जो अपने 'कंकाल' में समाज के वर्तमान नर कंकाल का चित्र उतारने में सफल हुए हैं। इस उपन्यास में प्रसाद जी ने उपन्यास में भावप्रधान एवं कल्पना-प्रवण शैली का प्रयोग करके नई संभावनाओं को जन्म दिया। इस उपन्यास में तत्कालीन सामाजिक समस्याओं को हल करने की चेष्टा की गई है। कंकाल में धर्म के नाम पर नैतिकता का शोषण दिखाकर लेखक ने कटु व्यंग्य किया है। कंकाल के अन्दर आदर्शोन्मुख यथार्थवाद एवं प्रकृतवादी विचारधारा का

अपूर्व सम्मिश्रण है। आगे चलकर जो सामाजिक कुरूपताओं को दिखाने का प्रयत्न हुआ और प्रकृतवादी उपन्यासों की परम्परा चली उसमें कंकाल का बहुत योग है। प्रसाद जी की 'तितली' में लेखक की नारी भावना का प्रकाशन है। 'तितली' में प्रकृतवादी जीवन के स्थान पर भौतिक भूख, दुःख इत्यादि का चित्रण प्रधान हो गया है। इसमें समाज पर जो व्यंग्य है वह इतना उभरा नहीं है और पात्रों के जीवन-माध्यम से ही प्रकट है। तितली लेखक की करुणा तितली के साथ ही खेतों और खलिहानों में उमड़ पड़ी जहाँ आर्थिक शोषण का नग्न नृत्य हो रहा है। उन ग्रामीण झोंपड़ियों में दुःख-दर्द और भूख का करुण चित्रण है। 'इरावती' उनका अपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास हैं।

इस युग के **वृन्दावनलाल वर्मा** अपनी ऐतिहासिकता के साथ उपन्यास क्षेत्र में नई भावनाओं को लेकर प्रकट हुए। वर्मा जी ने अपने उपन्यासों में नई उद्भावनाओं के साथ प्राचीन खंडहर का मेल करके नये ढंग से इतिहास और साहित्य का समन्वय प्रस्तुत किया है। इनके बहुत से उपन्यास हैं जिनमें 'झाँसी की रानी', 'गढ़कुण्डार', 'मृगनयनी' और 'माधव जी सिन्धिया' प्रमुख है।

शैली के धनी **राजाराधिकारमण प्रसाद सिंह** भी इसी युग की देन हैं। उनके उपन्यासों में भाषा-शैली का जैसा चमत्कार देखने को मिलता है वह अन्यत्र अप्राप्य है। उनके लिखे उपन्यासों में 'राम-रहीम' 'सावनी समा' और 'पुरुष और नारी' प्रमुख हैं। उनका 'राम रहीम' तो कुछ आलोचकों की राय में 'गोदान' के पश्चात् हिन्दी की सबसे सशक्त औपन्यासिक रचना है।

इस युग के अन्य प्रतिभाशाली उपन्यासकारों में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', जैनेन्द्रकुमार, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, भगवतीचरण वर्मा, चतुरसेन, उग्र आदि प्रमुख हैं।

चतुर्थ उत्थान—(सन् १९३६ से आजतक) उपन्यास साहित्य में जैनेन्द्र को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति में बड़ी सफलता मिली है। इनके उपरान्त तो इस प्रकार के वैयक्तिक अध्ययन की परम्परा ही चल पड़ी। बाबू गुलाबराय जी ने इस श्रेणी के उपन्यासों की विशेषताएँ

निरूपित करते हुए कहा है "**आधुनिक उपन्यासों में मनुष्य के वैयक्तिक इतिहास के आधार पर उसके अवचेतन मन की कुंजी से उसके चारित्रिक रहस्यों का उद्घाटन किया जाता है। व्यक्ति की दुर्बलताएँ सामाजिक और मानसिक कारणों के आलोक में मनोवैज्ञानिक अध्ययन का विषय बन गई है।**" मनो-विश्लेषण प्रधान उपन्यासकारों में भगवतीप्रसाद वाजपेयी, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय आदि हैं।

रोमानी प्रवृत्ति को प्रधानता देने वाले उपन्यासकारों में अश्क रामचन्द्र तिवारी, विष्णु प्रभाकर आदि है।

वर्तमान काल में उपन्यासकारों का एक वर्ग विदेशी साहित्य की साम्यवादी धारा को लेकर चल रहा है। इनमें सर्वप्रथम सफल प्रयत्न करने वालों में यशपाल प्रमुख हैं। राहुलजी भी इसी धारा के लेखक हैं किन्तु अपने ऐतिहासिक इतिवृत्तों के कारण उनके उपन्यास सामाजिक पहलू को छोड़कर इतिहास ही अधिक दिखाई पड़ते हैं। इस धारा के अन्य लेखकों में डा० रांगेयराघव, उपेन्द्रनाथ अश्क, नागार्जुन, अमृतलाल नागर, गंगाप्रसाद मिश्र इत्यादि मुख्य हैं। इन सभी कलाकारों में सामाजिक विषमता, दरिद्रता एवं वर्ग संघर्ष के भाव मनोविश्लेषणवाद की धारा से समन्वित होकर व्यक्त हुए हैं। इन्होंने समाज के नवीन स्तर भेदों का सविस्तार वर्णन किया है और उनके बीच सामाजिक जीवन के छोटे-से-छोटे सम्बन्धों का आधुनिक परिस्थितियों के अनुरूप निराकरण प्रस्तुत किया है।

सारांश यह है कि वर्तमानकाल के उपन्यास साहित्य में दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ मिलती हैं. एक साम्यवाद पर आधारित यथार्थवाद की और दूसरी मनोविश्लेषण की। इधर शैली के और विषय के कई प्रयोग हुए हैं। आंचलिक उपन्यास के नाम से नई धारा विकसित हुई है। कुल मिलाकर हिन्दी उपन्यास की प्रगति संतोषजनक है।

प्रश्न २८—हिन्दी कहानी के उद्भव और विकास पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—यों तो मानव समाज में कहानी कहने और सुनने की प्रवृत्ति आदिम काल से चली आती है और प्राचीन भाषा के साहित्य में इसकी परम्परा भी सुरक्षित है किन्तु हिन्दी में कथा साहित्य का आविर्भाव बीसवीं

शताब्दी की देन है। प्राचीन वैदिक साहित्य में भी कहानी कहने की प्रवृत्ति विद्यमान थी। लौकिक संस्कृत साहित्य में पंचतन्त्र की कहानियाँ प्रसिद्ध ही हैं। पुराणों में कहानी की प्रवृत्ति का उपयोग ज्ञानोपदेश के लिए है। बुद्ध की जातक कथाएँ भी कहानी की प्रवृत्ति का परिचय देती हैं। वस्तुतः कहानी 'कहने का मनोरंजक एवं विशिष्ट ढंग है' जिसके द्वारा बड़े जटिल एवं गहन विषयों को समझाने का प्रयत्न मानव समाज में बहुत प्राचीन समय से ही होता रहा है। आज 'कहानी' शब्द एक विशिष्ट प्रकार की रचना के लिए रूढ़ हो गया है जिसके मुख्य अङ्ग ये हैं—कथावस्तु, चरित्रचित्रण, वातावरण, उद्देश्य और गद्य-शैली। इन विशिष्ट अंगों में भी एकोन्मुखता, लघु विस्तार, प्रभावान्विति इत्यादि कहानी की प्रमुख विशेषताएँ हैं। आज कहानी का अर्थ गद्य में रचित कहानी ही है।

हिन्दी कहानी साहित्य का सूत्रपात भारतेन्दु युग से माना जाता है। गोकुलनाथ की 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' सम्भवतः हिन्दी की पहली गद्य-कहानियों का संग्रह है। लल्लूलाल, सदलमिश्र और इंशाअल्लाखाँ के ग्रन्थ भी एक प्रकार से विभिन्न कथाओं के संग्रह-मात्र माने जा सकते हैं। अगर 'कहानी' शब्द मात्र से ही कहानी का अर्थ लिया जाय तो इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी मानी जानी चाहिए। परन्तु इसमें कथा को छोड़कर कहानी के अन्य तत्वों का पूर्ण अभाव है। इसी प्रकार राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' लिखित 'राजा भोज का सपना' और 'वीरसिंह वृत्तान्त' को भी पूर्ण रूप से कहानी नहीं मानना चाहिए। इनमें चरित्र-चित्रण और कथोपकथन का अभाव है। वास्तविक रूप से कहानी का प्रारम्भ भारतेन्दु युग से ही हुआ है। उपन्यासों की भाँति इस काल के मूल में भी बंगला और अँग्रेजी का प्रभाव काम कर रहा था। उस युग में बँगला, मराठी और अंग्रेजी से ही कहानियाँ अनूदित की गईं।

हिन्दी में सर्वप्रथम कहानी लाने का श्रेय एकमात्र **'सरस्वती'** मासिक पत्रिका को ही है। इसमें सबसे पहले किशोरीलाल गोस्वामी की **'इंदुमती'** नामक कहानी प्रकाशित हुई। यह उनका मौलिक प्रयास था। गिरजाकुमार घोष ने 'पार्वतीनन्दन' के उपनाम से बङ्गला की अनेक कहानियों का हिन्दी

में भावानुवाद किया। 'बंग महिला' नामक एक महिला ने कुछ मौलिक हिन्दी कहानियाँ लिखीं जिनमें 'दुलाई वाली' विशेप प्रसिद्ध है। इसी समय लगभग श्री भगवानदास ने 'प्लेग की चुड़ैल', पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'ग्यारह वर्ष का समय' तथा श्री गिरिजादत्त बाजपेयी ने 'पंडित और पण्डितानी' नामक कहानियाँ लिखीं। इनमें से मार्मिकता की दृष्टि से इन्दुमती, ग्यारह वर्ष का समय और दुलाई वाली ही हिन्दी की पहली मौलिक और साहित्यिक कहानियाँ मानी जाती हैं। 'इन्दुमती' को शुक्लजी हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी मानते हैं। इस काल से हिन्दी कहानी की भावी प्रगति को हम तीन कालों में विभाजित कर सकते हैं—प्रसाद युग, प्रेमचन्द युग और प्रगतिवादी युग।

प्रसाद युग—हिन्दी कहानी का भाग्य प्रसाद के इस क्षेत्र में आने से चमक उठा। १९११ में उन्होंने 'इन्दु' नामक पत्रिका में अपनी 'ग्राम' नामक कहानी छपवाई। 'ग्राम' कहानी को बहुत से आलोचक हिन्दी की प्रथम कहानी मानते हैं। उसके उपरान्त उनकी अनेकानेक उच्चकोटि की कहानियाँ प्रकाशित हुईं, जिनमें छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी, बिसाती, इन्द्रजाल, स्वर्ग के खण्डहर आदि हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि मानी गई हैं। प्रसादजी की कहानियों में कौतूहल की प्रधानता है। इनकी ओजपूर्ण संस्कृत-निष्ठ शैली उचित वातावरण उत्पन्न कर उसके प्रभाव को अत्यधिक घनीभूत बना देती है। अन्तर्द्वन्द्व और भावानुकूल प्रकृति का चित्रण इनकी विशेषता है। चरित्र-चित्रण, कथोपकथन आदि में कलात्मक रूप ने इनकी कहानियों में अपूर्व नाटकीय रमणीयता का समावेश कर दिया है। हास्यरस सम्राट् जी० पी० श्रीवास्तव ने भी इसी समय हास्यरस-प्रधान कहानियाँ लिखना प्रारम्भ किया। राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह की 'कानों में कंगना' नामक कहानी भी अत्यन्त लोकप्रिय हुई। विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक की पहली कहानी 'रक्षा बन्धन' १९१३ में सरस्वती में प्रकाशित हुई। इस काल के कहानी लेखकों में ज्वालादत्त शर्मा और चतुरसेन शास्त्री के नाम भी उल्लेखनीय हैं। कौशिक जी की कहानियों में पारिवारिक जीवन का चित्रण विशेष रूप से हुआ। उनका पारिवारिक जीवन का अध्ययन, निरीक्षण और मनन अत्यन्त गम्भीर और सूक्ष्म था। उनकी 'ताई' नामक कहानी हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में मानी जाती

है। १९१५ में चंद्रधर शर्मा गुलेरी की प्रथम कहानी 'उसने कहा था' प्रकाशित हुई। यह कहानी पवित्र प्रेम के लिए किए गए निस्वार्थ बलिदान की कहानी है। शुक्लजी के शब्दों में—"इसमें यथार्थवाद के बीच सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यन्त निपुणता के साथ संपुटित है।.........इसकी घटनाएँ ही बोल रही हैं, पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं।" इस कहानी ने गुलेरी जी को अमर बना दिया है। हिन्दी की यही सबसे पहली सर्वाङ्गपूर्ण यथार्थवादी कहानी है जो कला के प्रत्येक अङ्ग पर खरी उतरती है।

प्रेमचन्द युग—हिन्दी कहानी के द्वितीय उत्थान के अन्तिम चरण में सामयिक, सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण करने वाली प्रेमचन्द की कहानियाँ प्रकाश में आईं। प्रेमचन्द जी के इस क्षेत्र में आने से एक अपूर्व परिवर्तन आ गया। इससे पूर्व कुछ सीमा तक हमारा कहानी साहित्य दूसरे साहित्यों के ऋण से अपना काम चला रहा था। प्रेमचन्द ने आकर उसे स्वावलम्बी बनाया। उनके सम्मुख कहानी कला के रूप और वस्तु दोनों की समस्याएँ थीं। उन्होंने विभिन्न साहित्यों की तकनीकों का अध्ययन कर स्वयं अपनी कला की तकनीक बनाई और उसे चरम विकास दिया। इनकी कहानियाँ प्रायः घटना-प्रधान हैं। इनकी कहानियों में हमारी सामयिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं एवं आन्दोलनों का चित्रण हुआ है। 'कामना तरु', 'आत्माराम', 'कफन' और 'शतरञ्ज के खिलाड़ी, इनकी श्रेष्ठ कहानियाँ मानी जाती हैं।

प्रेमचन्द के समय में ही कुछ उत्साही लेखकों का एक दल कथा-साहित्य के गगन में उज्ज्वल नक्षत्रों के समान उद्दीप्त हो उठा था। इनमें सुदर्शन, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, शिवपूजन सहाय आदि उल्लेखनीय हैं। सुदर्शन एक प्रकार से प्रेमचन्द के उत्तराधिकारी माने जा सकते हैं। बख्शी जी ने कुछ भावात्मक कहानियाँ लिखने के उपरान्त इस क्षेत्र को त्याग दिया।

प्रथम महायुद्ध ने भारतीय जीवन को विचलित कर दिया। फलस्वरूप साहित्य में जीवन की स्थापना के लिए कहानियों का प्रचार बहुत बढ़ा। 'हृदयेश' ने इसी काल में अपनी कवित्वपूर्ण कहानियाँ लिखीं। इनकी कहा-

नियाँ मार्मिक परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर चलती हैं, अतएव उनमें बाह्य प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूप-रंगों सहित परिस्थितियों का विशद चित्रण हुआ है। हिन्दी के प्राय: सभी उपन्यासकरों ने कहानियाँ लिखी हैं। कुछ कवियों ने भी कहानियाँ लिखी हैं; जैसे—पन्त, निराला, महादेवी, भगवतीचरण वर्मा आदि।

आधुनिक युग में आज अनेक प्रगतिशील विचार-धारा के कलाकार सुन्दर प्रगतिशील कहानियाँ लिख रहे हैं। इनमें यशपाल, राहुल, रांगेयराघव, अमृत राय आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

विचार और भाव प्रधान कहानी लेखकों मे सियारामशरण गुप्त, भगवती-चरण वर्मा, कन्हैयालाल मिश्र, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, विष्णु प्रभाकर का विशेष स्थान है। मनोवैज्ञानिक कहानीकारों में इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, जैनेन्द्र-कुमार आदि उल्लेखनीय हैं। नवयुवक कहानीकारों में 'पहाड़ी', राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, मार्कण्डेय, निर्गुण, कमलेश्वर, महीपसिंह, शैलेश आदि प्रमुख हैं। आनन्द प्रकाश जैन ने ऐतिहासिक कहानियाँ खूब लिखी हैं। और इस क्षेत्र में उन्हें विशेष ख्याति मिली है।

आज कहानी क्षेत्र में कुछ महिलाएँ भी अपनी लेखनी का उपयोग कर रही हैं। इनमें तेजरानी पाठक, कमला चौधरी, होमवती, सत्यवती मलिक, कृष्णा सोबती, स्वरुपकुमारी वख्शी प्रसिद्ध हैं। 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' द्वारा महादेवी वर्मा ने कथा साहित्य को कुछ नए सुन्दर रेखाचित्र दिये हैं। आज की कहानी की प्रवृत्ति पूर्ण सन्तोषजनक मानी जा सकती है। इन कहानियों ने कला के अनेक विधानों के साथ सामाजिक जीवन, इतिहास एवं संस्कृति के अनेक अंगों का स्पर्श किया है।

प्रश्न २६—हिन्दी नाट्य-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास लिखते हुए उसके विकास में जयशङ्कर प्रसाद के महत्वपूर्ण स्थान का निर्णय कीजिए।

उत्तर—हिन्दी नाटक का प्राचीन रूप—उपन्यास और कहानी के समान हिन्दी नाटक का वास्तविक उद्‌भवकाल भी भारतेन्दु युग ही है। इससे पूर्व रीतिकालीन कवियों ने ब्रजभाषा पद्य में कुछ संस्कृत नाटकों का अनुवाद किया था। सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हृदयराम ने 'हनुमन्नाटक' का अनुवाद

किया। हिन्दी-नाट्य-साहित्य की यही सबसे प्रथम पुस्तक मानी गई है। इसके उपरान्त सुकवि नेवाज कृत 'शकुन्तला' और देव कृत 'देवमाया प्रपंच' नाटकों का सृजन हुआ। अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में महाराज विश्वनाथसिंह ने 'आनन्द रघुनन्दन' और ब्रजवासीदास ने 'प्रबोध चन्द्रोदय' नामक नाटकों की रचना की। इन सभी नाटकों में पद्य की प्रधानता और नाटकीय नियमों का अभाव है। साहित्यिक दृष्टि से इनका मूल्य नगण्य है। कुछ नाटकीय नियमों का पालन करते हुए भारतेन्दु के पिता बाबू गोपालचन्द्र ने 'नहुष' नाटक लिखा। इसकी भाषा ब्रजभाषा थी। उसके उपरान्त राजा लक्ष्मणसिंह ने 'शकुन्तला' नाटक का अनुवाद किया था, जिसमें मूलकृति का सा सौन्दर्य पाया जाता है। इसके पद्य की भाषा व्रज और गद्य की खड़ी बोली है। एक प्रकार से खड़ी बोली में लिखा गया यह हिन्दी का सर्वप्रथम अनुवादित नाटक है। काल क्रमानुसार इनके उपरान्त भारतेन्दु का नाम आता है।

हिन्दी नाटक का उद्भवकाल—भारतेन्दु से ही हिन्दी नाटक का उद्भव मानना चाहिये। भारतेन्दु का युग प्राचीन और नवीन के संघर्ष का युग था। उनके नाटकों में इस संघर्ष की तीव्र प्रतिध्वनि है। भारतेन्दु के नाटक दो प्रकार के हैं—मौलिक और अनूदित। मौलिक नाटकों में—"वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, चन्द्रावली, विषस्य विषमौषधम, भारत दुर्दशा, नील देवी, अन्धेर नगरी, प्रेम जोगनी आदि हैं। इन नाटकों में उन्होंने जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों से सामग्री ली है। चन्द्रावली में प्रेम का आदर्श, नीलदेवी में ऐतिहासिक वृत्त, भारतदुर्दशा में देश की दशा आदि का चित्रण है। उनके अनूदित नाटकों में विद्या सुन्दर, पाखंड विडम्बना, धनंजय विजय, कर्पूर मंजरी, मुद्राराक्षस, सत्य हरिश्चन्द्र और भारत जननी' हैं। सत्य हरिश्चन्द्र उनका मौलिक नाटक माना जाता है परन्तु आचार्य शुक्ल उसमें एक बँगला नाटक की छाया देखते हैं। इनके नाटकों पर बँगला और संस्कृत का प्रभाव था। बँगला पर अँग्रेजी का प्रभाव था। इसलिए इनके नाटकों में पूर्व और पश्चिम की नाट्यकला का सुन्दर समन्वय हुआ है। जिन्दादिली इन नाटकों की विशेषता है। सभी नाटक अभिनेय हैं।

भारतेन्दु के प्रभाव से उसके समकालीन सभी साहित्यकारों ने नाटक

लिखे। इस काल के नाटककारों में भारतेन्दु के अतिरिक्त दो और लेखक प्रतिभाशाली थे—प्रतापनारायण मिश्र और राधाकृष्णदास। मिश्र जी ने गोसङ्कट, कलिप्रभाव, जुवारी खुवारी और 'हठी हमीर' नामक चार नाटक लिखे। राधाकृष्णदास ने महारानी पद्मावती, महाराणा प्रताप, दुःखिनी बाला नामक अत्यन्त सुन्दर नाटकों का निर्माण किया। इन लेखकों के अतिरिक्त श्रीनिवास दास ने 'रणधीर', 'प्रेम मोहिनी', 'संयोगिता स्वयम्वर', 'तप्ता-संवरण', प्रेमघन ने 'भारत सौभाग्य' नामक नाटक लिखे। बाबू गोकुलचन्द का 'बूढ़े मुँह मुँहासे लोग चले तमाशे', बाबू केशवराम का 'सज्जाद-सम्बल', 'शमशाद सौसन', गजाधर भट्ट का 'मृच्छकटिक', अम्बिकादत्त व्यास का 'ललिका' आदि नाटक उसी काल के प्रसिद्ध नाटक हैं। साहित्यिक दृष्टि से उपर्युक्त नाटकों का अधिक मूल्य नहीं है। इनमें मौलिकता और नाटकीय गुणों का अभाव है। इन नाटकों में दो विशेषताएँ हैं—१ देवता, गंधर्व, राक्षस आदि दैवी पात्रों का अभाव और इनके स्थान पर मनुष्य की बुद्धि और भावों के चमत्कार का प्रदर्शन। इस प्रकार नाटक का मनुष्य जीवन से निकट का सम्बन्ध स्थापित हो गया है। दूसरी बात है—पद्य के स्थान में गद्य का प्रयोग।

मौलिक नाटकों के अभाव में अनुवादों की परम्परा चली। अनुवाद बँगला, संस्कृत और अंग्रेजी से हुए। बाबू सीताराम ने 'नागानन्द, मृच्छकटिक, मालती-माधव' आदि का; सत्यनारायण ने भवभूति के 'उत्तर रामचरित' और 'मालती माधव' का संस्कृत से अनुवाद किया। ये अनुवाद अत्यन्त सुन्दर हैं। बङ्गला के द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का अनुवाद रूपनारायण पांडेय और रामकृष्ण वर्मा ने किया। ये नाटक अत्यन्त लोकप्रिय हुए। नाथूराम प्रेमी और धन्य-कुमार जैन ने भी अनेक बङ्गला नाटकों का अनुवाद किया। अंग्रेजी नाटकों के अनुवादकों में गंगाप्रसाद पाँडेय, पुरोहित गोपीनाथ, मथुराप्रसाद उपाध्याय प्रमुख हैं। इन्होंने विशेष रूप से शेक्सपीयर के नाटकों का अनुवाद किया है।

परन्तु उपर्युक्त अनुवादों के अतिरिक्त अनेक मौलिक नाटकों का सृजन भी इस काल में हुआ। इन मौलिक नाटकों के भी दो भेद हैं। एक वे जिन

पर पारसी नाट्यकला का प्रभाव था। इनमें राधेश्याम कथा-वाचक, नारायणप्रसाद वेताब, आगा हश्र कश्मीरी और हरिकृष्ण जौहर प्रमुख हैं। दूसरे वे नाटककार हैं जिनके नाटकों में दृश्यकाव्य की अपेक्षा श्रव्यकाव्य के गुण अधिक हैं। इनमें मिश्र बन्धु का 'नेत्रोतचीन', बदरीनाथ भट्ट का 'चन्द्रगुप्त', 'वेनचरित्र', 'दुर्गावती' आदि, राय देवीप्रसाद पूर्ण का 'चन्द्रकला भानुकुमार', मैथिलीशरण गुप्त का 'चन्द्रहास' और जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का 'मिलन मधुर' नामक नाटक सुन्दर माने जाते हैं। यहाँ तक प्रायः भारतेन्दु की मिश्रित शैली पर ही नाटक लिखे गए। इसके आगे चलकर नाटककारों ने भारतेन्दु की पद्धति छोड़कर अँग्रेजी पद्धति को अपनाया। प्रस्तावना, विष्कंभक आदि को उड़ा दिया गया। अङ्कों को दृश्यों में विभाजित किया गया। दृश्य और शूच्य का भेद भी गायब हो गया है। मंच पर उपस्थित करने वाले दृश्यों में कोई बंधन नहीं स्वीकार किया गया। यहीं से हिन्दी नाटकों का आधुनिक युग प्रारम्भ होता है। इस काल में नाटक-जगत में जयशङ्कर प्रसाद का आविर्भाव हुआ। इसे नाटकों का उत्थान युग या प्रसाद युग कह सकते हैं।

प्रसाद का नाटक-साहित्य में स्थान

प्रसाद के नाटक-क्षेत्र में अवतीर्ण होने से हिन्दी-नाट्य-साहित्य का कायाकल्प हो गया। आधुनिक हिन्दी नाटकों का पूर्ण साहित्यिक स्वरूप इन्हीं के नाटकों में दिखाई देता है। इन्होंने गम्भीर ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर प्राचीन भारतीय गौरव और सभ्यता का चित्र उपस्थित करने वाले नाटक लिखे। कथानक महाभारत के उत्तरार्द्ध काल से लेकर सम्राट हर्षवर्धन के शासन-काल तक के लिए गए क्योंकि यही काल भारतीय सभ्यता के गौरव का काल है। प्रसादजी के प्रयत्न और प्रभाव से हिन्दी नाट्यकला में परिवर्तन हुए। नाटकों के बाह्य आकार और अवयवों के विन्यास में वैचित्र्य आया। प्राचीन नाट्य शास्त्र में वर्जित दृश्यों आदि का दिखाया जाना तथा अन्य अनेक नियमों का उल्लंघन हुआ। इनके नाटकों में वध, आत्महत्या, युद्ध आदि वर्जित दृश्यों के दर्शन होते हैं। प्रसाद जी ने अपने नाटकों में सबसे अधिक बल मनोवैज्ञानिक चरित्र चित्रण पर दिया है। इनमें भारतीय और यूरोपीय दोनों प्राण-

लियों का सुन्दर समन्वय है। उन्होंने यूरोप में प्रचलित शील-वैचित्र्यवाद का पूर्ण रूप से अनुकरण न कर रस-विधान और शील-वैचित्र्य का सामंजस्य रखा है। इनके नाटक निम्नलिखित हैं—स्कंदगुप्त, अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, विशाख, कामना जनमेजय का नागयज्ञ, राज्यश्री और एक घूँट।

प्रसाद का युग राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक उथल-पुथल का युग था। इस परिस्थिति ने हमें बाध्य किया कि हम अपनी संस्कृति और राष्ट्रीयता के विषय में गम्भीरता से सोचें। उस समय कोई हल नहीं सूझता था। प्रसाद ने इसीलिए अतीत की ओर देखा। पददलित जाति के लिए अतीत बड़ा आकर्षक होता है। दूसरा कारण यह था कि प्रसादजी मूलतः दार्शनिक थे। शैवागम के 'आनन्द' की उपासना से उन्होंने घबराना नहीं सीखा था। उनका विचार था कि अखंड भारतीयता का सांस्कृतिक पुनरुत्थान यदि सम्भव है तो प्राचीन भारतीयता के उज्ज्वलतम उदाहरणों को ही भारतीयों के सम्मुख रखना चाहिए। इसके लिए वे प्राचीन भारत और नवीन यूरोप को साथ लेकर चले। ऐतिहासिक अनुशीलन और नवीन कल्पना के प्रयोग से उन्होंने नाट्यकला में नवीनता की उद्भावना की। अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता पश्चिम की देन थी। उनके नाटकों में ऐतिहासिकता होते हुए भी इसी कारण आधुनिकता की छाप है। इस प्रकार उनकी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना, दार्शनिक चिन्तन, उनकी स्वाभाविक चरित्र कल्पना, उनका राष्ट्रीयता के प्रति आग्रह, उनका संघर्ष के विष से जीवन के अमृत की खोज का प्रयत्न आदि ऐसी बातें हैं जो उन्हें हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ नाटककार घोषित करती हैं और उनकी रचनाओं को स्थायी साहित्य की वस्तु बना देती हैं।

प्रसादान्तर नाटक—प्रसाद के पश्चात् हिन्दी में दो नाटककारों ने विशेष कार्य किया। हरिकृष्ण प्रेमी और उदयशंकर भट्ट। प्रेमी जी ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में मुगलकालीन राजपूती गौरव की झलक और हिन्दू-मुस्लिम एकता का चित्रण किया। 'रक्षाबन्धन' इनका प्रसिद्ध नाटक है। अन्य नाटकों में 'स्वप्न भङ्ग', 'आहुति', 'विषपान' आदि उल्लेनीय हैं। भट्ट जी ने पौराणिक नाटक लिखे हैं। सगर विजय, अम्बा, मत्स्यगंधा, विश्वामित्र उनके प्रसिद्ध नाटक

है । इनके अतिरिक्त पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'महात्मा ईसा', माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध', गोविन्दवल्लभ पन्त का 'वरमाला' 'राजमुकुट' और 'अंगूर की बेटी', जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द का 'प्रताप-प्रतिज्ञा'-प्रेमचन्द का 'संग्राम' और 'प्रेम की वेदी', सुदर्शन का 'अजंता' कौशिक का 'भीष्म', पंत का 'ज्योत्स्ना' नाटक नाट्य रूपक; सत्येन्द्र का 'मुक्ति का यज्ञ', रामनरेश त्रिपाठी का 'प्रेमालोक', चतुरसेन शास्त्री का 'अमर राठौर' आदि नाटक विशेष प्रसिद्ध हैं । उपर्युक्त नाटककारों के अतिरिक्त दो नाटककार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिन्होंने हिन्दी नाट्य-साहित्य की अभिवृद्धि में विशेष योग दिया है । ये हैं—लक्ष्मीनारायण मिश्र और सेठ गोविन्ददास । मिश्र जी ने इब्सन और बर्नार्ड शा से प्रभावित होकर, नवीन प्रकार के समस्या प्रधान नाटक लिखे हैं । इनके 'सिंदूर की होली', 'संन्यासी', मुक्ति का रहस्य' 'जगद्गुरु" आदि प्रसिद्ध नाटक हैं । इनमें संस्कृत नाट्य-शास्त्र के नियमों के उल्लंघन के साथ-साथ पात्रों की संख्या कम है । संगीत और स्वगत-कथनों का बहिष्कार है । साथ ही रंगमंच के निर्देश ब्यौरे के साथ दिए है । ये चरित्र-प्रधान यथार्थवादी नाटक हैं । सेठ जी भी इसी पंथ के अनुगामी हैं । उनके 'प्रकाश', 'हर्ष' और 'कर्त्तव्य' तीन नाटक बहुत प्रसिद्ध हैं । इनमें मिश्रजी के नाटकों की अपेक्षा अभिनेयता अधिक है । सेठ जी ने लगभग एक-सौ नाटक लिखे हैं ।

प्रश्न ३०—एकाङ्की नाटक की उत्पत्ति एवं विकास पर प्रकाश डालिए ।

उत्तर—आज के व्यस्त जीवन में लम्बे नाटकों को देखने का समय और धैर्य दर्शकों में नहीं है । समय की बचत और अभिनय की सुगमता का ध्यान रख कर नाटक कम्पनियों ने छोटे एक अङ्क वाले नाटकों को प्रोत्साहित किया था । इनकी उत्पत्ति का श्रेय यूरोप को है । अपने संक्षिप्त कलेवर के कारण आजकल ये नाटक अत्यन्त लोकप्रिय हो रहे हैं । इनकी उत्पत्ति के विषय में कहा जाता है कि प्रारम्भ में ये नाटक समस्या पूर्ति के लिए खेले जाते थे । नाटक देखने के लिये कुछ लोग देर से आया करते थे । इसलिए समय पर आने वाले के मनोरंजनार्थ प्रधान नाटक के प्रारम्भ से कुछ समय पूर्व कुछ छोटे नाटकीय दृश्य दिखाए जाते थे । लोग इनको अधिक पसन्द करने लगे । इस प्रकार धीरे-धीरे यूरोप में आधुनिक एकांकी का विक.स हुआ । इब्सन के प्रभाव

से एकांकी में कई नये तत्वों का समावेश किया गया। नाटक क्षेत्र में एकांकी को अपनाए जाने के विषय में एक घटना का विशेश योग बताया जाता है। सन् १६०३ में लन्दन के 'वैस्ट एण्ड थियेटर' में एक कहानी 'बन्दर का पंजा' का एकाङ्की के प्राचीन रूप में प्रदर्शन किया गया। उससे दर्शक इतने प्रभावित हुए कि मुख्य नाटक को देखे बिना ही पटाक्षेप के बाद घर चले गये। इस घटना से थियेटरों के मालिकों में सनसनी फैल गयी। उन्होंने इसे अपने नाटकों से बिलकुल हटा दिया। यह हटाया जाना एकांकी के लिए बड़ा सहायक सिद्ध हुआ। वह सीमित-सहायक क्षेत्र से हटकर स्वतन्त्र रूप से रङ्गमंच पर आ गया।

भारत में एकांकी की परम्परा बहुत प्राचीन मानी जाती है। संस्कृत के 'भाण, अंक, व्यायोग, वीथी, प्रहसन' आदि एकांकी ही थे। साथ ही 'गोष्ठी, नाट्यरासक' और 'उल्लास' भी इसी श्रेणी के नाटक थे। कालिदास और भास ने ऐसे अनेक नाटक लिखे थे। इनमें भास के 'उरुभंग' और 'नीलकंठ' आज भी प्राप्य हैं। इन एकांकियों और आधुनिक एकांकी में सबसे प्रधान भेद यह है कि उनमें निर्देश या संकेत अत्यन्त स्वल्प मात्रा में होते थे जबकि इनमें अत्यन्त विस्तारपूर्वक दिए जाते हैं। परन्तु वर्तमान एकांकी मूल रूप से यूरोप की देन है। इनमें संस्कृत एकांकी के रस, पात्र और सन्धियों के नियमों की अवहेलना होती है। भारतेन्दु काल के एकांकी अवश्य संस्कृत से प्रभावित थे। आधुनिक एकांकी में जीवन का एकांकी चित्रण, चरित्र-चित्रण के आरम्भ में ही कौतूहल का आधिक्य, चरम सीमा का संक्षेप में केन्द्रीकरण, सम्वादों की मार्मिकता एवं वातावरण की अनुकूलता, एक घटना और स्थान आदि विशेषताएँ हैं।

एकांकी नाटककारों में रामकुमार वर्मा का विशेष स्थान है। इनके 'रेशमी टाई' और 'चारुमित्रा' नामक दो संग्रह निकल चुके हैं। अश्क ने भी इस क्षेत्र में काफी प्रसिद्धि पाई है। 'देवताओं की छाया' उनके सात एकांकियों का संग्रह है। भुवनेश्वर मिश्र के 'कारवाँ' एकांकी ने काफी ख्याति पाई है। इनके अतिरिक्त विष्णु प्रभाकर, जगदीशचन्द्र माथुर, सद्गुरु शरण अवस्थी, सेठ गोविन्ददास, रावी, सत्येन्द्र शरद, धर्मवीर भारती आदि ने भी सुन्दर एकांकी लिखे

हैं। स्कूल, कालिजों की स्टेजों पर प्रतिवर्ष एकांकी खेले जाते हैं अतः इन्हें एकांकियों की माँग रहती ही है और इसीलिये एकांकी लिखने की ओर लोगों का ध्यान जाने लगा है।

प्रश्न ३१—हिन्दी में निबन्ध-साहित्य के उद्भव एवं विकास पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—हिन्दी में निबन्ध के जन्मदाता भारतेन्दु-युगीन पत्र-पत्रिकायें हैं। उस समय भारतीय समाज में एक नई सांस्कृतिक और राजनीतिक चेतना का उदय हो रहा था। इसी विषय को लेकर उस समय की पत्रिकाओं में निबन्ध प्रकाशित हुए। इनके प्रारम्भिक लेखक उन पत्रिकाओं के सम्पादक थे। विषय की विविधता, सामाजिक और राजनैतिक जागृति, शैली की रोचकता और गाम्भीर्य, गौरव का अभाव आदि प्रारम्भिक निबन्धों के कुछ ऐसे गुण हैं जो पत्रकारिता से सम्बन्धित हैं। इन लेखकों का व्यक्तित्व बहुमुखी था। उनको अनेक कार्य करने थे, जिनमें साहित्य के विभिन्न अङ्गों का उन्नयन, समाज-सुधार, नाट्यकला का प्रसार, शिक्षा-प्रसार, राजनीतिक गतिविधि का निरीक्षण, जनता को जागरूक बनाना आदि महत्वपूर्ण थे। इन सब कार्यों में निबन्ध ही इनको सबसे अच्छा सहायक सिद्ध हुआ। क्योंकि साहित्य के अन्य अङ्गों के माध्यम से अपनी बात कहने में अनेक कलात्मक विधि-निषेधों का पालन करना पड़ता है परन्तु निबन्ध में इन बन्धनों को मानने की विशेष जरूरत नहीं होती। इसीलिये उस काल के समाज का सच्चा स्वरूप निबन्धों में ही प्रतिबिम्बित हुआ। भारतेन्दु काल के लेखकों ने साधारण-से-साधारण और गम्भीर-से-गम्भीर विषयों पर निबन्ध लिखे। उस समय गद्य का कोई एक सर्व-स्वीकृत रूप न होने के कारण उनकी शैलियों में गद्य शैली निर्माण के वैयक्तिक प्रयास ही अधिक हुए। उनकी भाषा सर्वसाधारण की थी, जिसमें प्रान्तीय लोकोक्तियों, मुहावरों और शब्दों का खुलकर प्रयोग किया गया है। अँग्रेजी में निबन्ध के पर्याय 'ऐसे' का अर्थ है 'प्रयास'। भारतेन्दु युग के निबन्ध सचमुच प्रयास ही हैं। उनमें न बुद्धि-वैभव है, न पांडित्य-प्रदर्शन। उनमें कुछ ऐसी आत्मीयता और बेतकल्लुफी है कि पाठक उनसे घुलमिल जाना चाहता है।

प्राथमिक प्रयास—भारतेन्दु के निबन्ध प्राथमिक प्रयास हैं जिनमें सच्चे निबन्ध के वास्तविक गुण विद्यमान हैं। उन्होंने अनेक विषयों पर निबन्ध लिखे थे। शैली, भाषा और विषय की दृष्टि से उनमें यथेष्ट प्रौढ़ता है। इस प्रकार हम भारतेन्दु को निबन्ध साहित्य का जन्मदाता मान सकते हैं। विषय और शैली की दृष्टि से इन निबन्धों में पूरा वैविध्य है। इनकी नाटकीय शैली और स्तोत्र का ढंग अत्यधिक प्रभावात्मक है। स्तोत्रों में विभिन्न सम्बोधनों और व्यंजक विशेषणों, विलक्षण आरोपों, रूपकों के अनोखे बन्धा और अतिशयोक्ति के द्वारा अद्भुत चमत्कार आ गया है।

भारतेन्दु के पश्चात् इस काल के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त माने जाते हैं। मिश्र जी में प्रतिभा थी। वे नियमों का बन्धन स्वीकार नहीं करते थे। इनकी सी मस्ती और उल्लास किसी दूसरे गद्य लेखक में नहीं मिलता। भाषा अकृत्रिम, सजीव और ग्रामीण है। उसमें गाम्भीर्य का अभाव है। कहावतें, मुहावरे, अनुप्रास और श्लेष का चमत्कार है। इसी से वे पाठक से पूरी आत्मीयता स्थापित कर लेते हैं। निबन्ध का विषय उनकी विचारधारा को नियन्त्रित नहीं करता अपितु उनकी विचारधारा ही विषय का नियंत्रण करती है। विषय जो मन में आया ले लिया और फिर उसके माध्यम से अपने मन की बातें कह दीं। 'बात', 'वृद्ध', 'भौं', 'धोखा', 'मरे को मारे शाह मदार' आदि उनके सुन्दर व्यक्तिनिष्ठ शैली के निबन्ध हैं। भट्ट जी मिश्र जी के श्रेष्ठ सहयोगी थे। उन्होंने भारतेन्दु की विचारात्मक या व्याख्यात्मक शैली को विकसित किया। उनके निबन्धों में विनोद-प्रियता एवं गम्भीर बात को सुबोध और रोचक ढङ्ग से कहने का प्रयास है। कहीं-कहीं सुन्दर भावात्मक शैली के भी दर्शन होते हैं। उनमें मिश्र जी की सी ग्रामीणता का अभाव है। उनके निबन्धों के विषय साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और मनोवैज्ञानिक हैं। शैली में भी विश्लेषणात्मक, भावात्मक, व्यंग्यात्मक आदि कई रूप हैं। विचारात्मक निबन्ध तर्क पूर्ण शैली में व्यवस्थित ढङ्ग से लिखे गये हैं।

इस काल के तीसरे लेखक बालमुकुन्द गुप्त हैं। इन्होंने गद्य को परिमार्जित कर उसे प्रांजलता प्रदान की। इनका व्यंग्य अधिक शालीन, सांकेतिक

और व्यंजक है। गद्य-शैली के विकास में गुप्तजी का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है इन्होंने भी अन्य लेखकों के समान अतीत के गौरव की भावना को जगाया। कई जीवन चरित्र, हिन्दी भाषा, लिपि, व्याकरण, राष्ट्रभाषा आदि के सम्बन्ध में निबन्ध लिखे। इनकी विशेष प्रसिद्धि इनकी व्यंग्यात्मक गद्य रचनायें 'शिव-शम्भु का चिट्ठा' और 'खत' हैं। इनमें एक प्रकार की नाटकीयता आ गई है। भारतेन्दु युग के अन्य लेखकों में ज्वालाप्रसाद, तोताराम, राधाचरण गोस्वामी, अम्बिकादत्त व्यास, प्रेमघन आदि प्रसिद्ध हैं। इन्होंने उपर्युक्त निबन्धकारों का ही अनुकरण करने का प्रयत्न किया है।

द्विवेदी युग—बीसवीं शताब्दी में शिक्षितों की संख्या में वृद्धि हुई। हिंदी लेखकों का ध्यान 'सामाजिक मनुष्य' की ओर आकृष्ट हुआ। फलस्वरूप इस युग में नैनिक निबन्ध अधिक लिखे गए। इनमें पत्रिकारिता की स्वच्छन्दता के स्थान पर विवेचन और गाम्भीर्य की वृद्धि हुई। निबन्ध की प्रकृति में एक तरह का आभिजात्यपन आ गया। द्विवेदी जी ने निवन्ध लेखकों को शिष्टता-पूर्वक बात करने का ढंग सिखाया। इस युग में निबन्ध का रूप सार्वजनिक न रहकर वह शिष्ट समाज की वस्तु बना। भाषा और साहित्य का प्रश्न एक नये रूप में सामने आया। विषय वैभिन्य के कारण भाषा की शक्ति बढ़ी। अंग्रेजी के सुन्दर निवन्धों के अनुवाद भी हुए। द्विवेदी के निबन्ध 'ज्ञान-राशि के संचित कोष' ही हैं। इनके साहित्य की महत्ता, कवि और कविता, प्रतिभा, नाटक, उपन्यास आदि निबन्ध सरल और सुबोध शैली में पाठकों की ज्ञान-वृद्धि करते हैं। श्यामसुन्दरदास, गुलाबराय एवं मिश्रबन्धु भी इसी श्रेणी के लेखक हैं। श्यामसुन्दरदास ने 'समाज और साहित्य', 'कला का का विवेचन' आदि निबन्ध लिखे जिनमें पांडित्यपूर्ण ओज एवं अर्जित ज्ञान का गाम्भीर्य है। पर निबन्ध की वह आत्मा नहीं जिसके कारण साहित्यिक दृष्टि से इनकी कोई रचना उच्चकोटि का निबन्ध कहलाती। मिश्रबन्धुओं के निबन्ध भी शिक्षा-मूलक हैं। गुलाबराय के 'समाज और कर्त्तव्य पालन' जैसे निबन्धों की अपेक्षा उनके "फिर निराश क्यों" जैसी रचनायें निबन्ध के अधिक निकट हैं। इन्होंने आलोचनात्मक निबन्ध भी लिखे हैं। इनकी विनोदमयी शैली के संस्मरणा-त्मक निबन्ध अत्यन्त उच्चकोटि के माने जाते हैं। साहित्यिक विषयों पर बख्शी

जी ने भी कई सुन्दर निवन्ध लिखे हैं। इसी समय पद्मसिंह शर्मा ने अपनी फड़कती शैली में कुछ निबन्ध लिखे। इनकी भावुकता दर्शनीय है। बनारसीदास चतुर्वेदी, ब्रजमोहन वर्मा, मोहनलाल महतो आदि ने भी इसी काल में कुछ सुन्दर संस्मरणात्मक और चरितात्मक निवन्ध लिखे हैं।

परन्तु द्विवेदी युग में तीन निबन्धकार अत्यन्त उच्चकोटि के हुए हैं— माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और सरदार पूर्णसिंह। मिश्रजी के निबन्धों में त्यौहारों, तीर्थ-स्थानों आदि के प्रति निष्ठा के साथ-ही-साथ देश-प्रेम और सनातन-धर्म के प्रति अटूट आस्था के दर्शन होते हैं। गुलेरी जी विचार और शैली की दृष्टि से इस युग के सर्वाधिक प्रगतिशील लेखक हैं। इनका व्यंग्य अन्य निबन्धकारों की अपेक्षा अधिक तीव्र और मार्मिक होता है। अब तक के लेखकों में सबसे अधिक विकसित ऐतिहासिक और सांस्कृतिक चेतना इन्हीं में थी। 'कछुआ धर्म मारेसि मोहि कुठाँव' और 'संगीत' जैसे निबन्धों में उनकी शैली का चमत्कार दिखाई देता है। सरदार पूर्णसिंह ने एक नई लय और गति के साथ निबन्धों की परम्परा को नये मानवतावादी मार्ग की ओर उन्मुख किया। सभ्य आचरण और प्रेम के द्वारा ये समाज का कल्याण देखते थे। इनकी भाषा में एक नई लक्षणा और व्यंजना का चमत्कार है। भावों को मूर्त्त रूप देने की इनकी क्षमता अद्भुत है। इनके निबन्ध प्रभावाभिव्यंजक शैली के अन्तर्गत माने जाते हैं क्योंकि उनके सजीव चित्रोपम-वर्णन, मार्मिक भाव-व्यंजना, गम्भीर विचार संकेत और भाषा शैली की ओजस्विता आदि गुण एक विशेष प्रभाव-सृष्टि करते हैं।

रामचन्द्र शुक्ल के रूप में हिन्दी को सर्वप्रथम एक महान् निबन्ध लेखक मिला। शुक्लजी ने इस क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया। आपके निबन्ध 'चिन्तामणि' नाम से संग्रहीत हुए हैं। शुक्लजी का हृदय कवि का, मस्तिष्क आलोचक का और जीवन अध्यापक का था। यह सरसता और गम्भीरता उनके लेखों में कल्याण-भावना के साथ घुली-मिली है। उनके निबन्धों में गठन, भाषा का गम्भीर रूप, प्रभाव एवं ओज प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। कहीं-कहीं गम्भीर हास्य के छींटे भी मिल जाते हैं। विचार-धारा श्रृङ्खलाबद्ध और तर्कपूर्ण है जो समास शैली के द्वारा प्रकट होती है। सर्व-

सम्मति से शुक्लजी हिन्दी निबन्ध-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार माने गये हैं। उन्होंने द्विवेदी युग की शास्त्रीय गद्य शैली को एक नया रूप देकर उसे बहुत ऊँचा उठा दिया जिसमें विषय के विश्लेषण और पर्यालोचन की दृष्टि से वैज्ञानिक की सूक्ष्मता और सतर्कता दिखाई देती है और भावों को प्रेरित करने के विचार से पूर्ण सहृदयता के दर्शन होते हैं। इनमें घनीभूत वाक्यों की ध्वनि दूर तक जाती है।

शुक्ल जी के पश्चात् बाबू गुलाबराय का नाम इस क्षेत्र में सर्वप्रमुख है। उनके निबन्ध 'मेरे निबन्ध', अध्ययन और आस्वाद आदि संग्रहों में प्रकाशित हुए हैं। शुक्लजी की परम्परा में उन निबन्धकारों का उल्लेख किया जा सकता है जो शैली और विचार की दृष्टि से तो उनसे नहीं मिलते, पर साहित्य को जीवन की अभिव्यक्ति मानते हैं। इनमें हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र, रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान आदि प्रमुख हैं। हजारीप्रसाद में एक विशेष सांस्कृतिकता और शास्त्रीयता के साथ-साथ विनोद-प्रियता भी है। नगेन्द्र के निबन्ध में पाश्चात्य अनुशीलन की छाप है। रामविलास शर्मा की भाषा भावानुकूल, सरस और व्यंग्यपूर्ण होती है। यहाँ शांति प्रिय द्विवेदी का उल्लेख भी महत्वपूर्ण है। उनको प्रकृति आलोचक से अधिक निबन्धकार की है। जो स्वच्छन्दता और सम्वेदन-शीलता निबन्धकार के लिये अपेक्षित है वह द्विवेदीजी में मौजूद है। छायावाद के चारों प्रसिद्ध कवि—प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी को साहित्यिक और आलोचनात्मक निबन्धों के लेखकों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। ये लेख फुटकर निबन्ध और पुस्तकों की भूमिकाओं के रूप में हैं।

भावात्मक शैली के निबन्धकारों में रायकृष्णदास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, माखनलाल चतुर्वेदी आदि प्रसिद्ध हैं। यात्रा-सम्बन्धी निबन्ध के लेखकों में स्वामी सत्यदेव, राहुल और देवेन्द्र सत्यार्थी प्रमुख हैं। श्रीराम शर्मा के शिकार सम्बन्धी निबन्ध भी हिन्दी में अपने ढङ्ग के अकेले हैं। जैनेन्द्र ने भी अनेक निबन्ध लिखे हैं लेकिन वे दार्शनिक की बोझिलता से नीरस हो गये हैं। इनके अतिरिक्त सद्गुरु शरण अवस्थी, भगवतीचरण वर्मा, भदन्त आनन्द कौशल्यायन आदि ने भी कुछ निबन्ध लिखे हैं। इधर प्रभाकर माचवे, प्रकाश-

चंद गुप्त, नामवरसिंह, रांगेय राघव के भी विभिन्न प्रकार के साहित्यिक निबंध देखने में आ रहे हैं। पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' के इन्टरव्यू टाइप के निबन्ध 'मैं इनसे मिला' नामक सीरीज में पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने के उपरान्त पुस्तकाकार रूप में भी आ चुके हैं।

हिन्दी आलोचना का विकास

प्रश्न ३२—हिन्दी आलोचना का उद्भव और विकास दिखाते हुए बताइए कि आप किसको सर्वश्रेष्ठ समालोचक मानते हैं ?

उत्तर—हिन्दी गद्य की अन्य विधाओं के समान समालोचना भी पाश्चात्य साहित्य की देन है। हिन्दी साहित्य में समालोचना पहले-पहल केवल काव्य के गुण-दोषों तक ही सीमित रही थी। वह रीतिकाल के अन्तिम चरण तक लक्षण ग्रन्थों के रूप में रस, अलङ्कार, छन्द, नायक एवं नायिका के विभिन्न भेदों की सूची-मात्र बनी रही। उसमें इन बातों की अत्यन्त स्थूल विवेचना की गई थी। साहित्य का अनुशासन करना तो दूर रहा, यह उसका मार्ग-निर्देश भी न कर सकी। इसलिये समालोचना के आधुनिक व्यापक दृष्टिकोण और परिभाषा के अनुसार उसे समालोचना नहीं कहा जा सकता। इस आलोचना में तो— 'सूर सूर तुलसी ससी" अथवा "तुलसी गंग दुवौ भये सुकविन के सरदार" जैसे प्रशंसा अथवा अप्रशंसा सूचक सूत्रों का प्रचार था। उनका दूसरा रूप टीकाओं के रूप में मिलता है। 'मानस' की विविध टीकाएँ और उसके विभिन्न अर्थों की परम्परा काफी समय तक चलती रही। रीतिकाल में प्रधान रूप से दो प्रकार की समीक्षा पद्धति के दर्शन हुए—अलङ्कारवादी और रसवादी। केशव और उनके अनुयायी अलङ्कारों के विवेचन में दत्तचित्त रहे। बिहारी, देव, मतिराम आदि ने रसों को प्रमुखता दी। इन दोनों में ही समीक्षा के स्थान पर अपने युग की काव्य-रचनाओं का आकलन करने की प्रवृत्ति भी प्रमुख थी।

भारतेन्दु-युग में आकर परिस्थिति बदल गई। हिन्दी साहित्य के नवीन एवं बहुमुखी विकास ने आलोचना के स्वरूप और प्रकार में भी नये तत्त्वों का समावेश किया। साहित्य-विवेचन का स्तर अधिक बौद्धिक हो गया। गद्य में

उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्धादि का प्रारम्भ हो चुका था। उनके विवेचन के लिये नये प्रतिमानों की आवश्यकता थी। साहित्यिक नवीनता के कारण इस समय की समीक्षा में किसी विशेष शास्त्रीय नियम का पालन नहीं हो रहा था। भिन्न-भिन्न समीक्षक अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार रचनाओं के गुण-दोषों का उद्घाटन कर रहे थे। यह हिन्दी की नवीन प्रयोग-कालीन समीक्षा का स्वरूप था। इस समीक्षा के प्रवर्त्तक बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', श्रीनिवासदास, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री आदि थे।

लेखों के रूप में पुस्तकों की विस्तृत आलोचना 'प्रेमघन' ने अपनी 'आनन्द कादम्बिनी' नामक पत्रिका से प्रारम्भ की। उन्होंने श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयम्वर' नाटक की बड़ी विशद और कड़ी आलोचना की। इसमें केवल दोष दर्शन की प्रधानता थी। आलोचना का पुस्तक रूप में आरम्भ महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' से हुआ। द्विवेदी जी के अनेक समकालीन लेखकों में मिश्रबन्धु, पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र, लाला भगवानदीन आदि ने रीतिकालीन साहित्य की विस्तृत समीक्षा में अपना पूरा योग दिया। द्विवेदी जी और इन आलोचकों के उपर्युक्त दूसरे वर्ग में बड़ा अन्तर था। द्विवेदी जी रीति परम्परा के घोर विरोधी और कट्टर नैतिकता के पक्षपाती थे परन्तु दूसरा वर्ग रीतिकालीन साहित्य को ही वास्तविक साहित्य मान उसी की विवेचना में लगा रहा। तुलसीदास का महत्व हमने डाक्टर ग्रियर्सन से सीखा और जायसी का आचार्य शुक्ल से। यह दूसरा वर्ग बिहारी, केशव, पद्माकर और देव आदि को ही उत्कृष्ट साहित्यकार के रूप में मान उनकी पूजा करता रहा। उस समय साहित्य में ऐसे आलोचकों की कमी नहीं थी, जिन्होंने 'बिहारी' की प्रतिद्वन्द्विता में 'देव' को तो ला खड़ा किया पर कबीर, मीरा, रसखान, घनआनन्द और जायसी के लिए मौन रहे।

द्विवेदी जी ने निर्णयात्मक और परिचयात्मक समालोचना का सूत्रपात किया। इन्होंने 'विक्रमांकदेव चरित चर्चा', 'नैषध चर्चा' में परिचयात्मक समालोचना, और 'कालिदास की निरंकुशता' में निर्णयात्मक समालोचना के उदाहरण उपस्थित किए। इन आलोचनाओं में उन्होंने प्रधान रूप से भाषा

इस प्रकार रस और अलङ्कार साहित्य से बहिष्कृत होने से बच गए। उन्होंने तुलसी, सूर और जायसी जैसे श्रेष्ठ कवियों को चुना और उनके श्रेष्ठ काव्य-सौन्दर्य के साथ रस और अलङ्कार का विन्यास करके रस-पद्धति को अपूर्व गौरव प्रदान किया। साथ ही उन्होंने काव्य की स्थापना ऐसी उच्च मानसिक भूमि पर की कि लोग यह भूल गए कि रस और अलङ्कारों का दुरुपयोग भी हो सकता है। आपका भारतीय और पाश्चात्य साहित्य का अध्ययन गम्भीर और विस्तृत था। आपने इन दोनों का समन्वय किया था। साथ ही हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम कवियों की विशेषताओं और उनकी अंतःवृत्तियों के उद्-घाटन का सफल प्रयास किया। सूर, तुलसी और जायसी पर अत्यन्त पाण्डित्य-पूर्ण विश्लेषणात्मक गम्भीर आलोचनाएँ लिखीं। वे आलोचनाएँ मार्मिक, स्पष्ट और विस्तृत अध्ययन से परिपूर्ण हैं। अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में उन्होंने इतिहास के साथ-साथ बड़े-बड़े कवियों की अन्तरंग और बहिरंग विशेषताओं पर प्रकाश डाला। परवर्ती सभी साहित्य के इतिहासों पर इसकी स्पष्ट छाप है। ये आलोचनाएँ विवेचनात्मक या व्याख्यात्मक हैं तथा रुचि पर आधारित न होकर सर्वमान्य साहित्यिक सिद्धान्तों पर आधारित हैं। इस क्षेत्र में शुक्लजी ने जो कार्य किया वह बड़ा ठोस, गम्भीर और सराहनीय है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में—"हिन्दी समीक्षा को शास्त्रीय और वैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित करने में शुक्लजी ने युगप्रवर्त्तक कार्य किया, वह हिन्दी के इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगा।" अनेक आलोचकों ने शुक्ल जी को न समझकर उनकी कटु आलोचना की है परन्तु इन आलोचनाओं को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है जैसे एक निर्बल व्यक्ति किसी अत्यधिक सबल व्यक्ति पर आक्रमण करने का साहस करता है परन्तु उसकी शक्ति का आभास पाकर भयभीत हो उसके सम्मुख नतमस्तक हो जाता है। शुक्लजी के उपरान्त हिन्दी में ऐसे प्रखर व्यक्तित्व के अभी तक दर्शन नहीं हुए।

'साहित्यालोचन' की प्रणाली पर बाद में अनेक ग्रन्थ निकले। इनमें नलिनी मोहन सान्याल का 'समालोचनातत्त्व' लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' का 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', बाबू गुलाबराय का 'सिद्धान्त और अध्ययन',

मिले हैं जो विभिन्न लेखकों के लिखे गये लेखों के संग्रह रूप में होते हैं। ऐसे ग्रन्थ निबन्ध संग्रह के रूप में तो हैं ही साथ ही किसी कवि, लेखक या काल या प्रवृत्ति पर भी ऐसे ग्रन्थ देखने को मिलते हैं। शची रानी गुर्टू ने पंत और महादेवी पर ऐसे ग्रन्थों का सम्पादन किया है जिनमें विभिन्न आलोचकों के पंत और महादेवी सम्बन्धी लेखों का संग्रह है। महावीर अधिकारी ने प्रसाद पर भी ऐसे सम्पादित ग्रन्थ तैयार किया है। किन्तु इस दृष्टि से डा० भगवतस्वरूप मिश्र व विश्वम्भर 'अरुण' द्वारा सम्पादित 'सूर की साहित्य साधना' सर्वश्रेष्ठ सम्पादित समीक्षाग्रन्थ है। इसमें सूर के विविध पक्षों पर आलोचनात्मक प्रकाश डालने वाले अधिकारी विद्वानों के लेखों का संग्रह हुआ है। निश्चय ही यह ग्रन्थ सूर पर ठोस और प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत करता है।

विश्वविद्यालयों में पी० एच० डी० के हेतु शोधग्रन्थ प्रस्तुत किये जाते हैं। अब प्रतिवर्ष पचासों शोधार्थी थीसिस प्रस्तुत करते हैं। इससे भी आलोचना को विशेष गति मिली है। शोध प्रबन्ध के रूप में हिन्दी को अनेक उच्चकोटि के आलोचनात्मक ग्रन्थ मिले हैं। वैसे थीसिस के नाम से आजकल बहुत कुछ अपरिपक्व सामग्री भी प्रस्तुत की गई है तथापि बहुत से शोधार्थियों ने अत्यंत श्रम और ईमानदारी से उत्कृष्ट शोध ग्रन्थ प्रस्तुत किये हैं। ऐसे शोधग्रन्थ प्रस्तुत करने वाले आलोचकों में शम्भूनाथ सिंह, नामवरसिंह आनंद प्रकाश दीक्षित, रामदत्त भारद्वाज, सत्यदेव चौधरी, रामचन्द्र तिवारी, शिवनन्दनप्रसाद, रामेश्वरलाल 'तरुण', पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', रांगेय राघव, आदि के नाम प्रमुख हैं।

हिन्दी परीक्षाओं में निर्धारित पाठ्य पुस्तकों के ऊपर आजकल परीक्षोपयोगी आलोचना बहुत लिखी जा रही है। ऐसी आलोचना में विद्यार्थियों के हित का ध्यान रखते हुए विवेचन विषय-वस्तु पर प्राप्त बिखरी सामग्री को जुटाया जाता है। इस तरह की आलोचना अच्छी भी लिखी जा रही है और बहुत बुरी भी। पैसा कमाने की दृष्टि से परीक्षोपयोगी लिखने वाले पेज भरने के लिये बहुत कुछ भर्ती का तथा इधर-उधर से नकल करके लिख

रामदहिन मिश्र का 'काव्य दर्पण आदि प्रसिद्ध हैं। साथ ही विभिन्न कवियों पर भी समीक्षात्मक ग्रन्थ लिखे गए हैं। इनमें 'गुप्त जी की काव्यधारा', 'महाकवि हरिऔध' 'प्रसाद की नाट्यकला', 'सुमित्रानन्दन पन्त' आदि उल्लेखनीय हैं। 'केशव की काव्य कला' में पण्डित कृष्णशंकर शुक्ल ने अच्छा विद्वतापूर्ण अनुसंधान किया है। उनका 'कविवर रत्नाकर' भी सुन्दर ग्रन्थ है। रामकृष्ण शुक्ल ने 'सुकवि समीक्षा' में प्राचीन तथा नवीन कवियों पर अच्छे समीक्षात्मक निबन्ध लिखे हैं।

शुक्लजी के पश्चात् हिन्दी समालोचना कई दिशाओं में आगे बढ़ी है। कितने ही नए समीक्षक इस क्षेत्र में आए हैं। हिन्दी के प्रमुख साहित्यकारों पर विचारपूर्ण निवन्ध और पुस्तकें लिखी जा रही हैं। प्राचीन साहित्य का अनुशीलन तथा शोध सम्बन्धी कार्य भी हो रहा है। पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, परशुराम चतुर्वेदी, राहुलजी आदि ने इस क्षेत्र में प्रशंसात्मक कार्य किए हैं।

मध्यकालीन साहित्य पर विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, रामकुमार वर्मा माताप्रसाद गुप्त, सत्येन्द्र, वृजेश्वर वर्मा, हरवंशलाल शर्मा आदि प्रभृति आलोचकों ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। आधुनिक साहित्य पर नन्ददुलारे वाजपेयी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, विनयमोहन शर्मा, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, श्रीकृष्ण लाल आदि आलोचकों ने कार्य किया है। सैद्धान्तिक आलोचना लिखने वालों में गुलाबराय, सुधांशु, रामदहिन मिश्र के अतिरिक्त भगीरथ मिश्र, भगवत्स्वरूप मिश्र, कन्हैयालाल पोद्दार, नलिनविलोचन शर्मा, नगेन्द्र आदि के नाम प्रमुख हैं। आलोचना पर मार्क्सवाद का प्रभाव भी पड़ा है फलस्वरूप प्रगतिवादी समीक्षकों का प्रादुर्भाव हुआ। प्रगतिवादी आलोचकों में शिवदानसिंह चौहान, रामविलास शर्मा, अमृतराय, प्रकाकचन्द्र गुप्त आदि के नाग लिये जाते हैं।

आलोचना के ग्रन्थ व्यक्ति विशेष द्वारा भी लिखे गये हैं जैसे नन्ददुलारे वाजपेयी का 'जयशंकर प्रसाद', विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का 'बिहारी की वाग्विभूति' आदि और साथ ही कुछ ऐसे आलोचनात्मक ग्रन्थ भी इधर देखने को

मारने हैं जो वास्तव में निन्दनीय है। इस क्षेत्र में तरुण वर्ग में इधर अनेक नई प्रतिभाएँ भी देखने में आ रही हैं। नामवरसिंह, राजनाथ शर्मा, मक्खनलाल शर्मा, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, कैलाशनाथ भाटिया, मनमोहन गौतम, विश्वम्भर 'अरुण', तारकनाथ वाली, सियारामशरण प्रसाद, दीनानाथ शरण आदि तरुण आलोचकों में उल्लेखनीय हैं। आलोचकों की संख्या बहुत अधिक है और आलोचना लिखी भी बहुत जा रही है फिर भी ठोस कार्य करने वाले इने-गिने ही हैं।

काव्यशास्त्र

प्रश्न १—काव्य के स्वरूप को समझाइये ।

अथवा

विभिन्न विद्वानों द्वारा दिये काव्य के लक्षणों को लिखिए ।

उत्तर—मानव विचारशील और भावुक प्राणी होता है । वह किसी वस्तु को देखता या सुनता है तो उसके मन में उस वस्तु के प्रति कुछ भाव या विचार जगते हैं और वह उन भाव या विचार को अन्य मनुष्यों के सामने अभिव्यक्त भी करना चाहता है । कवि सामान्य मनुष्य की अपेक्षा अधिक भावुक होता है और उसके पास अभिव्यक्ति की कला भी होती है अतः किसी वस्तु-विशेष के प्रति उठे हृदयगत भावों को वह अभिव्यक्ति कर देता है । जिस भाव को उसने जैसा अनुभव किया है वह चाहता है पाठक भी उसे भली प्रकार हृदयङ्गम कर सकें और इसीलिये वह अभिव्यक्ति में अपना विशेष कौशल लगाता है । अतः उसकी अभिव्यक्ति अन्य सामान्य मनुष्यों की अपेक्षा अधिक सशक्त और प्रभावशाली होती है । मानव-मन पर बाह्य जगत के अनेक चित्र अंकित होते रहते हैं जो सुखद और दुःखद दोनों ही होते हैं । इस प्रकार मानव मन में अनेक भावनाएँ आती रहती हैं । काव्य में इन्हीं भावनाओं का चित्रण करने का प्रयास कवि करता है ।

अनादिकाल से काव्य इन्हीं भावनाओं को वाणी देने का कार्य करता आ रहा है । काव्य में ऐसी शक्ति होती है कि वह हमारे तद्विषयक भावों को जागृत कर देता है । प्रायः यह देखने में आता है कि संसार की वास्तविक वस्तुओं को देखकर हम इतने प्रभावित नहीं हो पाते जितना काव्य में वर्णन पढ़कर । अतः स्पष्ट है कि काव्य सामान्य अनुभवों और रोजमर्रा के भावों को इस खूबी से प्रस्तुत करता है कि मानव आनन्द में डूब जाता है ।

काव्य का स्वरूप

काव्य का स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयास भारत के और योरोप के दोनों ही आचार्यों ने किया है। लेकिन किसी भी एक विद्वान् के लक्षण को सर्वाङ्ग-पूर्ण कहना असम्भव है; क्योंकि काव्य की सीमा बहुत व्यापक है। उसे सीमित शब्दों में लक्षणबद्ध करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। काव्य-शास्त्र के अध्येताओं के लिए पहले 'काव्य' का समझना आवश्यक है, क्योंकि 'काव्य' की व्याख्या समझने के बाद ही वे काव्य के अंग-उपाङ्गों को समझने के लिए अग्र-सर हो सकते हैं। अतः हम काव्य के बारे में भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रियों ने क्या लक्षण दिये हैं, इस पर प्रकाश डालेंगे।

संस्कृत आचार्यों के लक्षण—संस्कृत काव्य-शास्त्र के सर्वप्रथम आचार्य भरतमुनि ने 'काव्य' की परिभाषा इस प्रकार की है—

स भवति शुभकाव्य नाटकप्रेक्षकाणाम् ।

जो मृदुल तथा ललित पदों से युक्त, गूढ़ शब्द और अर्थ से रहित, सर्व-ग्राह्य, सबको सुखद लगने वाला, नृत्य में प्रयुक्त किये जाने योग्य, रस की अनेक धाराओं को बहाने वाला, सन्धियों के सन्धान से युक्त हो, वही श्रेष्ठ काव्य कहा जाता है।

आचार्य भामह ने काव्य का लक्षण इस प्रकार दिया है—

"शब्दार्थौसहितौ काव्यं"

अर्थात् शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य की सृष्टि करते हैं।

आचार्य दण्डी की परिभाषा इस प्रकार है।

"शरीरंतावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली"

आचार्य वामन् ने काव्य में अलंकार की स्थिति आवश्यक मानी किन्तु अलंकार शब्द का प्रयोग उसके व्यापक अर्थों में करते हैं। वे 'अलंकार' को 'काव्य का सौन्दर्य प्रतिपादन करते हैं और इसके आगे वे सौन्दर्य को गुण और अलंकार के विद्यमान रहने तथा दोषों के अभाव में मानते हैं।

आचार्य राजशेखर ने अपने ग्रन्थ 'काव्य-मीमांसा' में काव्य का लक्षण यह दिया है—

हिन्दी आचार्यों के लक्षण—हिन्दी के पुराने आचार्यों ने प्राय: संस्कृत के आचार्यों की परिभाषाओं को अपनी परिभाषाओं का आधार बनाया है। रीतिकाल के प्रथम आचार्य केशवदास पर निश्चय ही अलंकारवादी आचार्यों का प्रभाव था, इसीलिए वे काव्य में अलंकारों की सत्ता को परमावश्यक मानते हैं—

जदपि सुजाति सुलक्षणी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न विराजई कविता बनिता मित्त॥

हिन्दी के अन्य प्रमुख आचार्य चिन्तामणि पर मम्मट की परिभाषा का प्रभाव लक्षित होता है। देखिए—

सगुनालंकारन सहित दोष रहित जो होइ।
शब्द अर्थ ताको कवित कहत विबुध सब कोई॥

आधुनिक काल के आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने काव्य के स्वरूप का इस प्रकार निरूपण किया—

"अन्तःकरण की वृतियों के चित्र का नाम कविता है। मनोभाव शब्दों का रूप धारण करते हैं, वही कविता है, वह गद्यमय हो या पद्यमय।"

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कविता की परिभाषा इस प्रकार की—**"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मूल साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है—उसे कविता कहते हैं।"**

महाकवि जयशंकर 'प्रसाद' के अनुसार—**"काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है। यह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है।"**

इस प्रकार हम देखते हैं संस्कृत के आचार्य एवं प्राचीन दृष्टिकोण रखने वाले हिन्दी के आचार्यों ने जहाँ काव्य में रस को अनिवार्य तत्व बताकर उसकी प्राय: आत्मा रूप में प्रतिष्ठा की है वहाँ काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष—कलापक्ष को भी विस्मृत नहीं किया है। कलापक्ष के अन्तर्गत उन्होंने रीति, अलंकार, छन्द आदि को आवश्यक तत्व बताया है।

पाश्चात्य विद्वानों के लक्षण—पाश्चात्य विद्वानों ने भी काव्य के स्वरूप

को लक्षण बद्ध करने की चेष्टा की है । अरस्तू ने काव्य को प्रकृति की अनुकृति कला माना है ।

"Poetry is an art of imitation with the end to teach and delight."

आंग्ल महाकवि मिल्टन सहज भावोद्रेक से युक्त सरल अभिव्यक्ति को कविता मानते हैं—

Poetry should be simple, sensuous and Passionate."

सुप्रसिद्ध आंग्ल समालोचक डॉ० जॉनसन ने कविता की परिभाषा इस प्रकार की है—

"Poetry is the art of uniting pleasure with truth, by calling imagination to the help of reason."अर्थात्—काव्य वह कला है जो श्रेय और प्रेय का सामंजस्य कराती है एवं जिसमें विवेक की सहायता से कल्पना का प्रयोग किया जाता है ।"

प्रसिद्ध रोमान्टिक कवि वर्डसवर्थ ने अपनी काव्य परिभाषा में भावना को विशेष महत्व दिया है । उनका कथन है—

"Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings. It takes its origin from emotion recollected in tranquility.'

अर्थात्—"कविता प्रबल वेगमती भावनाओं का सहजोद्रेक है । इसकी उत्पत्ति शान्ति में संचित अनुभूतियों से होती है ।

इलियट की परिभाषा इस प्रकार है—"कविता भावनाओं को खोल कर रख देना नहीं अपितु उससे बचना है, वह व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं अपितु व्यक्तित्व से बचकर निकल जाना है ।" देखिये –

"Poetry is not a turning loose of emotion, but an escape from emotion, it is not the expression of personality but an escape from personality."

मैथ्यू आॅर्नल्ड ने तो जीवन की बौद्धिक व्याख्या को कविता माना है—

"Poetry is at bottom a criticism of life."

इस प्रकार पाश्चात्य आचार्यों में किसी ने कल्पना तत्व को प्रधानता दी

है तो किसी ने भावना तत्व अथवा राग तत्व को, तो कुछ आचार्यों ने राग तत्व के साथ बुद्धितत्व का सामंजस्य भी किया है— कुछ आचार्य ऐसे भी हैं जिन्होंने काव्य में चित्रात्मकता को आवश्यक मानकर अथवा शैली को प्रधानता देकर कलातत्व की भी स्थापना की है। इस प्रकार समस्त परिभाषाओं को समग्र रूप से देखने पर चार तत्व—१. बुद्धितत्व २, भावतत्व, ३. कल्पना तत्व और ४. कलातत्व—की काव्य में स्थिति आवश्यक प्रतिपादित की गई मालूम पड़ती है। ये तत्व भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिपादित भावपक्ष और कलापक्ष के तत्वों से समानता रखते हैं।

प्रश्न २—काव्य के तत्वों की विवेचना कीजिये तथा काव्य के भेदों का उल्लेख भी कीजिये।

काव्य के तत्व

उत्तर—साहित्याचार्यों ने काव्य के चार तत्व माने हैं—१—कल्पना तत्व, २—भावतत्व, ३—बुद्धितत्व और ४—शैली तत्व।

१— कल्पना-तत्व—कल्पना-तत्व भावतत्व का सहायक रूप है। कल्पना भावों को पुष्ट करती है। उसके लिये सामग्री उपस्थित करती है और साथ ही अभिव्यक्ति में सहायक होती है। कल्पना का सम्बन्ध मानसिक सृष्टि से है। यह चाहे कवि की भावनाओं के अनुकूल, ब्रह्मा की सृष्टि का पुनर्निर्माण हो और चाहे उसमे जोड़ तोड़ या उलट-फेर करके सर्वथा नवीन, सुसंगत या संभाव्य रचना हो। कल्पना तीन प्रकार की मानी गई है। १—उत्पादक, २— संयोजक, और ३ - अवबोधक। उत्पादक कल्पना चित्रों का अपरिमित भंडार कवि के मस्तिष्क में लाकर रख देती है। संयोजक कल्पना के द्वारा कवि उनमें सुन्दरतम् चित्रों का संयोजन कर एक नवीन चित्र का निर्माण कर लेता है। तीसरे प्रकार की कल्पना उस नवीन चित्र को निश्चित और स्वाभाविक रूप देकर उसे अस्तित्व में लाती है।

कवि इन तीनों कल्पनाओं के सहारे सुन्दरतम् वस्तु की सृष्टि करता है। वह उसमें से कमियों को निकाल कर विभिन्न विशेषताओं को एक ही जगह रख देता है। तुलसी के राम, सूर के कृष्ण क्या हैं? मात्र मानव की उच्च-तम विशेषताओं का एक काल्पनिक समुच्चय जो कवि द्वारा किया गया है।

सारांश यह है कि कवि सुन्दरम् की सृष्टि करता है; परन्तु उस सृष्टि को मिथ्या नहीं कहा जा सकता ।

२—**भाव-तत्व**—काव्य का मूल तत्व तो राग या भाव ही है। कवि की अनुभूति जितनी तीव्र होगी, काव्य उतना ही प्रभावशाली होगा। भाव तो प्रत्येक कविता के मूल में होंगे ही परन्तु उन भावों को भाषा का स्वरूप देना, भाषा को उचित प्रकार से संघटित करना तथा अलंकारों आदि से सुशोभित करना, भाषा की लक्षणा, व्यंजना आदि शैलियों को पुष्ट करके उन भावों को रसमय बना देना साहित्य के कलापक्ष का ही काम है। सर्वश्रेष्ठ काव्य तो वही माना जाता है जिसमें तीव्र अनुभूति भावानुकूल चमत्कार पूर्ण भाषा में व्यक्त की गई हो; अर्थात् जहाँ कलापक्ष तथा भावपक्ष का उचित समन्वय व सन्तुलन हो । भावपक्ष का सम्बन्ध अनुभूति से है। भाव जितने तीव्र होंगे, अनुभूति जितनी प्रबल होगी, काव्य उतना ही प्रभविष्णु बन पायेगा। वैसे तो कलापक्ष भी कम महत्वपूर्ण नहीं क्योंकि भाव तो प्रायः विश्व में हर-एक के पास होते हैं; उनमें नवीनता बहुत कम होती है । प्रेम, घृणा, क्रोध इत्यादि भावनायें आदिम हैं; परन्तु उन्हें व्यक्त करने का ढङ्ग अधिक महत्व रखता है। हम देखते हैं कि कभी-कभी कवि बहुत अच्छी बात को और भी अधिक अच्छी तरह से कह देता है तब हम चमत्कृत होते हैं और हमें एक विशेष प्रकार का आनन्द मिलता है। अतः विशेषता तो उसी में है जहाँ तीव्र अनुभूति चमत्कारयुक्त भाषा में व्यंजित की गई हो ।

३—**बुद्धि-तत्व**—बुद्धितत्व का होना काव्य में अत्यन्त अनिवार्य है। इसका सम्बन्ध सीधा मस्तिष्क से होता है और भावपक्ष का सम्बन्ध हृदय से होता है। बुद्धितत्व कल्पना को सुव्यवस्थित, संयमित रखता है और उसे उच्छृङ्खल होने से बचाता है। भावों को भी मर्यादा के भीतर रखता है। कठोपनिषद् में बुद्धि को इन्द्रिय रूपी अश्वों की लगाम कहा गया है । इस पक्ष में वह कल्पना के भावुक तथा अमर्यादित विचारों और विकारों को अपने नियन्त्रण में करती है। चूँकी काव्य साधारण-जन की वस्तु है, इसलिए उसके उच्छृङ्खल होने से हमारे समाज को गहरी चोट पहुँच सकती है। अतः बुद्धितत्व अपने कठोर

आघातों से भावनाओं को समाज की मर्यादा और अवधि में बाँधता है। बुद्धि-तत्व से सत्यं, शिवं और सुन्दरम् की रक्षा होती है।

४—शैली तत्व—शैली शब्दों का परिधान है। इसका सम्बन्ध अभिव्यक्ति से है। शब्द ही वाक्य में सार्थक रूप धारण कर भावाभिव्यक्ति करते हैं। शैली ही भाषा में प्रेषणीयता का गुण लाती है, हमारे हृदय में भावों का जो ज्वार उठता है उसकी अभिव्यक्ति भी शैली के माध्यम से ही हो सकती है। अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही कला है। अभिव्यक्ति के बिना हम किसी भाव, विकार या वृत्ति आदि को मूर्त रूप नहीं दे सकते।

हमारे यहाँ इस तत्त्व को अलंकार, गुण, रीति और शब्द शक्तियों आदि में आश्रय मिला है। काव्य की परिभाषा में इन्हीं तत्वों में से किसी एक से अधिक तत्वों की मुख्यता पाई जाती है।

काव्य के भेद

भारतीय दृष्टि से भेद—काव्य के सर्वप्रथम दो प्रमुख भेद—१. दृश्य और २. श्रव्य किये गये हैं। दृश्य काव्य के अन्तर्गत रूपक एवं उपरूपक आते हैं, जिसमें रूपक के नाटक, प्रकरण, भाण आदि दस भेद एवं उपरूपक के नाटिका, त्रोटक आदि अठारह भेद किये गये हैं। इसी प्रकार श्रव्य काव्य के सबसे पहले तीन भेद—१. पद्य २. गद्य और ३. चम्पू—किये गये हैं। पद्य के दो भेद—१. प्रबन्ध और २. मुक्तक किये गये हैं। प्रबन्ध के पुनः दो भेद—(क) महाकाव्य एवं (ख) खण्डकाव्य किये गये। इसी प्रकार गद्य के आजकल कई भेद हो गये हैं, जिसके अन्तर्गत उपन्यास, कहानी, निबन्ध, जीवनी, आत्मकथा, रेखाचित्र आदि अनेक भेद आते हैं। काव्य के इन भेदों को निम्न सारिणी द्वारा अधिक स्पष्टता के साथ समझा जा सकता है—

(१)
काव्य
दृश्य
श्रव्य
(इसके भेद नं० २ की सारिणी में देखिये)
रूपक
उपरूपक
नाटक
प्रकरण
भाण
व्यायोग
समवकार
डिम
ईहामृग
अंक
वीथी
प्रहसन
नाटिका
त्रोटक
गोष्ठी
सट्टक
नाट्यरासक
प्रस्थानक
रासक
काव्य
प्रेंख
उल्लाप्य
संलापक
श्रीगदित
शिल्पक
विलासिका
दुर्मल्लिका
भणिका
हल्लीश
प्रकरणी
(२)
श्रव्यकाव्य
पद्य
गद्य
चम्पू
प्रबन्ध
मुक्तक
उपन्यास
कहानी
रेखाचित्र
निबन्ध
जीवनी
आत्मकथा
गद्यकाव्य
इन्टरव्यू
रिपोर्टाज
संस्मरण
आदि
महाकाव्य
खण्डकाव्य
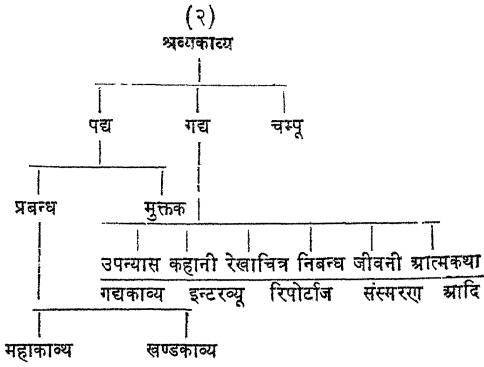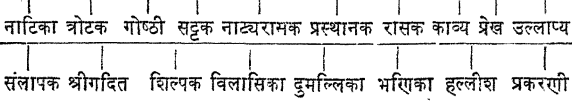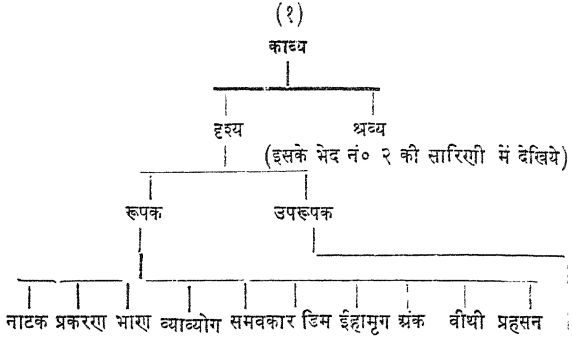
पाश्चात्य दृष्टि से—पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में काव्य का वर्गीकरण भारतीय वर्गीकरण से बहुत अंशों तक भिन्न है। सर्वप्रथम काव्य के दो प्रमुख भेद पाश्चात्य विद्वानों ने किये हैं—

(१) विषयीगत (Subjective)

(२) विषयगत (Objective)

गद्य के जितने भी भेद किये गये हैं उनका पर्याप्त प्रभाव हिन्दी के गद्य के वर्गीकरण पर पड़ा है। रेखाचित्र, संस्मरण, रिपोर्टाज, इन्टरव्यू, आत्मकथा आदि गद्य की नवीन विधायें बहुत कुछ पाश्चात्य साहित्य की हिन्दी को देन हैं; अतः गद्य के वर्गीकरण में पाश्चात्य और हिन्दी के आधुनिक वर्गीकरण में कोई अन्तर नहीं है। कविता का वर्गीकरण वहाँ अवश्य अन्य प्रकार से मिलता है। Subjectve Poetry के अन्तर्गत Elegy, Ode, Satire आदि छै भेद किये गये हैं। Objective Poetry के दो भेद— १. Narrative Poetry २. Dramatic Poetry किये गये हैं। Narrative Poetry के भी पुनः चार भेद किये गये हैं—१. Epic २. Ballad ३. Romance ४. Realistic Poetry। इसी प्रकार Dramatic Poetry भी तीन प्रकार की होती है—

१, Dramatic Lyric २. Dramatic Story ३. Dramatic Soliloquy।

इन भेदों को निम्न सारिणी में पूर्ण रूप से दर्शाया गया है—

(१)

काव्य (Poetry)

विषयीगत कविता (Subjective Poetry) | विषयगत कविता (Objective Poetry) (इसके भेद नं० २ की सारिणी में)

सम्बोधनगीत	करुणात्मकगीत	पत्रगीत	आध्यात्मिकगीत	वर्णनात्मकगीत	व्यंग्यगीत
(Ode)	(Elegy)	(Epistle)	(Philosophi-cal lyrics)	(Descrip-tive Poetry)	(Satire)
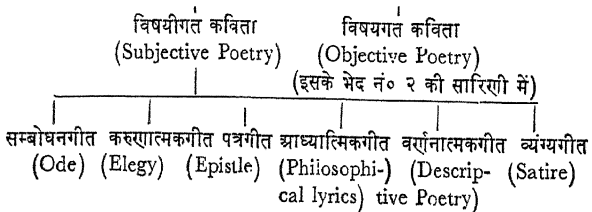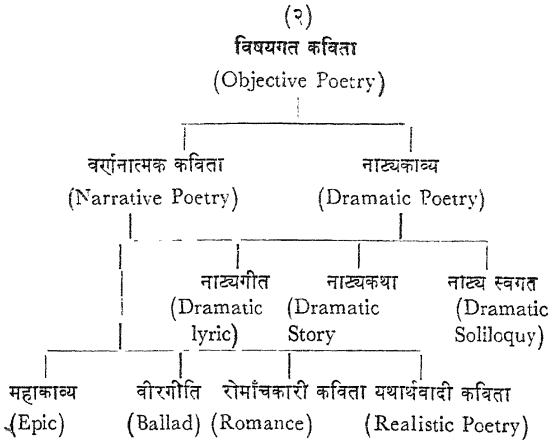
प्रश्न ३—शब्द-शक्तियों का विवेचन करते हुए काव्य में उनके महत्व और उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—किसी भी उक्ति में शब्द और अर्थ—दोनों का होना अनिवार्य है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ही शक्ति है। यह सम्बन्ध वाच्य-वाचक के नाम से अभिहित होता है। उसी सम्बन्ध के विचार से प्रत्येक शब्द अपना अर्थ प्रकट करता है। बिना सम्बन्ध के शब्द में किसी अर्थ के बोध कराने की शक्ति नहीं रहती। सम्बन्ध उसे अर्थवान् बनाता है, उसमें शक्ति का संचार करता है। संकेत और उसके ज्ञान की सहायता से शब्द का अर्थबोध होता है। संकेत ग्रहण द्वारा शब्द और अर्थ का सम्बन्ध-ज्ञान अनेक कारणों से होता है, जिनमें व्याकरण, कोश, व्यवहार आदि मुख्य हैं।

बहुत पहले ही सुप्रसिद्ध आचार्य भामह ने 'शब्दार्थौ काव्यम्' कहकर काव्य में शब्द और अर्थ की महत्ता तथा उनके परस्पर सम्बन्ध पर प्रकाश डाल दिया था। वास्तव में शब्द और अर्थ भिन्न-भिन्न नहीं हैं। श्रेष्ठ काव्य में शब्द

और अर्थ की सत्ता अभिन्न रहती है। महाकवि तुलसीदास ने शब्द अर्थ का इसी अभिन्नता पर निम्न पंक्तियों में बड़ा सुन्दर संकेत किया है—

गिरा अर्थ जल वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।

वास्तव में शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य की सृष्टि करते हैं। दोनों में परस्पर बहुत दृढ़ सम्बन्ध है और इस सम्बन्ध को जिस शक्ति द्वारा जाना जा सकता है उसे ही 'शब्द शक्ति' कहते हैं। चूंकि काव्य में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ से ही काव्य बोधगम्य होता है अतः शब्द के अर्थ को समझने में सहायक-शक्ति ही 'शब्द-शक्ति' कहलाती है।

शब्द-शक्ति के भेद—आचार्य नागेश ने शब्द-शक्ति के तीन भेद माने हैं—

(१) शक्ति, (२) लक्षरणा और (३) व्यंजना। (साचवृत्तिस्मिवा। शक्तिर्लक्षरण व्यंजना च ।।) पंडित विश्वनाथ ने भी शब्द-शक्ति के तीन भेद—(१) अभिधा (२) लक्षरणा और (३) व्यंजना—माने। प्रायः सभी आचार्य शब्द-शक्ति के उपरोक्त तीन भेद मानते हैं।

(१) अभिधा

अभिधा शक्ति के द्वारा शब्दों का मुख्यार्थ अथवा प्रत्यक्ष सांकेतिक अर्थ का बोध होता है।

अभिंधा वाक्य के अन्तर्गत किसी शब्द के केवल सांकेतिक अर्थ का बोध कराती है। परन्तु एक ही शब्द के अनेक अर्थ हैं—कोश इसका प्रमारण है। किसी शब्द का कहाँ क्या अर्थ लगाता है—इसका निर्णय संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, प्रसंग-चिन्ह, सामर्थ्य, औचित्य, देश-काल, वल और स्वर-भेद से किया जाता है। जैसे—"मरु में जीवन दूर है" कहने से मरुभूमि से सम्बन्धित होने के कारण यहाँ जीवन का अर्थ केवल 'पानी' ही लिया जा सकता है. दूसरा नहीं। अतएव यहाँ जीवन का अर्थ 'पानी' उस शब्द की अभिधा शक्ति से ही लगाया गया है। इसी प्रकार "परम रम्य आराम यह जो रामहिं सुख देत," में 'आराम' संस्कृत का शब्द है। इसका अर्थ प्रसंग से 'बाग' होगा।

परन्तु "आजकल हमें काम की अधिकता से आराम नहीं मिल पाता" में 'आराम' शब्द फारसी के आधार पर प्रसंग से सुख या चैन समझा जायगा। इस प्रकार अभिधा शक्ति के द्वारा प्राप्त अर्थ वाच्यार्थ या मुख्यार्थ कहलाता है। और इस अर्थ को प्रकट करने वाला शब्द वाचक। व्यवहार में एक शब्द से कोई निश्चित अर्थ मान लिया जाता है। इस प्रकार की कल्पना को सकेत कहते हैं। अतः जिस शब्द के द्वारा बिना किसी रुकावट के तत्काल किसी विशेष अर्थ का सङ्केत के द्वारा बोध होता है वह शब्द उस बोध्य अर्थ का वाचक कहा जाता है। साहित्य में अभिधा प्रधान काव्य को विशेष महत्व नहीं दिया जाता।

(२) लक्षणा

शब्द की जिस शक्ति के कारण प्रधान या मुख्य अर्थ को छोड़ कर किसी दूसरे अर्थ की इसलिए कल्पना करनी पड़ती है कि किसी वाक्य में उसकी सङ्गति बैठे, उसे 'लक्षणा' कहते हैं। जैसे —

"फली सफल मन-कामना, लूट्यौ अगणित चैन
आजु अचैं हरि रूप सखि भए प्रफुल्लित नैन।"

इस दोहे में फली, लूट्यौ, अचै और भये प्रफुल्लित शब्दों के अर्थ विचारणीय हैं। साधारणतया वृक्ष फलते हैं, भौतिक पदार्थ लूटे जाते हैं, पेय पदार्थ का आचमन किया जाता है और फूल प्रफुल्लित (विकसित) होते हैं। परन्तु यहाँ मनोकामना का फलना (पूरी होना), चैन का लूटना (उपभोग करना) हरि रूप का आचमन करना (दर्शन करना) और नैन का प्रफुल्लित होना (प्रसन्न होना) कहा गया है। इसी प्रकार—"तुम जैसे गधे कुछ भी नहीं समझ सकते।" इस वाक्य में गधे का साँकेतिक या मुख्य अर्थ पशु-विशेष है। पर वाक्य से इसकी सँगति नहीं बैठती, इसलिए यहाँ 'गधा' शब्द का मुख्यार्थ लेकर इसका दूसरा अर्थ 'मूर्ख' लेना होगा। तभी वाक्य में इसकी संगति बैठेगी। यह 'मूर्ख' नाम का किया हुआ दूसरा अर्थ मुख्यार्थ गधा नामक पशु से सम्बन्धित है, क्योंकि गधे से सादृश्य होने के कारण ही ऐसा कहा गया है। यहाँ ये अर्थ लक्षणा शक्ति के द्वारा ही निकाले गए हैं। हिन्दी के मुहावरे

लक्षरणा शक्ति के सुन्दर उदाहरण हैं। लक्षरणा शक्ति में लिए जाने वाले अर्थों के लिए तीन बातों का स्मरण रखना आवश्यक है—(१) वाक्य में किसी शब्द या वाक्यांक के नियत या मुख्य अर्थ से वाक्य का अर्थ समझने में बाधा पड़े। (२) इस कारण उस वाक्य या वाक्यांश का कुछ ऐसा अर्थ लिया जाय जो मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखता हो। (३) इस अर्थ के ग्रहण करने का या तो विशेष प्रयोजन हो या इस अर्थ को अङ्गीकार करने के विषय में कोई रूढ़ि या परम्परागत धारणा हो। लक्षरणा से लिए जाने वाले अर्थ को लक्ष्यार्थ और उस अर्थ का बोध कराने वाले शब्द को लाक्षरिणक या लक्षक कहते हैं।

भिन्न-भिन्न दृष्टियों से वाक्य में किसी शब्द या वाक्यांश का लक्ष्यार्थ लेने से लक्षरणा के तीन मुख्य भेद माने जाते हैं—(१) रूढ़ा और प्रयोजनवती, (२) लक्षरणा और उपादान, (३) गौरणी तथा शुद्धा।

१. **रूढ़ा और प्रयोजनवती**—जहाँ केवल रूढ़ि के कारण अर्थात् लोगों के प्रयोग बाहुल्य या लोक प्रसिद्धि के कारण मुख्य अर्थ को छोड़कर दूसरा अर्थ (लक्ष्यार्थ) ग्रहण किया जाता है वहाँ रूढ़ा लक्षरणा होती है। जैसे—"पंजाब वीर है।" यहाँ 'पंजाब' शब्द लाक्षरिणक है। इसका मुख्यार्थ 'पंजाब प्रान्त' है। किन्तु इस वाक्य में 'पंजाब' शब्द का प्रयोग 'पंजाव के निवासियों' के लिए प्रयुक्त हुआ है। ऐसा करने की रूढ़ि या परम्परा चल पड़ी है। इसी प्रकार 'सिरोही' यद्यपि एक स्थान का नाम है तथापि लक्षरणा से इसका अर्थ कविता में 'तलवार' से लिया जाता है। ऐसा कहने का कोई प्रयोजन या उद्देश्य नहीं है। इसी प्रकार 'इन दोनों घरों में झगड़ा है', कहने से 'घरों' का अर्थ 'घरों में रहने वाले व्यक्तियों' से होगा, न कि घरों की इमारतों या अन्य वस्तुओं से। ऐसा कहने की भी परम्परा या रूढ़ि चली आई है।

जहाँ किसी विशेष प्रयोजन के लिए लाक्षरिणक शब्द का प्रयोग किया जाता है वहाँ प्रयोजनवती लक्षरणा होती है। जैसे—"गंगा पर गाँव है" वाक्य में यदि अभिधा से अर्थ लिया जाय तो यह असम्भव होगा क्योंकि गंगा की धारा पर गाँव नहीं बस सकता। तब इसका प्रयोजन समझ कर यह अर्थ लिया जायगा कि—"गंगा के किनारे पर गाँव है।" ऐसा लक्ष्यार्थ लेने से ही

काम चलेगा। इस लक्ष्यार्थ के लेने का विशेष प्रयोजन है। अतः यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा मानी जायगी। इसी प्रकार आदमी के लिए उल्लू, गधा या बैल शब्द के प्रयोग से यह प्रयोजन होता है कि उसकी मूर्खता की अधिकता की व्यंजना की जाय। इसमें भी प्रयोजनवती लक्षणा होगी।

हिन्दी के सब मुहावरे लक्ष्यार्थ के उदाहरण हैं। बँधे हुए मुहावरे होने के कारण उनमें रूढ़ा लक्षणा मानी जायगी। परन्तु उनका प्रयोग सदैव विशेष अर्थ की व्यंजना के लिए ही होता है, इससे उनमें प्रयोजनवती लक्षणा भी कही जा सकती है। जैसे—"सिर पर क्यों खड़े हो ?" इसमें 'सिर पर' का लक्ष्यार्थ है निकट। इसका प्रयोजन निकटता का आधिक्य व्यंजित करना है। और इस अर्थ में ही इसके प्रयुक्त होने की रूढ़ि भी हो गई है।

२. **लक्षण और उपादान**—जहाँ वाक्य के अर्थ की सिद्धि के लिए मुख्यार्थ को छोड़ कर लक्ष्यार्थ को ग्रहण किया जाय वहाँ लक्षण-लक्षणा होती है। इसे 'जहत स्वार्थी' भी कहते हैं। क्योंकि 'जहत' का अर्थ है 'छोड़ दिया है, जिसने (स्व) 'अर्थ' (स्वार्थ अथवा वाच्यार्थ) छोड़ दिया हो, वह स्वार्थी है। जैसे—'गंगा पर गाँव है' में गंगा की धार के वाच्यार्थ या मुख्यार्थ को छोड़कर 'गंगा के तट पर' का अर्थ लिया गया है। यहाँ 'तट' रूप वस्तु (अर्थात् लक्ष्यार्थ) में से 'धारा रूप' वस्तु (अर्थात् वाच्यार्थ) का बिल्कुल लगाव नहीं है। इससे यहाँ लक्षण-लक्षणा या जहत स्वार्थी लक्षणा होगी। इसी प्रकार निम्नांकित दोहे में भी लक्षण-लक्षणा है—

"कच समेट कर भुज उलटि खए सीस पट डारि।
काको मन बाँधै न यह, जूड़ौ बाँधनि हारि॥"—बिहारी

यहाँ 'मन बाँधै' पद में 'बाँधै' शब्द के मुख्यार्थ को सर्वथा छोड़कर इसका लक्ष्यार्थ 'मन को आसक्त करना' लिया जायगा और यह लक्षण लक्षणा हो जायगी।

जहाँ अपने अर्थ की सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ का आरोप किया जाय उसे 'उपादान लक्षणा' कहते हैं। उपादान का अर्थ है—लेना। इसमें मुख्यार्थ अपने अन्वय की सिद्धि के लिए अपना अर्थ न छोड़ता हुआ दूसरे अर्थ को खींच लाता है। अतः इसे अजहत स्वार्थी लक्षणा भी कहते हैं। 'अजहत' का अर्थ 'नहीं

छोड़ा है' और स्वार्थी का अर्थ है 'अपना अर्थ'। जिसने अपना अर्थ न छोड़ा हो अर्थात् मुख्यार्थ का सर्वथा त्याग न किया हो, लक्ष्यार्थ के साथ वह भी लगा हो। जैसे—"लाल पगड़ी के आते ही सारी भीड़ छँट गई," 'लाल पगड़ी' जो जड़ है, चल नहीं सकती। इसलिए इसके मुख्यार्थ को छोड़कर लक्ष्यार्थ लिया जायगा। सिपाही के साथ अङ्ग रूप से लाल पगड़ी लगी रहती है, इसलिए उपादान या अजहत स्वार्थी लक्षणा होगी।

इसी प्रकार—"ये कुन्त (भाले) आ रहे हैं," में मुख्यार्थ भालों का आना होगा, पर भाले जड़ होने के कारण आने की क्रिया करने में असमर्थ हैं। इसलिए मुख्यार्थ को छोड़कर लक्ष्यार्थ—'भाले धारण किए हुए सैनिक' ही लिया जायगा। इस लक्ष्यार्थ के साथ मुख्यार्थ 'भाले' जुड़ा ही रहेगा। यहाँ भी इसीलिए 'उपादान लक्षणा' है।

२. **गौणी और शुद्धा**—जहाँ सादृश्य सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाय वहाँ 'गौणी लक्षणा' होती है। जैसे—'पुरुष सिंह है', इसमें पुरुष को सिंह कहने से मुख्यार्थ में बाधा पड़ती है क्योंकि पुरुष सिंह नहीं हो सकता। अतएव सिंह के पराक्रम, शौर्य आदि समान गुण (धर्म) के द्वारा लक्ष्यार्थ अर्थात् 'सिंह के समान शक्तिवाला पुरुष' का बोध होता है। इसमें गौणी लक्षणा है। गौणी लक्षणा के दो भेद हैं—(१) सारोपा, और (२) साध्यवसाना। सारोपा में उपमेय और उपमान दोनों रहते हैं। जैसे—'पुरुष सिंह है' में उपमेय (पुरुष) और उपमान (सिंह) दोनों मौजूद हैं। साध्यवसाना में उपमेय का कथन न होकर केवल उपमान ही रहता है। जैसे—'सिंह मैदान में आया' में उपमेय (पुरुष) का उल्लेख नहीं है; केवल उपमान (सिंह) कहा गया है। सारोपा रूपक अलंकार में होती है और साध्यवसाना रूपकातिशयोक्ति में।

जहाँ बिना सादृश्य सम्बन्ध के अन्य किसी सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाय वहाँ 'शुद्धा लक्षणा' होती है। जैसे—'गंगा पर गाँव' में सादृश्य सम्बन्ध से तट का ग्रहण नहीं है, प्रत्युत मुख्यार्थ प्रवाह के साथ तट का सामीप्य सम्बन्ध है। इसलिए वहाँ शुद्धा लक्षणा है। इसी प्रकार 'लाल पगड़ी के आते ही भीड़ छट गई' में लाल पगड़ी से प्राप्त लक्ष्यार्थ अर्थात सिपाही सादृश्य सम्बन्ध

से नहीं किन्तु साहचार्य सम्बन्ध से (सिपाही) और लाल पगड़ी सहचर हैं, उपलब्ध हुआ है। इससे यहाँ भी शुद्धा लक्षणा है।

(३) व्यंजना

शब्द की जिस शक्ति में शब्द या शब्द-समूह के वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति हो अर्थात् जिससे साधारण को छोड़ कर किसी विशेष अर्थ का बोध हो उसे 'व्यंजना शक्ति' कहते हैं। जैसे यदि कोई किसी दूसरे व्यक्ति से कहे कि —'तुम्हारे मुँह से शठता झलकती है' और सुनने वाला उत्तर दे कि —'मुझे आज ही ज्ञात हुआ है कि मेरा मुँह दर्पण है,' तो इसका ठीक अर्थ वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ से प्रकट नहीं होगा। इसलिए यहाँ व्यजना शक्ति से काम लेना पड़ेगा। उत्तर देने वाले व्यक्ति का अभिप्राय यह है कि—"जैसे दर्पण में मनुष्य अपना प्रतिबिम्ब देखता है, वैसे ही वक्ता (अर्थात् पहला व्यक्ति) श्रोता के मुख पर अपने मुख के प्रतिबिम्ब की झलक देख रहा है अर्थात् वह स्वयं शठ है।" इस व्यंग्यार्थ के लेने से ही उक्त वाक्य की संगति बैठती है, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार यदि कोई नियमित रूप से प्रातः काल पाँच बजे जगने वाले व्यक्ति को आठ बजे तक सोता हुआ देखकर कहे कि—"जान पड़ता है अभी सबेरा नहीं हुआ है" तो इसका अभिप्राय व्यंग्य से यह बताना होगा कि —"अब सोना ठीक नहीं है। बहुत देर हो गई। उठना चाहिए।" जिस शक्ति से यह व्यंग्यार्थ विदित हुआ उसे 'व्यंजना' कहते हैं। काव्य में इस शक्ति का प्रयोजन सब से अधिक पड़ता है। इस शक्ति अर्थात् व्यंजना से उपलब्ध अर्थ को 'व्यंग्यार्थ' और उसे प्रकट करने वाले शब्द को 'व्यंजक' कहते हैं। व्यंजना के दो प्रधान भेद होते हैं—(१) शाब्दी और (२) आर्थी।

१—**शाब्दी**—जहाँ किसी विशेष शब्द के प्रयोग पर ही व्यंग्यार्थ निर्भर रहता है, अर्थात् उस शब्द के स्थान पर उसका पर्यायवाची शब्द रख देने से व्यंजना का लोप हो जाता है, वहाँ शाब्दी व्यंजना मानी जाती है। जैसे—

"चिरजीवौ जोरी जुरे, क्यों न सनेह गम्भीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर।"

—बिहारी

इस दोहे में यदि 'वृषभानुजा' और 'हलधर' के स्थान पर इनके पर्याय-वाची शब्द 'गाय' और 'बैल' रख दिये जायँ तो व्यजना का लोप हो जायगा। वास्तव में यहाँ राधा और कृष्ण के महत्व का वर्णन कर उनके पारस्परिक सम्बन्ध की उपयुक्तता प्रकट की गई है, परन्तु कवि उपर्युक्त दो शब्दों के प्रयोग से जो परिहासात्मक अर्थ ध्वनित करना चाहता है वह दूसरे शब्दों के प्रयोग से लुप्त हो जायगा।

२--**आर्थी**—आर्थी व्यंजना किसी शब्द विशेष पर अवलम्बित न होकर पर्यायवाची शब्दों के रखने पर भी बनी रहती है। जैसे किसी धूर्त व्यक्ति को साधु का वेश बनाकर ठगते देखकर कोई उन्हें चेतावनी देने के लिए कहे कि—हम भली प्रकार जानते हैं कि आप बड़े महात्मा हैं। तो इस कथन से उसका आशय उसी कपटी व्यक्ति को दुरात्मा कहने से होगा। इसके अतिरिक्ति व्यंजना के दो भेद और होते हैं—लक्षणामूलक और अभिधामूलक। लक्षणामूलक में लक्ष्यार्थ के उपरान्त व्यंग्यार्थ स्पष्ट होता है। जैसे—'यह मनुष्य नहीं, बैल है।' इसमें 'बैल' शब्द के लक्ष्यार्थ मूर्ख को स्पष्ट करने फिर इसके व्यंग्यार्थ मूर्खता की अधिकता पर ध्यान जाता है। अभिधामूलक में वाच्यार्थ से एकाएक व्यं-ग्यार्थ की प्राप्ति होती है। जैसे—जब हनुमान अशोकवाटिका स्थित विरहिणी सीता की दशा का वर्णन करते हुए राम से कहते हैं—

"तुम्हरे विरह भई गति जौन।
चित दै सुनहु राम करुणानिधि, जानौं कछु, पै सकौं कहि हौं न॥"

यहाँ 'जानौं कछु, पै सकौं कहि हौं न' में इसके वाच्याय कि—'आपके वियोग में जो सीता की दशा हुई है वह मैं थोड़ी सी जानता हूँ पर उसका वर्णन नहीं कर सकता' से इसका वाच्यार्थ अर्थात् 'सीता के विरह का आधिक्य' पर हमारा ध्यान जाता है।

उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त व्यंजना के तीन भेद और माने गए हैं—(१) वस्तु व्यंजना, (२) अलंकार व्यंजना, और (३) भाव या रस व्यंजना।

(१) **वस्तु व्यंजना**—जिसमें कोई तथ्य या बात व्यंजित की जाती है, 'वस्तु व्यंजना' कहलाती है। जैसे—'पत्ता नहीं हिलता' इसमें गर्मी तथा सन्नाटे

है। आचार्य भरतमुनि ने रस के महत्व पर प्रकार डालते हुए लिखा था कि रस के बिना किसी अर्थ की प्रवृत्ति भी नहीं होती।

"नहिरसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते"

महर्षि व्यास ने स्पष्ट ही रस को काव्य का प्राण माना है—

"वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रसएवात्र जीवितम्"

रस का महत्व केवल रसवादी आचार्यों ने ही नहीं माना है अपितु अन्य सम्प्रदायों के प्रायः सभी आचार्यों ने रस के महत्व को प्रतिपादित किया है। यद्यपि भामह अलंकारवादी आचार्य थे। लेकिन उन्होंने भी

"युक्तं लोक स्वभावेन रसैश्च सकलेः प्रथक्"

लिखकर अपरोक्ष रूप से रस के महत्व को स्वीकार किया है। इसी प्रकार आचार्य दण्डी अलंकारवादी होते हुए भी रस में अपनी आस्था प्रकट करते हुए 'काव्यादर्श' में लिखते हैं—

'कामे सर्वोप्यलंकारों रस अर्थे निषिञ्चति"

धाग्नरेश भोज भी अपनी काव्य की परिभाषा में काव्य की रसात्मकता को आवश्यक शर्त बताते हैं। इस प्रकार सभी आचार्यों ने रस के महत्व को स्वीकार किया है। और पंडितराज विश्वानाथ ने तो "रसात्मकं वाक्यं काव्यं" कहकर रस को स्पष्ट ही काव्य का सर्वस्व बना दिया है।

कविता को आचार्यों ने कामिनी की उपमा दी है। वे इस कविता कामिनी की आत्मा 'रस' को मानते हैं, भाषा को शरीर लो अलंकार रीति आदि को सौन्दर्य के बाह्य उपकरण मात्र मानते हैं। जिस प्रकार किसी कामिनी की सुन्दरता के लिए प्रथम अनिवार्य शर्त है उसका जीवित होना, यदि वह निर्जीव है तो यह कामिनी कहे जाने के भी उपयुक्त नहीं है। इसी प्रकार कविता की सजीवता उसके उपयुक्त होने में है। यदि वह रसयुक्त नहीं है तो उसे कविता की संज्ञा कभी भी नहीं दी जा जा सकती।

भावों की अनुभूति ही कविता की जननी है। कवि के हृदय में भावों का ज्वार उठता है—वह ज्वार शब्दों में साकार होकर कविता का रूप धारण करता है अतःयह स्पष्ट है कि भाव ही पहली वस्तु है, उसके बाद उसकी अभिव्यक्ति की

अपेक्षा होती है। अतः भाव या रस ही काव्य की आत्मा है जिसके प्रकटीकरण में भाषा, अलंकार आदि उपादान के रूप में आते हैं। इस प्रकार रस साध्य है और अभिव्यक्ति की कला—भाषा, अलंकार, शैली आदि—साधक हैं। रसात्मक होने के कारण ही काव्य के आनन्द को विद्वानों ने ब्रह्मानन्द सहोदर माना है। अतः रस का काव्य में सर्वाधिक महत्व है—यह कहना तनिक भी अतिशय नहीं है।

रस क्या है ?—'रस' क्या है ? इसके उत्तर के लिए पहले 'रस' शब्द की व्युत्पत्ति पर ध्यान देना आवश्यक है। 'रस' शब्द रस धातु से बना है जिसका अर्थ है आस्वाद लेना। सामान्य अर्थों में भी रस का अर्थ यही लिया जाता है। रस शब्द का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। वैदिक साहित्य में रस शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर मिलता है। वैदिक संहिताओं में रस को जल के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। तैत्तरीय उपनिषद की निम्न उक्ति में रस को ब्रह्म के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है—

"रसोवैसः रसह्येवायं लब्ध्वाऽऽन्दी भवति।"

साहित्य शास्त्र में 'रस' का प्रयोग सर्वाधिक होता है। साहित्य शास्त्र में रस का प्रयोग भिन्न अर्थ में किया जाता है। काव्य के पठन, श्रवण अथवा दर्शन से पाठक, श्रोता अथवा दर्शक के हृदय में जो अवर्णनीय, अलौकिक आनन्द होता है वही 'रस' है। रसानन्द ग्रहण करते समय पाठक, श्रोता या दर्शक आत्मविस्मृत हो जाता है, इसीलिए रस को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। जो आनन्द योगियों को समाधि अवस्था में ब्रह्म के साक्षात्कार करने में प्राप्त होता है वही आनन्द सामान्य सहृदय व्यक्तियों को काव्य का रसानन्द ग्रहण करने से प्राप्त होता है। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्रम् में रस की परिभाषा इस प्रकार की है—

'विभावानु भावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

रस का अवयव—हमारे जीवन में हर्षः शोक, घृणा, क्रोध आदि भावों के

जाग्रत होने का विशेष कारण होता है और उनको अधिक उत्तेजित करने में कई सहायक कारण भी होते हैं और जब वह भाव जाग्रत हो जाता है तो हम कुछ चेष्टाएँ भी करते हैं जो उस भाव की सूचक होती हैं। उदाहरणार्थ— किसी प्रियजन की मृत्यु हो जाने पर हमारे हृदय में स्थिर भाव शोक—जो हृदय में सुप्तावस्था में था—जाग्रत हो जाता है, उस प्रियजन के द्वारा किए गए अच्छे कार्यों की स्मृति तथा उसके न होने से कार्य में भारी बाधा शोक की मात्रा को और अधिक बढ़ाती है और फलतः हम विलाप करने लगते हैं, छाती पीटने लगते हैं। तो यहाँ शोक को उत्पन्न करने का 'कारण' है प्रियजन की मृत्यु तथा उसके कार्यों की स्मृति और उसके न होने के कारण आगामी कार्य-क्रम में बाधा शोक को और अधिक उद्दीपन करने में 'सहायक कारण' है एवं शोक के उत्पन्न होने पर हमारा विलाप करना, छाती पीटना 'चेष्टा' के अन्तर्गत आयेगा।

काव्य में यही 'कारण' 'सहायक कारण' और 'चेष्टा' क्रमशः 'विभाव', 'संचारी' या 'व्यभिचारी भाव' और 'अनुभाव' कहलाते हैं। स्थायी भाव इन्हीं विभाव, संचारी और अनुभावों के संयोग से पुष्ट होकर 'रस' की अवस्था तक पहुँचता है।

अब, स्थायी भाव, विभाव, संचारी और अनुभाव का विवेचन भी आवश्यक प्रतीत होता है। नीचे इसका विवेचन प्रस्तुत किया जाता है--

स्थायी भाव

मानव-हृदय में वासना रूप में विराजित मनोविकारों को काव्य में 'स्थायी भाव' की संज्ञा दी गई है। मानव-हृदय के ये मूल भाव हैं और इनसे कोई भी सहृदय मानव अछूता नहीं रहता। ये स्थायी भाव स्थायी रूप से चित्त में स्थिर रहते हैं इनको कोई भी विरोधी भाव छिपा नहीं सकता। इसी कारण इन्हें स्थायी भाव कहा जाता है। आचार्यों ने स्थायी भावों की संख्या नौ मानी है। अनेक आचार्य इस संख्या में घटा बढ़ी करते रहे हैं, फिर भी इस संख्या को अधिकाँश आचार्यों ने मान्यता दी है, इसलिए आज स्थायी भावों की

संख्या नौ ही मानी जाती है। इन नौ स्थायी भावों के नाम विवेचन सहित नीचे दिये जाते हैं-

१—**रति**—स्त्री-पुरुष का पारस्परिक अनुराग अथवा प्रेम 'रति' के अन्तर्गत आता है। देवता, पुत्र विषयक रति रतिभाव ही कहलायेगा। जब यह स्थायी भाव पुष्ट होकर अभिव्यक्त होता है तो शृङ्गार रस कहलाता है।

२—**हास** - अंग, वचन, क्रिया, रूप आदि की विचित्रता से हँसी आ जाना 'हास' के अन्तर्गत आता है। यह पुष्ट होकर हास्य रस कहलाता है।

३—**शोक**— इष्ट का अनिष्ट अथवा विनाश होने पर 'शोक' स्थायी भाव की अभिव्यक्ति होती है। स्त्री-पुरुष के वियोग में शोक की व्यंजना मात्र होती है, वहाँ 'शोक' स्थायी भाव के अन्तर्गत न होकर 'विषाद' संचारी भाव के अन्तर्गत माना जाता है। इसका रस करुण है।

४—**उत्साह**—किसी शुभ कार्य को उल्लास अथवा आवेश से करने में ही 'उत्साह' की अभिव्यंजना होती है। इसका रस वीर है।

५—**क्रोध**—अनिष्ट अथवा अनुचित कार्य करने वाले व्यक्ति के प्रति तीक्ष्ण भाव 'क्रोध' स्थायी भाव की अभिव्यंजना कराता है। इसका रस रौद्र है।

६—**भय**—विनाशकारी वस्तुओं के दर्शन अथवा प्रतीति से उत्पन्न चित्त की व्याकुलता 'भय' की अभिव्यंजना कराती है। इसका रस भयानक है।

७—**जुगुप्सा**—घृणित वस्तु को देखने अथवा उसकी प्रतीति से उत्पन्न होने वाला भाव 'जुगुप्सा' कहलाता है और यही जब विभावादि से पुष्ट होता है तो वीभत्स की अभिव्यंजना कराता है।

८—**विस्मय**—अलौकिक या चमत्कार पूर्ण वस्तु या दृश्य को देखने से उत्पन्न भाव 'विस्मय' कहलाता है और यह पुष्ट होकर अद्‌भुत रस में परिणत हो जाता है।

६—**निर्वेद**—सांसारिक नश्वरता के ज्ञान से उत्पन्न होने वाला भाव शम या 'निर्वेद' कहलाता है और यही पुष्ट होकर शान्त रस की अभिव्यक्ति करता है।

विभाव

मानव अपने हृदय में स्थित काम, क्रोध, भय आदि भावों का अनुभव विशेष कारण से करता है। जो कारण इन भावों को जाग्रत करते हैं— 'विभाव' कहलाते हैं।

विभाव के दो भेद किये गये हैं—१—आलम्बन विभाव और २-उद्दीपन विभाव।

१—आलम्बन विभाव—जिनका आलम्बन लेकर हृदय में स्थित भावों की जाग्रति होती है उन्हें आलम्वन विभाव कहते हैं। उदाहरणार्थ—किसी भयानक शेर को देखकर राकेश के हृदय में स्थित भाव 'भय' की जाग्रति होती है अतः यहाँ भयानक शेर आलम्वन है जिसे देखकर राकेश को भय की प्रतीति होती है। और जिस व्यक्ति के हृदय में भाव की जाग्रति होती है वह 'आश्रय' कहलाता है। प्रस्तुत उदाहरण में राकेश के हृदय में 'भय' भाव की जाग्रति हुई है अतः राकेश आश्रय है।

उद्दीपन विभाव—वे उपकरण, वस्तुएँ अथवा वातावरण जिनसे उत्पन्न भाव को और भी अधिक उत्कर्ष मिले—उद्दीपन विभाव के अन्तरगत आयेंगे। उदाहरणार्थ—भयानक शेर को देखकर राकेश के हृदय में उत्पन्न 'भय' का भाव उस समय और भी अधिक उद्दीप्त हो जाता है जब वह अपने को सुनसान भयानक जंगल में देखता है। तो यहाँ सुनसान भयानक जंगल उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आयेंगे। इसी प्रकार 'रति' भाव को आलम्बन का अनुभव सौन्दर्य, मादक चाँदनी, नदी का किनारा आदि अधिक उद्दीप्त करते हैं।

अनुभाव

भावोद्रेक होने पर आश्रय कुछ क्रियाएँ करता है क्योंकि भाव जाग्रत होकर सक्रिय हो जाता है—ये क्रियाएँ ही अनुभाव कहलाती हैं। उदाहरणार्थ भयानक अन्धकारमय, सुनसान जंगल में भीमकाय डाकू को यदि कोई व्यक्ति देखता है तो उसके हृदय में भय का भाव जाग्रत होता है। भय के भाव के जाग्रत होते ही वह काँपने लगता है, मुख सफेद पड़ जाता है और प्राण बचाने के लिए वह शीघ्रता से वहाँ से भाग जाता है। इस उदाहरण में भयभीत

व्यक्ति 'आश्रय' है, डाकू 'आलम्बन' है, सुनसान; निर्जन जंगल 'उद्दीपन' कोटि में आयेगा तथा भय के भाव के जाग्रत होने से उत्पन्न चेष्टाएँ—हाथ पैर का काँपना, मुख का सफेद हो जाना, भाग जाना आदि 'अनुभाव' की कोटि में आयेंगी। अनुभावों के द्वारा ही पाठक या दर्शक यह जान पाता है कि किस भाव का उदय हो रहा है। उपर्युक्त उदाहरण में यदि आश्रय भयभीत व्यक्ति का हाथ पैर काँपना, भागना आदि क्रियाएँ न हों तो पाठक या दर्शक किस प्रकार यह अनुमान लगा सकते है कि उसके हृदय में 'भय' नामक भाव का उदय हो रहा है। आश्रय की इस प्रकार की चेष्टाएँ जिनके द्वारा उसके हृदयस्थ भावों का पाठक को अनुभव होता है—अनुभाव कहलाती हैं। विभिन्न रसों के अनुभाव भी विभिन्न होते हैं। जैसे दाम्पत्य रति में पारस्परिक आमोद-प्रमोद, कटाक्ष, चुम्बन, आलिंगन इत्यादि। हास में हँसना, मुस्कराना, ठट्ठा मारना, क्रोध में दाँत किटकिटाना, मुट्ठी भींचना, आँखें लाल कर लेना, नथुये फुलाना आदि। शोक में—रोना, अश्रुपात करना, पछाड़ खाकर गिर जाना आदि। जुगुप्सा में मुँह फेर लेना, नाक भौं सिकोड़ना, थूकना आदि। उत्साह में—फड़कना, तेजी से कार्य करना आदि। विस्मय में अवाक् रह जाना, आँखें विस्फरित रह जाना आदि। इसी प्रकार निर्वेद में शान्ति पूर्वक ध्यान करना, आँखें बन्द करना, पाठ-पूजा में लगा रहना आदि चेष्टाएँ होती हैं। इन्हीं चेष्टाओं अथवा क्रियाओं के द्वारा हृदय में स्थित भावों का अनुभव होता है तथा इन्हीं के द्वारा रस की व्यंजना भी होती है।

अनुभावों के भेद—

अनुभावों के आचार्यों ने दो प्रमुख भेद माने हैं—

१—**कायिक**—शरीर के अंगों से सम्बन्धित चेष्टाएँ 'कायिक' कहलाती हैं। ये चेष्टाएँ आश्रय की इच्छा के आधीन होती हैं अतः इनको कृत्रिम चेष्टाएँ कहा जाता है। क्रोध भाव के उदय होने पर दाँत पीसना, मुट्ठी बाँधना, ओठ चबाना आदि चेष्टाएँ कायिक अनुभव के अन्तर्गत आयेंगी। इन चेष्टाओं को वश में रखा जा सकता है।

२—**सात्विक**—ये अनुभाव सत्वगुण से उत्पन्न होने के कारण सात्विक अनुभव कहलाते हैं। जो चेष्टाएँ भाव के उत्पन्न होने पर स्वतः ही हो जायें

और जिन पर आश्रय का नियंत्रण न रह पाये वे सात्विक अनुभाव के अन्तर्गत आती हैं।

सात्विक अनुभाव के आचार्यों ने आठ भेद माने है। उनके नामों का नीचे उल्लेख किया जाता है—

(१) स्तम्भ (२) अश्रु (३) स्वेद (४) कम्प (५) रोमांच (६) वैवर्ण्य (७) स्वरभंग और (८) प्रलय—

संचारी भाव

मानव-हृदय में रहने वाले कुछ भाव ऐसे होते हैं जो सदैव विराजित रहते हैं—इन्हें स्थायी भाव कहा जाता है, किन्तु कुछ भाव ऐसे भी होते हैं जो अल्प समय में ही उत्पन्न होकर विलीन हो जाते हैं। ये संचारी भाव कहलाते हैं। ये स्थायी भाव को पुष्ट करने के लिए उत्पन्न होते हैं और जल में बुदबुद की तरह उत्पन्न होकर विलीन हो जाते हैं। स्थायी भाव को रसावस्था तक ले जाने का कार्य भी यही भाव करते हैं अतः इनको रस का सहकारी कारण भी माना जाता है। चूँकि एक ही संचारी भाव अनेक रसों का सहकारी कारण हो सकता है अत: इनको संचारी भाव के साथ व्यभिचारी भाव भी कहा जाता है उदाहरणार्थ—एक प्रेमी अपनी प्रेमिका को प्राप्त करने के लिए प्राण-प्रण से चेष्टा करता हुआ हृदय में यह सोचता है कि यदि उसने अपनी प्रेमिका को प्राप्त नहीं किया तो उसका जीवन व्यर्थ है ('वैराग्य' संचारी) किन्तु वह फिर अपने हृदय को मजबूत बनाता है और बाधाओं को जीत लेने की शक्ति अपने में जुटाता है ('उत्साह' संचारी)। इस प्रकार यहाँ प्रेमी का प्रेमिका के प्रति स्थायी भाव 'रति' 'वैराग्य' 'उत्साह' आदि संचारी भावों में संचरण करता हुआ 'रस' की कोटि तक जाता है।

संचारी भावों के भेद—संचारी भावों की संख्या अगणित मानी जाती है, फिर भी आचार्यों ने संचारियों की संख्या तैंतीस मानी है। समय-समय पर आचार्यों ने अपनी ओर से भी नये संचारियों का नाम जोड़ कर संख्या में

वृद्धि की है लेकिन तैंतीस संख्या ही आज मान्य है। आगे तैंतीस संचारियों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) निर्वेद (२) ग्लानि (३) विषाद (४) शंका (५) आवेग (६) दैन्य (७) मद (८) मोह (९) उग्रता (१०) अमर्ष (११) श्रम (१२) उन्माद (१३) असूया (१४) चिन्ता (१५) औत्सुक्य (१६) आलस्य (१७) निद्रा (१८) व्याधि (१९) धृति या धैर्य (२०) हर्ष (२१) गर्व (२२) मति (२३) चापल्य (२४) व्रीडा (२५) अवहित्था (२६) स्वप्न (२७) विबोध (२८) अपस्मार (२९) स्मृति (३०) त्रास (३१) वितर्क (३२) जड़ता (३३) मरण।

प्रश्न ५—रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मतों की विवेचना कीजिये।

उत्तर—पहले बतलाया जा चुका है कि विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के द्वारा स्थायी भाव की रस के रूप में अभिव्यक्ति होती है किन्तु इन सबका पृथक नामोल्लेख केवल विश्लेषण करके ही किया जा सकता है। रसानुभूति में इनकी पृथक-पृथक अनुभूति उसी प्रकार नहीं होती जिस प्रकार लगे हुए पान में कत्था, चूना तथा पान की। अब प्रश्न यह होता है कि क्या केवल अनुभाव या संचारी भाव या विभावों के वर्णन में किसी रस की पुष्टि हो सकती है? उसका उत्तर यही है कि नहीं हो सकती क्योंकि विभाव या संचारी भाव या अनुभाव किसी रस के निश्चित नहीं हैं। एक स्त्री किसी के लिए रति का विभाव बन सकती है तो दूसरे के लिए वात्सल्य का। अतः वह शृङ्गार रस का भी आलम्बन बन सकती है तथा वात्सल्य का भी। अश्रुपात सुख का भी अनुभाव हो सकता है और दुःख का भी, कम्प भय के कारण भी उत्पन्न हो सकता है और रति के उद्दीप्त होने से भी, अतः वह भयानक रस का भी संचारी हो सकता है तथा शृङ्गार का भी। इससे स्पष्ट है कि विभावादि स्वतंत्र रहकर पृथक-पृथक रूप से किसी विशेष रस की व्यंजना नहीं कर सकते। किन्तु जो विभाव, अनुभाव और संचारी तीनों मिलकर एक साथ जिस रस के साथ में व्यक्त होते हैं वे ठीक उसी प्रकार किसी अन्य रस का साथ नहीं दे सकते। इसीलिए यह कहा गया है कि—

(१) अनुमितिवाद के विरुद्ध सबसे पहला तर्क तो यह है कि यह इस तथ्य की अवहेलना करता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान से जो आनन्दानुभूति होती है वह अनुमान से कभी नहीं हो सकती।

(२) दूसरी बात यह है कि उत्पत्तिवाद की भाँति अनुमितिवाद यह नहीं मानता कि रस का अस्तित्व प्रेक्षक या पाठक में रहता है और यदि रस का अस्तित्व प्रेक्षक या पाठक में माना जाय तब प्रश्न यह उठेगा कि दूसरे के भावों को उसने कैसे अपना लिया।

(३) भट्ट नायक का भोगवाद—

भरत सूत्र के तीसरे व्याख्याकर्त्ता सांख्यमतानुयायी भट्ट नायक शंकुक के मत को संतोषप्रद नहीं मानते। उनका कथन है कि यदि रस की अवस्थिति अन्य व्यक्ति में है और स्वयं प्रेक्षक या पाठक तटस्थ है तो वह उससे प्रभावित नहीं हो सकता। अतः रस की स्थिति चाहे नायक में मानी जाय या उसके अनुकर्त्ता में मानी जाय, प्रेक्षक के हृदय में रस की अनुभ्नि नहीं हो सकती क्योंकि वे विभावानुभाव जिनके द्वारा नायक प्रभावित होता है नायिका प्रसग में ही विभावानुभाव है, प्रेक्षक के सम्बन्ध में नहीं। शकुन्तला दुष्यन्त के लिए ही रति का आलम्बन हो सकती है दर्शक या पाठक के लिए नहीं। यदि यह कहा जाय कि नायक के हृदय में नायिका विकसित रतित्वादि जो स्थायी भाव होते हैं उनका अनुभव सामाजिकों को नायक के साथ आत्मीकरण से होता है, अर्थात् नाटक देखते समय या काव्य पढ़ते समय सामाजिक यह मान लेता है कि नायक मैं ही हूँ तो, इसमें अनेक दोष हैं क्योंकि शकुन्तला केवल दुष्यन्त के लिए रति का स्थायी-भाव बन सकती है दर्शक के लिए नहीं। सीता जी राम के लिए रति भाव का आलम्बन हैं रामचरितमानस को पढ़ने वाले उनके भक्तों के लिए नहीं। फिर, सीता राम के संयोग और वियोग शृङ्गार का वर्णन पढ़कर हम सबको रसानुभूति क्यों होती है। इस प्रकार अनुमान-ज्ञान-जन्य रसानुभूति की कल्पना को निस्सार सिद्ध करके भट्ट नायक भरत सूत्र की अलग व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार 'संयोग' शब्द का अर्थ है 'भोज्य-भोजक-भाव-सम्बन्ध' और 'निष्पत्ति' का अर्थ है 'भुक्ति' (भोग)। भट्ट-नायक प्रेक्षक के हृदय में रस की स्थिति मानते हैं। उनके अनुसार स्थायी भाव से

रस बनने तक में शब्द की तीन शक्तियाँ काम करती हैं, १. अभिधा, २. भावकत्व और ३. भोजकत्व ।

(१) अभिधा के द्वारा काव्य का अर्थ समझा जाता है ।

(२) भावना का व्यापार है साधारणीकरण । भावकत्व के द्वारा विभाव अनुभावादि व्यक्ति सम्बन्ध से मुक्त होकर मनुष्य मात्र के अनुभव बन जाते हैं । उनमें व्यक्तिगत सम्बन्ध नष्ट हो जाता है । दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेम का अनुभव सामाजिको को साधारण दाम्पत्य प्रेम का अनुभव कराता है । दुष्यन्त के हृदय में शकुन्तला को देखकर जो मनोविकार उत्पन्न होते हैं उनमें दुष्यन्त के व्यक्तित्व की विशेषता न रहकर वे मनोविकार मनुष्यमात्र के हृदय के मनोविकार बन जाते हैं । इस भावना के व्यापार द्वारा 'रति' आदि भाव साधारण हो जाने पर अगम्य नहीं रहते और न उनका देश, काल, पात्र आदि से भी कोई सम्बन्ध रहता है ।

(३) भोजकत्व वह क्रिया है जिसके द्वारा साधारणीकृत स्थायी भावों का रस रूप में अनुभाव होता है । यह भोग ही निष्पत्ति है । रस के सम्बन्ध में जब 'भोग' का प्रयोग किया जाता है तब उसे सांसारिक अर्थ में नहीं समझना चाहिए । सांसारिक भोग में तो रजोगुण तथा तमोगुण की प्रधानता रहती है किन्तु रस के सम्बन्ध में भोग में सतोगुण की ही प्रधानता रह जाती है तथा उसके द्वारा रजोगुण तथा तमोगुण दब जाते हैं जिससे आनन्द का प्रकाश होता है । यही आनन्द वह रस है जिसका भोग करते हुए सामाजिक थोड़ी देर के लिए सांसारिक चिन्ताओं के बन्धन से मुक्त हो जाता है और सार्वभौम चेतन जगत में प्रवेश पा जाता है । इसी से वह आनन्द ब्रह्मानन्द सहोदर माना जाता है ।

आलोचना—इस मत के द्वारा साधारणीकरण के सिद्धान्त का आविष्कार हुआ किन्तु काव्य की तीन शक्तियों को विद्वानों ने अशास्त्रीय माना ।

(४) अभिनवगुप्ताचार्य का अभिव्यक्तिवाद—

अभिनवगुप्ताचार्य ने भावकत्व तथा भोजकत्व को व्यंजना शक्ति का अलौकिक व्यापार माना है । भावकत्व शब्द शक्ति नहीं अपितु भावों का अपना गुण है । भरतमुनि ने भावों की स्वयं यही व्याख्या की है—'काव्यार्थान् भाव-

यनीति भावाः' अर्थात् जो काव्यार्थों को भावना का विषय बनावे वह भाव है। काव्यार्थों से अभिनवगुप्त का यहाँ अभिप्राय है जिनमें काव्य का आनन्द सन्निहित रहे। अतः संचारियों से पुष्ट स्थायीभाव ही काव्यार्थ है; वही रस का भावक है क्योंकि रस की व्यंजना काव्यार्थ से ही होती है। रस में भोग का भान पहले से ही सन्निहित रहता है क्योंकि रस वही है जिसका आस्वाद हो सके (आस्वद्यत्वाद्रसः) अतः भोजकत्व को भी शब्द को पृथक शक्ति मानना उचित नहीं। इसलिए भरतमुनि के 'संयोग' शब्द का अर्थ उन्होंने 'ध्वनित' या 'व्यंग्य' माना तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ हुआ 'आनन्द रूप में अभिव्यक्ति।' अभिनवगुप्ताचार्य तथा मम्मटाचार्य का मत यह है कि रस तथा विभावादि में व्यंग्य-व्यंजक (प्रकाश्य-प्रकाशत) भाव है। दूसरे शब्दों में विभावादि के संयोग से व्यंजना नाम की एक अलौकिक क्रिया होती है। उसी के अलौकिक विभावन के व्यापार से अर्थात् साधारणीकरण द्वारा सामाजिकों की वासना जाग्रत हो जाती है वही रस की अभिव्यक्ति या निष्पत्ति है। अस्तु,

अभिनवगुप्त का कहना है कि मनुष्य समय समय पर भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में पड़ कर जिन जिन भावों का अनुभव करता है वे सभी वासना या संस्कार रूप में उसके हृदय में स्थिर होते जाते हैं। अतः कहने का अर्थ यह है कि स्थायीभाव पहले से ही वासना या संस्कार रूप में मनुष्य के हृदय में स्थिर होते जाते हैं। किन्तु सामान्य अवस्था में उनका अनुभव मनुष्य को नहीं हो पाता क्योंकि उन पर अज्ञानता का आवरण छाया रहता है। परन्तु किसी विशेष घटना या कुशल अभिनय द्वारा विभावादि के प्रदर्शन से वे व्यक्तावस्था में आ जाते हैं। अतः यह स्पष्ट हुआ कि रस की अभिव्यक्ति केवल वासनाजन्य संस्कारों की अभिव्यक्ति है। यदि वे संस्कार नहीं हैं तो इसकी अभिव्यक्ति भी नहीं हो सकती है। और सहृदय व्यक्ति भी वही व्यक्ति कहलाते हैं जिनके हृदय में वे संस्कार विद्यमान रहते हैं। वासना शून्य मनुष्यों को तो साहित्य-दर्पणकार ने लकड़ी के कुल्हाड़ों वा पत्थरों के समान सम्वेदना-शून्य कहा है। मनुष्य सहृदय तीन प्रकार से हो सकता है। सांसारिक अनुभव से, पूर्व जन्म के संस्कारों से और अभ्यास से। किन्तु जो इन तीनों सौभाग्यों से रहित है

वे सहृदयों की श्रेणी में नहीं आ पाते और न रसास्वादन ही कर पाते हैं। मीमाँसकों और वैयाकरणों को इसी कोटि में माना गया है।

संक्षेप में अभिनवगुप्ताचार्य के मत में निम्नलिखित विशेषतायें हैं—

१— वे रस की निष्पत्ति सामाजिक में मानते हैं।—

२—सामाजिक में स्थायी भाव वासना को संस्कार के रूप में स्थित रखते हैं किन्तु उद्बुद्धावस्था में साधारणीकरणकृत विभावादि के संयोग से अव्यक्तावस्था से अभिव्यक्ति अवस्था में ठीक उसी तरह आ जाते हैं जिस प्रकार मिट्टी की अव्यक्त गन्ध जल के छींटे पड़ने से तत्काल ही व्यक्त हो जाती है—

३—सफल अभिनय से सहृदय दर्शक ही तन्मय होते हैं और उन्हें ही ब्रह्मानन्द सहोदर अखण्ड रस का आनन्द प्राप्त होता है।

४—संयोग का अर्थ व्यंजना और निष्पत्ति का अभिव्यक्ति लिया है।

५—**दशरूपककार धनंजय का मत**—अभिनवगुप्ताचार्य के मत को लगभग सभी अनुवर्ती आचार्यों ने प्रामाणिक माना है। दशरूपककार धनंजय ने भी अपने मत में अभिनवगुप्त के मत को ही स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी भावों द्वारा पुष्ट होकर रस रूप में परिणत हो जाता है। आगे आपने इसी को स्पष्ट करते हुए और भी कहा है कि रस वास्तविक रूप में सामाजिक (दर्शक) को ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह वर्त्तमान है। वह न अनुकार्य (मूलनायक) में रहता है और न कृति में ही। वास्तव में दर्शक की अवस्था उस बालक की सी होती है जो मिट्टी में खेलता हुआ अपने ही उत्साह का आनन्द लेता रहता है। ठीक उसी प्रकार पाठक हनुमान की वीरता का वर्णन पढ़कर अपने स्वयं के उत्साह का ही आस्वादन करते हुए आनन्द की प्राप्ति करते हैं।

किन्तु सहृदय पाठक या श्रोता रसास्वादन ही कर सकता है। तब तो यह भी सम्भव है कि यदि अभिनेता सहृदय है तो वह भी अभिनय के समय रसास्वादन करने का अधिकारी हो जाता है और वह केवल अभिनेता न रहकर उपभोक्ता भी बन जाता है।

अन्त में यह कह कर समाप्त कर दिया जाता है कि वास्तविक रस-निष्पत्ति केवल सहृदय प्रेक्षक या श्रोता में ही होती है।

प्रश्न ६ – निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिये—

१. रस विरोध, २. रस मैत्री ३. रसाभास, ४. भावाभास, ५. भावशान्ति ६. भावोदय ७. भावसन्धि ८. भावशपलता ।

(१) रस-विरोध

उत्तर—कुछ रस स्वभाव से ही एक दूसरे के विरोधी होते हैं । रस-विरोध स्थायी भावों के अनुसार माना गया है । शोक के समय हँसना किसी को नहीं सुहाता । इस प्रकार हँसी के अवसर पर शोक तथा भय करना भी किसी प्रकार उचित नहीं जान पड़ता । अतः करुण-रस तथा हास्य रस में रस विरोध है, हास्य तथा भयानक-रस में रस-विरोध है । नीचे की तालिका में विरोधी रसों को देखिए—

रस	विरोधी-रस
शृंगार	करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर, भयानक, शान्त ।
हास्य	करुण, भयानक ।
रौद्र	हास्य, शृंगार, भयानक, अद्भुत ।
वीर	भयानक और शान्त ।
भयानक	शृंगार, वीर, रौद्र, हास्य, शान्त ।
वीभत्स	शृंगार ।
अद्भुत	रौद्र ।
करुण	हास्य, शृंगार ।
शान्त	शृंगार, वीर, रौद्र, हास्य, भयानक ।

उपर्युक्त रस-विरोध प्रत्येक अवस्था में रस-दोष नहीं माना जा सकता । दोष तभी होगा जब विरोधी रस एक ही आलम्बन या एक ही आश्रय से सम्बन्ध रखते हों या इतने सन्निकट हों कि एक दूसरे की अनुभूति में बाधा

पहुँचाएँ। एक ही आलम्बन से सम्बन्धित तथा एक ही आश्रय से सम्बन्धित रस विरोध को स्थिति-विरोध कहते हैं। एक दूसरे की अनुभूति में बाधा डालने वाले रसों में ज्ञान-विरोध माना जाता है। विरोधी रसों को अलग-अलग आलम्बनों अथवा आश्रयों पर स्थित कर देने से स्थिति-विरोध का निराकरण हो जाता है और किसी अविरोधी रस का विरोधी रसों के मध्य में रख देने से ज्ञान-विरोध का परिहार हो जाता है। जैसे शृंगार तथा वीर-रस में रस-विरोध है। किन्तु हास्य तथा वीर में कोई विरोध नहीं और न हास्य तथा शृंगार में ही कोई विरोध है। तो शृंगार-रस के पश्चात् हास्य-रस की व्यंजना करने के पश्चात् वीर-रस के वर्णन करने से शृंगार तथा वीर में जो ज्ञान-विरोध दोष है—उसका परिहार हो जायगा।

(२) रस-मैत्री

जिस प्रकार रसों में परस्पर रस-विरोध होता है वैसे ही रस मैत्री भी होती है। शृंगार तथा हास्य-रस में मैत्री है। जब दो मित्र आपस में मिलते हैं तो दोनों का आनन्द बढ़ जाता है, इसी प्रकार मित्र-रसों के एक के पश्चात् दूसरे के आने से दोनों का उत्कर्ष होता है। शृंगार के पश्चात् हास्य या हास्य के पश्चात् शृंगार-रस के आने से दोनों का उत्कर्ष बढ़ता है। इसी प्रकार वीर तथा रौद्र में भी रस-मैत्री है।

(३) रसाभास

विभिन्न रसों का स्वरूप निरूपण करते समय आचार्यों ने लोक-मर्यादा को पहले ध्यान में रखा है। अतः जो भाव मर्यादा के विरुद्ध तथा निन्दित है उसके द्वारा रस की व्यंजना कभी नहीं हो सकती। स्वपत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्री के प्रति रति-भाव के द्वारा की गई शृंगार-रस की व्यंजना में शृंगार-रस न होकर केवल शृंगार रसाभास होगा। रस तथा रसाभास में भेद करने के लिए सहृदय जनों का हृदय ही औचित्य की कसौटी है। रसाभास में सीप में चाँदी की झलक की तरह रस की झलक-मात्र रहती है।

शृंगार रसाभास—उपनायक (पति से भिन्न अन्य पुरुष) में अथवा अनेक नायकों में नायिका की रति होना शृंगार रसाभास है। इसी प्रकार तरु-लताओं

आदि निरिन्द्रिय वस्तुओं में सम्भोग का आरोप करने में तथा पशु-पक्षियों की रति के वर्णन में शृंगार रसाभास होगा। गुरु-पत्नी आदि में अनुराग, नायक-नायिका में अनुभयनिष्ठ रति (स्त्री का प्रेम पुरुष में हो किन्तु पुरुष का प्रेम स्त्री में न हो) तथा नीच व्यक्ति में प्रेम होना भी रसाभास ही कहलाएगा।

हास्य-रसाभास— हास का आलम्बन गुरुजनों का होना।

करुण-रसाभास—विरक्ति में शोक करना।

रौद्र-रसाभास—पूज्य व्यक्तियों के प्रति क्रोध करना।

वीर-रसाभास—नीच व्यक्ति में उत्साह होना।

भयानक-रसाभास—श्रेष्ठ पुरुषों में भय का होना।

वीभत्स रसाभास—यज्ञ-पशु में ग्लानि होना आदि।

अद्भुत-रसाभास—बाजीगर के जादू के कार्यों में विस्मय होना।

शान्त-रसाभास— अधम पुरुषों में शम की स्थिति होना।

(४) भावाभास

भाव का जब अनौचित्य रीति से वर्णन होता है अथवा जो भाव रसाभास का अङ्ग होता है उसकी व्यंजना को भावाभास कहते हैं। साधु में क्रोध तथा विश्व-प्रख्यात वीर में भय का आरोप भावाभास कहलाएगा।

(५) भाव-शान्ति

जब एक भाव की व्यंजना हो रही हो उसी समय किसी दूसरे विरोधी भाव की व्यंजना हो जाने पर पहले भाव की शान्ति में जो चमत्कार होता है उसे भाव-शान्ति कहते हैं। जैसे—

धाई धाम-धाम तैं अवाई सुनि ऊधव को,
बाम-बाम लाख अभिलाखन सौं म्वै रही।
कहै 'रत्नाकर' पै विकल बिलोकि तिन्है,
सकल करेजौ थामि अपुनपौ ख्वै रही॥
लेखि निज-भाग लेख रेख तिन आनन की,
जानन की ताहि आतुरी सौं मन म्वै रही।

आंस रोकि साँस रोकि पूछन-हुलास रोकि,
मूरत निरास की सी आस भरी ज्वै रही ॥

— रत्नाकर

कृष्ण के सखा उद्धव का कृष्ण के संदेश-वाहक के रूप में आगमन की सूचना पाकर सखियाँ हर्षातिरेक से दौड़ पड़ीं। किन्तु उद्धव को विकल देखकर उनका सारा हर्ष काफूर हो गया। और उद्धव की बेकली का कारण कृष्ण का अमंगल समझ कर चिन्ता, भय, शोक आदि भावों से बेचैन हो उठीं। इस प्रकार से यहाँ चिन्ता, भय, विषाद आदि भावों के द्वारा हर्ष की शान्ति है।

(६) भावोदय

भाव-शान्ति होने पर जिस विरोधी भाव का उदय हो और उसी की व्यंजना में अधिक चमत्कार हो तो वहाँ पर भावोदय माना जाता है। उद्धव-शतक के ऊपर दिए उदाहरण में यदि चिन्ता, भय, विषाद आदि की व्यंजना में अधिक चमत्कार माना जायगा तो उसमें भावोदय होगा न कि भाव-शान्ति। भावोदय और भावशान्ति में अन्तर केवल चमत्कार के ऊपर है। यदि नवोदित भाव की व्यंजना में चमत्कार होगा तो भावोदय तथा यदि शान्त भाव की व्यंजना में चमत्कार होगा तो भाव शान्ति मानी जायगी।

(७) भाव-सन्धि

जब समान चमत्कार वाले, दो भावों की उपस्थिति एक साथ समान चमत्कार के साथ हो वहाँ भाव-सन्धि होती है।

उदाहरण—

प्रभुहिं चितइ पुनि चितइ महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज-मीन जुग, जनु बिधु मण्डल डोल ॥

— तुलसीदास

भगवान रामचन्द को देखने से उत्पन्न हर्ष तथा कठोर धनुष को देखने से उत्पन्न विषाद की यहाँ एक ही आशय में एक ही साथ स्थिति बतलाई गई है। अतः यहाँ भाव-सन्धि है।

(८) भाव-शबलता

एक के पीछे दूसरे तथा दूसरे के पीछे तीसरे भाव की तथा इसी प्रकार अनेक भावों की जब एक ही स्थान पर सम्मिलित व्यंजना होती है तो उसे भाव शबलता कहते हैं।

उदाहरण—

या विधि की विपरीति कथा हा ? विदेह-सुता कित है अरु मैं कित।
बा मृगनैनी बिना बन में अब होउ मो प्रान अधारहु को इत ॥
मोहि कहेंगे कहा सब लोग ! रु' कैसे लखौंगो उन्हें समुहैं चित।
राज रसातल जाहु अबै है, धरातल जीवन हूँ में कहा हित ॥

—रस-मंजरी

यह सीता जी के वियोग में श्रीराम की कातरता-युक्त उक्ति है। यहाँ 'या विधि की विपरीत कथा' में 'असूआ' है। 'हाय विदेह-सुता कित' में विवाद है। 'वा मृगनैनी' से स्मृति की व्यंजना है। 'अब होइ गो प्रान अधारहु को इत' से वितर्क की व्यजना है। 'मोहि कहेंगे कहा सब लोग' से ग्लानि की व्यंजना है। 'कैसे लखौंगो उन्हें समुहैं चित' से ब्रीडा की व्यंजना है तथा 'राज रसातल जाहु' से निर्वेद की व्यंजना है। इस प्रकार बहुत से भावों की एक के बाद दूसरे की प्रतीति होने से यहाँ भाव-शबलता है।

प्रश्न ७—नवरसों का सोदाहरण विवेचन कीजिये।

उत्तर—भरतमुनि ने आठ रसों का विवेचन किया है तथा साथ में उन्होंने "शान्तोऽपि नवमों रस:, कहकर शान्त-रस की ओर भी संकेत कर दिया है। लेकिन बाद में कुछ आचार्यों ने शान्तरस को नवम् रस इस आधार पर नहीं माना कि इसके स्थायी भाव 'निर्वेद' का नाटक में अभिनेता अभिनय नहीं कर सकता। बाद में आचार्य उद्‌भट ने शान्त रस को भी पृथक रस माना। इन नौ रसों के अतिरिक्त कुछ आचार्यों ने वात्सल्य और भक्ति-रस को भी पृथक से रस माना है जब कि इसके विपरीत कुछ आचार्य इन दोनों को शृङ्गार रस में ही अन्तर्भूत कर देते हैं। आठवीं शताब्दी के आचार्य रुद्रट ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' में 'प्रेयान्' नाम से दशम्-रस का उल्लेख किया है तथा इसका

स्थायी भाव 'स्नेह' माना है। बाद में आचार्य विश्वनाथ ने इसके स्थान पर वात्सल्य का उल्लेख अपने ग्रन्थ 'साहित्य-दर्पण' में किया है। धारनरेश भोज ने भी 'प्रेयान' को पृथक रस माना है तथा इनके अतिरिक्त वे उदात्त और उद्धत्त को भी पृथक रस मानते हैं—इस प्रकार उनके द्वारा प्रतिपादित रसों की संख्या बारह हो जाती है। रूपस्वामी, मधुसूदन, सरस्वती आदि आचार्यों ने 'भक्ति' को स्वतन्त्र रस माना है। इनके अतिरिक्त आचार्यों ने स्नेह, लौल्य, श्रद्धा, कार्पण्य आदि को भी रस की संज्ञा दी है लेकिन अधिकांश आचार्यों ने इन्हें स्वतन्त्र रस नहीं माना है अपितु नव-रसों में ही इनको अन्तर्भूत कर दिया है। इस प्रकार नव-रसों की ही संख्या अधिकांश आचार्यों को मान्य हैं। इसके अतिरिक्त-भक्ति और वात्सल्य को पृथक से रस मानने वाले भी अपने पक्ष में बहुत से तर्क प्रस्तुत करते हैं।

नव रसों का विवेचन एवं उनके उदाहरण

(१) शृङ्गार रस

स्त्री-पुरुष के परस्पर अनुराग का वर्णन शृंगार रस के अन्तर्गत होता है इसके दो भेद हैं—१. संयोग या सम्भोग २. वियोग अथवा विप्रलम्भ। ये दोनों यद्यपि परस्पर विरोधी भावों की अनुभूति कराते हैं तथापि ये पुष्ट रति को ही करते हैं।

स्थायी भाव—रति।

आलम्बन—नायक या नायिका।

उद्दीपन—मुख सौन्दर्य, बसंत, पावस, चाँदनी रात, मलयसमीर, एकान्त स्थान, सरिता तट, रमणीक उपवन, आलम्बन की प्रेमपूर्ण चेष्टाएँ आदि।

आश्रय—प्रेमसिक्त व्यक्ति (नायक या नायिका)

अनुभाव—आश्रय का प्रेमपूर्ण देखना, स्वेद, अश्रु, रोमांच, कम्प, स्तम्भ, भ्रकुटि-भंग, कटाक्ष, मुस्कान आदि।

संचारी—प्रायः सभी संचारी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं, केवल जुगुप्सा, मरण आदि संचारी ही इसमें नहीं होते।

संयोग शृङ्गार—परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका की आपस में दृष्टि का आदान-प्रदान, मधुर सम्भाषण, आलिंगन, चुम्बन आदि रति के उपभोग से संयोग शृंगार की व्यंजना होती है। संयोग शृंगार के लिए केवल इतना ही आवश्यक नहीं है कि नायक और नायिका एक दूसरे के समक्ष रहें बल्कि उनके हृदय में परस्पर गाढ़ अनुराग की भावना भी होनी चाहिए। खण्डिता नायिका * नायक यदि परस्पर स्पर्श भी कर रहे हों तो भी वे वियुक्त ही माने जायेंगे---ऐसी दशा संयोग शृङ्गार की नहीं मानी जायेगी। संयोग अथवा वियोग मन की दशा पर अवलम्बित है। यदि नायक तथा नायिका के मन में परस्पर मिलन की प्रबल वेगमती भावना है तब ही उनके मिलन को संयोग के अन्तर्गत रखा जायेगा

उदाहरणार्थ—

चितवत चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृप किशोर मन चीता।।
लता ओट तब सखिन्ह लखाये। श्यामल गौर किशोर सुहाये।।
देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने।।
थके नयन रघुपति छवि देखे। पलकन्हू परिहरी निमेखे।।
अधिक स्नेह देह भई भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।
लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी।।

यहाँ पर स्थायी भाव रति के आश्रय है सीता और आलम्बन हैं राम। लता मण्डप, उपवन, राम का मंजुल मनहर रूप छवि उद्दीपन है तथा लोचनों का ललचाना, अपलक दृष्टि आदि अनुभाव हैं। 'लोचन ललचाने' व्यंजित अभिलाषा 'हरषे' से व्यक्त होने वाला हर्ष 'मनु सकुचानी' से व्यंजित व्रीडा आदि संचारी हैं। इस प्रकार विभावों, अनुभावों, संचारियों द्वारा पुष्ट 'रति' नामक स्थायी भाव शृंगार रस की अभिव्यक्ति करता।

वियोग शृंगार—परस्पर प्रीति में अनुरक्त नायक तथा नायिका के मिलन के अभाव में वियोग शृङ्गार की अभिव्यक्ति होती है। मिलन के अभाव के कई

*** अन्य नायिका के साथ रति क्रीड़ा करके आने वाले नायक को दुःखी नायिका को खण्डिता नायिका कहते हैं।**

कारण सम्भव हैं-नायक का चला जाना, सामाजिक बन्धन आदि से बिछोह, नायक अथवा नायिका के मान करने से अथवा अन्य नायिका में अनुरक्त नायक को देख कर ईर्ष्या से। आचार्यों ने विरह को पाँच प्रकार का माना है—(१) अभिलाषा मूलक, (२) मानमूलक, (३) ईर्ष्या मूलक, (४) प्रवास मूलक और (५) शाप मूलक। आचार्यों ने विरह की दस दशायें भी मानी हैं—(१) अभिलाषा (२) चिन्ता (३) स्मृति (४) उद्वेग (५) गुण कथन (६) प्रलाप (७) उन्माद (८) व्याधि (९) जड़ता और (१०) मरण।

वियोग शृङ्गार सम्बन्धी एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

अति मलीन वृषभानु कुमारी।
अध-मुख रहति उरध नहीं चितवति ज्यों गथ हारे थकित जुआरी।
छूटे चिहुर बदन कुम्हिलाने ज्यों नलिनी हिमकर की मारी।
हरि संदेश सुनि सहज मृतक भई, इक विरहनि दूजे अलिजारी॥

—सूरदास

यहाँ पर स्थायी भाव रति के आश्रय हैं वृषभानुकुमारी (राधा) तथा आलम्बन हैं श्रीकृष्ण। विरह की स्मृति उद्दीपन, नीचा मुख करना, दृष्टि नहीं फेरना, कुम्हलाया बदन अनुभव, 'अति मलीन' 'अधु-मुख रहित उरध नाहिं चितवति' आदि से व्यंजित दैन्य, ग्लानि तथा 'हरि संदेश सुनि सहज मृतक भई' से मरण आदि संचारी रति को पुष्ट कर रहे हैं।

(२) हास्य रस

विचित्र रूप, वेश, वाणी, आकार, कार्य आदि को देखकर जो हास का भाव हृदय में उत्पन्न होता है वही हास्य रस की अभिव्यक्ति कराता है। उचित सीमा तक ही हास्य ठीक रहता है वरना सीमा के बाहर विचित्रता अनिष्ट का कारण हो सकती है और वह करुण की व्यंजक हो सकती है। आचार्यों ने हास्य के छै भेद माने हैं—

(१) स्मित—इसमें नेत्र खिल उठते हैं और ओष्ठ कम्पित हो उठते हैं।

(२)हसित—इसमें कुछ-कुछ दन्त-पंक्ति भी दिखाई पड़ने लगती है।

(३) विहसित--इसमें दन्त-पंक्ति दिखाई देने के साथ-साथ हल्का मधुर शब्द भी होता है।

(४) अवहसित—इसमें देह भी कम्पित होने लगती है।

(५) अपहसित—इसमें आँखों में आँसू भी झलकने लगते हैं।

(६) अतिहसित—इसमें समस्त देह-जोर से कम्पित होने लगती है और हाथ पैर हँसी के कारण पटके जाते हैं।

स्मित और हसित हास्य उत्तम पुरुषों में, अवहसित आदि मध्यम पुरुषों में तथा अतिहसित हास्य निकृष्ट पुरुषों में माना जाता है।

इस रस में केवल आलम्बन के वर्णन से ही रसानुभूति हो जाती है; आश्रय का वर्णन प्रायः नहीं होता है। आश्रय पाठक, श्रोता या दर्शक ही रहता है।

स्थायी भाव—हास।

आलम्बन—विचित्र वेशभूषादि।

उद्दीपन—आलम्बन की चेष्टाएँ।

आश्रय—पाठक, श्रोता, दर्शक।

अनुभाव—मुख फेरना, व्यंग वाक्य कहना, ओष्ठ, नासिका, कपोल आदि का फड़कना, नेत्रों का पुलकित होना आदि।

संचारी—अश्रु, रोमाँच, कम्प, हर्ष, स्वेद, चांचल्य, आलस्य, निद्रा, अवहित्था आदि।

उदाहरण—

विन्ध्य के वासी उदासी तपोव्रत धारी महा बिनु नारी दुखारे।
गौतम तीय तरी तुलसी सो कथा सुनि भे मुनि बृंद सुखारे॥
ह्वै हैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्ही भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगुधारे॥

उपर्युक्त उदाहरण में स्थायी भाव हास के आलम्बन हैं रामचन्द्र, गौतम नारी के उद्धार का स्मरण; उद्दीपन तथा मुक्ति की कथा सुनकर सुखी होना, चन्द्रमुखी हो जाने के बारे में सोचना अनुभाव है। हर्ष, रोमांच आदि संचारी इसकी पुष्टि में सहायक हैं।

(३) करुण-रस

प्रिय व्यक्ति अथवा इष्ट वस्तु के विनष्ट हो जाने से हृदय में उत्पन्न विषाद का भाव करुण रस की व्यंजना कराता है। विषाद की अनुभूति वियोगशृङ्गार में भी होती है लेकिन वहाँ करुणात्मक दुःख के साथ भविष्य में मिलने वाले मिलन-सुख की आशा भी विद्यमान रहती है अतः वहाँ विषाद संचारी के रूप में ही रहता है लेकिन करुण-रस में प्रिय वस्तु या व्यक्ति के नष्ट हो जाने पर ही विषाद की अनुभूति होती है और भविष्य में उस वस्तु या व्यक्ति के मिलने की आशा कतई नहीं रहती अतः वहाँ विषाद जनित शोक स्थायी भाव रहता है न कि सचारी। करुण के आचार्यों ने पाँच भेद—(१) करुण (२) अति-करुण (३) महाकरुण (४) लघुकरुण तथा (५) सुख करुण—माने हैं।

स्थायी भाव—शोक।

आलम्बन—विनष्ट व्यक्ति, वस्तु आदि।

उद्दीपन—उसका शव, चित्र, गुण-कथनादि।

आश्रय—दुःखी व्यक्ति।

अनुभाव—दैव-निन्दा, भूमि-पतन, रोना, दीर्घोच्छ्वास, निःश्वास, स्तम्भ, प्रलाप, आदि।

संचारी—निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम आदि।

उदाहरण—

मेरो सब पुरुषारथ थाक्यो।
बिपति बँटावन बन्धु-बाहु बनु करौं भरोसो काको॥
सुन सुग्रीव! सांचेहू मो-पर फेरयो बदन बिधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यो लखन-सो भ्राता॥
गिरि कानन जैहैं साखामृग, हौं पुनि अनुज संघाती।
ह्वै है कहा बिभीषन की गति, रही सोच भरि छाती॥
तुलसी सुनि प्रभु वचन भालु कपि सकल विकल हियहारे।
जामवन्त हनुमन्त बोलि तब, औसर जानि प्रचारे।

यहाँ पर लक्ष्मणजी के शक्ति लगने पर श्रीरामचन्द्रजी के शोक करने में

करुण रस की व्यंजना है। यद्यपि लक्ष्मण जी के केवल शक्ति लगी है किन्तु रामचन्द्रजी उनकी मृत्यु की संभावना करके विलाप कर रहे हैं। अस्तु, शोक स्थायी भाव के आश्रय है राम तथा आलंबन है—लक्ष्मण। शरण में आए हुए विभीषण का परित्याग करके आत्महत्या का विचार करना उद्दीपन है। सुग्रीव से शोक भरे शब्द कहना अनुभाव है। ग्लानि, चिन्ता 'ह्वै है कहा विभीषन कि गति' से 'विपति बँटावन हार बन्धु बिनु करौ भरोसो काको' में व्यंजित दैन्य संचारी है। इस प्रकार विभावादि से पुष्ट शोक स्थायी भाव की यहाँ करुण-रस में व्यंजना हुई है।

(४) वीर-रस

प्रताप, विनय, अध्यवसाय, स्वत्व (धैर्य) अविषाद (हर्ष) विक्रम, आदि विभावों से उत्साह स्थायी भाव का वीर-रस में परिपाक होता है।

आचार्यों ने वीर-रस के प्रधान तीन भेद माने है। युद्ध-वीर, दया-वीर तथा दान-वीर। इन सब में युद्ध-वीर को प्रधानता दी जाती है। कोई-कोई आचार्य धर्म-वीर, सत्यवीर आदि और भी भेद करते हैं, अतः इस प्रकार वीर के कई भेद हो सकते हैं।

स्थायी भाव—उत्साह।

आलम्बन—वह परिस्थिति या व्यक्ति जिसका वीर को सामना करना पड़े।

उद्दीपन—शत्रु के कार्य-कलाप, चारण गीत, दानपात्र की प्रशंसा आदि।

आश्रय—उत्साहित व्यक्ति।

अनुभाव—वीर की युद्ध-क्रिया, गर्वोक्ति, याचक का आदर सत्कार आदि।

संचारी भाव—हर्ष, उग्रता, अमर्ष, गर्व आदि।

उदाहरण—

जो हौं अब अनुशासन पावौं।
तौ चन्द्रमहि निचोरि चैल ज्यों आनि सुधा सिर नावौं॥
के पाताल दलौं व्यालावलि अमृत-कुण्ड महि लावौं।

भेद भुवन करि भानु वाहिरौ तुरत राहु दै तावौं ॥
बिबुध बैद बरबस आनौं धरि, तौ प्रभु अनुज कहावौं ।
पटकौं मीच नीच मूषक-ज्यों सबहि को पाप बहावौं ॥

—तुलसीदास

लक्ष्मण जी के शक्ति लगने पर तथा श्रीराम के करुण विलाप करने पर जिसका उल्लेख करुण-रस के प्रसंग में कर दिया गया है, हनुमान के हृदय में स्थित उत्साह स्थायी भाव की व्यञ्जना है। अतः हनुमानजी हैं आश्रय। लक्ष्मण जी की मूर्छितावस्था है आलम्बन और रामचन्द्र जी का विलाप उद्दीपन है। पराक्रम तथा गर्व से भरे हुए वाक्य अनुभाव हैं तथा 'भेद भुवन करि भानु वाहिरौ, तुरत राहु दै तावौं' तथा 'पटकौं मीच नीच मूषक ज्यों' से व्यञ्जित अमर्ष संचारी भाव है। इस प्रकार से विभावादि से पुष्ट उत्साह स्थायी भाव की यहाँ वीर-रस में व्यञ्जना है।

(५) रौद्र-रस

अपना अनिष्ट या अपमान होने के कारण उत्पन्न क्रोध से रौद्र-रस की व्यञ्जना होती है।

स्थायी भाव—क्रोध।

आलम्बन—अनिष्टकारक शत्रु।

उद्दीपन—शत्रु के द्वारा की गई गर्वोक्ति, शस्त्रों की चमचमाहट आदि।

आश्रय—क्रोधित व्यक्ति।

अनुभाव—होठों को दाँतों से दबाना, कंप, भृकुटी टेढ़ी करना, मुख का आरक्त होना, धरती को जोर से चाँपना आदि।

संचारी- स्मृति, अमर्ष, गर्व आदि।

उदाहरण—

उबल उठा शोणित अङ्गों का, पुतली में उतरी लाली।
काली बनी स्वयं वह बाला, अलक-अलक विषधर काली।
बढ़ कर तन के रोम-रोम में, धधक उठी दृग की ज्वाला।
अंगारों में फूट पड़ी यों, उसके रग-रग की ज्वाला।

पाप शाप ! अब भी असह्य है कुटिल प्रवञ्चन यह तेरा ।
मुझे जान पड़ता है मानो, तुझे आज यम ने घेरा ।
अरे नराधम नहीं जानता, है तामस दुःसह मेरा ।
हो जायेगा भस्म कि जिसमें, राजपाट सब यह तेरा ।

—सुधीन्द्र

उपर्युक्त उदाहरण में स्थायी भाव क्रोध का आलम्बन अलाउद्दीन तथा आश्रय पद्मिनी है । अलाउद्दीन द्वारा भेजा गया संदेश उद्दीपन है और लाल नेत्र होना, आकृति विकराल होना, बालों का बिखरना, क्रोध भरे वचन कहना आदि अनुभाव के अन्तर्गत आयेंगे । चाँचल्य, अमर्ष आदि संचारी इसे पुष्ट करते

(६) भयानक-रस

भयप्रद दृश्य को देखने, सुनने, स्मरण करने अथवा उसकी प्रतीति से उत्पन्न भय भयानक-रस की व्यंजना कराता है ।

आलम्बन—भयप्रद जीव, वस्तु, दृश्य आदि ।

उद्दीपन—दृश्य की भीषणता को बढ़ाने वाले व्यापार ।

अनुभाव—स्वेद, कम्प, रोमाञ्च, वैवर्ण्य, स्वरभंग, पलायन, मूर्छा आदि ।

आश्रय—भयभीत व्यक्ति ।

संचारी—सम्भ्रम, आवेग, त्रास, शङ्का, दैन्य, चिन्ता आदि ।

उदाहरण—

प्रवाहिता उद्धत तीव्र वायु से, विघूर्णिता हो लपटें दावाग्नि की ।
नितान्त ही थीं बनतीं भयङ्कारी, प्रचण्ड दावा प्रलयङ्कारीसमा ।।
अपार पक्षी पशु त्रस्त हो महा, सव्यग्रता थे सब ओर भागते ।।
नितान्त हो भीत सरीसृपादि, बने महा व्याकुल हो पलारहे ।।
पलारहे थे उसको विलोक के, असंख्य प्राणी वन में इतस्ततः ।
गिरे हुए थे महि में अचेत हो समीप ही गोप सधेनु मण्डली ।।

—अयोध्यासिंह उपध्याय

यहाँ पर दावाग्नि भय का आलम्बन है तथा पशु-पक्षी, मनुष्य, गोप आदि

आश्रय हैं। दावाग्नि की विघूर्णित तथा समुस्थिता लहरें उद्दीपन विभाव हैं। पशु पक्षी मनुष्यों का स्तस्ततः भागना अनुभाव है। आवेग 'सव्याग्रता थे सब ओर भागते', से व्यंजित मूर्छा 'गिरे हुए थे महि में अचेत हो' से व्यंजित त्रास संचारी हैं। इस प्रकार विभावादि से पुष्ट भय स्थायी भाव की भयानक-रस में व्यंजना हुई है।

(७) वीभत्स-रस

रुधिर, अस्थि, माँस आदि घृणित वस्तु को देखने अथवा श्रवण करने से उत्पन्न हुई घृणा वीभत्स-रस की व्यंजना कराती है। स्त्रियों की जंघायें, स्तन आदि शृङ्गार-रस के उद्दीपक हो सकते हैं लेकित वैराग्य होने पर उन्हीं अंगों पर दृष्टि डालने से घृणा उत्पन्न होती है जो वीभत्स की प्रतीति कराती है। वीभत्स दृश्यों के अवलोकन से संसार की निस्सारता का आभास होता है, इससे विरक्ति का भाव पैदा होता है; इस विरक्त की ओर अग्रसर करने के कारण वीभत्स-रस को शान्त-रस का सहायक भी माना गया है।

स्थायी भाव—जुगुप्सा या घृणा।

आलम्बन—घृणित वस्तु, दृश्य या व्यक्ति।

उद्दीपन—दुर्गन्ध, कुरूपता, कीड़े मकोड़े आदि।

अनुभाव—संकोच, मुख मोड़ना आदि।

संचारी—आवेग, व्याधि, ग्लानि, अपस्मार, मोह आदि।

उदाहरण—

सिर पर बैठ्यो काग आँख दोउ खात निकारत।
खींचत जीभहि स्यार ततिहि आनन्द उर धारत।
गिद्ध जाँघ को खोदि-खोदि के माँस उपारत,
स्वान आँगुरिन काटि-काटि कैं खात बिदारत॥
बहु चील नौंचि लै गात नुच मोद भर्‌यो सबको हियो।
जनु ब्रह्म-भोज जिनमान कोट आज भिखारिन को दियो॥

—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र

यहाँ पर श्मशान का दृश्य आलंबन, मृतकों के अंगों को काकादि के द्वारा

खाया जाना उद्दीपन है । स्वयं पाठक जुगुप्सा स्थायी भाव के आश्रय हैं । अतः अनुभावों का वर्णन नहीं है । यहाँ केवल विभवादि से जुगुप्सा स्थायी भाव की वीभत्स-रस में व्यंजना हुई है ।

(८) अद्भुत रस

अलौकिक प्रसंग की प्रतीति से उत्पन्न विस्मय अद्भुत-रस की व्यंजना कराता है । चमत्कार को आचार्यों ने रस का सार कहा है । अद्भुत-रस का प्राण चमत्कार ही होता है–इसी आधार पर धर्मदत्त, नारायण पंडित आदि आचार्य भी अद्भुत-रस को प्रमुखता देते हुए समस्त रसों का सार प्रतिपादित करते हैं ।

स्थायी भाव—विस्मय अथवा आश्चर्य ।

आलम्बन—अलौकिक दृश्य या वस्तु ।

उद्दीपन—आलम्बन की ऐन्द्रजालिक तथा विस्मयकारी क्रियायें आदि ।

अनुभाव—नेत्र विस्फरित करना, रोमांच होना, गद्गद् होना, प्रफुल्ल होना, स्तम्भित हो जाना आदि ।

संचारी—चांचल्य, हर्ष, औत्सुक्य, शंका, वितर्क, स्वेद, आवेग आदि ।

उदाहरण—

दुवन दुसासन दुकूल गह्यौ दीनबन्धु,
दीन ह्वै कै द्रुपदकुमारी यौं पुकारी है ।
छोड़े पुरुषारथ कों ठाड़ पिया पारथ से,
भीम महाभीम ग्रीव नीचे को निहारी है ।
अम्बर तो अम्बर कियो वंशीधर,
भीषम करन द्रोन सोभा यों निहारी है ।
सारी मध्य नारी है कि नारी मध्य सारी है,
कि सारी ही की नारी है कि नारी ही की सारी है ।।

चीर का एकदम से बढ़ना देखकर भीष्म, कर्ण, दोणाचार्य आदि के हृदय में विस्मय का भाव उत्पन्न होता है । चीर आलम्बन है, तेजी से चीर का बढ़ना उद्दीपन के अंतरगत् आयेगा । नेत्रों का विस्फरित होना आदि अनुभाव को अनुमान द्वारा जाना जा सकता है । औत्सुक्य आदि संचारी हैं ।

(६) शान्त रस

संसार की निस्सारता को देखकर अथवा तत्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद शान्त-रस की व्यंजना करता है। कुछ आचार्य शान्त-रस का स्थायी भाव उत्साह मानते हैं जबकि कुछ आचार्य इसका स्थायी भाव जुगुप्सा इस आधार पर मानते हैं कि संसार की असारता को देखकर हृदय में उत्पन्न संसार के प्रति घृणा ही शान्त-रस की व्यंजना करती है किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि घृणा की भावना वैराग्य की पुष्टि ही करती है और अन्त में लोप हो जाती है क्योंकि वहाँ घृणा का स्थान उदासीनता ले लेती है। अतः निर्वेद को ही स्थायी भाव कहना अधिक उचित है।

स्थायी भाव—निर्वेद।

आलम्बन—असार संसार, शरीर, शास्त्र चिन्तन, तीर्थाटन आदि।

उद्दीपन—संत वचन, आश्रम, मृतक दर्शन, एकान्त स्थान आदि।

अनुभाव—रोमांच-रोमांच, संसार भीरुता, तल्लीनता, उदासीनता आदि।

संचारी—मति, धृति, स्मृति, हर्ष, विबोध आदि।

उदाहरणार्थ—

भागीरथ जलपान करौं
अरु नाम द्वै राम को लेन सदा हौं।
मोको न लेनो न देनों कछु,
कलि ! भूलि न रावरी ओर चितैहौं।
जानि कै जोर करौं परनाम
तुम्हें, पछतैही पै मैं न मितैहौं॥
ब्राह्मन ज्यों उगिल्यौ उरगारि
हौं त्यौं ही तिहारे हिये न मितै हौं।

—तुलसीदास

यहाँ पर शम निर्वेद स्थायी भाव के आश्रय हैं स्वयं तुलसीदास। राम का नाम आलम्बन है। कलिकाल की करालता, कपटादि उद्दीपन हैं। परम-संतोष की अवस्था 'भागीरथी जलपान करौं, अरु राम को नाम द्वै लेत सदाहौं'

से व्यंजित आत्म-विश्वास अनुभाव है। मति, धृति, स्मृति, आदि संचारी हैं। इस प्रकार विभावादि से पुष्ट शम स्थायी भाव की यहाँ शान्त-रस में व्यंजना हुई है।

प्रश्न ८—काव्य-गुण का स्वरूप स्पष्ट कीजिये। काव्य में उसका महत्व भी निर्धारित कीजिये तथा प्रमुख गुणों का सोदाहरण विवेचन कीजिये।

उत्तर—प्राचीन भारतीय आचार्य वामन ने गुणों की महत्ता स्पष्ट करते हुये लिखा है— जिस प्रकार एक यौवनहीन स्त्री का शरीर चाहे कितने ही आभूषण धारण कर ले, सुन्दर नहीं लगता, उसी प्रकार गुणों से हीन काव्य कितने ही अलंकारों से विभूषित क्यों न हो, उसमें शोभा नहीं होती। अलंकार उसे सुगम बनाने की अपेक्षा दुर्भग ही अधिक बनाते हैं। अतः जो सौन्दर्य एक रमणी के शरीर में यौवन पैदा करता है वही सौन्दर्य गुणों से युक्त होने पर काव्य में आ जाता है। इस प्रकार गुण काव्य की शोभा बढाने वाले आवश्यक उपादान हैं अतः इनका काव्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है।

गुण क्या है ?—आचार्य वामन् ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार सूत्र' में गुण के बारे में लिखा है—

"**काव्य शोभायाःकर्तारो धर्माः गुणः।**"

अर्थात् काव्य के शोभाकारक धर्म गुण कहलाते हैं। किन्तु यह व्याख्या भी पूर्ण रूप से सन्तोषजनक नहीं है क्योंकि शोभाकारक धर्म तो अलंकार भी होते हैं अतः अलंकार और गुणों का यह परिभाषा अन्तर स्पष्ट नहीं कर पाती। ध्वनिकार की परिभाषा इससे अधिक स्पष्ट और सन्तोषजनक है। उनका कथन है—

"**तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गित्त ते गुणाः स्मृताः।**"

अर्थात् जो उपकरण प्रधानभूत (रस) अंगी के आश्रित रहने वाले हैं उनको गुण कहा जाता है। आचार्य मम्मट ने गुणों के बारे में बड़ी स्पष्ट और सर्वाधिक सन्तोषजनक व्याख्या अपने ग्रन्थ 'काव्य प्रकाश' में प्रस्तुत की है। उनका कहना है—

"**ये रसस्याँगिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मनः।**
उत्कर्षहेतवः ते स्युः अचलस्थितयो गुणाः॥"

अर्थात्—आत्मा के शौर्य आदि गुणों के समान काव्य में प्रधानभूत रस की उत्कृष्टता बढ़ाने वाले, अचल-स्थिति धर्म गुण कहलाते हैं।

जिस प्रकार किसी वीर मनुष्य के ताकतवर शरीर को देखकर उसके शौर्य, वीरता आदि गुणों का अनुमान लगाया जा सकता है उसी प्रकार काव्य में बाह्य शब्दों के विन्यास को देखकर उसके गुणों का अनुमान लगाया जा सकता है। जैसे कि यदि 'ट' वर्ग आदि के कठोर शब्दों का प्रयोग काव्य में अधिक है तो सहज में ही ओज गुण का अनुमान लगाया जा सकता है। इस प्रकार गुणों की थोड़ी बहुत स्थिति काव्य के बहिरंग पक्ष अर्थात् वर्ण-विन्यास में भी होती है। लेकिन गुणों की वास्तविक स्थिति रस में ही होती है अतः गुणों को काव्य का अंतरंग अधिक कहा गया है।

इस प्रकार हम गुणों की परिभाषा डा० नगेन्द्र के शब्दों में इस प्रकार कर सकते हैं—

"**गुण उन तत्वों को कहते हैं जो विशेष रूप से प्राणभूत रस के और गौण रूप से शरीरभूत शब्दार्थ के आश्रय से काव्य का उत्कर्ष करते हैं।**"

प्रमुख गुणों का विवेचन

मम्मट ने अपने ग्रन्थ 'काव्य प्रकाश' में गुणों के तीन भेद को प्रतिपादित किया है। मम्मट का यह विवेचन इतना सुस्पष्ट और वैज्ञानिक था कि बाद के प्रायः सभी संस्कृत और हिन्दी के आचार्यों को मान्य हुआ। उनके द्वारा प्रपिपादित गुणों के तीन भेद—१. माधुर्य २. ओज और ३. प्रसाद—ही आज सर्वमान्य हैं।

(१) **माधुर्य**—जहाँ काव्य के पठन, श्रवण या दर्शन में कोमल और मधुर भावनाओं का स्फुरण होता है और अन्तःकरण आनन्द से द्रवित हो जाता है वहाँ माधुर्य गुण समझना चाहिए। माधुर्य गुण शृंगार (संयोग और वियोग) करुण, शान्त आदि रसों से पूर्णता के साथ व्यक्त होता है। माधुर्य गुण में कोमल वर्ण (ट, ठ, ड, ढ आदि कठोर वर्णों को छोड़कर शेष वर्ण) सहायक होते हैं तथा लम्बे समासों एव संयुक्ताक्षरों का इसमें अभाव रहता है। निम्न पंक्तियों में माधुर्य गुण है—

मधुमय बसंत जीवन बन के
बह अंतरिक्ष की लहरों में
कब आये थे तुम चुपके से
रजनी के पिछले पहरों में।
क्या तुम्हें देखकर आते यों
मतवाली कोयल बोली थी
उस नीरवता में अलसायी
कलियों ने आँखें खोली थीं।
जब लिखते थे सरस हँसी
अपनी फूलों के अंचल में
अपना कलकंठ मिलाते थे
झरनों के कोमल कलकल में।

—**जयशंकर प्रसाद**

(२) **ओज**—ओजगुण से अन्तःकरण दीप्ति और आवेग से भर उठता है। ओजगुण युक्त काव्य के पठन, श्रवण या दर्शन से हृदय उत्तेजित हो उठता है और धमनियों में तेजी से रक्त का संचार होने लगता है। ओजगुण युक्त कविता में 'ट' वर्ग के वर्णों, संयुक्ताक्षरों एवं लम्बे समासों का आधिक्य रहता है। किन्तु जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि गुण की स्थिति पूर्ण रूप से शब्द में न होकर रस में रहती है अतः यह आवश्यक नहीं है कि ओजगुण के लिए अनिवार्य रूप से कठोर वर्णों या लम्बे समासों का प्रयोग किया ही जाये अपितु जहाँ काव्य के पठन या श्रवण से हृदय आवेग और उत्तेजना से पूर्ण हो जावे वहीं ओजगुण की स्थिति समझनी चाहिए। ओजगुण वीर, रौद्र आदि रसों में पूर्णता के साथ व्यक्त होता है, उदाहरण में निम्न ओजगुण अपनी पूर्णता के साथ व्यक्त हुआ है—

सहस्त्रों वज्रों की ले शक्ति, गढ़े हैं मैंने ये भुजदण्ड,
अष्टधातों का केन्द्रित रूप, खुला है मेरा वक्ष प्रचण्ड,
पवन उनचास लजाते हुए, बह रहे दृढ़ पग आठों याम,
फुंकरित व्याली सी यह साँस, बंधनों को करती है खंड

शीश पर है काँटों का ताज, चमकता है गर्वोन्नत भाल,
प्रलय के ज्वालामुखि दो नयन, रहे वह्नि-वारुणी ढाल।
विकल प्रतिपल विद्रोही प्राण, प्राण में प्रतिहिंसा का ज्वार—
चूर होगा, हाँ क्षण में चूर क्रूर सत्ता का तुच्छ पहाड़।

—कमलेश

(३) **प्रसाद**—प्रसाद गुण का सम्बन्ध किसी रस-विशेष से नहीं है, यह सभी रसों में व्याप्त है। मानव-हृदय जिस समय सामान्य अवस्था में रहता है उस समय वह सभी रसों का आस्वादन कर सकता है। ध्वनिकार आनन्द वर्द्धन ने प्रसाद गुण की व्याख्या करते हुए कहा—"जिस प्रकार सूखे ईंधन या स्वच्छ वस्त्र में जल शीघ्र ही व्याप्त हो जाता है उसी प्रकार सभी रसों को हृदय में शीघ्र व्याप्त कराने वाला तथा काव्यानन्द शीघ्र ग्रहण कराने वाला गुण प्रसाद गुण है।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रसाद गुण सरल एवं सुबोध शब्दों से युक्त कविता में स्थित होता है। प्रसाद गुण सम्पन्न कविता को पढ़कर पाठक शीघ्र ही उसके भावों से अवगत हो जाता है। आज की नई हिन्दी-कविता जहाँ किसी वाद-विशेष के बन्धन से मुक्त होकर अपने सहज रूप में हमारे समक्ष आई है वहाँ वह अधिकतर प्रसाद गुण से सम्पन्न ही है। प्रसाद गुण युक्त कविता का निम्न पंक्तियाँ सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती हैं—

सब देख रहा सपना जैसे,
कोई न यहाँ अपना जैसे,
चलती फिरती तस्वीरों से,
सारा यह विश्व बना जैसे,
मैं देख रहा जग का परिचय।
होता जाता क्षण-क्षण में लय।

—रामदरश मिश्र

प्रश्न ९—रीति की परिभाषा देते हुए प्रमुख तीन रीतियों का लक्षण और उदाहरण दीजिये।

उत्तर—आचार्य वामन ने सबसे पहले रीति शब्द की व्याख्या करते हुए कहा—"**विशिष्ट पद-रचना रीतिः।**" अर्थात् विशिष्ट पद-रचना को रीति

कहते हैं और विशिष्ट का अर्थ उन्होंने गुण सम्पन्न बताया। आचार्य विश्वनाथ ने भी पदों के संगठन या मेल को रीति की संज्ञा दी। आचार्य मम्मट ने 'रीति' को 'वृत्ति' का समानार्थी मानकर व्याख्या करते हुए कहा कि वर्णों के अनुरूप व्यापार ही वृत्ति है। आचार्य राजशेखर ने रीति की परिभाषा अपने ग्रन्थ 'काव्यमीमाँसा' में इस प्रकार की—

"वचन-विन्यास-क्रमो रीतिः"

अर्थात् वचन विन्यास का क्रम ही को रीति कहा जाता है। काव्यशास्त्राचार्य पं० रामदहिन मिश्र के शब्दों में रीति की सर्वाङ्गपूर्ण एवं समीचीन परिभाषा इस प्रकार है--"**शब्दार्थ-शरीर काव्य के आधार भूत रसादि का उपकार करके प्रभाव बढ़ाने वाली पदों की जो रचना है, उसे रीति कहते हैं।**"

रीतियों का विवेचन

आचार्य वामन् ने रीति के तीन भेद—१ वैदर्भी, २ गौड़ी और ३ पांचाली माने हैं, उनका यह वर्गीकरण प्रदेशों के नाम के आधार पर था। अर्थात् प्राचीन समय में किसी विशेष प्रदेश में विशेष रीति से शब्द रचना होती थी और इस प्रकार प्रत्येक प्रदेश की रीति में पृथक विशेषता थी; इस प्रकार विशेष प्रदेश में विशेष रीति प्रचलित होने के कारण उस रति का नामकरण उस प्रदेश के नाम पर हो गया। किन्तु आचार्य कुन्तक ने रीतियों का नामकरण प्रदेशों के नाम के आधार पर न करके कवि-स्वभाव के आधार पर किया, उन्होंने रीति के भेद, सुकुमार, मध्यम और विचित्र नाम से किये। 'रीति' के साथ ही 'वृत्ति' का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। आचार्य मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथ तो स्पष्ट रूप से रीति और वृत्ति को समानार्थी प्रतिपादित करते हैं, वामन् आनन्दवर्द्धन, उद्भट आदि अन्य आचार्य भी प्रकारान्तर से दोनों में अभिन्न सम्बन्ध मानते हैं। आज रीति के तीन भेद (१) वैदर्भी, (२) गौड़ी और (३) पांचाली ही सर्वमान्य हैं।

(१) **वैदर्भी**—साहित्य-दर्पणकार पं० विश्वनाथ ने वैदर्भी का लक्षण देते हुए कहा है कि "माधुर्य व्यंजक वर्णों से युक्त तथा समासों से रहित, ललित पद-रचना को वैदर्भी रीति से अभिहित किया जाता है।" इसको उपनागरिका

वृत्ति भी कहते हैं। वैदर्भी रीति में ही कवि माधुर्य गुण को व्यक्त करते हैं। वैदर्भी रीति का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

दोउ जने दोउ के अनूप रूप निरखत,
पावत कहूँ न छवि सागर के छोर हैं।
'चिंतामणि' केलि के कलानि के विलासिन सों,
दोउ जने दोउन के चित्तन के चोर हैं।
दोउ जने मन्द मुसकानि सुधा बरसत,
दोउ जने छके मोद-मद दुहूँ ओर हैं।
सीता जी के नैन रामचन्द्र के चकोर भये,
राम-नैन सीता मुख चन्द्र के चकोर हैं॥

—चिन्तामणि

(२) **गौड़ी**—पं० विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ 'साहित्य-दर्पण' में गौड़ी की परिभाषा इस प्रकार दी है—"ओज प्रकाशक वर्णों से युक्त एवं समासों के आधिक्य से युक्त आडम्बर पूर्ण बन्ध अथवा पद-रचना को गौड़ी रीति कहते हैं।" इसका सम्बन्ध ओजगुण से है। इसे पुरुषा वृत्ति भी कहते हैं। तुलसीदास की निम्न पंक्तियाँ गौड़ी रीति का अच्छा उदाहरण हैं—

अच्छहि निरच्छ रुच्छहि उजारौं इमि,
तो से तिच्छ तुच्छनको कछवै न गंत हौं।
जारि डारों लङ्कहि उजाड़ि डारौं उपवन,
फारिडारौं रावण को तौ मैं हनुमन्त हों।

(३) **पांचाली**—ओज और माधुर्य व्यंजक वर्णों के अतिरिक्त वर्णों से युक्त पंचम वर्ण वाली पद-रचना को पांचाली रीति या कोमला वृत्ति कहते हैं। इसमें र, ल, स, ह, ब, य आदि शब्दों का बाहुल्य रहता है। एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

मधु राका मुस्काती थी,
पहले जब देखा तुमको।
परिचित से जाने सबके,
तुम लगे उसी क्षण हमको॥

—जयशंकर 'प्रसाद'

प्रश्न १०—अलंकार का स्वरूप स्पष्ट करते हुए काव्य में अलंकारों का स्थान निर्धारित कीजिये।

अथवा

अलंकारों के महत्व पर अपने विचार व्यक्त कीजिये।

उत्तर—काव्य के सौन्दर्य-साधक संस्कृत के पाँच प्रमुख वादों—रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि—में से अलंकार-सम्प्रदाय और वक्रोक्ति-सम्प्रदाय काव्य में अलङ्कारों का प्राधान्य मानते हैं। संस्कृत साहित्य के प्रारम्भिक काल में अलङ्कारों का विशेष महत्व रहा है। इसीलिये उस काल में काव्य-शास्त्र का नाम ही अलंकार-शास्त्र मान लिया गया था। कुछ आचार्यों ने इन्हें काव्य का अनिवार्य अङ्ग माना है। इन लोगों का मत है कि जिस प्रकार आभूषण रमणी के सौन्दर्य को द्विगुणित कर देते हैं उसी प्रकार अलङ्कार भाषा तथा अर्थ की सौन्दर्य वृद्धि के प्रमुख साधन हैं।

अलङ्कार सम्प्रदाय के भामह, दंडी, रुद्रट आदि आचार्यों ने इन्हें अत्याधिक महत्व दिया है। भामह का कथन है कि—"**न कान्तमपिनिर्भूषणं विभाति वनिता मुखम्।**" अर्थात् वनिता का सुन्दर मुख भी भूषण के बिना शोभा नहीं देता। दंडी के कथानानुसार—"**काव्य शोभाकरात् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते**" अर्थात् काव्य के शोभापरक सभी धर्म अलङ्कार शब्द-वाच्य ही हैं।

आचार्य विश्वनाथ का मत है कि—"**रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्**" (अर्थात् कटक-कुंडल की भाँति अलङ्कार रस के उत्कर्ष विधायक हैं।) वामन ने गुणों को शोभा का कारण माना है और अलङ्कारों को शोभा को अतिशयता देने वाला या बढ़ाने वाला कहा है। परन्तु हिन्दी के प्रसिद्ध अलङ्कारवादी केशवदास तो अलङ्कारों को ही सबकुछ मानते हुए कहते हैं—

"जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुवरन, सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु नहिं राजहीं, कविता, वनिता, मित्त।"

उपर्युक्त विद्वानों में से कुछ अलङ्कारों को सर्वाधिक महत्व देकर उन्हें ही एक प्रकार से काव्य की आत्मा मानते हैं तथा कुछ उन्हें केवल सौन्दर्य-वृद्धि का साधन मात्र मानते हैं। कुछ विद्वानों का तो यह भी मत है कि अलङ्कारों के अभाव में भी काव्य को काव्य माना जा सकता है। मम्मट का कहना है

कि—"**सगुणावनलंकृति पुनः क्वापि।**" मम्मट के अनुकरण पर और भी अनेक संस्कृत और हिन्दी के आचार्यों ने अलंकारों की उपेक्षा की। किन्तु अलंकार इतने महत्व हीन नहीं है जैसे कि इन आचार्यों ने माना। अलंकारों के सवाल पर श्री विशम्भर अरुण ने अपनी पुस्तक 'अलंकार प्रबोध' में युक्तियुक्त प्रकाश डाला है।

पहले वह अलंकार की परिभाषा के सम्बंध में लिखते हुये कहते हैं "अलंकार की परिभाषा जानने से पहले इस शब्द की व्युत्पत्ति पर ध्यान देना आवश्यक हैं। 'अलंकार' शब्द की व्युत्पत्ति 'अलम्' धातु से हुई है जिसका अर्थ है 'भूषित करना'—अर्थात् 'भूषित करने वाले उपादान ही अलंकार हैं'। लिखी हुई प्रत्येक पंक्ति को काव्य नही कहा जा सकता। काव्य की संज्ञा उसी पंक्ति को दी जा सकती है जो अपनी विशिष्टता से हमारा हृदय आकृष्ट कर ले। साधारण भाषा में लिखी पंक्तियाँ हमारा हृदय आकृष्ट करने में असमर्थ होती हैं अतः उन्हें काव्य की कोटि से पृथक ही रखा जाता है। अलंकार ही किसी उक्ति को इस प्रकार भूषित कर देते हैं कि वह सहृदयों के आकर्षण का केन्द्र बन जाती है। अतः अलंकार को हम 'कथन की विशिष्ट प्रणाली' या 'कहने का खास तरीका' मान सकते हैं। आचार्य रुद्रट ने भी कथन के विशेष प्रकार को ही अलंकार माना है—

"आभिधानप्रकारविशेषा एवं चालंकाराः"

अंग्रेजी में अलंकार का पर्यायवाची "Figure of speech" भी इसी अर्थ का द्योतक है। अलंकार को विशेष महत्त्व प्रदान न करने वाले आज के प्रसिद्ध आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी अलंकार को इसी अर्थ में प्रतिपादित करते हैं—

"मैं अलंकार को केवल वर्णन प्रणाली मात्र समझता हूँ; जिसके अंतर्गत करके चाहे किसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है।"

एक अन्य स्थान पर भी वे लगभग यही बात कहते हैं—

"अलंकार हैं क्या ? वर्णन करने की अनेक प्रकार की चमत्कारपूर्ण शैलियाँ, जिन्हें काव्यों से चुनकर प्राचीन आचार्यों ने नाम रखे और लक्षण बनाये। ये

शैलियां न जाने कितनी हो सकती हैं अतः यह नहीं कहा जा सकता कि जितने अलंकारों के नाम ग्रन्थों में मिलते हैं उतने ही अलंकार हो सकते हैं।"

काव्य की कोटि मे पृथक् कथन अपनी विशिष्टहीनता के कारण ही काव्य की सीमा में नहीं आ पाता और काव्य का कथन विशिष्टता से युक्त होने के कारण ही काव्य की कोटि में अनायास ही आ जाता है

इस प्रकार समझने के पश्चात् अलंकार की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—**अलंकार कथन की वह विशिष्ट प्रणाली है जो कथन को अन्य सामान्य कथन से पृथक कर काव्य की संज्ञा से अभिहित कराता है"**

आगे वे अलंकार के महत्व का प्रतिपादन इस प्रकार करते हैं—"हमारे यहाँ के आचार्यों ने 'रस' को आत्मा माना है। किसी को भी इस पर आपत्ति नहीं हो सकती लेकिन इतना तो सभी मानेंगे कि आत्मा बिना शरीर के अस्तित्व हीन है। ऐसे ही रस भी बिना अभिव्यक्ति के कोई अस्तित्व नहीं रखता। रस की अभिव्यक्ति के लिये भाषा की आवश्यकता है, अत: भाषा शरीर के समान है। लेकिन रस को प्रेषणीय बनाने के लिए भाषा को अलंकारों की सहायता लेनी पड़ती है। अन्यथा वह भाषा सामान्य उक्ति मात्र रह जाती है। अत: आचार्यों ने अलंकारों को 'वस्त्राभूषण' के समान माना है। जिस प्रकार वस्त्राभूषण से विहीन नग्न व्यक्ति का सभ्य संसार में होना बहुत मुश्किल है ऐसे ही अलंकारों से विहीन काव्य की सत्ता बहुत कम सम्भव है। यूनान आदि पाश्चात्य देशों में भले ही वहाँ के लोग वस्त्राभूषण से विहीन नग्नता में सौन्दर्य के दर्शन करते हों लेकिन हमारे यहाँ की संस्कृति कभी भी नग्नता की पूजक नहीं रही है। यहाँ वस्त्राभूषणों से युक्त किसी नारी या पुरुष में ही सौन्दर्य की कल्पना की गई है; नग्नता में तो यहाँ कुरूपता ही मानी गई है। यही कारण है कि भारतीय काव्य में जितना अलंकारों की ओर ध्यान दिया गया है उतना पाश्चात्य काव्य में नहीं। इस प्रकार हमारी संस्कृति भी अलंकारों के महत्व की साक्षी है। भामह, दण्डी, जयदेव, केशव आदि आचार्यों ने अलंकारों के इस महत्व को समझा था और उनका यह समझना अकारण भी नहीं था।

रसवादी आचार्य एक अन्य बात पर भी बहुत जोर दिया करते हैं और

अपने-अपने अनुसार उसका अनुभव करते हैं। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि सौन्दर्य विषय है और विषयी अनुभवकर्त्ता है किन्तु उसकी महिमा कभी किसी एक के कारण उसी प्रकार नहीं घट सकती जैसे "सीतलता अरु सुगंधि की महिमा घटी न मूरु, पीनस वारों ज्यों तजै सोरा जानि कपूर।"

वास्तविक सौन्दर्य वह है जो एक सा रहे फिर भी दर्शकों के लिए उसमें नित्य नवीनता का प्रस्फुटन हो। संस्कृत के आचार्यों ने यही तो कहा है—

"क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति।
तदैव रूपं रमणीयताया॥"

बिहारी की नायिका का ऐसा ही तो सौन्दर्य था जिसमें प्रतिपन नवीनता आ रही थी—

**"लिखन बैठ जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥"**

मानव मन की तीन अवस्थाओं—सत्, चित और और आनन्द में से कला आनन्द को अधिक मानती है और जानती है। इस आनन्द की अभिव्यक्ति की दो अवस्थाओं—१—**साधनावस्था**, और २—**सिद्धावस्था** में से पहली में अमंगल और अन्धकार में पड़े हुए जीवों के प्रति सहानुभूति रहती है और वह उनके प्रकाशमय भविष्य को उनके समीप ला देती है। वे अन्धकार पर विजय पाने के लिए प्रकाश की चेष्टाओं के गीत गाते हैं। इसी से डण्टन ने इसे शक्ति काव्य (Poetry of Energy) कहा है। वे मानवीय उपासना के तीनों क्षेत्रों ज्ञान, कर्म और उपासना में सौन्दर्य के दर्शन करते हैं। उनकी तीव्र दृष्टि उनके असुन्दर के अन्दर छिपे प्रच्छन्न सौन्दर्य को बहुत दूर से ही देख लेती है। उनके सभी अशिव चित्र शिव की सृष्टि करते हैं। गोर्की ने यही तो कहा है—"**वास्तव में हमारे कवि सङ्घर्ष और प्रतिद्वन्द्वी तत्वों के भीतर से सौन्दर्य के बीज तत्व तक पहुँचते हैं। इसका आधार सूत्र है मानव पर विश्वास करो।**" इसी प्रकार हिन्दू कला की जड़ में भी 'सर्वात्मनः परमात्मनः' और 'बहुजन हिताय' जैसी भावनाएँ कार्य करती हैं। दूसरे शब्दों में

अधर्म पर धर्म की जय, अन्धकार पर प्रकाश की जय, अशिव पर शिव की
जय ही सौन्दर्य का मूल रूप है।

लोकमङ्गल की दूसरी अवस्था है सिद्धावस्था। इसी को उपभोग पक्ष भी
कहते हैं। यहाँ केवल सौन्दर्य का ही साम्राज्य रहता है और वह भी साधना-
वस्था की तरह प्रच्छन्न नहीं, विल्कुल स्पष्ट। उसमें साधना [illegible]रा संपूर्ण अमं-
गल और अशिव रूपों को नष्ट करके सिद्ध रूप में मङ्गल[illegible]
उपभोग किया जाता है। तुलसी यदि साधनावस्था के [illegible]ने वाला कलाकर ही
वस्था के। राम यदि साधनावस्था के नायक थे तो कृष्ण [illegible] सिद्धा-
वस्था के। सौन्दर्य का प्रतीक नारी को माना गया है। न्यूमेन ने कहा है कि
**"यदि तुम्हारी आत्मा उच्च धर्मराज्य की पवित्र सीमा में प्रवेश करना चाहती
है तो उसे नारी रूप में ही जाना पड़ेगा। मानव समाज में पुरुषाकार का
तुम्हें कितना ही गर्व क्यों न हो, उस राज्य में जाने के लिए नारी के रूप के
अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं।"**

हम पहले ही कह आए हैं कि कला सौन्दर्य का पक्ष अधिक ग्रहण करती
है। इसलिये सुन्दर सत्य ही कला है। वास्तविक रूप में जीवन को दो प्रकार
की उपयोगिता की आवश्यकता है—१—स्थूल रूप में (भोजन, वस्त्र आदि
की), दूसरी, सूक्ष्म रूप में आनन्द की; या यों कहें कि शरीर को स्वस्थ और
गति-मान रखने के लिए जिस प्रकार भोजन वस्त्र की आवश्यकता होती है उसी
प्रकार से अनेक सूक्ष्म भावनाओं के भण्डार इस हृदय को गतिमान और
स्वस्थ रखने के लिए सत्यमय सौन्दर्य की आवश्यकता होती है। व्यक्ति जिस
प्रकार बुद्धि और शरीर द्वारा अपना शारीरिक भोजन प्राप्त करता है उसी
प्रकार भावनाओं द्वारा वह इस सुन्दर सत्य, जिसे कला कहते हैं, का निर्माण
करता है। दूसरे शब्दों में मनुष्य स्वयं ही अपना प्रकाशन और अपनी सृष्टि
तथा अपना रूपांतर है— केवल अपने ही अर्थ से यहाँ तात्पर्य मानव से है।
ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वह अव्यक्त ब्रह्म स्वयं को ही आनन्दित करने
के लिए अपने में से ही "एकोऽहं बहुस्याम्" का विचार कर अनेक रूपों में
व्यक्त हो जाता है। यह उसका आत्मप्रकाशन व्यर्थ नहीं, आत्मसंतोष के लिए

२—साधारणीकरण

काव्य द्वारा मानव रसानन्द कैसे ग्रहण करता है—यह समस्या आचार्यों और सामान्य मनुष्यों के सामने उठती है। मानव 'मेरे और तेरे' की भावना से आबद्ध है फलतः वह अपने ही व्यक्तिगत सुख-दुःखों का अनुभव करता है। किन्तु काव्य द्वारा वह काव्य में वरिणत अन्य पात्रों के सुख-दुःख में भी निमग्न हो जाता है, ऐसा क्यों हो जाता है। साहित्याचार्य कहते हैं कि मानव-हृदय जब ममत्व और परत्व की भावना से मुक्त होता है और सामान्य अवस्था को प्राप्त होता है तभी रसानन्द की अवस्था आती है। हृदय की यही अवस्था साधारणीकरण के सिद्धान्त को जन्म देने वाली है। साधारणीकरण के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। भट्टनायक इस सिद्धान्त के जनक हैं। भट्टनायक के पश्चात् संस्कृत में विश्वनाथ, पं० जगन्नाथ आदि ने इस पर विवेचन प्रस्तुत किया। हिन्दी में रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, नगेन्द्र, नन्ददुलारे वाजपेयी आदि प्रभृति विद्वानों ने विचार किया है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में—"**साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वरिणत 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।**" इसमें काव्य के मनन द्वारा पाठक या श्रोता भाव की सामान्य भूमि पर आ जाता है। "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की शक्ति नहीं आती। विषय का इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।" दूसरे शब्दों में रस दशा में आए हुए कवि द्वारा विषय का इस रूप में वर्णन करना जो सामान्य लोक हृदय को भी रस दशा में ला दे तब साधारणीकरण की अवस्था होती है। एक उदाहरण द्वारा इसका स्पष्टीकरण भली प्रकार हो जायगा। पाठक या दर्शक द्वारा दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रति रति का भाव न रखते हुए भाव की उस अवस्था पर पहुँच जाना जहाँ यह रति शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त की रति न रहकर पुरुष की स्त्री के प्रति, शकुन्तला के

प्रति साधारण रति मात्र रह जाती है। अर्थात् जो भी पाठक या दर्शक दुष्यन्त शकुन्तला के इस दृश्य को पढ़ता या देखता है वही अपने हृदय में स्थित रति का अनुभव करता है। ऐसा किस प्रकार होता है ? इसका उत्तर यही है कि सामान्यतः ऐसे भाव सभी पाठक या श्रोता के भाव हो सकते हैं, अतः दुष्यन्त की शकुन्तला के प्रति रति भी सामान्य पाठक या श्रोता में हो सकती है। कारण, "आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है। इस से स्पष्ट जाना जा सकता है कि साधारणीकरण से शुक्लजी का आशय आलम्बन का साधारणीकरण है। और जब आलम्बन का साधारणीकरण हो जायगा तो आश्रय के साथ उसका तादात्म्य हो जाना स्वाभाविक है। यह शुक्लजी का अपना विचार है। विश्वनाथ ने भी उसी ओर संकेत किया है। परंतु भट्टनायक और अभिनवगुप्त का मत इससे और आगे बढ़ जाता है। उन दोनों ने तो स्थायी भाव तथा विभाव आदि सभी का साधारणीकरण माना है। केवल विभाव (आलम्बन अर्थात् केवल शकुन्तला) का साधारणीकरण और तदनुसार आश्रय के साथ तादात्म्य उनको मान्य नहीं है। उन्होंने तो स्पष्ट कहा है कि शकुन्तला, सीता आदि पूज्य व्यक्तियों में सहृदय के लिए रति भाव रखना अनुचित होगा। इसलिए सहृदय प्रत्येक दशा में न आलम्बन के साथ साधारणीकृत सम्बन्ध स्थापित करता है (प्रेम करता है) और न आश्रय के साथ तादात्मय। कारण, उसका यह प्रेम अपना व्यक्तिगत प्रेम नहीं होता। "नममेति न परस्पेति।"

किन्तु शुक्लजी का कहना है "**काव्य का विषय सदा विशेष होता है, सामान्य नहीं। वह व्यक्ति सामने लाता है, जाति नहीं।**" कारण "काव्य का काम है कल्पना में बिम्ब (Images) या मूर्त भावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार (Concept) लाना नहीं। बिम्ब जब होगा तब विशेष का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं।" बात भी ठीक है। कविता वस्तुओं और व्यापारों का बिम्ब ग्रहण कराने का प्रयत्न करती है। अर्थ ग्रहण मात्र से उसका काम नहीं चलता और बिम्ब ग्रहण जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा। इसीलिए शुक्लजी ने आलम्बन (अर्थात् काव्य में वर्णित

विशेष पात्र यानी शकुन्तला, सीता आदि) का साधारणीकरण माना है क्योंकि इन पात्र विशेष का बिंब उपस्थित किया जा सकता है। किन्तु इतने पर भी हमारी पहले वाली शंका का समाधान तो हो नहीं पाता कि हमारा (पाठक या श्रोता का) पूज्य व्यक्ति अपना वही आलम्बन हर अवस्था में किस प्रकार हो सकता है ? सीता के प्रति हमारा मातृभाव है किन्तु पुष्प वाटिका में जब राम सीता को देखकर लक्ष्मण से अपने रति सम्बन्धी भाव व्यक्त करते हुए यह कहते हैं—

"मानहु मदन दुंदुभी दीन्हीं, मनसा विश्व विजय तिन कीन्हीं"

तो यदि राम के समान सीता के प्रति सबका मन ही 'कुपंथ' पर पग धरने लगे तो एक अनर्थ खड़ा हो जायगा। मर्यादा का अतिक्रमण बड़े भयङ्कर रूप में हो जायगा और पूज्य भावना को एक गहरी ठेस लग जायगी। ऐसी अवस्था में शुक्लजी ने एक मार्ग बताया अवश्य है किन्तु वह कहाँ तक उपयुक्त है यह भी विचारने की बात है। उन्होंने कहा है कि ऐसी अवस्था में उसकी कल्पना में उसकी स्वयं की प्रेयसी की मूर्ति ही आयगी। यहा आलम्बन सीता न रह कर उसी प्रकार के सम्बन्ध वाली उसकी कोई भी प्रेयसी हो सकेगी। किन्तु यदि पाठक या श्रोता की कोई प्रेयसी ही नहीं है तो उसी के समान गुणों से युक्त सुन्दरी की कोई कल्पित मूर्ति ही उसकी कल्पना में आ जायगी किन्तु यह कल्पित मूर्ति भी किसी विशेष की होगी, सामान्य की नहीं। बात कुछ अधिक जँचती हुई नहीं जान पड़ती। भट्टनायक और अभिनवगुप्त भी इस मत से सहमत नहीं हैं। किसी कल्पित सुन्दरी का चित्र आना व्यक्तिगत रति का नहीं साधारण रति का रूप है। दूसरी बात यह है कि यदि भाव मधुर न होकर कटु है, जैसे राम का रावण पर क्रोध देख कर अपना भी अपने शत्रु के प्रति क्रोध जाग्रत हो जाता है। अपना यह अनुभव प्रत्यक्ष होने के कारण कटु ही होगा, रस इसे नहीं कह सकते।

किन्तु एक प्रश्न यहाँ और भी उठ खड़ा होता है कि एक ही आलम्बन भिन्न-भिन्न अवस्था वाले व्यक्तियों का आलम्बन किस प्रकार हो सकता है। काव्य का आलम्बन यदि एक युवती है और दर्शक गणों में बालक, युवा तथा वृद्ध भी हैं और अधिक विचारणीय अवस्था उस समय होगी जब कि स्त्रियाँ भी

दर्शक हों। ऐसी दशा में सभी का आलम्बन समान रूप से तो काव्य में वर्णित युवती हो नहीं सकती। दूसरी ओर किसी पूँजीपति के शोषक कर्म को देखकर या किसी निरीह गरीब पर क्रूर अत्याचार करते हुए देखकर तो उसके साथ तादात्म्य होना तो दूर रहा केवल सहानुभूति भी नहीं हो सकती। इस प्रकार इन सभी शङ्काओं का समाधान शुक्लजी द्वारा बताए अनुसार नहीं हो पाता।

एक शंका और भी उठे बिना नहीं रह सकती। सभी हिन्दू अपने प्राचीन संस्कारों के अनुसार राम के प्रति श्रद्धा और रावण के प्रति घृणा का भाव, कृष्ण के प्रति श्रद्धा और कंस के प्रति घृणा का भाव रखते हैं। काव्य में ऐसी अवस्थाएँ बराबर आती रहती हैं कि जहाँ दुष्ट बुद्धियाँ सद्‌बुद्धियों के प्रति अत्याचार करती हैं और उन दुष्टों का विरोध करने वाले, सद्‌भावना वाले तथा दुष्टों की दुष्टताएँ दूर करने वाले नायक उनका विरोध करते हैं। ऐसी अवस्था में पहले-पहल कितनी ही घटनाएँ ऐसी आती हैं जिनमें दुष्ट प्रतिनायक की विजय और नायक की पराजय होती रहती है। उदाहरण-स्वरूप राम रावण के युद्ध में रावण राम के प्रति दुष्ट वचन कहता है या राम की कभी-कभी की हार पर प्रसन्न होता है और अनेक प्रकार की खुशियाँ मनाता है, तब क्या दर्शकगण रावण के प्रति तादात्म्य करके उसकी प्रसन्नता में अपनी प्रसन्नता मिला देंगे? क्या राम के प्रति बुरे भाव उनके मन में आ सकेंगे? सम्भव है सभी का उत्तर यही होगा कि नहीं। तब ऐसी अवस्था में क्या होगा? इसके लिए शुक्लजी ने रस की दो अवस्थाएँ मानी हैं—एक वह जिसमें दर्शक या पाठक काव्य के आश्रय के साथ तादात्म्य करता है और काव्य के आलम्बन का साधारणीकरण हो जाता है। यह रस की उच्च अवस्था मानी गई है; किन्तु दूसरी रस की एक नीची अवस्था में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति नहीं, वरन् श्रोता या पाठक या दर्शक उस आश्रय के शीलद्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा। पर इस रस दशा को हम मध्यम कोटि की मानेंगे। इस दशा में श्रोता या दर्शक व पाठक उसी भाव का अनुभव नहीं करता है जिस भाव की व्यंजना पात्र अपने आलम्बन के प्रति करता है बल्कि व्यंजना करने वाले उसके प्रति किसी और ही भाव का—जैसे श्रद्धा, भक्ति, घृणा, रोष, आश्चर्य, कुतूहल या, अनुराग आदि का

अनुभव करता है। इस दशा को भी एक प्रकार की रस दशा माना गया है। शुक्लजी ने कहा है कि "इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकर होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है। जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना में लाता है उसके प्रति उसका कुछ-न-कुछ भाव अवश्य रहता है। वह उसके किसी भाव का आलम्बन अवश्य रहता है। अतः पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलम्बन रहता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का आलम्बन प्रायः हो जाता है।" तात्पर्य यह है कि जहाँ हम काव्य के आश्रय के साथ तादात्म्य नहीं कर पाते वहाँ कवि के साथ करते हैं।

यहीं पर विचार के लिए एक शंका और आ खड़ी होती है। काव्य में कुछ स्थल या व्यक्ति ऐसे भी होते है जिनका कवि केवल चित्रण करके ही सन्तुष्ट हो जाता है। वहाँ आलम्बन और आश्रय का प्रश्न ही नहीं रहता। ऐसे स्थान पर हम किसी आलम्बन को स्वीकार करें या करें ही नहीं ? यदि आलम्बन नहीं होता तो आश्रय का अस्तित्व ही नहीं रहता और न तादात्म्य का प्रश्न ही रह जाता और जब आश्रय और आलम्बन नहीं तो कहाँ रस और कहाँ साधारणीकरण ? शुक्ल जी ने भी यह शङ्का स्वयं ही उठाई है और उसका समाधान भी उन्होंने स्वयं ही अपने ढङ्ग से कर लिया है। उनका कहना है कि "जहाँ कवि किसी वस्तु (जैसे—हिमालय, विन्ध्याटवी) या व्यक्ति का केवल चित्रण करके छोड़ देते हैं, वहाँ कवि ही आश्रय के रूप में रहता है। उस वस्तु या व्यक्ति का चित्रण कर उसके प्रति कोई भाव रखकर ही वह ऐसा करता है। उसी के भाव के साथ पाठक या दर्शक का तादात्म्य रहता है, उसी का आलम्बन पाठक या दर्शक का आलम्बन हो जाता है"

ये सभी शङ्काएँ एक ओर तो अलग-अलग करके शाँत हो जाती हैं किन्तु दूसरी ओर कई नई शङ्काएँ उत्पन्न करती जातीं हैं। और वह यह कि क्या साधारणीकरण का भी विभाजन होता है ? क्या साधारणीकरण की भी भिन्न-भिन्न कोटियाँ होती हैं ? क्या साधारणीकरण के आलम्बन और आश्रय अवस्था और समय के अनुसार बदलते रहते हैं ? क्या रस दशा की भी ऊँची नीची कोटियाँ होती हैं ? किन्तु भाव जगत सर्वत्र एक है। रस सर्वत्र एक,

अभिन्न तथा अखन्ड है; फिर यह सब विभाजन, यही सारी अनेकता और यह सब ऊँची-नीची कोटियाँ क्यों ? तो प्रश्न उठता है कि क्या शुक्लजी ने इस सबको समझने में भूल की है; जिस पर आधारित होकर आचार्य शुक्ल ने अपना विवेचन किया है ।

वस्तुतः बात कुछ और है । कला का अथवा कला के अङ्ग साहित्य तथा उपाँग काव्य का निर्माण पहले होता है और उस निर्मित काव्य पर ही उसको सिद्धान्तों से प्रतिष्ठापित किया जाता है । प्राचीन आचार्यों ने भी साधारणी-करण का सिद्धान्त इसी प्रकार प्राचीन वर्णित काव्य के आधार पर ही निर्धा-रित किया है । प्राचीन काल में काव्य का नायक विशेष रूप से ऐसा ही व्यक्ति होता था जिसमें खोज-खोज कर ऐसे सभी आदर्श और उच्चगुणों की कल्पना की जाती थी, जिनके कारण वह हमारे भावों के साथ तादात्म्य कर जाता था (यद्यपि प्रेम आदि के स्थान पर अपने पूज्य नायक और नायिका के साथ शृङ्गारी स्थलों पर फिर भी हम तादात्म्य न कर पाते थे जैसा कि राम और सीता के सम्बन्ध में अभी ऊपर कह आए हैं । प्राचीन आचार्यों ने इसी काव्य के आश्रय के साथ तादात्म्य वाला सिद्धान्त बनाया है । किंतु आज परिस्थितियाँ बदल गईं हैं । अनेक प्रथम श्रेणी के उपन्यासों, नाटकों और काव्य के नाटकों का चरित्र उक्त आदर्श के बिल्कुल विपरीत हो गया है जिसके साथ तादात्म्य करना न तो सहज होगा और न स्पृहणीय ही । यदि ऐसे नायक के साथ भी कोई तादात्म्य कर सके तो यह उस साहित्यकार की सबसे बड़ी सफलता होगी । कारण, उपन्यासकार, नाटककार या काव्यकार ने चित्रित चरित्र में इसलिए ऐसे विपरीत गुणों का समावेश किया जिससे वह समाज में इस प्रकार के दुर्गुणों के प्रति घृणा, क्षोभ और ग्लानि का भाव उत्पन्न कर सके । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मूलतः नायक का सीधा सम्बन्ध साधारणीकरण से नहीं होता । नायक के प्रति तादात्मय होने न होने का उत्तरदायित्व कवि या लेखक के ऊपर है । अर्थात् यदि कवि या लेखक अपने नायक के प्रति तादात्म्य करता है तो निश्चित रूप से पाठक या श्रोता को भी करना होगा और यदि कवि या लेखक उस नायक के चित्र को केवल दुर्गुणों के प्रति अपनी घृणा आदि भावों की अभिव्यक्ति का साधन ही बनाता है तो पाठक या श्रोता के

अन्तर में भी उसके प्रति वही भाव जाग्रत होगा। सफल कवि या लेखक वही है जो अपने अन्तर के भावों को इस प्रकार व्यक्त करे कि वे पाठक या श्रोता के कोमल भावों से जा टकराएँ और सच्चा साहित्य वही है जो कवि या लेखक के अभिव्यक्त भावों को पाठक-श्रोता के भाव बना दे। इन सबमें परिणाम यही निकला कि पाठक या श्रोता का सीधा सम्बन्ध कवि, काव्य या लेखक से है न कि काव्य में वर्णित नायक से। पाठक की नायक के प्रति वही धारणा बन जाती है जो कवि बनवाता है अथवा जो कवि की धारणा होती है—फिर तादात्मय भी पाठक और श्रोता का कवि के साथ ही होना चाहिए, नायक के साथ नहीं? यदि यह बात ठीक है तो हमारी शंकाएँ एक साथ समाप्त हो जाती हैं। उनके उठने के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता। यह प्रश्न भी फिर समाप्त हो जाता है कि किस अवस्था में नायक के साथ पाठक या श्रोता का तादात्म्य होता है और किस अवस्था में वह उसके शीलद्रष्टा के रूप में रहता है। किस समय पाठक अपने को नायक से अभिन्न समझता है और किस समय वह अपने को नायक से भिन्न कर लेता है। कहाँ रस की उच्च दशा होती है और कहाँ रस नीची कोटि में रहता है। हम तो हर अवस्था में कवि के साथ तादात्म्य करते हैं। आश्रय चाहे दुष्ट प्रवृति का हो चाहे सुप्रवृत्ति का, हम तो हर अवस्था में उसकी ऊँची कोटि की ओर ही अग्रसर रहते हैं। शुक्लजी को रस की कोटियाँ, साधारणीकरण का विभाजन आदि जो करना पड़ा वह केवल इसलिए कि उन्होंने इस सत्य पर पर्दा डाल दिया कि प्रत्येक अवस्था में तादात्म्य कवि के साथ होता है। जबकि उन्हें कुछ अवस्थाओं में कवि के साथ तादात्म्य मानकर ही अपनी शंकाओं का समाधान करना पड़ा है। आखिर चारा भी क्या था? कवि को पीछे देकर हम कभी वस्तु स्थिति तक पहुँच ही नहीं सकते। कारण, कवि तो ब्रह्मा है, सृष्टा है। वह अपने अनुकूल ही अपनी काव्य सृष्टि का निर्माण करता है उन्हीं भाव-साधनों से, जो उसके पास हैं तथा करता है उन्हीं परिस्थितियों में जिनमें वह गुजर रहा है। फिर कवि समाज में रहने वाला एक मानव ही तो है। उसके भाव भी वही होने चाहिएँ जो समाज के अन्य व्यक्तियों के हैं। इसीलिए तो विभिन्न कवियों के एक ही नायक अपना व्यक्तित्व भिन्न रखते हैं। इसीलिए तो सूर

साधन-स्वरूप भाषा की आवश्यकता है। ये तीनों जब दूसरे के पूरक बन जाते हैं तभी सारा काम बन जाता है।

भाषा के दो प्रयोग होते हैं—१—जिसमें भाषा के प्रतीक केवल ज्ञान जाग्रत करते हैं और दूसरा वह जिसमें ज्ञान के आगे भावों को जगाया जाता है। ज्ञान जाग्रत करने के लिये तो सामान्य भाषा से भी काम चल जाता है क्योंकि ज्ञान का स्थान पहले है किन्तु भाव ज्ञान से अधिक गम्भीर है अतः भावों को जगाने के लिए एक विशेष प्रकार की भाषा की आवश्यकता होती है। भट्टनायक ने तो काव्य में ही 'भावकत्व' नामक एक ऐसी शक्ति की कल्पना की है जिससे भाव का आपसे आप ही भावन हो जाता है अर्थात् साधारणीकरण हो जाता है किन्तु अभिनवगुप्त इस 'भावकत्व' शक्ति की कल्पना को निराधार मान कर शब्द की सर्वप्रधान शक्ति व्यंजना में साधारणीकरण की सामर्थ्य मानते है। किन्तु यदि प्रश्न उठाया जाय कि भावोद्दीपन में भाषा द्वारा एक व्यक्ति के उद्दीप्त भाव अन्यों के हृदय में समान भाव किस प्रकार उत्पन्न कर सकते हैं तो उत्तर में यही कहना उचित होगा कि सम्पूर्ण मानवता मूलतः एक ही चेतना से चैतन्य है, सभी के अन्तर में समान भाव सुप्त हैं और उन सभी के अन्दर आप से आप एक ऐसा सम्बन्ध है जैसे कि बिजली की सभी बत्तियाँ बिजलीघर के एक ही स्विच से सम्बन्धित रहती हैं। जब तक बटन दबाया नहीं जाता तब तक तक तो प्रकाश न जाने कितने गहरे में छिपा रहता है किन्तु जैसे ही बिजलीघर का स्विच दबाया कि सारे शहर की बत्तियाँ जगमगाने लगती हैं। भाव की भी यही स्थिति है। कवि बिजलीघर का मेन स्विच है जिसके द्वारा अन्य सभी हृदयों में अनुभूति का एक साथ प्रकाशन हो उठता है और भाषा उस अनुभूति के प्रकाशन का साधन बन जाती है।

३—आदर्शवाद और यथार्थवाद

इतिहास किसी देश की सामाजिक परिस्थितियों का उल्लेख करता है। साहित्य में उन्हीं का विस्तृत चित्रण मिलता है। यद्यपि साहित्य में कल्पना का आधिक्य होता है और इतिहास में वास्तविकता का, फिर भी समाज का

जितना यथार्थ चित्रण साहित्य में मिलता है उतना इतिहास में नहीं। वेद-काल के विषय में इतिहास मूल है परन्तु वैदिक साहित्य उस समय के समाज का वास्तविक रूप उपस्थित कर देता है। साहित्य से ही हम तुलसीदास के समय की उस घोर सामाजिक अवस्था का आभास पाते हैं जिसके विषय में अकबर का इतिहास लिखने वालों ने कहीं संकेत भी नहीं किया है। रावण, युधिष्ठिर, नल, शकुन्तला, दुष्यन्त द्वारा सामाजिक नियमों का उलंघन कर पर-नारी-हरण, द्यूत क्रिया एवं गांधर्व-विवाह आदि करने पर उन्हें कितने कष्ट उठाने पड़े। इसका वास्तविक विवरण केवल साहित्य देता है। इस भाँति साहित्य का क्षेत्र दो प्रकार का हुआ। प्रथम – सामाजिक दशा का तत्कालीन चित्रण, दूसरा—उस काल के व्यक्ति, उनके कर्म तथा कर्मों के फल का चित्रण। यह निश्चित है कि दोनों क्षेत्रों में वह समाज का ही चित्र खींचता है—पहले उसका चित्र अङ्कित करता है और फिर उसका मूल्य निर्धारण करता है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के चित्रणों में भी कलाकार या कवि दो मार्ग अप-नाता है। एक में वह संसार को जैसे का तैसा चित्रित करता है और दूसरे में उस संसार को मनोनुकूल बनाने के लिए अपनी कल्पना का प्रयोग कर परि वर्तित कर देता है। इसी आधार पर साहित्य में दो वादों की प्रतिष्ठा हुई। इसमें यथावत चित्रण करने वाले को यथार्थवादी और मनोनुकूल परिवर्तन करने वाले को आदर्शवादी कहा जाता है। यदि समाज का चित्रण तथा कर्मों का मूल्यांकन ज्यों का त्यों—कहीं अच्छा, कहीं बुरा—कर भी दिया जाय तो समाज का यथार्थतः काम चलाऊ रूप हमारे साहित्य में अवश्य रह सकता है। परन्तु 'यथार्थवादी' साहित्यकार इतने से ही संतुष्ट नहीं। वह त और असत दोनों को स्वेच्छानुसार महत्त्व देने भर को अपना उद्देश्य नहीं मानता। यथार्थवादी यह कहता है कि समाज में जो कुछ बुरा है, घृणित है, हीन है, असत है उसी को साहित्य में स्थान मिलना चाहिए क्योंकि अच्छा, सुन्दर, उत्तम तथा सत तो केवल कल्पना लोक की चीजें हैं। वास्त-विक जीवन में उनके दर्शन नहीं होते। वह यह भी कहता है कि प्रत्येक देश तथा काल में जो पापी, दुष्ट, अनाचारी होते हैं, उन्हीं की सदा जीत होती

है। जो कोई संसार में बड़ा हुआ है वह सदैव दूसरों को दबाकर ही बड़ा हुआ। जो विजयी होता है वह धर्मात्मा मान लिया जाता है और पराजित होने वाला पापी। शक्ति-हीन होने के कारण जिन कर्मों को हम छिपाकर करना चाहते हैं वे पाप कहलाते हैं परन्तु यदि समाज का एक बड़ा भाग उसे व्यवहार्य बना दे तो वही कर्म हो जाता है, धर्म मान लिया जाता है इसलिए साहित्य में केवल यथार्थ, असत, घृणित, और कुत्सित को ही स्थान मिलना चाहिए, सत, सुन्दर तथा उच्च को नहीं—क्योंकि समाज में असत्य, अशिव और असुन्दरम् का ही बोलबाला है, सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का नहीं। वह इसी प्रकार के साहित्य को ही कला का चरम उद्देश्य मानता है। उसके यहाँ इससे भिन्न चित्रण कल्पित तथा असत्य है। उसका जीवन से कोई संबंध नहीं। यह यथार्थवाद के प्रति एक दृष्टिकोण है जो अर्द्ध-सत्य है।

बाबू गुलाबराय के शब्दों में—"**यथार्थ वह है जो नित्यप्रति हमारे सामने घटता है। उसमें पाप-पुण्य, सुख-दुख की धूप-छाँह का मिश्रण रहता है। यह सामान्य भावभूति के समतल रहकर वर्तमान की वास्तविकता से सीमाबद्ध रहता है। स्वर्ग के स्वर्णिम सपने उसके लिए परी देश की वस्तुएँ हैं जो उसकी पहुँच से बाहर हैं।...वह संसार की कालुष-कालिमा पर भव्य आवरण नहीं डालना चाहता। वह स्वर्ण को भी कालिमामय मिट्टी के कणों से मिश्रित देखना चाहता है। दूसरी ओर आदर्शवादी स्वप्न दृष्टा होता है। वह संसार में ईश्वरीय न्याय और सत्य की विजय देखना चाहता है। वह संघर्ष में साम्य देखने के लिए उत्सुक रहता है।...यदि वर्तमान दुखमय है तो वह उज्ज्वल भविष्य की सुन्दर झाँकी देखने में मग्न रहता है। वह आशावादी होता है और आशा के एक विन्दु से सुख के सागर की सृष्टि कर लेता है।**" वह ऐसे चरित्र तथा परिस्थितियों का चित्रण करता है जो मानव समाज के लिए अनुकरणीय है। उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वैसे चरित्र और परिस्थितियाँ सम्पूर्ण लोक में देखी और सुनी जायँ।

प्रवृत्ति के विचार से दो प्रकार के व्यक्ति पाए जाते हैं। एक प्रकार के व्यक्ति की दृष्टि सदैव किसी भी वस्तु के गुणों पर ही रीझती है और दूसरे प्रकार के व्यक्तियों की दृष्टि केवल अवगुणों की ओर विशेष रूप से रहती

है। यद्यपि दोनों दृष्टियों में स्वभावतः सत्य ही आता है, केवल तथ्य के दो पहलू हो जाते हैं। काल्पनिक शक्तियों के प्राबल्य में प्रायः मनुष्य गुणों की ओर आकर्षित होता है; अतः उसका चित्रण सदैव आदर्शवाद से पूर्ण होगा, जब कि दूसरे प्रकार का चित्रण यथार्थवाद के नाम से पुकारा जायगा। अथवा यों कहें कि यथार्थवादी कलाकार वह है, जो गुण अवगुण में से किसी को भी नहीं छोड़ता, जब कि आदर्शवादी की दृष्टि वर्ण्य वस्तु के गुणों पर मुग्ध हो जाती है और उसके लिए अवगुण भी गुण हो जाते हैं। आदर्शवादी एक प्रेमी कलाकार है, उसका हृदय अनुराग में ओत-प्रोत होता है, फिर जो हृदय अनुराग से लहरित हो सकता है उसमें उतनी ही शक्ति विराग की भी रहती है, अतः वह किसी की बुराई भी अपने अनुराग के आधार पर विषय की प्रशंसा में अधिक दिखला सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आदर्शवाद जहाँ हमें चरम सीमाओं की ओर ले जाता है, वहाँ यथार्थवाद मध्यम मार्ग का अनुगामी है, जहाँ से सत् और असत् दोनों के दर्शन हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में यथार्थवादी साहित्यकार आलोचक अधिक होता है, कवि कम। कवि जब अपनी वस्तु में रम जाता है, तब दूसरी ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती, किन्तु आलोचक की पैनी दृष्टि हृदय को आत्म-विस्मृति के साथ कहीं भी नहीं रमने देती है! वह एक पहलू के साथ-साथ दूसरे पहलू पर भी दृष्टि रखता है। अतः आदर्शवाद में साधना की विशिष्टता और यथार्थवाद में जिज्ञासा और अनुभव की तीव्रता प्रधान रूप से कार्य करती है।

डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में—**आदर्शवादी साहित्य व्यक्ति प्रधान विशेष होता है और उसका नायक अथवा विषय भी ऐसा होता है, जो कि जन-साधारण के बीच में कुछ विशेषता रखता है और जिसकी ओर सर्व साधारण की दृष्टि स्वभावतः खिंच जाती है। उन आकर्षक प्राकृतिक गुणों से युक्त मानव समाज कुछ विशेष सुखमय एवं संगठित रूप में दृष्टिगोचर होता है। यह शक्ति और विशेषताओं का आकर्षण धीरे-धीरे प्रेम का रूप धारण कर लेता है और जनसमाज उसके जीवन में उसकी प्रतिष्ठा व पूजा और उसके चले जाने पर स्मारक और जयन्ती आदि के रूप में उसका स्मरण**

करता है। ये विशेषताएँ जीवन की ही विशेषताएँ हैं। आदर्शवाद विशेष व्यक्ति को लेकर उसके गुणों की ओर हमें खींचता है और उसके चरित्रों का अनुकरण सांसारिक समस्याओं के समाधान के लिए उपयुक्त समझता है।" प्रगतिवाद (यथार्थवाद) हमारे अन्तर्गत सामाजिक और नैतिक चेतना जाग्रत करता है। समाज के दुखों की ओर हमारा ध्यान ले जाता है और जीवन-समस्याओं को, सामाजिक विषमताओं को विकराल रूप में जैसा कि हम नित्य के जीवन में देखते हैं—उपस्थित करता है।

कुछ लोगों ने यथार्थवाद का बड़ा भ्रान्तिपूर्ण अर्थ लगाया है। उनका मत है कि समाज में जो जैसा होता है या हृदय में जैसी बातें उठती हैं, बिना समाज के कल्याण की चिन्ता किए उन्हें यथावत् व्यक्त कर दिया जाय। परन्तु यह दृष्टिकोण गलत है। यदि साहित्य में ऐसे भावों का व्यक्तिकरण होता रहेगा तो नैतिकता और अनैतिकता के बन्धन स्वीकार नहीं होंगे तो उससे समाज में विशृङ्खलता उत्पन्न होने का भय है। सामाजिक सन्तोष की तुलना में हमारा व्यक्तिगत सन्तोष कोई महत्व नहीं रखता। आज यथार्थवाद के नाम पर अश्लीलता का जो भयंकर प्रदर्शन हो रहा है वह समाज के लिए घातक है। यदि लेखक को वीभत्स शृङ्गार का चित्रण करने से आनन्द आता है तो इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि सभी पाठक उसमें उतना ही रस लेंगे। अनेक साहित्यकारों ने अपने अपने साहित्य में अपनी रुद्ध एवं अतृप्त काम-वासना का प्रदर्शन करने में सम्पूर्ण सामाजिक बन्धनों की इति-श्री कर दी है। स्पष्ट और खुला हुआ रति-वर्णन करने में उन्हें अमित आनन्द प्राप्त हुआ है। परन्तु क्या ऐसा साहित्य पाठकों के मस्तिष्क पर, जिनमें अपरिपक्व बुद्धि वाले पाठक भी होते हैं, शुभ प्रभाव डाल सकता है ? अतः यथार्थवाद का यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि हम जो कुछ जिस रूप में देखते हैं उसका वही नग्न रूप चित्रित कर दें। हम अपने जीवन में अनेक ऐसे कार्य करते हैं जो पूर्ण स्वाभाविक हैं परन्तु जिन्हें हम दूसरों के सम्मुख नहीं कर सकते। अस्तु

इन दोनों वादों के विषय में हमारे विद्वानों के विभिन्न मत हैं। नन्द-दुलारे वाजपेयी का कथन है कि—"**ये दोनों साहित्य की चित्रण की शैली**

के दो स्थूल विभाग हैं। दोनों ही शैलियाँ लेखक के दृष्टिकोण पर अवलम्बित रहती हैं। कला की सौन्दर्य सत्ता की ओर दोनों का झुकाव रहता है। आदर्शवाद में विशेष या इष्ट के आग्रह द्वारा इष्ट ध्वनित होता है। यथार्थवाद में सामान्य या अनिष्ट चित्रण द्वारा इष्ट की व्यंजना होती है।" इस दृष्टिकोण से तो कोई भी रचयिता दोषी नहीं ठहराया जा सकता। वस्तु को देखने का यह दृष्टिकोण अत्यन्त उलझा हुआ, भ्रमपूर्ण और धोखा देने वाला है। प्रेमचन्द कोरे यथार्थवाद का विरोध करते थे। वे उसी यथार्थवाद को ग्रहणीय मानते थे जो आदर्शोन्मुख हो। इसी कारण आलोचकों ने उन्हें 'आदर्शोन्मुख यथार्थवादी' कहा है। उनका कहना था कि—"यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है" यह कथन ठीक भी है। केवल यथार्थ के चित्रण से हम यही समझने लगते हैं कि यदि संसार इतना बुरा है तो इसमें रहना व्यर्थ है। इसलिए यथार्थ के साथ आदर्श के प्रति कलात्मक सकेत अवश्य होना चाहिए। कम से कम हमें यह तो मालूम हो कि क्या करने से हम संसार की वर्तमान दशा को बदल सकेंगे। आज प्रगतिवाद, जो यथार्थवाद का ही दूसरा रूप माना जाता है, हमें एक ऐसे संसार के निर्माण की प्रेरणा दे रहा है जो सब प्रकार से सम्पन्न और सुखदायक होगा। परन्तु प्रगतिवादी कल्पना स्वर्ग की कल्पना नहीं है। यह वास्तविकता पर आधारित है। अतः आदर्श का समन्वय आवश्यक है। प्रसाद जीवन की अभिव्यक्ति को यथार्थवाद और "अभावों की पूर्ति" को आदर्शवाद कहते थे। उनका 'कङ्काल' यथार्थवाद का उदाहरण है और 'तितली' आदर्शवाद का।

आदर्शवाद के अनेक गुण हैं जिनमें चुनाव, पूर्णता, सामंजस्य, सुव्यवस्था, परिष्कार, औचित्य एवं भूत, भविष्य और अव्यक्त की ओर झुकाव रहता है। प्रत्येक देश की परिस्थितियाँ अपना आदर्श स्वयं गढ़ लेती हैं। संसार के सम्पूर्ण देशों का साहित्य प्रमाण है। प्राचीन काल में यूनान, रोम-फारस और भारतीय साहित्य में वीर भावों का प्राधान्य था। यही वीरता हमारा आदर्श थी। सम्पूर्ण प्राचीन महाकाव्य में यही आदर्श मिलता है। महाभारत और रामचरितमानस में अनेक आदर्शों का समन्वय है। इन आदर्शों से जनता को प्रेरणा मिलती है। प्रत्येक व्यक्ति राम बनना चाहता है और

प्रत्येक नारी सीता। इतना सबकुछ होते हुए भी कभी-कभी आदर्शों को बलपूर्वक उपदेश के रूप में हमारे ऊपर थोपा जाता है। कहने वाला या लिखने वाला यह समझता है कि सम्पूर्ण बुद्धि का ठेका लेकर केवल मैं ही आया हूँ अतः बाकी सबको मेरी बात माननी ही चाहिए। ऐसे व्यक्ति में धार्मिक संकीर्णता, दम्भ, अहंकार, उपदेश देने की प्रवृत्ति प्रधान रूप से पाई जाती है। वह कहता है कि मैं कहता हूँ इसलिए तुम्हें मेरे कहने के अनुसार रहना चाहिए। उसके वाक्य दूसरों को आदर्श मानने चाहिएँ। परन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसे व्यक्ति का साहित्य हमारे वास्तविक जीवन से पूर्णतः पृथक और कल्पित होता है। उसे हम अदार्श रूप में कभी भी ग्रहण नहीं कर सकते। यदि हम उसकी मानसिक गुलामी स्वीकार कर लें तो हमारा यह जीवन निष्क्रिय होकर व्यर्थ हो जायगा। अतः ऐसे आदर्शवाद को दूर से ही हाथ जोड़ देने में भलाई है। हमारे लिए वही आदर्शवाद ग्राह्य हो सकता है जिसकी नींव यथार्थ पर खड़ी होगी, अन्यथा नहीं।

यथार्थवाद के भी अपने गुण दोष हैं। इसमें यथार्थता, स्वाभाविकता, सरलता, स्पष्टता, मूर्तता और वर्तमान जीवन से प्रेम रहता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इनकी पूर्ति के लिए नग्न चित्रण का ही आश्रय लिया जाय। उसमें थोड़ी बहुत कल्पना का पुट आवश्यक है। कल्पना के अभाव में यह नीरस, अश्लील और अशान्ति का पोषक होकर पूर्णता अथवा औचित्य का विरोध करने लगेगा। यथार्थ में सत्य का स्वरूप अवश्य रहता है, परन्तु कटु सत्य बहुधा भलाई में सहायक नहीं होता। यथार्थवाद से हमें केवल वस्तुस्थिति की वास्तविक दशा का ज्यों का त्यों ज्ञान होता है, न कुछ अधिक न कुछ कम। इसमें जीवन का प्रत्यक्ष सत्य होता है। समाज की आर्थिक विषमता, शोषकों के अत्याचार, दासता, करुणा, क्षोभ-विक्षोभ सबका प्रभावक-संशोधक चित्र होता है, जैसे—

> **"श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं।**
> **माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।"**

संक्षेप में यथार्थवाद के गुण और दोष निम्नलिखित हैं–

गुण—१ —जीवन के प्रति यथार्थ, स्वाभाविक एवं वास्तविक दृष्टिकोण

२—समाज की व्यवस्था की शक्तिशालिनी प्रतिक्रिया, ३—वर्णन में वस्तुओं की यथार्थता पर अधिक बल एवं स्पष्टता, ४—आदर्श की प्राप्ति के लिए प्रयत्न ।

दोष—१—यथार्थवाद का दुष्प्रयोग, २—जीवन के हेय और अश्लील पक्ष का चित्रण, ३—गन्दे समाज द्वारा निषिद्ध घोषित विषयों का अनुराग पूर्वक चित्रण, ४—अर्थ गाम्भीर्य या चमत्कार का अभाव ।

आदर्शवाद के भी अपने गुण दोष हैं । आदर्शवाद की संक्षिप्ततम व्याख्या करते हुए एक आलोचक ने लिखा है कि—"आदर्शवाद आदिकाल से सामाजिक जीवन को मान्यताओं के निर्धारित स्वरूप का समावेश कराके उस पर दूसरों के चलने के लिए मार्ग प्रस्तुत करता है । आदर्शवादी पहले से ही एक निश्चित रेखा को अपनाकर चलता है और यदि उसमें सामयिक कठिनाइयाँ सम्मुख आती है तो उनसे संघर्ष करने की अपेक्षा वह आत्म-समर्पण कर देता है क्योंकि उसका ज्ञान दूसरों के जीवन के अनुभव पर अवलम्बित है । आदर्शवाद के गुण और दोष निम्नलिखित हैं—

गुण—१—भविष्य और अव्यक्त की ओर झुकाव, २—सामन्जस्य, सुव्यवस्था, पूर्णता की ओर संकेत, ३—मार्गदर्शक, ४—जीवनोपयोगी सिद्धान्तों का प्रतिपादन, ५—दृढ़ता की देन ।

दोष—१—पुरानी परिपाटी का अनुसरण, २—वर्तमान जीवन से सम्बन्ध-विच्छेद, ३—अस्वाभाविकता से परिपूर्ण, ४—धार्मिक संकीर्णता का समावेश, ५—स्वतंत्रता की बद्धता ।

उपर्युक्त गुण, दोषों एवं विशेषताओं के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि साहित्य की पूर्णता के लिए इन दोनों वादों का सन्तुलित समन्वय अत्यन्त आवश्यक है । एक ही साहित्यकार आदर्शवादी और यथार्थवादी दोनों ही हो सकता है । किसी भी सफल कलाकार को दोनों ही वादों को लेकर चलना आवश्यक है क्योंकि साहित्य यदि कोरे आदर्शवाद को लेकर चलता है तो लोक का उस पर विश्वास नहीं जमता, वह केवल स्वप्नलोक या स्वर्ग की बात हो जाती है, मनुष्य उस तक पहुँचने के लिए अपने को समर्थ नहीं पाता है । अतः उसकी आशा छोड़ बैठता है । इसी प्रकार यदि कोई

साहित्यकार कोरे यथार्थवाद का ही चित्रण करता है, तो मनुष्य के संकल्प और उन्नति की प्रवृत्ति तथा सद्‌भावना को प्रेरणा नहीं मिलती। उसकी आत्मा को सन्तोष नहीं प्राप्त होता और समाज की अनेक समस्याओं का समाधान भी नहीं होता। अतः वह लोक का अधिक कल्याण नहीं कर सकता। इसलिए आवश्यक यही है कि साहित्य आदर्श और यथार्थ दोनों को अपनाकर चले उसका भवन यथार्थ की नींव पर खड़ा हो पर उसके विकास, प्रस्तार और ऊँचाई के लिए आदर्शवाद का विस्तृत और उन्मुक्त आकाश रहे। ऐसा साहित्य ही सर्वजन सुलभ, सर्वमान्य, सर्वहितकारी हो सकता है।

४—हिन्दी काव्य में भ्रमर गीत की परम्परा

'भ्रमरगीत' प्रधानतः उपालम्भ काव्य है जिसके मूल में विप्रलम्भ शृङ्गार की भावना मुख्य रही है। कृष्ण जब ब्रज में गोपियों के साथ रासलीला रचाकर मथुरा चले जाते हैं तो गोपियाँ उनके विरह में अहर्निशि दग्ध होती रहती हैं। कृष्ण को इतना अवकाश नहीं मिल पाता कि वे गोकुल जाकर गोपियों की उस विरह वेदना को शान्त कर सकें। अतः वे उद्धव को अपना दूत बनाकर गोकुल भेजते हैं ताकि वे वहाँ जाकर उनके माता-पिता तथा गोपियों की कुशलक्षेम ज्ञात कर सकें और कृष्ण का सन्देश जाकर उन तक पहुँचा सकें। कृष्ण के आदेशानुसार उद्धव गोकुल अथवा ब्रज जाते हैं और वहाँ उनका और गोपियों का जो वार्तालाप होता है वह साहित्य में 'भ्रमरगीत' के नाम से प्रसिद्ध है।

'भागवत' के गोपी-उद्धव सम्वाद के मध्य कहीं से उड़ता हुआ एक भ्रमर आता है और एक गोपी के पैर पर बैठ जाता है। बस गोपियाँ उद्धव का पीछा छोड़कर तुरन्त उस भ्रमर पर फट पड़ती हैं क्योंकि पुरुष एवं भ्रमर की वृत्तियाँ प्रायः एक सी ही होती हैं। भागवतकार की इस मौलिक उद्‌भावना का अनुगमन सूर से लेकर आधुनिक काल तक के कविगण करते चले आए हैं। इसी कारण इस प्रसंग का नाम भ्रमरगीत पड़ा है।

भ्रमरगीत का उद्देश्य—परन्तु इसी सम्बन्ध में एक शंका और उठती है। 'भ्रमरगीत' प्रसंग को लेकर शोध करने वाले विद्वानों ने इस परम्परा का विकास दिखाते हुए अनेक ऐसे कवियों एवं उनके काव्य का उल्लेख किया है

जिसमें गोपी-उद्धव वार्तालाप अथवा भ्रमर का कहीं स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं आया है; फिर भी उनकी गणना 'भ्रमरगीत' के अन्तर्गत की गई है। हम पहले कह आए हैं कि 'भ्रमरगीत' उपालम्भ काव्य है। अतः साहित्य-शोधकों को जहाँ कहीं भी कृष्ण एवं गोपियाँ सम्बन्धी उपालम्भ का वर्णन मिला है उसे उन्होंने 'भ्रमरगीत' की ही संज्ञा प्रदान कर उसकी गणना इसी परम्परा में की है। अतः हम कृष्ण-गोपियों सम्बन्धी सम्पूर्ण उपालाम्भ काव्य को 'भ्रमरगीत' मान सकते हैं।

'भ्रमरगीत' की खोज करने से पूर्व इस प्रसङ्ग के मूल उद्देश्य का ज्ञान प्राप्त कर लेना भी आवश्यक है क्योंकि इसके मूल उद्देश्य में समयानुसार परिवर्तन होता आया है। भागवतकार का जो उद्देश्य था वह सूर का नहीं रहा और सूर का जो उद्देश्य था वह वर्तमान काल के 'हरिऔध' आदि का नहीं था। समष्टि रूप में 'भ्रमरगीत' का मूल उद्देश्य यह माना गया है :—"**ज्ञान पर प्रेम की, मस्तिष्क पर हृदय की विजय दिखाकर निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना की अपेक्षा सगुण साकार ब्रह्म की भक्ति भावना की श्रेष्ठता का प्रतिष्ठापन।**"[1] परन्तु उक्त मूल उद्देश्य सूर एवं उनके कतिपय समकालीन तथा परवर्ती कवियों का ही रहा है, 'भ्रमरगीत' के जनक भागवतकार का नहीं।

इस भिन्नता को स्पष्ट करने के लिए भागवतकार के मूल उद्देश्य का विवेचन आवश्यक है। भागवतकार के अनुसार कृष्ण उद्धव को ब्रज जाने के लिए प्रेरित करते हैं। इस प्रेरणा देने में कृष्ण के दो उद्देश्य हैं—

१—माता-पिता की कुशलक्षेम ज्ञात कर उन्हें प्रसन्न एवं सन्तुष्ट, करना, तथा

२—गोपियों की विरह व्यथा को दूर कर उन्हें सान्त्वना प्रदान करना। यहाँ उद्धव सूर के उद्धव के समान गोपियों को योगमार्ग अथवा ज्ञान का उपदेश देने नहीं जाते। न उन्हें अपने 'ज्ञान' का ही गर्व है। परन्तु उक्त दोनों उद्देश्य व्यावहारिक है तथा लोकाचार से सम्बन्धित हैं। आन्तरिक उद्देश्य कुछ दूसरा ही था। उद्धव नन्द यशोदा के सम्मुख पहले ईश्वर के रूप की

१—हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा—डा० स्नेहलता श्रीवास्तव।

व्याख्या करते हुए उसके निराकार स्वरूप की स्थापना करते हैं और अन्त में कहते हैं कि—"साधुओं की रक्षा और केवल क्रीड़ा के लिए ही वे उत्तम, अधम और मिश्र योनियों में शरीर धारण करते हैं।" परन्तु दार्शनिक दृष्टि से कृष्ण निराकार ही रहते हैं।

गोपी-उद्धव संवाद चल रहा है। गोपियाँ कृष्ण की कुशल-क्षेम पूछकर उद्धव को उपालम्भ देती हुई वेदना से व्याकुल होकर रो पड़ती हैं। इतने में ही एक भ्रमर आकर एक गोपी के चरणों पर बैठ जाता है। बस, वह गोपी उस भ्रमर को लक्ष्यकर पुरुष द्वारा प्रेम के क्षेत्र में किए गए विश्वासघात की भर्त्सना करना प्रारम्भ कर देती है। वह कहती है—

> **विसृज शिरसि पाद वेदम्यह चाटुकारै—**
> **रनुनय विदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्ययैर्मुकुन्दात्।**
> **स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्य लोका**
> **व्यसृजद कृत चेता किं नु सन्धेयमस्मिन् ?**

अर्थात्, हे भ्रमर ! तू मेरे चरणों पर से अपना सिर हटा ले। मैं जानती हूँ कि तू (यह क्रिया) कृष्ण से सीख कर आया है और चाटुकार वृत्ति द्वारा खुशामद करने मे अत्यन्त निपुण है। किन्तु जिस अकृतज्ञ ने हम अवलाओं को, जिन्होंने उसके लिए अपने पति, पुत्र और समस्त लोक को त्याग दिया था, इस प्रकार त्याग दिया, क्या फिर भी उसका विश्वास किया जा सकता है ?

भागवत के उद्धव यह सुनते ही सूर के उद्धव के समान गोपियों को ज्ञान और निर्गुण का उपदेश देना प्रारम्भ नहीं कर देते और न वे यह कहते हैं कि गोपियाँ कृष्ण से प्रेम करके गलती कर रही हैं। गोपियों की इस दृढ़ भक्ति को देखकर उद्धव का मस्तिष्क गोपियों के प्रति श्रद्धा से नत हो जाता है और वे उनकी प्रशंसा करते हुए कह उठते हैं—"अहो यूयं स्म पूर्णार्थी भवत्यो लोक-पूजिताः" अर्थात् 'हे गोपियो ! तुम कृतार्थ हो, तुम पूजनीय हो।' क्योंकि—"वासुदेव भगवति पासामित्यर्पित मनः" अर्थात् तुम्हारा मन वासुदेव में इस प्रकार लवलीन है।"

भागवत के उपर्युक्त उद्धरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि भागवतकार का भ्रमरगीत की रचना में ज्ञान व भक्ति का द्वन्द्व दिखाने का उद्देश्य नहीं

था। वहाँ तो ज्ञान, कर्म एवं भक्ति में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न लक्षित होता है। भागवतकार के अनुसार कृष्ण का व्रज त्याग गोपियों के प्रेम की दृढ़ता को और भी गहन एवं गम्भीर बनाने के लिए था। वे जानबूझ कर मथुरा गये थे। उद्धव कृष्ण के इसी सन्देश को गोपियों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं—"हे गोपियो! तुम्हारे नेत्रों का तारा होकर भी जो मैं तुम से दूर चला आया हूँ उसका उद्देश्य यही है कि तुम निरन्तर मेरा ध्यान करती रहो। शरीर दूर रहने पर भी तुम्हारा मन मेरे ही पास रहे क्योंकि स्त्रियों एवं प्रेमियों का मन जिस दृढ़ता एवं एकाग्रता के साथ परदेश गए हुए प्रियतम में रमा रहता है वैसा आँखों के सामने रहने पर नहीं रहता।"

इससे तो यही स्पष्ट होता है कि कृष्ण गोपियों को एकान्तिक भक्ति की 'चित्त साधना' सिखाना चाहते थे और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए विदेश चले गये थे। 'ईश्वर से प्रेम' की बात तो सूर भी कहते हैं परन्तु वहाँ निर्गुण, सगुण एवं कृच्छ साधना तथा ज्ञान और भक्ति का भयंकर परन्तु रोचक विवाद उठ खड़ा हुआ है जिसमें काव्य-चमत्कार एवं सरसता की पर्याप्त सृष्टि हुई है। संक्षेप में भागवतकार एवं सूर का मूल उद्देश्य एक ही ज्ञात होता है परन्तु इस उद्देश्य को प्राप्त करने के मार्ग दोनों के भिन्न भिन्न रहे हैं और यही भिन्नता सूर की मौलिकता का प्रमाण है।

भ्रमरगीत के प्रतिष्ठापक सूर—सूर की इस भिन्नता एवं मौलिकता की पृष्ठभूमि में सूरकालीन वे ऐतिहासिक परिस्थितियाँ कार्य कर रहीं थीं जो सम्भवत भागवतः की रचना के समय नहीं थीं। अद्वैतवादी शंकर के उपरान्त वाममार्गियों, तथाकथित योगियों—नाथपंथियों, कापालिकों, अघोरियों—आदि के ऐसे सम्प्रदाय उठ खड़े हुए थे जो योगमार्गी कृच्छ साधनाओं द्वारा ब्रह्म-प्राप्ति का उपदेश देते फिरते थे। पंचमकारों की उपासना ने इनकी साधना पद्धति को अत्यन्त विकृत एवं गर्हित रूप प्रदान कर दिया था। सूर के समय में इनका समाज में प्राबल्य था। और यदि इनका विरोध न किया जाता तो सम्पूर्ण भारतीय समाज दुराचार एवं अनैतिकता के गर्त में समा कर रसातल को चला जाता। ऐसी स्थिति में समाज की रक्षा करने के लिए हमारे भक्त कवि उद्धारक रूप में सामने आए थे। तुलसी तथा सूर ने इसी कारण इन

योग-मार्गियों का घोर विरोध कर सगुण भक्ति का प्रचार किया था। अतः भागवतकार की मौलिक स्थापनाओं तथा सूर की उपासना पद्धति में कोई मूलभूत अन्तर न होकर केवल प्रकार का अन्तर था।

हम ऊपर 'भ्रमरगीत' का संक्षिप्त परिचय, उसका अभिप्राय, उद्देश्य, भागवत्कार एवं सूर कवि आदि के दृष्टिकोणों का विवेचन कर आए हैं। अब हम प्रारम्भ से लेकर आधुनिक काल तक के भ्रमरगीत प्रसंगों का संक्षिप्त इतिहास एवं उनकी विवेचना प्रस्तुत करेंगे।

'भ्रमरगीत' का उद्‌गम स्थान श्रीमद्‌भागवत के दशम स्कन्ध के ४६ वें तथा ४७ वें अध्यायों को माना जाता है। ४६ वें अध्याय में उद्धव की ब्रज-यात्रा और उनका नन्द-यशोदा के साथ वार्तालाप है। ४७ वें अध्याय में गोपियों और उद्धव का कथोपकथन है। यह कथोपकथन ४७ वें अध्याय के १२ से लेकर २१ तक के १० श्लोकों में समाप्त हो गया है। यह तो हुई संस्कृत-साहित्य की बात। हिन्दी में 'भ्रमरगीत' के सर्वप्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ कवि सूरदास हुए है। इसलिए हिन्दी में इस परम्परा का विकास सूरदास के भ्रमरगीत से ही मानना पड़ेगा। सूर प्रणीत 'सूरसागर' में तीन 'भ्रमरगीत' मिलते हैं जिनमें से प्रथम दो अत्यन्त संक्षिप्त हैं तथा अन्तिम विस्तृत है। प्रथम 'भ्रमरगीत' भागवत का अनुवाद मात्र प्रतीत होता हैं। यह चौपाई छन्द में लिखा गया है। इससे केवल यही ज्ञात होता है कि सूर का दृष्टिकोण भागवतकार के दृष्टिकोण से तनिक भिन्न था। दूसरा 'भ्रमरगीत' पदों में रचा गया है। प्रथम तथा इस द्वितीय 'भ्रमरगीत' में भ्रमर के आने का उल्लेख स्पष्ट रूप से नहीं किया गया है। तीसरा 'भ्रमरगीत' अत्यन्त विस्तृत है। इसमें लगभग चार सौ पद हैं और काव्यत्व की दृष्टि से यह हिन्दी की अद्वितीय रचना मानी जाती है। इस भ्रमरगीत में पहली बार सूर के भक्ति विषयक विचार स्पष्ट होते हैं। सूर रचित संक्षिप्त भ्रमरगीत में वर्णित गोपियों में नन्ददास की गोपियों के समान तर्क का आवेश अधिक है; परन्तु विस्तृत 'भ्रमरगीत' में सूर ने तर्कों को अप्रत्यक्ष रूप से ही अधिक व्यक्त किया है।

सूर के कृष्ण उद्धव को ब्रज इसलिए भेजते हैं कि ज्ञानमार्गी उद्धव गोपियों की अनन्य भक्ति को देखकर अपने ज्ञानमार्ग की निस्सारता का ज्ञान प्राप्त कर

सकें और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से ज्ञान पर भक्ति की विजय दिखाई जा सके। सूर का निम्न पद इस स्पष्ट उद्देश्य के प्रमाण में द्रष्टव्य है—

जदुपति जानि उद्धव रीति।
विरह दुख जहँ नाहिं जानत नाहिं उपजत प्रेम।
रेख रूप न बरन जाके यह धरयो वह नेम॥
त्रिगुण तन कर लखत हमकों, ब्रह्म मानत और।
बिना गुण क्यों पुहुमि उघरै यह कर मन ठौर॥
विरह रस के मंत्र कहिए क्यों चलै संसार।
कछु कहत यह एक प्रगटत, अति भर्‌यौ हंकार॥
प्रेम भजन न नेकु जाके, जाय क्यों समुझाय।
सूर प्रभु मन यहै आनी, ब्रजहि देहु पठाय॥

गुणहीन ब्रह्म केवल भावना की उपज है अर्थात् वह जनता के किसी काम नहीं आ सकता। हमारे क्रियात्मक जीवन में उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती है। इसी तथ्य की पुष्टि और स्पष्टीकरण के लिए सूर ने भ्रमरगीत की अवतारणा की थी।

ज्ञानगर्व में डूबे हुए उद्धव तुरन्त ब्रज को चल देते हैं और वहाँ पहुँच कर योग का उपदेश देते हुए भक्ति की हीनता का बखान करने लगते हैं। एकांतिक भक्ति की उपासिका गोपियों को उद्धव का यह उपदेश जहर बुझे हुए तीर के समान लगता है। वे विरह व्यथा से और भी अधिक व्याकुल हो जाती हैं और फिर सम्हल कर जो उद्धव के ज्ञान मार्ग पर अपनी सरल एवं भोली-भाली परन्तु सशक्त उक्तियों से आक्रमण करने लगती हैं तो उद्धव अपने उपदेश को भूलकर किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो उठते हैं।

गोपियाँ उद्धव के तर्कों को काटती हुई मीठी चुटकियाँ लेती हैं—

"उद्धव जोग बिसरि जनि जाहे।
बाँधउ गाँठि कहूं जनि छूटै, फिर पाछे पछिताहु॥"

यह तुम्हारा योग तो—"ब्रज वासिनि के नहिं काम को" क्योंकि तुम्हारे से ब्रह्म का कुछ अता-पता तो है नहीं—

"निर्गुन कौन देश को बासी,
मधुकर हँसि समुझाउ सौहँ दे बूझत साँच न हाँसी।"

अन्त में उद्धव इन भोली-भाली उक्तियों के सम्मुख परास्त हो जाते हैं और अपने ज्ञान को भूलकर कृष्ण के गुण गाने लगते हैं—

"सुन गोपिन को प्रेम नेम ऊधौ को भूल्यौ।
गावत गुन गोपाल फिरत कुंजन में फूल्यौ।।"

सूर का उद्देश्य सिद्ध हो जाता है। ज्ञान पर भक्ति की, मस्तिष्क पर हृदय की, निर्गुण पर सगुण की विजय हो जाती है। और यही सूर चाहते थे।

अष्टछाप के लगभग अन्य सभी कवियों ने किसी न किसी रूप में 'भ्रमर-गीत' प्रसङ्ग को लेकर रचनायें की हैं। आराध्य के प्रति प्रेम की तीव्रता दिखाने का यही एकमात्र एवं सशक्त माध्यम मुक्तकाव्य के लिए उपयुक्त हो सकता था। अष्टछाप के अन्य कवियों में इस प्रसंग से सम्बन्धित रचनाओं में नन्ददास का भँवरगीत' सर्वाधिक उल्लेखनीय है। नन्ददास का 'भँवरगीत' इस प्रसङ्ग की उस न्यूनता का पूरक है जिसे सूर की कमजोरी कहा गया है। सूर की गोपियाँ जो तर्क उपस्थित करती हैं वे प्रतिपक्षी की विचार-पद्धति की 'अव्यावहारिकता' पर ही प्रहार करते हैं। और ये तर्क शास्त्र-सम्मत नहीं हैं अतः बुद्धिवादियों को उनसे पूर्ण सन्तोष नहीं हो पाता। सूर के 'भ्रमरगीत' के 'बुद्धिपक्ष' की इसी न्यूनता का पूरक नन्ददास का 'भँवरगीत' है।

नन्ददास की गोपियों का बौद्धिक स्तर सूर की गोपियों के बौद्धिक स्तर से बहुत ऊँचा है। इसी कारण उनके तर्क सूक्ष्म एवं शास्त्रीय सिद्धान्तों पर आधारित हैं। वे प्रेम के साथ-साथ तर्क और प्रमाण का आधार मान कर चलती हैं। नन्ददास अपनी गोपियों के इसी तार्किक स्तर को शास्त्र-प्रमाणित दिखाकर उद्धव के ज्ञानमार्ग का शास्त्रीय दृष्टिकोण से खंडन करना चाहते थे। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि उनकी गोपियाँ भाव-प्रवण नहीं हैं। नन्ददास के 'भँवरगीत' का आधा भाग उद्धव-गोपी-सम्वाद तथा अन्तिम आधा भाग गोपियों की विरह-दशा का चित्रण करता है। प्रथम भाग में कवि बुद्धिवादी है और अन्तिम भाग में सूर के ही समान उसमें भावुकता का

प्राधान्य है। तर्क-वितर्कों की मनोहर छटा दिखाकर अन्त में नन्ददास भी सूर के ही स्वर में बोल उठते हैं। क्योंकि ज्ञान का सम्बन्ध बुद्धि से है और भक्ति का प्रधानतः हृदय से। केवल बुद्धि द्वारा भक्ति की श्रेष्ठता प्रदर्शित करना असम्भव था। इसलिए नन्ददास को भी अन्य में भावुकता का ही आश्रय लेना पड़ा क्योंकि वे स्वयं भक्त थे।

कृष्णभक्त अन्य कवियों में परमानन्ददास, कृष्णदास अधिकारी, चतुर्भुजदास, कुम्भनदास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी आदि ने भी भ्रमरगीत प्रसंग को लेकर विभिन्न छन्दों में रचनायें की हैं। इन सबका सार भी वही रहा है जो सूर और नन्ददास का था—वही ज्ञान पर भक्ति की छाप सभी ने गोपियों के विरह-वर्णन को प्रमुखता दी है। नन्ददास की सी तर्क-पद्धति इनमें से किसी में भी नहीं मिलती। सर्वत्र भावुकता का ही प्राधान्य रहा है।

तुलसी की 'कृष्ण गीतावली' में इस प्रसंग से सम्बन्धित अनेक पद मिलते हैं जिनमें 'भ्रमर' का स्पष्ट उल्लेख न होकर उद्धव के लिए मधुकर' 'मधुप' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। सूर की भक्ति सख्य भाव की भक्ति थी इसीलिए गोपियाँ अनेक स्थलों पर लोक मर्यादा का उल्लंघन कर बैठती हैं परन्तु तुलसी दास्यभाव की भक्ति में विश्वास करने वाले थे, इसलिए उनके 'भ्रमरगीत' में सर्वत्र मर्यादा का पालन मिलता है। उनकी गोपियाँ उद्धव के ज्ञान का खंडन करती अवश्य हैं परन्तु इस खंडन में न तो सूर की गोपियों की सी प्रगलभता एवं अक्खड़ता है और न नन्ददास की सी तर्क प्रियता। इसके विपरीत यहाँ सर्वत्र अतिशय दीनता और उदारता का रुख अपनाया गया है। तुलसी की गोपियों में सर्वत्र झिझक एवं लज्जा के दर्शन होते हैं। वे सरल एवं विश्वासमयी भक्त नारियाँ हैं परन्तु अपने सिद्धान्त एवं विश्वास के प्रति उनमें सर्वत्र एक दृढ़ आस्था के दर्शन होते हैं। वे अपने प्रियतम को प्राप्त करना चाहती हैं, मुक्ति युक्ति आदि को भी वे उसी पर निछावर करने को प्रस्तुत हैं—

> **"वह अति ललित मनोहर आनन कौन जानत बिसारौं।**
> **जोग जुगुति अरु मुकुति विविध वा मुरली पर वारौं॥"**

ईर्ष्या एवं अभिलाषा की भावना इनमें नाम-मात्र की है। इस विरह वर्णन में न तो दसों विरह दशाओं का ही चित्रण हुआ है और न प्रकृति अथवा

दाम्पत्द जीवन की स्मृतियाँ ही गोपियों को विरह दग्ध करती हैं। संक्षेप में तुलसी के 'भ्रमरगीत' में गोपियों की भावुकता, दीनता, विनयशीलता, शालीनता आदि के ही दर्शन होते हैं।

उक्त कवियों में से हरिराय, रसखान, मुकुन्ददास, घासीराम, मलूकदास, आदि ने भी इस प्रसंग को लेकर पद लिखे हैं परन्तु इनमें वही पुराना पिष्ट-पेषण-मात्र है।

रीतिकाल—इनके उपरान्त रीतिकालीन कवियों का युग आता है। इन कवियों ने जिस प्रकार राधाकृष्ण को अपनी विकृत श्रृङ्गारिक उक्तियों का माध्यम बनाया था उसी प्रकार भ्रमरगीत प्रसंग को लेकर भी छीछालेदर की है। यह प्रसंग 'नायिका भेद' तथा 'अन्य संचारी' के चक्कर में पड़कर अपना सौन्दर्य एवं विशिष्टता खो बैठा है। केवल 'मधुप' अथवा 'मधुकर' जैसे शब्दों के प्रयोग को देखकर ही इनकी गणना इस प्रसंग में करनी पड़ रही है अन्यथा इसमें उक्ति-चमत्कार के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मिलता। 'भ्रमरगीत' के मूलस्वर की इनमें कहीं भी ध्वनि नहीं मिलती। इन रीतिकालीन कवियों में, भावुक कवि भी हैं जैसे रहीम, घनानन्द आदि। कुछ अलंकारवादी कवियों ने भी इस प्रसंग के प्रति अपनी रुचि प्रदर्शित की है जैसे मतिराम, देव आदि। कुछ ऐसे कवि भी इस काल में मिलते हैं जिन पर रीतिकालीन प्रभाव होते हुए भी सूर और नन्ददास की भक्ति परम्परा का प्रभाव भी उसी मात्रा में है। इन्हें समन्वयवादी कहा जा सकता है। इनमें चाचा वृन्दावनदास, ब्रजनिधि, रसनायक आदि की गणना की जा सकती है। अलंकारवादियों में पद्माकर एवं सेनापति का नाम भी उल्लेखनीय है।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त इस काल में अक्षर अनन्य, बरकतउल्ला 'प्रेमी', आलम, नागरीदास, ब्रजवासीदास आदि अनेक अन्य कवि ऐसे हुए हैं जिनके काव्य में इधर-उधर बिखरे हुए 'भ्रमरगीत' सम्बन्धी पद मिल जाते हैं। रीतिकालीन इन कवियों में उक्ति वैचित्र्य है, प्रसंगों की नवीन उद्भावनायें हैं परन्तु भक्ति की वह गहनता नहीं जो सूर के भ्रमरगीत प्रसंग के सैकड़ों पदों को एक साँस में पढ़ने या सुनने के लिये बाध्य कर देती है। इन लोगों ने भी लकीर तो वही पीटी है—ज्ञान पर भक्ति की विजय—परन्तु वह

विभोर नहीं कर पाते, अपनी नवीनता के कारण प्रभावित भले ही कर लें। स्थानाभाव के कारण उक्त कवियों की रचनाओं का सविस्तार विवरण देना असम्भव है, इसलिए उनकी संक्षिप्त विवेचना ही यथेष्ठ प्रतीत होती है।

आधुनिक काल—रीतिकाल के उपरान्त हम आधुनिक युग में आते हैं। इस युग तक आते आते परिस्थितियाँ बदल चुकी थीं। पराधीनता के प्रति विद्रोह का स्वर साहित्य में मुखरित होने लगा था। साहित्य राजदरबारों को त्यागकर जनता के दुख-दर्द के गीत गाने लगा था। इसलिए इस काल में रचित भ्रमर-गीतों का स्तर भी बदल गया। अब राधाकृष्ण और गोपियाँ देशभक्त और जनसेवक का स्मरण कर सामने आए। भक्तिकालीन तथा रीतिकालीन भावनाओं का प्रभाव था अवश्य परन्तु संयमित रूप में। आधुनिक युग के नेता के रूप में सर्वप्रथम भारतेन्दु हरिचन्द्र आते हैं। इन्होंने भ्रमरगीत प्रसङ्ग को लेकर अनेक फुटकर पद लिखे हैं जिनका स्वर प्रधानतः भक्तिकालीन ही रहा है। वही निर्गुण-सगुण का पुराना झगड़ा और अन्त में गोपियों द्वारा आत्म-समर्पण या उद्धव का हृदय परिवर्तन। इसमें उक्ति की नवीनता के अतिरिक्त एक भी अन्य नवीनता नहीं मिलती। फिर भी भारतेन्दु ने औरों की अपेक्षा इस प्रसङ्ग को अधिक सहानुभूति तथा प्रेम के साथ उठाया तथा निभाया है। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने भी इसी परम्परा के कुछ पद लिखे हैं परन्तु वे भी विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं।

सत्यनारायण ने इस युग में 'भ्रमरगीत' का नवीन एवं परिवर्तित रूप सर्वप्रथम प्रस्तुत किया। कदाचित् समस्त भ्रमरगीत पम्परा में सत्यनारायण 'कविरत्न' का 'भ्रमरदूत' ही एक ऐसी रचना है जो प्राचीन एवं रूढ़ निर्गुण सगुण, ज्ञान-भक्ति की समस्या को न उठाकर अपने समय की विषम परिस्थितियों का चित्रण करता है और इस प्रकार एक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित करता है जिसका आगे अनुकरण नहीं हो सका। कविरत्न' अपने 'भ्रमरदूत' में कई नवीताओं का समावेश करते हैं। यहाँ सन्देश मथुरा से गोकुल को न जाकर गोकुल से मथुरा को जाता है और इसको भेजने वाली कोई गोपी न होकर स्वयं यशोदा माता हैं। और इस प्रसङ्ग की सबसे बड़ी विचित्रता यह है कि यह सन्देश स्वयं कृष्ण भ्रमर का रूप धारण कर ले जाते हैं। एक बार

हिंडोलों के उत्सव पर माता यशोदा पुत्र वियोग से व्याकुल हो उठती हैं। कृष्ण अपनी माता को दुखी देखकर स्वयं भ्रमर का रूप धारण कर उनके पास आ जाते हैं—

> "विलपति कलपति अति जबै लखी जननि निज स्याम।
> भगत-भगत आए तबै भाए मन अभिराम॥
> भ्रमर के रूप में!"

माता यशोदा इस भ्रमर में तथा अपने श्याम में अनेक प्रकार का सादृश्य पाकर उसी के द्वारा अपना सन्देश भेजती हैं—"तेरो तन घनश्याम, श्याम घनश्याम उतै सुन।" इस सन्देश में माता अपने व्यक्तिगत सुख-दुख का वर्णन नहीं करतीं अपितु स्वयं भारतमाता का स्वरूप धारण कर अपने देश की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का मार्मिक वर्णन करती है। यहाँ सभ्यता का अभिशाप, प्रवासियों की समस्या, स्त्री-शिक्षा, स्त्रियों पर शैशव का प्रभाव, भारतीयों की दुर्दशा आदि के बड़े मार्मिक वर्णन साहित्य में प्रस्तुत किये गये हैं। यह एक नवीनता थी जो इससे पूर्व कहीं भी नहीं मिलती। इस सम्पूर्ण वर्णन में भाव-सौन्दर्य के साथ-साथ भाषा में सङ्गीत एवं सौन्दर्य का पर्याप्त सन्तुलन मिलता है।

"**हरिऔध**' के 'भ्रमरगीत' का स्वरूप भी इसी प्रकार की नवीनता लिये हुये है। यहाँ आकर कृष्ण का माखन चुराने वाला तथा विलासी रूप एक समाज सुधारक का रूप धारण कर लेता है। वियोग की भावनाओं में भी अन्तर आ जाता है। यहाँ गोपियाँ कृष्ण के केवल उन लोकोपकारी कार्यों की याद करती हैं जो कृष्ण ने अपने ब्रज-निवासकाल में किए थे। 'प्रियप्रवास' की राधा का रूप केवल शृङ्गार और वासना को ही लेकर नहीं चला है। इसमें राधा एक स्वदेशानुरागिनी नायिका के रूप में आती है जिसने विश्व के दुख के साथ अपना दुख मिला दिया है। राधा स्पष्ट कहती है—

> "मैं ऐसी हूँ न निज दुख से कष्टिता शोक-मग्ना।
> हा! जैसी हूँ व्यथित ब्रज के वासियों के दुखों से॥"

यहाँ उद्धव भी ज्ञान का उपदेश न देकर लोक-सेवा की प्रेरणा देने जाते हैं। कृष्ण भी लोकसेवा में रत हैं। इसलिए उद्धव गोपियों से कहते हैं कि

कृष्ण को प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग लोकसेवा है। इसमें वियोग वर्णन है अवश्य परन्तु उसका स्वरूप लोकसेवा की भावना से ही ओतप्रोत रहा है। यह नवीनता तो अवश्य है परन्तु ऐसी नवीनता है जिसने माधुर्य, तन्मयता एवं सरसता का गला घोंट दिया है।

मैथिलीशरण गुप्त ने भी 'द्वापर' में भ्रमरगीत प्रसंग पर कलम चलाई है। इन्होंने केवल एक मौलिकता दिखाई है और वह यह कि यहाँ भ्रमर न आकर एक विहंग उड़ता हुआ आ जाता है और गोपियाँ उसी विहंग को लक्ष्य कर उद्धव को उपालम्भ सुनाने लगती हैं। गुप्त जी रामभक्त हैं इसलिए तुलसी की गोपियों के समान इनकी गोपियाँ भी पूर्ण पवित्र हैं—केवल कहीं-कहीं वाग्विदग्धता अवश्य दिखा जाती हैं।

रत्नाकर इसके उपरान्त 'उद्धव शतक' के रचयिता के रूप में आते हैं। रत्नाकर में भक्तिकाल एवं रीतिकाल का विचित्र समन्वय हुआ है। 'उद्धव शतक' इसका सबसे प्रबल प्रमाण है। उनमें भक्ति की गहनता और तन्मयता भी है और साथ ही रीतिकालीन वाग्वैदग्ध्य भी। उनमें जहाँ एक ओर सूर के हृदय की बेबसी है वहाँ दूसरी ओर नन्ददास का तर्क और परिहास भी है। यहाँ गोपियाँ प्राचीन स्मृति के आधार पर ही कृष्ण के जीवन के तुलनात्मक चित्रण उपस्थित करती हैं। साथ ही वे यह भी मान लेती हैं कि 'कान्ह' और 'ब्रह्म' वास्तव में एक ही हैं परन्तु एक भक्त हृदय अद्वैत की भावना को कैसे स्वीकार कर सकता है। वह प्रेम के लिए द्वैत का व्यवधान चाहता है। इस लिए 'उद्धव शतक' की गोपियाँ द्वैतता के इस सम्बन्ध को शाश्वत बनाये रखने के लिए उत्सुक हैं। वे मुक्ति भी नहीं चाहतीं। रूप-रङ्ग हीन भावना में आसक्ति भी सम्भव नहीं। 'रत्नाकर' के वर्णन में व्यंग्य के साथ-साथ मार्मिकता यथेष्ठ मात्रा में है। उन्होंने हृदय के उन कोमल भावों का, जिनके सामने तर्क नहीं चलता, चित्र खींचा है। कृष्ण की स्मृति, गोपियों की दशा, उद्धव के उपदेश तथा गोपियों पर हुई उसकी प्रतिक्रिया के चित्र अत्यन्त मार्मिक एवं मनोरम हैं। गोपियों के 'नन्दलाल' ब्रह्म और मुक्ति से भी श्रेष्ठ हैं। उनकी प्राप्ति के लिये वे 'सबै सांसत' सहने के लिए प्रस्तुत हैं। परन्तु उन्हें यह

विश्वास हो जाना चाहिये कि ऐसा करने से वे अपने प्रियतम को प्राप्त कर सकेंगी—

"सहि हैं तिहारे कहे सांसति सबै पै बसि,
एती कहि देउ कन्हैया मिलि जायगो।"

परिणामस्वरूप उद्धव अन्त में निर्गुण और ज्ञान का सन्देश भल कर, प्रेमरस में थके हुए लौटते हैं, जिनके—

"एक कर राजे नवनीत जसुदा को दियो,
एक कर वंशी वर राधिका पठाई है।"

'रत्नाकर' के इस भ्रमरगीत का अपना महत्व है। इसमें भागवत, सूर, नन्ददास की परम्परा का पालन किया गया है जो नवीनता के पुट से और भी मनोरम बन गया है। परन्तु एक बात है। इसमें नन्ददास के तर्कों का तो मजा आ जाता है परन्तु सूर की सी तन्मयता एवं विभोरता सर्वत्र नहीं मिल पाती। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कृष्ण और गोपियों में तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा की गई है, जो इस परम्परा को रत्नाकर की एक मौलिका देन है।

वर्तमान काल में उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त अन्य अनेक कवियों ने भी इस प्रसंग को लेकर काव्य रचना की है। इनमें डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' (उद्धव शतक) द्वारिकाप्रसाद मिश्र (कृष्णायन) आदि कवियों के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार 'भ्रमरगीत' की परम्परा भागवत से लेकर अद्यावधि अबाध रूप से चली आई है, जिसमें 'हाटक' भी है और 'फाटक' भी अर्थात् अच्छा भी है और बुरा भी। समय के अनुसार इसके मूल उद्देश्य में भी किंचित परिवर्तन होता ही रहा है। यह प्रसंग प्रत्येक युग के कवियों को अपनी ओर आकर्षित करता रहा है। इसी कारण इसमें इतनी समृद्धि, इतना निखार, इतनी मार्मिकता एवं इतनी हृदयस्पर्शिता का समावेश होता आया है जो अन्य काव्य परम्पराओं में दुर्लभ ही है।

५—हिन्दी में गीतिकाव्य की परम्परा

आदिकाल से वेदना एवं उल्लास के अतिरेक से मानव की हृत्तन्त्री स्पन्दित

होकर जो स्वर विधान करती है, वह गीति काव्य की संज्ञा प्राप्त करता है। हर्ष-विषाद, सुख-दुख, प्रसन्नता-पीड़ा तथा मिलन-वियोग का उल्लास एवं वेदना जब हृदय की सहन-शक्ति की सीमा का उल्लंघन कर जाती है, तो उसका प्रस्फुटन या तो आनन्द के मुक्ताकणों या व्यथा के अश्रुओं या गीतिमय स्वर लहरी के रूप में होता है। यदि ऐसा न हो तो हृदय विदीर्ण हो जाय, उसकी गति बन्द हो जाय और मानव उसकी अभिव्यक्ति की शक्ति को सदा के लिए खो बैठे। अतः गीत या गीति काव्य उसके हृदय को हर्ष एवं विषाद के क्षणों में ऐसी क्षमता प्रदान करता है, जिससे वह अन्य मानवों को समान भागी बना कर हलका हो जाता है। गीति का उद्‌गार स्वाभाविक है। आवेगों एवं मनोवेगों की तीव्रता स्वतः ही गीति के रूप में प्रवाहित होकर मानस लहरी को कंठ के द्वारा अधरों पर थिरकाने लगती है। यही काव्य का भी मूल है। आदि कवि की वाणी से छन्दमय जो स्वर लहरी निकली थी वह आदि गीति काव्य ही थी। विलास क्रीड़ा में रत क्रौञ्च मिथुन में से व्याध द्वारा एक क्रौंच पक्षी का बध होने पर दूसरे की आर्तवाणी को सुनकर तपस्पूत मुनि के कोमल हृदय में करुणा का जो उद्दाम उद्रेक हुआ, वह इन शब्दों में अभिव्यक्त हुआ :—

"मा निषाद, प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वती समाः,
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काम मोहितम् ॥"

क्रौञ्चमिथुन के असीम आनन्द के असीम व्यथा में परिणत होने पर ही अनुष्ठुप छन्द में बद्ध यह अभिव्यक्ति हुई, जिसमें गीति काव्य के सभी तत्व समाहित हैं। इससे सिद्ध हो जाता है कि गीति का जन्म या तो वेदना की मनोभूमि में होता है या उल्लास के क्षणों में। कविवर पन्त ने भी काव्य के मुखर होने के सम्बन्ध में ऐसी ही कल्पना की है :—

"वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान॥"

'आह' से प्रसूत गान भी श्रोता के हृदय को अभिभूत करने में समर्थ होता है, इसमें सन्देह नहीं। यही गीति काव्य के जन्म की कहानी है।

गीति प्रयत्न का परिणाम नहीं, अपितु हृदय के स्वाभाविक उद्रेक का प्रतिफलन है। अतः उसमें वैयक्तिकता का, एकान्तिकता का भाव पाया जाता है। किन्तु मानव के सुख-दुख, भाव एवं आवेग प्रकट होकर मानव-मात्र के हो जाते हैं। इसी कारण उनमें सभी के हृदय को आन्दोलित करने की क्षमता होती है। विशेषतः लोक गीत तो जन समाज के सुख-दुख, आशा-निराशा, घृणा-प्रेम, व्यथा-उल्लास तथा संयोग-वियोग के भावों का प्रति-बिम्ब होते हैं। उनमें जहाँ जीवन के मादक उल्लास की मनमोहक व्यंजना होती है वहाँ जीवन की विषम घड़ियों में प्रवाहित अश्रु-धार भी छलकती है। इसी से प्रत्येक समाज में, प्रत्येक जाति में वहाँ की जनभाषा में लोकगीत पाए जाते हैं और जीवन के प्रत्येक अंग का उनसे गहनतम सम्बन्ध होता है। हिन्दी की विभिन्न उप भाषाओं और बोलियों में लोक-गीतों की मधुर तान सुनाई देती है। किन्तु इस निबन्ध में उनकी विवेचना करना समीचीन न होगा। यहाँ मेरा उद्देश्य हिन्दी के साहित्यिक गीति काव्य की झाँकी प्रस्तुत करना है।

हिन्दी-साहित्य-शिशु का जन्म वीरों की चमचमाती कृपाणों के बीच युद्ध-स्थल में हुआ था, जहाँ वह वीरों की हुँकारों, रण दुन्दुभियों के नादों, शस्त्रों की झनकारों, अश्वों के हीसारवों; गजों की दहाड़ों के साथ चारणों एवं कवियों के कण्ठों से वीर गीतों के रूप में अवतरित हुआ। उसकी तुत-लाहट में भी वीर दर्प भरा हुआ था। उत्साह जनित उल्लास की व्यंजना तत्कालीन गीति साहित्य में हुई है। चारणों ने रणबाँकुरों के शौर्य, परा-क्रम एवं प्रताप के अत्युक्तिपूर्ण वर्णनों से अपनी वाणी को मुखर किया। तत्कालीन राजस्थानी साहित्य वीर गीतों से भरा पड़ा है, जिसमें वीर महि-लाओं तक के उत्साह एवं उमंग पूर्ण उद्‌गार प्रकट किए गए हैं। हिन्दी के उपलब्ध लिखित साहित्य में 'बीसलदेव रासौ' वीर गीत के रूप में ही है। जगनिक का आल्ह खंड तो इतना प्रसिद्ध हुआ कि उत्तरी भारत के प्रायः सभी स्थानों में विभिन्न रूप से गाया जाकर आज भी शिराओं में उष्ण रक्त का संचार करता है और हृदय को वीर दर्प से पूर्ण कर देता है।

गीति काव्य का वास्तविक प्रवाह मैथिल कोकिल विद्यापति के गीतों से

आरंभ होता है। उन्होंने अपनी कोमल-कान्त पदावली द्वारा अपने गीतों में जिस मधुरता, सुकुमारता, सरलता, कोमलता एवं मृदुता का समावेश किया, उसी के कारण वे 'अभिनव जयदेव', 'कवि कण्ठाभरण' और 'मैथिल कोकिल' के नामों से विभूषित किए गए। विद्यापति ने जीवन के कोमलतम भावों को ऐसी मधुर वाणी दीं कि आज भी मिथिला की रमणियों के कंठ में प्रत्येक अवसर पर वे गुंजित होते हुए सुने जाते हैं। प्राय: प्रत्येक त्यौहार, उत्सव, विवाह तथा उपनयन आदि संस्कारों के अवसर पर मिथिला के घर विद्यापति के गीतों से मुखरित हो जाते हैं। इन गीतों में भावना का इतना तीव्र उद्रेक है कि चैतन्य महाप्रभु इनको गाते-गाते मूर्च्छित हो जाते थे। विद्यापति के गीतों में शृङ्गार की सरसता एवं भक्ति की तन्मयता का विलक्षण समन्वय है। इसलिए भक्त इन्हें भक्ति के क्षेत्र में ले जाते हैं और भावुक सरल हृदय पाठक उनसे शृङ्गार काव्य का आनन्द ग्रहण करते हैं। भाषा में इतना माधुर्य और लालित्य है कि विद्यापति को बँगाली बँगला का कवि मानते हैं और मिथिला वाले मैथिल भाषा का कवि मानकर अभिमान का अनुभव करते हैं। निम्नांकित पद में कवि विद्यापति ने सौन्दर्य का रूपकातिशयोक्तिपूर्ण कितना सुन्दर चित्र उपस्थित किया है :—

'माधव कि कहव सुन्दर रूपे।
कतेक जतन विह आनि समारल, देखलि नैन सरूपे।
पल्लवराज चरण जुग सोभित गति गजराजक भाने।
कनक केदलि पद सिंह समारल, तापर मेरु समाने॥
मेरु उपर दुइ कमल फुलाएल नाल बिना रुचि पाई।
मनिमय हार धार बहु सुरसरि तहँ नहिं कमल सुखाई॥
अधर बिम्ब सन दसन दाड़िम विजु रवि ससि उगथिक पासे।
राहु दूरि बसि निअरो न आवथि तहँ नहिं करथि गरासे॥"

इस प्रकार हिन्दी के गीति काव्य को आरम्भ में ही विद्यापति ने अपनी मधुर स्वर लहरी तथा कोमल-कान्त पदावली से सजित कर श्रुति मधुर रूप दिया और उनकी उर वीणा के तारों से झंकृत होकर प्रेम, वियोग तथा भक्ति के स्वर जन-मन मानस का मंथन कर प्रसन्नता से रत्न लुटाने लगे।

हिन्दी साहित्य के भक्ति काल में गीति काव्य ने कबीर, दादू, नानक आदि ज्ञानमार्गी सन्तों के कण्ठों से निसृत होकर ज्ञान एवं साधना की गहनता को धारण किया। पिंगल शास्त्र से अनभिज्ञ सन्तगण तीनों का आश्रय लेकर ही अपने ज्ञान योग सम्बन्धी विचारों एवं रहस्यात्मक अनुभूतियों की अभिव्यंजना करने लगे। इसी कारण कबीर आदि सन्तों के गीतों में दार्शनिकता, आध्यात्मिकता एवं चिन्तन की प्रधानता है। उनमें रागात्मक तत्वों का अभाव है। जहाँ ब्रह्म को प्रेमपात्र मानकर आत्मा ने पत्नी के रूप में अपना प्रेम प्रदर्शित किया है, वहाँ सरसता और हृदय को स्पर्श करने की शक्ति अवश्य है। लेकिन कहीं-कहीं वह भी रहस्यात्मकता के आवरण से धूमिल हो गया है। कबीर शरीर की अनित्यता का वर्णन रूपक की भाषा में हठयोगियों की शब्दावली का प्रयोग करते हुए करते हैं :—

''झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहे कै ताना, काहे कै भरनी, कौन तार सों बीनी चदरिया॥
इंगला पिंगला ताना, भरनी, सुषमन तार सौ बीनी चदरिया।
आठ कँवल दल चरखा डोले, पाँच तत्त गुन तीनी चदरिया॥
साँई को सियत मास दस लागे, ठोक ठोक के बीनी चदरिया।
सो चादर सुन नर मुनि ओढ़ी, ओढ़ि कै मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़ी ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया॥''

इह प्रकार सन्तों के गीतों में भी सरसता और मर्म-स्पर्शिता पाई जाती है। लेकिन इस प्रकार के गीतों की बहुलता नहीं है। अधिकाँश गीत ज्ञान की दुरूहता, प्रतीकों की अस्पष्टता एवं उलटबाँसियों की अद्भुतता के कारण बोझिल और गम्भीर होकर साधारण जन के लिए बोधगम्य नहीं रहे हैं। इसलिए उनमें हृदय को रमाने की क्षमता नहीं है। फिर भी गीति काव्य की धारा के प्रवाह को निरन्तर गतिशील रखने के कारण उनका महत्व कम नहीं है।

हिन्दी साहित्य के अमर कलाकार भक्त प्रवर प्रज्ञा चक्षु अन्धे सूर ने गीति काव्य को चरम विकास दिया। उन्होंने नन्दनन्दन, गोपी वल्लभ, करुणाकर,

मुरली मनोहर के सौन्दर्य, शील एवं प्रेम को गीतों के मधुर स्वर में व्यंजित करके वात्सल्य, शृङ्गार और भक्ति की वह त्रिवेणी प्रवाहित की है, जिसमें अवगाहन करके भक्त आत्म विभोर हो जाता है और काव्य मर्मज्ञ सरसता का आस्वादन कर पुलक उठता है। सूर ने कृष्ण के जीवन के कोमल, मधुर एवं सरस अंग को अपनी वाणी का विषय बनाया। इसी कारण उनके गीतों में कोमलता, मधुरता एवं सरसता पाई जाती है। यशोदानन्दन के बाल जीवन की प्रत्येक चेष्टा और प्रत्येक भावना का अत्यन्त मनोवैज्ञानिक एवं स्वाभाविक चित्रण किया है। उनमें रोने, हँसने, खेलने, खाने, लड़ने, भिड़ने, रूँठने, मनाने, आग्रह करने, बहाना बनाने आदि सभी को अपने गीतों का विषय बनाया है।

बालक को माता यशोदा दूध पिलाना चाहती है। किन्तु वह दूध नहीं पीता। माता उसको चोटी बढ़ने का प्रलोभन देती है। बालक दूध पीना आरम्भ कर देता है, लेकिन उसका ध्यान अपनी चोटी पर है। उसे बढ़ता हुआ न देखकर स्वभावतः माँ से प्रश्न कर उठता है:—

"मैया, कब बढ़िहै मेरी चोटी।
इती बार मोहि दूध पियत भई है अजहूँ यह छोटी॥"

यह वह दृश्य है, जिसे नित्यप्रति अपने घरों में देखते हैं। लेकिन उसकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। सूर की वीणा के स्वरों का समन्वय पाकर दृश्य सजीव और और आकर्षक हो गया है। बाल मनोविज्ञान के सूर पारखी हैं। यदि एक एक भावना का उदाहरण प्रस्तुत किया जाय तो उसके लिए भिन्न पुस्तक की आवश्यकता होगी और यह अनुसन्धान का भी विषय है।

सूर की गीति माधुरी शृङ्गार के संयोग और वियोग दोनों रूपों के चित्रण से मनोमुग्धकारी हो गई है। संयोग समय की मधुर चेष्टाओं, हास-विलास, भाव भंगिमाओं, हाव-भाव आदि को सूर ने अपनी वाणी का विषय बनाया है। राधा और कृष्ण का प्रारम्भिक परिचय आकस्मिक किन्तु स्वाभाविक और रोचक है। राधा कृष्ण के यहाँ आती है। कृष्ण परिचय जानने के लिए कहते हैं:—

"बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहत काकी तू बेटी कबहूँ नाँहि लखी ब्रज खोरी॥"

राधा अत्यन्त सरलता से उत्तर देती है :—

"काहे को हम ब्रज तन आवति खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनत रहत स्रवनन नँद ढोठा करत रहत माखन दधि चोरी॥"

कृष्ण पर कितना चुटीला व्यंग्य है। किन्तु चतुर कृष्ण भी परिस्थिति को संभाल कर उसका लाभ उठाते हुए कहते हैं :—

"तुम्हरो कहा चोरि हम लै हैं, खेलन चलौ संग मिल जोरी।
'सूरदास' प्रभु रसिक सिरोमनि बातनि भुरहि राधिका भोरी॥"

इस परिचय के अनन्तर दोनों का प्रेम निरन्तर परिपक्व होता गया। एक दूसरे में अपने को विस्मृत कर बैठा। हास-परिहास, आनन्द-विनोद केलि-लीला आदि का क्रम चलने लगा। सूर ने प्रेम, माधुर्य, विलास और हाव का बहुत ही मधुर दृश्य अपने गीतों में अङ्कित किया है।

विप्रलम्भ शृङ्गार की प्रत्येक दशा पर भी सूर ने विरह गीत प्रस्तुत किए हैं। विरहावस्था में नारी की जितनी मनोदशायें सम्भव हैं, उन सभी का चित्रण भ्रमरगीत में पाया जाता है। सूर की सूक्ष्म दृष्टि, कल्पना, प्रतिभा एवं सहृदयता का परिचय विरह गीतों से ही मिलता है। विरह की दशा में मानसिक सन्तुलन स्थिर नहीं रहता। इसी से कभी तो गोपियाँ पपीहा की पुकार को सुनकर उसे सम दुख भागी जानकर कहती हैं :—

"बहुत दिन जीओं पपीहा प्यारे।
बासर रैनि नाँव ले बोलत भयो विरह जुर कारे"।

जिस मधुवन में प्रियतम के साथ रति क्रीड़ायें की थीं, हास परिहास किया था, वही अब दग्धकारी लगता है। इसी कारण क्रुद्ध वियोगिनी उससे कहती है :—

"मधुवन तुम कत रहत हरे।
विरह वियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे।"

कितनी मार्मिकता है सूर के गीतों में। अपने हृदय के समस्त रस को

तानपूरे के स्वरों के साथ गीतों में सूर ने उँडेल दिया है। इसीलिए उनमें करुणा की तीव्र व्यंजना हुई है। भक्त सूर के भक्तिरस पूर्ण गीतों में भी तल्लीनता के साथ व्यंग्य विनोद भी मिलता है—क्योंकि इनकी भक्ति सख्य भाव की थी। अतः सूर ने मर्यादा का अतिक्रमण करने में भी संकोच नहीं किया है।

सूर के अतिरिक्त गीति काव्य की धारा को अपनी सरस स्वर लहरी से कृष्ण भक्ति शाखा के अन्य कवियों ने भी सरस बनाया। नन्ददास, कृष्णदास, परमानन्द दास, कुम्भनदास, छीत स्वामी, गोविन्द स्वामी और चतुर्भुज दास प्रभृति अष्टछाप के कवियों, हित हरिवंश, हरिदास—भगवत रसिक आदि कितने ही कवियों ने गीति काव्य की परम्परा को प्रवहमान रखा। ये भक्त कवि कृष्ण की भक्ति में तल्लीन होकर प्रेम और भक्ति के गान गाते हुए अपने में ही ऐसे लीन रहते थे कि सम्राटों तक की उपेक्षा करने में उन्हें हिचक नहीं होती थी। तभी तो अकबर के निमन्त्रण पर कुम्भनदास ने कहा :—

"सन्तन कहा सीकरी सों काम।
आवत जात पन्हैया टूटें बिसरि जात हरि नाम॥"

सांसारिक वैभव एवं ऐश्चर्य से परे प्रेम लोक में गीतों की स्वर लहरी में खोए रहकर ही आत्मिक आनन्द के उपभोग करने में ही जीवन की सार्थकता समझते थे, ये भक्त। इनके गीतों में भक्ति का स्वाभाविक प्रवाह मिलता है और ये गीत विक्षुब्ध हृदय को शान्ति प्रदान करते हैं।

लोक-मंगल, लोक-धर्म एवं लोक-मर्यादा के प्रतिष्ठापक भक्त-शिरोमणि तुलसीदास ने भी अपनी लेखनी का वरदान गीति काव्य को दिया। उनकी 'विनय पत्रिका' भगवान् के प्रति आत्मनिवेदन है. जिसमें भगवान् की दयालुता, करुणा, सर्व सम्पन्नता के साथ अपनी दीनता, हीनता, तुच्छता आदि की व्यंजना की गई है। अपनी आत्मा के सम्पूर्ण प्रेम, भक्ति और श्रद्धा को मर्यादित रूप से राम के—शरणागत वत्सल जानकीवल्लभ के श्री चरणों में अर्पित कर दिया है। भक्ति का वास्तविक स्वरूप—जिसमें भक्त अपने को कदर्य और हीन समझकर भक्ति में ही जीवन की सार्थकता समझता है—विनय पत्रिका के प्रत्येक पद में मिल जाता है। प्रत्येक देवता की प्रार्थना

करने के अनन्तर राम चरण-अनुराग का वर माँगना तुलसी की अनन्य भक्ति का सूचक है। वे माता जानकी से जो प्रार्थना करते हैं उसमें कितनी मर्यादा-भावना, करुणा, दीनता और विदग्धता भरी है। देखिये :—

"कबहुँक अम्ब अवसर पाइ।
मेरि हू सुधि द्याइवी कछु करुन कथा चलाइ॥
दीन सब अङ्ग-हीन छीन, मलीन, अघी अघाइ।
नाम लैं भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ॥
बूझि है सो है कौन ? कहिबो नाम दसा जनाइ।
सुनत राम कृपालु मेरी बिगरिओ बनि जाइ॥"

गीति काव्य की परम्परा में मीरा का भी प्रमुख स्थान है। मीरा-की भक्ति माधुर्य भाव की थी। उन्होंने लोक लाज को त्याग कर मोहन, मदन-गुपाल, नन्दलाल को अपना पति मान लिया था। इसलिए उनके गीतों में आत्मानुभूति, आत्मसमर्पण की भावना और कोमलता पाई जाती है। वे नन्दलाल के सौन्दर्य पर मोहित होकर उन्हीं की होकर कहने लगी थीं :—

"बसौ मेरे नैननि में नन्दलाल।
साँवरी सूरति, मोहनी मूरति नैना बने बिसाल।"

कृष्ण की माधुरी ने उनके हृदय में प्रेम की बेलि बो दी थी जिसको उन्होंने आँसुओं के जल से सींचकर उर-स्थल में फैला लिया था। अपनी सारी भावना को केन्द्रीभूत करके स्पष्ट घोषणा की थी :—

'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।
जाके सिर मोर मुकट मेरो पति सोई॥"

जब प्रेम की अनुभूति अत्यन्त तीव्र हो गई तो वह 'पीर' में परिवर्तित हो गई। प्रियतम के विरह में दीवानी होकर मीरा 'पग घुँघरू बाँधि' नाचने लगी। उनके विरह में आत्मा की सच्ची हूक है, जिसकी अनुभूति उसी को हो सकती है जिसको प्रेम की लगन लगी हो। मीरा अपनी पीड़ा को कितने करुण शब्दों में व्यक्त करती है:—

"हेरी मैं तो दरद दिवाणी, मेरा दरद न जाने कोई।
घायल की गति घायल जाणें कै जिण लाई होई।"

सम्बन्धी आदि कितने ही प्रकार के गीत हैं। प्रसाद वास्तव में सौन्दर्य के कवि हैं। 'चन्द्रगुप्त' का यह गीत उनकी सौन्दर्य भावना का अमर गीत हैं :—

"तुम कनक किरण के अन्तराल में लुक छिप कर चलते हो क्यों ?
हे लाज भरे सौन्दर्य बतादो मौन बने रहते हो क्यों ?"

इसके अतिरिक्त 'अरुण यह मधुमय देश हमारा', 'हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती' तथा स्कन्दगुप्त के 'भारत गीत' में देश प्रेम एवं भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति अतुल अनुराग लक्षित होता है। प्रसाद जी ने गीति काव्य को संगीत की तुलापर तोलकर लहर, आँसू, झरना आदि काव्यों में नवीन रूप दिया। उनमें कहीं प्रकृति का मादक सौन्दर्य हिलोरें ले रहा है, कहीं उर की कसक और वेदना तरलित हो रही है और कहीं हृदय की कोमलतम भावनायें तरंगित हो रही हैं। 'आँसू' में उनका विरह स्वर करुणा की अजस्रधारा प्रवाहित करता है, जिसमें व्यथा के बुद्बुद् उठ कर नयनों में मोती बनकर उमड़ पड़ते हैं। कवि अपनी वेदना को, अपनी पीड़ा को स्वर देता हुआ कहता है :—

"जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति सी छाई।
दुर्दिन में आँसू बनकर, वह आज बरसने आई॥

× × ×

बाड़व ज्वाला जलती थी इस प्रणय सिन्धु के तल में।
प्यासी मछली सी आँखें थीं विकल रूप के जल में॥"

इस असीम वेदना से दुखी होकर कवि छटपटाने लगता है और उसकी यह पीड़ा पलायन के लिए प्रेरित करती है। वह इस व्यथा, दुख, पीड़ा, कसक और वेदना से भरे जगत से दूर कहीं अन्यत्र अपना संसार बसाना चाहता है। वह कहता है :—

"ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी, अम्बर के कानों में गहरी॥
निश्छल प्रेम कथा कहती हो, तज कोलाहल की अवनी रे।
मेरे नाविक धीरे-धीरे॥"

सम्बन्धी आदि कितने ही प्रकार के गीत हैं। प्रसाद वास्तव में सौन्दर्य के कवि हैं। 'चन्द्रगुप्त' का यह गीत उनकी सौन्दर्य भावना का अमर गीत हैं :—

"तुम कनक किरण के अन्तराल में लुक छिप कर चलते हो क्यों ?
हे लाज भरे सौन्दर्य बतादो मौन बने रहते हो क्यों ?"

इसके अतिरिक्त 'अरुण यह मधुमय देश हमारा', 'हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती' तथा स्कन्दगुप्त के 'भारत गीत' में देश प्रेम एवं भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति अतुल अनुराग लक्षित होता है। प्रसाद जी ने गीति काव्य को संगीत की तुलापर तोलकर लहर, आँसू, झरना आदि काव्यों में नवीन रूप दिया। उनमें कहीं प्रकृति का मादक सौन्दर्य हिलोरें ले रहा है, कहीं उर की कसक और वेदना तरलित हो रही है और कहीं हृदय की कोमलतम भावनायें तरंगित हो रही हैं। 'आँसू' में उनका विरह स्वर करुणा की अजस्रधारा प्रवाहित करता है, जिसमें व्यथा के बुद्बुद् उठ कर नयनों में मोती बनकर उमड़ पड़ते हैं। कवि अपनी वेदना को, अपनी पीड़ा को स्वर देता हुआ कहता है :—

"जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति सी छाई।
दुर्दिन में आँसू बनकर, वह आज बरसने आई॥

× × ×

बाड़व ज्वाला जलती थी इस प्रणय सिन्धु के तल में।
प्यासी मछली सी आँखें थीं विकल रूप के जल में॥"

इस असीम वेदना से दुखी होकर कवि छटपटाने लगता है और उसकी यह पीड़ा पलायन के लिए प्रेरित करती है। वह इस व्यथा, दुख, पीड़ा, कसक और वेदना से भरे जगत से दूर कहीं अन्यत्र अपना संसार बसाना चाहता है। वह कहता है :—

"ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी, अम्बर के कानों में गहरी॥
निश्छल प्रेम कथा कहती हो, तज कोलाहल की अवनी रे।
मेरे नाविक धीरे-धीरे॥"

प्रेम की-निश्छल प्रेम की—कितनी तीव्र प्यास है ? आकुल अन्तर से निसृत एक एक शब्द में संगीत है, प्राणों का रस है और मदिरा सी मादक मधुरता है।

प्रसाद ने अपने महाकाव्य कामायनी को गीत काव्य की सरस मधुर एवं कोमल स्वर लहरी से समालंकृत कर अपनी भावुकता एवं हृदय की तरलता का परिचय दिया। 'कामायनी' आदि सृष्टि की अमर कहानी होते हुए भी मानव मन की सभी भावनाओं एवं प्रवृत्तियों का विश्लेषक काव्य भी है। इसलिए उसमें गीति काव्य के लिए स्वभावतः ही अवकाश निकल आया है। कामायनी के गीतों में रहस्यात्मकता के साथ-साथ गीति काव्य के लिए अपेक्षित सभी गुण पाये जाते हैं। अतः वे काव्य के गौरव हैं। कवि की कल्पना, भावना एवं अनभूति के साथ नारी की सरसता, भावुकता, ममता, स्नेहशीलता एवं मधुरिमा का एक साथ अभिव्यंजन इस गीत में देखिए :—

"तुमुल कोलाहल कलह में, मैं हृदय की बात रे मन।
विकल होकर नित्य चंचल, खोजती जब नींद के पल,
चेतना थक सी रही जब, मैं मलय की बात रे मन।

× × ×

जहाँ मरु ज्वाला धधकती, चातकी कन को तरसती,
उन्हीं जीवन घाटियों की, मैं सरस बरसात रे मन !"

इस प्रकार प्रसाद जी ने गीति काव्य को नवीन रूप ही नहीं दिया अपितु विकास के उन्नत शिखर पर भी पहुँचा दिया।

'प्रसाद' के बाद आधुनिक काल के रहस्यवादी एवं छायावादी कवियों ने छन्द के बन्धनों से मुक्त संगीत की स्वर लहरी में ही अपने अन्तर को उँडेल कर रख दिया। उनके गीति काव्य का विश्लेषण करने से पूर्व कविवर मैथिलीशरण जी को विस्मृत नहीं किया जा सकता। यद्यपि गुप्त जी इतिवृत्तात्मक काव्यों के ही प्रणेता हैं तथापि समय के प्रवाह के साथ उनकी अन्तर वीणा भी गीतों के स्वर निकालती रही। 'साकेत' और 'यशोधरा' में

कितने ही भावपूर्ण और मार्मिक गीत गुप्त जी ने लिखे हैं। 'उर्मिला' की विरह वेदना और 'यशोधरा' के आत्म-विश्वास को गीतों के द्वारा ही अभिव्यंजित किया गया है। विरह विदग्धा उर्मिला वेदना में चाह दिखाने लगती है। उसकी पीड़ा उसके जीवन का अंग हो गई है। वह अपने अन्तर की सारी आकुलता को संचित करके कहती है :—

> "वेदने ! तू भी भली बनी ।
> पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी ।
> अरी वियोग-समाधि अनोखी, तू क्या ठीक ठनी ।
> अपने को, प्रिया को, जननी को देखूँ खिची तनी ॥"

हिन्दी के क्रान्तिकारी कवि निराला ने गीति काव्य के क्षेत्र में भी क्रांति उपस्थित की। वे स्वयं एक संगीतज्ञ थे। अतएव उन्होंने अपनी स्वर साधना से गीतिकाव्य को नवीन रूप दिया। उनके गीतों में पौरुष, ऊर्ध्वस्विता, अतीन्द्रिय सौन्दर्य एवं परोक्ष सत्ता की रहस्यपूर्ण अनुभूति के दर्शन होते हैं। निराला के गीतों का प्रवाह स्वच्छन्द एवं अप्रतिहत है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने उनके गीतों के सम्बन्ध में लिखा है:—'उनमें जो गुण हैं, कला की जो भंगिमायें प्रकाश रेखाओं की जैसी सूक्ष्म अथच मनोरम गतियाँ हैं, वे उन्हीं में हैं और हिन्दी में ये विशेषतायें कम उपलब्ध होती हैं।' निराला जी के शब्दों में स्वरों का आरोह-अवरोह, गतिमयता एवं भावानुरूपिता आदि सभी गुण पाये जाते हैं। अभिसारिक का ध्वनि चित्र देखिए :—

> "मौन रही हार,
> प्रिय पथ पर चलती, सब कहते शृंगार।
> कण-कण कर कङ्कण, प्रिय किण् किण् रव किङ्किणी,
> रणन रणन नूपुर, उर लाज लौट रङ्किणी;
> और मुखर पायल स्वर करें, बार-बार।
> प्रिय पथ पर चलती, सब कहते शृंगार॥"

उनकी इन्हीं विशेषताओं को लक्षित करते हुए 'प्रसाद' जी ने कहा है—"उनमें केवल पिक की पञ्चम पुकार ही नहीं, कनेरी की सी एक ही

मीठी तान नहीं, अपितु उनकी गीतिका में सब स्वरों का समारोह है।.... निराला जी ने मृण्ण और ओज, सौन्दर्य भावना और कोमल कल्पना का माधुर्य्यमय संकलन किया है, वह उनकी कविता में शक्ति साधना का उज्ज्वल परिचायक है।"

इसी धारा के कवि पन्त तो कोमलता और प्रकृति के कवि माने ही जाते हैं। उन्होंने खड़ी बोली को लालित्य और नर्तकी की सी चपलता प्रदान की। उनके गीतों में प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम परिलक्षित होता है और वे उसमें एक चिरन्तन एवं अनन्त सौन्दर्य के दर्शन करते हैं। 'ज्योत्स्ना' के गीत काव्य की निधि हैं।

पन्त जी के गीतों में लाक्षणिकता, चित्रमयता और अभिव्यंजना की आकर्षक मोहकता है। उन्होंने प्रशस्ति गान भी लिखे हैं और उद्‌बोधन गीत भी और बापू के निधन पर शोक गीत भी लिखा। प्रगति की ओर चरण बढ़ाते हुए कवि ने जीवन और जगत के प्रति अनुराग प्रकट करते हुए मंगल कामना भी की हैं। वे कहते हैं :—

"जीवन का श्रम ताप हरो हे।
सुख सुषमा के मधुर स्वप्न से, सूने जग गृह द्वार भरो हे।"

इस प्रकार पन्त ने गीतिकाव्य को गति देकर उसको शृंगार भी किया।

महादेवी वर्मा का अवतरण गीति काव्य के लिये गौरव का विषय है। उनका जीवन पीड़ामय है और उनकी पीड़ा गीतिमय है। उनके काव्य में पीड़ा, कसक, वेदना और टीस सभीकुछ है। अपने अनन्त और असीम प्रिय के वियोग में उन्होंने पीड़ा का साम्राज्य बसाया है और अपने सूनेपन की वे मतवाली रानी हैं। करुणा उनके गीतों का प्रमुख तत्व है।

वे साधना के इसी पथ पर चलकर पीड़ा के साम्राज्य का विस्तार करते हुए प्रियतम में अपने को लीन करके उस स्थिति पर पहुँच जाती हैं, जहाँ परिचय की आवश्यकता नहीं होती :—

"तुम मुझ में प्रिय फिर परिचय क्या ?
चित्रित मैं हूँ रेखाक्रम, मधुर राग तू मैं स्वर-संगम।

तू असीम में सीमा का भ्रम, काया छाया में रहस्यमय !
प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या ?"

इस प्रकार महादेवी के गीतों में करुणा के साथ रहस्यमय प्रेम की भी मधुर अभिव्यक्ति है।

श्री बच्चन जी ने गीतिकाव्य को निराशा के स्वर दिए। अपने 'निशा-निमन्त्रण', 'एकांत संगीत' और मधुशाला आदि में संसार की नश्वरता और निराशा की गहन अनुभूति को सरल भाषा में व्यक्त किया है। फिर भी उनमें एक अद्भुत मस्ती, एक मादकता, तरलता और लालित्य है? उनका 'कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्‌गार मेरा' नामक गीत उनकी भावुकता और सरसता का प्रतीक है।

आधुनिक काल वास्तव में गीतिकाव्य का युग है। कवियों ने छन्द के बन्धनों से मुक्त होकर अपनी भारती को गीति द्वारा अभिव्यक्ति दी है। आधुनिक गीतिकारों में रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी, नरेन्द्र, अंचल, शिव मंगलसिंह 'सुमन' और आरसी प्रसादसिंह के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। रामकुमार के गीतों में छायावादी सौंदर्य और प्रेम की झलक है। भगवती चरण वर्मा के गीतों में अल्हड़ता और स्वच्छन्दता है। नवीन तथा दिनकर के गीतों में हुँकारमयी गर्जना और क्रांति की पुकार है। माखनलाल चतुर्वेदी के गीतों में मिटने की मधुर साध और त्याग की उज्ज्वल और सरस भावना है। अंचल के गीत माँसल प्रेम को वाणी देते हैं। नरेन्द्र में भी मधुर प्रेम की झंकार है और 'सुमन' में नया जागरण है। इनके अतिरिक्त हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, सुधीन्द्र, सोहनलाल द्विवेदी आदि का भी गीतिकाव्य में प्रमुख स्थान है। तरुण कवियों में नीरज, रामेश्वरलाल 'तरुण', रामदरशमिश्र, द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी, रामानन्द दोषी, राही, विष्णु खन्ना, वीरेन्द्र मिश्र, रामकुमार चतुर्वेदी, कमलेश आदि गीति साहित्य को अपने विभिन्न भावों से पूर्ण स्वरों से झंकृत कर रहे हैं। कविता के क्षेत्र में पदार्पण करते ही आज का कवि गीति में ही अपनी भावना और कल्पना का चमत्कार दिखाता है। अतः आज का युग गीति

काव्य प्रधान है । नारी कवियित्रियों में सुमित्राकुमारी सिन्हा, शान्ति एम० ए०, विद्यावती आदि के नाम उल्लेखनीय हैं ।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य में गीतिकाव्य का स्वर अत्यन्त तीव्रता के साथ मुखर हो रहा है । यद्यपि प्रगतिवाद के आगमन से गीति की आभ्यन्तरिक कोमलता को ठेस अवश्य लगी है तथापि उसका सम्बन्ध हृदय की कोमलतम वृत्तियों से होने के कारण कभी वह ह्रास के पथ पर नहीं जा सकेगा और उसकी धारा अजस्र रहेगी ।

६—छायावाद और हिन्दी कविता

'छायावाद' हिन्दी-साहित्य की अत्यन्त समृद्ध, सौन्दर्यशालीनी तथा सशक्त कलात्मक काव्यधारा रही है । आज हिन्दी के साधारण पाठक के मन में इस धारा के प्रति विचित्र सा उदासीनतापूर्ण भाव है । इसका कारण यह है कि 'छायावाद' को हिन्दी के प्रारम्भिक आलोचकों द्वारा लांछना और तिरस्कार सहने पड़े थे । पुराने रूढ़िवादी आलोचक, जो साहित्य के पथ-प्रदर्शन का एकमात्र ठेका लिये बैठे थे, इस नवीन विद्रोही विचारधारा का स्वागत नहीं कर सके । उन्होंने तथा कुछ अधकचरे छायावादी कवियों ने छायावाद की ऐसी व्याख्यायें कीं जिससे हिन्दी-संसार आरम्भ में इसका मुक्त हृदय से स्वागत न कर सका । परन्तु जिसमें शक्ति होती है, प्राणबल होता है, उसे आगे बढ़ने से कोई रोक नहीं पाता । छायावाद निरन्तर संघर्ष करता हुआ प्रगति के पथ पर अग्रसर होता रहा और अन्त में हिन्दी संसार को उसका लोहा मानना पड़ा । क्योंकि इस धारा को अपने प्राणों का सम्बल देकर आगे बढ़ाने वाले साहित्य के उपासक उच्चकोटि के प्रतिभासम्पन्न कलाकार, भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों तथा काव्य प्रणालियों के मर्मज्ञ और विरोध के सम्मुख आत्म-समर्पण न कर उससे निरन्तर संघर्ष करने वाले मेघावी कलाकार थे ।

हिन्दी में द्विवेदी-युग के काव्य में नैतिक बुद्धिवाद की प्रधानता थी जिसके कारण उसमें प्रेम और शृंगार का डटकर विरोध हुआ । द्विवेदी-युगीन काव्य की चरम परिणति 'साकेत' और 'प्रियप्रवास' की नीरसता में, संवेदनहीन वर्णनों और संस्कृत पदावली के प्रति झुकाव के रूप में देखी जा सकती है ।

इसके अतिरिक्त भारत-भारती की देश-भक्ति में हृदयतत्व की अपेक्षा बुद्धितत्व की तथा प्रिय-प्रवास और साकेत में नैतिकता की प्रधानता है। एक प्रकार से द्विवेदी युग की कविता को हम 'पद्यात्मक वक्तव्य' या काव्य गद्य (Poetic Prose) कह सकते हैं। इसका कारण यह है कि द्विवेदी जी का आदर्श संस्कृत और मराठी का काव्य था। इससे उसमें पद्य गद्य बन गया। वह जीवन के निकट तो आया मगर जीवन के रस से सिक्त नहीं हो पाया। द्विवेदी युग सन् १९०० से १९२१ तक माना जाता है। द्विवेदी युग में ही कई ऐसे कवि उठ खड़े हुए जिन्होंने द्विवेदी जी द्वारा प्रेरित पद्य की नीरसता के स्थान पर उसमें सरसता लाकर उसे अपनी संवेदनाओं से सिक्त कर मनोहारी बना दिया। उन्होंने द्विवेदी युग की गद्यात्मक (अभिधा प्रधान) कविताओं के स्थान पर नवीन अनुभूतियों से युक्त ऐसी कविता का सृजन किया जो शैली में भी नितान्त भिन्न थी। उन्होंने रीतिकालीन छन्दों के विरुद्ध आवाज उठा कर उसे 'वासना का काव्य' घोषित किया। उन्होंने भाव, भाषा, छन्द आदि सभी क्षेत्रों में नवीनता का प्रतिपादन किया।

छायावादी काव्य की सबसे बड़ी निर्बलता उनकी अत्यधिक व्यक्ति-परकता मानी जाती है। विषय वस्तु के लिए उन्होंने बाह्य-जगत से उदासीन होकर अपने मन के भीतर झाँकना प्रारम्भ कर दिया। जीवन संघर्ष से उदासीन हो वे अन्तर्मुखी बन बैठे। इसी कारण उनकी वाणी में युग की वेदना कम मुखरित हुई है और उनकी स्वयं अपनी ही वेदना अधिक व्यक्त हुई है। काव्य व्यक्ति में अधिक केन्द्रित हो गया। परन्तु उनके इस भटकने में एक अद्भुत तन्मयता, एक सुन्दर कला और एक अपूर्व लावण्य था जिसने हिन्दी कविता को कला के उच्चतम शिखर पर ला बैठाया। किन्तु सर्वत्र ही व्यक्तिगत सुख-दुःख का प्रलाप हो, ऐसी बात भी नहीं! कवि समाज का अङ्ग होता है। उस पर परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता रहता है। इसलिए यह नहीं माना जा सकता कि उसके काव्य में प्रतिबिम्बित होने वाली भावनाओं का समाज से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वह समाज की भावनाओं को ही अपनी स्वानुभूति के बल पर व्यक्त करता है। छायावाद में वेदना, करुणा, अतृप्ति, मानव-प्रेम, प्रकृति-प्रेम आदि की जो

भावनाएँ व्यक्त हुई हैं वे परिस्थितियों की ही उपज थीं। समाज के बन्धन, स्वच्छन्द-प्रेम की, जो मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, आज्ञा नहीं देते थे। इसलिए कवि कल्पना में ही उसकी तृप्ति खोजते रहे। उनका विद्रोह अन्त-र्मुखी अधिक हो उठा। समाज की विषम दशा ने उनके हृदय में करुणा और वेदना उत्पन्न की जो मानव-मात्र के प्रति प्रेम तथा कल्याण की भावना में व्यक्त हुई। प्रकृति का उन्मुक्त रूप उन्हें प्रिय लगा इसलिए उन्होंने प्रकृति के सौन्दर्य में अपने को डुबा कर अपने हृदय की सौंदर्य भावना को मुखरित किया। काव्य का प्रचलित रूप उन्हें रूढ़िवादी लगा इसलिए उसमें उन्होंने नये परिवर्तन कर उसे सुन्दर, भव्य, मनोरम बनाने का प्रयत्न किया। उनका आशावादी स्वर मानवतावाद पर आधृत होकर बड़ी स्पष्टता से मुखरित हुआ है। कामायनी का संदेश तो सम्पूर्ण मानव जाति को दिया हुआ अमर संदेश है। छायावादी कवियों ने जो गद्य लिखा है वह उनके काव्य से भिन्न है। प्रसाद, महादेवी और निराला का गद्य-साहित्य में समाज यथार्थ रूप में चित्रित हो उठा। फिर यह कैसे माना जाय कि ये छायावादी कलाकार समाज के प्रति उदासीन थे। उनके कथा-साहित्य तथा निबन्धों में वर्तमान की समस्याएँ चीत्कार कर रही हैं।

छायावादी काव्य का मूल्याङ्कन करने में सबसे बड़ी त्रुटि यह रही है कि आलोचकों ने उनके साहित्य को सम्पूर्ण रूप में न देखकर उसे खण्ड-खण्ड करके देखा है। इसी कारण छायावाद को इतनी लांछना सहनी पड़ी और तिरस्कृत होना पड़ा।

छायावादी काव्य में जो असन्तोष अभिव्यक्त हुआ है उसे न देख पाकर आलोचक केवल उसमें अतृप्ति तथा वेदना को ही देख पाते हैं। इसका कारण यह है कि उनका दृष्टिकोण सीमित और एकाङ्गी होता है।

छायावाद की परिभाषा—विभिन्न विद्वानों द्वारा छायावाद की अब तक निम्नलिखित परिभाषायें बन चुकी हैं—१—जो समझ में न आवे वह छाया-वाद है; २—रहस्यवाद का ही पहला रूप छायावाद है; ३—छायावाद लाक्ष-णिक प्रयोगों, अप्रस्तुत विधानों और अमूर्त्त उपमानों को लेकर चलने वाली

एक शैली है; ४—प्रकृति में मानवीय अथवा ईश्वरीय भावों के आरोप को ही छायावाद कहते हैं; ५—रहस्यवाद का ही दूसरा नाम छायावाद है; ६—स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह छायावाद है; ७—यह यूरोपिय रोमाण्टिसिज्म का भारतीय संस्करण है। इन परिभाषाओं में से एक भी ऐसी नहीं जो छायावाद पर वास्तविक और पूर्ण रूप से प्रकाश डाल सके। ये सभी एकाङ्गी हैं। न्यूनाधिक मात्रा में उपर्युक्त सभी लक्षण छायावाद में मिल जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोग इसे भारतीय परम्परा का विकास मानते हैं तथा कुछ इस पर विदेशी साहित्य का गहरा प्रभाव मानते हैं। अब कुछ विद्वानों की परिभाषाएँ देंगे—

(१) छायावाद का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिये। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका सम्बन्ध कथावस्तु से होता है अर्थात् कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। छायावाद का दूसरा प्रयोग काव्य-शैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ में है।'' —पं० रामचन्द्र शुक्ल

(२) "आत्मा व परमात्मा का गुप्त वाग्विलास रहस्यवाद है और यही छायावाद।" —रामकुमार वर्मा

(३) छायावाद नाम से ही उसकी छायात्मकता स्पष्ट है। विश्व की किसी वस्तु में एक अज्ञात सप्राण छाया की झाँकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है।''''''जिस प्रकार छायावाद स्थूल वस्तुवाद के आगे की चीज है, उसी प्रकार रहस्यवाद छायावाद के आगे की चीज है।'

—गंगा प्रसाद पाण्डेय

(४) "कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के वाह्य-वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूति-मयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया।" —जयशंकर 'प्रसाद'

(५) "आधुनिक पौराणिक धार्मिक चेतना के विरुद्ध आधुनिक लौकिक चेतना का विद्रोह है।" —डा० देवराज

(६) **"मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या होनी चाहिये।"**

—महादेवी

डा० नगेन्द्र ने छायावाद की विवेचना करते हुए उसके विषय में प्रचलित तीन भ्रान्तियों का भी उल्लेख किया है—

(१) जो छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर न मानने के कारण हैं। छायावाद बौद्धिक है, साधनात्मक नहीं।

(२) छायावाद और यूरोपिय रोमान्टिसिज्म को एक मानना। रोमांटिसिज्म के पीछे फ्रांस का सफल विद्रोह था जिसमें जनता की विजयिनी सत्ता ने समस्त जागृत देशों में एक नवीन आत्म-विश्वास की लहर दौड़ा दी थी। इस कारण वह अधिक ठोस, मूर्त्त और आशा और स्वप्न से परिपूर्ण थी। उसकी अनुभूति अधिक तीक्ष्ण थी। इसके विपरीत छायावाद असफल सत्याग्रह से उत्पन्न हुआ था। वह अधिक अन्तर्मुखी और वायवी था।

(३) छायावाद को एक शैली मानना जैसा कि शुक्लजी ने माना है।

उपर्युक्त भ्रान्तियों का विवेचन करते हुए आप इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि **"छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव-पद्धति है: जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण है।"** इसी विचार-पद्धति को आप तत्वतः तो सर्वात्मवादी मान लेते हैं परन्तु इसे ही मूल प्रेरणा नहीं मानते। आप इसे कुण्ठा की प्रेरणा से उत्पन्न काव्य मानकर उसे विश्व काव्य की द्वितीय श्रेणी में स्थान देते हैं। क्योंकि कुण्ठाजन्य साहित्य प्रथम श्रेणी का नहीं होता है।

कुछ आलोचकों ने छायावाद को यूरोपीय रोमान्टिसिज्म से अत्यधिक प्रभावित मानकर इसे उसका भारतीय संस्करण तक घोषित कर दिया है और जिसे नगेन्द्रजी उनकी भ्रान्ति मानते हैं। रोमान्टिक कवि समाज, धर्म, साहित्य, राजानीति सब में क्राँति चाहता है और एक अद्वितीय स्वप्न लोक की सृष्टि कर उसमें शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करने का इच्छुक है। विश्व के संघर्ष से वह दूर भागता है। सामाजिक बन्धनों के कारण स्वच्छन्द प्रेम के लिए अवकाश न रहने पर वह अपनी अतृप्त वासना को काव्य में सांकेतिक अभिव्यक्ति

देता है जिसे डा० नगेंद्र असन्तोष और कुण्ठा का परिणाम बताते हैं। प्रकृति उसकी सहचरी का काम देती है। वह उसे सम्वेदनशील सजीव प्राणी के रूप में मानता है। कभी-कभी तो प्रतीकों से ही अपनी बात कह देता है। उसे जड़-चेतन में एक ही भाव-सूत्र पिरोया हुआ जान पड़ता है। यहाँ वह सर्वात्म-वादी हो जाता है। उसकी वृत्ति अन्तर्मुखी होती है और भावनाएँ सूक्ष्म। अपना व्यक्तित्व ही उसका केन्द्र होता है।

अतः हम छायावाद को एक ऐसी काव्य-धारा कह सकते हैं जिसके भाव पक्ष में व्यक्तिवाद, अतृप्त प्रेम, निराशा, और वेदना, प्रकृति का मानवीकरण और तादात्म्य, सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति, जिज्ञासात्मक रहस्य-भावना आदि बातें मिलती हैं और भावपक्ष की इस नवीनता के कारण जिसके कलापक्ष में नवीन छन्द-विधान, नवीन अलङ्कार-विधान, लाक्षणिक शब्दावली और प्रतीकों का प्रयोग हो।

छायावादी कविता की विशेषताएँ—वास्तव में छायावाद शुद्ध रूप से न तो आध्यात्मिक अभिव्यक्ति है, न यूरोपीय रोमान्टिसिज्म का भारतीय-करण है, न वासनाओं और अहं का विस्फोट है, न केवल पलायनवाद है और न एक शैली मात्र है। वरन् इसमें थोड़े-बहुत रूप में उपर्युक्त सभी तत्व मिल जाते हैं। इसमें प्रधानतः स्वानुभूति में 'परोक्ष' सत्ता का आभास रहता है और प्रकृति पर चेतना का आरोप भी। साथ ही इसकी शैली उपचार वक्रता और प्रतीकात्मकता को लेकर चलती है। इन्हीं विशेषताओं को लक्ष्य कर प्रसादजी ने छायावाद के वेश-विन्यास पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि—**छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्य प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं।"**

इस छायावादी काव्य में तीन बातें ऐसी थीं जिसने इसे अपनी पूर्ववर्ती या समसामयिक अन्य काव्य धाराओं से पूर्णतः पृथक कर एक सर्वथा नवीन रूप दिया। वे तीन बातें हैं (१) अज्ञात सत्ता और उसके प्रति प्रेम तथा आत्म-समर्पण, (२) नारी के प्रति नवीन दृष्टिकोण, (३) प्रकृति की महत्ता। इन

कवियों ने इन तीनों बातों का चित्रण प्रकृति के माध्यम से किया। इनमें नारी, प्रकृति और परोक्ष सत्ता इतने घुले-मिले हुए हैं कि सर्वत्र उन्हें पृथक करना कठिन है। इन तीनों के माध्यम से यह काव्य सम्पूर्ण मानव-जीवन और चिन्तन को समेटकर चला है। इस काव्य में प्रकृति के प्रति प्रेम, तन्मयता और तीव्र मिलनाकांक्षा का स्वर सबसे ऊपर रहा है। प्रकृति को इन कवियों ने सर्वत्र नारी रूप में ही देखा है। प्रकृति के माध्यम द्वारा, इन्होंने अपनी सौन्दर्य भावना, शृङ्गार अथवा प्रेम की भावना तथा जीवन दर्शन को व्यक्त किया है। प्रकृति के ही कारण इस काव्य में सौन्दर्य और करुणा का विचित्र समन्वय मिलता है।

इस प्रकार हम छायावादी काव्य की प्रधान प्रवृतियाँ निम्नलिखित पाते हैं (१) प्रकृति प्रेम (२) सौन्दर्य भावना (शृङ्गार भावना,) (३) वैयक्तिकता (४) करुणा की विवृत्ति, (५ नारी का नया रूप, (६) मानवतावादी संदेश कलापक्ष में क्रान्ति। शृङ्गार भावना, प्रकृति प्रेम तथा अज्ञात के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति प्रकृति के माध्यम से हुई है। नारी विषयक दृष्टिकोण ने भी अनेक स्थलों पर प्रकृति का आलम्बन लिया है। अतः छायावादी काव्य में प्रकृति की महत्ता की घोषणा हुई है।

प्रकृति-प्रेम—छायावादी कवियों ने सर्वत्र प्रकृति के ही माध्यम से अपनी भावनाओं को व्यक्त किया है। उन्होंने प्रकृति का मानवीकरण कर उसे हमारी भावनाओं का प्रतीक बनाकर उपस्थित किया है। इस कारण कुछ विद्वान प्रकृति के मानवीकरण या उस पर मानव व्यक्तित्व के आरोप को ही छायावाद का प्राणतत्व मानते हैं। द्विवेदी युग में आकर सर्वप्रथम प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया गया। इसके पूर्व तो वह प्रायः उद्दीपन के रूप में ही चित्रित होती आई थी। छायावादी कवि नागरिक जीवन की कटुता और निराशा से ऊबकर Back to Nature का नारा लगाने लगे। प्रकृति का भव्य रूप सदैव से मानव के मन में रहस्य की सृष्टि करता आया है। वही इन कवियों के साथ हुआ। छायावाद के प्रारम्भिक कवियों में प्रकृति का रूप प्रायः रहस्यात्मक रहा परन्तु बाद के कवियों में प्रकृति के कई रूप चित्रित हुए। (१) वीथिका रूप में निराशावाद के सुखवाद के रूप में, (२) रहस्यवादी सत्ता के रूप में, (३) मानव की भाग्य विधायिनी सत्ता के रूप में, (४) उपमा

उत्प्रेक्षा के रूप में, (५) स्वतन्त्र रूप में तथा (६) दार्शनिक ऊहापोह के रूप में। संक्षेप में छायावादी कवियों की सारी दृष्टियों, शैलियों और सम्पूर्ण वाग्भगिमाओं को प्रकृति ने रंग दिया।

सौन्दर्य भावना—छायावादी काव्य में सर्वत्र सौन्दर्यानुभूति और सौन्दर्य के प्रति व्याकुलता की भावना व्यक्त हुई है। उसने प्रत्येक वस्तु में सौन्दर्य की स्थापना की है। मनुष्य का सौन्दर्य के प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक है। बाह्य सौन्दर्य के प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक है। बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा उसका आकर्षण आन्तरिक सौन्दर्य के प्रति अधिक होता है। छायावादियों के दो विषय अत्यन्त प्रिय रहे हैं—प्रेम और सौन्दर्य। दोनों का आपस में गहरा सम्बन्ध है। इनका प्रेम अपार्थिव रहा है और सौन्दर्य प्रधानतः वासना-प्रधान। नैतिकता प्रधान द्विवेदी-युग में काव्य-रचना करने के कारण ये कवि कली, लता, बिजली आदि प्राकृतिक वस्तुओं में 'रति' भाव भरकर चले हैं। निराला की 'शेफाली', 'जुही की कली' आदि कविताओं में स्वस्थ, सबल तथा उन्मुक्त रति-भावना का चित्रण हुआ है। इसी बात को लक्ष्य कर शुक्लजी ने छायावाद में 'कायिक भावनाओं का प्रच्छन्न पोषण' होने की बात कही थी।

वैयक्तिकता और करुणा की विकृति—वेदना का स्वर छायावादी काव्य में प्रमुख है। वे संसार में विषाद की छाया देखते हैं और करुणा में निमग्न हो जाते हैं। फलतः करूणा की प्रधानता है।

करुणा के इसी आधिक्य ने इन कवियों को व्यक्तिवादी भी बना दिया। वे सारे संसार से मुँह मोड़ कर अपने ही हास-अश्रु को व्यक्त करने लगे। 'बच्चन' में इस वैयक्तिक भावना को चरम विकास मिला। इसी कारण कुछ आलोचक इस काव्य में वैयक्तिकता का प्राधान्य मानते हैं। स्वच्छन्द रूप से समाज में व्यक्त न की जा सकने वाली भावनाएँ प्रकृति की कल्पनाओं के साथ काव्य में व्यक्त हुईं। इन कवियों का आध्यात्मिक दुखवाद अपनी गहन-तम गहराइयों तक पहुँच गया। इससे इन्हें अपनी एकान्तता का अनुभव हुआ और जीवन शून्य प्रतीत होने लगा। ये परिस्थितियों से भागकर स्वयं में ही

केन्द्रित हो गए। इस वैयक्तिकता की प्रधानता के कारण ये कवि सांसारिकता से निराश होकर आदर्श की ओर उन्मुख हुए। यही आदर्शोन्मुख भावना इन्हें आध्यात्म की ओर ले गई। इन कवियों ने जितना 'निजता' का बखान किया उतना साहित्य में और किसी भी काल में नहीं हुआ था। इसी वैयक्तिकता के ही कारण छायावादी काव्य में विषाद का स्वर इतना उभर कर आया है। प्रसाद, महादेवी, पंत आदि में इस विषाद की विवृत्ति अत्यन्त गहन रूप में प्रकट हुई है।

नारी की नई प्रतिष्ठा—छायावादी काव्य में नारी को भी नई प्रतिष्ठा मिली। वह नारी जो रीतिकाल में वासना के पंक में फँस गई थी अब उदात्त और महान् रूप में जानी पहचानी जाने लगी। नारी के सहचरि, प्राण, या आदि अनेक रूप स्पष्ट हुए। और 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' कहकर उसकी अभ्यर्थना भी की गई।

मानवतावादी—परन्तु यह छायावाद का एक पक्ष है जिसमें उपर्युक्त प्रवृत्तियों की प्रधानता मिलती है। छायावाद का दूसरा उज्ज्वल पक्ष वह है जिसमें मानवता का संदेश सबसे ऊपर उभर कर आता है। हम ऊपर कह आये हैं कि छायावादी कवि रवीन्द्रनाथ से प्रभावित थे। इस कारण कवीन्द्र के 'विश्व-बन्धुत्व' पर आधारित मानवतावाद का प्रभाव इन लोगों पर भी पड़ा था। ये अपने काव्य में 'मानव मात्र समान है' की पुकार लेकर चले थे। प्रसाद की 'कामायनी' और निराला के 'तुलसीदास' में यही सन्देश प्रधान है। क्या कामायानी के 'आनन्दवाद' को हम 'पलायनवाद' या निराशा का प्रचारक कह सकते हैं? प्रसाद, निराला, पन्त आदि छायावाद के प्रतिष्ठापक तथा पोषक कवियों में राष्ट्रीय पुनरुद्धार की भावना अत्यन्त मुखर होकर आई है। मानव प्रेम, करुणा, असाम्प्रदायिकता, उदारता, विश्व-बन्धुत्व, राष्ट्रीय जागरण आदि भावनाओं के साथ भावुकता, कल्पना तथा प्रकृति में चेतना के दर्शन करने की प्रवृत्ति ने हमारे रागात्मक सम्बन्ध में अभिवृद्धि की है। इसमें 'सुधार' का स्वर द्विवेदी-युगीन काव्य के समान स्पष्ट न होकर प्रच्छन्न रूप में आया है। इसका दृष्टिकोण सामूहिक न होकर व्यक्तिगत अधिक है। सभी व्यक्तिकतावादी कवि बच्चन की तरह निराशावादी और भाग्यवादी नहीं

उत्प्रेक्षा के रूप में, (५) स्वतन्त्र रूप में तथा (६) दार्शनिक ऊहापोह के रूप में। संक्षेप में छायावादी कवियों की सारी दृष्टियों, शैलियों और सम्पूर्ण वाग्भगिमाओं को प्रकृति ने रंग दिया।

सौन्दर्य भावना—छायावादी काव्य में सर्वत्र सौन्दर्यानुभूति और सौन्दर्य के प्रति व्याकुलता की भावना व्यक्त हुई है। उसने प्रत्येक वस्तु में सौन्दर्य की स्थापना की है। मनुष्य का सौन्दर्य के प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक है। बाह्य सौन्दर्य के प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक है। बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा उसका आकर्षण आन्तरिक सौन्दर्य के प्रति अधिक होता है। छायावादियों के दो विषय अत्यन्त प्रिय रहे हैं—प्रेम और सौन्दर्य। दोनों का आपस में गहरा सम्बन्ध है। इनका प्रेम अपार्थिव रहा है और सौन्दर्य प्रधानतः वासना-प्रधान। नैतिकता प्रधान द्विवेदी-युग में काव्य-रचना करने के कारण ये कवि कली, लता, बिजली आदि प्राकृतिक वस्तुओं में 'रति' भाव भरकर चले हैं। निराला की 'शेफाली', 'जुही की कली' आदि कविताओं में स्वस्थ, सबल तथा उन्मुक्त रति-भावना का चित्रण हुआ है। इसी बात को लक्ष्य कर शुक्लजी ने छायावाद में 'कायिक भावनाओं का प्रच्छन्न पोषण' होने की बात कही थी।

वैयक्तिकता और करुणा की विकृति—वेदना का स्वर छायावादी काव्य में प्रमुख है। वे संसार में विषाद की छाया देखते हैं और करुणा में निमग्न हो जाते हैं। फलतः करूणा की प्रधानता है।

करुणा के इसी आधिक्य ने इन कवियों को व्यक्तिवादी भी बना दिया। वे सारे संसार से मुँह मोड़ कर अपने ही हास-अश्रु को व्यक्त करने लगे। 'बच्चन' में इस वैयक्तिक भावना को चरम विकास मिला। इसी कारण कुछ आलोचक इस काव्य में वैयक्तिकता का प्राधान्य मानते हैं। स्वच्छन्द रूप से समाज में व्यक्त न की जा सकने वाली भावनाएँ प्रकृति की कल्पनाओं के साथ काव्य में व्यक्त हुईं। इन कवियों का आध्यात्मिक दुखवाद अपनी गहनतम गहराइयों तक पहुँच गया। इससे इन्हें अपनी एकान्तता का अनुभव हुआ और जीवन शून्य प्रतीत होने लगा। ये परिस्थितियों से भागकर स्वयं में ही

केन्द्रित हो गए। इस वैयक्तिकता की प्रधानता के कारण ये कवि सांसारिकता से निराश होकर आदर्श की ओर उन्मुख हुए। यही आदर्शोन्मुख भावना इन्हें आध्यात्म की ओर ले गई। इन कवियों ने जितना 'निजता' का बखान किया उतना साहित्य में और किसी भी काल में नहीं हुआ था। इसी वैयक्तिकता के ही कारण छायावादी काव्य में विषाद का स्वर इतना उभर कर आया है। प्रसाद, महादेवी, पंत आदि में इस विषाद की विवृत्ति अत्यन्त गहन रूप में प्रकट हुई है।

नारी की नई प्रतिष्ठा—छायावादी काव्य में नारी को भी नई प्रतिष्ठा मिली। वह नारी जो रीतिकाल में वासना के पंक में फँस गई थी अब उदात्त और महान् रूप में जानी पहचानी जाने लगी। नारी के सहचरि, प्राण, या आदि अनेक रूप स्पष्ट हुए। और 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' कहकर उसकी अभ्यर्थना भी की गई।

मानवतावादी—परन्तु यह छायावाद का एक पक्ष है जिसमें उपर्युक्त प्रवृत्तियों की प्रधानता मिलती है। छायावाद का दूसरा उज्ज्वल पक्ष वह है जिसमें मानवता का संदेश सबसे ऊपर उभर कर आता है। हम ऊपर कह आये हैं कि छायावादी कवि रवीन्द्रनाथ से प्रभावित थे। इस कारण कवीन्द्र के 'विश्व-बन्धुत्व' पर आधारित मानवतावाद का प्रभाव इन लोगों पर भी पड़ा था। ये अपने काव्य में 'मानव मात्र समान है' की पुकार लेकर चले थे। प्रसाद की 'कामायनी' और निराला के 'तुलसीदास' में यही सन्देश प्रधान है। क्या कामायानी के 'आनन्दवाद' को हम 'पलायनवाद' या निराशा का प्रचारक कह सकते हैं ? प्रसाद, निराला, पन्त आदि छायावाद के प्रतिष्ठापक तथा पोषक कवियों में राष्ट्रीय पुनरुद्धार की भावना अत्यन्त मुखर होकर आई है। मानव प्रेम, करुणा, असाम्प्रदायिकता, उदारता, विश्व-बन्धुत्व, राष्ट्रीय जागरण आदि भावनाओं के साथ भावुकता, कल्पना तथा प्रकृति में चेतना के दर्शन करने की प्रवृत्ति ने हमारे रागात्मक सम्बन्ध में अभिवृद्धि की है। इसमें 'सुधार' का स्वर द्विवेदी-युगीन काव्य के समान स्पष्ट न होकर प्रच्छन्न रूप में आया है। इसका दृष्टिकोण सामूहिक न होकर व्यक्तिगत अधिक है। सभी व्यक्तिकतावादी कवि बच्चन की तरह निराशावादी और भाग्यवादी नहीं

होते। उनमें आशा का एक स्वर्णिम स्वप्न भी लहराता है। इसी भावना के कारण प्रसाद 'कामायनी' जैसे श्रेष्ठ मानवतादी काव्य की रचना कर सके थे।

कलापक्ष में क्रान्ति—छायावाद के कलापक्ष का महत्व उसके भावपक्ष से भी अधिक माना गया है। इसका कारण यह है कि छायावाद ने खड़ीबोली को माँजकर उसे सशक्त, कोमल और अधिक व्यंजक बनाया है। इसमें एक नवीन अभिव्यंजन-पद्धति का आरम्भ हुआ जिसे 'चित्र-भाषा-पद्धति' भी कहा जा सकता है। इसमें अत्यन्त अरूप सादृश्य के आधार पर, आन्तरिक प्रभाव-साम्य को लेकर अप्रस्तुत तथा अपरिज्ञात वस्तुओं को प्रस्तुत किया जाता है। ऐसे अप्रस्तुत उपादान प्रतीकों के द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं। इससे छायावादी शैली की भाषा को 'प्रतीक-प्रधान भाषा' भी कहते हैं। इस नवीनता का कारण यह था कि खड़ीबोली का तात्कालिक रूप नवीन अभिव्यक्ति को व्यक्त करने में असमर्थ था। इसलिए छायावादी कवियों ने अपनी सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति के लिए नवीन शब्द-योजना प्रस्तुत की। साथ ही परम्परागत शब्दावली के साथ बाह्य समानार्थक शब्दों को भी नवीन भाव-चित्रों से समन्वित कर दिया। उन्हें 'हिलोर' में उठान, 'लहर' में सलिल के वक्ष-स्थल का कोमल स्पन्दन और 'ऊर्मि' में मधुर मुखरित हिलोरों की ध्वनि सुनाई पड़ने लगी। इस प्रकार शब्दों की वृत्तियों को विस्तृत कर जो भिन्न-भिन्न भावाभिव्यक्ति के उपयुक्त शब्दावली प्रस्तुत की गई, उसने हिन्दी भाषा की शक्ति और सौन्दर्य को कई गुना और बढ़ा दिया।

काव्य-भाषा और शब्द योजना के अतिरिक्त इस काव्य ने नई छन्दयोजना भी प्रस्तुत की। छन्दों के विविध प्रयोग किए गए। ये कवि छन्द-योजना में अन्तर्हित लयात्मकता की शक्ति को पूर्णतया पहचानते थे। इस तरह इन्होंने परम्परागत मात्रिक-योजना और वर्णवृत्त की कठोर नियम-बद्धता की उपेक्षा कर नए प्रयोग किए। निराला ने संगीत की शास्त्रीय रीति में बँधी रीति-काव्यात्मक छन्द योजना और स्वच्छन्द भावातिरेक के उपयुक्त 'मुक्तवृत्त' योजना का श्रीगणेश किया। इन कवियों ने स्पष्ट घोषणा की थी कि रीति-कालीन कवित्त सवैया और द्विवेदी द्वारा बहु-प्रचारित संस्कृत छन्द इस नवीन

काव्य धारा के लिए नितान्त अनुपयुक्त हैं क्योंकि उनमें नाद-सौंदर्य नहीं आ सकता। ये कवि सौंदर्य के उपासक थे अतः प्रत्येक क्षेत्र में सुन्दरता के प्रतिपादन में प्रयत्नशील रहे और सफल हुए। स्वरूप-विधान की दृष्टि से यह काव्य प्रधानतः गीतात्मक रहा। परन्तु यह काव्य लोक जीवन से विच्छिन्न होकर केवल 'स्व' में केन्द्रित था। इस काव्य ने हमें दो सर्वथा अभिनन्दनीय वस्तुएँ प्रदान कीं—गीति-प्रबन्ध और मुक्तवृत्त प्रबन्ध। यह नवीन प्रयोग थे। गीति प्रबन्ध की 'कामायनी' सर्वश्रेष्ठ रचना मानी जाती है। यह रूप इतना आकर्षक था कि गुप्तजी भी 'यशोधरा' और 'साकेत' में इसे अपनाने का लोभ संवरण न कर सके।

यहाँ तक हम छायावाद की मूल-प्रेरणा, उसकी उद्भावना, उसके भाव-पक्ष तथा कलापक्ष पर प्रकाश डालकर उसकी रूपरेखा समझने का प्रयास कर चुके। अब संक्षेप में उसके विकास और परिणति को देख लेना आवश्यक है।

हिन्दी में छायावाद का विकास—साधारणतः छायावाद के प्रवर्त्तक के रूप में प्रसाद जी का नाम लिया जाता है। परन्तु शुक्ल जी मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पांडेय को छायावाद का प्रवर्त्तक मानते हैं। किन्तु रायकृष्णदास, पन्त तथा इलाचन्द्र जोशी प्रसाद को छायावाद का जनक मानते हैं। पंत जी तो प्रसाद जी की 'झरना' कृति को हिन्दी में छायावाद की प्रथम कृति मानते हुए उसे 'नवीन अभिव्यक्ति का झरना' मानते हैं। अतः प्रसाद जी को छायावाद का प्रवर्त्तक मानना उचित है।

छायावाद काव्य का प्रारम्भ तो वैसे सन् १९०९ में 'इन्दु' के प्रकाशन से ही माना जाता है परन्तु १९२० तक इसके रूप में कोई उल्लेखनीय निखार नहीं दिखाई देता। इसलिए इसका वास्तविक प्रारम्भ आलोचकों ने सन् १९२० माना है। जब हम १९२० से इस प्रवृत्ति का अध्ययन प्रारम्भ करते हैं तो यह दिखाई पड़ता है कि इस काव्य के प्रथम पाँच वर्ष (१९२०-२५) बहुत ही विवाद-ग्रस्त रहे हैं। यह काव्य नई आशा, नया हर्ष तथा नई उत्तेजना लेकर उपस्थित हुआ था। नई वस्तु और नई शैली, नए छन्द और नई उक्तियाँ शब्दों का नया चयन, नया पद-विन्यास, बन्धनहीन स्वच्छन्द प्रवाह, बँगला अँग्रेजी और संस्कृत के अध्ययन से प्रभावित नया स्वरूप और सर्वोपरि यह

सत्य कि कला व्यक्ति को अभिव्यक्ति और प्रसार देने का ही एक साधन है, इन सब कारणों से काव्य जगत में एक बवन्डर सा उठ खड़ा हुआ जिसमें सब कुछ नया था। इस नवीनता से भयभीत तथा काव्य हत्या के भय से संत्रस्त द्विवेदीजी और उनके नए-पुराने सभी सहयोगियों ने एक स्वर से इसका विरोध करना आरम्भ कर दिया।

परन्तु छायावाद के समर्थक और पोषक इस विरोध से डरे नहीं क्योंकि वे कर्मठ, साहसी और अध्ययनशील साधक थे। उन्होंने इस विरोध का समुचित उत्तर दिया। छायावाद प्रसाद, पन्त, निराला का संरक्षण और साहचर्य पाकर फूलता-फलता रहा और एक दिन वह आया जब दिवेदी जी द्वारा संस्थापित साहित्यिक मर्यादाओं का अस्थि-विसर्जन कर दिया गया। यह युग की प्रतिगामी रूढ़ियों पर विजय थी। छायावाद ने हिन्दी कविता को यदि कोई अन्य ठोस वस्तु नहीं दी तो कम-से-कम यह तो मानना ही पड़ेगा कि उसने आधुनिक हिन्दी काव्य और भाषा को शक्ति, सजीवता और सौन्दर्य प्रदान किया। सन् १९२५-३० तक हिन्दी कविता पकने लगी और सधने लगी। उसका प्रयोगकाल समाप्त होकर उसमें स्थायित्व आने लगा। सन् १९२७ में प्रसाद के 'आँसू' में छायावाद का अत्यन्त परिष्कृत और उन्नत रूप दिखाई पड़ा। प्रसाद के 'आँसू', 'लहर' में; पन्त के 'वीणा,' 'पल्लव' और 'गुंजन' में, महादेवी के 'नीहार,' 'रश्मि,' 'नीरजा', और 'दीपशिखा' में; निराला के 'अनामिका,' 'परिमल' तथा 'गीतिका' आदि काव्य-संग्रहों में छायावाद के सुन्दरतम रूप के दर्शन हुए— और 'कामायनी' में छायावाद का उत्कर्ष हुआ।

छायावाद अपनी स्वर्ण श्री बिखेर कर कुछ काल पश्चात् मंद पड़ गया। छायावाद के समाप्त होने के कुछ कारण थे। इस काव्य में बौद्धिकता तथा कल्पना का रूप इतना अधिक था कि उसे समझ पाना विद्वानों के लिये भी मुश्किल पड़ जाता है। कामायनी की भावना प्रसाद जी के ही शब्दों में— "अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौंदर्य के द्वारा 'अहं' का 'इदं' से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है।" परन्तु साधारण छायावादी रचनाएँ उस उच्च धरातल को स्पर्श नहीं कर पातीं। दूसरी बात यह कि जीवन के

प्रति छायावाद का दृष्टिकोण वैज्ञानिक न होकर भावात्मक था जो युग की तेजी से बदलती हुई संघर्षपूर्ण परिस्थितियों में स्वीकार नहीं किया जा सकता था, इसीलिये वह निष्क्रिय रहा। यही उसकी सबसे बड़ी निर्बलता और मृत्यु का कारण बना।

छायावाद अधिक काल तक नहीं चल सका, इसका कारण बताते हुए पंत ने लिखा है कि—"**छायावाद इसलिये अधिक नहीं चल सका क्योंकि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्य बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रह कर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।**"

इसी कारण पन्त ने—"छायावाद के शून्य सूक्ष्म आकाश में अति काल्पनिक उड़ान भरते वाली अथवा रहस्य के निर्जन प्रहस्य शिखर पर विराम करने वाली "कल्पना" को "एक हरी भरी ठोस जनपूर्ण धरती" प्रदान कर उसे जग-जीवन के साथ ला मिलाया। निराला बहुत पहले से ही इस प्रवृत्ति को छोड़कर यथार्थ की ओर झुक रहे थे। उनके काव्य में प्रगतिवाद का यथार्थवादी स्वर स्पष्ट हो उठा था। इसी यथार्थ या प्रगतिवाद ने कल्पना लोक में विचरण करने वाले छायावाद को क्षीण कर दिया।

तथापि कोई कितना भी कहे किन्तु यह बात सत्य है कि हिन्दी में भक्ति काल के बाद छायावादी युग में ही इतनी उच्च कोटि की कविता लिखी गई। सूर, तुलसी जैसे महाकवियों के बाद हिन्दी को प्रसाद और निराला ही मिले। प्रसाद जो युग के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार थे—छायावादी युग की ही देन थे और 'कामायनी' जो हिन्दी में 'रामचरितमानस' के बाद सर्वश्रेष्ठ काव्य ग्रन्थ माना जाता है—छायावादी काव्य का ही उत्कृष्ट रूप है। इसीलिये बहुत से आलोचकों ने छायावादी काव्य को 'हिन्दी का स्वर्ण काव्य, कहा है।

७—हिन्दी-साहित्य में प्रगतिवाद

प्रगतिवाद का स्वरूप—साहित्य जीवन की व्याख्या है और जीवन का दूसरा नाम है गति। अतएव 'गति' या 'प्रगति' साहित्यि का मूल लक्षण है।

सृष्टि के आरम्भ से मानव-जीवन गतिशील रहा है और साहित्य उसे अभिव्यक्ति देता रहा है। हम प्रस्तर युग से धातुयुग, कृषि युग, निरंकुश शासकीय युग, सामन्तवादी युग और पूंजीवाद युग से विकास करते-करते आज के युग में आये हैं और एक युग से दूसरे युग की ओर चरण बढ़ाने में हमारे जीवन के मान में, उसकी स्थिति में और साथ ही तदनुरूप हमारी विचार पद्धति एवं भावना में परिवर्तन होता गया है और उसको वाणी देने के कारण हमारे साहित्य में भी परिवर्तन होता रहा है। इसी परिवर्तन का दूसरा नाम 'गति' या 'प्रगति' है। अतएव सामान्य अर्थ में प्रगतिवादी साहित्य वही है जो जीवन को गतिशील बनाये, उसे वर्तमान से भविष्य की ओर विकास के मार्ग पर ले जाये और तत्कालीन जीवन के अभावों की पूर्ति करने में योग दे और उसके दूषणों को काट छाँट दे। इसके विपरीत जो साहित्य जीवन को पंगु बनाकर पीछे की ओर ले जाता है, वह प्रतिक्रियावादी साहित्य है। इसी कारण साहित्य को आगत का दर्पण और अनागत का प्रदीप कहा गया है। क्योंकि जहाँ साहित्य में तत्कालीन युग की सांस्कृतिक, बौद्धिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब झलकता है, वहाँ जीवन के लिए प्रेरणा भी मिलती है। जो साहित्य मानव चेतना को उद्बुद्ध करने में असमर्थ है, जो मानव के हृदय सागर के मंथन की क्षमता नहीं रखता, जिसमें जीवन को गतिशील बनाने की शक्ति नहीं है और जो जीवन के लिए आलोक तक नहीं दे सकता वह साहित्य प्रगतिवादी नहीं कहा जा सकता।

प्रगतिवादी साहित्य जिस आधार पर खड़ा है, उसका मूल है मार्क्स का भौतिकवादी दर्शन। अतः प्रगतिवाद को समझने के लिए मार्क्सवाद को समझना आवश्यक है। प्रगतिवाद का प्रेरणा स्रोत मार्क्सवाद ही है। मार्क्स-वादी दर्शन के अनुसार सृष्टि का मूल भौतिक पदार्थ है और वर्त्तमान जगत उसी का विकसित रूप है। परिवर्तन या विकास अथवा प्रगति जगत् का स्वाभाविक लक्षण है, उसमें किसी परोक्ष सत्ता का हाथ नहीं है, अपितु वह स्वतः ही गतिशील रहता है। प्रस्तुत अवस्था के भीतर, आन्तरिक असंगतियों का प्रादुर्भाव होता है, जिनमें उनके विनाशकारी तत्व समाहित होते हैं। परि-णाम-स्वरूप असंगतियों की निरन्तर वृद्धि पूर्व अवस्थान के नाश और

प्रत्यवस्थान की सृष्टि की जननी होती है । इस प्रत्यवस्थान में पुनः आन्तरिक असंगतियाँ उत्पन्न होती हैं और उसके विनाश के अनन्तर पुनः एक समवस्थान की सृष्टि होती है । इसी प्रकार दो विरोधी तत्वों के निरन्तर संघर्षण से सृष्टि गतिशील रहती है । कुछ समय तक दोनों विरोधी तत्वों में साम्यावस्था रहती है, फिर स्वतः ही क्षोभ उत्पन्न होने पर उनमें द्वन्द्व होता है और परिणामस्वरूप जो नया अवस्थान उत्पन्न होता है, उसमें फिर दोनों तत्व साम्यावस्था में आ जाते हैं । ये द्वन्द्व और साम्य ही सृष्टि के विकास के कारण हैं, यही 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' है ।

इसके अनुसार वस्तु का संसार ही सत्य है, विचार का नहीं । सृष्टि का विकास इसी पदार्थमय जगत से ही हुआ है, किसी अव्यक्त सत्ता के प्रत्यक्षीकरण से नहीं । पदार्थ की सृष्टि के अनन्तर ही विचारों की सृष्टि होती है और यही सम्भव भी है । अतः वस्तु के उत्पादन की शक्तियों का उत्कर्ष ही मानवीय उत्कर्ष का जनक हो सकता है । उत्पादन शक्ति की प्रगति का प्रत्येक सोपान उनके प्रयोग के लिए एक व्यवस्था को जन्म देता है । ये आर्थिक सम्बन्ध उचित राजनैतिक तथा सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं, जिनसे आर्थिक व्यवस्था भी प्रभावित होती है । इन्हीं सम्बन्धों से वर्गों का जन्म होता है और इनमें संघर्ष होने लगता है । यह संघर्ष इतना बढ़ जाता है कि एक नवीन वर्गहीन व्यवस्था का जन्म होता है और वर्ग संघर्ष की समाप्ति हो जाती है ।

मार्क्सवाद के अनुसार समाज संघटन का मूलाधार आर्थिक व्यवस्था है और इसी आर्थिक व्यवस्था पर ही समाज के राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं कलात्मक सम्बन्ध आश्रित हैं तथा इसी आर्थिक व्यवस्था का व्यतिक्रम इतिहास को बदलता है । इस सम्बन्ध में ऐंगिल्स के विचार हैं—'**समस्त सामाजिक परिवर्तनों तथा राजनैतिक के अन्तिम कारण न तो मनुष्यों के मस्तिष्क में और न मनुष्य के चरम सत्य और न्याय सम्बन्धी विशेष ज्ञान में पाये जाते हैं वरन् वे उत्पत्ति तथा विनिमय के ढङ्गों में ही मिल सकते हैं ।**" इससे स्पष्ट हैं कि इतिहास आर्थिक सघर्ष पर ही आधारित है । आर्थिक परिस्थितियों से ही प्रेरित होकर मनुष्य इतिहास को बदलने के लिए प्रेरित होता है ।

यही इतिहास की अर्थ मूलक व्याख्या है। समाज में वर्तमान दुःख एवं क्लेश का कारण यह आर्थिक वैषम्य ही है। आर्थिक संघर्ष की दौड़ में वस्तुओं के उत्पादन, विनिमय और वितरण पर एक वर्ग का स्वामित्व स्थापित हो जाता है और दूसरा वर्ग उसके आश्रित होकर उसके लाभ का साधन-मात्र बन जाता है। इनमें पहला वर्ग पूंजीपति वर्ग या शोषक वर्ग कहलाता है और दूसरा वर्ग शोषित वर्ग या सर्वहारा वर्ग कहलाता है। आर्थिक व्यवस्था का नियन्त्रण प्रथम वर्ग के हाथ में होने से दूसरा वर्ग संघर्ष के लिए प्रेरित हो जाता है और दोनों वर्ग द्वन्द्व की ओर धावित होने लगते हैं। इस द्वन्द्व की समाप्ति ही सुख और समृद्धि का कारण हो सकती है और यह द्वन्द्व वर्गवाद के समाप्त होने पर ही विनष्ट हो सकता है। इसी कारण वर्ग विहीन और श्रेणी विहीन समाज की स्थापना की आवश्यकता है और जो साहित्य इसमें योग देता है, वही प्रगतिवादी साहित्य है।

मार्क्सवादी विचारधारा ने मानव चेतना को उदबुद्ध किया है और उस के सुख और शान्ति की व्यवस्था का मूल श्रेणी-विहीन समाज की स्थापना में ही माना है। इसी सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति करना ही साहित्य का कर्तव्य है। अतएव साहित्य को 'सर्वहारा' के संघर्ष को बल देना अभीष्ट है। क्योंकि जब तक पूँजीवादी व्यवस्था रहेगी तब तक समाज का विकास असम्भव है और तब तक सुख समृद्धि भी स्वप्नलोक की ही वस्तुयें रहेंगी। पूँजीपति जनतन्त्र के अभिनय से एक ओर जन साधारण को परितुष्ट करने का प्रयत्न करता है। दूसरी ओर अपने चरणों को पुष्ट करते हुए 'सर्वहारा वर्ग' की क्रान्ति भावना को दबाता है। धार्मिक अन्ध-विश्वासों, ईश्वरेच्छा एवं भाग्यवाद के प्रचार से जनता को निष्क्रिय बनाने की चेष्टा करता है और अपने स्वार्थों की पूर्ति में लीन रहता है। अर्थ के बल से वह साहित्य, विज्ञप्ति के साधनों, सरकार तथा अन्य सभी संस्थाओं को प्रभावित करके अपने पक्ष को दृढ़ बनाने का प्रयत्न करता है और जनता को असंस्कृत, अशिक्षित और चेतनाहीन बनाने में ही अपना कल्याण समझता है। क्योंकि चेतनाहीन जनता के ऊपर अपने स्वार्थों को भी उसके हित में सिद्ध करके लाद सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हर मूल्य में वह 'सर्वहारा वर्ग'

के संघर्ष को पनपने नहीं देना चाहता। अतः साहित्य-प्रदीप के वाहक साहित्यकार का कर्तव्य है कि वह पूँजीपति की इस प्रतिक्रियात्मकता का विस्फोट करे और प्रगतिगामी सर्वहारा वर्ग को साहित्य में गौरव पूर्ण स्थान दे। राजाओं, देवताओं एवं आदर्शों का चित्रण छोड़कर व्यक्ति का चित्रण करे, पीड़ित एवं शोषित जनता के चित्र उपस्थित करके विद्रोहात्मक भावनाओं को जन्म दे, शृङ्गार और विलास प्रधान काव्य लिखकर साहित्य को केवल मनोरंजन का विषय न बनाये, अपितु उससे जनवादी संस्कृति को चेतना दे। असत्य दार्शनिकता को प्रश्रय न देकर वस्तुवाद और यथार्थ को अपनावे तथा जनहितकारी साहित्य का सृजन करे।

प्रगतिवाद का मूलाधार मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद होने से उसका सम्बन्ध यथार्थ से निकट का हो गया है। वस्तु या भूत की प्रधानता होने के कारण प्रगतिवाद कल्पना की अपेक्षा यथार्थ की ओर अधिक उन्मुख है और उसमें यथार्थ चित्रण को अधिक महत्व दिया जाता है। किन्तु प्रगतिवाद का मूल लक्ष्य है जनहित या जन कल्याण। वह साहित्य को केवल साहित्य के लिए अथवा कला को मात्र कला के लिए नहीं मानता है, उसके अनुसार साहित्य या कला जीवन के लिए हैं। अतः प्रगतिवाद में यथार्थ का वही अंश ग्राह्य है, जो प्रगति का सहायक है तथा जो जन हित की दृष्टि से वांछनीय है। वास्तव में प्रगतिवाद समाज की पीड़ा को, करुणा को, अशक्तता को, दयनीयता को, निरीहता को, बेबसी को, उत्पीड़न को, शोषण को, असमता को, पक्षपात को एवं दमन के अकाण्ड ताण्डव को चित्रित करता है, उसकी वीभत्सता को, कुरूपता को, कुत्सा को तथा अश्लीलता को नहीं। वह जीवन के ऐसे पक्ष को ही अपनाता है, जिस में जन संस्कृति के उत्थान के तत्व निहित हों।

प्रगतिवाद को लांछित करने वाला फ्राइड का अतियौनवाद अथवा अवचेतनवाद भी है। वह भी यौन संबन्ध की उच्छृंखलता या उन्मुक्तता पर बल देकर यथार्थ का समर्थन करता है। जिस प्रकार मार्क्स सृष्टि का मूल भौतिक द्वन्द्व और सामाजिक परिवर्तन का कारण आर्थिक संघर्ष को मानता है, उसी

प्रकार फ्राइड सृष्टि के मूल में काम भावना मानता है। फ्राइड के अनुसार काम भावना सबसे प्रमुख भावना है। दमित कामेच्छायें ही मानव के अव-चेतन में पैठ जाती हैं, जिनकी अभिव्यक्ति या तो स्वप्न में होती है या उनका विस्फोट कला के रूप में होता है। सम्पूर्ण कलाओं और साहित्य के मूल में यही 'काम भावना' है। यदि ध्यान से देखा जाय तो यह सिद्धान्त अत्यन्त भ्रामक है। फ्राइड ने तो इस भावना का इतना व्यापक विस्तार माना है कि वह पिता-पुत्री और माता-पुत्र के वात्सल्य में भी विपरीत लिंग होने से इसी 'काम भावना' का आरोप करता है। यही नहीं बच्चे के अँगूठे चूसने, काटने, किसी तरल पदार्थ को पीने और मल त्यागने में भी इसी भावना को निहित मानता है। इसी काम भावना की दमित कुण्ठाओं एवं अतृप्त आकांक्षाओं का परिणाम साहित्य है। अतः फ्राइड 'काम भावना' की उन्मुक्तता पर बल देता है। यह काम भावना मनुष्य की इच्छा शक्ति और चेतना पर भी अधिकार किए हुए है। अतएव मानव चेतना के जितने भी रूप मिलते हैं, वे सभी 'काम भावना' के ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष स्वरूप हैं। फ्राइड के इस सिद्धान्त का यह प्रभाव हुआ कि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं यथार्थ के नाम पर "काम-भावना" की उच्छृंखलता के ऐसे चित्र अंकित किए गए, जिनको देखकर अश्लीलता भी लज्जित होती है और उन्हें प्रगतिवाद में सम्मिलित करके प्रगतिवाद की भी कपाल क्रिया करने का प्रयत्न किया गया।

काम भावना की उच्छृंखलता को प्रगतिवादी परिधि के अन्तर्गत समावे-शित करने का भ्रम उत्पादन के साधनों की सार्वजननीनता के कारण हुआ। क्योंकि पूंजीवादी नारी को उत्पादन के साधन के रूप में ही देखता है। अतएव उसके भी सार्वजनिक अधिकार की सहज ही कल्पना कर ली गई और प्रगतिवाद के नाम पर अश्लीलतम रचनायें की गईं। इस सम्बन्ध में विश्व के प्रमुख प्रगतिवादी विचारधारा के पोषकों एवं साम्यवाद के उन्नायकों का मत उद्धृत करना समीचीन होगा। गोर्की को इस उच्छृंखल काम भावना के प्रसार से कितनी पीड़ा हुई, वह इस कथन से स्पष्ट है"—**'मैं प्रेम की बात पर कुछ न कहूंगा। फिर भी इतना कहूँगा कि नई पीढ़ी ने यौन संबंधों में एक दूषित अति सरलता का अवलम्बन किया है, जिसके लिए इन अपरा-**

धियों को बहुत भारी दाम चुकाना पड़ेगा। मेरी यह आन्तरिक इच्छा है कि इस प्रकार की लज्जजनक गड़बड़ियों के लिए इन्हें जल्दी सजा मिले।" इस प्रकार लेनिन ने भी उन्मुक्त यौन संबंध की अवहेलना करते हुए कहा— "यह जो प्रेम की बन्धन मुक्ति की बात कही जाती है, यह न तो कोई नई बात है और न साम्यवादियों का इससे सम्बन्ध है। तुम्हे याद होगा कि गत शताब्दी के मध्यभाग के लगभग हृदय की मुक्ति के नाम से यह आन्दोलन रोमाण्टिक साहित्य में चल निकला था। पर पूंजीपतियों के हाथों में पड़ कर यह आन्दोलन कामुकता की मुक्ति बनकर रह गया। उन दिनों इसका जिस प्रकार कार्य होता था, वह कुछ प्रतिभापूर्ण था। रहा व्यवहार, तो मैं उनकी तुलना करने में असमर्थ हूँ। मैं यह नहीं कहता कि लोग लँगोट लगाकर सन्यासी बन जायँ। कभी नहीं। समाजवाद यतिवाद में विश्वास नहीं करता, पर जीवन का आनन्द, जीवन की शक्ति तथा पूर्ण सन्तुष्ट जीवन समाजवाद का ध्येय है। मेरा यह विचार है कि इस समय प्रचलित यौन उच्छृंखलता से जीवन को आनन्द तथा शक्ति प्राप्त न होकर उससे छिन जाते हैं। क्रान्ति के युग में यह बुरा, बहुत ही बुरा है।" एंगेल्स ने भी अपनी 'परिवार की उत्पत्ति' नामक पुस्तक में यौन सम्बन्ध की उच्छृंखलता को गंदी नाली का पानी पीना कहा है और प्रेम की सामाजिकता का समर्थन किया है। अतः यौन आचार की उच्छृंखलता को प्रगतिवाद में सम्मिलित करना प्रगतिवाद को न समझना है।

प्रगतिवादी विचाराधारा के इस विवेचन से हम प्रगतिवाद की विशेषतायें इस प्रकार निरूपित कर सकते हैं :—

१, प्रगतिवाद साहित्य और कला का लक्ष्य शोषित मानवता का त्राण उत्थान एवं उत्कर्ष मानता है।

२. वह पूंजीवादी को मानवता का शत्रु मानकर उसके तथा उसके सहायक या समवर्गीय साम्राज्यवाद, नात्सीवाद एवं पाशववाद आदि के विनाश में विश्वास करता है और प्रगतिवादी कलाकार इनके विरुद्ध तीव्र असन्तोष और विद्रोह की भावना का संचार करता है।

३. प्रगतिवाद शोषण को मिटाने लिए वर्ग संघर्ष को उत्तेजना देता है और उसका चित्रण करके त्याग और उत्सर्ग की भावना भरता है।

४. जन साहित्य और जन कला द्वारा जन सम्पर्क स्थापित करके जन-संस्कृति के निर्माण द्वारा सामाजिक क्रांति के बीज बोता है।

५. ईश्वर, धर्म, रूढ़ि एवं भाग्यवाद आदि सामन्तकालीन आदर्श जो मनुष्य को भुलावे में डालकर निष्क्रिय और अकर्मण्य बनाते हैं, उनकी अव-हेलना करके भौतिकता को प्रोत्साहन देता है।

६. वर्गहीन समाज के मनोरम एवं स्वर्णिम एवं चित्रों का विधान करके उसके विरुद्ध उठने वाली निर्मूल शंकाओं का समाधान करके जनता में वर्ग संघर्ष के प्रति आस्था उत्पन्न करता है।

७. धर्म के ठेकेदारों— पुजारियों, पादरियों एवं मुल्लाओं आदि--भूमि-पतियो और सामन्तवादी विचारों के पोषकों की जनहित घातक मनोवृत्तियों का चित्रण करके उनके प्रति श्रद्धा-भावना की समाप्ति करता है और जन-वादी व्यवस्था का समर्थन करता है।

८. मानव के प्रतिक्रियावादी तत्वों के उन्मूलन की प्रेरणा देता है।

९. मानव की स्वाभाविक वृत्तियों के अनावश्यक दबाव का विरोध करता है किन्तु उनके सामाजिक महत्व की अवहेलना नहीं करता।

१०. नारी के शोषण का विरोध करता है, लेकिन प्रेम के स्वस्थ उप-योगी एवं जीवन के प्रेरक पक्ष का समर्थन करता है। फ्राइड के वैयक्तिक एवं असामाजिक विचारों को अपनी परिधि में स्थान नहीं देता है।

११. साहित्य और कला की उपादेयता जीवन के समीक्षण में ही मानता है।

सर्वहारा वर्ग का पूर्ण प्रतिनिधित्व करके जन-मंगल-विधान में पूर्ण विश्वास रखता है।

प्रगतिवाद की इन मान्यताओं और विशेषताओं को देखकर कतिपय आलो-चकों ने इसे पुरातन संस्कृति का विरोधी कहा है। किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। प्रगतिवाद विकास में विश्वास करता है। प्रत्येक युग अपने से आगे ही चलता है और पिछली मान्यतायें निरर्थक सिद्ध हो जाती हैं। प्रगतिवाद

ऐसी धारणाओं और मान्यताओं की अवश्य अवहेलना करता है, जिनकी ऐतिहासिक आवश्यतायें समाप्त हो चुकी हैं और जो विकास विरोधिनी है। लेकिन जो विकास के भवन को दृढ़ करने वाली हैं, उनका समर्थन करता है। इस सम्बन्ध में लेनिन के ये विचार द्रष्टव्य हैं—"**सुन्दर की रक्षा करनी पड़ेगी, उसे माडेल के रूप में लेना पड़ेगा और वहाँ से रूप निर्माण का आरम्भ करना पड़ेगा चाहे वह पुरानी या प्राचीन है, इस कारण यदि वह वास्तविक रूप से सुन्दर है, तो हम उससे मुँह क्यों मोड़ें, उसे आगामी विकास के प्रारम्भ विन्दु के रूप में लेने से इन्कार क्यों? हम किसी चीज की केवल इसलिए पूजा क्यों करें तथा उसके सामने सिर क्यों झुकायें कि वह नई है? यह वाहियात बात है, बिल्कुल वाहियात।**" आगे वे और भी स्पष्ट रूप से कहते हैं—"**पूँजीवाद ने संस्कृति-ज्ञान तथा टेकनीक का जो ऐश्वर्यशाली भण्डार छोड़ा है वह हमारे लिए आध्यात्मिक रूप से आवश्यक है, हम उसे पूँजीवाद के अस्त्र से समाजवाद के अस्त्र के रूप में परिवर्तित कर लें।**" अतः प्रगतिवाद पूर्णतः प्राचीनता का विरोधी नहीं है। जन-संस्कृति के घातक तत्वों का विरोधी है।

प्रगतिवाद के मौलिक सिद्धान्तों से जहाँ तक सम्बन्ध है, वहाँ तक प्रगतिवाद की सभी मान्यतायें चिरन्तन नहीं हैं क्योंकि प्रत्येक युग में प्रगति की माँग भिन्न होगी। अतः प्रगति का स्वरूप भी भिन्न ही होगा। ऐसी दशा में एक ही बात विशेष समय में प्रगतिवादी हो सकती है, वही परिस्थितियों की विभिन्नता में प्रगति विरोधी भी हो सकती है। प्रगति का दूसरा नाम ही विकास है।

हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद—छायावाद की स्वप्निल सृष्टि से कलाकार की आत्मा को विश्रान्ति नहीं मिली और वह पुनः जन-जीवन की ओर उन्मुख हुआ। यह हम देख ही चुके हैं और देश की परिस्थिति किस प्रकार साहित्य को जनवाद की ओर मोड़ रही थी, यह भी हमने ऊपर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है और 'प्रगतिशील-लेखक-संघ की' स्थापना के अनन्तर किस प्रकार 'रूपाभ' और 'हंस' प्रगतिशील साहित्य को प्रेरणा दे रहे थे, यह भी हमने देखा है। अब हिन्दी के प्रगतिशील साहित्य की प्रगति पर विचार करेंगे।

काव्य के क्षेत्र में प्रगतिवादी विचारधारा के आगमन से क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। कल्पना के पंखों पर चढ़कर छायालोक में विहार करने वाले कवि धरा पर उतर आये। कविवर पन्त ने छायावादी 'युग का अन्त' करके 'युग की वाणी' दी और उन्होंने 'ग्राम्या' के सौन्दर्य में 'पल्लव' और 'वीणा' के सौन्दर्य को भुला दिया। पूंजीवाद, सामन्तवाद और साम्राज्यवाद से इनका हृदय आहत हुआ और वर्गवाद के विरुद्ध उन्होंने तीव्र स्वर से कहा—

'श्रेणिवर्ग में मानव नहीं विभाजित।
धन बल से हो जहाँ न जन श्रम शोषण॥
पूरित भव-जीवन के निखिल प्रयोजन।"

मार्क्सवादी विचारों से भी पन्त जी बहुत प्रभावित हुए और सुख, समृद्धि के लिए साम्यवाद का हार्दिक अभिनन्दन करने के लिए प्रस्तुत हो गये। उन्होंने स्पष्ट कहा—

"साम्यवाद के साथ स्वर्ण युग करता मधुर पदार्पण।
मुक्त निखिल मानवता करती मानव का अभिवादन॥"

प्रमुख रहस्यवादी और दार्शनिक कवि निराला ने भी समाज के पीड़ित और दुखी वर्ग को वाणी दी। उन्होंने भिक्षुक, दीन, विधवा और श्रम करने वाली मजदूरनी पर लेखनी चलाई। 'वह तोड़ती पत्थर' शीर्षक कविता में गिट्टी फोड़ने वाली श्रमिक नारी की विवशता, भय और कार्यलीनता का मार्मिक वर्णन करने के साथ पूंजीपतियों की विलासिता और क्रूरता का भी आभास दिलाया। कवि सुधीन्द्र ने भी मानवता की सिसकती साँसों और दानवता के अट्टहासों की तुलना करते हुए लिखा :—

"एक ओर समृद्धि थिरकती, पास सिसकती है कंगाली।
एक देह पर एक न चिथड़ा, एक स्वर्ण के गहनों वाली॥
उधर खड़े हैं रम्य भवन वे आसमान को छूने वाले।
और बगल में बनी झोंपड़ी जिसके पत्थर चूने वाले॥"

कविवर दिनकर ने इस वैषम्य का और भी मार्मिक चित्रण किया है। वह कितना यथार्थ और कितना करुण है :—

"श्वानों को मिलता दूध वस्त्र, बच्चे भूखे अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं॥
युवती की लज्जा वसन बेच तब ब्याज चुकाये जाते हैं;
मालिक जब तेल फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं॥"

कवि ने किसानों की दीन दशा और जमींदारों के नृशंस अत्याचारों का चित्रण किया। किन अरमानों से किसान अपने शरीर के रक्त को सुखाकर अन्न उत्पन्न करता है, उसे देखकर उसका हृदय पुलक से भर जाता है, लेकिन दूसरे ही क्षण खलियान से ही उसकी सम्पत्ति लूट ली जाती है, उस के अरमानों का विश्व उजड़ जाता है और थोड़ा सा भी विरोध उसके प्राणों का ग्राहक बन जाता है। घोर मांसलवादी कवि अंचल भी उस दृश्य की करुणा को न देख सके और उन्होंने उसे इस प्रकार व्यक्त किया :—

"इन खलिहानों में गूँज रही किन अरमानों की लाचारी।
हिलती हड्डी के ढाँचों ने, पिटती देखी घर की नारी॥
युग युग के अत्याचारों की आकृतियाँ जीवन के तल में।
घिर घिर कर पुंजीभूत हुई ज्यों रजनी के छाया छल में॥"

ऐसा ही और इससे भी करुण जीवन नगर के मजदूरों का है, जिनके पसीने से पूँजीपति अपने भवन सजाते हैं, विलास के उपकरण एकत्र करते हैं और रंगीन जीवन के दिन बिताते हैं। उदयशंकर भट्ट ने मजदूर की इसी दशा को वाणी देते हुए लिखा :—

"मेरी बरसातें आँसू रे, मेरा बसन्त पीला शरीर।
गरमी झरनों का स्वेद और मेरे साथी दुख, दर्द, पीर॥
दिन उनको, मुझको रात मिली, श्रम मुझे, उन्हें आराम मिला।
बलि दे देने को प्राण मिले, हण्टर को सूखा चाम मिला॥"

इस शोषण और वर्ग वैषम्य को अप्रत्यक्ष रूप से खाद्य देने वाले अन्य तत्वों की ओर भी प्रगतिवादी कवि का ध्यान गया। प्राचीन रूढ़ियाँ जहाँ शोषक समाज को बल देती हैं, वहाँ शोषणों को और भी दुर्बल बना देती हैं। अतएव प्रगतिवादी कवि ने रूढ़ियों पर भी प्रहार किया। नरेन्द्र ने 'रूढ़िवाद' के विरुद्ध आक्रोश प्रकट करते हुए लिखा :—

"यह मूर्तिमान जाग्रत मसान, अरमान और इच्छाओं का।
यह कारागार, भार भू का, जिसको जग कहता है समान।
है जीने का अधिकार नहीं, हमको किस्मत की मर्जी पर।
जड़ रूढ़िवाद के शव को जो जीवित कहता है आह ! आज।"

धर्म की आड़ में नृशंसता का नग्न नृत्य सजाने वाले धर्माधिकारियों और पाखंडियों की खिल्ली उड़ाते हुए कवि ने कहा—

"दिन भर अधरम करने वाले, पर नारी को ठगने वाले।
पर सम्पत्ति को हरने वाले, भीषण हत्या करने वाले।।
धर्म लूटने के अधिकारी टोली की टोली में निकले।।"

भाग्य के नाम पर गरीबों को आश्वत करने वालों का भंडा फोड़ किया गया—

"एक व्यक्ति संचित करता है अर्थ कर्म के बल से।
और भोगता उसे दूसरा अरे भाग्य के छल से।।"

मार्क्सवादी विचारों की स्वर्णिम सफलता और साम्यवाद के सुशासन का स्वरूप रूस में पूर्णतः विकसित हुआ। राजनीति के क्षेत्र में भी भारतीय साम्यवादी रूसी विचारधारा से अधिक प्रभावित हुए और साहित्य में प्रगतिवाद पर भी रूस का प्रभाव पड़ा और कवियों ने रूस के सम्बन्ध में भी कवितायें लिखीं। यहाँ तक कि रूस पर "अजेय खंडहर" नामक एक खण्ड-काव्य की भी रचना हुई। नरेन्द्र ने कहा—

"लाल रूस है ढाल साथियो, सब मजदूर किसानों की।
वहाँ राज है पंचायत का, वहाँ नहीं है बेकारी।।
लाल रूस का दुश्मन साथी, दुश्मन सब इन्सानों का।
दुश्मन है, सब मजदूरों का, दुश्मन सभी किसानों का।।"

और दूसरी ओर 'मास्को अब भी दूर है' के द्वारा हिटलर का उपहास किया। 'सुमन' की इस कविता ने अत्यन्त प्रसिद्धि प्राप्त की क्योंकि उसमें उत्साह और जोश साकार हो उठा है। एक चरण देखिए :—

"ऐसा वैसा दुर्ग नहीं यह मजलूमों का प्यारा।
यह इस युग के संघर्षों का सबसे प्रबल प्रतीक है।
लाल फौज ने लाल खून से आज बनाई लीक है।।
इस जागृति के स्वर में जन-जन कण कण आज श ीक है।
दस हफ्ते दस साल बन गये मास्को अब भी दूर है।।"

रूस के सम्बन्ध में लिखी जाने वाली इन्हीं अनेकों कविताओं के कारण प्रगतिवाद पर विदेशीपन का आरोप लगाया जाता है और इसमें संदेह नहीं कि कतिपय कवियों ने अन्ध भक्ति से प्रेरित होकर रूस का गुणगान किया है और साहित्य की सरसता और कलात्मकता को नमस्कार करके कविता को साम्यवादी विचारों के प्रचार का साधन बना दिया है। उन्होंने काव्य को राजनीति के शासन में सौंप कर शोषण का एक उदाहरण प्रस्तुत किया है और शुष्कता, नीरसता एवं प्रचारवादिता के दूषणों से काव्य को लांछित भी किया है। ऐसे ही कवियों और साहित्यकारों के कारण प्रगतिवाद जैसे जन-मंगलकारी साहित्य की ओर कतिपय आलोचकों ने अंगुलि-निर्देश का साहस किया है।

सामयिक विघटनकारी परिस्थितियों पर भी प्रगतिवादी काव्य की रचना हुई है। गत महायुद्ध की विभीषिका और उसके परिणामस्वरूप फैलने वाली भ्रष्टता को भी कवियों ने अङ्कित किया। चोर-बाजारी, रिश्वतखोरी के प्रति आक्रोश प्रकट हुआ। बंगाल-दुर्भिक्ष के करुण चित्र उपस्थित किए गए :—

"बाप बेटा बेचता है।
भूख से बेहाल होकर, धर्म धीरज, प्राण खोकर।
हो रही अनरीति बर्बर, राष्ट्र सारा देखता है।"

—केदारनाथ

प्रकृति के प्रति भी प्रगतिवादी कवियों का दृष्टिकोण परिवर्तित हुआ है। उषा सुन्दरी, विहँग गान, निर्झर संगीत, सरिता की इठलाहट, लता की अंगड़ाई और सुमनों की मुस्कराहट को छोड़कर कविगण गेहूँ की बाल, मटर

और सरसों के फूल, बाँसों के झुरमुट आदि का चित्रण करने लगे। प्रकृति-वर्णन में काल्पनिकता के स्थान पर यथार्थ को महत्व दिया गया और कहीं-कहीं प्रतीकात्मक शैली पर प्रगतिशील विचारों की अभिव्यक्ति भी की गई। 'गेहूँ' का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा :—

"लाखों की अगणित संख्या में ऊँचा गेहूँ डटा खड़ा है।
ताकत से मुट्ठी बाँधे है, नोकीले भाले ताने है,
हिम्मत वाली लाल फौज-सा मर मिटने को झूम रहा है॥"

—केदारनाथ अग्रवाल

प्रगतिवादी काव्य में कला विधान में भी पर्याप्त परिवर्तन हुए। छन्द के बन्ध ढीले पड़ गए और 'युगवाणी' अनायास बहने लगी! कवि वाणी से केवल इतना चाहने लगा—

तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार!
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार!

इसके अतिरिक्त भाषा में भी सरलता आई। साहित्य जन जीवन का उत्प्रेरक होने के कारण जनवाणी को अपनाने लगा। परिणाम यह हुआ कि पगही, पागुर, बिलमना, साइत, कुसाइत, पनेथी, चना चबैया, आँधना जैसे ग्रामीण शब्दों का भी प्रयोग हुआ। कितने ही उर्दू के शब्दों को अपनाया गया। डा० रामविलास शर्मा ने भाषा के सम्बन्ध में कहा है—'भाषा के किसी आदर्श को भी अमर नहीं कहा जा सकता है। भावों और विचारों के अनुकूल ही भाषा का रूप होना चाहिए।' अतः अलंकारों में भी नवीनता का समावेश हुआ। प्राचीन उपमानों के स्थान पर नवीन और साधारण उपमानों को अपनाया गया—

कोयले की खान मजदूरिनी सी रात।
बोझ ढोती तिमिर का विश्रान्त सी अवदात॥

—रांगेय राघव

प्रगतिवादी काव्य के इन उपमानों में नवीनता यह है कि ये प्रकृति के न होकर नागरिक जीवन से सम्बन्धित हैं और भाव की कटुता को और भी तीखा

करने वाले हैं तथा प्राचीन परिपाटी के लिए चुनौती हैं। नवीनता के प्रवाह में कहीं कहीं भावों में असुन्दरता भी उत्पन्न हो गई है। इसके अतिरिक्त कवियों ने व्यंग्यात्मक शैली, प्रतीक शैली और अप्रस्तुत प्रणाली का भी उपयोग किया है किन्तु ऐसा प्रायः कम ही है। प्राचीन रस सिद्धान्त के अनुसार काव्य की आत्मा रस मानी गई है और रस भी अभिधेय न होकर व्यंग्य ही होता है। प्रगतिवादी काव्य में इसका अभाव है। अतः रस सिद्धान्त के अनुसार प्रगति काव्य उत्कृष्ट नहीं कहा जाता है। लेकिन वह जीवन को चेतना देता है, अतः उसका महत्व कम नहीं है।

प्रगतिवादी कवियों में पन्त, निराला, दिनकर, अञ्चल, नरेन्द्र शर्मा, मुकुल, मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर, भारतभूषण अग्रवाल, नागार्जुन, जनार्दन मुक्तिबोध आदि प्रमुख हैं।

गद्य साहित्य में प्रगतिवाद के दर्शन प्रेमचन्दजी के ग्रन्थों में होना प्रारम्भ हो गया था। प्रेमचन्द जी ने अपने कथा साहित्य में यथार्थ को चित्रित करना आरम्भ किया। उनके प्रायः सभी उपन्यास-सेवा सदन, काया कल्प, रंगभूमि, कर्मभूमि एवं निर्मला आदि - समाज की किसी न किसी समस्या पर ही लिखे गये हैं और उनमें किसान और मजदूरों की दयनीय दशा, उन पर होने वाले जमीदारों और पूँजीपतियों के अत्याचार, सामन्तवादी की नृशंसता आदि के चित्र दिये। उनकी कल्पना शोषितों और पीड़ितों के लिए सहानुभूति का सम्बल लेकर चली। उन्होंने जनता का समष्टि रूप में यथार्थ चित्रण अवश्य किया; किन्तु उनकी केन्द्रस्थ भावना आदर्शोन्मुखी ही रही। वे गान्धी जी से अधिक प्रभावित थे, जिसका प्रमाण उनका प्रत्येक उपन्यास दे सकता है। लेकिन 'गोदान' में आकर अपनी संस्कृति की शालीनता और आदर्श प्रतिष्ठा का मोह छूट गया और उसमें उन्होंने यथार्थवाद का विशुद्ध आदर्श उपस्थित किया। कृषक और मजदूर दोनों की हीनावस्था का यथार्थ चित्र देकर वर्ग-चेतना का उन्मेष किया। 'गोदान' में प्रेमचन्द की कला मार्क्स के जीवन दर्शन को सफलता के साथ अङ्कित कर सकी है और अपने अन्तिम उपन्यास 'मंगल सूत्र' में प्रेमचन्द की कला निखरने के साथ और भी क्रान्तिकारी हो रही थी। कहानी के क्षेत्र में भी उनकी कला शोषितों और

शोषकों के द्वन्द्व को उभार देती रही। 'कफन' नामक कहानी में निम्न वर्ग का कितना सच्चा चित्र अङ्कित है। यह कहानी प्रगतिशील कथा-साहित्य के शीर्ष पर अभिषिक्त होने की क्षमता रखती है।

महाकवि निराला ने भी गद्य के क्षेत्र में प्रगतिवादी साहित्य को समृद्ध बनाया। उन्होंने सन् १९२३ में ही 'चातुरी चमार' नामक प्रगतिशील कहानी लिखी। उनकी 'पगली' कहानी 'कफन' की कोटि में आ सकती है। अपने उपन्यासों में भी निराला प्रगतिवादी रहे। उनकी रचनाओं में 'चोटी की पकड़', 'काले कारनामे', बिल्लेसुर बकरिहा आदि प्रमुख हैं। रहस्यवादी कवियित्री महादेवी का करुणास्रोत गद्य में दीनों के प्रति ही फूट पड़ा। उन्होंने अपने 'अतीत के चल चित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' में पीड़ित वर्ग का अत्यन्त स्वाभाविक और मार्मिक वर्णन किया है। कामायनीकार ने भी 'कंकाल' में समाज के कंकाल को उपस्थित किया और 'तितली' में ग्रामीण जीवन का यथार्थ अङ्कन किया।

प्रगतिवादी साहित्य का विस्तार काव्य और कथा साहित्य में ही अधिक हुआ है। कथा-साहित्य में उपर्युक्त लेखकों के अतिरिक्त राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, रांगेय राघव, अमृतलाल नागर, उपेन्द्रनाथ अश्क, देवेन्द्र सत्यार्थी, भगवतीचरण वर्मा, कृष्णचन्द्र, रामवृक्ष बेनीपुरी और अज्ञेय आदि प्रमुख हैं। यद्यपि उक्त लेखकों में सैद्धान्तिक एकता नहीं है तथापि जन-जीवन को जाग्रत करने तथा शोषित एवं पीड़ित वर्ग का अङ्कन करने के कारण सभी की गणना प्रगतिवादी कलाकारों में हो जाती है। मार्क्सीय सिद्धान्तों का पूर्णतः पोषण राहुल, यशपाल और रांगेय राघव में मिलता है।

प्रगतिवाद ने समालोचना के क्षेत्र में भी नवीनता का समावेश किया है। आलोचकों में डा० रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचन्द गुप्त, अमृतराय और चन्द्रवली सिंह प्रमुख हैं। प्रगतिवादी आलोचकों का काव्य तथा कलाओं के प्रति मार्क्सवादी दृष्टिकोण है।

वे प्राचीन रस-ध्वनि सिद्धान्तों के मापदण्ड से काव्य आदि के कलात्मक सौन्दर्य का समीक्षण नहीं करते अपितु उसमें युग चेतना के प्रभाव को दिखाते हैं। साथ ही काव्य की व्याख्या मार्क्सवाद के अनुसार इतिहास के सन्दर्भ में

रखकर करते हैं । ये व्याख्यायें वैज्ञानिक एवं यथार्थ दृष्टिकोण को लेकर चलती हैं और उनमें यह दिखाया जाता है कि किस प्रकार वैयक्तिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक आदि परिस्थितियों के कारण उद्भूत विभिन्न विचारधारायें और काव्य परम्परायें उत्पन्न होकर लेखक को प्रभावित करती रहीं और लेखक ने अपनी प्रतिभा एवं अपने व्यक्तित्व से किस प्रकार उन्हें मोड़ दिया और ऐसा क्यों हुआ ? प्रगतिवादी आलोचना का आधार सामाजिक है, जिसमें विभिन्न युगों के साहित्य में तत्कालीन समाज के यथार्थ को आँकने का प्रयत्न किया जाता है। यदि प्रगतिवादी समीक्षा पद्धति किसी वाद विशेष की संकुचित परिधि को त्याग कर तथा वैयक्तिक तथा महत्व की उपेक्षा करके साहित्य के मूल में तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक परिस्थितियों का अवलोकन करने में समर्थ हो सके तो वह उस जनवादी साहित्य को जन्म देगी जो ऐसी संस्कृति को अपने में समाहित किए होगा जो जन जन की होगी और जिसमें केवल थोड़े से व्यक्तियों की स्वार्थ साधना न होकर जन हितों की पूर्ण रक्षा होगी। साहित्य की ऐतिहासिक यथार्थवाद के आधार पर व्याख्या केवल समाज के किसी वर्ग विशेष को प्रतिनिधित्व देकर करना उचित नहीं है अपितु समूचे समाज की चेतना और उसके मनोविज्ञान को समझ कर तत्कालीन लोक-प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराते हुए लोक संस्कृति के निर्माणकारी तत्वों को प्रस्तुत करना वांछनीय है। इस आधार पर साहित्यकार का मूल्यांकन करते समय किसी वर्गवादी मनोवृत्ति को त्याग कर मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाने से ही प्रगतिवादी समीक्षा पद्धति अपनी प्रगतिशीलता की रक्षा कर सकती है। आज की प्रगतिवादी समालोचना ने अपना गौरवपूर्ण स्थान अवश्य बना लिया है लेकिन उसका द्वन्द्व अभी प्राचीन आदर्शवादी समालोचना शैली से चल रहा है। इसमें विजय निश्चित रूप से प्रगतिवादी समालोचना को ही होगी क्योंकि उसका सम्बल युग चेतना है और युग की मेधा उसके साथ है ।

प्रगतिवादी साहित्य पर सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि उसमें न कलात्मक सौन्दर्य है, न अभिव्यक्ति की सरसता है, न संवेदनात्मकता है, न मर्मस्पर्शिता है और न सप्राणता है। वह कोरी शुष्कता को लेकर नारेबाजी की

नीरसता लिए हुए है। इसमें सन्देह भी नहीं कि कतिपय तथाकथित प्रगतिवादी साहित्य के सम्बन्ध में उक्त कथन सत्य भी है। क्योंकि उसकी रचना का आधार अनुभूति की यथार्थता न होकर कल्पना का योग एवं बौद्धिक सहानुभूति मात्र है। साहित्य में मर्मस्पर्शिता एवं संवेदन शीलता केवल बौद्धिक सहानुभूति एवं मखमली गद्दों पर स्वर्ण निर्मित लेखनी से विद्युत के पंखे के नीचे कल्पना के सहयोग से शोषित एवं सर्वहारा वर्ग का चित्रण करने से सम्भव नहीं है; उसके लिए अनुभूति की सच्चाई एवं गम्भीर साधना की अपेक्षा है। यथार्थ अनुभूति के अभाव में की जाने वाली रचनाओं के कारण ही प्रगतिवादी साहित्य लांछित हुआ है। यदि प्रगतिवादी साहित्यकार प्रगतिशील लेखक संघ के अध्यक्षीय भाषण में व्यक्त किए गए प्रेमचन्द के इन उद्गारों को हृदयङ्गम करके साहित्य सर्जना करें तो प्रगतिवाद पर छींटे उछालने का किसी को साहस न हो—"**हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो, जो हम में गति, संघर्ष और बेचैनी उत्पन्न करे, सुलाए नहीं।**"

८—प्रयोगवाद और हिन्दी-कविता

द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता के अनन्तर हिन्दी कविता पर वादों का आक्रमण आरम्भ हुआ और वह आज छायावाद, रहस्यवाद, हालावाद, माँसलवाद, अभिव्यंजनावाद, आदर्शवाद और यथार्थवाद आदि कितने ही वादों के थपेड़े खाती हुई भ्रमित सी, भूली ठगी सी और खोई सी हो गई है और आज भी उसको प्रयोगवाद ने घेर लिया है। अनेकों वादों की आँधी से टक्कर लेती हुई भी उर-स्पन्दन को अपने में सँभाले रही, लेकिन प्रयोगवाद के चक्कर में पड़कर वह अपने को असमर्थ एवं असहाय सा पा रही है। द्विवेदी युग के बाद हिन्दी काव्य में छायावाद का आरम्भ हुआ। छायावाद द्विवेदी कालीन काव्य की इतिवृत्तात्मकता एवं स्थूलता को प्रतिक्रिया-स्वरूप आया। कविता कामिनी भावों की कोमलता से बल खाती हुई, अपनी कल-काकली और मधुर नूपुरों की झंकार से जन-मन-मानस का मंथन करने करने लगी। रहस्यवाद का चोला पहन कर आत्मा

और ब्रह्म के मधुर सम्बन्ध की झाँकी कराने लगी। इतना सबकुछ होने पर भी वह जीवन से दूर भी हट गई। छायावाद काव्य की क्षितिज के उस पार जाने की प्रवृति के विरुद्ध जो विद्रोह हुआ, उसने काव्य को प्रगतिवाद के धरातल पर खड़ा कर दिया। प्रगतिवाद में युग की चेतना काव्य के माध्यम से प्रस्फुटित हुई। सर्वहारा वर्ग को वाणी मिली और काव्य वर्ग चेतना को उभाड़ कर वर्ग विहीन समाज की कल्पना का सम्बल बन गया। काव्य में दोनों, शोषितों एवं पीड़ितों का चित्रण होने लगा और मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद उसका आधार बना। प्रगतिवाद ने जन जीवन को जगाकर सामन्तवादी एवं पूँजीवादी संस्कृति का मूलोल्छेद किया और अपनी संवेदना का स्रोत सर्वहारा वर्ग के पक्ष में खोल दिया। जन जीवन में स्फूर्ति का संचार करने के कारण, युग को झकझोर कर जगाने के कारण, मानव चेतना को उद्बुद्ध करने के कारण प्रगतिवादी काव्य का विशिष्ट महत्व है। लेकिन अनुभूति के अभाव के कारण, बौद्धिकता की अपेक्षा रागात्मक तत्व को कम महत्व देने के कारण, राजनैतिक मत विशेष को अपनाने के कारण, प्रगतिवादी काव्य अपने में प्रेषणीयता और संवेदनशीलता नहीं ला सका। उसे ऐसी कोई प्रतिभा प्राप्त न हो सकी जो कृषक, मजदूर, हल, हँसिया, श्रम, शोषण, कल-कारखाना, भूख, आँसू आदि को रागात्मक वाणी देकर मर्म को स्पर्श करती। अत: जैसी आशंका थी प्रगतिवादी काव्य मार्क्सवादी नुस्खे को बाँटने वाला नारेबाजी की शुष्कता से पूर्ण हो गया और काव्य की परिधि से भी बाहर निकलने के लिए तड़पने लगा। इसी समय कतिपय उलझी हुई संवेदना वाले कवियों ने काव्य में प्रयोग करने आरम्भ कर दिये। फलतः 'प्रयोगवाद' के चरण काव्य की छाती पर आकर जम गये।

अज्ञेय के कथानानुसार कविता प्रयोग की वस्तु है और उसके द्वारा चेष्टा की जाती है कि कविता का सत्व क्या है, यह ज्ञात किया जाय। 'प्रयोग' शब्द से यदि उनका तात्पर्य भाव तथा कला सम्बन्धी नवीन प्रयोगों से है, तो प्रत्येक युग का काव्य प्रयोगवादी काव्य कहलायेगा। क्योंकि काव्य में एक भाव के अनन्तर नूतन भाव का प्रवेश होता रहा है और तुलसी, सूर, कबीर, बिहारी, भूषण, भारतेन्दु, गुप्त, प्रसाद, निराला तथा महादेवी आदि सभी कवियों ने अपनी अपनी विभिन्न भावगत अनुभूतियों को अभिव्यंजित किया है

और उनमें नवीनता रही है। इसके अतिरिक्त भाषा-शैली और अभिव्यंजना प्रणाली में जो नूतन प्रयोग होते रहे हैं, उससे सभी परिचित हैं। उन प्रयोगों ने जो सफलता प्राप्त की है, उनके समक्ष कथित प्रयोगवादी काव्य के भाग्य में असफलता ही दृष्टिगत होती है। अब रहा काव्य का 'सत्य'। इसके सम्बन्ध में भारतीय काव्य शास्त्र मे पर्याप्त विवेचन हुआ है। लेकिन अपनी व्यक्तिगत अनुभूति के कारण काव्य का सत्य एक परिणामी नहीं हो सकता। इसी कारण प्रयोगवादी कवियों के विचारो में विभिन्नता पाई जाती है। डा० रामविलास शर्मा, भारतभूषण अग्रवाल, नेमीचन्द्र जैन और गजानन, मुक्तिबोध साम्यवादी हैं और कम्युनिज्म की ओर उनकी प्रवृत्ति है, अज्ञेय मानसिक कुण्ठाओं से ग्रस्त फ्राइडवादी हैं, नरेश मेहता और शमशेर बहादुर सिंह भी साम्यवाद की ओर झुके हुए हैं, धर्मवीर भारतीय में रोमानी प्रवृत्ति मिलती है। इसी प्रकार सभी कवि प्रायः एक दूसरे से भिन्न हैं। यदि एकता मिलती भी है तो शैली के नवीन प्रयोगों में। सम्भवतः इसी कारण यह काव्य 'प्रयोगवाद' के नाम से अभिषिक्त किया गया।

प्रयोगवाद के प्रति अपनी आस्था प्रकट करते हुए प्रभाकर माचवे ने लिखा है —'**हिन्दी कविता में अभी विषयों की विविधता, व्यंग्य का तीक्ष्ण और सुरुचिपूर्ण प्रयोग, प्रकृति के सम्बन्ध में अधिक वैज्ञानिक दृष्टि, जन जीवन के निकट जाकर ग्राम गीत, लोक गाथा और बाजारू कहलाई जाकर हेय मानी जाने वाली बहुत सशक्त और मुहाविरेदार जुबान से नए नए शब्द रूपों और कल्पना चित्रों को ग्रहण करना और प्रयोगशील अभिव्यंजना के प्रति औदार्य आना चाहिए।**" इस कथन के अनुसार प्रयोगवादी काव्य में विषय-वैविध्य तो अवश्य मिलता है, लेकिन सुरुचि एवं जीवन की निकटता के सम्बन्ध में अभी सन्देहास्पद स्थिति ही है।

साधारणतः काव्य के रूप के अनन्तर उसका नामकरण एवं सिद्धान्त निर्धारण हुआ करता है, लक्ष्य ग्रन्थों के पश्चात लक्षण ग्रन्थों की सृष्टि होती है, लेकिन प्रयोगवादी काव्य का सिद्धान्त निर्धारण काव्य रचना से पूर्व ही हो गया है। काव्य हृदय के उद्गारों की अभिव्यक्ति का ही नाम है। आत्म प्रेरणा से जिस विषय को भी वाणी दी जायगी, वह सरस और मर्म-भेदन करने वाला

हो सकेगा, लेकिन जहाँ पूर्व निश्चित योजना के अनुसार काव्य का सृजन किया जायगा, प्रयोग के लिए काव्य को साधनमात्र बनाया जायगा, वहाँ संवेदनशीलता, प्रेषणीयता एवं रसात्मकता कैसे सम्भव है ? यही कारण प्रयोगवादी काव्य की रसहीनता का है। उसमें वैचित्र्य है, किन्तु मर्मस्पर्शिता नहीं।

हिन्दी में प्रयोगवाद का आरम्भ काव्य धारा से विकास का परिणाम नहीं, अपितु वह जानबूझ कर लाया गया है। इस सम्बन्ध में रामेश्वर शर्मा ने लिखा है—"**छायावाद के पतन से लेकर प्रयोगवाद के आरम्भ तक, यानी १९३६ से १९४३ तक के बीच के समय में इस बुर्जुआ विचारधारा ने कई रंग पलटे। इस समय उसे दिखाई नहीं दे रहा था कि वह क्या करे। उसने प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद और स्वच्छंदतावाद का नारा लगाया; परन्तु उठती हुई जन चेतना ने उसे विफल कर दिया। उन्होंने साहित्य को कई नए मोड़ देना चाहे, पर बेकार। अन्त में उन्होंने पश्चिम के पतनोन्मुख पूंजीवाद में उदित प्रयोगवाद का नारा लगाया।**" इस कथन में प्रतीकवाद को बुर्जुआ विचार-धारा का प्रयत्न कहा गया है और बुर्जुआ काव्य धारा का ही रूपान्तर माना गया है। इसके विपरीत डा० नगेन्द्र इसे छायावादी काव्य की प्रतिक्रिया मानते है। इन्होंने लिखा है—"**वह छायावाद की प्रतिक्रिया में उद्भूत नई काव्य-धारा है। शताब्दी के तीसरे दशक के अन्त में हिन्दी के कवियों में छायावाद के भाव तत्व और रूप आकार दोनों के प्रति एक प्रकार का असन्तोष सा उत्पन्न हो गया था—निसर्गतः इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई···आरम्भ में इस प्रतिक्रिया का समवेत रूप ही दिखाई देता था। कुछ ही वर्षों में इन कवियों के दो वर्ग पृथक हो गए। पहले वर्ग को हिन्दी में प्रगतिवादी और दूसरे को प्रयोगवादी नाम दिया गया।**" अर्थात् प्रयोगवाद प्रगतिवाद का ही रूपान्तर है अथवा उसी की एक धारा है। इलियट का विचार है—"**काव्य व्यक्तित्व की अभिव्यंजना न होकर व्यक्तित्व से पलायन है। कला सृजन के समय कलाकार का मन केवल एक माध्यम का काम करता है, जो विविध-अनुभूतियों को एक सूत्र में ग्रथित कर काव्य के रूप में परिणत कर देता है।**" किन्तु क्या व्यक्तित्व की अभि-व्यंजना बिना काव्य रचना सम्भव है। आदि कवि से लेकर आज तक के सभी कवियों के काव्य-प्रणेता के व्यक्तित्व को किसी न किसी रूप में अभिव्यं-

जित करते ही है। जिसमें व्यक्तित्व की अभिव्यंजना की शक्ति नहीं, अपनी अनुभूति को वाणी देने की क्षमता नहीं, अपने सुख दुख को अभिव्यक्ति देने की कुशलता नहीं, वह किसी के हृदय को स्पर्श करने की भी शक्ति नहीं रख सकता। वह काव्य प्रणेता हो ही नहीं सकता। न उसका काव्य सार्वजनीन ही हो सकता है। अज्ञेय जी जिस सार्वजनीनता की दुहाई देते हैं, वह प्रयोगवादी काव्य में कहाँ तक है ? यह प्रश्न विचारणीय है। शचीरानी गुर्टू ने इलियट और अज्ञेय के मत का खंडन करते हुए लिखा है—"**इसमें सन्देह नहीं कि श्रेष्ठ कला, सृष्टा की बौद्धिक शक्तियों से उद्भूत होकर उसके चिर परिचित जगत के लिए अपरिचित सी बन जाती है, तथापि मनोवैज्ञानिक पद्धति से विश्लेषण करने पर यह सर्वमान्य है कि प्रत्येक कला के निर्माण में कुछ ऐसे तत्व सन्निहित रहते हैं, जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कलाकार के चिर सहचर मनोवेगों से संघटित होते हैं और जिनके फलस्वरूप किसी भी कला में उसके सृष्टा के व्यक्तित्व एवं अन्तर्नुभूतियों की वागात्मक अभिव्यक्ति अवश्यम्भाव है। कलाकार के मूलभाव और उसकी अरूप संवेदनायें अनजाने ही रचना तन्तुओं में आ रमती हैं और वह अपनी प्रतिभा से उन्हें ऐसे साँचे में ढाल देता है कि उनमें पृथकत्व होते हुए भी अज्ञात रूप से उसके व्यक्तित्व का संस्पर्श तो बना ही रहता है।**" स्वयं प्रयोगवादी कवि भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। धर्मवीर भारती ने अपनी कविता के सम्बन्ध में कहा है—"मेरी कविता एक अजीब तरह से व्यक्तिगत कविता है। वह जनसाधारण से दूर है, उसमें केवल अपने मन की निराशा और व्यथा का ही क्रन्दन और सोच है।" फिर भी प्रयोगवाद पर इलियट की विचारधारा का पर्याप्त प्रभाव है। इसी से उसमें मर्मस्पर्शिता नहीं आ सकी है। दूसरी बात, 'बुर्जुआ काव्यधारा का ही रूपान्तर प्रयोगवादी कविता है', कुछ सशक्त नहीं है और न उसमें अधिक तत्व ही क्योंकि प्रयोगवादी कविता में जिन कवियों की कविता को स्थान दिया गया है, उनमें डा० रामविलास शर्मा, नेमीचन्द्र जैन, मुक्तिबोध और भारतभूषण तो घोर साम्यवादी हैं और बुर्जुआ संस्कृति के विध्वंषक हैं। उनमें साम्यवाद के प्रति इतनी सजगता है कि बुर्जुआ विचारधारा से किसी भी दशा में सन्धि

होना सम्भव ही नहीं अतएव प्रयोगवादी काव्य को बुर्जुआ काव्य-धारा का रूपान्तर-मात्र मानना समीचीन प्रतीत नहीं होता।

डा० नगेन्द्र एक ओर तो प्रयोगवादी काव्य को प्रगतिवाद की भाँति छायावाद की प्रतिक्रिया मानते हैं और प्रगतिवाद का ही दूसरा रूप स्वीकार करते हैं, दूसरी ओर फ्रइड के अनुसार अवचेतना की काम कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति मानते हैं। छायावाद के सम्बन्ध में भी उन्होंने कुछ कुछ यही कहा था। इस प्रकार के विपरीत मतों के कारण प्रयोगवादी काव्य के सम्बन्ध में भ्रम ही उत्पन्न होता है। दोनों मत सम्भवतः इस कारण दिए गए हैं कि प्रयोगवादी कवियों में दोनों ही प्रकार के कवि हैं। डा० रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध, भारत भूषण और नेमीचन्द्र जैन आदि तो स्पष्ट रूप से प्रगतिवादी ही हैं। इसके साथ ही अज्ञेय दूसरी विचारधारा के पोषक हैं। जब प्रयोगवादी कवि का काव्य, काव्य ही नहीं रह गया तो फिर साहित्यिक व्यक्तित्व ही कहाँ रहा? यह विरोधी विचार अत्यन्त भ्रामक हैं। वास्तविकता यह है कि प्रयोगवादी काव्य ही अभी अपना निश्चित रूप नहीं बना पाया है और न उसमें समान भावना के ही दर्शन होते हैं। इसी कारण उसके सम्बन्ध में विभिन्न विचारों का होना स्वाभाविक है।

प्रयोगवाद के सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र ने जो विचार व्यक्त किए हैं, उनमें कुछ भ्रामकता है, फिर भी उनके कतिपय विचारों में तथ्य है। वे प्रयोगवादी की ये विशेषताएँ बताते हैं। १. "आज का जीवन निस्सन्देह अव्यवस्थित है, विश्वास का सूत्र छिन्न भिन्न हो गया है, यह अव्यवस्था प्रयोगवाद में भी मुखरित हुई है। २ गहन बौद्धिकता इन कविताओं पर सीसे के पर्त्त के समान चढ़ी हुई है। रागात्मक तत्व को बौद्धिक माध्यम द्वारा व्यक्त किया गया है, यह क्रम विपर्यय है। ३. भाषा का सर्वथा वैयक्तिक प्रयोग है। ४. कवि को नूतनता का सर्वग्राही मोह है। अपरिचित की खोज रहती है। ५. प्रयोगवादी का आग्रह है अवचेतन की उलझी हुई संवेदनाओं का यथावत् चित्रण।

हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि प्रयोगवाद न तो छायावाद की भाँति काम-कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति का परिणाम है और न वह छायावाद के विरुद्ध प्रगतिवाद के समान विद्रोह है और न छायावाद का रूपांतर-मात्र है। वह प्रगति-

वाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया भी नहीं है और न प्रगतिवाद के समानान्तर चलने वाला उसी का द्वितीय रूप। वास्तव में वह सबकुछ है और कुछ भी नहीं है। क्योंकि उसकी स्थिति अब भी डाँवाडोल है, उसमें कोई निश्चितता नहीं है और न एक-रूपता है। इसी से प्रयोगवाद की न कोई निश्चित परिभाषा हो सकती है और न सर्वमान्य व्याख्या। जिस प्रकार कवियों के अपने प्रयोग हैं, उसी प्रकार उसकी बिखरी हुई व्याख्यायें हैं। आलोचक उसमें से अपने मत के अनुरूप विचारों को ढूंढकर मनचाही व्याख्या कर सकता है।

प्रयोगवाद को प्रगतिवाद का रूपान्तरण मानने का कारण उसमें पाई जाने वाली साम्यवादी विचारधारा है और है उसमें साम्यवादी विचारों के कतिपय कवियों का होना। कुछ लोग उसे छायावाद काव्य का समानधर्म मानते हैं, उसका भी कारण उसमें पाई जाने वाली कुछ समानताएँ हैं। छायावाद का कवि जीवन से पलायन कर रहा था किन्तु अचेतन रूप से। लेकिन प्रयोगवाद का कवि अभिव्यक्ति की सनातन समस्या के नाम पर सामाजिक उत्तरदायित्व से भागकर व्यक्तिवाद की ही परिधि में अपने को केन्द्रित किए हुए है। वह जान बूझकर सामाजिक उत्तरदायित्व से पलायन कर रहा है अभिव्यक्ति के प्रयोग के लिए। और उसके ये प्रयोग अवचेतन की निविड़ एवं अविवेकशील कुण्ठाओं तक ही सीमित हैं। छायावादी कवितायें भी दुरूह थीं, शैली की नवीनता के कारण और प्रयोगवादी कविताएँ दुरूह हैं दुरूहता लाने के कारण। सिद्धांत रूप से वे दुरूह बनाई गई हैं। छायावादी काव्य में प्रतीक विधान था। लेकिन छायावाद के शब्द-शिल्पियों ने प्रतीकों का चयन प्रकृति से किया। अतः उनमें भावाभिव्यक्ति की सक्षमता के साथ साथ मनोरमता भी थी और प्रयोगवाद के प्रतीक प्रकृति से न होकर अवचेतन विज्ञान के अनुरूप हैं। डा० नगेन्द्र ने भी कहा है—"प्रयोगवादी कवि के प्रतीक विधान में अवचेतन विज्ञान का सचेष्ट उपयोग रहता है।" प्रयोगवाद में सत्य की सनातनता की जो दुहाई दी जाती है, वह भी छायावाद की शाश्वत भावना के समान है। जैसा कि अज्ञेय ने कहा है—"इसीलिए कि वह—कलाकार—व्यक्ति सत्य को व्यापक सत्य बनाने का सनातन उत्तरदायित्व अब भी निवाहना चाहता है।" यही कतिपय समानतायें हैं

जिनके कारण प्रयोगवाद को छायावाद की भूमिका को अदा करने वाला कहा जाता है।

प्रयोगवाद के सम्बन्ध में उसके प्रमुख प्रवर्तक अज्ञेय के विचारों को निष्कर्ष रूप से इस प्रकार रख सकते हैं—

१. कवि की सबसे बड़ी समस्या है काव्य विषय की, सामाजिक उत्तर-दायित्व की, संवेदना के पुनः संस्कार की।

२. दूसरी मुख्य समस्या है साधारणीकरण की और कवि को प्रयोगशी-लता की ओर प्रेरित करने वाली रूप से बड़ी शक्ति यही है। कवि अनुभव करता है कि भाषा का पुरातन व्यापकत्व उसमें नहीं है।

३, प्रयोगवादी शब्दों के साधारण अर्थ में बड़ा अर्थ भरना चाहता है।

४. उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए जिन्हें अभी नहीं छुआ गया या जिनको अभेद्य मान लिया गया है।

५. प्रयोगवादी भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम संकेतों से, अङ्कों और सीधी तिरछी लकीरों से, छोटे बड़े टायप से सीधे या उलटे अर्थों से, लोगों और स्थानों के नामों से, अधूरे वाक्यों से, उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचाना चाहता है।

६. साधारणीकरण की प्रणालियाँ जम कर रुद्ध हो गई हैं।

७. जो व्यक्ति का अनुभूत है उसे समष्टि तक कैसे उसकी सम्पूर्णता में पहुँचाया जाय, यही पहली समस्या है। प्रयोगशीलता को ललकारती है। अज्ञेय जी के विचारनुसार प्रयोगवादी कवि के दायित्व तीन हैं—काव्य विषय, सामाजिक उत्तरदायित्व तथा संवेदना का पुनः संस्कार। विषयों के चयन में प्रयोगवाद में वैचित्र्य अधिक है। चप्पल, चाय की प्याली, छिपकली आदि से लेकर हिमालय तक बड़े-बड़े विचित्र विषयों पर रचना हुई है। विषयों के सामान्यीकरण की प्रवृति अधिक मिलती है। यद्यपि यह भावना उत्तम कही जा सकती है, लेकिन प्रयोगवादी कवि उसमें रसार्द्रता नहीं ला पाये हैं और भावना का संयोग उसमें नहीं कर पाये हैं। जब काव्य काव्य न रहकर प्रयोग-मात्र रह जायगा तो संवेदना के संस्कार की बात ही नहीं उठती।

संवेदना का संस्कार हृदय को साथ लेकर, भाव का सहयोग प्राप्त करने से ही हो सकता है। दूसरी बाधा प्रयोगवाद का प्रतीक विधान है। जो प्रतीक सादृश्य एवं साधर्म्य के प्रभाव को लेकर प्रयुक्त होते हैं वे चिर परिचित होते हैं, उन्हीं से अनुभूति की मार्मिक अभिव्यक्ति सम्भव है। लेकिन प्रयोगवाद के प्रतीक विचित्र, मनोविज्ञान से आक्रान्त होते हैं, जिनमें न सौन्दर्य ही होता है और न भाव-उद्रेक की शक्ति। साथ ही भाषा की अस्पष्टता, उल्टे सीधे प्रयोग और विरामादि के बवंडर में भाव खो जाता है और व्यक्ति की अनुभूति समष्टि-गत नहीं हो पाती। अब रही सामाजिक उत्तरदायित्व की बात, सो प्रयोगवादी व्यक्ति की परिधि में ही केन्द्रित होकर उसको भुला बैठा है। अतएव अज्ञेय जी ने जो विचार व्यक्त किए हैं, उनकी यथातथ्यता प्रयोगवादी काव्य से प्रमाणित नहीं होती। बातें केवल कहने भर की प्रतीत होती हैं।

प्रयोगवादी काव्य के कवियों में प्रथम सप्तक के कवि अधिक प्रौढ़ हैं। उनकी रचनाओं में व्यंग्य का सुन्दर स्वरूप भी मिलता है और कहीं-कहीं रसमयता भी दृष्टिगत होती है, लेकिन द्वितीय सप्तक और उसके बाद के कवियों का स्तर और भी निम्नकोटि का है। उनमें विकास की अपेक्षा ह्रास के ही लक्षण अधिक दिखाई देते हैं। कतिपय प्रयोगों का विवेचन करना समीचीन होगा।

प्रयोगवाद के सूत्रधार और प्रवर्तक अज्ञेय जी हैं। उन्हीं में प्रयोगों की अधिक प्यास है। इसी कारण उनमें संवेदना का उलझाव सबसे अधिक है। अन्य किसी मानव का मन चाहे यौन कल्पनाओं का पुंज भले ही न हो, लेकिन अज्ञेय का कवि वास्तव में यौन कल्पनाओं का ही पुंज है। इसी कारण उन्होंने अपने प्रयोग 'यौनवाद' पर भी किए हैं :—

"घिर गया नभ, उमड़ आये मेघ काले,
भूमि के कम्पित, उरोजों पर झुका सा।
विशद, श्वासाहत, चिरातुर,
छा गया इन्द्र का नीलवृत,
वज्र सा, यदि तड़ित से झुलसा हुआ तन।"

और भी—

गुरु स्थिर, स्थाणु सा गड़ा हुआ,
तेरी प्राण पीठिका पै लिंग सा खड़ा हुआ।"

अज्ञेय में प्रायः सर्वत्र काव्य की ललक है। उन्होंने 'भादों की उमस' नामक कविता में 'सुरतिश्रम' और 'मैथुन सुख' का वर्णन किया है और 'चार का गजर' में चित्राङ्कन का प्रयत्न किया है। कहीं-कहीं अज्ञेय छायावादी शैली की ओर भी झुके हैं और कहीं-कहीं उनकी कविता में गद्य का आभास मिलता है।

प्रभाकर माचवे ने प्रयोगवाद का पक्ष समर्थन करते हुए व्यंग्य की तीक्ष्णता पर अधिक बल दिया है। इसीलिए उनकी कविता मे व्यंग्य सबसे तीव्र है। माचवे में शब्द सामर्थ्य भी अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक है। 'कछुआ' को प्रतीक मानकर भारतीय संस्कृति पर चुटीला व्यंग्य किया है और पुरातनप्रियता तथा रूढ़िवाद की खिल्ली उड़ाई है :—

जो हो मुझे दीखते हो तुम, कछुए,
मानो भारत-संस्कृति के प्रतीक,
जिसे ज रा-सी छुए ना छुए
नए ज्ञान की सूक्ष्म सी लहर
कि वह सिहर कर
छुई मुई सी
बन जावेगी सिमट सुमुट कर
गुड़ी-मुड़ी सी
अविचल, सिर्फ गाँठ ही गाँठ
नकारात्मक दिखला देगी
कर्री, चिकनी, निपट पींठ ही पींठ !

माचवे की 'कापालिक' 'काशी के घाट पर' और 'अश्वत्थ' नामक कविताओं में सजीवता के लक्षण है।

डा० रामविलास शर्मा की कविता में सरलता, यथार्थ और प्रत्यक्षता अधिक मिलती है। वे प्रगतिवाद के अधिक निकट हैं। उनका प्रयोग देखिए :—

'हाथी घोड़ा, पालकी, जै कन्हैयालाल की।
हिन्दी, हिन्दुस्तान की, जय हिटलर भगवान की ॥

और भारत भूषण अग्रवाल का प्रयोग :—

"खाना खाकर कमरे में बिस्तर पर लेटा
सोच रहा मैं मन ही मन हिटलर बेटा
बड़ा मूर्ख है जो लड़ता है
तुच्छ-क्षुद्र मिट्टी के कारण,
क्षण भंगुर ही तो है रे !
यह सब वैभव-धन !
अन्त लगेगा हाथ न कुछ।
दो दिन का मेला।
लिखूँ एक खत हो जा गांधीजी का चेला
वे तुझको बतलावेंगे आत्मा की सत्ता।
होगी प्रकट अहिंसा की तब पूर्ण महत्ता।
कुछ भी तो है नहीं धरा के अन्दर
छत पर से पत्नी चिल्लाई दौड़ो बन्दर

प्रयोगवादी कवियों में प्रकृति वर्णन पर्याप्त सुन्दर बन पड़े हैं, इसमें सन्देह नहीं। प्रकृति सम्बन्धी कविता में बौद्धिकता का भी अभाव है और 'प्रयोग' भी सफल दिखाई पड़ते हैं। गिरजाकुमार माथुर का यह चित्र मर्मस्पर्शी है:—

"भीगा दिन पच्छिमी तटों से उतर चुका है,
बादल ढकी रात आती है,
धूल भरी दीपक की लौ पर मंदे पग धर।
गीली राहें धीरे धीरे सूनी होती,
जिन पर बोझिल पहियों के निशान हैं,
माथे पर की सोच भरी रेखाओं जैसे
पानी रंगी दिवालों पर, सूने राही की छाया पड़ती
पैरों के धीमे स्वर मर जाते हैं,
अनजानी उदास दूरी में ?"

प्रथम सप्तक के इन कवियों में अधिकांश सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रगतिशील विचारक अवश्य है और उनमें कुछ सामाजिक चेतना के प्रति जागरूकता भी मिलती है। किन्तु द्वितीय सप्तक के कवि तो निरे मनमौजी, रोमाण्टिक या विशुद्ध रूपवादी अधिक हैं। आशा तो यह थी कि द्वितीय सप्तक के कवि युग चेतना को वाणी देंगे और उनमे प्रयोगवाद विकसित होता हुआ दृष्टिगत होगा। लेकिन जिन कवियों को इस सप्तक में स्थान दिया गया है, उनमें सामाजिक चेतना को खोजना तो दूर, कवित्व ही नहीं मिलता। इनमें कुछ प्रयोक्ता कवि तो कवि कहलाने के भी अधिकारी नहीं प्रतीत होते। प्रथम सप्तक के प्रमुख प्रयोगवादी कवि गिरिजाकुमार माथुर भी द्वितीय सप्तक की रचनाओं को अपरिपक्व मानते हैं। उन्होंने लिखा है—'किसी की रचना मे ऐसा प्रमाण नहीं कि प्रयोगशील परम्परा आगे बढ़ी है।'

द्वितीय सप्तक के कवियों में धर्मवीर भारती में सबसे अधिक सवेदन और प्रेषणीयता है। लेकिन उनमें रूमानी रंग अधिक है और ऐसा लगता है कि उन पर 'हालावादी' संस्कारों की छाप है। उनका मत है कि 'कविता का मुख्य कार्य आज के युग में रूप अर्थो में रसोद्रेक मात्र न रहकर 'प्रभाव डालना' रह गया है। इसी से उन्होंने उर्दू शायरी की अभिव्यक्ति-वक्रता को भी अपनाकर 'प्रभाव डालने' का प्रयत्न किया है—

> **"इन फिरोजी ओठों पर बरबाद मेरी जिन्दगी।**
> **तुम्हारे स्पर्श की बादल-घुली कचनार नरमाई।**
> **तुम्हारे वक्ष की जादू भरी मदहोश गरमाई।**
> **तुम्हारी चितवनों में नरगिसों की पात शरमाई।**
> **किसी भी मोल पर मैं आज अपने को लुटा सकता,**
> **सिखाने को कहा मुझ से प्रणय के देवताओं ने,**
> **तुम्हें, आदिम गुनाहों का अजब-सा इन्द्रधनुषी स्वाद।**
> **मेरी जिन्दगी बरबाद॥**

इन पंक्तियों में वासना का कितना स्पष्ट और उद्दाम वेग है। भारती की कविता दमित काम-कुण्ठाओं का विस्फोट सी प्रतीत होती है। उनमें

अज्ञेय जैसा संवेदन का उलझाव नहीं है, यही सन्तोष की बात है। कवि में प्रतिभा है और है उसके पास सरस हृदय। यदि वह प्रयोग के चक्कर से अपने को मुक्त कर ले तो हिन्दी काव्य में उसका अच्छा स्थान बन सकता है।

कवि शमशेर बहादुर सिंह में भी कुछ शक्ति दिखाई देती है। लेकिन बौद्धिकता ने उसे दबा दिया है। इसी से अभिव्यक्ति रागात्मक नहीं हो पाई है। नरेशकुमार मेहता और रघुवीर सहाय व्यक्तिवाद और रोमांसवाद के ध्वंसावशेष से हैं। मेहता में रोमाण्टिक कवियों के समान रंगीनी और ललक मिलती है।

हरनारायण व्यास की कवितायें सिद्धान्तों की घोषणा सी लगती हैं। वे कविता को सपनों का संसार मानते हैं और उसमें उन्होंने अपने सपनों को ही सँजोया है। 'नई जिन्दगी' के स्वप्नों को 'नया विश्वास', 'नया आकाश' 'नया सृजन' आदि शब्दों के द्वारा अभिव्यक्ति देने कीं चेष्टा की गई है, लेकिन उसमें सामर्थ्य का अभाव है। भवानीप्रसाद की जो कवितायें इस संग्रह में संग्रहीत की गई हैं, वे उनकी प्रतिनिधि कविताएँ नहीं कही जा सकतीं। उनका कवि इस संग्रह से बाहर की कविताओं में अधिक निखरा है। उनकी कविताओं में उलझन कम है। अन्य कवियों की अपेक्षा भाव और भाषा दोनों में सरलता और स्पष्टता है।

शकुन्तला माथुर में नारी होने के कारण अपेक्षाकृत रागात्मिक अभिव्यक्ति मिलती है। इसी से उनकी कविताओं में सामाजिक चेतना की झलक अवश्य मिल जाती है। उनका दृष्टिकोण कुछ आशावादी भी रहा है। वे अपने हृदय का रस दीनों के प्रति अर्पित कर सकी हैं। 'लीडर का निर्माता' कविता में नेताओं पर मार्मिक व्यंग्य है। कुछ कविताओं में चित्र योजना भी अच्छी बन पड़ी है।

अभी प्रयोगवादी कविता के चरणों में तीव्र गति है और वह प्रयोगों की आश्चर्यजनक करामातें दिखा रही है और उसको अपने कलेवर में कतिपय पत्रिकायें—'नई कविता' 'कविता' आदि—सोल्लास समेट रही हैं। भाव और भाषा का कहीं भी पता नहीं चलता और न यह जान पड़ता है कि कवि कहना क्या चाहता है। श्री सत्यप्रिय मित्र की कविता लीजिए—

"अगर कहीं में तोता होता
तो क्या होता
तो क्या होता
तो तो तो तो ता ता ता ता
होता, होता, होता, होता !"

हमारे विचार मे कवि का तोता होना कहीं अधिक अच्छा होता। कम से कम हम तो इस 'टॉय टॉय' से बचते। तो यह है प्रयोग की नूतनता और अभिव्यक्ति का स्वरूप।

भाषा की प्रयोगशीलता में और भी कौशल प्रदर्शित किया जा रहा है। कविताओं के शीर्षक तक अँग्रेजी में होने लगे हैं तो उनकी अभिव्यक्ति अँग्रेजी में क्यों न होगी ? हिन्दी में सम्भवतः वह क्षमता ही नहीं कि प्रयोगवादियों की अनुभूति को अभिव्यक्त कर सके। इसी से बेचारे बाध्य होकर अँग्रेजी शब्दों का प्रयोग करते हैं। राजेन्द्र माथुर की एक कविता का आनन्द ग्रहण कीजिए :—

"ऑल राइट : ओ के !
हम उठे सो के !
जिन्दगियाँ धोके
की लकीर है,
हम-मियाँ !"

कितना सुष्ठु प्रयोग है भाषा का ! हिन्दी में भी व्याकरण की जो अवहेलना इन कवियों द्वारा की जा रही है, वह और भी चिन्त्य है।

छन्द विधान में कवि निराला के मुक्त छन्द की परिपाटी को अपनाकर जो प्रयोग किये जा रहे हैं; उससे मुक्त छन्द की दशा भी अत्यन्त दयनीय हो गई है। जो बात गद्य में कही जा सकती है अथवा गद्य में ही कही भी गई है उसे छोटी बड़ी पंक्तियों में लिख कर कविता का स्वरूप दे दिया जाता है। जिससे उसमें कवित्व तो आ नहीं पाता, बेचारा गद्य भी सिर पीटता सा दिखाई देता है। प्रसिद्ध प्रयोगवादी कवि धर्मवीर भारती की एक कविता देखिए :—

"मैं रथ का टूटा पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत
क्या जाने कब इस दुरूह चक्रव्यूह में
अक्षौहिणी सेनाओं को चुनौती देता हुआ
कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आकर घिर जाय
बड़े बड़े महारथी
अपने-अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी
निहत्थी अकेली आवाज को
अपने ब्रह्मास्त्रों से कुचल देना चाहें
तब मैं रथ का टूटा पहिया
उसके हाथों में ब्रह्मास्त्रों से लोहा ले सकता हूँ ॥"

इसी कविता को यदि गद्य में लिख दिया जाय तो मैं समझता हूँ और भी अच्छा रहेगा। देखिए :—

"मैं रथ का टूटा पहिया हूँ, लेकिन मुझे फेंको मत । क्या जाने, कब इस दुरूह चक्रव्यूह में अक्षौहिणी सेनाओं की चुनौती देता हुआ कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आकर घिर जाय, बड़े बड़े महारथी अपने-अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी निहत्थी अकेली आवाज को अपने ब्रह्मास्त्रों से कुचल देना चाहें, तब मैं रथ का टूटा पहिया उसके हाथों में ब्रह्मास्त्रों से लोहा ले सकता हूँ "

इस गद्य खंड को कविता बना के लिख दिया गया है । यह है प्रयोगवादियों का छन्द विधान ! इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं मुक्त छन्द का विरोधी हूँ । मुक्त छन्द लिखना तो मैं तुकान्त छन्दों की अपेक्षा और भी कठिन समझता हूँ । क्योंकि उसमें गठन, प्रवाह और भावाक्षिप्तता लाना सरल नहीं है । जिन महाकवि निराला को ये कवि अपना आदर्श मानते हैं, उनके छन्दों में शब्दों का ऐसा सुन्दर गठन है कि ऐसा प्रतीत होता है, मानो कवि ने एक एक शब्द चुनकर उसको पुष्ट एवं शक्तिवान बनाया है । उनमें जो प्रवाह है, वह संगीतात्मकता को जन्म देता है । प्रसाद, माधुर्य और ओज के अनुसार भाषा में भावानुरूपिता लाई गई है । और फिर निराला ने 'प्रयोग' के लिए प्रयोग नहीं किए हैं । उसने

तो अपनी वाणी को ऐसी अभिव्यक्ति देने के लिए नवीन नवीन छन्दों को माध्यम बनाया है कि वह जनता की समझ में आ सके। जहाँ उसने उदात्त भावना और काव्य की गुरु गम्भीरता को सौष्ठव देना चाहा है, वहाँ उसके छन्द और उसकी भाषा भी उदात्त और सुष्ठु है और 'कुकुरमुत्ता' तथा 'नये पत्ते' में वह 'प्रसादता' लेकर व्यंग्य बाणों की नोकों को तीव्र करके प्रयोग के क्षेत्र में आ डटा है। लेकिन उसके पास जो पुरुषार्थ है, जो शक्ति है वह उसके प्रयोगों में छिपे अर्थ से व्यंजित होती है। प्रयोगवादी कवि में उसके दर्शन नहीं होते। यह ठीक है, कि आज सूर के पद नवीन भावों की अभिव्यक्ति देने में सक्षम नहीं हो सकते, आज कवित्त और सवैये युग के अनुकूल नहीं हैं और तुकान्तता भी काव्य के लिए आवश्यक नहीं है। लेकिन आड़ी सीधी पंक्तियों में रेखाओं, विराम चिह्नों से घेर कर शब्दों का 'पिरामिड' खड़ा करने से ही तो कविता नहीं हो सकती। मुक्त छन्दों में भी सुगठित पदयोजना, गतिमयता और शक्ति सम्पन्नता वांछनीय है। इस दृष्टि से प्रयोगवादी कवि असफल ही रहे है और मुक्त छन्दों के नाम पर उन्होंने जो मनमाने प्रयोग किये हैं, उनमें वैचित्र्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

श्री गिरिजाकुमार माथुर ने अपने एक निबन्ध में प्रयोगवादी उपमाओं के लिए महाकवि कालिदास के उपमावैशिष्ट्य का सहारा लिया है किन्तु कालिदास के काव्य में जो संवेदन है, जो रसमयता है और जो अनुभूति की प्रेषणीयता है, अब क्या प्रयोगवादी कविता में मिलती है? कालिदास, सूर, तुलसी आदि कवियों का हृदय काव्य का उत्स था। कविता का स्रोत स्वतः फूट पड़ता था। वे अभिव्यक्ति से पूर्व आज के प्रयोगवादियों के समान चम्मच, जूते, चींटी की पंक्ति आदि उपमान जुटाकर नहीं बैठते थे। रागात्मक अभिव्यक्ति के प्रवाह में विशिष्ट उपमान स्वतः ही आकर उनके काव्य को अलंकृत करते थे। विचित्र उपमानों की योजना से "उपमा वैशिष्ट्य" के गुण से कविता विभूषित नहीं हो सकती। उसके लिए कुछ कहने को भी चाहिए। सुगठित अर्थ योजना रस से सिक्त होकर अलकारों से सजाई जाकर एक हृदय से निकल कर दूसरे हृदय में पैठ सकती है। अनोखी और विचित्र

जिक और विकृत बनाने मे दत्तचित्त रहे हैं और उनमें से कुछ अनेक सत्या-भासों की आड़ लेकर साहित्यिक प्रतिक्रियावाद को प्रश्रय देते रहे हैं।"

प्रयोगवादी काव्य का भविष्य तभी उज्ज्वल हो सकता है, जब कि प्रयोग के लिए—वैचित्र्य प्रदर्शन के लिए– काव्य रचना छोड़ कर कविगण हृदय और मस्तिष्क की सन्तुलित साधना करें और काव्य के मर्म और सामाजिक उत्तरदायित्व को समझकर कवि के सत्य को पहिचानें क्योंकि मात्र यौन परिकल्पनायें ही जीवन में नहीं हैं, जीवन का क्षेत्र विशाल है, और उसमें अन्य समस्यायें भी हैं, उनको समझें। किन्तु यदि कोरे प्रयोगों के चक्कर में ही कविगण पड़े रहे तो प्रयोगवादी कविता का भविष्य अन्धकारमय ही होगा। लेकिन यदि वे वस्तुत: कविता करेंगे तो उसे प्रयोगवाद के मुलम्मे की जरूरत न पड़ेगी। अतः बेचारे प्रयोगवादियों को अपनी कविता को अलग करने की चाह ही प्रयोग के लिए प्रयोग करवा रही है।

६—हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण

काव्य में प्रकृति-चित्रण का महत्त्व—सृष्टि के आदि मानव ने जब नयनो-न्मीलन किया तो प्रकृति की विशाल विभूतियों से अपने को परिवृत पाया। तरंगों से उद्वेलित सिन्धु; मोहक, मन्द मदिर मारुत, स्वर्णिम उज्ज्वल रश्मियों को विकीर्ण करते हुए दिवानाथ, अनन्त नील गगन को सुधास्नात कराते हुए रजत कान्तिमय शीतल एवं मंजुल मयंक एवं रत्नराशि सदृश झिलमिल उडुगणों को निरखकर वह आश्चर्य-चकित रह गया और उन्हें किसी अज्ञात एवं अनन्त सत्ता की महती शक्तियाँ मानकर आत्म विभोर हो गया! उसका मस्तक श्रद्धा और भक्ति से नत हो गया और उसका हृदय सामवेद की संगीतमय ऋचाओं के स्वर में ध्वनित हो उठा। तभी से मानव प्रकृति का पुजारी है और उसका प्रकृति से गहन, अटूट एवं नैसर्गिक सम्बन्ध है। वह प्रकृति के नित नूतन एवं शाश्वत सौंदर्य को निरख कर भाव विभोर हो जाता है और उसके भीषण विद्रूप और रौद्र अट्टहास को निरखकर अपनी पराजय स्वीकर करते हुए भी उसकी महान् शक्ति के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करता है। वह युग युगों से प्रकृति के गीत गाता आया है। संस्कृत साहित्य में प्रकृति के अनुपम सौन्दर्य के

कितने ही मोहक और सरल वर्णन हुए हैं । प्रकृति के विशाल प्राङ्गण में विचरण करने वाले आदि कवि वाल्मीकि ने ही नहीं अपितु राज प्रासादों के विलास एवं वैभवमय वातावरण में निवास करने वाले कवि कुल शिरोमणि कालिदास, भवभूति, माघ और श्रीहर्ष आदि ने भी प्रकृति की शुभ्र एवं नैसर्गिक छटा का अङ्कन अपने काव्य ग्रंथों में अत्यन्त सरसता से किया है ।

वास्तव में मानव का जीवन ही प्रकृतिमय है । वह प्रकृति के स्नेहमय और आनन्दमय क्रोड़ में अपने नेत्र खोलता है । गगन के नीचे भूमि पर धूलि में क्रीड़ा केलि करता हुआ चन्द्र और सूर्य की रश्मियों के साथ सोता और जागता है । शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन में साँस लेता है और स्रोत से द्रवित निर्मल जल का पान करता है, विकसित सुमनों में गुञ्जार करते हुए भ्रमर, आम्र वाटिकाओं में अपनी काकली की पंचमतान छेड़ती हुई पिक और निर्झरों का कलकल रव उसके लिए संगीत की सृष्टि करता है । घन-घटाओं को उमड़ते घुमड़ते देख कर मत्त मयूर नृत्य कला का सौन्दर्य उप-स्थित करते हैं । सरिता की मदमाती, इठलाती धारा उसके मन को लुभा लेती है । इस प्रकार प्रकृति मानव के जीवन में समाई हुई है । उससे उसकी सत्ता भिन्न नहीं है । जो प्रकृति के शान्त, निश्छल एवं अकृत्रिम सौन्दर्य को देखकर मुग्ध नहीं होता, जिसके हृदय में उसके प्रति अनुराग नहीं होता, उसे सहृदय नहीं कहा जा सकता । कवि भी इस जगत का प्राणी है और वह भी प्रकृति की गोद में परिपोषित होकर अपनी उन्मेषिनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाने में सक्षम हुआ है । अतः वह प्रकृति से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता । प्रकृति से वह अपने काव्य के लिए प्रेरणा ग्रहण करता है, अपनी कल्पना का शृङ्गार करता है, वह अपने को प्रकृति में मिला देता है और प्रकृति उसका उद्बोधन करती है । कवि की कविता प्रकृति से भिन्न नहीं है । कवि चाहे जितना माँसलवादी हो, भौतिकता में विश्वास करने वाला हो, सांसारिक हास-विलास और भोग परितृप्ति के उपकरणों में लीन रहता हो, लेकिन प्रकृति से परे नहीं जा सकता । उसे प्रकृति के चरणों में विनत होना ही पड़ेगा। अतएव किसी भी भाषा का साहित्य

प्रकृति से अछूता नहीं रह सकता। हिन्दी काव्य में भी प्रकृति अपनी अनोखी छटा बिकीर्ण करती दृष्टिगत होती है।

कविगण प्रकृति का उपयोग अपने काव्य में कितने ही प्रकार से करते है। भावों को उत्तेजना देने के लिए, अभीष्ट अर्थ की व्यंजना के लिए कवि-गण प्रकृति का आश्रय ग्रहण करते हैं। घोर भौतिकतावादी कवि भी सौंदर्य वर्णन के लिए प्रकृति की ही शरण लेते हैं। प्रकृति मानव-जीवन के प्रत्येक क्षण में अंगीभाव से व्याप्त रहती है। हर्ष-विषाद, हास्य-रोदन, सुख-दुख के क्षणों में भी वह हमारा साथ नहीं छोड़ती। फिर हम और हमारे कवि प्रकृति से भिन्न कैसे रह सकते हैं? प्रकृति की पृष्ठभूमि में ही हमारे जीवन का सौंदर्य है और काव्य जीवन की अभिव्यक्ति है। अतः काव्य में प्रकृति का अत्यधिक महत्व है।

हिन्दी काव्य में प्रकृति वर्णन के विविध रूप—संस्कृत काव्य में प्रकृति का विशद और विविध रूपों में प्रकृति-वर्णन हुआ है। हिन्दी संस्कृत की छाया में पनपी है अतः हिन्दी में भी प्रकृति का विविध रूपों में विशद वर्णन हुआ है। यद्यपि यह सत्य है कि संस्कृत में प्रकृति का आलम्बन रूप में प्रकृति-वर्णन अत्यंत भव्य सजीव और सुन्दर हुआ है और हिन्दी में इस रूप में प्रकृति-चित्रण बहुत कम हुआ है, तथापि इसका बिलकुल अभाव भी नहीं कहा जा सकता। प्राचीन हिन्दी कविता में अवश्य इस प्रकार के वर्णनों का अभाव प्रायः है किन्तु आधुनिक-कालीन कविता में आलम्बन रूप में प्रकृति-वर्णन प्रचुर परिमाण में मिलता है। इसके साथ ही हिन्दी-कविता में मानवीकरण के रूप में प्रकृति-वर्णन मिलता है जो संस्कृत काव्य में नहीं है। प्रतीकात्मक रूप मे प्रकृति-वर्णन भी हिन्दी कविता की विशेषता है। रहस्यात्मक रूप में भी जितना सुन्दर प्रकृति-वर्णन हिन्दी में हुआ है उतना संस्कृत में नहीं। इन सब बातों के आधार पर कहा जा सकता है कि हिन्दी का प्रकृति-वर्णन अत्यंत भव्य और विशिष्ट है।

हिन्दी काव्य में आदि काल अर्थात् वीरगाथा काल से लेकर आधुनिक काल तक प्रकृति का विविध रूपों में प्रकृति-वर्णन हुआ है। प्रमुखतः निम्न रूपों में प्रकृति-वर्णन हुआ है—

१. आलम्बन रूप में
२. पृष्ठभूमि के रूप में
३. उद्दीपन रूप में
४. अलंकार-विधान के रूप में
५. उपदेशात्मक रूप में
६. रहस्यात्मक रूप में
७. प्रतीकात्मक रूप में
८. संदेश-वाहिका दूती रूप में
९. मानवीकरण के रूप में

१—आलम्बन रूप में—आलम्बन रूप में प्रकृति के स्वतंत्र रूप का वर्णन किया जाता है। इसमें कवि की सूक्ष्म पर्यवेक्षणता शक्ति सहायक होती है। आचार्य शुक्ल इस रूप में प्रकृति-वर्णन के बड़े पक्षपाती थे। इस रूप में प्रकृति-वर्णन के लिये यह अपेक्षित है कि कवि प्रकृति के प्रति रागात्मक सम्बन्ध रखता हो। प्राचीन हिन्दी-काव्य में इस रूप में प्रकृति-वर्णन का अभाव प्रायः मिलता है। संस्कृत में अवश्य ही वाल्मीकि से लेकर पं० जगन्नाथ पर्यन्त प्रकृति के स्वतंत्र चित्रणों का प्रचुर विस्तार मिलता है। हिन्दी संस्कृत की विशेषताओं को लेते हुए भी उसकी यह विशेषता न ले सकी। यही कारण है प्राचीन कविता में आलम्बन रूप में प्रकृति-वर्णन नहीं मिलता। कहीं एक-दो स्थलों पर अवश्य ही इस भाँति के उदाहरण मिल जाते हैं। कविवर सेनापति में अवश्य प्रकृति के प्रति सहानुभूति प्राप्त होती है। वे ग्रीष्म का वर्णन करते हुए कहते है :—

"वृष कौ तरनि तेज सहसौ किरन करि;
ज्वालन के जाल विकराल बरसत हैं।
तचति धरनि, जग जरत झरनि, सीरी
छाँह को पकरि पंथी पंछी विरमत हैं॥
'सेनापति' नेकु दुपहरी के ढरत, होत
धमका विषम, ज्यों न पात खरकत हैं।
मेरे जान पौनौ सीर ठौर कौ पकरि कौनों,
घरी एक बैठि कहूँ घामें वितवत है।"

सेनापति में सूक्ष्म निरीक्षण अवश्य है किन्तु उनकी दृष्टि भी राजकीय वैभव और वातावरण में केन्द्रित प्रकृति के प्रभाव आदि तक ही सीमित रही है और वे भी तत्कालीन आलंकारिक और उद्दीपन सम्बन्धी प्रवृत्ति से प्रभावित हुए बिना न रह सके। आधुनिक काल के कवियों का ध्यान इस ओर गया है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने गंगा और यमुना के वर्णन किए। किन्तु वे भी आलंकारिक परम्परा के समक्ष नत हो गए। श्रीधर पाठक ने भी काश्मीर सुषमा में शाब्दिक चमत्कार और आलंकारिक सौन्दर्य ही दिखाया है। आधुनिक काल के कवियों में श्री मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी, प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी, नैपाली आदि ने प्रकृति के सुन्दर और वास्तविक चित्र दिए हैं।

पंत कृत प्रकृति के आलम्बन रूप में वर्णन का एक उदाहरण देखिये—

'पावस ऋतु थी पर्वत प्रदेश, पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश।
मेखलाकार पर्वत अपार, अपने सहस्त्र दृग सुमन फाड़।
अवलोक रहा था बार-बार, नीचे जल में निज महाकार।
जिसके चरणों में पला ताल, दर्पण सा फैला था विशाल॥'

रामनरेश त्रिपाठी ने भी अपने पथिक, स्वप्न और मिलन नामक काव्य ग्रन्थों में प्रकृति के प्रति अपनी आत्मीयता प्रकट की है। उन्होंने प्राकृतिक दृश्यों के अत्यन्त मार्मिक चित्र मधुरता के साथ अङ्कित किए हैं। चन्द्रिका में सरसी तट का यह वर्णन देखिए :—

"चारु चन्द्रिका से आलोकित, विमलोदक सरसी के तट पर।
वीर ग्रन्थ से शिथिल पवन में, कोकिल का आलाप श्रवण कर॥
और सरक आती समीप है प्रमदा करती हुई प्रतिध्वनि।
हृदय द्रवित होता है सुनकर शशिकर छूकर यथा चन्द्रमणि॥"

इस प्रकार के मनोरम चित्र आधुनिक कवियों के काव्य में मिल जाते हैं। प्राय: सभी कवियों ने प्रकृति के कोमल और सुन्दर रूप का ही वर्णन किया है, उसके भयङ्कर और रौद्र रूप का नहीं। प्रसाद जी ने कामायनी में प्रकृति के रौद्र रूप का भी वर्णन किया है :—

प्रतीत होता है। वियोग के समय उद्दीपन का जो प्रभाव होता है, उससे भक्ति-काल और रीतिकाल का काव्य साहित्य भरा पड़ा है।

साधारण नायक नायिका ही नहीं, मर्यादा पुरुषोत्तम राम तक वर्षा के घुमड़ते घनों को देखकर कहने लगते हैं :—

'घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥'

(तुलसी)

विरह की तीव्र वेदना उनके ज्ञान को भी हरण कर लेती है और वे वन में सीता के वियोग में विलाप करते हुए पशु-पक्षी, लता-वृक्षों तक से प्रश्न करते हैं :—हे खग मृग, हे मधुकर स्रेनी। तुम देखी सीता मृगनैनी। वास्तव में वियोग की अग्नि इतनी तीव्र होती है कि सूर की गोपियों को वे लता कुञ्जें जिनमें रास होता था, विलास होता था, प्रेम की मधुर सरिता प्रवाहित होती थी, बिना गोपाल के बैरिन हो गई हैं :—

'बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजें।

तब वे लता लगति अति सीतल अब भईं विषम ज्वाल की पुंजें॥"

कहीं-कहीं कवियों ने विरह का इतना अत्युक्ति पूर्ण वर्णन किया है कि विरह हास्य का जनक बन गया। विरहाग्नि के कारण कहीं शीतल पवन भी माघ की निशा में लू बन जाती है और कहीं चन्द्रमा अग्नि बरसाने लगता है। गुप्त जी ने भी ऐसा ऊहात्मक वर्णन किया है। उर्मिला मलयानिल से कहती है :—

"जा, मलयानिल लौट जा यहाँ अवधि का शाप।

लगे न लू होकर कहीं, तू अपने को आप॥"

किन्तु आधुनिक कवि के लिए सहज रूप में भी पावस उसके विरह भाव को उद्दीप्त कर देती है—

"न जाने कौन जनम की बात

याद मुझे आ जाती सहसा जब होती बरसात।"

रामेश्वर 'तरुण'

अलंकार विधान के रूप में—सौंदर्य की यथातथ्य अभिव्यंजना करने के लिए प्राचीनकाल से अब तक कवि गण अलङ्कारों के रूप में प्रकृति को अपनाते

रहे हैं। कहीं कवि गण विभिन्न अङ्गों से प्रकृति के उपादानों में समता देखते हैं, कहीं उनसे एकरूपता स्थापित करते हैं। कहीं विभिन्न अङ्गों में प्रकृति के उपादानों की सम्भावना की जाती है, कहीं केवल प्रकृति के उपादान मात्र ही रह जाते है और कहीं **'देखे मुख भावे अन देखे ही कमल चन्द्र, ताते मुख मुखै, सखी कमलै न चन्दरी'** की भावना रखने वाले कविगण नायिका के अङ्गों के समक्ष प्रकृति के सौन्दर्य को हीन भी समझने लगते हैं। विशेषतः उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, व्यतिरेक, अपह्नुति और रूपकातिशयोक्ति के रूप में प्रकृति को अपनाया गया। भ्रमर सम कुन्तल, चन्द्र और वारिज-मुख, बिम्बा और विद्रुम-अधर, खंजन-मीन-मृगज-कमल-नयन, कीर सी नासिका, कम्बु-कण्ठ, मृणाल-भुजा, कर-पल्लव, रम्भा उरु, हंस-गज-गति, कुन्दकली से रदन, सिंह-कटि आदि बँधे बँधाये उपमान प्रकृति से लिए गए। पद्मावती के नख-शिख वर्णन में जायसी ने यथासम्भव एक एक अङ्ग के लिए अनेकों उपमान जुटाये हैं। माँग का यह वर्णन देखिए :—

"बरनी माँग सीस उपराहीं, सेंदुर अबहिं चढ़ा जेहि नाँहीं।
बिनु सेंदुर अस जानइ दीआ, उजिअर पंथ रैनि महँ कीआ।
कंचन रेख कसौटी कसी, जनु घन महँ दामिनि परगसी।
सुरुज किरन जनु गगन बिसेखी, जमुना माँझ सरसुती देखी॥"

प्रसाद का कामायनी का सौन्दर्य वर्णन देखिए कितना भव्य और सुन्दर है—

"नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अङ्ग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ बन बीच गुलाबी रंग॥
आह, वह मुख पश्चिम के व्योम बीच जब घिरते हों घनश्याम।
अरुण रवि मण्डल उनको भेद, दिखाई देता हो छविधाम॥"

उपदेशात्मक रूप में—प्रकृति की शक्ति अपरिमित है। उससे मानव अपनी भावना के अनुरूप चाहे जो कार्य ले सकता है। प्रकृति के जो अङ्ग विलास सागर में निमग्न करते हैं, वे ही शान्त तपस्वी के हृदय में भक्ति की पयस्विनी भी प्रवाहित कर-देते हैं। शृंगार रस के रसिक जिन्हें उद्दीपन के लिये काम में लाते हैं, ज्ञानी और भक्त उनसे शिक्षायें भी ग्रहण करते हैं। अतएव हिन्दी काव्य

में प्रकृति-चित्रण उपदेश ग्रहण करने के लिए भी किया जाता है। कबीर आदि सन्तों ने अपने ज्ञानोपदेश कहीं-कहो प्रकृति के माध्यम से ही दिये हैं :—

"कबिरा तहाँ न जाइए, जहाँ कपट का हेत।
जानो कली अनार की, तन राता मन सेत॥"

गोस्वामी तुलसीदास ने भी रामचरितमानस में वर्षा और शरद ऋतुओं का वर्णन करते समय प्रकृति का इसी प्रकार उपयोग किया है। वे लिखते हैं :—

"दामिनि दमकि रही घन माँही। खल की प्रीति यथा थिर नाँही॥
बरसहि जलद भूमि नियराये। यथा नवहि बुध विद्या पाये॥"

आधुनिक काल के कवियों में गुप्त जी, हरिऔध आदि में भी कहीं-कहीं यह प्रवृत्ति मिलती है।

रहस्यात्मक रूप में—चिन्तन की प्रणाली विकसित होकर प्रकृति में रहस्यानुभूति प्राप्त करने लगती है। प्रकृति के अणु परिमाणु में चिरन्तन सत्ता के स्वरूप के दर्शन कवि करने लगता है। जायसी ने भी पद्मावत में प्रकृति का रहस्यात्मक वर्णन किया है—**"रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती।"** कबीर आदि सन्तों के काव्य में भी प्रकृति में रहस्यवादी भावना का स्वरूप मिलता है। आधुनिक कवियों—प्रसाद, निराला और पन्त, आदि ने प्रकृति का रहस्यात्मक वर्णन किया है। महादेवी वर्मा प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं में अनन्त सत्ता का आभास पाकर प्रश्नात्मक भाव से कहती हैं :—

"शून्य नभ में उमड़ कर दुख भार सी,
नैश तम में सघन या जाती घटा,
बिखर जाती जुगुनुओं की पाँति भी
जब सुनहले मोतियों के हार सी,
तब चमक जो लोचनों को मूँदता,
तड़ित की मुसकान में वह कौन है ?"

यही जिज्ञासा की भावना पन्त जी की 'मौन निमन्त्रण' शीर्षक कविता

'कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु'

कह कर इसका परिहार कर दिया है और मेघ को दूत बनाकर यक्ष की चेतना-हीनता बताया है। हिन्दी काव्य में भी सूरदास, नन्ददास एवं सत्य नारायण कविरत्न ने भ्रमरगीत और भ्रमरदूत में भ्रमर को दूत के रूप में अपनाया है। नागमती भी प्रियतम के पास अपना सन्देश भ्रमर और काग द्वारा भेजती हुई कहती है :—

> **"पिय सों कहउ सँदेसड़ा हे भौंरा, हे काग।**
> **सो धनि बिरहा जरि मुई, जेहिक धुँआ हम लाग॥"**

कविवर घनानन्द ने भी पवन और मेघ को दूत बनाया है। मेघ से वे कोई सन्देशा नहीं भिजवाते अपितु अन्य ही प्रार्थना करते हैं :—

> **"परकाजहि देह को धारे फिरौ, परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।**
> **निधि नीर सुधा के समान करौ, कसहू विधि सज्जनता सरसौ॥**
> **'घन आनन्द' जीवन दायक हौ, कछु मेरी हू पीर हिए परसौ।**
> **कबहूँ वा बिसासी सुजान के आंगन मो अँसुआन को लै बरसौ॥"**

कितनी निराशा, वेदना और करुणा-जनक प्रार्थना है यह? 'प्रिय प्रवास' में भी राधा पवन के द्वारा ही कृष्ण के पास अपना सन्देश भेजती है। लेकिन जब उसे यह ज्ञात होता है कि पवन सन्देश कहने में असमर्थ है तो उससे केवल यही प्रार्थना करती है :—

> **"पूरी होंवे न यदि तुम से अन्य बातें हमारी।**
> **तो तू मेरी विनय इतनी मान ले औ चली जा॥**
> **छू के प्यारे कमल-पग को प्यार के साथ आजा।**
> **जी जाऊँगी हृदय तल में मैं तुझी को लगा के॥"**

मानवीकरण के रूप में—छायावादी कवियों ने प्रकृति का मानवीकरण भी किया है। यद्यपि प्राचीन साहित्य में भी यत्र तत्र ऐसी भावना दृष्टिगत होती है, किन्तु यह उस समय एक प्रवृत्ति नहीं बनी थी। छायावाद में आकर यह एक प्रवृत्ति बन गई और कवियों ने प्रकृति को नारी रूप में देखा। ऊषा, सन्ध्या, रजनी आदि सुन्दरी के रूप में कवियों को आभासित हुईं। प्रसाद जी ने ऊषा काल का वर्णन करते हुए लिखा :—

"बीती विभावरी जागरी।
अम्बर पनघट में डुबो रही तारा घट ऊषा नागरी।"

पंत ने सध्या को एक सुन्दरी का रूप दिया है—

"कहो तुम रूपसि कौन ?
व्योम से उतर रहीं चुपचाप
छिपी निज छाया-छवि में आप
सुनहरी फैला केश कलाप
मौन मृदु मंथर मौन।"

इसी प्रकार निराला ने मेघमय आसमान से परी सी सन्ध्या को सुन्दरी के रूप में उतारा है। छायावादी कविता में ही नहीं अपितु मानवीकरण की प्रवृति तो बाद के कवियों में भी खूब मिलती है। प्राय: सभी कवियों ने प्रकृति को नारी रूप में देखने में ही विशेष सुख अनुभव किया है किन्तु यशस्वी कवि रामेश्वरलाल खण्डेलवाल तरुण' ने तो प्रकृति को कहीं-कहीं पुरुष रूप में भी चित्रित किया है। पावस कालीन बादल को वे ऐसे सुन्दर, सलौने और रसिक युवक के रूप में चित्रित करते हैं जो आजकल के कॉलेज युवकों की भाँति अपनी प्रेयसी (धरती) से मिलने के लिये सज-सँवर कर निकले हों—

केश बिखरे हुए आँख अंजन अँजी।
कंठ में दोलड़ा स्वर्ण कंठी सजी।
झाँवरी - झाँबरी, दूबरी - दूबरी।
आगये हैं धरा को लगाने गले।
गदबदे गदबदे सावले बादले !"

और कविवर विष्णु खन्ना ने तो मेघों को कान्हा रूप देकर और बिजली को राधा बनाकर उनकी सरस अठखेलियों और अभिसार तक का चित्रण कर डाला है—

"मेघों के कान्हा ने बिजुरी की राधा को !
बाँहों में बाँध लिया झुक-झुक कर प्यार किया।
लाज ढँकी रहने को बरखा की रानी ने।

बुन डाले पट झीने
पावस के आँगन में, यौवन के प्रश्नों को
उत्तर की गोद मिली ।"

इस प्रकार मानवीकरण की इस प्रवृत्ति ने प्रकृति वर्णन में एक नया आकर्षण ला दिया।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि हिन्दी में प्रकृति का वर्णन अत्यन्त सजीव, स्वाभाविक और सुन्दर होते हुए भी वैवध्य और विस्तार से पूर्ण है। और इस दृष्टि से हम उसकी तुलना विश्व के किसी भी काव्य से सहर्ष कर सकते हैं।

१०—लोकनायक तुलसी

जब समाज में विशृङ्खलता उत्पन्न होकर उसकी गति रुद्ध हो जाती है और सड़ांध उत्पन्न होने लगती है उसी समय किसी ऐसे महापुरुष का आविर्भाव होता है जो सम्पूर्ण विरोधी तत्वों एवं गतिरुद्धता के कारणों का परिष्कार कर उनमें पारस्परिक सहयोग और समानता की भावना उत्पन्न करता है। इतिहास इसका साक्षी है। महाभारतकाल में राम युग की मर्यादायें नष्ट होने के कारण भारतीय संस्कृति के लिए एक भयानक सङ्कट उत्पन्न हो गया था। ब्राह्मण क्षत्रियों के पारस्परिक द्वेष से उत्पन्न विषमता के कारण जनता त्रस्त थी। साधकों के विभिन्न दल ज्ञान, कर्म और भक्ति की मनमानी व्याख्या कर विरोध को व्यापकता दे रहे थे। ऐसे समय योगिराज कृष्ण ने महाभारत का संचालन कर प्रतिकूल शक्तियों का उन्मूलन किया और ज्ञान, कर्म और भक्ति की एकता स्थापित की। कालान्तर में पुनः कर्मकाण्ड की प्रधानता हो जाने के कारण सामाजिक गतिरोध उत्पन्न हुआ। उसका परिष्कार करने के लिए भगवान् बुद्ध का अवतार हुआ। भगवान् बुद्ध के लगभग डेढ़ हजार वर्ष उपरान्त जब बुद्ध धर्म भी वाह्य कर्मकाण्ड और आडम्बर के मायाजाल में उलझ गया तो भगवान शंकर ने समाज का उद्धार किया। परन्तु शंकर का प्रभाव केवल धार्मिक क्षेत्रों तक ही सीमित रहने के कारण अधिक स्थायी और ठोस नहीं रहा क्योंकि उसमें समाज की उपेक्षा सी थी। धार्मिक आचार्यों ने उन्हीं के सिद्धान्तों के आधार पर धर्म का पुनः परिष्कार कर

प्राचीन मान्यताओं का निराकरण कर, समय के अनुकूल उचित मान्यताओं की स्थापना करता है। तुलसी ने यही किया था। इसी से सुप्रसिद्ध प्रगतिवादी आलोचक डाक्टर रामविलास शर्मा तुलसी को प्रगतिशील साहित्यकार की संज्ञा से विभूषित करते हैं। जो साहित्यकार, प्राचीन हो अथवा नवीन, आधुनिक प्रगतिवादी आलोचकों को प्रशंसा और सहानुभूति प्राप्त कर लेता है वह निश्चय ही प्रगतिशील और लोकनायकत्व का वास्तविक अधिकारी माना जा सकता है। तुलसी ने यह प्रशंसा और सहानुभूति प्राप्त की है।

तुलसी लोकनायक क्यों माने गए, इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए सर्वप्रथम तुलसी के युग पर दृष्टि डाल लेना उचित है। उस समय तक देश पर मुसलमानों का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। समाज की दशा विश्रृङ्खलित थी। उसके सामने कोई उच्च आदर्श नहीं था। उच्च वर्ग विलासिता में निमग्न था और निम्न वर्ग अत्याचार का शिकार हो रहा था। संसार त्यागकर वैरागी हो जाना साधारण सी बात थी। विभिन्न सम्प्रदाय अपने मतों का प्रचार करने में प्रयत्नशील थे। संतगण वेद, पुराण, साधु आदि की निन्दा कर मर्यादा पर कुठाराघात कर रहे थे। योगमार्गी साधु अपने चमत्कारों से जनता को चमत्कृत करने में प्रयत्नशील थे। 'अलख' को लखने की भावना जोरों पर थी। सन्तों और योगमार्गियों के इस दल में अशिक्षा एवं उच्च वर्ग के प्रति उपेक्षा होने के कारण, उनके आत्म-विश्वास ने दुर्वह गर्व का रूप धारण कर लिया था। ऊँची जातियाँ इनसे चिढ़ा करती थीं। हिन्दू समाज बल और वैभवहीन था तो मुसलमानी समाज विलास में डूबा हुआ था। मदान्ध शासक तलवार के बल पर इस्लाम का प्रचार कर रहे थे। हिन्दू त्रस्त थे। तुलसी से पूर्व कबीर ने इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया था परन्तु उन्हें आँशिक सफलता प्राप्त हुई। सूफियों के साहित्य में इस्लाम की गन्ध थी। कृष्ण भक्त भी एक शक्तिशाली आदर्श उपस्थित करने में उदास रहे थे। अतः भयभीत जनता को इन प्रयत्नों से कोई ढाढ़स नहीं मिला। अन्त में तुलसी ने इस भयभीत जनता के मनोनुकूल राम के शक्ति शील एवं सौन्दर्य समन्वित रूप की स्थापना कर उसे सम्बल दिया। तुलसी के राम सर्वशक्तिमान, दीन प्रतिपालक और दयालु थे। जनता ने गद्गद् हृदय से तुलसी

का आभार नतमस्तक होकर स्वीकार किया। हिन्दू धर्म की रक्षा हुई और जनता में अत्याचार का प्रतिरोध करने की शक्ति उत्पन्न हुई।

तुलसी के राम का कार्य यही है कि—

"जब जब होइ धरम की हानी। बाढ़हिं असुर महा अभिमानी॥
तब तब धरि प्रभु मनुज शरीरा। हरहिं सकल सज्जन भवपीरा॥"

राम के इस स्वरूप की कल्पना में जनता को अपना रक्षक मिला; वह सन्तुष्ट हुई। 'मानस' के विभिन्न पात्रों में जनता ने अपने आदर्श पात्रों का साकार रूप देखा।

तुलसी समन्वयकारी थे। उन्होंने समाज के नाना स्तरों का जीवन भोगा था। गृहस्थ जीवन की सबसे निकृष्ट कोटि की आसक्ति के वे शिकार रह चुके है। उच्चकुल के ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होकर भी, दरिद्रता के कारण उन्हें दर दर भटकना पड़ा था। जीवन मे अशिक्षित एवं निम्नकोटि के व्यक्तियों से लेकर साधकों और काशी के दिग्गज पंडितों के सम्पर्क में रह चुके थे। उनका प्राचीन संस्कृत साहित्य एवं प्रचलित भाषा साहित्य का ज्ञान विस्तृत और गम्भीर था। पिंगल शास्त्र का उनका ज्ञान भी अपूर्व था। लोक और शास्त्र के इस सम्मिलित और यथार्थ ज्ञान ने उनके काव्य को व्यापक बनाया। कुछ कवि केवल आश्रयदाताओं की प्रशंसा मे ही अपनी सम्पूर्ण काव्य शक्ति का व्यय कर रहे थे। तुलसी क्रान्तिकारी थे। ज्ञान के इस दुरुपयोग से वे तिलमिला उठे। उनकी दृष्टि में "कीन्हे प्राकृत जन गुणगाना सिर धुनि गिरा लागि पछताना।" वाली स्थिति थी। 'गिरा' का वास्तविक उपयोग प्राकृत जन के गुणगान करने के लिए न होकर जन-कल्याण के लिए होना चाहिए। तभी उसकी सार्थकता है। कहा जाता है कि तुलसी ने अपना काव्य 'स्वान्तःसुखाय' लिखा था। परन्तु उस 'फक्कड़' का अपना व्यक्तिगत सुख ही क्या था! समाज और वह दोनों अभिन्न थे। इसलिए उनके सुख में निश्चित रूप से समाज का सुख सम्मिलित था।

"तुलसी का सम्पूर्ण काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है।" लोक और शास्त्र का समन्वय, भाषा और संस्कृत का समन्वय, भक्ति, ज्ञान और कर्म का समन्वय, गार्हस्थ और वैष्णव का समन्वय, निर्गुण और सगुण का

समन्वय, ब्राह्मण और चाण्डाल का समन्वय, विभिन्न काव्य प्रणालियों का समन्वय आदि विभिन्न प्रकार के समन्वयों के द्वारा उन्होंने विषमता का निराकरण कर एक स्वस्थ, नवीन और स्फूर्तिदायक समानता का आदर्श उपस्थित किया। राम के शक्ति, शील, सौन्दर्य समन्वित चित्रण के रूप में उपर्युक्त सभी समन्वयों का उपयोग कर उन्होने राम के लोक संग्रही रूप का अत्यन्त मार्मिक और कलापूर्ण चित्र प्रस्तुत किया। उस काल के हिन्दू धर्म में अनेक भ्रान्तियाँ प्रचलित थीं। शैवों, वैष्णवों और शाक्तों में घोर वैषम्य था। उन्होंने शिव और राम की एकता स्थापित कर इस विरोध को मिटाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि उन्होंने बुराई से भी समझौता करने का प्रयत्न किया था। वे शाक्तों के विरोधी थे। इसी कारण उनके लिए "वैष्णव की छपरी भली ना साकत को बड़ गाँव।" शाक्तों की रीति-नीतियों को वे समाज के लिए घातक समझते थे। इसी से उन्होने सीता में 'आदि शक्ति' का रूप प्रतिष्ठित कर शाक्तों का भी संस्कार करने का प्रयत्न किया। शैवों, वैष्णवों और शाक्तों का वह समन्वय उनके काव्य में सर्वत्र बिखरा पड़ा है। इसी कारण तुलसी के काव्य में अद्वैत, द्वैत और पुष्टि मार्ग के सिद्धांतों का भी समन्वय हुआ है। उन्होंने भगवत कृपा को ही प्रधान माना है। वे ज्ञान, कर्म और भक्ति की पृथक रूप में कोई उपयोगिता स्वीकार नहीं करते। परन्तु समय की परिस्थितियों के अनुसार उन्होंने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को ही प्रधान माना है; क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियों में ज्ञान की उपादेयता क्षीण हो चली थी। जन-साधारण का मानसिक स्तर उसे समझने में असमर्थ था।

तुलसी समाज के सजग प्रहरी थे। उन्हें लोकहित का पूर्ण ध्यान था। उनका मत था कि जब तक लोक मर्यादा का पालन नहीं होगा तब तक जन-कल्याण असम्भव है। मर्यादा के अभाव में लोक में व्यवस्था उत्पन्न होना आकाश-कुसुम के समान है। तुलसी के काव्य में एक भी पंक्ति ऐसी नहीं मिलेगी जिसमें मर्यादा का उल्लंघन किया गया हो। उनके राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। फिर मर्यादा का उल्लंघन कैसे ? उन्होंने शृंगार के दोनों पक्षों का ऐसा सन्तु-

लित और मर्यादित चित्रण किया है कि सहसा इस मनीषी कवि की प्रतिभा पर साधारण बुद्धि अविश्वास कर उठती है। हिन्दी साहित्य की यह निधि शाश्वत् है। राम पूर्ण मानव हैं। मानव के सुख दुख, राग विराग की सम्पूर्ण भावनाएँ उनमें हैं। राम के रूप में युग ने जनता का पूर्ण रूप देखा। उनमें अपने आदर्शों का पूर्ण प्रतिबिम्ब देखकर लोक ने उन्हें दौड़कर अपना लिया। यह तुलसी की ही विराट कल्पना का परिणाम था।

तुलसी ने कबीर आदि की हठधर्मी के स्थान पर सहिष्णुता का सम्बल ग्रहण किया था। उन्होंने समाज की व्यवस्था पर प्रहार भी किया परन्तु उस प्रहार में कबीर की सी निर्ममता और विध्वंसक भावना न होकर, एक निर्माण-कारी और कल्याणमयी भावना थी। तुलसी का व्यक्तित्व सौम्य था और सम-न्वय का आधार सौम्यता ही मानी जाती है। बुद्ध, ईसा आदि सभी महापुरुषों का चरित्र सौम्य था। तुलसी के खंडन में कटुता के स्थान पर मिठास अधिक है। उन्होंने असन्तों की भी वन्दना की है—"बन्दौ सन्त असज्जन चरना।" वे घोर मर्यादावादी भी हैं। वेद, पुराण, शास्त्र, मूर्तिपूजा, तीर्थ, वर्णव्यवस्था, लोकमत आदि का उन्होंने पूर्ण समर्थन किया है। वे विध्वंसक क्रान्ति में विश्वास न कर निर्माणक परिवर्तन में आस्था रखते हैं। इसी करण धर्म प्राण हिन्दू समाज में उन्हें सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई।

भाषा और काव्यशास्त्र के क्षेत्र में भी इस युगपुरुष ने समन्वय किया था। वे भाषा और भावों के पूर्ण अधिकारी थे। उन्होंने अपने समय में प्रचलित दोनों साहित्यिक भाषाओं ब्रज और अवधी को एक समान अपनाया। दोनों पर उनका पूर्ण अधिकार था। वे संस्कृत के प्रकांड पण्डित थे परन्तु उन्होंने लोकहित की भावना से प्रेरित होकर इन जन भाषाओं को ही अपनाया और प्रतिदान में वे अमर हो गए। भाषा के अतिरिक्त पिंगल शास्त्र के सभी नियमों का उन्होंने पालन किया था। इसी कारण आलोचक साहित्यिक दृष्टि से भी हिन्दी साहित्य में 'मानस' का स्थान अत्यन्त उच्च मानते हैं। भाषा और पिंगल शास्त्र के साथ ही उन्होंने अपनी समकालीन एवं अपने से पूर्व की समस्त काव्य पद्धतियों का सफलतापूर्वक उपयोग किया। चन्द के छप्पय, कुण्डलियाँ, कबीर के दोहे और पद, सूर और विद्यापति की गीति पद्धति, जायसी, ईश्वर-

दास की दोहा चौपाई पद्धति, रहीम के बरवै, गंग आदि की सवैया, कवित्त पद्धति, एवं मंगल काव्यों की मंगल पद्धति को उन्होंने अपनाया। उन दिनों पूर्व-भारत में अनेक प्रकार के मंगल-काव्य प्रचलित थे। बंगला में ये मंगल-काव्य मिलते हैं, पर हिन्दी में सिर्फ कबीरदास के नाम पर चलने वाले और बाद के बने हुए आदि मंगल, अनादि मंगल, अगाध मंगल आदि रचनाएं मिलती हैं जो केवल इस बात के सबूत के रूप में बची रह गई हैं कि किसी समय मंगल काव्यों की बड़ी भारी परम्परा मध्यदेश मे भी व्याप्त थी। मंगल काव्य, विवाह काव्य और सृष्टि-प्रतिक्रिया स्थापक ग्रन्थ हैं। नन्ददास का एक रुक्मिणी-मंगल मिलता है और चन्दवरदाई के रासो में संयोगिता को पत्नि-धर्म की शिक्षा देने के लिए विनय-मङ्गल नाम का एक अध्याय है, जो स्पष्ट रूप से स्वतन्त्र ग्रंथ है। तुलसीदास ने इस शैली को भी अपनाया। उन्होंने पार्वतीमङ्गल और जानकी मङ्गल नाम के दो काव्य लिखे थे। साथ ही तत्कालीन जनता में प्रचलित सोहर, नहछू गीत, चाँचर बेली, बसन्त आदि रागों में भी उन्होंने राम-काव्य लिखा। इस प्रकार साधारण जनता में प्रचलित गीत पद्धति से लेकर शिक्षित जनता में भी प्रचलित काव्य रूपों को उन्होंने अपनाया। यह उनकी काव्य प्रतिभा का प्रमाण है।

इतनी विषमताओं में साम्य स्थापित करने वाला महापुरुष यदि लोकनायक नहीं होगा तो और कौन होगा? तुलसी ने बुद्ध, कबीर, चैतन्य आदि की भाँति कोई मत नहीं चलाया पर हिन्दुत्व के क्षेत्र में आज तुलसी का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। तुलसी कवि, भक्त, पण्डित, सुधारक, लोकनायक और भविष्य के स्रष्टा थे। उन्होंने सब ओर समता की रक्षा करते हुए ऐसे काव्य का सृजन किया जो अब तक उत्तर भारत का पथ-प्रदर्शक रहा है। और उत्तर भारत ही क्या दक्षिण भारत में भी लोग उसके आगे श्रद्धा वनत् होते हैं।

पंचम प्रश्नपत्र को तैयार करने की विधि

पाँचवे प्रश्न पत्र के रूप में परीक्षार्थी के सामने परीक्षा भवन में १॥—१॥ घण्टे के दो प्रश्नपत्र आते हैं। एक प्राचीन भाषा संस्कृत, पालि, अपभ्रंश आदि का होता है, विद्यार्थी अपनी चुनी हुई भाषा का प्रश्नपत्र ले लेते हैं। और दूसरा किसी प्रान्तीय भाषा का होता है।

प्राचीन भाषा में बहुधा विद्यार्थी संस्कृत ही लेते हैं और यह सुविधाजनक भी रहता है। इसमें दो पुस्तकें निर्धारित की गई हैं—१—रघुवंश (तेरहवाँ सर्ग) और २—मित्रलाभ। इन दोनों पुस्तकों में से हिन्दी अनुवाद के लिये अंश आते हैं। व्याकरण से सम्बन्धित प्रश्न भी होता है। अतः परीक्षार्थी को चाहिये कि वह उक्त दोनों ही पुस्तकों के महत्वपूर्ण अंशों के अर्थ भली भाँति हृदयङ्गम कर ले। 'मित्रलाभ' की कहानियों का सारांश भी ध्यान में रखे। व्याकरण का अभ्यास भी थोड़ा बहुत अवश्य कर लेना चाहिये।

प्रान्तीय भाषाओं में मलयालम कन्नड़ आदि अनेक भाषाएँ हैं किन्तु परीक्षार्थी गण बहुधा गुजराती, बंगाली और मराठी में से ही एक लेते हैं। इन भाषाओं के पाठ्यक्रम में भी दो-तीन पुस्तकें नियत रहती हैं जिनमें से परीक्षक कुछ अंश देकर हिन्दी अनुवाद करने को पूछता है। अतः परीक्षार्थियों को चाहिये कि उन पुस्तकों के महत्वपूर्ण अन्शों के हिन्दी अर्थ हृदयङ्गम कर लें। उस भाषा के साहित्य के परिचय के सम्बन्ध में भी एक-दो प्रश्न होते हैं अतः उस भाषा के साहित्य का परिचय परीक्षार्थी को होना चाहिये। हमने प्रस्तुत गाइड में मराठी, बंगला और गुजराती के साहित्य का संक्षिप्त परिचय दे दिया है।

एक प्रश्न ऐसा भी होता है जिसका उत्तर उसी भाषा में लिखना होता है। इसके लिये आवश्यक है कि परीक्षार्थी उस भाषा के वर्ण-ज्ञान, व्याकरण आदि से परिचित हो। अतः परीक्षार्थी गण उस भाषा को अवश्य सीख लें।

विषय-सूची

प्रश्नपत्र—५

संस्कृत

विषय — पृष्ठ

प्रान्तीय भाषा

प्रश्नपत्र—५

प्राचीन भाषा, आधुनिक प्रान्तीय भाषा

सस्कृत

'रघुवंश' के त्रयोदश सर्ग की कथा का सारांश और उसकी संक्षिप्त समीक्षा

कथा का सारांश

भगवान राम ने रावरण को मार कर लंकाविजय करने के पश्चात् जानकी, लक्ष्मण, सुग्रीव और विभीषण आदि के साथ पुष्पकविमान में बैठकर अयोध्या को प्रस्थान किया। विमान के एकान्त भाग में राम और सीता साथ-साथ बैठे हुए हैं। मार्ग में जो स्थल आते जाते है, उनका वर्णन बड़ी भावुकता के साथ राम सीता से करते चलते हैं। सर्वप्रथम राम ने सीता से कहा कि देखो! यह समुद्र मेरे द्वारा बनवाए हुए सेतु से विभक्त होकर कैसा शोभित हो रहा है! यह हमारे पूर्वज सगरपुत्रों के द्वारा संवर्द्धित किया गया है। विभिन्न अवस्थाओं को धारण करने वाले इस समुद्र का स्वरूप और परिमाण अचिन्तनीय है। अपने से मिलने वाली नदियों के मुख का चुम्बन करता हुआ और अपना चुम्बन नदियों को देता हुआ यह कितना सुन्दर लगता है! फिर राम ने समुद्र के मत्स्य, फेन, सर्प, शङ्ख, बादल, तट और वायु का वर्णन किया, समुद्र को पार करने के बाद देव और मेघों के मार्ग से विमान के संचरण करने पर राम ने सुखद दिव्य वायु एवं मेघ का वर्णन किया, पुनः विमान के दण्डकवन के ऊपर संचरण करने पर राम की भावुकता जग गई, पुरानी स्मृतियाँ एक-एक करके सामने आने लगीं। राम ने दण्डकवन की ओर संकेत करते हुए सीता से कहा—अब राक्षसों के मारे जाने से ऋषि निर्भीक होकर पुनः वन में रहने लगे हैं। यह, देखो! वह स्थल है, जहाँ तुम्हें ढूँढ़ते हुए मुझे तुम्हारा एक नूपुर मिला था। देखो! इन लताओं ने मुझे अपनी शाखाओं को हिलाकर तुम्हारे जाने का मार्ग बताया था, इन हरिणियों ने दक्षिण दिशा की ओर नेत्र उठाकर यह बताया था कि तुम दक्षिण की ओर गई हो, विमान के कुछ और आगे

चलने पर राम ने कहा–देखो ! यह सामने माल्यवान् पर्वत का शिखर दिखाई दे रहा है, समझती हो ! यहीं पर मैंने तुम्हारे वियोग में आँसू बहाए थे। यहाँ पर तुम्हारे वियोग में सुखद और रमणीय वस्तुएँ मुझे असह्य प्रतीत होने लगी थीं। वर्षाकाल में यहाँ पर रहते हुए मुझे तुम्हारे द्वारा दिए गए आलिंगनों की याद सताया करती थी, मैंने घन-गर्जनों को जैसे-तैसे सहन किया था, यहीं पर नवीन कन्दलीपुष्पों को देखकर याद आ जाने वाली तुम्हारी नेत्रच्छवि ने मुझे पीड़ित किया था, देखो ! यह पम्पा सरोवर दिखाई दे रहा है। यहाँ पर प्रेम का परस्पर आदान-प्रदान करते हुए चकवा-चकवी के जोड़ों को मैंने बड़े ललचाते हुए देखा था। देखो ! यह वह अशोकलता है, जिसे मैं यह समझ कर कि यह तुम हो, आलिंगित करने लगा था। देखो ! यह गोदावरी नदी है, और देखो ! यह वह पंचवटी है, जहाँ तुमने अपने हाथों से आम्रपादपों को सींचा था। तुम्हें याद है, यहीं मैं तुम्हारी गोद में सोकर मृगया की थकावट को दूर करता था। देखो ! यह अगस्त्य मुनि का आश्रम आगया और यह शातकर्णि मुनि का पञ्चाप्सर तीर्थ है, जिसमें संगीत की ध्वनि निनादित हो रही है, देखो ! यह सुतीक्ष्ण मुनि तपस्या कर रहे हैं, यह आगे शरभंग मुनि का आश्रम है। अब विमान चित्रकूट पर्वत के समीप आगया, राम ने सीता से कहा—देखो ! यह चित्रकूट पर्वत है, इसके समीप बहने वाली मंदाकिनी ऐसी प्रतीत होती है मानो पृथ्वी के गले में पड़ी हुई मुक्तावली हो, देखो ! यह वह तमाल वृक्ष है, जिसके कोमल नवपल्लव से मैंने तुम्हारे कपोलों को शोभित करने वाला आभूषण बनाया था, यह अत्रि मुनि का आश्रम है, जहाँ के वृक्ष भी समाधिस्थ से शान्त प्रतीत होते हैं। विमान आगे को बढ़ा और प्रयाग का अक्षयवट दिखाई देने लगा, संगम के दर्शन हुए। राम ने श्याम यमुना की तरङ्गों से मिश्रित प्रवाह वाली शुक्लोज्ज्वल गंगा की धारा का विविध प्रकारों से सुन्दर वर्णन किया। शृंगवेरपुर के निकल जाने पर सरयू के दर्शन होने लगे। राम ने सरयू के गौरव का गान किया और भावुक-होकर देखा कि मानो सरयू अपनी तरङ्गों से उनका उसी प्रकार आलिंगन कर रही है, जिस प्रकार माता प्रवास से लौटे हुए पुत्र का हाथों से आलिंगन करती है। आगे चलने पर धूलि उड़ती हुई दिखाई दी। राम ने सीता से कहा कि ऐसा प्रतीत होता है कि हनूमान जी से मेरे आने की सूचना पाकर

भरत मेरे स्वागत को आ रहे हैं। थोड़ी देर में ही भरत मंत्रियों के समेत दिखाई दिए। राम ने सीता से भरत की महत्ता का गान किया। राम की इच्छा को जान कर विमान आकाश से नीचे उतरा। विभीषण के दिखाए हुए सोपान-मार्ग से राम सुग्रीव के हाथ का सहारा ले विमान से उतरे, उन्होंने कुलगुरु वसिष्ठ के प्रति सादर प्रणाम किया और भरत के द्वारा दिए हुए अर्घ्य को ग्रहण कर उनका आलिंगन किया। पुनः प्रणत मन्त्रियों को कुशल-प्रश्न से अनुगृहीत किया। राम के द्वारा सुग्रीव और विभीषण का परिचय पाकर भरत ने उन्हें प्रणाम किया, फिर भरत और लक्ष्मण का मिलन हुआ। इसके बाद जुलूस की तैयारी हुई, राम की आज्ञा से वानरसेनाधिपति हाथियों पर सवार हुए, अनुगामियो के साथ विभीषण रथ पर बैठे, राम, भरत, और लक्ष्मण पुष्पक विमान में बैठे, विमान में भरत ने जानकी के चरणों की वन्दना की। जुलूस अयोध्या की ओर चला और अयोध्या के भवन में जाकर रुका, वहाँ शत्रुघ्न ने पहले से डेरा, तम्बू आदि की सुचारु रूप से व्यवस्था कर रक्खी थी, वहीं राम अपने परिवार के साथ ठहरे।

संक्षिप्त समीक्षा

प्रस्तुत सर्ग का विषय इतना ही है कि सपरिवार राम पुष्पक विमान के द्वारा क्रमशः समुद्र, समुद्र तट, दण्डकवन, माल्यवान् पर्वत, गोदावरी नदी, पंचवटी, अगस्त्याश्रम, पंचाप्सर तीर्थ, सुतीक्ष्णाश्रम, शरभंगाश्रम, चित्रकूट, अत्रिमुनि के तपोवन, प्रयाग, शृंगवेरपुर और सरयू नदी के ऊपर होते हुए अयोध्या के समीप पहुँच कर विमान से उतरे, भरत और जनता ने उनका स्वागत किया और बड़े सम्मान के साथ उन्हें ले जाकर अयोध्या के उपवन में ठहराया; किन्तु कवि ने इतने ही संक्षिप्त विषय को लेकर प्रस्तुत सर्ग में अपूर्व काव्य-सौंदर्य की सृष्टि कर दी है। विमान जल्दी जल्दी चल रहा है और एक के बाद दूसरा दृश्य उपस्थित होता जाता है, कवि राम के द्वारा इन दृश्यों का सजीव वर्णन कराता जाता है, जिससे पाठकों के समक्ष दृश्यों की एक चित्रावली (फिल्म) सी उपस्थित हो जाती है। दृश्यो का एक संश्लिष्ट, सजीव एवं स्वाभाविक रूप में चित्रण तो किया ही गया है, साथ में उनके स्वरूप की स्पष्टतर अनुभूति के लिए कवि ने

उनके सदृश उपयुक्त अप्रस्तुतों का मौलिक रूप से विधान कर उनके चित्रण को और भी अधिक सरस एवं सुन्दर बना दिया है। यदि 'उपमा कालिदासस्य' इस प्रसिद्ध उक्ति के 'उपमा' शब्द को केवल 'उपमा अलंकार' के संकुचित अर्थ में न लेकर उससे अधिक व्यापक अर्थ—प्रस्तुत के सदृश अप्रस्तुत का किसी भी रूप में विधान—में लिया जाये, जोकि लेना चाहिए, तो यह कहना अत्युक्ति न होगा कि एकमात्र प्रस्तुत सर्ग ही उक्त उक्ति के समर्थन के लिए पर्याप्त है। प्रस्तुत सर्ग में कवि ने कहीं 'उपमा', कहीं 'उत्प्रेक्षा' और कहीं अन्य अलंकारों के रूप में इतने सुन्दर एवं मौलिक ढंग से प्रस्तुतों के सादृश्य में विविध अप्रस्तुतों का विधान किया है कि रसिकों का हृदय चमत्कृत हुए बिना नहीं रह सकता। प्रकृति की संवेदनशीलता का परिचय प्राप्त करना हो तो यह जानकर किया जा सकता है कि समुद्र और उसकी पत्नी सरिताएँ प्रेमविह्वल हो परस्पर अधरदान में व्यापृत हैं। वायु यह समझकर कि बेचारे राम सीता का अधर पान करने को इतने लालायित हैं कि मुख का शृंगार करने में जो देर लगेगी उसे भी सहन नहीं कर सकते, सीता के मुख को पराग से मंडित कर देता है। बादल, यह समझकर कि सीता ने मेरा विद्युन्मय कंगन लेना चाहा है, यदि नहीं गया तो मचल जावेगी, सीता को अपना कंगन दे डालता है, नूपुर सीता के चरण कमल से वियुक्त होने के कारण दुःखी होकर बोलना बन्द कर देता है, लताएँ और हरिणियाँ वियोगी राम की दशा से पीड़ित हो उन्हें सीता का मार्ग बताती हैं, वृक्ष यह देखकर कि सभी ऋषि तप कर रहे हैं ध्यानमग्न हो जाते हैं, सरयू प्रयास से लौटे हुए अपने पुत्र के समान राम का आलिंगन कर रही है। यदि भावों की धारा में थोड़ा स्नान करना हो तो सीता से संयुक्त और वियुक्त राम की कुछ स्मृतियों का अनुभव कर और राम के अयोध्या लौटने पर सबके परस्पर मिलने के दर्शन कर किया जा सकता है। इस प्रकार अपनी उक्त विशेषताओं के कारण प्रस्तुत सर्ग एक महाकाव्य का अंश होने पर भी पाठकों को एक स्वतंत्र दृश्यवर्णनप्रधान खण्डकाव्य का आनन्द प्रदान करता है और इसीलिए 'रघुवंश' में अपना एक प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

परीक्षोपयोगी और विशिष्ट स्थलों का अनुवाद—

(१)

नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन
संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा ।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः,
संहृत्य लोकान् पुरुषोऽधिशेते ॥

प्रसंग—'समुद्र भगवान् विष्णु का शयनागार है', इस रूप में समुद्र की महिमा का वर्णन करते हुए राम सीता से कहते हैं :—

शब्दार्थ—नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन = नाभि से उत्पन्न हुए कमल पर बैठने वाले, धात्रा=स्रष्टा अर्थात् ब्रह्मा के द्वारा, संस्तूयमानः=स्तुत होने वाले, युगान्तोचितयोगनिद्रः = प्रलयकाल में उचित योगनिद्रा लेने वाले, पुरुष = भगवान् नारायण, संहृत्य = अपने में लीन या समेट कर, अधिशेते = शयन करते हैं ।

अनुवाद—नाभि से उत्पन्न हुए कमल पर विराजमान होने वाले प्रथम धारक या स्रष्टा अर्थात् ब्रह्मा के द्वारा स्तूयमान एवं प्रलयकालोचित योगनिद्रा लेने वाले भगवान् नारायण लोकों को अपने में लीन कर इस समुद्र में शयन करते हैं ।

(२)

दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी,
तमालतालीवन राजिनीला ।
आभाति वेला लवणाम्बुराशेः,
धारानिबद्धेव कलङ्करेखा ॥

प्रसंग—सागर-तट की शोभा का वर्णन करते हुए श्रीराम सीता से कहते हैं—

शब्दार्थ—अयश्चक्रनिभस्य = लोहे के पहिए के समान, लवणाम्बुराशेः = क्षारसमुद्र की, तन्वी = पतली, धारानिबद्धा = पहिए के धार या सिरे पर लगी हुई, कलङ्करेखा = जंग की काली रेखा ।

अनुवाद—लोहे के चक्र के समान प्रतीत होने वाले क्षारसमुद्र की अपने

ऊपर उगे हुए तमाल और ताल के वृक्षों की पंक्ति से श्यामल तटभूमि दूर से चक्र की धार या सिरे पर लगी हुई पतली काली रेखा के समान प्रतीत होती है। (समुद्र लोह-चक्र के समान है, उसके चारों ओर की तटभूमि जो कि तमाल आदि वृक्षों से श्यामवर्ण की हो गई है; दूर से देखने पर ऐसी प्रतीत होती है, मानो चक्र की धार या सिरे पर लगी हुई जंग की पतली काली रेखा हो।)

विशेष—'कलङ्करेखा' के दो अर्थ हो सकते हैं, (१) चक्र की धार पर लगी हुई जंग की रेखा या (२) पहिये की नेमि या सिरे पर लगी हुई लोहे की परत या 'हाल'। उक्त दोनों ही रूपों में 'उत्प्रेक्षा' बहुत ही सुन्दर है, जोकि 'अयश्चक्रनि भस्य लवणाम्बुराशेः' में विन्यस्त एक सुन्दर 'उपमा' पर आश्रित है।

(३)

वेलानिलः केतकरेणुभिस्ते,
सम्भावयत्याननमायताक्षि !
तामक्षमं मण्डनकालहानेः,
वेत्तीव बिम्बाधरबद्धतृष्णाम् ॥

शब्दार्थ—आयताक्षि = विशाल नेत्रों वाली, वेलानिलः = समुद्रतट का वायु, सम्भावयति = भूषित करता है, बिम्बाधरबद्धतृष्णाम् = बिम्बाधरों का पान करने को लोलुप, मण्डनकालहानेः = शृंगार में होने वाले विलम्ब को, अक्षमम् = सहने में असमर्थ।

अनुवाद—हे विशालनयने सीते ! समुद्र-तट का यह वायु केतकी के पुष्पों के पराग से तुम्हारे मुखारविन्द को विभूषित कर रहा है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वह यह जानता है कि मैं तुम्हारे बिम्बाधरों का पान करने को लोलुप होने के कारण शृंगार में होने वाले विलम्ब को सहने में असमर्थ हूँ (इसीलिए वह पुष्पों के पराग से तुम्हारे मुख का मण्डन कर मेरा बड़ा उपकार कर रहा है)।

(४)

सैषा स्थली यत्र विचिन्वतात्वाम्,
भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।

अदृश्यतत्वच्चरणारविन्द-
विश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ॥

प्रसंग—दण्डकवन से सम्बन्धित पुरानी घटना का स्मरण करते हुए श्री-राम सीता से कह रहे हैं—

शब्दार्थ—विचिन्वता = ढूढ़ते हुये, उर्व्याम्=पृथ्वी पर, भ्रष्टम् = गिरे हुए, वच्चरणारविन्द विन्द विश्लेषदुःखात्=तुम्हारे चरणकमल से वियुक्त होने के दुःख से, बद्धमौनम् = जिसने मौन व्रत धारण कर लिया है। चुप।

अनुवाद—हे सीते! यह वह स्थली है, जहाँ तुम्हें ढूढ़ते हुए मैंने भूमि पर गिरे हुए तुम्हारे एक नूपुर को देखा था। जो कि उस समय मानो तुम्हारे चरण-कमल के वियोग के दुःख से मौन धारण किए हुए था।

विशेष—उक्त श्लोक में कवि ने बहुत सुन्दर 'हेतुत्प्रेक्षा, का विन्यास किया है। पैर से निकल कर जमीन पर पड़े हुए नूपूर का शब्द न करना स्वाभाविक नहीं, अपितु किसी कारण से है, नूपुर सीता के चरण कमल से वियुक्त हो गया था और इस वियोग के दुःख से दुःखी होकर उसने किसी से न बोलने का मानो व्रत ले लिया था।

(५)

पुरा स दर्भाङ्कु रमात्रवृत्तिः,
चरन् मृगैः सार्धमृषिर्मघोना।
समाधिभीतेन किलोपनीतः,
पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धम् ॥

प्रसंग—पंच अप्सराओं में शातकर्णि मुनि के बद्ध होने का वर्णन करते हुए श्रीराम सीता से कहते हैं—

शब्दार्थ—दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिः=केवल कुश के अंकुरों का आहार करने वाले, पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धम्=पाँच अप्सराओं का यौवनरूपी कपटयन्त्र, उप-नीतः = पहुँचा दिया, बँधवा दिया।

अनुवाद—पूर्वकाल में केवल कुशाङ्कुरों का आहार करने वाले और फलतः मृगों के साथ चरने वाले शातकर्णि ऋषि को उनकी समाधि से भयभीत होकर

इन्द्र ने पञ्चाप्सराओं के यौवनरूपी कपटयन्त्र में बँधवा दिया अर्थात् पञ्चाप्सराओं को मुनि के पास भेज दिया, जिन्होंने उनको अपने यौवन से आकृष्ट कर समाधि से च्युत कर दिया।

विशेष—ऐसी पौराणिक प्रसिद्धि है कि किसी राजा के सौवें अश्वमेध यज्ञ और मुनियों की दीर्घकालीन समाधि या कठोर तप से इन्द्र यह सोचकर भयभीत हो जाता है कि कहीं ये राजा या मुनि उसके पद को न छीन लें, इसलिए वह प्रायः अश्वमेध यज्ञ में अश्वहरण और तप में अप्सराओं के भेजने के द्वारा बाधा उपस्थित किया करता है।

(६)

अदः शरण्यं शरभङ्गनाम्नः,
तपोवनं पावनमाहिताग्नेः।
चिराय संतर्प्य समिद्भिरग्निम्,
यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहोषीत्॥

प्रसंग—शरभंग ऋषि की चर्चा करते हुए श्रीराम सीता से कहते हैं—

शब्दार्थ—शरण्यम्=रक्षक, शरणागार, पावनम्=पवित्र, आहिताग्नेः= अग्निहोत्री के, जिसने अग्न्याधान किया है।

अनुवाद—शरण में आए हुओं की रक्षा करने वाला यह पवित्र तपोवन उन्हीं अग्निहोत्री शरभङ्ग मुनि का है, जिन्होंने अग्नि को बहुत दिनों तक समिधाओं से तृप्त कर मन्त्रों से पवित्र किए हुए अपने शरीर को भी उसी में (अग्नि में) होम दिया था।

(७)

धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ,
शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः,
बध्नाति मे बन्धुरगात्रि चक्षुः,
दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः॥

प्रसंग—चित्रकूट पर्वत का वर्णन करते हुए श्रीराम सीता से कहते हैं—

शब्दार्थ— बन्धुरगात्रि = उन्नत और साथ ही आनत शरीर वाली, धारास्वनोद्गारिदरीमुखः = निरन्तर शब्दायमान गुफारूपी मुख है जिसका (चित्रकूट) या गुफा के समान मुख है जिसका (बैल), शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः = जिसके शिखर के अग्रभाग पर लगा हुआ बादल ही वप्रपंक (भूमि को उदारने से सींग पर लग जाने वाली कीचड़ है (चित्रकूट) या जिसके सींग की नोंक पर बादल के समान वप्रपङ्क (भूमि को उदारने से सींग पर लगने वाली कीचड़) लगी हुई है (बैल), दृप्तः = मदोद्धत, ककुद्मान् = बैल।

अनुवाद—हे उन्नतानत सुन्दर शरीर वाली सीते ! निरन्तर शब्दायमान गुफारूपी मुख वाला और भूमि को उदारने से बैल के सींग पर लग जाने वाली कीचड़ के समान अपने शिखर पर लगे हुए बादल से युक्त यह चित्रकूट पर्वत मदोद्धत बैल के समान मेरे नेत्र को अपनी ओर आकर्षित कर रहा है।

विशेष—उक्त श्लोक में 'उपमा' अलंकार है; चित्रकूट उपमेय है। और बैल उपमान है, चित्रकूट दृप्त बैल के समान है। चित्रकूट के शिखर पर बादल है जो कि बैल के सींग पर लगी हुई उस कीचड़ के समान है जो भूमि को उदारने से बैल के सींग में लग जाती है। चित्रकूट की गुफा और बैल का मुख, दोनों ही निरन्तर शब्दायमान है। इस प्रकार उपमा सब प्रकार से पूर्ण और सुन्दर है।

(८)

एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा,
सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी।
मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे,
मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः॥

प्रसंग—श्रीराम, मंदाकिनी नदी का वर्णन करते हुये सीता से कहते हैं—

शब्दार्थ— प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा = निर्मल और निश्चल प्रवाह वाली, विदूरान्तरभावतन्वी = दूर देश पर स्थित होने के कारण पतली प्रतीत होने वाली, नगोपकण्ठे = पर्वत के समीप।

अनुवाद—निर्मल और निश्चल प्रवाह वाली तथा दूर से पतली प्रतीत

होने वाली यह मन्दाकिनी नदी पर्वत के समीप बहती हुई ऐसी प्रतीत होती है मानो वह पृथ्वी के कण्ठ में पड़ी हुई मुक्तावली (मोतियों की माला) हो।

विशेष —

प्रस्तुत श्लोक में 'उत्प्रेक्षा' अलंकार है।

(९)

अयं सुजातोऽनुगिरं तमालः ।
प्रवालमादाय सुगन्धि यस्य ।
यवाङ्कुरापाण्डुकपोलशोभी,
मयावतंसः परिकल्पितस्ते ॥

प्रसंग—श्रीराम चित्रकूट पर्वत पर स्थित तमाल वृक्ष का वर्णन सीता से करते हुए कहते हैं—

शब्दार्थ—अनुगिरम्=पर्वत के समीप, सुजातः=अच्छी तरह उत्पन्न और बढ़ा हुआ, प्रवालम्=पल्लव, कोंपल, यवांकुरापाण्डुकपोलशोभी=जौ के अंकुर के समान गौरवर्ण कपोल पर शोभित, अवतंस=आभूषण, परिकल्पितः = बनाया था।

अनुवाद— हे सीते! चित्रकूट पर्वत के समीप अच्छी तरह से उत्पन्न और फला-फूला, यह वह तमालवृक्ष है, जिसकी सुगन्धित कोंपल को लेकर उससे मैंने तुम्हारे जौ के अंकुर के समान गौरवर्ण कपोल को सुशोभित करने वाले आभूषण को बनाया था।

(१०)

क्वचित् प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैः,
मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा ।
अन्यत्र माला सितपङ्कजानाम्,
इन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव ॥

प्रसंग—तीर्थराज पवित्र प्रयाग के संगम का वर्णन करते हुए श्रीराम सीता से कहते हैं—

शब्दार्थ—**प्रभालेपिभि** : = कान्ति से लिप्त करने वाली अर्थात् लेपने वाली, इन्द्रनीलैः = नील मणियों से।

अनुविद्धा : = गुम्फित, मुक्तामयी=मोतियों की, यष्टिः = हार की लड़
इन्दीवरैः := नील कमलों से, उत्खचितान्तरा=बीच में ग्रथित,
सितपङ्कजानाम् : = श्वेत कमल, पुण्डरीक।

अनुवाद—(हे सीते ! यहाँ संगम पर यमुना तरङ्गों से मिश्रित गङ्गा) कहीं तो कान्ति से लेपने वाली नीलमणियों से गुम्फित मोतियों के हार की लड़ के समान प्रतीत होती है और कहीं बीच बीच में नीलकमलों से ग्रथित श्वेत कमलों की माला के समान प्रतीत होती है।

विशेष – उक्त श्लोक एवं उसके परवर्ती श्लोक ५५, ५६, ५७ का एक साथ ही अन्वय करने पर एक पूर्ण अर्थ निकल पाता है, क्योंकि उक्त सभी श्लोकों के वर्णन का सम्बन्ध श्लोक ५७ के 'पश्यानवद्याङ्गि विभाति गंगा भिन्न-प्रवाहा यमुनातरङ्गैः" अंश से हैं और इसीलिए प्रस्तुत श्लोक का अर्थ पूर्ण करने के लिए उक्त अंश को साथ में ग्रहण किया है। प्रस्तुत श्लोक में कवि ने दो उत्प्रेक्षाओं का विन्यास किया है; गंगा श्वेतवर्ण है, उसका प्रवाह यमुना के नीलतरङ्गों से स्थान-स्थान पर भिन्न है, जिससे वह (गंगा) कहीं तो नील-मणिगुम्फित मुक्ताहार प्रतीत होती है और कहीं नीलकमलग्रथित श्वेतकमल-हार प्रतीत होती है।

(११)

क्वचित् खगानां प्रियमानसानाम्,
कादम्बसंसर्गवतीव पङ्क्तिः।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा,
भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव ॥

प्रसंग—प्रयागराज के संगम के प्रसंग में ही श्रीराम पावन सरिता गंगा का वर्णन करते हुए सीता से कहते हैं—

शब्दार्थ—कादम्बसंसर्गवती = नीलहंसों के संसर्ग से युक्त, प्रियमानसा-नाम्=जिनको मानसरोवर प्रिय है अर्थात् राजहंस, कालागुरुदत्तपत्रा = काले अगर से जिसमें पत्तियाँ चित्रित की गई हैं। चन्दनकल्पिता=चन्दन से रची हुई, भक्तिः=शृंगार रचना।

अनुवाद—(हे सीते; यहाँ संगम पर यमुना तरंगों से मिश्रित गंगा) कहीं तो नीलहंसों के संसर्ग से युक्त मानसरोवर के प्रेमी (श्वेत) राजहंसों की पंक्ति के समान प्रतीत होती है और कहीं पृथ्वी पर श्वेत चन्दन से रची हुई ऐसी शृंगार रचना के समान प्रतीत होती है, जिसके कि बीच-बीच में काले अगर से पत्तियाँ चित्रित की गई हैं।

विशेष—उक्त श्लोक में कवि ने दो उत्प्रेक्षाएँ प्रस्तुत की हैं, शुक्लवर्णा गंगा श्याम-वर्णा यमुना की तरंगों से मिश्रित हो कहीं तो कवि को सफेद राज-हंसों की ऐसी पंक्ति प्रतीत होती है, जिसके कि बीच बीच में नीलहंस भी मिले हुए हों और कहीं उसे पृथ्वी पर श्वेतचन्दन के द्वारा की गई ऐसी चित्रकारी या रचना सी प्रतीत होती है जिसके कि बीच बीच में काले अगर से पत्तियाँ बनाई गई हों।

(१२)

क्वचिद् प्रभा चान्द्रमसी तमोभिः,
छाया विलीनैः शबलीकृतेव।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा,
रन्ध्रेष्विवालक्ष्यतमःप्रदेशा ॥

प्रसंग—प्रयागराज के संगम के पूर्व प्रसंग में ही श्रीराम सीता से कहते हैं—

शब्दार्थ—छायाविलीनैः=छायाओं के रूप में स्थित, शबलीकृता=शबल अर्थात् कवरी की हुई, चन्द्रमसी प्रभा=चाँदनी।

रन्ध्रेषु=अवकाश स्थानों में अर्थात् बीच बीच में, आलक्ष्यनभःप्रदेशा= कुछ कुछ दिखाई दे रहे हैं अकाशभाग जिसमें, शुभ्रा=उज्ज्वल, शरदभ्रलेखा= शरद् ऋतु के बादलों की पंक्ति।

अनुवाद—(हे सीते! यमुनातरङ्गों से मिश्रित गङ्गा) कहीं तो छायाओं के रूप में स्थित अन्धकार के भागों द्वारा शबल अर्थात् चितकबरी की हुई चाँदनी के समान प्रतीत होती है और अन्यत्र कहीं शरद् ऋतु के उज्ज्वल बादलों की ऐसी पंक्ति सी लगती है, जिसके कि बीच बीच में आकाश के प्रदेश कुछ कुछ दिखाई देते हैं।

विशेष—उक्त श्लोक में 'उत्प्रेक्षा' अलंकार है। श्याम यमुनाजल से मिश्रित गङ्गा की उज्ज्वल धारा कवि की दृष्टि में कहीं तो ऐसी चाँदनी लगती है जो स्थान स्थान पर काले अन्धकार से शबल अर्थात् चितकबरी हो गई है; और कहीं शरद् ऋतु के सफेद बादलों की ऐसी पंक्ति प्रतीत होती है जिसके बीच में आकाश के श्याम भाग दीखते हैं।

(१३)

क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव,
भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य।
पश्यानवद्याङ्गि ! विभाति गङ्गा,
भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः॥

प्रसंग—संगम के पूर्व प्रसंग में श्रीराम सीता से कहते हैं—

शब्दार्थ—अनवद्यांगि ! = निर्दोष शरीर वाली, भिन्नप्रवाहा = मिश्रित जलप्रवाह वाली, कृष्णोरगभूषण = कृष्ण सर्प हैं भूषण जिसका, भस्मांगरागा = भस्म या राख ही है अंगराग (शरीर पर लेपने का सुगन्ध चूर्ण,) जिसका तनुः = मूर्ति शरीर।

अनुवाद—हे निर्मल शरीरवाली सीते, देखो ! यमुना के तरँगों से मिश्रित प्रवाहवाली गंगा शिवजी के ऐसे शरीर के समान लगती है, जिसका कि काला सर्प एक आभूषण है, और भस्म ही अंगराग है।

विशेष—उक्त श्लोक में उत्प्रेक्षा है। श्याम यमुनाजल से मिश्रित शुक्ल गंगाधारा ऐसी प्रतीत होती है कि मानो सफेद राख से पुता हुआ और काले सर्पों से आभूषित शिवजी का शरीर हो।

(१४)

समुद्रपत्न्योर्जलसंनिपाते,
पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात्।
तत्त्वावबोधेन विनापि भूयः,
तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः॥

शब्दार्थ—समुद्रपत्न्योः = समुद्र की पत्नी अर्थात् नदी—गंगा और यमुना

के, जलसंनिपाते=जल के संगम स्थान पर, अभिषेकात्=स्नान से, पूतात्मनाम्=शुद्ध अन्तःकरण वालों का, तनुत्यजाम्=शरीर छोड़ने वालों का, तत्त्वावबोधेन विना=तत्त्व ज्ञान के बिना, शरीरबन्धः=शरीर का बन्धन अर्थात् जन्म ।

प्रसंग—प्रयागराज के पावन संगम महत्व का वर्णन करते हुए श्रीराम सीता से कहते हैं—

अनुवाद—गंगा और यमुना के इस संगम स्थान पर स्नान करने से पवित्रात्मा पुरुषों का शरीर छोड़ने के बाद तत्त्वज्ञान के बिना ही शरीरबन्ध नष्ट हो जाता है अर्थात् उनका मोक्ष हो जाता है (अन्यत्र तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है ; किन्तु संगम पर स्नान से ही मुक्ति हो जाती है ।

(१५)

पुरं निषादाधिपतेरिदं तद्,
यस्मिन् मया मौलिमणिं विहाय ।
जटासु बद्धास्वरुदत् सुमन्त्रः,
कैकेयि कामाः फलितास्तवेति ।।

शब्दार्थ—निषादाधिपतेः = निषादराज, गुह का, पुरम् = शृंगवेरपुर, मौलिमणिम् = शिर पर बँधी हुई मणि ।

प्रसंग—शृङ्गवेरपुर का वर्णन प्रस्तुत श्लोक में श्रीराम ने सीता से किया है—

अनुवाद—हे सीते ! निषादराज गुह का यह वह पुर (शृंगवेरपुर) है, जिसके पास मेरे द्वारा शिर की मणि को छोड़कर अपनी जटाओं के बाँधने पर सुमन्त्र इस प्रकार रोए थे कि 'हे कैकेयि तेरे मनोरथ अब सफल हो गए' ।

(१६)

पयोधरैः पुण्यजनाङ्गनानाम्
निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु यस्याः ।
ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचः,
बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति ।।

शब्दार्थ—पुण्यजनांगनानाम्=यक्षों की स्त्रियों के, पयोधरैः=स्तनों से,

निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु=जिसके सुनहले कमलों का पराग उपभोग किया गया है। ब्राह्मं सरः=ब्रह्मा का तालाब अर्थात् मानसरोवर, अव्यक्तम्=सांख्यशास्त्राभिमत प्रधान (प्रकृति), आप्तवाचः=यथार्थवक्ता।

प्रसंग—सरयू नदी के उद्गम का वर्णन श्रीराम सीता से करते हैं—

अनुवाद—यक्षों की स्त्रियों के स्तनों के द्वारा जिसके सुनहले कमलों के पराग का उपभोग किया जाता है, ऐसे ब्राह्मसर अर्थात् मानसरोवर को यथार्थवक्ता मुनि उसी प्रकार सरयू का कारण (उद्गम स्थान) बतलाते हैं जिस प्रकार वे प्रकृति को महत्तत्त्व का कारण (उपादान) बताते हैं।

विशेष—सांख्यशास्त्र के अनुसार जगत् के सम्पूर्ण जड़ पदार्थों का मूलकारण अव्यक्त अर्थात् प्रधान या मूलप्रकृति को कहा जाता है, उससे सर्वप्रथम बुद्धि या महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। जिस प्रकार प्रकृति महत्तत्त्व की उपादान-कारण है, उसी प्रकार मानसरोवर सरयू का है अर्थात् मानसरोवर सरयू रूप में परिणत हो गया है, और जिस प्रकार महत्तत्त्व और प्रकृति का कार्यकारण-सम्बन्ध साक्षात् न होने पर भी उसे यथार्थवक्ता आप्त मुनियों के वचनों के आधार पर माना जाता है, उसी प्रकार सरयू को मानसरोवर से निकलते हुए नहीं देखने पर भी आप्त मुनियों के वचनों से यह विश्वास करना चाहिए कि सरयू मानसरोवर से निकली है। प्रयत्न करने से महत्तत्त्व और प्रकृति तथा सरयू और मानसरोवर के कार्यकारणसम्बन्ध का साक्षात्कार भी किया जा सकता है। उक्त श्लोक में 'उपमा' अलंकार है।

(१७)

सेयं मदीया जननीव तेन,
मान्येन राजा सरयूर्वियुक्ता।
दूरे वसन्तं शिशिरानिलैर्माम्,
तरङ्गहस्तैरुपगूहतीव।

शब्दार्थ—शिशिरानिलैः=शीतल वायु वाले, तरङ्गहस्तैः=तरङ्ग रूपी हाथों से, उपगूहतीव=आलिङ्गन करती हुई सी है।

प्रसंग—सरयू नदी का वर्णन श्रीराम सीता से अत्यन्त भावमय होकर करते हैं—

अनुवाद—मेरी माता कौशल्या के समान पूज्य पिताजी के द्वारा वियुक्त यह सरयू नदी परदेश से लौटकर आने वाले पुत्र के समान मुझको अपने शीतल वायु वाले तरंगों के हाथ से आलिङ्गित सी कर रही है।

विशेष—उक्त श्लोक में उपमा अलंकार है। सरयू माता कौसल्या के समान दशरथ जी के द्वारा वियुक्त है। पुनः उत्प्रेक्षा अलंकार है। सरयू की तरङ्गें उठ रहीं हैं और उन तरंगों का स्पर्श करती हुई शीतल वायु चलकर राम का स्पर्श कर रही है। कवि की दृष्टि में ऐसा प्रतीत होता है कि मानो माता सरयू अपने तरंगरूपी हाथों से अपने पुत्र राम का आलिङ्गन कर रही है। 'तरंगहस्तैः' में रूपक अलंकार है।

(१८)

असौ पुरस्कृत्य गुरुं पदातिः,
पश्चादवस्थापितवाहिनीकः।
वृद्धैरमात्यैः सह चीरवासा,
मामर्घ्यपाणिर्भरतोऽभ्युपैति।

प्रसंग—भरत के समीप आने का वर्णन करते हुए श्रीराम सीता से कहते हैं—

शब्दार्थः—पदातिः=पैदल, चीरवासाः=वल्कलवस्त्रधारी, अवस्थापितवाहिनीकः=सेना को स्थापित करने वाले, अर्घ्यपाणिः=हाथ में अर्घ्य- लेकर, अभ्युपैति=स्वागत के लिए आते हैं।

अनुवाद—हे सीते ! पैदल चलने वाले वल्कलवस्त्रधारी ये भरत सेना को अपने पीछे और गुरु वसिष्ठ को आगे कर वृद्ध मन्त्रियों के साथ हाथ में अर्घ्य लेकर मेरे स्वागत को आ रहे हैं।

मित्रलाभ

परीक्षोपयोगी और विशिष्ट गद्यांशों का हिन्दी अनुवाद—

(१)

अस्ति गोदावरीतीरे विशालः शाल्मलीतरुः। तत्र नानादिग्देशादागत्य रात्रौ पक्षिणो निवसन्ति। अथ कदाचिदवसन्नायां रात्रावस्ताचलचूडावलम्बिनि

भगवति कुमुदिनीनायके चन्द्रमसि लघुपतनकनामा वायसः प्रबुद्धः कृतान्तमिव द्वितीयमायान्तं व्याधमपश्यत् । तमवलोक्याचिन्तयत्—अद्य प्रातरेवानिष्टदर्शनं जातम्, न जाने किमनभिमतं दर्शयिष्यति, इत्युक्त्वा तदनुसरणक्रमेण व्याकुलश्चलितः । यतः—

हिन्दी अनुवाद—गोदावरी नदी के तट पर एक बड़ा सेमर का वृक्ष है। वहाँ विभिन्न दिशा और देशों से आकर रात में पक्षी निवास करते हैं। एक बार कभी रात्रि के समाप्त होने पर, भगवान् चन्द्रमा के अस्ताचल के शिखर पर पहुँचने पर, 'लघुपतनक' नामक कौवे ने जगकर दूसरे यमराज के समान आते हुए एक व्याध (बहेलिया) को देखा। उसे देखकर वह सोचने लगा—आज प्रातःकाल ही अनिष्ट का दर्शन हुआ है, न मालूम यह क्या अमंगल दिखाएगा ! ऐसा कहकर वह कौवा उस व्याध का पीछा करता हुआ व्याकुल हो चल पड़ा। क्योंकि —

(२)

अथ तेन व्याधेन तण्डुलकणान् विकीर्य जालं विस्तीर्णम् । स च प्रच्छन्नो भूत्वा स्थितः । तस्मिन्नेव काले चित्रग्रीवनामा कपोतराजः सपरिवारो वियति विसर्पस्तांस्तण्डुलकणानवलोकयामास । ततः कपोतराजस्तण्डुलकणलुब्धान् कपोतान् प्रत्याह—कुतोऽत्र निर्जने वने तण्डुलकणानां सम्भवः ? तन्निरूप्यतां तावत् । भद्रमिदं न पश्यामि । प्रायेणानेन तण्डुलकणलोभेनास्माभिरपि तथा भवितव्यम् ।

हिन्दी अनुवाद—तब उस व्याध ने चावल के दानों को बखेर कर जाल फैला दिया और स्वयं छिप कर बैठ गया। उसी समय कबूतरों के राजा चित्रग्रीव ने अपने परिवार के सहित आकाश में उड़ते हुए चावल के दानों को देखा—तब कपोतराज चावल के दानों की ओर ललचाने वाले कबूतरों से बोला, 'इस निर्जन वन में चावल के दाने कैसे हो सकते हैं ? अतः विचार करना चाहिए। यह मैं कल्याणकर नहीं समझता। कहीं चावल के दानों के इस लोभ से हम लोगों का वही हाल न हो कि—

(३)

अहमेकदा दक्षिणारण्ये चरन्नपश्यम् । एको वृद्धव्याघ्रः स्नातः कुशहस्तः सरस्तीरे ब्रूते—भो भोः पान्थाः ! इदं सुवर्णकङ्कणं गृह्यताम् । ततो लोभाकृष्टेन केनचित् पान्थेनालोचितम्—भाग्येनैतत संभवति । किं त्वस्मिन्नात्मसंदेहे प्रवृत्तिर्न विधेया । यतः—

हिन्दी अनुवाद—मैंने एक बार दक्षिण वन में विचरण करते हुए देखा कि एक बूढ़ा बाघ स्नान कर हाथ में कुश ले तालाब के किनारे पर कहता है— 'हे पथिको ! यह सोने का कंगन लो।' तब लोभ से आकृष्ट हो किसी पथिक ने सोचा—भाग्य से ही ऐसा सम्भव हुआ है, किन्तु आत्मसन्देह (जान के खतरे) में प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए, क्योंकि—

(४)

तन्निरूपयामि तावत् । प्रकाशं ब्रूते—कुत्र तव कङ्कणम् । व्याघ्रो हस्तं प्रसार्य दर्शयति । पान्थोऽवदत्—कथं मारात्मके त्वयि विश्वासः । व्याघ्र उवाच—शृणु रे पान्थ ! प्रागेव यौवनदशायामतिदुर्वृत्त आसम् । अनेक गोमानुषाणां बधान्मे पुत्रा मृता दाराश्च । वंशहीनश्चाहम् । ततः केनचिद् धार्मिकेणाहमादिष्टः—दानधर्मादिकं चरतु भवान् । तदुपदेशादिदानीमहं स्नानशीलो दाता वृद्धो गलितनखदन्तो न कथं विश्वासभूमिः । यतः—

हिन्दी अनुवाद—सो तनिक जाँच करूँ । वह प्रकट बोला—'तेरा कंगन कहाँ है ?' बाघ ने हाथ को फैला कर दिखाया । पथिक बोला—'तुझ हिंसक में क्यों कर विश्वास किया जावे ?' बाघ बोला—अरे पथिक ! सुन, पहले ही मैं यौवन अवस्था में अत्यन्त दुराचारी था । अनेक गाय और मनुष्यों का बध करने से मेरे पुत्र और स्त्री सब मर गए । मैं वंशहीन हो गया । तब किसी धर्मात्मा पुरुष ने मुझे आदेश दिया कि मैं दान, धर्म आदि करूँ । उसके उपदेश से अब मैं स्नान करने वाला हूँ और दाता हूँ । साथ ही अब नाखूनों और दाँतों से विहीन होने के कारण क्योंकर विश्वास करने योग्य नहीं ?

(५)

तदत्र सरसि स्नात्वा सुवर्णकङ्कणं गृहाण। ततो यावदसौ तद्वचःप्रतीतो लोभात् सरः स्नातुं प्रविशति, तावन्महापङ्के निमग्नः पलायितुमक्षमः। पङ्के पतितं दृष्ट्वा व्याघ्रोऽवदत्—'अहह ! महापङ्के पतितोऽसि अतस्त्वामहमुत्थापयामि', इत्युक्त्वा शनैः शनैरुपगम्य तेन व्याघ्रेण धृतः स पान्थोऽचिन्तयत्—

हिन्दी अनुवाद—सो इस तालाब में स्नान कर सोने का कंगन ग्रहण करो। तब ज्योंही वह पथिक उस बाघ के वचन से विश्वस्त हो लोभ से तालाब में स्नान करने को घुसा, त्यों ही वह कीचड़ के दलदल में फँसकर भागने में असमर्थ हो गया। कीचड़ में गिरे हुए उस पथिक को देखकर बाघ बोला—'अरे ! दलदल में गिर पड़े हो, इसलिए (लाओ) मैं तुम्हें उठाता हूँ।' ऐसा कह कर धीरे धीरे जाकर बाघ ने उसे पकड़ लिया, तब वह पथिक सोचने लगा—

(६)

ततस्तेषु चक्षुर्विषयातिक्रान्तेषु पक्षिषु स व्याधो निवृत्तः। अथ लुब्धकं निवृत्तं दृष्ट्वा कपोता ऊचुः—किमिदानीं कर्त्तुमुचितम्। चित्रग्रीव उवाच—

हिन्दी अनुवाद—तब उन पक्षियों के आँख से ओझल होने पर वह बहेलिया लौट आया। उस बहेलिए को लौटा हुआ देख कर कबूतर बोले—अब क्या करना है। चित्रग्रीव बोला—

(७)

तदस्माकं मित्रं हिरण्यको नाम मूषकराजो गण्डकीतीरे चित्रवने निवसति। सोऽस्माकं पाशान् छेत्स्यति, इत्यालोच्य सर्वे हिरण्यकविवरंसमीपं गताः। हिरण्यकश्च सर्वदापायशङ्कया शतद्वारं विवरं कृत्वा निवसति। ततो हिरण्यकः कपोतावपातभयाच्चकितस्तूष्णीं स्थितः। चित्रग्रीव उवाच—सखे हिरण्यक ! किमस्मान्न संभाषसे। ततो हिरण्यकस्तद्वचनं प्रत्यभिज्ञाय ससंभ्रमं बहिर्निःसृत्याब्रवीत्—आः पुण्यवानस्मि। प्रियसुहृन्मे चित्रग्रीवः समायातः।

हिन्दी अनुवाद—सो हमारा मित्र मूषकराज (चूहों का राजा) हिरण्यक गण्डकी के तट पर चित्रवन में रहता है। वह हमारे जालों को काटेगा, ऐसा विचार कर सब हिरण्यक के बिल के पास गए। हिरण्यक सदा अनिष्ट की

आशंका से सौ द्वार का बिल बना कर रहता था। वह कबूतरों के उतरने के भय से स्तब्ध हो चुपचाप हो गया। तब चित्रग्रीव बोला—मित्र हिरण्यक ! हम लोगों से तुम क्यों नहीं बोलते हो ? तब हिरण्यक चित्रग्रीव के वचन को पहचान कर शीघ्रता के साथ बाहर निकल कर बोला—अहह ! मैं बड़ा पुण्यवान् हूँ, मेरा प्रिय मित्र चित्रग्रीव आया है !

(८)

एतच्छ्रुत्वा हिरण्यकश्चित्रग्रीवस्य बन्धनं छेत्तुं सत्वरमुपसर्पति। चित्रग्रीव उवाच—मित्र ! मा मैवम्। अस्मदाश्रितानामेषां तावत् पाशांश्छिन्धि तदा मम पाशं पश्चाच्छेत्स्यसि। हिरण्यकोऽप्याह—अहमल्पशक्तिः दन्ताश्च मे कोमलाः। तदेतेषां पाशाश्छेत्तुं कथं समर्थः। तद्यावन्मे दन्ता न त्रुट्यन्ति तावत्तव पाशं छिनद्मि। तदनन्तरमेषामपि बन्धनं यावच्छक्यं छेत्स्यामि। चित्रग्रीव उवाच—अस्त्वेवम्। तथापि यथाशक्त्येतेषां बन्धनं खण्डय। हिरण्यकेनोक्तम्-आत्मपरित्यागेन यदाश्रितानां परिरक्षणं तन्न नीतिविदां संमतम्। यतः—

हिन्दी अनुवाद—यह सुनकर हिरण्यक चित्रग्रीव के बन्धन को काटने के लिए शीघ्र उसके पास पहुँचा। चित्रग्रीव बोला—मित्र ! ऐसा नहीं। इन मेरे आश्रितों के बन्धनों को काटो, तब बाद में मेरे बन्धन को काटना। हिरण्यक ने कहा—मैं अल्पशक्ति हूँ और मेरे दाँत कोमल हैं, सो इनके बन्धनों को मैं कैसे काट सकता हूँ ? इसलिए जब तक मेरे दाँत न टूटें, तब तक तुम्हारे बन्धन को काटता हूँ। उसके बाद इनके बन्धनों को भी यथाशक्ति काटूँगा। चित्रग्रीव बोला—अच्छा ऐसा ही सही, फिर भी यथाशक्ति इनके बन्धनों को काटो। हिरण्यक ने कहा—अपने परित्याग के द्वारा अर्थात् अपने प्राणों को संशय में डाल कर जो आश्रितों की रक्षा करता है, वह नीतिज्ञों के संमत नहीं। क्योंकि—

(९)

इत्याकर्ण्य हिरण्यकः प्रहृष्टमनाः पुलकितः सन्नब्रवीत्—साधु मित्र साधु ! अनेनाश्रितवात्सल्येन त्रैलोक्यस्यापि प्रभुत्वं त्वयि युज्यते। एवमुक्त्वा तेन सर्वेषां

बन्धनानि छिन्नानि। ततो हिरण्यकः सर्वान् सादरं संपूज्याह—सखे चित्रग्रीव, सर्वथात्र जालबन्धनविधौ दोषमा शंक्यात्मन्यवज्ञा न कर्तव्या। यतः—

हिन्दी अनुवाद—ऐसा सुनकर हिरण्यक प्रसन्नचित्त होकर पुलकित होता हुआ बोला—मित्र, धन्य है ! इस आश्रितवात्सल्य के कारण त्रिलोकी का प्रभुत्व भी तुममें होना उचित है। ऐसा कह कर उसने सबके बन्धन काट दिए। तब हिरण्यक ने सबकी सादर पूजा कर कहा—मित्र चित्रग्रीव, इस जाल में बँधने के कारण किसी भी प्रकार की बुराई मानकर आप अपनी अवज्ञा (आत्मग्लानि) न कीजिएगा, क्योंकि—

(१०)

अथलघुपतनकनामा काकः सर्ववृत्तान्तदर्शी साश्चर्यमिदमाह—अहो हिरण्यक, श्लाध्योऽसि। अतोऽहमपि त्वया सह मैत्रीमिच्छामि। अतो मां मैत्र्येणानुग्रहीतुमर्हसि। एतच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि विवराभ्यन्तरादाह—कस्त्वम् ? स ब्रूते—लघुपतनकनामा वायसोऽहम्। हिरण्यकोऽपिविहस्याह—का त्वया सह मैत्री ! यतः—

हिन्दी अनुवाद—तब सम्पूर्ण बृत्तान्त को देखने वाला लघुपतनक नामक कौवा आश्चर्य सहित बोला—अहो हिरण्यक, तुम प्रशंसनीय हो, अतः मैं भी तुमसे मित्रता करना चाहता हूँ। आप मुझे मित्रता के द्वारा अनुगृहीत कीजिए। यह सुन कर हिरण्यक बिल के भीतर से बोला—तुम कौन हो ? कौवे ने कहा—मैं लघुपतनक नामक कौवा हूँ। हिरण्यक ने हँस कर कहा—तेरे साथ कैसी मित्रता ! क्योंकि—

(११)

अस्ति मगधदेशे चम्पकवती नामारण्यानी। तस्यां चिरान्महता स्नेहेन मृगकाकौ निवसतः। स च मृगः स्वेच्छया भ्राम्यन् हृष्टपुष्टांगः केनचिच्छृगालेनावलोकितः। तं दृष्टा शृगालोऽचिन्तयत्—आः कथमेतन्मांसं सुललितं भक्षयामि ! भवतु विश्वासं तावदुत्पादयामि। इत्यालोच्योपसृत्याब्रवीत्—मित्र कुशलं ते। मृगेणोक्तम्—कस्त्वम् ? स ब्रूते—क्षुद्रबुद्धिनामा जम्बुकोऽहम्।

अत्रारण्ये बन्धुहीनो मृतवन्निवसामि। इदानीं त्वां मित्रमासाद्य पुनः सबन्धुर्जीवलोकं प्रविष्टोऽस्मि। अधुना तवानुचरेण मया सर्वथा भवितव्यम्। मृगेणोक्तम्—एवमस्तु।

हिन्दी अनुवाद—मगध देश में चम्पकवती नाम की एक वनी है। उसमें बहुत दिनों से मृग और काक बड़े प्रेम से रहते हैं। वह हृष्ट-पुष्ट अंगों वाला मृग स्वेच्छा से भ्रमण करता हुआ किसी स्यार की नजर पड़ा, उसे देख कर स्यार सोचने लगा—ओह! यह सुन्दर माँस कैसे खा पाऊं! अच्छा चलो विश्वास पैदा करूँ। ऐसा सोच कर पास में जाकर बोला—मित्र, आप सकुशल हैं। मृग ने कहा—तू कौन है? उसने कहा—मैं क्षुद्रबुद्धि नामक स्यार हूँ। इस वन में बन्धुहीन होकर मरे हुए के समान रहता हूँ। इस समय आपको मित्र पाकर बन्धुयुक्त हो पुनर्जीवित हो गया हूँ। अब हमेशा मैं आपका अनुचर बन कर रहूँगा। मृग ने कहा—बहुत अच्छा!

(१२)

ततः पश्चादस्तंगते सवितरि भगवति मरीचिमालिनि तौ मृगस्य वासभूमिं गतौ। तत्र चम्पकवृक्षशाखायां सुबुद्धिनामा काको मृगस्य चिरमित्रं निवसति। तौ दृष्ट्वा काकोऽवदत्—सखे चित्राङ्ग, कोऽयं द्वितीयः? मृगो ब्रूते—जम्बुकोऽयम्। अस्मत्सख्यमिच्छन्नागतः। काको ब्रूते—मित्र अकस्मादागन्तुना सह मैत्री न युक्ता। तथा चोक्तम्—

हिन्दी अनुवाद—तब मरीचिमाली (किरणों की माला वाले) भगवान् सूर्य के अस्त होने पर वे दोनों मृग के निवासस्थान पर गए। वहाँ चम्पक वृक्ष की शाखा पर मृग का पुराना मित्र सुबुद्धि नामक कौवा रहता था। उन दोनों को देख कर कौवा (हरिण) से बोला—मित्र चित्राङ्ग, यह दूसरा कौन है? मृग ने कहा—यह स्यार है, हम लोगों की मित्रता चाहता हुआ आया है। कौवे ने कहा—मित्र अकस्मात् आए हुए के साथ मित्रता करना उचित नहीं, जैसा कि कहा भी है—

(१३)

अस्ति भागीरथी तीरे गृध्रकूटनाम्नि पर्वते महान पर्कटीवृक्षः। तस्य कोटरे दैवदुर्विपाकाद् गलितनखनयनो जरद्गवनामा गृध्रः प्रतिवसति। अथ कृपया तज्जीवनाय तद्वृक्षवासिनः पक्षिणः स्वाहारात् किंचित् किंचिदुद्धृत्य ददति। तेनासौ जीवति। शावकानां रक्षणं करोति।

हिन्दी अनुवाद—गंगा के किनारे गृध्रकूट नाम के पर्वत पर एक बड़ा पर्कटी (पापड़ी) का पेड़ है। उसके कोटर (खोखले) में भाग्य के विषम परिणाम से जिसके नख और नेत्र नष्ट होगये थे, ऐसा जरद्गव नामक गीध रहता था। उस पेड़ पर रहने वाले पक्षी उसके जीने के लिए अपने आहार में से थोड़ा-थोड़ा निकाल कर दे देते थे। उससे वह जीता था और पक्षियों के बच्चों की रक्षा करता था।

(१४)

अधुनास्य संनिधाने पलायितुमक्षमः। तद् तथा भवितव्यं तद् भवतु। तावद् विश्वासमुत्पाद्यास्य समीपमुपगच्छामि। इत्यालोच्योपसृत्याब्रवीत—आर्य, त्वामभिवन्दे। गृध्रोऽवदत्—कस्त्वम्? सोऽवदत्मार्जारोऽहम्। गृध्रो ब्रूते—दूरमपसर। नो चेद् हन्तव्योऽसि मया। मार्जारोऽवदत्—श्रूयतां तावदस्मद्वचनम्। ततो यद्यहं बध्यस्तदा हन्तव्यः। यतः—

हिन्दी अनुवाद—अब इसके पास से भाग नहीं सकता हूँ, सो अब जो होना हो सो हो, विश्वास पैदा कर इसके पास चलूँ। ऐसा सोच कर पास जाकर बोला—आर्य, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ। गीध बोला—तू कौन है? वह बोला—मैं बिलाव हूँ। गीध बोला—दूर हट, नहीं तो मेरे द्वारा मारा जावेगा। बिलाव बोला—कृपा कर के मेरी बात सुनिएगा। फिर यदि मैं मारने योग्य होऊँ, तो मुझे मार डालिएगा। क्योंकि—

(१५)

गृध्रो ब्रूते—ब्रूहि किमर्थमागतोऽसि। सोऽवदत्—अहमत्र गङ्गातीरे नित्यस्नायी ब्रह्मचारी चान्द्रायणव्रतमाचरंस्तिष्ठामि। यूयं धर्मज्ञानरता इति विश्वासभूमयः पक्षिणः सर्वे सर्वदा ममाग्रे प्रस्तुवन्ति। अतो भवद्भ्यो विद्याव-

मराठी

महानुभाव पंथ के प्रमुख ग्रन्थ सप्त काव्य माने जाते हैं। आचार्य स० ज० भागवत के अनुसार महानुभाव पन्थ अवैदिक धर्म पन्थ था। उसने उपनिषद् और गीता को अपना आधार बनाया। महानुभाव जाति भेद नहीं मानते थे परन्तु आचरण शुद्धि पर जोर देते थे। स्त्रियाँ भी सन्यास की अधिकारिणी थीं। यह ग्रन्थ सगल लिपि में है। इस विषय पर डॉ० वि० मि० कोलते ने 'महानुभाव तत्व ज्ञान' और 'महानु भावांचा आचार धर्म' नामक दो बड़े ही खोजपूर्ण ग्रंथ मराठी में लिखे हैं।

प्राचीन मराठी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

मराठी के आदिकवि मुकुन्दराज माने जाते हैं। इन्होंने ११८८ ईस्वी के लगभग 'विवेक सिन्धु' और 'परमामृत' नामक दो ग्रन्थों की रचना की। यह नाथ सम्प्रदाय से सम्बन्धित थे। इनकी भाषा में प्राचीनता का भास नहीं होता। मराठी की आद्यकवियत्री महदम्बा मानी जाती है, यह चक्रधर के मुख्य शिष्य नागदेवाचार्य की चचेरी बहिन थी। इन्होंने 'धव ले' नामक चार चरणों का अनिघमिट अक्षर संख्या का छन्द लिखा है। यह छन्द कृष्ण-भक्ति-रस पूर्ण है। मराठी की अतुकान्त कविता का प्रारम्भ इन्हीं धवलों से माना जाता है।

१२९० ई० में मराठी सन्त कवियों की परम्परा के आद्य प्रणेता श्री ज्ञानेश्वर ने 'भगवद्गीता' के अठारह अध्यायों पर नौ हजार ओवियों में पद्यात्मक टीका अपने 'ज्ञानेश्वरी' नामक ग्रन्थ में की है। इस पुस्तक के अतिरिक्त उन्होंने 'अमृतानुभव' तथा कुछ स्फुट अभंग पद भी लिखे। ज्ञानेश्वर के समय में ही नामदेव और एकनाथ नाम के अन्य सन्त कवि भी हुये हैं। इनकी रचनायें आज भी महाराष्ट्र के बुजुर्गों को कंठस्थ हैं। एकनाथ की भाषा तुलसीदास के समान प्रसाद पूर्ण, अर्थसुलभ, साधारणी वरणयुक्त तथा अपनी सरलता से अलंकृत है। इनके द्वारा प्रतिपादित परम्परा को नाथ परम्परा के नाम से पुकारा जाता है। इस परम्परा में भी अनेक कवि हुये, जिन्होंने अनेक ग्रन्थ एवम् ओवियाँ लिखीं।

मराठी के प्रमुख सन्त कवि

महाराष्ट्र की सन्त काव्य परम्परा पर अन्य आस पास की भाषा का अधिक प्रभाव पड़ा। डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार इस युग की समग्र स्वाधीन चिन्ता के गुरु रामानन्द थे। रामानन्द १४०० से १४७० के करीब हुये। इनकी परम्परा के प्रमुख कवि सेनाबाई, रैदास चमार, कबीर जुलाहा, धन्ना जाट, पीपा राजपूत आदि थे। यह रामानन्द की परम्परा का ही प्रभाव था कि दर्जी का काम करने वाला नामदेव, घर का पिसान, कूटना और महरी का काम करने वाली जनाबाई, मिट्टी के बर्तन बनाने वाला गोरा कुम्हार, प्याज-कन्द लहुसन-मिरची लगाने के बाग का काम करने वाला साँवता माली, मकान बनाने वाला या मरे हुये ढोर खींचने वाला चोखा महार आदि संत कवियों ने 'वार करी' ग्रन्थ के रूप में ईसा की तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र को हिला दिया।

सभी सन्त कवि वर्ण व्यवस्था की इस्पाती कारा को तोड़कर आगे बढ़े। इन सन्तों का कार्य देखने पर उनके साहस, स्पष्टवादिता, निर्भीक स्वाधीन चिन्ता और त्यागमय निष्ठा से मन अभिभूत हो जाता है। महाराष्ट्र के हरिजन सन्त कवियों के मूल गुरु ज्ञानेश्वर थे। प्रो० न० र० फाटक ज्ञानदेव को एक राष्ट्रीय नेता मानते है। इस परम्परा के प्रमुख कवि नामदेव माने जाते हैं। लेकिन उनके बारे में अधिक जानकारी नहीं मिलती। उनकी अपने परम्परागत पेशे में लेश-मात्र भी रुचि नहीं थी। यह पहले मराठी अभंग कवि हैं।

ग्रन्थ छन्द भी प्राचीन प्राकृत के समान हैं या कुछ नये बनाये गये हैं। उदाहरण के लिये– दोहरा, दुपदा, त्रिपदा, पंचपदा, अष्टपदी, श्लोक-इंरवण, छन्द, पडरी, सवाईया और गाथा वृत्त मिलते हैं। इस संत-मालिका में सबसे शानदार हैं चोखा महार। वे ढेड़ भी कहलाते थे। उनकी जाति बड़ी ही हीन थी अतः ईश्वर भक्ति में थोड़ी बाधा हुई।

दासी जनाबाई के अभंग बहुत महत्वपूर्ण हैं। परन्तु उनमें तत्कालीन

समाज स्थिति के प्रदांड कम मिलते हैं। इन्हीं सन्तों पर अर्हत् अवधूत आदि सम्प्रदायों की छाया पड़ी और अलख नामी वैरागी भी इन्हीं से निकले हैं।

मध्यकालीन मराठी साहित्य

मराठी साहित्य की प्राचीन परम्परा की अन्तिम श्रृंखला के रूप में मुक्तेश्वर का नाम लिया जाता है। इनका समय १६०० से १६५० ईस्वी के लगभग माना जाता है। अनुमान है कि आप एकनाथ के भानजे होंगे। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'महाभारत' है जो आज तक सम्पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं; केवल पाँच ही पर्व उपलब्ध हैं। मराठी के प्राचीन साहित्य के मर्मज्ञ और आलोचक प्रवर स्वर्गीय पागांरकर मुक्तेश्वर की वाणी में लोकोत्तर प्रसाद, दिव्य ओजस्विता और सृष्टि सौन्दर्य वर्णन की अनुपम शोभा पाते हैं। इनकी भाषा, देश और धर्म का अभिमान और अनुराग अलौकिक था। यह लौकिक साहित्य की नींव डालने वालों में प्रमुख थे। परन्तु मध्य-युगीन मराठी काव्य को लोकोन्मुख बनाने में तुकाराम और रामदास सर्वाधिक प्रसिद्ध हुये।

तुकाराम का जीवन विषयक परिचय हिन्दुस्तान एकेडेमी द्वारा प्रकाशित डा० ह० रा० दिवेकर की 'तुकाराम' पुस्तक से मिलता है। वे शूद्र जाति के थे और बनिये का धन्धा करते थे। तुकाराम ने अपनी सब रचना 'अभंग' नामक भजनोपयोगी छन्द में की है। यह अधिकांशत, स्फुट है। उनकी रचनायें भी नामदेव के समान ही भक्ति-परक आर्तता और उपालम्भ से भरी हैं। तुकाराम ने कबीर के समान ही व्यावहारिक धर्म की दाम्भिकता को आड़े हाथों लिया है और उनकी रचनायें भी कबीर की भाँति ही लोकोक्तिक रूप बन गई हैं। उनमें वास्तविक जीवन के यथार्थ दृष्टांत को लेकर बड़े-बड़े तत्वों को सहजता से समझाने की सबसे बड़ी कुशलता है। उनका निर्वाण काल १६५० ईस्वी माना जाता है।

रामदास का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। वे बचपन से ही काफी उद्धत थे और विवाह के समय मंडप से उठकर भाग गये। एक किंवदन्ती के अनुसार जब उनकी भेंट शिवाजी से हुई तो उन्होंने इनको गुरु मान लिया। वे आजीवन धर्म-प्रचार में ही लगे रहे तथा कई मठ भी स्थापित किये। इनके

जीवन का मुख्य ध्येय 'रामभक्ति' था। उनके प्रमुख स्थान 'चाफल' और पटली हैं। आपका सर्वोत्तम ग्रन्थ 'दासबोध' है। यह निवृत्तिवादी ग्रन्थ है, निर्गुण धारा के सन्तों के समान यह ब्रह्म, माया की सूक्ष्म छान-बीन में नहीं पड़ता। यह ग्रन्थ ओजस्वी भाषा में पूर्णतः प्रवृत्तिवादी है। इसका प्रमुख कारण तत्कालीन परिस्थितियाँ भी थीं। उस समय हिन्दू जनता शिवाजी के नेतृत्व में मुस्लिम शासकों से सीधा विरोध कर रही थी। उसमें धर्म एक प्रधान अस्त्र था। रामदास की वाणी में अटपटापन है। वह बिना किसी व्याकरण दोष, भाषा दोष, छन्द-दोष, एवं व्यदोष आदि की चिन्ता किये बराबर ऊजस्वल वेग से बहती है। उसमें अजीब अजीब नये शब्द-प्रयोग मिलते हैं। कहीं-कहीं ग्रामीण शब्दों का भी समावेश है। परन्तु उनकी रचना की सबसे बड़ी विशेषता उसकी प्रभावोत्पादकता है। दासबोध में मूर्ख, पंडित, कवि, भक्त, राजा आदि सबके लक्षण गिनाये गये हैं। राजनीति पर लिखा उनका पूरा दशक एक उत्तम एवम सत्य से प्रज्वलित रचना है। उन्होंने दास गीता नामक एक संस्कृत काव्य पद्य भी लिखा है। इसके अतिरिक्त आपने रामायण के सुन्दर काण्ड, युद्ध काण्ड, आनन्द भुवन, पंचीकरण, आरतियाँ आदि अनेक ग्रन्थ लिखे। १६८१ ईस्वी में सज्जनगढ़ पर आपका निर्वाण हो गया।

रामदास की शिष्य-परम्परा के प्रमुख कवि जयराम, रंगनाथ, आनन्द मूर्त्ति और केशव हुये हैं। ये सब मिलकर रामदास-पंचायतन का निर्माण करते हैं। इनके साथ ही सत्रहवीं सदी में संत कवियों की परम्परा समाप्त हो जाती है। लालजी पेंडसे के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्य और समाज जीवन' जिसमें मराठी साहित्य का इतिहास समाजवादी दृष्टिकोण से दिया गया है में तीन प्रकार के कवियों को जिनके रस भक्ति, शान्ति, शृंगार और वीर आदि थे बहुत ही सुन्दर ढंग से तीन नामों में संक्षिप्त किया है—सन्त कवि, पन्त कवि, और तन्त कवि। पन्त पण्डित का ही छोटा रूप है और तन्त रीतिकालीन कवियों के लिये प्रयुक्त हुआ है; क्योंकि ये कवि डफ और एकतारा आदि वाद्ययन्त्रों की सहायता से गाते थे।

जिस प्रकार हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल के उपरान्त रीति-

काल का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका प्रारम्भ केशव से माना जाता है। इस काल परिवर्तन का कारण यह है कि जो आदर्श एक युग में पूजे जाते हैं वे दूसरे युग में निर्माल्यवत् बन जाते हैं और नये आदर्श उनका रिक्त स्थान ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार एक के विध्वसं से दूसरे के निर्माण के संक्राति काल का साहित्य बहुत ही महत्वपूर्ण होता है। मराठी के साहित्य में भी रामदास के पश्चात् वामन पण्डित और उनके बाद के कवियों का काल इसी प्रकार का था। सन्त कविता जब एक भँवर में पड़ी सी जान पड़ी तो तुकाराम ने उसे झकझोर कर उसमें सजीवता उत्पन्न कर दी। लेकिन रामदास की कविता ने उसे फिर से विमूर्छा में डाल दिया। इस प्रकार इस काल का सम्पूर्ण चित्रण हमको वामन पण्डित, रघुनाथ पण्डित और मोरोपन्त की सुघर नक्काशी भरी और आदि अलंकृत कविता में मिलता है।

वामन पण्डित की कविता में भी ऐसी ही शाब्दिक नक्काशी मिलती है। इसमें संदेह नहीं कि उनकी रचना अतिशय नाद मधुर है। उनकी कविता जयदेव और विद्यापति की मधुर याद को ताजा कर देती है। परन्तु कहीं न कहीं ऐसा जान पड़ता है कि भाव भाषा में खो गये हैं; भाषानुवर्ती भाव हो रहे हैं; जिस प्रकार महादेवी की उत्तर-कालीन रचना में। वामन पण्डित संस्कृत के उद्‍भट विद्वान थे। 'यथार्थ दीपिका' उनका बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रंथ है। यह ज्ञानेश्वरी की भाँति ही गीता की टीका है। इस टीका की एक और टीका है 'भावार्थ दीपिका।' उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त वामन पण्डित के अन्य भावना प्रधान ग्रन्थ ये हैं 'गजेन्द्र मोक्ष, सीता-स्वयंवर, कात्यायनी व्रत, वन सुधा और राधा-विलास।' उनके काव्य में विचार प्रधान और भावना प्रधान दो शैलियाँ परिलक्षित होती हैं। इनके समकालीन कवियों में नागेश के विट्ठल ने श्लोक शैली में 'सीता स्वयंवर' और 'रुक्मिनी स्वयंवर' काव्य रचे हैं। इनके उत्तर कालीन कवियों में जयराम, आनन्द तनय, रघुनाथ पण्डित, कचेश्वर, वापा, निरंजनराघव, सामराज, श्रीधर और महीपति आदि उल्लेखनीय कवि हैं।

अठारहवीं सदी में मोरोपन्त रामचन्द्र पराडकर बहुत ही महत्वपूर्ण कवि हुये हैं। उनके गुरु केशव पाध्ये थे। ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने समग्र महा-

भारत, भागवत, रामायण 'आर्या' वृत्त में मराठी में उतारे और रामायण तथा मंत्र रामायण आदि १०८ रामायण लिखे थे। 'युद्ध प्रसंग', 'संवाद प्रेम', वात्सल्य और करुण रस के प्रसंगों का आपने कमाल के साथ वर्णन किया है। आपकी रचना अधिकांशतः संस्कृत-समास प्रचुर है। आप अपनी तुकों के लिये बहुत प्रसिद्ध हैं। ईश्वर स्तुति पर 'पृथ्वी छन्द' में 'केकावली' नामक काव्य आपकी स्वतंत्र काव्य रचना है। पेशवाओं के राज्य-काल के प्रमुख कवियों में नारायणकवि, दाजीवा जो शीरख, रामचन्द्र कड़वे, रघुनाथ पन्त, कोशे और साहिरोबानाथ आदि प्रमुख थे।

इस काल में काव्य रचनाकार प्रमुख रूप से दो वर्गों में विभाजित थे। एक ओर तो बड़े-बड़े विद्वान, व्युत्पन्न संस्कृत पण्डित थे और दूसरी ओर थे जन-कवि। इनमें जन-कवि तो वीरों की गाथायें गाते थे और सिपाहियों के मनोरंजन के लिये शृंगार-पूर्ण नाट्यात्मक भाव-गीत भी लिखते थे। ये कवि आम तौर पर विद्वान कवियों की नकल में तुकों का जाल बिछाते थे, और भाषा की चिन्ता न करते हुये उर्दू के रंग में इश्किया शायरी का निर्माण करते थे। इसके साथ ही साथ उनकी कविता में महाराष्ट्र के भूमिगत और जाति गत रीति रिवाजों, लोक कहावतों, वाक्य-प्रचारों और रहन-सहन की वैशिष्टय-पूर्ण पद्धति का वर्णन मिलता है। वे हिन्दी में आल्हा की ही भाँति शृंगार से भरपूर और अश्लील गीत होने पर भी चित्र काव्य की सुन्दर प्रतिमाएँ हैं। इनको 'लावणियाँ' कहते हैं। शाहिरों ने मराठा-पेशवा राज्य के उत्तर काल के रण-रंग और रस रंग का यथार्थ प्रतिबिम्ब बिना किसी लाग-लपेट के कविता में उतार रखा है। अतः पण्डित कवियों की विद्वत्ता के ग्रीष्मातप से जो ग्राम्य गीतों की परम्परा शुष्क प्रायः होती जा रही थी, उसे साहिरों ने पुनर्जीवन दिया।

अब तक जितने भी ऐतिहासिक वीर गेय काव्य उपलब्ध हो सके हैं, उनकी संख्या ३०० के लगभग हैं। इनमें से सात शिवा काल से साहूकाल तक के हैं, एक सौ पचास पेशवा काल के हैं तथा बाकी के सभी १८०० ई० के बाद के हैं। उनमें अज्ञानदास का 'अफजलखाँ-वध' और तुलसीदास का 'तमाजी मालसुरे' हैं। ये दोनों ही ग्रंथ शिवाजी के समय के हैं। इस ग्रन्थ को दो खण्डों में विभा-

जित किया गया है। इनमें से द्वितीय काल खण्ड में पानीपत के संग्राम और पानीपत की प्रसिद्ध लड़ाई को लेकर बहुत से पोवाड़े लिखे गये हैं। ये शाहिर भी हिन्दी के भाट एवं चारणों की भाँति गुणीजनों के आश्रित थे। उत्तर-पेशवाई की प्रमुख शायरी में रामजोशी, कीर्त्तन-कार, अनन्त फंदी, होना जी बाला, ग्वाला सगन भाऊ, शिकलगर मुसलमान, प्रभाकर दातार और परशुराम दर्जी आदि प्रमुख थे। इन कवियों ने विविध जातियों के प्रतिनिधि के रूप में आधुनिक मराठी कविता की नींव डाली। प्रभाकर जी की रचनायें संस्मरणीय हैं। होना जी की कविता में उत्तान-शृंगार होने पर भी मधुरता है।

आधुनिक काल का प्रारम्भ

काव्योत्थान के तीन युग

प्रथम उत्थान—अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पश्चात् सन् १८८५ से मराठी की आधुनिक कविता का प्रारम्भ माना जाता है। मराठी में 'केशवसुत' से नव-जागरण का प्रारम्भ हुआ। इनका पूरा नाम कृष्ण जी केशव दामले था। इनके पूर्व जो मराठी कविता हुई थी वह अधिकांशतः इतिवृत्तात्मक और अँग्रेजी की अनुकरण पद्धति पर थी। उसमें जातीय विशेषता नहीं मिलती। केशवसुत ने अपनी 'तुतारी कविता' में मराठी में राष्ट्रीय, स्वातन्त्र्योन्मुखी कविता का शंखनाद किया। कवि को उन्होंने समाज में पुनः प्रतिष्ठित किया। उनकी कई प्रसिद्ध पक्तियाँ सन्देश बन गयी हैं। जैसे :—

'प्राप्तकाल विशाल भूधर के समान है। उसमें सुन्दर शिल्पाकन करो। उसमें अपने नाम लिखो।

दम्भ पर हमला करो। विद्रोहियो, त्वरा करो। समता का ध्वज ऊँचा करो।'

लेकिन इनकी कविता में अंग्रेजी के प्रारम्भिक रोमांटिक कवि वर्ड्सवर्थ का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

केशवसुत के पश्चात् दूसरे महत्वपूर्ण कवि रेवरंड ना० वा० तिलक हुये हैं। ईसाई होते हुये भी आपने 'वनवासी फूल, स्विस्तापन' आदि के माध्यम से मराठी साहित्य की बहुमूल्य सेवा की है। इनकी कविता में मानवतावाद कूट-कूट

भरा है। ईसाइयों के समान ही प्राणीमात्र के लिये अनुकम्पा, दार्शनिक पुट लिये हुए कुछ गूढ़रम्यता तथा आस्तिकता जन्य आशावाद उनकी विशेषतायें हैं।

तीसरे महत्वपूर्ण कवि चन्द्रशेखर माने जाते हैं। यह बड़ौदा के राजकवि थे। इनकी कविता संस्कृत छन्दों में रची गयी है। आपकी कई फुटकर कवितायें 'चन्द्रिका' नामक संग्रह में प्रकाशित हुई हैं। आपने मिल्टन के 'लैलेग्रो' और 'इलपेन्सेरे सो' के अनुवाद भी किये हैं। आपकी सर्वोत्तम रचना ग्रामीण भाषा में लिखा हुआ 'काप हो चमत्कार' नामक आर्याबद्ध खण्डकाव्य है। हिन्दी में आपकी तुलना 'हरिऔध' से की जाती है।

प्रथमोत्थान के चौथे कवि 'विनायक' हैं। यद्यपि आपकी विशेष शिक्षा नहीं हुई, जीवन भी अस्थिर रहा परन्तु आपने उच्चकोटि की राष्ट्रीय रचनायें प्रमुखतया गेय काव्य शैली में लिखी हैं। आपकी रचनाओं में विशेषतः 'हत भागिनी, स्त्री और पुरुष, कवि और तोता' आदि प्रसिद्ध हैं।

इस उत्थान के अंतिम और छटवें कवि श्रीनारायण मुरलीधर गुहो हैं। उन्होंने 'कमला' नामक एक ऐतिहासिक खण्ड काव्य लिखा। आपने अपनी समस्त कवितायें अँग्रेजी के उपनाम 'बी (Bee)' से लिखी हैं। आपकी रचनायें १९३४ में पुस्तकाकार में प्रकाशित हुईं। श्री अत्रे ने उनकी रचनायें संगृहीत और सम्पादित की हैं। आपने बहुत कम कवितायें लिखीं परन्तु जितनी भी लिखीं वे सभी एक से एक बढ़ कर हैं। यदि आधुनिक कविता का प्रारम्भ आपसे माना जाय तो अत्युक्ति न होगी। आपकी प्रसिद्ध रचनायें 'डंका, दीप, ज्योति, चाप्डा, माझी कन्या' आदि हैं।

द्वितीय उत्थान—इस उत्थान के प्रमुख कवि ताँबे, गडकरी उर्फ 'गोविन्दाग्रज,' 'ढोंबरे उर्फ बालककि' रेंदालकर और ब० विनायक दामोदर सावरकर हैं। इनमें से भास्कर रामचन्द्र ताँबे ग्वालियर के राजकवि थे। आपने कुछ अत्यंत मधुर प्रेम गीत लिखे हैं। राजस्थान तथा मालवा का प्रादेशिक प्राकृतिक रंग आपकी रचनाओं में मिलता है। आपने रवीन्द्रनाथ की शैली में रहस्यवादी रचनायें की हैं। आपके कई गीत जैसे—'मरणांत खरोखर जग,

जगते, 'कुणि, कोडेमाझे उकलिल का' और साम्राज्यशाही आदि बहुत ही लोक-प्रिय हुये हैं ।

राम गणेश बाडकरी प्रमुखत: नाटककार के नाते प्रसिद्ध हैं । आपकी प्रतिभा अनेक रूपों में प्रस्फुटित हुई । आपने 'बालक राम' के नाम से कुछ हास्य पूर्ण निबन्ध भी लिखे हैं । परन्तु आपकी सभी रचनाओं में उनकी काव्यात्मक मनोवृत्ति का अच्छा परिचय मिलता है । आपकी रचनायें 'राजहंस माझा विजला, गुलाबी कोडे, मुरली, बुवड, दमरा, कवि आणि कैदी, आदि अपनी उत्कृष्टता के कारण अविस्मरणीय हैं । गडकरी ने अपनी कविताएँ 'गोबिन्दा ग्रज' के नाम से लिखी हैं । उसमें बायरन जैसी उत्कृष्ट भावुकता, गहरी करुणा और शृंगार मिलता है । उनकी कविताओं में कहीं-कहीं ऊँची दार्शनिक उठान, प्रकृति का सजीव चित्रण और मनोभावनाओं का सूक्ष्म एवं हृदस्पर्शी वर्णन मिलता है । कई गीतों में प्रेम की निराशाजन्य कड़ुवाहट भी है । सर्वत्र ही अनुप्रासों की सुन्दर छटा दीख पड़ती है ।

माधुर्य प्रधान मराठी कविता की दूसरी धारा के तीसरे कवि त्र्यंबक बापूजी ठोंबरे उर्फ बाल कवि हैं । इन्होंने अधिकतर रचनायें प्रकृति प्रेम पर की हैं । इन्हें मराठी का सुमित्रानन्दन पंत कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी । आपके प्रमुख विषय 'संध्यातारक, निर्झर, पाडस, फुलराणी, श्रावण मास, ताराराणी, काल अणि प्रेम, आदि हैं । आप प्रधानत: सौन्दर्यवादी कवि हैं । वे सर्वत्र 'आनन्दी आनन्द मड़े और इकड़े तिकड़े चों हि कड़े' के दर्शन करते हैं ।

मराठी में अतुकान्त और मुक्त छंद रचना के प्रथम प्रवर्तक एकनाथ पांडुरंग रेंदालकर माने जाते हैं । इनकी रचनाओं में स्वाभाविकता के दर्शन होते हैं । आपकी प्रसिद्ध रचनायें 'रुक्मिणी पत्रिका, कृष्णा, बसन्त, उजाड़ मैदान, निगाड' आदि हैं । आपकी रचनाओं में प्रसाद के आँसू की ही भाँति करुण रस की धारा निरंतर रूप से बहती रहती है । ओजस्वी कवियों में बा० विनायक दामोदर सावरकर का नाम लिया जाता है । जो अपने क्रान्तिकारी राजनैतिक जीवन के कारण भारत-विख्यात हैं । सावरकर के कवि को उनका राजनैतिक व्यक्तित्व खा गया । उनकी भुगांत रीचा घोष, जगन्नाथ चा रथोत्सव, माझे मुत्यु पत्र सागरा, प्राण तल मलला और सप्तर्षि'

आदि ऐसी रचनायें हैं जो विश्व साहित्य में गर्व का स्थान प्राप्त कर सकती हैं। आपने वैनायक और कमला नामक दो खण्ड काव्य भी लिखे हैं।

प्रथमोत्थान में जहाँ रूढ़ियों के प्रति अनावश्यक मोह अथवा निर्भयता की अतिरेकपूर्ण वृत्ति प्रदर्शित हो रही थी वहाँ द्वितीय उत्थान में एक नये प्रकार की ताजगी, प्रकृति के प्रति विशेष प्रेम, जातीयता तथा स्वदेश भक्ति के दर्शन होते हैं।

तृतीय उत्थान—इस उत्थान में मुख्य हाथ पूना की 'रवि किरण मंडल' नामक सात कवियों की एक मण्डली का रहा, जिनमें से प्रमुख इस प्रकार थे—डा० माधव, यबकं पटवर्धन उर्फ ते माधव जूलियन, यशवन्त दिनकर पेंढारकर उर्फ 'यशवन्त', शंकर केशव कानिटकर उर्फ गिरीश, घाटे, आदि। इनमें माधव जूलियन फारसी के प्रोफेसर थे। आपने छन्द शास्त्र पर बम्बई विश्वविद्यालय से पहली डाक्टरेट पाई। आपने उमर खैयाम की रूबाइयों का मूल फारसी से तथा फिट्चेराल्ड के अँग्रेजी अनुवाद से समश्लोकी अनुवाद मराठी में किया। आपने 'सुधारक' नामक एक व्यंग्यपूर्ण खण्ड कांव्य, 'विरह तरंग' नामक प्रेम-प्रधान खंड काव्य, प्रगीत मुक्तों से भरा 'तुटलेले दुवे' नामक दूसरा खण्ड काव्य तथा 'नकलांकुर' नामक एक व्यंग्य काव्य लिखा है। आपकी स्फुट कवितायें 'स्वप्न रंजनी, शलाका, मधुमाधवी' में संग्रहीत हैं। आपने अपनी कविता द्वारा मराठी में एक नवीन शैली एक नवीन भाषा सम्पदा को प्रचलित किया। रवि किरण मण्डल में आपकी मौलिकता सर्वाधिक प्रकाशमान थी।

इसके पश्चात् यशवंत का नम्बर आता है। उन्होंने अधिकतर राष्ट्रीय और समाज-सुधार पर कवितायें लिखी हैं। आपका खण्ड काव्य 'वन्दीशाला' में मखदा की बच्चों की जेल पर और अपराधी बच्चों पर तथा जय मंगला 'विल्हण के प्रेम प्रसंग' लेकर को लिखा है। इसके अलावा बड़ौदा नरेश के राज्यारोहण प्रसंग पर आपने 'काव्य किरीट' नामक के राज्याखण्ड काव्य लिखा। आपके कई काव्य संग्रह 'यशोधन, यशवन्ती, यशोविधि' आदि नामों से प्रकाशित हुये हैं जिनमें से 'आई, गुलामाचे, नजराण, घर प्रेमाची दौलत आदि गीत अत्याधिक लोक-

प्रिय हुये हैं। कुछ रचनायें ग्रामीण भाषा में भी की हैं। बच्चों के मन का भी आपकी कविताओं में सुन्दर चित्रण मिलता है।

रवि किरण मण्डल के अन्य कवियों में गिरीश अपने खण्ड काव्यों के कारण अत्याधिक सफल कवि माने जाते हैं। इस मण्डल के कवियों ने जहाँ एक ओर नये-नये विषयों पर रचनायें कीं वहाँ कविता को कुछ नयी रूढ़ियों में भी बाँध डाला। रवि किरण परिवारी मराठी में भाव गीत के रूप में कई वर्षों तक ऐसी चलती रही कि उसकी प्रतिक्रिया में एक ओर माधवानुज, हु० आ० तिवारी, टेकाडे, बेहोर आदि ने ओजपूर्ण ऐतिहासिक संग्राम गीत गाने शुरू कर दिये, इनमें राष्ट्रीय प्रचार ही अधिक व काव्यात्मकता कम थी और दूसरी ओर प्रि० प्र० के० अत्रे उर्फ केशव कुमार आदि ने अपनी पैरोडियों की प्रथा चलाई। 'झेंडूची फुले' नामक एक अकेले संग्रह ने मराठी कविता में परिहास-पूर्णता का वह प्रवाह बहा दिया कि एक दशक के अन्दर-अन्दर पुराने ढंग की कविता एकदम उपेक्षित सी हो गयी।

अब इधर गत महायुद्ध के कुछ पूर्व से कवियों में सामाजिक चेतना जाग्रत हुई है। कुसुमाग्रज, बोरकर, श्रीकृष्ण पोवले, कारे, वसन्त वैद्य, बसन्त चिधड़े ना० घ० देशपांडे, राजा बड़े, संजीवनी मराठे आदि कई भावगीत कवि आगे बढ़ रहे हैं जो मराठी के गीतात्मक अनुर्वर प्रान्त को सँवार रहे हैं। बे० सावरकर, कानेटकर 'गिरीश,' भ० श्री पण्डित, 'अनिल', अनन्त काणेकर सभी राष्ट्रीय चेतना के युग में उठी प्रतिभायें हैं।

यशवन्त के पश्चात् मराठी कविता मे आधुनिकतम विचारधारा और मुक्त छन्द का प्रवर्त्तन आत्माराम रावजी देशपाण्डे 'अनिल' ने किया। आलोचक बेडेकर के कथनानुसार ज्ञानेश्वर, केशवसुत और 'अनिल' मराठी की आशावादी काव्य परम्परा के तीन प्रमुख युग निर्माता हैं। 'फुलवात' में अनिल की कविता पर अध्यात्म की छाया स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है परन्तु बाद में अनिल कविता उत्तरोत्तर प्रगतिशील होती गयी। 'पेर्तेव्हा' में अनिल की नवीनतम कवितायें संग्रहीत हैं। उनमें से दो तीन 'नेहरू अभिनंदन ग्रन्थ' में छपी हैं।

अनिल के बाद दूसरे युग निर्माता रचनाकार बालकृष्ण सीताराम मर्ढेकर हैं। उनकी कविता अति आधुनिक, अति यथार्थवादी हैं। उनकी 'का ही

कविता' पर मराठी में बड़ा विवाद मचा। उनकी रचनाओं में आधुनिक मानव की बुद्धिवादी विफलता और कुण्ठित दमित भावुकता के द्वन्द्व के तीव्र चित्र मिलते हैं। वे टी० एस० इलियट से प्रमुखतया प्रभावित हैं। उनके 'नव काव्य-सम्प्रदाय में पु० शि० रेगे, य० द० भावे, विन्दा किरन्दीकर, मनमोहन नातू, शरच्चन्द्र मुक्तिबोध आदि हैं।

प्रमुख आधुनिक कवि

यहाँ पर हम पाँच प्रमुख कवियों पर विवेचना करके मराठी की आधुनिक कविता की आलोचना प्रस्तुत करेंगे। ये पाँच कवि इस प्रकार हैं—

१. **भास्कर रामचन्द्र ताँबे**—यह ग्वालियर के निवासी थे। उन्होंने अपने बाल्यकाल में ईश स्तुति के, तरुणाई में मधुर प्रणय के और प्रौढ़ावस्था में रहस्य-वादी भावुकता के साथ आर्त्त जीवन की लीख के गीत ही अधिक लिखे। उन्होंने अपने स्व में ही सम्पूर्ण विश्व की कसक और मुसुक की कल्पना की है। उनके भाव कोमल, गीत मधुर, सरल सुन्दर गीत है। वे प्रेम और मरण जीवन की मीठी भूलों के गायक हैं। आपका हिन्दी, अँग्रेजी व संस्कृत आदि कविताओं का बड़ा गहरा अध्ययन था। गद्य के रूप में भी उन्होंने 'कला और नीति' तथा अनेक काव्य पुस्तिकाओं की भूमिकायें लिखीं हैं। उनकी लोक-प्रियता का प्रमाण उनके शिशु गीतों और मीठी लोरियों से मिलता है। 'ताँबे की कविता' का दूसरा भाग मराठी साहित्य का अमर अंश है। हिन्दी में उन जैसा कोई कवि सानी नहीं रखता।

२. **चन्द्रशेखर**—यह बड़ौदा के राजकवि थे। पुरानी परिपाटी के वृत्तों में आपने बड़ा ही मधुर चमत्कार दिखलाया है। उनके 'चन्द्रिका' नामक संग्रह में अति उत्कृष्ट रचनायें संग्रहीत हैं। उनके 'काप हो चमत्कार' नामक खण्ड काव्य में ग्रामीण पात्रों की ग्रामीण भाषा अति ममतामयी हो उठी है। कतिमय आलोचकों का कहना है कि यदि वे केवल 'कविता रति' ही लिखते तो मराठी साहित्य में अमरता प्राप्त कर लेते। इस कविता में न केवल स्तुति और अनुनय है बल्कि कविता सुन्दरी के सचित्र मानवीकरण के माध्यम से काव्य परिपाटी के इतिहास की एक रेखा सी खींच दी है। हिन्दी में उनकी

तुलना जगन्नाथ दास रत्नाकार से की जा सकती है। उनकी कविता को सुन-कर आपसे आप हृदय उमड़ पड़ता है।

३. **बी**—आप वास्तव में तखल्लुस से लिखने वाले सच्चे कवि थे। अपने सम्पूर्ण जीवन में यद्यपि तीस चालीस कवितायें ही आपने लिखीं परन्तु वे कीर्त्ति से सदैव कोसों दूर रहे और लोकादर से सदैव ही घबराते थे। उनकी कवितायें दार्शनिक स्नेह स्पर्श लिये, राष्ट्रीयता की माँग पर चिर सजग मधुर कल्पनाओं की दीपमाला सी, पर बरसों की उपेक्षा की तनिक भी परवाह न करने वाली, उस अपने एकाकी निर्जर कोने में स्वयं संतुष्ट कलाकार के साफल्य का सर्वोत्तम शिखर पा लेती है। उनकी कविता में चुभ जाने की विलक्षण क्षमता, संगीत और सुलभ गलेबाजी से बढ़कर सरलाई से भरा आकर्षण है। श्री प्रभाकर माचवे उनकी कृतियों को जीवन के पैमाने पर नापते हुये मराठी का सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हैं। बी ने अपना सभीकुछ संपत, संचित और संवेदना-मय लिखा है। मराठी कविता के इतिहास में पुरानी परिपाटी में रहकर भी नवीन रीति से कविता करने का साहस इन्होंने ही किया था। उनकी रहस्य-वादी कविताओं में सर्वश्रेष्ठ चम्पा, पगली का गीत, सठाभर, बुलबुल, आदि हैं और राष्ट्रीय कविताओं में डंका, क्रान्तिकारी तथा भगवाध्वज आदि प्रसिद्ध हैं। चुपचाप एक कोने में पड़े-पड़े बी की कलम ने वह जादू किया जिसने समाज के जीवन में एक नई चेतना का आन्दोलन किया। हिन्दी में उनकी तुलना 'एक भारतीय आत्मा' से की जा सकती है। साथ ही महादेवी जी का रहस्य प्रेम भी बी में प्रस्फुटित है।

४. **माधव ज्यूलियन**—आप फारसी के उद्भट विद्वान व कोल्हापुर में प्रोफेसर थे। अपनी पद्धति के अकेले कवि होने के नाते मराठी साहित्य में प्रसिद्ध हैं। पूना में सात नवीन कवियों की एक छोटी सी संस्था किरण मण्डल' का निर्माण इन्हीं के उद्योग का फल था। आपका कथा समाज सुधार पर व्यंग्य के रूप में 'सुधारक' खण्ड काव्य अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। इससे पूर्व 'विरह तरंग' के नाम से उनकी एक प्रेम कथा भी प्रकाशित हो चुकी थी। यह कथा सम्पूर्णतया यथार्थवादी है। उन्होंने अपने 'गजलांजलि' में अरबी-फारसी के छन्दों को मराठी में प्रचलित कराने के उद्देश्य से एक सौ

आठ गजल लिखीं। उनके व्याख्यान बड़े विद्वत्तापूर्ण और गम्भीर रहा करते थे। नवयुग के स्वरूप निर्माण में प्रमुख शिल्पी थे। हिन्दी में उनकी तुलना 'निराला' से की जा सकती है। 'स्वप्न रंजन' में सुन्दर शिशु गीत, दार्शनिक कविताएँ, प्रौढ़ रचनायें और बाल रचनायें और यौवन : अधूरे उद्गार हैं।

५ **यशवन्त**— यह रवि किरण मण्डल के दूसरे सदस्य थे। ये बड़ौदा के राजकवि भी थे। इन्होंने एक खण्ड काव्य 'जय मंगला' प्रकाशित कराया था। इसके अतिरिक्त 'बन्दी शाला' में यरवदा सुधार स्कूल के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की छाया के साथ समाज की एक मर्मस्पर्शी समस्या बाल वन्दियों पर नवीन प्रकाश डाला गया है। अन्य स्फुट काव्य ग्रन्थ 'भाव गन्धरी, यशवन्ती, यशोधन, और यशोगन्ध' आदि हैं। इन्होंने कुछ ग्राम्य गीत भी लिखे हैं। सरल प्रेम गीतों के, प्रखर राष्ट्रीय गीतों के कवि यशवन्त का सबसे बड़ा गुण सारल्य है, प्रसाद उनके साथ चलता है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता सरल भाषा पर अधिकार में निहित है। वे पाण्डित्य के बोझ को कभी कविता की परी के पंखों पर नहीं लादना चाहते।

मराठी प्रेम कविता की इस परम्परा में आधुनिक कवियों में संजीवनी मराठे, इन्दिरा सन्त, पद्मा आदि कवियत्रियों ने और ना० रा० कांत बसन्त वापट, मंगेश पाड गाँवकर, विन्दा करंदीकर आदि कवियों ने मानवी संवेदनाओं को सूक्ष्म छटाओं और बारीकियों से अंकित किया है।

आधुनिक मराठी गद्य साहित्य का प्रारम्भ

प्रारम्भ में मराठी भाषा-भाषी अनेकानेक कारणों से अँग्रेजी की ओर झुकने के बजाय 'संस्कृत' की ओर ही झुके थे। गणेश शास्त्री लेले ने बहुत से अनुवाद संस्कृत और अँग्रेजी से मराठी में किये। इस आरम्भिक काल के प्रसिद्ध लेखक श्रीकृष्ण शास्त्री और विष्णु शास्त्री चिपलूणकर थे। ये दोनों पिता पुत्र थे। विष्णु शास्त्री का 'आमाच्या देशा ची स्थिति' 'निबन्ध जिसे अँग्रेजी सरकार ने जब्त कर लिया था फिर काँग्रेस सरकार के आने पर प्रकाशित हुआ। आपने प्राचीन ऐतिहासिक साहित्य के प्रकाशनार्थ 'काव्येतिहास संग्रह', नामक मासिक, 'निबन्धमाला' नामक पत्रिका, 'चित्रशाला' और 'किताब

खाना' नामक प्रकाशन संस्थाओं का सूत्रपात किया । इनकी भाषा शैली प्रौढ़ रसमय और ओजपूर्ण है । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समान ही यह युग निर्माता लेखक माने जाते हैं ।

मुद्रण कला की प्रगति के साथ ही साथ मराठी साहित्य का प्रवाह भी अब आगे बढ़ा । श्री विष्णु शास्त्री की शैली को 'सुधारक' के आगरकर ने 'केसरी' के तिलक, 'काल' के परांजपे, और 'चाबुक' के कोल्हटकर ने भली-भाँति निभाया । इन पुराने पत्रकारों के पश्चात् 'नवाकाल' के खाडिलकर, 'ज्ञान प्रकाश' के लिमये, 'चित्रा' के चिटनिस, 'महाराष्ट्र' के माडखोलकर और 'लोकमान्य' के माडगोलकर आदि प्रमुख हैं ।

आगरकर ने जो कि फर्ग्यूसन कालिज के संस्थापक और दर्शन शास्त्र के प्रोफेसर थे, हिन्दू समाज की कुरीतियों को दूर करने वाले अनेक लेख लिखे । तिलक ने भी गीता रहस्य, ओरायन आदि ग्रन्थों को लिखा और भारत के राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम में भी अविस्मरणीय भूमिका निबाही । इनका युग समाचार पत्र का साहित्य युग माना जाता है ।

मराठी में गो० स० सर देसाई, पारसनीस, खरे, राजबाड़े आदि इतिहास संशोधकों का कार्य अद्वितीय है । केलकर द्वारा लिखित तिलक की जीवनी, धर्मानन्द कौशाठबी का 'निवेदन', कर्वे की 'आत्मकथा', लक्ष्मीबाई तिलक की स्मृति चित्र, दा० न० शिखरे की गान्धी जी की जीवनी और करंदीकर का 'सावरकर-चरित्र' आदि ग्रन्थ किसी भी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रख सकते हैं । इसके अतिरिक्त श्री के० क्षीर सागर बा० ल० कुलकर्णी, दि० के० बेड़े-कर, ग० त्र्यं० देशपांडे, कुसुमावती देशपांडे आदि मान्य समालोचकों ने भी सिद्धान्त चर्चा वाले ग्रंथ प्रकाशित कराये ।

मराठी साहित्य की इतिहास सम्बन्धी पुस्तकों में 'मराठी वाग्म्यांचा इतिहास,ल० रा० पांगार कर का 'अर्वाचीन मराठी'–कुलकर्णी, पारसनी स; 'महाराष्ट्र सारस्वतः वि० ल० भावे, 'अर्वाचीन मराठी वांग्मय सेवक, गं० दे० खानोल-कर, मराठी साहित्य समलोचन आदि ग्रन्थ बहुमूल्य हैं । इसके अतिरिक्त मराठी साहित्य में राजनीति, समाज शास्त्र, मनोविज्ञान, शिक्षा शास्त्र आदि पर भी अनेक ग्रंथ हैं। कुछ उल्लेखनीय ग्रंथों में—'आधुनिक भारत'—जावड़ेकर

'लढ़ाऊ राजकारण'—करंदीकर, 'पाकिस्तान'—प्रभाकर पाध्ये, 'भारतीय समाज शास्त्र' डा० केलकर, 'ग्यान बाचे अर्थशास्त्र'—गाडगिल, अर्थशास्त्र की अनर्थशास्त्र आचार्य जा बड़ेकर आदि प्रमुख हैं। मनोविज्ञान व शिक्षा शास्त्र पर आठ बले, भा० घो० कर्वे, वोडेकर, प्रो० फड़के, कारखानीस, आदि के ग्रंथ बहुत उपयोगी हैं। इतिहास संशोधन के क्षेत्र में प्रो० राजवाडे, पारस-नीस, डा० भांडारकर, काशीनाथ पन्तलेले, और गोविन्द सखा राम सरदेसाई, ये नाम स्वयं प्रकाशी हैं। मराठी के गांधीवादी लेखकों में विनोवाभावे, काका कालेलकर, आचार्य भागवत्, साने गुरुजी, अराणसाहब सहस्त्र बुद्धे, शंकर राव-देव, कुन्दर दिवाण प्रेमा कटंक आदि है।

साहित्य के ललित अंगों का भी विशेष रूप से विकास हुआ है।

मराठी गद्य का विकास

यद्यपि प्राचीन कागज पत्रों में गद्य का पुराना रूप मिलता है परन्तु साहित्यिक तौर पर उसे गद्य नहीं कहा जा सकता। अठारहवीं सदी में उर्दू शब्दों का बाहुल्य पाया जाता है। ईसाई मिशनरियों ने गद्य के पुराने स्वरूप को बदलकर संस्कृतमय बनाया। ऐतिहासिक बखरों में भी मध्ययुगीन मराठी गद्य का अच्छा नमूना मिल जाता है। सं० १८६२ में डॉ विलियम करी के सद् प्रयत्नों से 'मराठी भाषा का व्याकरण' और 'मराठी अँग्रेजी कोष' भी प्रकाशित हुये। मराठी का सुप्रसिद्ध व्याकरण दादोवा पांडुरंग ने प्रकाशित कराया। मराठी के गद्य निर्माताओं में श्री बाल शास्त्री जॉभेकर, हरिकेशव और परशुराम पन्त गोडबोले प्रमुख हैं। निबन्ध साहित्य के विकास के लिये कृष्ण शास्त्री, चिपलूणकर और लोकहितवादी आदि प्रयत्नशील रहे। इसके अतिरिक्त बाबा पदमन जी० विष्णु बुवा ब्रह्मचारी, ज्योतिकर पुसे आदि ने भी उस दिशा में सराहनीय कदम रखे हैं। तिलक और आगरकर ने अपने निबन्धों को समाजोन्मुख बनाया।

मराठी के हास्य लेखकों में श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर, गडकरी, के० अत्रे, कैप्टेन लिमये, शकुंतला बाई परांजपे, जोशी, शामराव ओक, पटवर्धन और देशपांडे विशेष यशस्वी हैं। ललित निबन्धों का प्रचार जिन्हें लघु निबन्ध की

भी संज्ञा दी जाती है, केवल पिछले २५-३० वर्षों से ही हुआ है। इस क्षेत्र में फड़के, खांडेकर, काणेकर आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त निबन्ध-कारों में देशपांडे, दांडेकर, सन्त, देवधर, सरदेसाई और दोड़के आदि उल्लेखनीय है। नीचे मराठी के कुछ प्रमुख गद्यकारों के परिचयात्मक आधार पर गद्य का विकास प्रस्तुत किया जा रहा है।

लोकमान्य तिलक—तिलक ने राजनीति के समान ही साहित्य में भी एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। 'केसरी' और 'मराठा' पत्रों के माध्यम से आपने खूब सेवा की। कुछ क्रान्तिकारी विचार फैलाने के आरोप में जेल भी जाना पड़ा। अपने व्यस्ततापूर्ण जीवन में तिलक ने न केवल समाचारपत्रों से अपितु ग्रन्थों से भी साहित्य का भंडार भरा। उनका सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'गीता रहस्य' है। इसके अलावा तिलक के अन्य मराठी ग्रन्थ 'वेदकाल निर्णय, आर्य लो कांचे मूलस्थान, तिलक सूक्ति संग्रह, हिन्दू धर्माचे स्वरूप लक्षण' आदि हैं। तिलक की भाषा शैली विद्वत्तापूर्ण, तर्कयुक्त, कठोर, प्रखर, व्यंग्य के कशाघातों से युक्त और विचार प्रक्षोमक थी। उनके द्वारा 'केशरी' में लिखे गये लेखों का एक संग्रह अभी हाल में प्रकाशित हुआ है।

लोकहित वादी—इनका वास्तविक नाम गोपाल हरिकृष्ण देशमुख था परन्तु सरकारी नौकर होने के कारण इस उपनाम से लिखा करते थे। आर्य समाज से आपका बड़ा निकट का सम्बन्ध था। आपकी प्रमुख रचनायें ये हैं—जाति भेद, गीता तत्व, ऐतिहासिक गोष्ठी और उपयुक्त मोहिती, आगम प्रकाश, आश्वलायन ग्रह्य सूत्र, ग्राम्य रचना, राजस्थान चा इतिहास, स्वाध्याय, पृथ्वीराज चौहान का इतिहास, हिन्दुस्थानास दारिद्रय येण्पांची, कारणें आणि त्यांचा परिहार व व्यापार विचार, कलियुग, भिक्षुक और पानीपत की लड़ाई आदि। आपने लोकहितवादी नामक मासिक पत्रिका भी चलाई। उनका व्यंग्यास्त्र बड़ा तीव्र था। इनके स्पष्ट मतों के कारण जीवित अवस्था में बड़ी आलोचना हुई।

धनुर्धारी--इनका वास्तविक नाम रामचन्द्र विनायक टिकेकार था। इन्होंने चालीस के करीब मराठी ग्रन्थ लिखे। इन्होंने इतिहास, अर्थशास्त्र, धर्मनीति, जीवनी, उपन्यास तथा निबन्ध आदि अनेक विषयों पर लिखा है।

जीवन के अंतिम दिनों में वे साधु बन गये। इनके वर्णनों में सूक्ष्म वर्णन इतने मिलते हैं कि मराठी में यथार्थवाद की परम्परा को चलाने वाले पहले लेखक कहे जा सकते हैं। आपकी 'कलम कुदाली' नाम से दैनिक डायरी जो अब उपलब्ध नहीं, बहुत महत्वपूर्ण है। व्यापारी भूगोल, नीति धर्म पाठ, आर्य धर्म का इतिहास ; जैसे विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे वहाँ वीर स्नुषा बाई, राधा बाई, तंय्या भिल्ल आदि कई जीवनियाँ भी लिखीं। आपने भाषा और इतिहास का गहरा अध्ययन किया। आजीवन दरिद्रता से लड़ते हुये 'धनुर्धारी' ने कई व्यवसाय किये; परन्तु लेखन के प्रति अपना प्रेम अखण्ड रखा।

शिव राम महादेव परांजपे—आप व्याजोक्ति कुशल लेखक और वक्ता थे। सन् १८६८ में आपने 'काल' नामक पत्र प्रकाशित किया—जो बहुत ही ओजस्वी विचारों का था अतः राजद्रोह के मुकदमे में १६ माह की कड़ी कैद हुई। बाद में आपने 'स्वराज्य' नामक पत्र भी निकाला। आपने निबन्धों के अतिरिक्त कुछ उपन्यास और नाटक भी लिखे। आप महाराष्ट्र में संस्कृत के अध्यापक थे।

गोपाल गणेश आगरकर—यह निबन्धकार और समाज सुधारक दोनों थे। आपने 'सुधारक' नामक पत्र भी सम्पादित किया। आप अछूतोद्धार, विधवा-विवाह आदि कई समाज सुधारों के समर्थक थे। समाचार पत्रों के निबन्धों के तीन संग्रहों के अलावा 'वाक्य मीमांसा' नामक व्याकरण विषयक पुस्तिका और शैक्सपीयर के 'हैम्लेट' का अनुवाद भी किया। यह प्रजातंत्र के बड़े समर्थक और व्यक्ति स्वातंत्र्य के महाराष्ट्र में पहले उद्गाता थे।

डॉ० श्रीधर व्यंकटेश केतकर—आधुनिक साहित्यकारों में आपको प्रकांड पण्डित कहा जा सकता है। जीवन के बारह वर्षों में लगातार तेईस खण्डों में महाराष्ट्र ज्ञान कोष का सम्पादन, लेखन, प्रकाशन, वितरण अकेले केतकर जी ने किया। इनके जीवन का मूल उद्देश्य ज्ञान पिपासा था और ज्ञान-संग्रह की अक्षम्य लालसा। 'ज्ञान कोष' बड़ा ही महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इस महान् ग्रंथ में वेदिककाल के रीति रिवाज, हिन्दू संस्कृति आदि पर अच्छा अध्ययन मिलता है। वे केवल रूखे, शास्त्र-जड़ पण्डित नहीं थे, उन्होंने उपन्यास भी लिखे। 'भटक्या' में उनकी मानवीय सहानुभूति का सुन्दर परिचय मिलता है। डाक्टर

केतकर के समाज-शास्त्र विषयक सब विचार प्रगतिशील नहीं कहे जा सकते।

मराठी उपन्यास—मराठी उपन्यासों का जन्म यात्रा वृतान्तों से मिलता है। पहला उपन्यास 'यमुना पर्यटन' माना जाता है। बाद में ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे जाने लगे। १८७५ के पश्चात् हिन्दी के प्रेमचन्द की ही भांति हरिनारायण आपटे ने मराठी मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ चित्र अङ्कित किये। आपके प्रसिद्ध उपन्यास 'सूर्योदय, ऊष: काल, सूर्य ग्रहण, गडआला पणसिंह गेला, यशवन्त राव खरे, पण लक्षांत कोण वेती' आदि हैं। इसके पश्चात् वामन मल्हार जोशी ने विचार प्रक्षोयक उपन्यास लिखे—'रागिनी, नलिनी, आश्रम हरिणी, सुशीलेचा देव, इन्दु काले और सरलाभावे, आदि। नाथ माधव और हडप ने शिवाजी काल के ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे। स्त्री शहा ने 'सम्राट अशोक' और 'क्षत्रसाल' नामक दो उपन्यास लिखे।

प्रो० ना० सी० फड़के, वि० स० खाण्डेकर, पु० प० देशपांडे, ग० त्र्य० माडखोलकर और विभावरी शिसरकर आदि ने केवल घटना प्रधान या विचार प्रधान उपन्यास न लिखकर जन जीवन की आकांक्षाओं के प्रतिनिधि उपन्यास लिखे। श्री फड़के के प्रधान उपन्यासों में 'जादूगर' दौलत, अरकेपार प्रवासी, बस नम्बर बारह, प्रतिज्ञा उद्धार, समरभूमि, शकुन्तला और माझा धर्म आदि हैं। वे कला को कला के लिये मानने वालों में से हैं। वि० स० खाण्डे-कर कला को जीवन के लिये मानते हैं। उनके उपन्यास 'हृदया ची हांक, कांचन मृग और दोन ध्रुव' आदि हैं। 'उल्का' उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति है। गांधीवाद और समाजवाद के मनोहर मिश्रण का आदर्श उनके उपन्यासों में स्थल-स्थल पर व्यक्त हुआ है। माडखोलकर ने 'मुक्तात्मा' से आरम्भ करके प्रगतिशील उपन्यासकारों में अपना कदम रखा। उनके प्रमुख उपन्यास' डाक बंगला, चन्दन वाड़ी, अनधा, स्वप्नातरिता, नागकन्या, नवे संसारा और प्रेम द्वरा' हैं। श्रीमती विभावरी शिरूरकर के दो उपन्यासों 'हिन्दोल्यावर, और विरलेले स्वप्न' अधिक उल्लेखनीय हैं। इसमें टूटती हुयी कुटुम्ब व्यवस्था के बहुत अच्छे चित्र हैं। इसके अतिरिक्त माया वरेरकर, गीता साने और कृष्णा-बाई मोटे ने भी इस दिशा में सराहनीय कदम बढ़ाये हैं। मर्ढेकर, माधव

मनोहर, रघुवीर सामन्त, विवलकर आदि ने अच्छे मनोवैज्ञानिक उपन्यास लिखे हैं।

गत दस वर्षों में मराठी उपन्यासों में जो विविधता आई है, उससे उसका क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है। इन उपन्यासों में मानसून, फसलों, बाढ़, पर्वतीय जीवन आदि के वर्णन के साथ ही साथ जन-जातियों के स्वाभाविक मनोवेगों का भी सुन्दर चित्रण किया है। सन् १६४२ की घटनाओं के आधार पर भी कई सफल उपन्यास लिखे गये हैं।

मराठी कहानी—मराठी कहानी के क्षेत्र में उपर्युक्त सभी उपन्यासकारों ने अपनी लेखनी चलाई है। पुराने लघु कथा लेखकों में वि० सि० गुर्जर, दिवाकर कृष्ण; प्र० श्री कोल्हरकर, कुमार रघुवीर, बोकील, दौंडकर, लक्ष्मण राव सरदेसाई, मुक्ता बाईलेले, वामन चोरघड़े, ठोकल, शाम राव ओक आदि हैं। ये कहानियाँ अधिकतर चरित्र प्रधान, वातावरण प्रधान एवं व्यंग्य प्रधान तथा घटना प्रधान होती हैं। मराठी कहानी के प्रत्येक काल-खण्ड में उसके स्वरूप में परिवर्तन होता गया। प्रो० ना० सी० फड़के ने कहानी को तन्त्रबद्ध, सुगठित रूप प्रदान करके आकर्षक सतरंगी भाषा का अभिनव परिधान पहिनाया खाँडेकर ने उसे जीवन के प्रति उन्मुख और आदर्शवादी बनाया। लक्ष्मण राव सर देसाई ने उस पर गोमांतक की पार्श्वभूमि का रंग चढ़ाया और प्रो० बामन चोरघड़े ने उसे काव्यात्मक रूप दिया। परन्तु १६३६ के समय तक द्वितीय महायुद्ध के कारण अच्छी कहानियों का अभाव रहा। अत: १६४२ के बाद नये लेखक इस दशा में आगे बढ़े। उन्होंने मानव-मन की सूक्ष्मताओं की खोज में चरित्र-चित्रण का नया तन्त्र अपनाया।

गत कुछ वर्षों में उदीयमान कथाकारों में अरविन्द गोखले, गंगाधर गाडगिल, पु० मा० भावे, और व्यकंटेश माडगूलकर आदि प्रमुख हैं। नये कहानी लेखकों ने पुराने संकेतों को बिल्कुल त्याग दिया है। समाज के विविध स्तर. अलग-अलग स्वभाव और उम्र के लोग, जुदे-जुदे अनुभव और विभिन्न घटनाओं का आविष्कार आज की कहानी मे हो रहा है। जिस मानव का आज के आदर्शो पर से विश्वास उठ गया है वही आज की कहानी का प्रधान नायक है। निम्न श्रेणी के उपेक्षितों के जीवन के बारे

में रहने वाला कुतूहल भी आज की कहानी की कथावस्तु बना है। आज की नई कहानी में कथावस्तु के लिये कोई महत्व नहीं है। उसमें प्रतिभा के स्वच्छन्द विहार को अधिक अवकाश मिलता है। श्री गंगाधर गाडगिल की 'विन चेहच्याची संध्याकाल', भावे जी की 'ध्यास', अरविन्द गोखले की 'माहेर' और 'कातर बेल' आदि कहानियों में कथावस्तु तो नहीं के बराबर है, फिर भी यह कहानियाँ श्रेष्ठ हैं। आज की कहानी वाह्य भावनाओं के आविष्कार में संतुष्ट न रहकर मनुष्य के मन की छिपी प्रवृत्तियों और संज्ञा प्रवाहों का चित्रण पैनी नजर से और कला के सहारे व्यक्त कर रही है।

नाटक और रंगमंच—नाटक काव्य से सम्बन्धित साहित्य का दूसरा प्रधान अंग है। मराठी का रंगमंच बहुत अधिक विकसित रहा है। अरुण किर्लोस्कर महाराष्ट्र की रंगभूमि में सर्वाधिक लोकप्रिय नट नाटककार थे। तत्पश्चात् देवल के नाटकों को प्राचीन केंचुल से निकालकर खुली हवा में सामाजिक प्रश्नों की चर्चा में सलंग्न किया। श्री पाद कृष्ण कोल्हटकर ने 'मूकनायक प्रेम शोधन, मतिविकार' आदि नाटकों में साहित्यिकता का सूत्र-पात किया। कृष्ण जी प्रभाकर खाडिलकर का 'कीचक वध' सर्वाधिक लोक-प्रिय हुआ। माधव नारायण जोशी मराठी नाटकों में यथार्थवाद लाये। इनके संगीत विनोद, स्थानिक स्वराज्य अथवा म्यूनिसिपैलिटी अत्याधिक प्रसिद्ध है। महायुद्धोत्तर मराठी नाटकों के इतिहास में गडकरी, बरेरकर, और अत्रे इन तीन के नाम उल्लेखनीय हैं। गडकरी ने प्रमुखतया सामाजिक प्रसंगों और समस्याओं को ही अपना आश्रय बनाया।

वीर वामन राव जोशी, सावरकर, अच्युत बलवंत कोल्हटकर और टिपनिस आदि के नाटकों ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की। मामा वरेरकर ने अनेक सामाजिक और राजनैतिक प्रश्नों को अपने नाटकों द्वारा ही सुलझाने की कोशिश की। आप समय के साथ प्रगतिशील भी बने। आचार्य अत्रे ने भी इस दिशा में पैरोडियाँ लिखकर कमाल हासिल किया। स्व० 'दिवाकर' आदि लेखकों ने 'नाट्य छटा' को भी अपनाया। इसमें एकमुखी भाषण द्वारा सामाजिक विरोधों को स्पष्ट किया जाता है।

मराठी नाटकों का विकास—मराठी रंगमंच का प्रारम्भ १८४३ से होता है। विष्णुदास भावे ने 'सीता-स्वयंवर' नामक पहला नाटक खेला। तत्पश्चात् नाटक कम्पनियों द्वारा ही यह नाटक खेले गये। एक ओर पौराणिक नाटक खेले गये तो दूसरी ओर साहित्यिक। राघो पन्त की इचलकर जीकरमण्डली ने दूसरी प्रकार के नाटक ही अधिक खेले। अण्णा किर्लोस्कर ने मराठी रंग-मंच को समाज-रंजन का साधन बनाया।

बाद के समय में कुछ नाटिकायें लिखी गयीं जिनकी व्यंग्य परम्परा को खाडिलकर ने आगे बढ़ाया। इनके पश्चात् गडकरी भी बहुत ही यशस्वी नाटककार हुये। मराठी रंगमंच पर यथार्थवाद का बीजारोपण मामा वटेर-कर की समर्थ लेखनी से हुआ। उन्होंने 'सत्तेचे गुलाम हाच मुलाया बाप, सन्यासाचा संसार, नामा निराला, सिंगा पुरातन आदि नाटिकायें लिखीं। आचार्य प्रह्लाद केशव अत्रे ने अपने नाटकों द्वारा सामाजिक दोषों पर कुठारा-घात किया। इनके नाटकों का प्रधान गुण उनकी रंजकता है। 'नाट्य निकेतन और नाट्य संगम' जैसी सजीव नाटक सस्थाओं ने इस दिशा में उत्कृष्ट कार्य किया। रांगणेकर ने इस काल में नाटक लिखने और उनको रंगमंच पर लाने में सराहनीय कार्य किया। इनके 'कुलबधू' को सर्वाधिक लोकप्रियता मिली। श्री देसाई ने भी रांगणेकर के बाद 'नाट्य संगम' नाम की एक नयी संस्था बनायी और उसने भी एक अच्छी ख्याति अर्जित की।

आधुनिक काल—इस काल के उद्गाताओं मे मामा वरेरकर, प्रह्लाद केशव अत्रे, और रांगणेकर आते हैं। मामा वरेरकर ने 'पुण्य, सदा वंदि वान, नामा निराला, संसार' आदि कई एकांकी लिखकर इस क्षेत्र में अनूठा कार्य किया। तत्पश्चात् रांगणेकर का 'कुलवधू' सैंकड़ों बार स्टेज पर खेला गया। आधुनिक मराठी नाटकों की प्रमुख विशेषतायें ये हैं—शास्त्रीय संगीत, भावगीत का समुचित प्रयोग, नवीन प्रकार के रंगमंच का निर्माण, स्वाभाविक समस्या प्रधान छोटे-छोटे साहित्य गुण युक्त नाटक, सरल-सहज सम्भाषण, स्त्रियों का अभिनय स्त्रियों द्वारा करना, अति नाट्यात्मकता से बचने की प्रवृत्ति, हास्य और व्यंग्य का प्रचुर प्रयोग, घरेलूपन और नाटककार, नट तथा निर्देशक का सुखद सहकार्य।

बंगला

बंगला साहित्य का इतिहास

प्रारम्भिक युग

बंगाली या बंगला, बंगाल की भाषा है। इसका जन्म मागधी अपभ्रंश से माना जाता है। इसका प्रयोग दसवीं शताब्दी से ही होने लगा था परन्तु सोलहवीं सदी तक आधुनिक रूप का ढलाव भी मिल जाता है। इस भाषा का सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'रामचरित' है, जिसके रचयिता अभिनन्द हैं और यह रामायण की कथा के आधार पर लिखा गया काव्य है। इस युग के एक अन्य श्रेष्ठ कवि जयदेव ने श्रीकृष्ण की वृन्दावन लीला पर 'गीत गोविन्द' काव्य लिखा है। इसके अतिरिक्त बौद्ध सिद्धाचार्यों ने भी कुछ बंगला गान रचे।

बारहवीं और तेरहवीं सदी में तुर्कों के आक्रमण के कारण साहित्य-रचना बन्द सी रही। तत्पश्चात् पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर अँग्रेजी अधिकार के पूर्व काल अठारहवीं शताब्दी के मध्य भाग तक बंगला साहित्य प्रधानतः गीत-मूलक था। इन काव्यों के नाम प्रायः 'मंगल' अथवा 'विजय' शब्द से युक्त होते थे। पन्द्रहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में पश्चिम बंग में जनसाधारण की साहित्यिक रुचि का सर्वोत्तम चित्र वृन्दावनदास के 'चैतन्य भागवत' ग्रन्थ में मिलता है।

पन्द्रहवीं सदी के प्रारम्भ में एक और महाकवि कृतिदास ओझा हुये हैं। इनकी रामायण बंगला साहित्य का प्रधान काव्य है। यह काव्य जन-साधारण का हृदय प्रसन्न करता रहा है। लोग इससे नैतिक शिक्षा और आध्यात्मिक परितृप्ति पाते रहे हैं। इसके बाद मालाधार वसु ने 'श्रीकृष्ण विजय', 'कृष्ण-

लीला' काव्य की रचना की जो समस्त बंगला साहित्य में सन् तारीख से युक्त प्रथम ग्रन्थ है। यह अत्यंत सुललित काव्य है। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में विजय गुप्त ने 'मनसा मंगल' लिखा है। इस रचना के पश्चात् विप्रदास घिपलाइ नाम के अन्य कवि हुये हैं। हुसेन साह के पुत्र नसीरुद्दीन सप्त शाह ने विद्यापति की शैली में अनेक सुन्दर पदों की रचना की है। इनको 'छोटे विद्यापति' भी कहा करते थे।

अठारहवीं सदी के प्रथम भाग में बड़ू चंडीदास नाम के एक अन्य कवि हुए हैं। इनके काव्य में एकमात्र राधा कृष्ण की लीला की कहानी चित्रित हुई है। इस काव्य में राधा का चरित्र जैसा उज्ज्वल और सजीव चित्रित हुआ है, वैसा अन्य किसी प्राचीन बंगला काव्य में नहीं मिलता। ऐसा मालूम पड़ता है कि इसकी रचना पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण अथवा उससे कुछ पहले हुई।

चैतन्यदेव का आविर्भाव—श्री चैतन्य का जब जन्म हुआ तो उस समय सारे देश में राजनैतिक अशान्ति के साथ ही साथ समाज में दारुण विशृंखलता उपस्थित हो गयी थी। चैतन्य का जन्म एक अत्यन्त दरिद्र ब्राह्मण के घर हुआ था। इनका बचपन का नाम 'निमाई' था। ये बचपन में बड़े ही चंचल और दुर्विनीत थे। बाल्यकाल से ही इनको पितृ-वियोग हुआ और पितृ कृत्य करने जब गया गये तो वहाँ ईश्वरपुरी से साक्षात्कार कर उनकी आध्यात्मिकता से मुग्ध हो गये। वे भगवान की भक्ति भावना से ओतप्रोत हो गये। चौबीस वर्ष की अल्प अवस्था में ही उन्होंने केशव भारती से सन्यास दीक्षा ग्रहण कर ली और नवद्वीप-शान्तिपुर प्रान्त के आबाल, वृद्ध, वनिता सभी जनसाधारण का मन शीघ्र ही हरण कर लिया।

संसार त्याग करने के पश्चात् श्री चैतन्य महाप्रभु देशाटन एवं तीर्थाटन करने निकल पड़े और सर्वजनीन भक्ति धर्म का प्रचार किया। उनके निर्मल, लोकोत्तर चरित्र के प्रभाव से ही लोग उनके आचरित धर्म को आनन्द पूर्वक वरण करके धन्य हो गये। बंगाल और उड़ीसा में इनका प्रभाव इतना गंभीर और व्यापक हो गया था कि वह जीवन काल में ही ईश्वर मानकर पूजे जाने लगे। इनके प्रमुख अनुयायियों में अद्वैताचार्य, नित्यानन्द एवं हरिदास प्रधान

थे। इन्होंने अपना प्रचार प्रत्येक वर्ण एवं जाति में बिना किसी भेद भाव के किया। इनका धर्म जीव दया, ईश्वर भक्ति और भक्ति के उद्दीपन आदि तत्वों पर प्रतिष्ठित है। उस समय के हिन्दू धर्म की संकीर्णता को दूर करके समाज में एकता ला कर अखण्ड बंगाली जाति का निर्माण करने में श्री चैतन्य के उपदेश और प्रभाव ने असामान्य सहायता की।

वैष्णव गीत काव्य—सोलहवीं शताब्दी में श्री चैतन्य के प्रभाव से बंगला साहित्य का परिपूर्ण उदय हुआ। इसके पश्चात् ढाई तीन सौ वर्ष तक बंगला साहित्य पर वैष्णवता की छाप अमिट बनी रही। सोलहवीं सदी के सभी कवि वैष्णव सम्प्रदाय में अन्तर्युक्त थे। बंगला साहित्य की जो चिरन्तन धारा थी वही गीत काव्य की धारा वैष्णव कवियों द्वारा विशेष प्रकार से अनुशीलित होने लगी। बंगाली कवि विद्यापति की कविता की झंकार और अलंकारों की सजावट से आकृष्ट होकर इसी भाषा में कविता करने लगे। मैथिल एवं बंगला भाषा के मिश्रण से बनी हुई यह कृत्रिम भाषा, सोलहवीं, सत्रहवीं एवं अठारहवीं शताब्दी में वैष्णव गीत कविता का मुख्य माध्यम बनी रही। आगे चलकर इसी बोली का नाम व्रजभाषा रहा। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की किशोरावस्था की श्रेष्ठ रचना 'मानसिंह ठाकुर की पदावली' की भाषा भी व्रजबोली है। बंगला साहित्य में देवताओं के विषय को छोड़कर अन्य विषयों पर विशेष रूप जीवित मनुष्यों के विषय में काव्य रचना होने से बंगला साहित्य में ही क्या सारे भारतीय साहित्य में नवीन युग की अवतारणा हुई। अब तक के साहित्य को 'फॉक लिटरेचर' की संज्ञा दी जाती रही थी लेकिन अब इसने प्राकृत साहित्य की मर्यादा प्राप्त की। उस युग के लिये यह असामान्य घटना थी।

श्री चैतन्य के विषय में लिखने वाले सर्वप्रथम थे; नरहरि सरकार, वंशीवदन चट्ट, वासुदेव घोष, और उनके दो भाई गोविन्द और माधव एवं परमानन्द गुप्त। इनके अतिरिक्त अन्य उल्लेख करने योग्य मुरारिगुप्त. वासुदेवदत्त, मुकुन्ददत्त, गोविन्दाचार्य, रामानन्दवसु और माधवाचार्य हैं। उस युग के तीन श्रेष्ठ कवि थे—वृन्दावनदास, बलरामदास और ज्ञानदास। श्री चैतन्य के अन्यान्य अनुचरों के शिष्यों में भी बहुत से कवि मिलते हैं जैसे; नयनानंद मिश्र, शिवानन्द चक्रवर्ती, बहुनन्द चक्रवर्ती, उद्धवदास, देवकीनन्दन, अनन्तदास,

चैतन्यदास इत्यादि। वैष्णव कवि प्राय: 'पदकर्त्ता' अथवा महाजन के नाम से पुकारे जाते थे। सोलहवीं सदी के प्रथम भाग के पदकर्त्ताओं में कृष्ण लीला वर्णन करने में मुरारि गुप्त, लोचन दास, ज्ञानदास और बलरामदास अतुलनीय हैं। लोचनदास ने 'नाचारी' अथवा हलके रंग की बंगला कविता में विशेष निपुणता दिखलाई है। वात्सल्य रस के वर्णन में बलरामदास का जोड़ नहीं है। वासदेव घोष और नयनानन्द मिश्र द्वारा रचित श्री चैतन्य विषयक पद भक्ति और भाव से परिपूर्ण हैं। श्री चैतन्य के अनुगृहीत भक्त रघुनाथ पंडित माधवाचार्य ने श्रीमद्भागवत का अवलम्बन लेकर 'कृष्ण प्रेम तरंगिणी' नामक काव्य की रचना की। यह काव्य पूर्ण तथा वर्णनात्मक है। माधवाचार्य के शिष्य कृष्णदास ने भी श्रीकृष्ण मंगल काव्य की रचना की जो एक उत्कृष्ट काव्य है।

श्री चैतन्य की जीवनी—श्री चैतन्य के अलौकिक चरित्र और व्यक्तित्व ने केवल उनके भक्तों में ही नहीं वरन् साधारण जनता में भी विस्मयपूर्ण, श्रद्धा और अपरिसीम भक्ति का उद्रेक किया। वह अपनी मृत्यु से पूर्व ही अवतार मानकर पूजे जाने लगे थे। बंगला में उनकी जीवनी से सम्बन्ध रखने वाला प्रथम काव्य वृन्दावनदास का 'चैतन्य भागवत' है। इस पुस्तक में उनके जीवन की प्रारम्भिक झाँकियों का सुन्दर वर्णन मिलता है। इसमें नवद्वीप की सामाजिक व्यवस्था का भी सुन्दर चित्रण मिलता है। दूसरा काव्य श्री लोचन दास का 'चैतन्य मंगल' है। कृष्णदास कविराज के चैतन्य चरितामृत को केवल श्री चैतन्य की श्रेष्ठ जीवनी के रूप में ही नहीं बल्कि उच्चकोटि के दार्शनिक ग्रन्थ के रूप में भी बंगला साहित्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ कहना कोई अतिश्योक्ति न होगी। इन्हीं का रचा हुआ संस्कृत महाकाव्य 'गोविन्दलीलामृत' अत्यन्त उत्कृष्ट ग्रन्थ है। श्री चैतन्य के महत् जीवन की अनेक बातें एवं अन्तिम जीवन की कहानी जो और कहीं लिखित नहीं है उन सबको कृष्णदास ने विशेष दक्षता एवं कवित्व के साथ वर्णित किया है।

जयानन्द ने अपना 'चैतन्य मंगल' काव्य जनसाधारण के लिये लिखा है। यह ग्रन्थ काव्य की दृष्टि से विशेष सुन्दर नहीं है। यह ग्रन्थ प्रामाणिकता में बिल्कुल मूल्य-हीन है। श्री चैतन्य के जीवन काव्य में गोविन्ददास के 'कड़चा'

का भी उल्लेख किया जाता है। इस छोटी सी पुस्तक में श्री चैतन्य के दक्षिण-भ्रमण के विषय में अनेक नवीन तथ्य संग्रहीत हैं। रचना शैली सुन्दर परन्तु नितान्त आधुनिक है। अठारहवीं शताब्दी में श्री चैतन्य के जीवन पर पुरुषोत्तम सिद्धान्त वागीश का चैतन्य चन्द्रोदय कौमुदी है। सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में बहुत सी छोटी बड़ी वैष्णव साधना सम्बन्धी पुस्तकें रची गयीं। लोचनदास ने जो कई छोटी-छोटी पुस्तकें रचीं उनमें सबसे अधिक मूल्यवान् दुर्लभसार है। इस पुस्तक में अनेक नवीनताओं के होने के साथ ही यह एक उत्कृष्ट रचना है।

मध्यकाल (मध्य युग)

इस काल में वैष्णव गीत काव्य की ही विशेष चर्चा थी। इस समय के सभी कवियों ने वैष्णव साधना विषयक कई छोटे-छोटे ग्रन्थों की रचना की। इन पदों में आध्यात्मिक व्याकुलता और भक्त हृदय का गम्भीर विश्वास देखने को मिलता है। इस काल के कवियों में गोविन्ददास कविराज, गोविन्ददास चक्रवर्ती, मोहनदास, राधाबल्लभदास और यदुनन्दन आदि हैं। सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग मे राम गोपालदास, जगदानन्द, जयकृष्ण, मनोहरदास और हरिवल्लभ छद्म नामधारी विश्वनाथ चक्रवती ने विशेष रचना कौशल प्रदर्शित किया। सत्रहवीं शताब्दी में वैष्णव महात्माओं के जीवन-सम्बन्धी कई उत्कष्ट काव्य रचे गये। गुरुचरणदास ने एक अन्य ग्रन्थ 'प्रेमामृत' की रचना की।

श्री निवासाचार्य के पुत्र गीत गोविन्द ने 'वीर रत्नावली' नामक एक छोटे से ग्रन्थ में नित्यानन्द के पुत्र वीरचन्द्र की महिमा का वर्णन किया है। वैष्णव साधना के इतिहास की दृष्टि से यह पुस्तक मूल्यवान् है। गोपी वल्लभदास रचित 'रसिक मंगल' में श्यामानन्द के प्रधानतम् शिष्य रसिकानन्द अथवा रसिक मुरारी की जीवनी वर्णित है। श्री निवासाचार्य के सम्बन्ध में रचित सबसे अन्तिम पुस्तक सत्रहवी शताब्दी में मनोहरदास द्वारा रची गयी। इस पुस्तक का नाम 'अनुराग बल्ली' है।

सत्रहवीं शताब्दी में अनेकों श्रीकृष्ण मंगल काव्य रचे गये। इनमें विशेष

उल्लेखनीय श्यामदास विरचित 'गोविन्द मंगल' है। परशुराम चक्रवर्ती का काव्य पश्चिम वंग में विशेष समादृत हुआ। अभिराम का 'गोविन्द विजय', हरिदास का 'मुकुन्द मंगल' एवं कवि चन्द्र का 'गोविन्द मंगल' इत्यादि काव्य विष्णुपुर में ही प्रचलित थे। पद संग्रह की पुस्तकों में सबसे प्राचीन पीताम्बर की 'रस मंजरी' और 'अष्ट रस व्याख्या' है। बृजमोहनदास कृत चैतन्य तत्व प्रदीप भी एक उल्लेखनीय पुस्तक है।

प्राचीन बंगला कवियों में कृतिवास के पश्चात् काशीराम ही अधिक प्रसिद्ध हैं। इनके बड़े भाई श्रीकृष्ण किंकर के लिखे दो काव्य पाये गये हैं। एक 'श्रीकृष्ण विलास' है जो भागवत के आधार पर रचित वर्णनात्मक कृष्ण लीला काव्य है, दूसरे का नाम 'भक्ति प्रदीप' है। काशीराम का 'पांडव विजय' अथवा भारत पांचाली काव्य बंगला में लिखे सब महाभारत काव्यों में निर्विरोध श्रेष्ठ है। यह काव्य बंगालियों की नैतिक शिक्षा का प्रधानतम स्रोत है।

गदाधर रचित काव्य का नाम 'जगन्नाथ मंगल' अथवा संक्षेप में 'जगत मंगल' है। इसमें पुरी के जगन्नाथ देव के माहात्म्य को सूचित करने वाली पौराणिक कथा वर्णित है। काशीराम के अलावा अन्य दो चार कवियों ने सत्रहवीं शताब्दी में बंगला में महाभारत काव्य की रचना की थी। घनश्याम दास, कृष्णानन्द वसु एवं अनन्त मिश्र ने भी केवल अश्वमेघ पर्व की ही रचना की है। सत्रहवीं शताब्दी में जो दो एक रामायण काव्यों की रचना हुई थी उनमें अद्भुताचार्य का काव्य ही उल्लेखनीय है। इनकी पुस्तक ने उत्तर बंगाल में अधिक समादर पाया।

इस समय पूर्वी बंगाल में कई मनसा मंगल काव्य लिखे गये। इस काव्य के रचयिता क्षमानन्द अथवा क्षेमानन्द कायस्थ वंशीय थे। इन कवियों में एक प्रथा यह चली कि वे अपना आत्म-परिचय देते हुये देवी की आराधना करते थे। सत्रहवीं शताब्दी में हरिराम के काव्य एवं जनार्दन द्वारा रचित वृत कथा ढंग के बहुत छोटे से काव्य मंगल चंडी पांचाली को छोड़कर और कोई भी चंडी मंगल काव्य नहीं रचा गया। रस काव्य में कालकेतु का नहीं वरन् धनपति का उपाख्यान है। इस समय में रचे हुये सभी देवी माहात्म्य सूचक

काव्य मार्कण्डेय पुराण के अन्तर्गत 'दुर्गा सप्तशती' अथवा 'चंडी' के आधार पर लिखे गये हैं। शिव की गृहस्थी के सम्बन्ध में अथवा शिव माहात्म्य सूचक दो एक छोटे-मोटे काव्य भी पाये गये हैं। रतिदेव ने भी एक छोटा सा काव्य 'मृग लुब्ध' रचा है। सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में कृष्ण रामदास नाम के कवि ने उच्च कवित्व सम्पन्न न होते हुये भी काव्य की विषयवस्तु के निर्वाचन में असामान्यता दिखाई। इनके तीन काव्यों में प्रथम 'मालिका मंगल', दूसरा 'षष्ठी मंगल' और तीसरा 'राम मंगल' है।

मुसलमान कवि—बंगाल के मुसलमानों ने शीघ्र हीं यह अनुभव कर लिया कि वे इसी धरती के पुत्र हैं अतः उन्होंने भी बंगला और ब्रजबोली में राधाकृष्ण विषयक गीत काव्यों की रचना की। सत्रहवीं शताब्दी के प्रमुख पदकर्त्ता कवियों में नसीर मुहम्मद, सैयद सुल्तान, सैयद मुर्तजा, अलीरजा और अलाऑल थे। अराकान राज सभा द्वारा प्रतिष्ठित सभी कवि मुसलमान थे। इनमें सबसे प्राचीन दौलत राजी थे। इन्होंने 'लोर चन्द्रानी' तथा 'मैनावती' नामक काव्य लिखे। इस शताब्दी के अन्यतम श्रेष्ठ कवि अलाओल थे। इनका रचा हुआ 'पद्मावती' काव्य अत्यंत श्रेष्ठ है। यह काव्य हिन्दी के मलिक मुहम्मद जायसी के काव्य 'पद्मावत' के आधार पर रचा गया है। इनके अन्य काव्यों में 'सैफुलमुल्क', 'वदी उज्जमाल,' 'हफ्त पैकर', 'तोहफा' और 'सिकन्दर नामा' थे। इनकी रचना शैली बड़ी ही सुन्दर है। उसमें अरबी, फारसी शब्दों के प्रयोग का बाहुल्य नहीं है। चटगाँव के सैयद सुल्तान ने 'रसूल विजय' की रचना बंगला में की। इस कवि ने योग पर भी ग्रन्थ लिखा और कुछ वैष्णवपद भी रचे। मुसलमानों में महाभारत के ढंग का 'जंग नामा' काव्य खड़ा हुआ। इस काव्य के रचयिताओं में नसरुल्ला खाँ और मन्सूर का नाम भी उल्लेखनीय है। वैष्णवपदावली को छोड़कर सैयद सुल्तान के तीन काव्य मिले हैं—'ज्ञानप्रदीप, नवीवंश, एवं शवोमेराज, या हजरत मुहम्मद चरित। शाह मुहम्मद शगीर का 'यूसुफ जुलेखा' भी सुन्दर काव्य है। मुहम्मद खाँ के मुक्तुल हुसैन काव्य में करबला की कहानी है। अठारहवी शताब्दी का अन्तिम काव्य अब्दुल नबी का 'अमीर हमजा' उल्लेख-योग्य काव्य है।

धर्म मंगल काव्य— बंगाल में धर्म ठाकुर की पूजा बहुत दिनों से प्रचलित है। विप्रदास के मनसा मंगल एवं अन्यान्य प्राचीनतम काव्यों में हमको धर्म पूजकों की अपनी पौराणिक कहानियों का कुछ अंश तक परिचय मिलता है। १५ और १६ वीं सदी में धर्म पूजा सारे पश्चिम और उत्तर बगाल में प्रचलित थी। धर्म पूजा सम्बन्धी जितने ग्रन्थ मिलते है वे सभी दो श्रेणियों में विभक्त हो सकते हैं। प्रथम श्रेणी के ग्रन्थों में धर्म, धर्म पूजा का विधान और तदनुयायी मंत्र और छंद इत्यादि मिलते हैं, इनको धर्म पूजकों का कड़चा, साधु भाषा में धर्म पुराण अथवा धर्म पूजा विधान कहा जाता है। दूसरी श्रेणी के ग्रन्थ धर्म मंगल काव्य हैं। इनमें धर्म ठाकुर के माहात्म्य को प्रकट करने वाली पौराणिक और लौकिक कहानियाँ वर्णित होती हैं। साहित्य की दृष्टि से इन ग्रन्थों का कोई विशेष मूल्य नहीं। ये ग्रन्थ वस्तुतः काव्य हैं। बहुत से व्यक्ति धर्म मंगल के पात्र पात्रियों को एवं उसमें वर्णित घटनाओं को पूर्णरूपेण ऐतिहासिक मानते हैं। सब धर्म मंगल दक्षिण राढ़ के कवियों की रचना हैं। सम्भवत दो को छोड़कर शेष सभी दामोदर के दक्षिण पश्चिम प्रदेश में, वर्द्धमान जिले में एवं वर्द्धमान हुगली बाँकुड़ा के सीमान्त प्रदेश में लिखे गये हैं। इस प्रदेश के कवियों की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इनमें से प्राप्त सभी ने आत्मविवरण के साथ काव्य रचना का इतिहास अथवा ग्रन्थोत्पत्ति का विवरण भी कुछ न कुछ दिया है। दो एक व्यक्तियों को छोड़कर किसी भी धर्म मंगल रचयिता ने इसका उल्लंघन नहीं किया। सीतारामदास रचित एक अन्य मानसा मंगल काव्य मिलता है।

वैष्णव काव्य—अठारहवी सदी के श्रेष्ठ पद-कर्त्ताओं में चन्द्र शेखर और उनके भाई शशि शेखर नरहरि चक्रवर्ती एवं दीनबन्धु दास की गणना है। इनकी गीत कविता में असाधारण पद माधुर्य लक्षित होता है। इस युग वैष्णव साहित्यिकों की श्रेष्ठ कीर्ति पद संग्रह ग्रन्थ है। इस प्रकार के ग्रन्थों प्राचीनतम ग्रन्थ विख्यात वैष्णव पंडित और साधक विश्वनाथ चक्रवर्ती का क्षणदा गीति चिन्तामणि हैं। नरहरि का गीत चन्द्रोदय एक बड़ा ग्रन्थ है। श्री निवासाचार्य के वंशधर, महाराजा नन्द कुमार के गुरु, अठारहवीं शताब्दी के एक श्रेष्ठ पदकर्त्ता और पंडित राधा मोहन ठाकुर ने पदामृत समुद्र नाम

से एक अन्य संकलन किया था। कमलाकान्त का पद रत्नाकर एवं निमानन्द दास का पद रससार १९ वीं शताब्दी के बिल्कुल आरम्भ में संकलित हुये थे। गोकुलचन्द सेन द्वारा संकलित गीत कल्पतरु अथवा पद कल्पतरु इनमें सबसे ऊपर है।

इस शताब्दी के लिखे गये सभी कृष्ण मंगल काव्यों में कविचन्द्र चक्रवर्ती के काव्य ने ही सबसे अधिक प्रसार पाया। इनके द्वारा रचित धर्म मंगल और मनसा मंगल भी पाये गये हैं। पुरी के जगन्नाथ देव के माहात्म्य सूचक दो जगन्नाथ मंगल काव्य १८ वीं शताब्दी में रचे गये। वैष्णव ग्रन्थों का अनुवाद करने वालों में विश्वनाथ चक्रवर्ती के शिष्य कृष्णदास ही प्रधान हैं। शचीनन्दन विद्यानिधि ने रूप गोस्वामी के उज्ज्वल नीलमणि का एक संक्षिप्त अनुवाद किया। ब्रह्म वैवर्तपुराण का अनुवाद गयारामदास और रामलोचन ने किया। सृष्टिधर का महेश मंगल भी काशी खंड का अनुवाद है। नन्दकिशोर दास के वृन्दावन लीला मृत को वाराह पुराण का भावानुवाद कहा जा सकता है।

वैष्णव जीवनी—सोलहवीं शताब्दी के पश्चात् श्री चैतन्य की जीवनी के विषय में केवल एक काव्य लिखा गया। पुरुषोत्तम मिश्र सिद्धान्त वागीश ने चैतन्य चन्द्रोदय कौमुदी की रचना की। इस ग्रन्थ में सोलहवीं शताब्दी के अन्यान्य वैष्णव महात्माओं के सम्बन्ध में भी कुछ नयी-नयी बातें हैं। अठारहवीं शताब्दी के श्रेष्ठ जीवनीकार नरहरि चक्रवर्ती थे। ये पंडित व्यक्ति थे और इनमें यथेष्ट कवित्व शक्ति थी, इनके रचे पदों से इनका असाधारण छन्दोनैपुण्य प्रकट होता है। इन्होंने तीन-चार जीवनी काव्यों की रचना की है। नरहरि के भक्ति रत्नाकर ग्रन्थ को वैष्णव इतिहास का महाकोष कहा जाता है। अठारहवीं सदी का यह निर्विवाद रूप से सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। प्रेम विलास के समान इसमें मुख्यतः श्री निवासाचार्य का कीर्तिकलाप वर्णित होने पर भी इसमें अन्यान्य बहुत से विषय सन्निविष्ट हैं। नरोत्तम विलास को हम भक्ति रत्नाकर का परिशिष्ट कह सकते हैं। इसमें नरहरि ने प्रधान भाव से नरोत्तम की जीवनी और कार्य-कलाप का विवरण दिया है। श्यामा-

नन्द की जीवनी के विषय में भी छोटे काव्य मिले हैं, इन दोनों का ही नाम श्यामानन्द प्रकाश है। वनमालीदास का जयदेव चरित्र जयदेव एवम् उनकी पत्नी पद्मावती के विषय में प्रचलित किंवदन्तिओं के आधार पर रचा गया है। इस पुस्तक में वर्द्धमानराज द्वारा प्रतिष्ठित केन्दु विल्व के मन्दिर का उल्लेख है।

रामायण और महाभारत काव्य—अठारहवीं शताब्दी मे रामप्रसाद वैद्य ने रामायण की रचना की। इन्होंने दो अन्य काव्यों की भी रचना की है—कृष्णलीलामृत रस और दुर्गा पंचरात्रि। नड़ाइल के गंगारामदत्त ने अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रामायण काव्य की रचना की। कई कवियों ने रामायण की विशेष कहानी के सम्बन्ध में काव्य रचना की है। इनमें कृष्ण दास, कैलाश वसु और शिवचन्द्रसैन उल्लेखनीय हैं। फकीरराम कवि ने 'अगंद का इतत्व' नाम की रचना की। इन्होंने एक सत्यनारायण की पांचाली की भी रचना की है। अठारहवीं शताब्दी में लिखे गये समस्त काव्यों में रामानन्द घोष का काव्य अत्युत्तम है। महाभारत की रचना करने वाले कवियों में षष्ठीवर सेन, गंगादास, वासुदेव एवं त्रिलोचन चक्रवर्ती हैं। इनके अलावा देवकीनन्दन कृष्णराम, गोपनाथ पाठक, राजीव सेन, गोपीनाथ दत्त, चंदनदास दत्त, रामलोचन आदि कवियों ने भी एक पर्व की रचना की है। सम्भवतया इनमें से किसी ने सम्पूर्ण महाभारत की रचना की है। कृष्णराम का अश्वमेघ पर्व बहुत बड़ा काव्य है। लोकनाथ दत्त और रामनरायण घोष ने महाभारतन्तर्गत नल दमयन्ती की कथा लेकर इस काव्य की रचना की थी। राजेन्द्र दास के काव्य का विषय शकुन्तला का उपाख्यान है।

विविध शाक्त काव्य—चटगाँव प्रदेश के श्रेष्ठ कवि ने भी एक मनसा मंगल काव्य रचा है, इन्होंने एक छोटे से व्रत कथा जातीय काव्य की भी रचना की है, इस काव्य का नाम सूर्य मंगल है। पश्चिमी बंगाल के कवि रसिक मनसा मंगल एक सुवृहत् काव्य है। उत्तरी बंगाल के कवि जीवन कृष्ण मैत्र ने भी मनसा की पांचाली की रचना की। श्रीहट्ट प्रदेश के अनेकों कवियों ने मनसा मंगलों की रचना की। भारती मंगल में विक्रमादित्य की कहानी के उपलक्ष में देवी का माहात्म्य वर्णित है। गंगाधर दास के किरीटी मंगल काव्य में

एवं निम्न श्रेणी के बौद्ध लोगों की सहायता से धर्मान्ध फकीरों ने किस प्रकार राढ़ के किस गाँव को विध्वस्त कर दिया था, इसी का वर्णन मिलता है ।

शिवायन और सत्यनारायण की पांचाली—शिव के सम्बन्ध में लिखे गये अधिकतर काव्य १७ वीं और अठारहवीं शताब्दी के मध्य के हैं । इनमें सबसे श्रेष्ठ बंगला काव्य रामेश्वर भट्टाचार्य का शिव संकीर्तन है । यह काव्य अठारहवीं शताब्दी के श्रेष्ठ काव्यों में से है । इसमें साधारण मनुष्यों के घर गृहस्थी के व्यापार अत्यन्त सहृदयता से वर्णित हैं । इसी कवि ने सत्यनारायण पांचाली की भी रचना की है । इसके अलावा रामकृष्णदास और रामदास नें भी शिवायन काव्यों की रचना की है । इसकी उत्पत्ति हिन्दुओं की ओर से हिन्दू और मुसलमान जातियों की संस्कृतिगत मिलन चेष्टा के फलस्वरूप ही हुई । यह व्रत कथा के ढंग की वस्तु है । सत्यनारायण के प्राचीनतम कवियों में धनराम चक्रवर्ती, रामेश्वर भट्टाचार्य, फकीरराम कविभूषण और विकल भट्ट हैं । इसके अलावा वैष्णव कवि कृष्ण हरिदास के काव्य का विषय भी पूर्णतया नवीन है । इस काव्य में सत्यवीर देवता नहीं, वरन् मनुष्य हैं । चटगाँव प्रदेश में सत्यवीर की भाँति त्रैलोक्यपीर का गान भी प्रचलित है । साहित्यिक दृष्टि से इनका कोई महत्व नहीं ।

गंगा विषयक काव्यों के रचियताओं में गौरांग शर्मा, जयरामदास, कमलाकान्त, शंकर आचार्य और दुर्गा प्रसाद आदि प्रमुख हैं । इन्होंने गंगा के माहात्म्य का वर्णन किया है । इनमें कवि की वास्तविक दृष्टि और सरसता का परिचय मिलता है । सूर्य के सम्बन्ध में भी रामजीवन एवम् कालिदास के दो काव्य मिले हैं । शम्भूराम का जीमूत मंगल काव्य सूर्य पुत्र जीमृत-वादन की व्रत-कथा के आधार पर रचा गया है । सरस्वती के सम्बन्ध में उपलब्ध काव्यों में दास राम रचित सारदा चरित है, और दूसरा विशेश्वर कृत सरस्वती मंगल है । लक्ष्मी विषयक काव्यों में धनंजय और गुण राजखाँ का मंगल नामक काव्य उल्लेखनीय है । वैद्यनाथ, तारकनाथ, मदनमोहन, योगाद्यर एवं किरीटेश्वरी के काव्य भी जो स्थानीय देवी-देवताओं के विषय में रचे गये हैं—प्रधान हैं । अठारहवीं शताब्दी के अन्त में रुद्रराम चक्रवर्ती ने एक षष्ठी मंगल काव्य की रचना की है । इस काव्य में कुल मिलाकर तीन उपा-

स्थान हैं जिनमें से दो उपलब्ध हैं और एक नहीं। यह कलावती की कहानी है।

भारतचन्द्र और रामप्रसाद—विद्यासुन्दर काव्यों की रचना करने वालों में बलराम कवि शेखर, भारतचन्द्र राय, गुणाकर, रामप्रसाद सेन, निधिराम आचार्य, कविरत्न राधाकान्त, कवीन्द्र चक्रवर्ती और प्राणराम चक्रवर्ती हैं। लेकिन इनमें विद्यासुन्दर के श्रेष्ठ रचयिताओं में भारतचंद्र और रामप्रसाद ही हैं। भारतचन्द्र का अन्नदा मंगल इस शताब्दी की श्रेष्ठ रचना है। इसको मंगल जातीय महाकाव्य नाम दिया जा सकता है। इसकी रचना गाये जाने के लिये ही हुई है। भारतचन्द्र ने और भी कई छोटी-छोटी कविताओं की रचना की है। इनमें से दो सत्यनारायण की पांचाली है। उनके श्रेष्ठत्व का परिचय उनकी शैली से मिलता है। कवि ने नाना प्रकार के संस्कृत छन्दों में बंगला कविता की रचना करके असाधारण छन्द रचना-नैपुण्य का परिचय दिया है। रामप्रसाद ने भी एक कालिका मंगल अथवा विद्यासुन्दर काव्य की रचना की है। यह भारतचन्द्र के काव्य के पश्चात् रचा गया। इनका चरित्र-चित्रण अति सुन्दर है। वह बड़ा ही स्वाभाविक एवं यथार्थवादी बन पड़ा है। इनके कृतित्व की श्रेष्ठता भक्ति विषयक संगीत में है। रामप्रसाद ने श्यामा विषयक गानों की रचना का एवं उनके विशेष स्वरों द्वारा किया हुआ कवि के हृदय का साम्यबोध, दृढ़ विश्वास एवं आध्यात्मिक व्याकुलता मर्मस्पर्शी भाव से प्रकाशित हुये हैं। राधाकान्त ने अपने काव्यों को 'श्यामा का संगीत' नाम दिया है। इनके काव्य की रचना-शैली सुन्दर और ग्राम्यता-शून्य है।

सिद्धों की गाथा—प्राचीन काल में ही बंगाल में एक शिवोपासक योगी सम्प्रदाय था। उनके चार आदि सिद्ध थे—मत्स्येन्द्रनाथ अथवा मीननाथ, गोरक्षनाथ, हाडिया और कानूया। इन चार सिद्धों के माहात्म्य को प्रकट करने वाली अलौकिक कहानियाँ बंगाल में अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रचलित रहीं हैं। यह कहानियाँ दो भागों में विभक्त हो सकती हैं—(१) मीननाथ अथवा गोरक्षनाथ की कहानी और (२) गोविन्द चन्द्र—मयनावती की कहानी। पहली कहानी में देवी के छल से मीननाथ का मोह को प्राप्त होना और तत्पश्चात

गोरक्षनाथ द्वारा उनका उद्धार वर्णित है। इसकी कहानी के मूल में संभवतः ऐतिहासिक घटना थी। सुदूर पंजाब, सिन्धु, महाराष्ट्र, राजपूताना आदि देशों में आज भी योगी सन्यासी इस गाथा को गाकर भिक्षा माँगते और घूमते फिरते हैं। प्राप्त गाथाओं में सबसे प्राचीन पश्चिमी बंगाल के कवि दुर्लभ मल्लिक की रचना है। सहदेव चक्रवर्ती के अनिल पुराण में मीननाथ और गोरक्षनाथ की कहानी है।

इसके पश्चात् अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने बंगाल की दीवानी पर अपना आधिपत्य कर लिया। इससे बंगाल और भारत में नवीन युग की संभावना घटित हुई। बंगाली को अँग्रेजी और अँग्रेज को बंगाली सिखाने की आवश्यकता भी अनुभव होने लगी। व्याकरण एवं बड़े-बड़े ग्रन्थों को हाथों से लिखना अत्यन्त कठिन था। एक अँग्रेज ने सबसे पहिले बंगला टाइप का आविष्कार किया। हस्तलिखित पुस्तकों के चलन के समय एक पुस्तक के लिखने में ही यथेष्ट धन व्यय होता था; लेकिन छापेखाने के आविष्कार से यह बड़ी समस्या शीघ्र ही हल हो गयी। इस प्रकार अब साहित्य सभी के प्रयोग की यथेष्ट सामग्री बन गया और गद्य का आरम्भ हुआ।

बंगला गद्य के प्रारम्भ हो जाने के बाद भी वैष्णव पद, रामायण, महाभारत, मनसा मंगल आदि कई धर्म काव्य लिखे गये। श्रीमद्भागवत तथा अन्यान्य पुराणों के अनुवाद भी हुये। अनेक चमत्कारपूर्ण ग्राम-गाथाओं के संग्रह, मय मानसिंह-गीतिका एवं पूर्वबंग-गीतिका के नाम से कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुये हैं।

बंगला गद्य का प्रारम्भिक काल—बंगला गद्य का व्यापक प्रारम्भ तो १९ वीं सदी के बिल्कुल आरम्भ से ही हुआ। सन् १८०० ईस्वी में कलकत्ते में विलायत से आये हुये नये कम्पनी के कर्मचारियों की शिक्षा के लिये—जिन को सभी लोग सिविलियन ने नाम से पुकारते थे, कलकत्ते में फोर्ट विलि कालिज स्थापित हुआ। कालेज के प्राच्य भाषा विभाग के अध्यक्ष श्रीरामपुर के मिशनरी पादरी विलियम केरी नियुक्त हुये। आगामी वर्षों में उनके कई सहायक भी नियुक्त हुये। केरी साहब ने अपने सहकारी पंडितों की सहायता

से और मुंशियों द्वारा सिविलियनों को बंगला पढ़ाने के लिये गद्य की पुस्तकें तैयार करायीं। श्री केरी साहब ने भी व्याकरण और कथोपकथन, कविराज वसु का प्रतापादित्य चरित्र एवं गोलोक शर्मा का हितोपदेश प्रकाशित कराया। १८०५ में चंडी चरन मुंशी का 'तोता इतिहास', राजीव लोचन मुखोपाध्याय का महाराज कृष्णचन्द्र, रामस्यचरितम् और मृत्युंजय विद्यालंकार का द्वत्रिश सिंहासन प्रकाशित हुये। मृत्युंजय ने कई बड़े-बड़े बंगला ग्रन्थों की भी रचना की, उनमें राजा बलि और प्रबोध चन्द्रिका श्रेष्ठ हैं।

केरी, मार्शमैन एवं अन्य अनेकों यूरोपीय शिक्षा प्रचारक गणों ने बहुत सी पुस्तकें स्वयं लिखकर और दूसरों से लिखवाकर बंगला की पाठ्य पुस्तकें तैयार कराईं। प्रमुख बंगाली लोगों राजा राममोहनराय, राजा राधाकान्त देव, और राधाकृष्णदेव बहादुर आदि ने भी बिना किसी विलम्ब के इस कार्य में योग दिया। विराट संस्कृत कोष, कल्पद्रुम महाराज की अक्षय कीर्ति के रूप में बहुत समय तक विराजता रहेगा। राधाकान्त ने भी बंगला भाषा और शिक्षा के विकास में खूब योग-दान दिया। इस युग के सभी ग्रंथ संस्कृत-फारसी, या अँग्रेजी के अनुवाद हैं। दो एक मात्र ही मौलिक रचना हैं। इन रचनाओं का साहित्यिक मूल्य केवल इतना ही है कि इन ग्रन्थों में बंगला गद्य शैली के शैशव्य का अपरिणत रूप परिलक्षित होता है।

तरजा, कविगान और पांचाली आदि—कीर्तन गान के अलावा अध्यात्म और प्रणय विषयक बैठकी गान का प्रचलन अठारहवीं शताब्दी में हुआ था। इसी समय शान्तिपुर में गाये जाने वाले एक नितान्त शृंगार रस परक गान का भी प्रचलन हुआ। भारत चन्द्र के समय में नदिया प्रदेश में खेउड़ का भी प्रसार व्यापक हो गया था। नव कृपण के सभासद कुलुइ चन्द्रसेन ने खेउड़ गान को शुद्ध करके उसमें 'नाना प्रकार की राग-रागनियों का व्यवहार और बहुविधि वाद्य यंत्रों का प्रयोग करके अखाड़े या संगीत सभा के लिये उपयोगी गान में परिणत कर दिया। इसमें जिसका दल गीतवाद्य में उत्कर्ष दिखलाता था, उसी की जीत होती थी।

कष्ट साध्य आखड़ाई गान क्रमशः अप्रचलित होने लगा। इसी बीच में

पहले से प्रचलित प्रतियोगिता मूलक कवि गान एवं पांचाली का प्रसार होने लगा। कविगान की रचना करके अथवा इसको गाकर प्रसिद्धि पाने वालों में हरेकृष्ण दीघड़ी, राम वासु, आन्दुनी फिरंगी, भोला महरा आदि प्रधान थे। इनकी धारा के अत्युत्तम प्रवर्त्तक लालनन्दु लालनाम से प्रसिद्ध दो भाई लाल-चन्द और नन्दलाल थे। आधुनिक काल में जो कवि गान प्रचलित हैं, वह पूर्ण-तया विकृत और अनुकरण-मात्र हैं।

अखड़ाई गान के नष्ट प्रायः हो जाने पर उनको तोड़ मरोड़कर सहज साध्य बनाकर बृद्ध निधु बाबू की सहायता से उनके एक शिष्य मोहन चाँद वसु ने एक नवीन ढंग की सृष्टि की। १६ वीं शताब्दी के समाप्त होने तक पूर्व की हाफ-आखड़ाई गान लुप्त हो चुके थे। पांचाली के रचयिताओं में दाशरथिराय सर्वश्रेष्ठ हैं। इनके द्वारा रचित अनेक गान विशेष भाव से मभादृत हुये हैं। पल्लीवासी जन आज भी इनके गाने सुनकर मोहित हो जाते हैं।

सामियक पत्रों का प्रादुर्भाव

फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना से यद्यपि पाठ्य पुस्तक रचयिताओं द्वारा बंगला गद्य का एक प्रकार से अनुशीलन तो होने लगा लेकिन भाषा की उन्नति का कोई लक्षण न दिखाई दिया। सन् १८१८ ई० में केरी साहब के प्रबल उद्योग से बंगला सामयिक पत्र का प्रवर्त्तन हुआ। पहले अप्रैल के महीने में दिग्दर्शन नामक मासिकपत्र प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् २३ मई से प्रथम बंगला संवाद पत्र समाचारदर्पण प्रकाशित हुआ। यह साप्ताहिक पत्रिका थी। इसके साथ ही साथ गंगा किशोर भट्टाचार्य ने बंगला गजर प्रकाशित किया। इसको बंगालियों का खूब सहयोग मिला।

सामयिक पत्रों के माध्यम से ही शिक्षित बंगालियों ने पहले-पहल गद्य-साहित्य का रस ग्रहण करना सीखा। पूर्व काल का साहित्य सभी काव्य में रचा गया था। लेकिन अब नये-नये सामयिक बंगला पत्रों की माँग के कारण बंगला गद्य की भविष्य की उन्नति का द्वार सदैव के लिये खुल गया। आधुनिक बंगला साहित्य प्राचीनतम उद्भव प्राचीनतम बंगला पत्रिकाओं में मिलता है। अन्य सामयिक पत्रों में 'समाचार चन्द्रिका' मुख्यतम है। इस पत्रिका के सम्पा-

दक भवानी चरण वन्धोपाध्याय उस समय के बंगला साहित्य के विशिष्ठ लेखक थे। राजा राममोहन राय ने भी अनेक हिन्दू ग्रन्थों को छपवाकर अथक परिश्रम किया।

भवानीचरण ने गद्य और पद्य दोनों में ही रचना की है। बंगला साहित्य की उत्कृष्ट व्यंग्य रचनाओं में भवानीचरण के 'नवबाबू विलास' ने उल्लेखनीय स्थान प्राप्त कर लिया है। 'टेक चाँद ठाकुर', दीनवन्धु मित्र प्रभृत्ति परवर्ती काल के हास्यरसिक लेखक गण प्रायः सभी थोड़े बहुत भवानीचरण के ऋणी हैं।

आगे चलकर ईश्वरचन्द्र गुप्त ने 'संवाद प्रभाकर' नामक पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया। इसके अलावा और भी अनेक पत्रिकाओं का आपने सम्पादन किया। इस पत्रिका में वे अल्पव्यस्क लेखकों की रचनाओं को अधिक स्थान देते थे। इनकी कवित्व शक्ति शैशव काल से ही प्रकट हो गयी थी। बालक छोटी आयु में ही कविदलों के लिये गान रचना कर देते थे। इनकी कविता को ६ विभागों में विभक्त किया जा सकता है। जैसे—१ धर्म और नीति शिक्षा विषयक, २ समाज विषयक, ३. समसामयिक घटना विषयक ४. प्रेममूलक ५. ऋतु और अन्यान्य वर्णन विषयक ६. गीत कविता अथवा गान। इनकी शैली संवाद पत्र सेवियों की सी होती है। उसमें व्यंग्य और हास्य की प्रधानता थी। कविता पर विचार करने से वे प्राचीन शैली के ही कवि जान पड़ते हैं। उनकी सामाजिक व्यंग्य कविता में मूल में भी यही भावना थी और काव्य तथा जीवनी संग्रह में भी यही। उनके जीवन में उनका केवल एक रचना-संग्रह प्रकाशित हुआ, जिसका नाम प्रबोध प्रभाकर है। अन्य संग्रह 'हित प्रभाकर,' और 'बोधेन्दु विकास' उनकी मृत्यु के पश्चात् ही प्रकाशित हुये। अन्तिम पुस्तक सस्कृत नाटक का अनुवाद-मात्र है।

आधुनिक गद्य का विकास—अब तक जो पाठ्य पुस्तकें लिखी गयीं अथवा संस्कृत और अँग्रेजी से बंगला में अनुवाद हुये उन सभी में वाक्य रचना हूबहू अँग्रेजी शैली में ही मिलती थी। बाईबिल के बंगला अनुवाद में तो अब तक भाषा का वही पुराना स्वरूप मिलता है लेकिन बंगला साहित्य के क्षेत्र से इस प्रथा का नामोनिशान मिट गया। इस श्रेणी के श्रेष्ठ लेखक मनीषी पादरी

कृष्ण मोहन वन्द्योपाध्याय थे। उन्होंने 'विद्या कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थमाला के अन्तर्गत अनेक अँग्रेजी और संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद किया। इस शैली में अनेक दोष थे। इस निकम्मी, शोभाशून्य गद्य शैली की सहायता से उच्च श्रेणी के साहित्य की रचना एकदम असम्भव थी।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के प्रादुर्भाव ने भाषा को इस स्वरूप से उसका पंगुत्व छुड़ाकर उसे उच्च श्रेणी के साहित्य का वाहन बनाने का असाध्य प्रयास किया। अपनी विद्या समाप्त करने के पश्चात् वे बंगला गद्य में पाठ्य पुस्तकों की रचना में प्रवृत्त हुये। उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, 'वासुदेव चरित्र, वेतालपंचविंशति, बंगाल का इतिहास, जीवन इतिहास, शिशुशिक्षा, शकुन्तला, चरितावली, कथामाला, सीता का वनवास, शान्ति विलास, आख्यान मंजरी आदि। यह पुस्तकें यद्यपि संस्कृत या अँग्रेजी ग्रन्थों के आधार पर भी रची गयी हैं लेकिन विषयवस्तु में सर्वत्र नूतनता है। कुछ मौलिक ग्रन्थ साहित्यिक दृष्टि से बहुत गम्भीर हैं। इसके अतिरिक्त उपक्रमिणका और व्याकरण कौमुदी आदि की रचना करके संस्कृत सीखने का मार्ग सुगम किया। बंगला गद्य के विकृत कंकाल में, मेद, माँस, रक्त सयोजन और प्राण-संचारण करके उन्होंने ही इसे साधारण व्यवहार के योग्य जीवित भाषा के रूप में लाकर खड़ा कर दिया।

बंगला गद्य के प्रवर्त्तन में विद्यासागर के प्रधान सहयोगी अक्षयकुमार दत्त थे। ब्रह्म समाज द्वारा संचालित पत्रिका के आप प्रथम सम्पादक थे। इसमें उनके विविध प्रबन्ध प्रकाशित हुये हैं। इन्होंने एक पुस्तक लिखी, जिसका नाम 'ला' वाह्य वस्तु के साथ मानव प्रकृति के सम्बन्ध पर विचार, यह सर्वाधिक प्रसिद्ध हुई। इसके अतिरिक्त धर्म नीति, भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय भी आपकी प्रकाशित हुई। वैज्ञानिक आलोचना के पथ-प्रदर्शक की दृष्टि से आपका स्थान बहुत ऊँचा है। बंगला गद्य को आधुनिक स्वरूप प्रदान करने वालों में राजनारायण वसु, राजेन्द्र लाल मित्र, तारा शंकर तर्करत्न, भूदेव मुखोपाध्याय, देवेन्द्रनाथ ठाकुर और कृष्ण कमल भट्टाचार्य आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से अन्तिम ने विदेशी भाषाओं की मनोहर कहानियों का अवलम्बन लेकर कई पुस्तकें लिखी हैं। इन्होंने एक 'विचारक' नामक पत्रिका भी प्रका-

शित की। राजनारायण वसु की छोटी सी पुस्तक 'तब और अब' ने भी पाठकों का मन खूब मोह लिया था। इस पुस्तक की भाषा सरल और मनोज्ञ थी। भूदेव मुखोपाध्याय ने 'एजूकेशन गजट' और साप्ताहिक वातविद भी निकाली जिसमें पुण्याजलि, आचार प्रबंध, पारिवारिक प्रबन्ध आदि अनेक सफल ग्रन्थ लिखे हैं। काली प्रसन्नसिह ने महाभारत का श्रेष्ठ बंगलानुवाद किया है। इन्होंने भी अनेक बंगला ग्रन्थों की रचना करके बंगला साहित्य की श्रीवृद्धि की है।

बंगला काव्य का अभ्युदय—उन्नींसवीं शताब्दी के मध्य भाग तक बंगला साहित्य में दो धारायें थीं—वैष्णव पदावली और पौराणिक काव्य और आनन्द मंगल के प्रकार के लौकिक कथा-काव्य। इसमें वैष्णव पदावली और पौराणिक पद्धति के कवियों में विशेष रूप से उल्लेखयोग्य व्यक्ति रघुनन्दन गोस्वामी थे। इन्होंने 'रामरसायन, गीतमाला और राधा माधवोदय' नामक ग्रन्थ लिखे हैं। रामरसायन अति सुललित काव्य है और प्रचलित रामायण के बंगला काव्यों में सर्वश्रेष्ठ है। भारतचन्द्र की पद्धति में सर्वश्रेष्ठ मदनमोहन तर्कालंकार थे और इन्होंने 'रसतरंगिणी तथा वासवदत्ता नाम के दो काव्यों की रचना की है। मदन मोहन ने इसमें छन्द रचना में विशेष चातुर्य दिखाया है। देश प्रेम ने इनके काव्य में एक नवीन झंकार दिखाई। ईश्वरचन्द्र गुप्त और उनके शिष्यों द्वारा ही बंगला काव्य की वार्ता उद्घोषित हुई। ईश्वरचन्द्र गुप्त द्वारा सम्पादित संवादप्रभाकर और 'साधुरंजन' के अनेक कवियों में प्रमुख द्वारका नाथ अधिकारी, रंगलाल, दीनबन्धु मित्र एवं बंकिमचन्द्र चटोपाध्याय प्रमुख थे।

ईश्वरचन्द्र ने बंगला काव्य में जिस आधुनिकता का सूत्रपात किया था वह समय पाकर उनके शिष्य रंगलाल की कविता में विकसित हो उठी। इन्होंने इसके अतिरिक्त चार मौलिक काव्यों की भी रचना की है, इनके नाम पद्मिनी उपाख्यान, कर्म देवी, शरद् सुन्दरी और कांची कावेरी हैं। इनके काव्य का मूलस्वर देशप्रीति और स्वाधीन-प्रियता है। इन्होंने अंग्रेजी के अनेक कवियों स्काट, मूर, बायरन आदि की रचनाओं से अनेक भाव लेकर उनको आत्मसात् कर लिया है। ये वस्तुतः आधुनिक बंगला काव्य के प्रथम कवि

थे। फिर भी उनके काव्य में पूर्ववर्ती प्रथा के अनुसार उपाख्यान और वर्णनात्मकता प्रधान है। दीनबन्धु मित्र ने अनेक नाटक आदि लिखकर यश प्राप्त किया।

बंगला नाटक का विकास – प्राचीन काल में बंगाल में अभिनय यात्रा की शैली पर नृत्य गीत का होता था। सभी पात्र-पात्रियाँ गीतों की सहायता से पौराणिक घटना-विशेष का अभिनय करते थे। इस प्रकार के अभिनय का सर्वप्रथम उल्लेख सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में मिलता है। पुरानी यात्राओं में कोई बँधे पार्ट नहीं थे। इस समय के श्रेष्ठ यात्रा वाले गोविन्द अधिकारी और कृष्ण कमल गोस्वामी थे। लेकिन इन प्राचीन यात्राओं से बंगला नाटक की उत्पत्ति नहीं हुई। इनकी उत्पत्ति अँग्रेजी स्टेज और रंगमच के प्रवर्त्तन के पश्चात् हुई। सन् १८३१ ई० में प्रसन्न कुमार ठाकुर ने एक नाट्यशाला स्थापित की जो देशी व्यक्ति द्वारा स्थापित पहली नाट्यशाला थी।

बंगला नाटक के अभाव के कारण ही उस युग में बंगला नाट्यशाला सुप्रतिष्ठित नहीं हो सकी। कुछ नाटक और अनुवाद भी प्रकाशित हुये। १८४९ ई० में प्रकाशित नीलमणि पाल की रत्नावली नाटिका ही प्रथम मुद्रित बंगला नाटक है। प्रथम युग के बंगला नाटक अधिकांश में सस्कृत नाटकों की कथा के आधार पर लिखे जाते थे। १८५३ में हरचन्द्र घोष का भानुमती चित्त विलास शैक्सपीयर के मर्चेन्ट और वेनिस के आधार पर लिखा गया। इसके अलावा १८५५ में नन्दकुमार राय का अभिज्ञान शाकुंतल प्रकाशित हुआ और यह बाद को आशुतोष के घर पर अभिनीत भी किया गया।

बंगला के आदि युग के प्रधान नाट्यकारों में रामनारायण तर्करत्न थे। नाटक की दृष्टि से बहुत अच्छे न होते हुये भी इनके नाटक अभिनय में अच्छे थे। इन्होंने कई एक प्रहसन भी लिखे हैं और इनके नाटक अधिकतर पौराणिक विषयों और संस्कृत नाटकों की कथा के आधार पर ही लिखे गये। माईकेल मधुसूदन की प्रतिभा नाटकों के क्षेत्र में सर्वाधिक चमकी। उनका शर्मिष्ठा नाटक बंगला का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। अन्य श्रेष्ठ नाटककार दीनबन्धु मित्र का नील दर्पण भी अच्छे नाटकों में से है। इस नाटक में उन्होंने नील की खेती करने वालों पर होने वाले अमानुषिक

अत्याचारों का सुन्दर चित्र अंकित किया था। इसके अलावा उनके श्रेष्ठ नाटकों में नवीन तपस्विनो, विवाह के लिये पागल बूढ़ा, जामाताओं की बैरक, कमले का नाटक आदि थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक हास्य रस प्रधान नाटकों की भी रचना की। डा० सेन के अनुसार दीनबन्धु बंगला के श्रेष्ठ नाटककार हैं। उनकी मानवतम सहानुभूति ने तुच्छतम चरित्र मे भी अभिव्यक्त होकर उसको बहुत कुछ रक्त मांस युक्त बना दिया है। उनके पात्र जीवित मनुष्य ही बन सके हैं और वे बरबस ही पाठक का हृदय मोह लेते हैं। सन् १८६० के पश्चात् तो बंगला में नाटककारों की एक प्रकार से बाढ़ सी आ गयी है। इस समय के प्रमुख नाटककारों में मनोमोहन वसु का नाम उल्लेखनीय है। इनके प्रमुख नाटक 'रामाभिषेक, प्रणय-परीक्षा, और सती नाटक आदि हैं।

व्यंग्य रचना—इस प्रकार की रचनाओं का प्राचुर्य बंगला साहित्य में उन्नीसवी शताब्दी से ही मिलता है। भवानीचरण का बाबू विलास इसी प्रकार की रचना है। इस प्रकार की रचनायें उस समय की सामयिकी पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती थीं। प्यारी चाँद मित्र ने धनी घर का दुलाल नामक व्यंग्य रचना में वहाँ के धनी मानी घरों का अच्छा नक्शा खींचा है। इसमें उन्होंने अधिकतर बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है। इनकी दूसरी रचना अभेदी को धर्म मूलक और आख्यायिका नाम दिया जा सकता है।

इस क्षेत्र में काली प्रसन्नसिंह भी एक बहुमुखी-प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। इन्होंने अपनी छोटी सी उम्र में ही अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। इन्होंने 'विद्योत्साहिनी' नामक एक सभा की भी स्थापना की और इसकी पत्रिका का भी सम्पादन किया। इन्होंने 'हुतीमध्याचाँरनक्शा' की रचना की। इसमें बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया गया है। इनके जीवन का कीर्ति स्तम्भ इनके द्वारा किया गया महाभारत का गद्यानुवाद था।

परवर्ती बंगला काव्य—आधुनिक बंगला के युग प्रवर्त्तक माईकेल मधुसूदन दत्त ने साहित्य की धारा को एक नया मोड़ दिया। इनके कवि-जीवन का सूत्रपात मद्रास से प्रारम्भ हुआ और वहीं पर कैप्टिव लेडी और विजन्स आफ दि पास्ट नामक दो अँग्रेजी काव्यों की रचना

की। लेकिन इसमें उनका मन नहीं लगा और अपनी स्व भाषा में ही अध्ययन कर उसके साहित्य को अगाध बनाने की कोशिश की। उस समय बंगला में नाटकों की कमी थी अतः 'क्या इसी का नाम सभ्यता है, पद्मावती, तथा शर्मिष्ठा आदि अनेक नाटक लिखे। आपने अनेक काव्यों की रचना की। प्रमुख ये हैं; तिलोत्तमा संभव, मेघनाथ वध, वीरांगना काव्य, व्रजांगना काव्य, आत्म-विलाप आदि। मृत्यु से पूर्व भी उन्होंने दो नाटकों को लिखा। इनमें से एक तो पूरा ही नहीं हो सका और दूसरा मायाकानन पूरा तो हो गया लेकिन छपने से पूर्व ही वह परलोक वासी हो गये। फ्रान्स में रहकर इन्होंने चतुष्पदी (Sonnets) की भी रचना की जो बंगला साहित्य में अपना अनूठा स्थान रखती है। इसके पश्चात् हालाँकि अनेकों ने ये चतुष्पदियाँ बनायीं और यहाँ तक कि रवीन्द्रनाथ तक इस कार्य में सफल नहीं सके। विदेश से लौटने के पश्चात् उन्होंने केवल दो ग्रन्थों की रचना की जिनमें से हैम्टर बध उल्लेख-नीय है। इन पुस्तकों में कवि की प्रचंड प्रतिभा के अवशेष मिलते हैं। बंगला की इस अद्वितीय कवि प्रतिभा ने अपनी अन्तर्ज्वाला से ही दग्ध होकर निर्माण पाया। उनको सम्पूर्ण रूप से स्फूर्ति पाने और उसको प्रदर्शित करने का सुयोग नहीं मिल सका। उनके महाकाव्य में प्राच्य और पाश्चात्य भावों का जो समन्वय घटित हुआ है वह आज तक अन्य किसी बंगाली रचना में देखने को नहीं मिला। उनका मेघनाथ वध बंगला में प्रथम एवं एकमात्र वीर रसाश्रित महाकाव्य है।

विदेशी भाषा और साहित्य में मशगूल रहते हुये भी विदेशी धर्म, पोषाक, आचार व्यवहार का आलम्बन लेकर मधुसूदन मन और प्राण से बंगाली थे। उनके बाद आज तक उन जैसा ओजगुण सम्पन्न काव्य फिर बंगला में नहीं रचा गया। उनका काव्य हिमालय के सर्वोच्च शिखर के समान ही उन्नत शीर्ष और एकाकी है। इनके समकालीन दो प्रमुख कवि हैं — बिहारीलाल चक्रवर्ती, एवं सुरेन्द्रनाथ मजूमदार। प्रथम ने पूर्णिमा, अबोध बन्धु आदि कई पत्रिकाओं का संचालन किया। इन्होंने साधु का आसन और सारदा मंगल नामक काव्यों की रचना की है। छन्द की लघुता और लालित्य में भी उन्होंने बड़ी ही नवीनता दिखाई है। सुरेन्द्रनाथ मजुमदार ने छोटे-छोटे लेखों,

कविताओं और नाटकों के अलावा एक वृहत् नाटक और चार पाँच काव्यों की रचना की। इनका काव्य तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—उपहार, माता और जाया। इनका प्रथम बड़ा काव्य 'सविता सुदर्शन' १२७५ में प्रकाशित हुआ।

हेमचन्द्र ने काव्य रचना में पुरातन वर्णनात्मक रीति का ही अनुसरण किया है। यह अपनी कविता बिहारीलाल द्वारा सम्पादित अबोध वन्धु में छपाया करते थे। इनका प्रथम काव्य चिन्ता तरंगिनी प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् क्रमश: नलिनी वसंत, कवितावली, वृत्रसंहार, छायामयी, दश महा विद्या रोमियो जूलियट, चित्त विकास आदि प्रकाशित हुये। उनकी रचना में स्वदेश प्रीति एवं स्वाधीनता की कामना जितने निष्कपट भाव से प्रस्फुटित हुई है वह अन्य किसी पूर्ववर्ती कवि में परिलक्षित नहीं होती। इनके भाई ईश्वरचन्द्र भी सुकवि थे। इनके बाद नवीनचन्द्र का आविर्भाव हुआ। उन्होंने अनेक उत्कृष्ट काव्यों की रचना की है। उनमें पलासी का युद्ध, रैवतक, कुलक्षेत्र और प्रयाग श्रेष्ठ हैं। इन तीन काव्यों में कवि ने अपनी अपूर्व कल्पना से श्रीकृष्ण चरित्र को नवीन भाव से चित्रित किया है। इनके अन्य काव्य ग्रन्थ 'अवकाश रंजिनी, विलओपेहा, अमिताभ आदि हैं। इनका कवित्व स्थान-स्थान पर चमत्कारपूर्ण है। इन्होंने कुछ गद्य रचना भी की है। कवि ने भानुमती नामक एक उपन्यास की भी रचना की थी।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में मधुसूदन और हेमचन्द्र के अनुकरण पर बहुत से व्यक्ति काव्य रचना में प्रवृत्त हुये। इनमें से कुछ उल्लेखनीय हैं—'मित्रविलाप' के रचयिता राजकृष्ण मुखोपाध्याय, पुष्पमाला, निर्वासितेर विलाप, हिमाद्रिकुसुम आदि के रचयिता शिवनाथ शास्त्री, राजतपस्विनी के रचयिता हरचन्द्र घोष, कवि कहानी के रचयिता दिनेश चरण वसु, आर्य संगीत काव्य के रचयिता नवीनचन्द्र मुखोपाध्याय, वैराग्य विपिनविहार काव्य के रचयिता रंगलाल मुखोपाध्याय एवं हेलेना, मित्र काव्य और भारती मंगल आदि के रचियता आनन्द मित्र और मेनका तथा ललित सुन्दरी के रचयिता अधर लालसेन। इसी समय में कुछ महिला कवियों का भी आविर्भाव हुआ।

प्रबन्ध और ऐतिहासिक ग्रन्थों की रचना में रजनीकान्त गुहा ने विशेष ख्याति प्राप्त की है।

इस युग के नाट्यकारों में तीन उल्लेखनीय हैं— ज्योतिन्द्रनाथ ठाकुर, गिरीश चन्द्र घोष और अमृत लाल वसु। इनमें से प्रथम रवीन्द्रनाथ के बड़े भाई थे और संगीत तथा नाटक रचना में, अभिनय में, संगीत विद्या में, इनको असाधारण दक्षता प्राप्त थी। इनकी प्रथम नाटक रचना 'किंचित जल योग, पुरु विक्रम आदि। इनके नाटकों का खूब समादर किया गया। इनके पिता देवेन्द्र नाथ उस समय ब्रह्म समाज के मूलस्तम्भ थे। इन्होंने तत्व बोधिनी नाम की पत्रिका भी चलायी। इनके सभी पुत्र एवं पुत्रियाँ प्रतिभासम्पन्न हुये। इनके सबसे बड़े पुत्र कवि और दार्शनिक थे और उनसे छोटे महान् दार्शनिक थे तथा मँझले भारतीयों में प्रथम सिविलियन थे। इनकी एक कन्या स्वर्ण कुमारी देवी बंगाल की महिला साहित्यिकों में प्रथम कोटि की हैं। इन्होने काफी लम्बे अर्से तक भारती पत्रिका का योग्यतापूर्वक सम्पादन किया। इनके प्रपौत्र और आधुनिक भारतीय शैली के प्रवर्त्तक, और आदि गुरु अवनीन्द्रनाथ ने बंगला गद्य में एक नूतन शैली की पुष्टि की। ठाकुर भवन की प्रतिभा ने आधुनिक भारत की जातीय संस्कृति और सौन्दर्य-बोध के उद्बोधन में अपरिसीम सहायतता की है।

बंगला नाटक का मध्य युग—बंगला नाटकों के इतिहास में गिरीशचन्द्र के समान उर्वर लेखनी चलाने वाले बहुत ही कम लेखक हुये हैं। इन्होंने कुल मिलाकर अस्सी नाटकों की रचना की है। वह बंगला साहित्य के सफल नाटककार हैं। उनके नाटक संस्कृत अथवा अँग्रेजी नाटकों के अनुकरण-मात्र नहीं हैं। उनके पौराणिक नाटकों में पुराणों में वर्णित अनेक आदर्श चरित्र नूतन भाव से उपस्थित किये गये हैं। उन्होंने गृहस्थ सम्बन्धी चित्रों और वीर रसाश्रित ऐतिहासिक उपाख्यानों को अनन्य साधारण नाट्य रूप दे दिया है। जना, पाण्डवेर अज्ञातवास, चैतन्यलीला, विल्व मंगल, प्रफुल्ल आदि उनके श्रेष्ठ नाटकों में से हैं। इनके नाटकों में भक्ति एवं करुण रस दोनों का ही समन्वय मिलता है। उनके अनेक गान भी चमत्कारपूर्ण हैं।

इनमें से अश्रु कण, और आभाष आदि काव्यों की रचयिता गिरीन्द्र मोहिनी दासी की रचनाओं में शक्तिमत्ता का परिचय मिलता है।

बंकिम चन्द्र का युग—बंकिम चन्द्र की साहित्य साधना हुगली कालिज में पढ़ने के समय से ही प्रारम्भ हुई। प्रारम्भ में वे ईश्वरचन्द्र गुप्त की शैली पर कविता लिखते थे। इनकी प्रथम पुस्तक ललिता और मानस हैं। लेकिन कविता के क्षेत्र में उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। आपने अँग्रेजी का भी एक उपन्यास राजमोहनस् वाइफ लिखा जो 'इंडियन फील्ड' नामक साप्ताहिक पत्रिका में प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् उन्होंने' दुर्गेशनन्दिनी, कपाल कुण्डला, और मृणालिनी आदि उपन्यास प्रकाशित कराये। फिर उन्होंने वंगदर्शन नाम की एक छोटी सी पत्रिका भी निकाली जिसमें उन्होंने निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित कीं विषवृक्ष, इन्दिरा, युगलांयुगली, साम्य, चन्द्रशेखर, कमला कान्तेर दफ्तर, राधारानी, राजसिंह, देवी चौधरानी, आनन्द मठ, धर्मतत्व, लोक रहस्य और विविध प्रबंध आदि। उन्होंने जिस उपन्यास रचना के युग का प्रवर्तन किया वह आज भी समाप्त नहीं हुआ है। इनके पात्र-पात्री, घटना मंडल आदि सभी देशी हैं। बगला गद्य की भाषा बंकिमचन्द्र के हाथों में पड़कर और भी सरल तथा व्यवहार योग्य हो गयी। उन्होंने वाक्यों के विस्तार को घटाकर भाषा को सरल और अधिक सहज बोध्य कर दिया।

वंगदर्शन के लेखकों में बकिमचन्द्र के प्रधान सहयोगी राजकृष्ण मुखोपाध्याय और अक्षयकुमार सरकार थे। दीनबन्धु मित्र ने भी कुछ लेख लिखे थे। इनकी लेखन शैली अत्यन्त सरस और सहानुभूति प्रगाढ़ है। इन्होंने गद्य रचना में विशेष दक्षता दिखलाई है। अक्षयचन्द्र ने भी गद्य रचना में विशेष दक्षता दिखाई है। अन्य सम-सामयिक उपन्यास लेखकों में रमेशचन्द्र दत्त विशेष रूप से सफल रहे हैं। इन्होंने वंग विजेता, समाज और संसार आदि उपन्यासों की रचना की। तारकनाथ गंगोली के 'स्वर्णलता' नामक उपन्यास में दरिद्र ग्रामीण गृहस्थों का सुन्दर परिचय मिलता है। प्रतापचन्द्र घोष के बंगाधिप पराजय भी प्रकाशित हुआ। व्यंग्य और रसपूर्ण रचना में इन्द्रनाथ वंद्योपाध्याय, योगेन्द्र चन्द्र वसु, आदि ने विशेष ख्याति प्राप्त की। गम्भीर रीति के प्रबन्ध रचना में काली प्रसन्न घोष का नाम उल्लेखनीय है।

प्रबन्ध और ऐतिहासिक ग्रन्थों की रचना में रजनीकान्त गुहा ने विशेष ख्याति प्राप्त की है।

इस युग के नाट्यकारों में तीन उल्लेखनीय हैं— ज्योतिन्द्रनाथ ठाकुर, गिरीश चन्द्र घोष और अमृत लाल वसु। इनमें से प्रथम रवीन्द्रनाथ के बड़े भाई थे और संगीत तथा नाटक रचना में, अभिनय में, संगीत विद्या में, इनको असाधारण दक्षता प्राप्त थी। इनकी प्रथम नाटक रचना 'किंचित जल योग, पुरु विक्रम आदि। इनके नाटकों का खूब समादर किया गया। इनके पिता देवेन्द्र नाथ उस समय ब्रह्म समाज के मूलस्तम्भ थे। इन्होंने तत्व बोधिनी नाम की पत्रिका भी चलायी। इनके सभी पुत्र एवं पुत्रियाँ प्रतिभासम्पन्न हुये। इनके सबसे बड़े पुत्र कवि और दार्शनिक थे और उनसे छोटे महान् दार्शनिक थे तथा मँझले भारतीयों में प्रथम सिविलियन थे। इनकी एक कन्या स्वर्ण कुमारी देवी बंगाल की महिला साहित्यिकों में प्रथम कोटि की हैं। इन्होने काफी लम्बे अर्से तक भारती पत्रिका का योग्यतापूर्वक सम्पादन किया। इनके प्रपौत्र और आधुनिक भारतीय शैली के प्रवर्त्तक, और आदि गुरु अवनीन्द्रनाथ ने बंगला गद्य में एक नूतन शैली की पुष्टि की। ठाकुर भवन की प्रतिभा ने आधुनिक भारत की जातीय संस्कृति और सौन्दर्य-बोध के उद्बोधन में अपरिसीम सहायतता की है।

बंगला नाटक का मध्य युग—बंगला नाटकों के इतिहास में गिरीशचन्द्र के समान उर्वर लेखनी चलाने वाले बहुत ही कम लेखक हुये हैं। इन्होंने कुल मिलाकर अस्सी नाटकों की रचना की है। वह बंगला साहित्य के सफल नाटककार हैं। उनके नाटक संस्कृत अथवा अँग्रेजी नाटकों के अनुकरण-मात्र नहीं हैं। उनके पौराणिक नाटकों में पुराणों में वर्णित अनेक आदर्श चरित्र नूतन भाव से उपस्थित किये गये हैं। उन्होंने गृहस्थ सम्बन्धी चित्रों और वीर रसाश्रित ऐतिहासिक उपाख्यानों को अनन्य साधारण नाट्य रूप दे दिया है। जना, पाण्डवेर अज्ञातवास, चैतन्यलीला, विल्व मंगल, प्रफुल्ल आदि उनके श्रेष्ठ नाटकों में से हैं। इनके नाटकों में भक्ति एवं करुण रस दोनों का ही समन्वय मिलता है। उनके अनेक गान भी चमत्कारपूर्ण हैं।

इसके अलावा अमृतलाल वसु भी सुदक्ष अभिनेता और यशस्वी नाटककार थे। सरस रचना में इनका जोड़ नहीं है। गद्य व्यंग्य रचना में गल्प तथा नक्शा लिखने में अमृतलाल ने विशेष दक्षता प्रकट की है। इनकी श्रेष्ठ रचनायें विवाह, तरु बाला, विभ्राट आदि हैं। इस युग के नाटककारों में बिहारी लाल भट्टाचार्य और राजकृष्णराय का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने काव्य, उपन्यास, नाटक आदि सभीकुछ लिखा है। परवर्ती नाटककारों में क्षीरोद प्रसाद और विद्या विनोद के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने अनेकों नाटकों और उत्कृष्ट उपन्यासों की रचना की है। इनका गीत नाट्य अलीबाबा बंगला रंगमंच पर नित्य नूतन बना रहा है। द्विजेन्द्रलालराय ने भी कवि और नाटककार के रूप में पर्याप्त प्रसिद्धि अर्जित की है। इनके नाटक नाटक की दृष्टि से प्राण-हीन हैं। लेकिन राय यदि नाटककार के रूप नहीं तो हास्यगान के रचयिता के रूप में ही अमर रहेंगे।

रवीन्द्र युग—बंगला साहित्य के इतिहास में रवीन्द्र का आविर्भाव एक महान् क्रान्तिकारी घटना थी। उन्होंने अपनी १२-१३ वर्ष की छोटी सी अवस्था से ही गद्य-पद्य रचना प्रारम्भ कर दी थी। इनफा प्रथम काव्य ग्रन्थ 'वन फूल' है। इनके प्रथम गद्य प्रबंध 'भुवन मनमोहिनी प्रतिभा, अवसर, सरोजिनी और दुःख संगिनी आदि थे। इनका द्वितीय काव्य ग्रन्थ कवि-कहानी था। १८८४ में जब द्विजेन्द्रनाथ ने भारती पत्रिका चलाई तो कवि इसमें निरन्तर रूप से लिखने लगे। इसमें उनकी सभी गद्य-पद्य रचनायें प्रकाशित होने लगीं। प्रारम्भ में उन्होंने ब्रजबोली के पदों की रचना की जिसे उन्होंने भानुसिंह ठाकुर की पदावली के नाम से प्रकाशित कराया। यह बाल्यकाल की रचना होते हुये भी अत्यन्त चमत्कारपूर्ण है। इसके पश्चात् उनका प्रथम गीत नाट्य 'बाल्मीकि प्रतिभा' रचा गया। १८६२ में उनका सांध्य गीत प्रकाशित हुआ। फिर भारती में ही उनका प्रथम उपन्यास 'करुणा' प्रकाशित हुआ। दूसरी रचना बहू ठकुरानी की हाट एक उत्कृष्ट रचना है। इसके पश्चात् 'कड़ि ओ कोमल' तथा 'मानसी' नामक काव्य में कवि की भावनायें प्रस्फुटित हुई हैं। उस समय कवि यौवनावस्था पर थे, अतः मानसी प्रेम विषयक कविताओं का है। इसके बाद कवि ने सोनार तरी प्रकाशित की। 'साधना' नाम की

पत्रिका में भी कवि ने यथेष्ट मात्रा में लिखा।

१८९६ में कवि ने बंगला साहित्य में प्रथम बार छोटी-छोटी गल्पों की सृष्टि की। इसका इन्होंने प्रथम बार सूत्रपात किया। रवीन्द्रनाथ विश्वभर के श्रेष्ठ कहानी लेखकों में हैं। उनकी पहली छः छोटी कहानियाँ हितवादी नामक पत्रिका में प्रकाशित हुईं। फिर उनकी अन्य कहानियाँ वंग दर्शन, सब्रज पुत्र और प्रवासी आदि में क्रमशः रूप से प्रकाशित होती रही थीं। १९०० में प्रकाशित 'क्षणिका' नामक काव्य में कवि ने अपना स्वर बदल दिया है। इस के पश्चात् उनकी विश्व प्रसिद्ध रचना 'गीताञ्जलि' आती है जिसका अनुवाद पृथ्वी की समस्त श्रेष्ठ भाषाओं में हो चुका है। फिर कवि ने 'राजर्षि' नामक उपन्यास की रचना की है। उनके अन्य उपन्यास चोखर बाल, नौकाडूबी, गोरा और प्रवासी आदि हैं। गोरा की भाषा पहले की अपेक्षा सरल एवं सुन्दर है। इसके पश्चात् 'प्रवासी' में कवि की 'जीवन स्मृति' प्रकाशित हुई। यह इनका एक श्रेष्ठ गद्य ग्रन्थ है। इसके पश्चात् उन्होंने 'घर बाहिरे' नामक उपन्यास की रचना की। उनके उपन्यास और बड़ी-बड़ी कहानियों में 'योगायोग' और शेशेर नामक कविता उल्लेखनीय हैं। इनके अन्य काव्य ग्रन्थ 'पतालका, पूर्वी, प्रवाहिनी, शिशु भोलानाथ, महुआ, वनवाणी, परिशेषे, पुनश्च, वीथिका उल्लेखनीय काव्य ग्रंथ प्रकाशित हुये हैं। कुछ ही समय पूर्व प्रकाशित 'प्रांतिक आदि सुजुन्ति, और आकाशदीप' से पता चलता है कि उन्होंने बाद में गद्य कविता की रचना के मोह को त्याग दिया था। उनकी शेषेर कविता में नूतन शैली का प्रयोग किया गया है।

बंगला काव्य में रवीन्द्रनाथ जो एक नवीन शोभा लाये हैं उससे बंगला साहित्य का रूप एकदम बदल गया है। रवीन्द्रनाथ के काव्य में भारतीय आध्यात्मिक चिन्तनधारा का प्रवाह टूटा नहीं है। भारतीय संस्कृति के प्रति इनकी असाधारण श्रद्धा थी। उनका वह छोटा सा शान्ति निकेतन अब विश्व भारती के विराट रूप में बदल गया है। यह आज कल भारतवर्ष में शिक्षा और संस्कृति के अनुशीलन की श्रेष्ठ संस्था है। उनके द्वारा प्रवर्तित काव्य धारा में कवि चेतना ने ओतप्रोत होकर एक अखण्ड रूप प्राप्त किया है।

आधुनिक काल में बंगाल के सबसे अधिक जनप्रिय उपन्यास और कहानी लेखक शरत बाबू हैं। उनकी प्रथम प्रकाशित रचना 'बड़ी दीदी' भारतीय पत्रिका में प्रकाशित हुई। इसके कुछ वर्ष बाद 'यमुना' पत्रिका में 'विन्दो का छल्ला, राम की सुमति, और चरित्रहीन' नामक उपन्यास का कुछ भाग प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् वे भारतवर्ष पत्रिका में निरन्तर रूप से लिखने लगे। इसमें उनकी विराज बहू, अरक्षनीया, पल्लेर समाज, श्रीकान्त की भ्रमण कथा आदि श्रेष्ठ कहानियाँ प्रकाशित हुईं जिन्होंने बरबस ही बंगाली पाठकों का मन मोह लिया। फिर तो शरत जी निरन्तर मृत्यु पर्यन्त कुछ न कुछ बंगला साहित्य को देते ही रहे।

शरत् की गद्य शैली की अपनी एक प्रभृति पूर्ण विशेषता है जो अन्य किसी की रचना में दिखाई नहीं देती। उनकी भाषा बड़ी ही सरल और विषय-वस्तु का अनुसरण करने वाली है। उन्होंने अपनी प्रतिभा का जो किरण-जाल फैलाया है वह उनकी असाधारण क्षमता का परिचायक है। उनके पात्र अधिकतर मध्य कोटि समाज के जीते जागते मनुष्य हैं। दुःखी एवं पीड़ित जन के प्रति उनकी समवेदना ही उनके साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है। उनकी रचनाओं के पात्र साधारण भलाई-बुराई से घिरे हुये दरिद्र लोग हैं। उनके ज्वलंत भावपूर्ण चित्र बरबस ही पाठकों का मन हर लेते हैं।

इसी युग के लेखकों में केदारनाथ बनर्जी ने कविता, कहानी, उपन्यास आदि सभी कुछ लिखा है। राज शेखर वसु की कहानियाँ भी अद्वितीय हैं। परशुराम की हास्य प्रधान कहानियाँ भी उच्च कोटि की हैं। अन्य लेखकों में प्रबोध कुमार सान्याल, प्रेमेन्द्र मित्र, अचिन्त्य कुमार सेनगुप्त, बुद्धदेव वसु, अन्नदाशंकर राय, सरोज कुमार राय चौधरी, तारा शंकर वन्द्योपाध्याय, प्रमथनाथ आदि भी अच्छे कहानी लेखक हैं। बालाईचन्द्र मुखर्जी लघु कहानियों के लिये प्रसिद्ध हैं।

अति आधुनिक समय में बंगाल में अनेकों शक्तिशाली लेखक बंगला साहित्य की श्रीवृद्धि कर रहे हैं। इस प्रकार बंगला साहित्य भारतीय साहित्य की महान् सम्पत्ति है और बंगाल को अपने रवीन्द्र, शरत, बंकिम, माइकेल मधुसूदन आदि लेखकों पर उचित गर्व भी है।

गुजराती

भाषा, सिन्धी, पंजाबी मारवाड़ी आदि इसी से उत्पन्न हुई हैं। गुजराती का प्रादुर्भाव भी इसी से हुआ है। ११ वीं शताब्दी और १४ वीं शताब्दी के बीच की भाषा को विद्वानों ने गुर्जर अपभ्रंश का नाम दिया है। यह गुर्जर अपभ्रंश नागर अपभ्रंश से की अनुवर्ती है और इसी गुर्जर अपभ्रंश से गुजराती का जन्म १० वीं शताब्दी के लगभग हुआ है। जो नागर अपभ्रंश ११ वीं शताब्दी से लेकर १४ वीं शताब्दी तक गुर्जर अपभ्रंश के नाम से पुकारी जाती रही थी उसी भाषा का १५ वीं शताब्दी से लेकर १७ वीं शताब्दी तक जो रूप प्रकाशित हुआ उसे प्राचीन गुजराती कहा गया। इस प्रकार गुजराती की उत्पत्ति नागर अपभ्रंश की अनुवर्ती गुर्जर अपभ्रंश से हुई है तथा इस भाषा को संस्कृत व्याकरण के आधार पर व्यवस्थित किया गया है तथा अन्य भारतीय आर्य भाषाओं तथा अरबी, फारसी, अँग्रेजी पोर्तगीज भाषाओं के कुछ शब्दों से इसके शब्द भण्डार को भरा पूरा बनाया गया है।

गुजराती भाषा का नामकरण—गुजराती भाषा का नाम गुजराती क्यों पड़ा—यह शंका उठना स्वाभाविक है। बात यह है कि चालुक्यों के समय से ही गुजरातीं भाषा-भाषी प्रदेश का नाम "गुर्जर देश" हो गया था। कालान्तर में 'गुर्जर देश' 'गुजरात' हो गया। पहले इस भाषा को 'प्राकृत' नाम ही दिया गया था। नरसिंह महता से लेकर संवत् १८८० तक सभी कवियों एवं लेखकों ने उसे 'प्राकृत' नाम ही दिया है। नरसिंह महता ने एक स्थान पर इसका नाम 'अपभ्रष्ट गिरा' भी दिया है और मालंग कवि ने भी "गुर्जर भाषा" के नाम से इसे अभिहित किया है; किन्तु उनके द्वारा "गुर्जर भाषा" के नाम से पुकारा जाना अपवादस्वरूप ही है अन्यथा तो सभी ने इसे प्राकृत भाषा के नाम से ही पुकारा है।

सर्वप्रथम प्रेमानन्द कवि ने—जिनका समय सन् १६३६ से लेकर १७२४ तक के लगभग बताया जाता है—इस भाषा को गुजराती नाम दिया था।

गुजराती साहित्य के इतिहास का काल विभाजन—

गुजराती साहित्य के इतिहास लेखकों ने गुजराती साहित्य के इतिहास का प्रायः पृथक-पृथक ढंग से काल-विभाजन किया है। श्री हिम्मत लाल

गणेशजी पुंजारिया ने गुजराती साहित्य के इतिहास के काल-विभाग इस प्रकार किये है—

(१) नरसिंह युग,
(२) मीरा नाकर युग,
(३) अखो प्रेमानन्द युग,
(४) शामल मुग,
(५) प्रीतम युग,
(६) दयाराम युग,
(७) नर्मद-दलपतराय युग,
(८) गोवर्द्धन युग, और
(९) न्हानालाल-गांधी युग

"Mile Stones In Gujrati Literature" नामक ग्रन्थ में श्री कृष्ण-लाल मोहनलाल झबेरी ने गुजराती साहित्य को दो भागों में बाँटकर प्रथम भाग में १५ वीं, १६ वीं, १७ वीं, १८ वीं और १९ वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध तक प्रत्येक शताब्दी के कवियों का साहित्यिक मूल्यांकन प्रस्तुत कर दिया है फिर द्वितीय भाग में १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर आधुनिक पद्य और गद्य साहित्य की प्रगति का मूल्यांकन प्रस्तुत कर दिया है।

"गुजराती साहित्यनी रूपरेखा" ग्रन्थ में लेखक श्री विजयराज वैद्य ने सम्पूर्ण गुजराती साहित्य के इतिहास को पहले प्रमुख रूप से मध्यकाल और अर्वाचीन काल इन दो कालों में विभाजित कर दिया है। अर्वाचीन काल को उन्होंने पुनः निम्न काल में विभाजित किया है—

(१) नर्मद युग,
(२) गोवर्द्धन युग और
(३) आधुनिक युग।

श्री केशवराम शास्त्री ने अंजारिया जी के काल-विभाजन में ही अल्प रूप से हेर-फेर करके जो काल-विभाजन प्रस्तुत किया है वह निम्न प्रकार है—

(१) हेमचन्द्र युग,
(२) रास युग,
(३) नरसिंह युग,
(४) नाकर युग,
(५) प्रेमानन्द युग,
(६) शामल युग,
(७) दयाराम युग,
(८) दलपत-नर्मद युग,
(९) गोवर्द्धन युग और
(१०) गांधी युग ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से गुजराती साहित्य के इतिहास का विभाजन किया है। सुविधा के तौर पर हम डा० पद्मसिंह शर्मा "कमलेश" के "गुजराती और उसका साहित्य" नामक पुस्तक के आधार पर निम्न तीन कालों में गुजराती साहित्य के इतिहास का विभाजन कर सकते हैं—

(१) **आदिकाल**—सन् १००० से १५०० तक,
(२) **मध्यकाल**—सन् १५०० से १८५० तक और
(३) **आधुनिक युग**— सन् १८५० से आज तक ।

आदिकाल

कुछ समय तक तो यह माना जाता रहा कि नरसिंह मेहता ही गुजराती साहित्य के आदि कवि हैं। किन्तु शोध के पश्चात् यह मालूम पड़ा कि नरसिंह मेहता के तीन चार सौ वर्ष पूर्व से गुजराती साहित्य में रचना होती थी। नरसिंह मेहता से पूर्व का साहित्य प्राय: साम्प्रदायिक है और वह जैन मुनियों और कवियों द्वारा प्रणीत है। जैन लोगों के अतिरिक्त भी मेहता से पूर्व साहित्य रचा गया किन्तु वह अत्यल्प है। मेहता से पूर्व के इस काल को ही आदिकाल कहा गया है।

तत्कालीन परिस्थितियाँ—जब गुजराती साहित्य अस्तित्व में आ रहा

था उस समय मुसलमानों के आक्रमण निरन्तर हो रहे थे। मुसलमानों के इन आक्रमणों से शान्ति और सुव्यवस्था का अभाव हो गया था। ब्राह्मणों का अस्तित्व भी ऐसे संकट काल में खतरे में पड़ गया था। वे लोग शान्ति और आश्रय की खोज में इधर-उधर भटकने लगे। ब्राह्मणों के इस तरह छिन्न-भिन्न होने से संस्कृत का प्रभाव क्षीण पड़ने लगा और अपभ्रंश तथा अपभ्रंश प्रभावित जनभाषा प्राचीन गुजराती में साहित्य सृजन होने लगा। जब विदेशियों के आक्रमण होते हैं तो ऐसे संकट काल में शुद्ध साहित्य का सृजन होना वैसे भी कठिन होता है अतः जनकोलाहल से दूर जैन साधू एकान्त में निश्चिन्तता से धार्मिक रचनाएँ इसी अपभ्रंश प्रभावित गुजराती में किया करते थे। यही कारण है कि प्राचीन गुजराती साहित्य विशुद्ध साहित्य की कोटि में न आकर प्रचारात्मक धार्मिक साहित्य है, जिसे विद्वानों ने साम्प्रदायिक साहित्य भी कहा है। और यही कारण है कि वह ब्राह्मणों द्वारा प्रणीत न होकर एकान्त प्रेमी जैन साधुओं द्वारा लिखा गया है। सिद्धराज और कुमार पाल इसी युग के शासक थे। हेमचन्द्राचार्य इसी युग की सृष्टि थे।

आदि काल के साहित्य की विशेषताएँ—

आदिकाल के साहित्य की संक्षेप में निम्न विशेषताएँ हैं—

(१) इस काल का साहित्य अधिकांशतः जैनों द्वारा रचित है।

(२) इस काल का साहित्य अधिकतर प्रचारात्मक है और धार्मिक भावना को लेकर लिखा गया है।

(३) इस काल में रास, फागु, और बारहमासा जैसे तीन रूपों में साहित्य रचा गया।

(४) जैन साधु चूँकि निवृत्तिवादी दर्शन के अनुयायी थे अतः इस काल के साहित्य में त्याग, वैराग्य आदि निवृत्तिवादी सिद्धान्तों का वर्णन अधिक मिलता है।

(५) गुजराती साहित्य के पाणिनि समझे जाने वाले हेमचन्द्राचार्य इसी युग में हुए। उनके व्याकरण के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में कुछ दोहे भी संग्रहीत हुए है जो धार्मिक उपदेश से सम्बन्धित होने के अतिरिक्त वीर और शृङ्गार विषयक भी हैं।

(६) नीति और उपदेश विषयक धार्मिक साहित्य होने के कारण यह उतना सरस नहीं हो पाया है जैसा कि होना चाहिये। उसमें भाव की विविधता और गहराई तो कम देखने को मिलती ही है, साथ ही कला के तत्व भी परिपक्व रूप में नहीं मिलते।

इस काल के साहित्य को भाषा की दृष्टि से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं— एक तो अपभ्रंश में रचा साहित्य और दूसरा अपभ्रंश प्रभावित प्राचीन गुजराती में रचा साहित्य। यहाँ हम क्रमशः दोनों ही प्रकार के साहित्य का संक्षेप में परिचय देंगे।

अपभ्रंश का साहित्य—अपभ्रंश में सबसे पुरानी रचना **धनपाल** रचित "भविसयत्त कथा" मिलती है। धनपाल का समय ९०० ई० के आसपास माना जाता है। "भविसयत्त कथा" धर्म कथा है, जिसमें पुराणों के ढंग की कहानियों को रखा गया है। इस युग की महान् विभूति है।

हेमचन्द्र—हेमचन्द्र से भी प्राचीन गुजराती साहित्य के सम्बन्ध में थोड़ा पता लगता है। इन्होंने व्याकरण, छन्दशास्त्र, काव्य शास्त्र, तर्क शास्त्र, काव्य, पौराणिक कथा, जीवन चरित्र, आदि अनेक विषयों से सम्बन्धित साहित्य का सृजन किया। वस्तुतः ये बहुमुखी प्रतिभा के जीव थे। इनका "द्वायाश्रय" नामक काव्य बड़ा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। "कुमार पाल चरित" भी इनका महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त अपभ्रंश में "मोहराजपराजय" नामक नाटक के रचयिता **यशपाल**, "कुमारपाल प्रतिबोध" के रचयिता **सोमप्रभ**, "कीर्ति कौमुदी" और "सुरभोत्सव" नामक महाकाव्यों के रचयिता **सोमेश्वर** आदि कवि भी हुए।

अपभ्रंश प्रभावित प्राचीन गुजराती साहित्य—प्राचीन गुजराती साहित्य में प्रमुखतः तीन प्रकार की रचनाएँ हुईं।

१, रास,

२. फागु और

३. बारहमासी।

अब हम क्रमशः इन्हीं काव्य रूपों का संक्षेप परिचय देंगे और प्रमुख रचनाओं तथा रचयिताओं का उल्लेख करेंगे—

(१) **रास**—पहले 'रास' एक विशेष प्रकार का नृत्य था जिसमें स्त्री और पुरुष मिलकर शृङ्गार आदि कोमल भावनाओं से सम्बन्धित गीतों को गाकर नाचते थे। किन्तु ११ वीं शताब्दी के अंत तक आते आते 'रास' शब्द का अर्थ बदल गया और वह ऐसे अर्थ में प्रयुक्त किया जाने लगा जो तुकान्त पद्य में हो और लम्बे वर्णनों से युक्त हो। ये पद्य या तो अपभ्रंश के 'दूहा' और 'चौपाई' छन्दों में होते थे या गुजरात में प्रचलित देशी रागों में। अपभ्रंश भाषा के धार्मिक उपदेश-प्रधान, रास, चर्चरी आदि काव्य रूपों का प्राचीन गुजराती में विकास हुआ। जैन कवियों ने अपने धर्म के प्रचार हेतु रास की रचना की—इसमें 'रास' की लोकप्रियता का अनुमान होता है। जैन मत में शृङ्गार की प्रायः अवहेलना की जाती है और त्याग, वैराग्य को प्रधानता दी जाती है अतः जैनों द्वारा रचित 'रास' काव्य में संगीत और नृत्य तत्व का ह्रास होता गया। आदिकाल में सैंकड़ों की संख्या में 'रास' लिखे गये किन्तु उनमें से अधिकांशतः केवल उपदेश और धार्मिक प्रचार से भरे होने के कारण महत्वहीन हैं। केवल निम्न कुछ 'रास' काव्य ही उल्लेख्य हैं—

(२) '**भरतेश्वर बाहुबलीरास**—शालिभद्र सूर द्वारा रचित।

(२) '**जम्बू स्वामी चरित्र**' और '**स्थूलिभद्र रास**'—इन दोनों के रचयिता धर्म नाम के कवि थे।

(३) '**समरा रासु**'—इस रास की रचना अम्बदेव सूरि ने की थी।

(?) **फागु**—'फागु' जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है वसंत ऋतु के प्रमुख उत्सव फाग से सम्बंधित है। वसंत उत्सव में जो रास का आयोजन किया जाता है उसी से सम्बन्धित 'फागु' होते हैं। 'फागु' में वसंत काल की सुषमा, प्रेमी-प्रेमिकाओं की प्रेम-पूर्ण चेष्टाओं, नृत्यों आदि का समावेश होता था। इस प्रकार इसमें शृङ्गार की प्रधानता रहती थी। जैनों ने इस लोक प्रचलित काव्य रूप को अपने धर्म का उपदेश देने का माध्यम बनाया और उसमें त्याग, तप, संयम आदि निवृत्तिवादी उपदेशों की प्रधानता रही; किन्तु फिर भी वे शृङ्गार की पूर्ण अवहेलना न कर सके। बीच में शृंगारिक वर्णन करने के उपरान्त जैनाचार्य अन्त में त्याग, तप, संयम आदि की विजय दिखाकर

जैनधर्म की महत्ता घोषित करते थे। प्रमुख फागु काव्यों का नीचे उल्लेख किया जाता है—

(१) **सिरि थूलिभद्द फागु**—जिन पद्मसूरि द्वारा रचित यह फागु काव्य दोहरा और रोलावृत्त में लिखा गया है तथा यह प्रथम फागु काव्य माना जाता है।

(२) **नेमिनाथ फागु**—इसके रचयिता राजशेखर हैं।

(३) **वसंत विलास**—यह गुजराती का सर्वश्रेष्ठ फागु काव्य माना जाता है। इस काव्य के रचयिता के संबन्ध में ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है, तथापि कुछ लोग दर्वयादवोंशी को इसका रचियता बताते हैं।

(४) नर्तर्षि द्वारा रचित 'फागु' भी इस काल की प्रसिद्ध रचना है।

(३) **बारहमासी**—इसमें काव्यपूर्ण पद्धति में बारह महीनों का वर्णन होता है। इस प्रकार के काव्य प्रायः विरह शृङ्गार प्रधान होते हैं, फलतः इन काव्यों में करुणा का पुट भी स्थान-स्थान पर रहता है। इन काव्यों में प्रायः विरह के उपरान्त अन्त में नायक-नायिका का मिलन दिखाया जाता है। जैनाचार्यों ने इसे भी अपने धार्मिक उपदेश का साधत बनाया है। **"नेमिनाथ चतुष्पदिका"** जैसे बारहमासी काव्य में जैन मत का प्रचार किया गया है। यह गुजराती भाषा का प्रथम और सर्वश्रेष्ठ बारहमासी काव्य माना जाता है। इसके रचयिता विनयचन्द्र माने जाते हैं।

अन्य काव्य—इस काव्य में 'मात्रका' और 'कक्को' प्रकार के काव्य भी लिखे गये। **'प्रबोध चिन्तामणि'** (जयशेखर सूरिकृत) नामक रूपक काव्य भी इस काल की देन है। जयशेखर सूरि में 'जैन कुमार सम्भव' और 'धाम्मिल चरित्र' जैसे महाकाव्यों की रचना भी इसी काल में की।

जैनों के अतिरिक्त भी इस काल में अन्य कुछ लोगों ने काव्य लिखे हैं, जिनमें कुछ प्रमुख काव्यों का उल्लेख नीचे किया जाता है—

(१) **हंसाउली**—जैनेतर कवियों द्वारा रचित कृतियों में यह गुजराती की सबसे पुरानी रचना मानी जाती है। इसके रचयिता असायत बताये जाते हैं।

(२) **रणमल्ल छन्द**—श्रीधर नामक कवि ने इस वीर काव्य की रचना यह गुजराती का सबसे पुराना वीर काव्य है।

(३) **'सदयवत्स चरित'**— इसके रचयिता भीम माने जाते हैं।

(४) **'संदेश रासक'**—मुसलमान कवि अब्दुर्रहमान द्वारा रचित यह संदेश काव्य विरह शृङ्गार की अत्यन्त मार्मिक रचना है। अपभ्रंश का प्रभाव इस काव्य पर बहुत अधिक है।

इस काल मे गद्य भी लिखा गया। यद्यपि इस काल की गद्य-रचना अप्रौढ़ और अव्यवस्थित है तथापि अत्यन्त प्राचीन काल में रचित होने के कारण उसका महत्व है ही। **'प्रतिक्रमण बालाबोध'** (तरुण प्रभु कृत) **'उपदेशमाला'** (सोमसुन्दर सूरिकृत) **'मुग्धावबोध औक्तिक'** (कुल मंडन गणि-कृत), **'पृथ्वीचन्द्र चरित्र'** (मणिक सुन्दर द्वारा रचित) आदि इस काल की प्रमुख गद्य-रचनाएँ हैं।

मध्यकाल

सन् १५०० से १८५० ई० तक रचा हुआ गुजराती साहित्य मध्यकाल के अन्तर्गत आता है। सन् १५३६ से पहले सन् १४११ ई० तक गुजरात पर अहमदाबाद के सुल्तानों का राज्य था। १५३६ ई० के अन्तिम सुल्तान बहादुरशाह की मृत्यु होने पर प्रान्त भर में अव्यवस्था फैल गई। अव्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि गुजरात को १५७३ ई० में मुगल सम्राट अकबर ने अपने अधीन कर लिया। इस प्रकार १५७३ ई० से १७०७ ई० तक गुजरात प्रदेश मुगल साम्राज्य का एक अंग बना रहा। मुसलमान शासकों के निरन्तर अधीन रहने से हिन्दुओं में निराशा और उदासीनता का भाव फैल गया था। मुसलमानों ने केवल राजनीतिक शासन ही नहीं अपितु हिन्दुओं के मन्दिरों को ढहाकर, मूर्तियों को खण्डित करके उनके हृदय पर आतंकपूर्ण शासन करना चाहा। अपने धर्म की रक्षा करने के लिये आचार्यों ने पुराणों और महाकाव्यों का आश्रय लिया। जो परिस्थितियाँ हिन्दी में भक्ति काल के समय थी लगभग वही परिस्थितियाँ गुजराती में मध्यकालीन साहित्य के आविर्भाव के समय थीं। ऐसी परिस्थितियों में कवियों और आचार्यों ने भक्ति-साहित्य और ग्रन्थों की रचना कर अपने धर्म से उदासीन हिन्दू जनता में भक्ति और आशा का संचार किया।

मध्यकालीन काव्य की विशेषताएँ—

मध्यकालीन साहित्य की संक्षेप में निम्न विशेषताएँ कथित की जा सकती हैं—

(१) इस काल में रचे काव्य में भक्ति की प्रधानता थी।

(२) श्रीकृष्ण की भक्ति ही इस काल के काव्य में प्रमुख है। अतः अधिकांश प्रमुख कवियों ने श्रीकृष्ण के जीवन-चरित सम्बन्धी काव्य लिखे हैं।

(३) यद्यपि श्रीकृष्ण की भक्ति ही प्रधान रही तथापि श्रीराम के सम्बन्ध में भी कुछ कविताओं की रचना हुई। इसी प्रकार शिव, देवी (माता) आदि की भक्ति के सम्बन्ध में भी कविताएँ लिखी गई।

(४) इस काल में रचे गये काव्य में सरसता का गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। वह आदि काल के काव्य की भाँति मात्र उपदेशात्मक और धार्मिक नहीं है। इस काल के काव्य को रसमय और विशुद्ध काव्य के अंतर्गत रख सकते हैं।

(६) मध्यकालीन काव्य में आदिकालीन काव्य की अपेक्षा वैविध्य भी है। तात्पर्य यह है कि यदि एक ओर सगुण भक्ति सम्बन्धी काव्य है तो दूसरी ओर अखो जैसे निर्गुण भक्त कवि भी वहाँ मौजूद हैं। यदि एक ओर कृष्ण से सम्बन्धित काव्य है तो दूसरी ओर अल्प मात्रा में ही सही श्रीराम, शिव आदि से सम्बन्धित काव्य भी है। यदि एक ओर किसी कथा का वर्णन करने वाले आख्यान या प्रबन्ध काव्य हैं तो दूसरी ओर नरसिंह मेहता, मीराबाई जैसे कवियों की आत्म प्रधान मूलक कविताएँ भी हैं।

(७) आदिकाल में तो जैन धर्म का प्रभुत्व रहा किन्तु इस काल के काव्य को हम अधिकतर वैष्णव भक्ति में रंगा पाते हैं।

(८) भक्ति शृङ्गार की प्रधानता होते हुए भी इस काल के काव्य में ज्ञान, वैराग्य आदि की रचनाएँ भी मिलती हैं।

(८) अलंकार, भाषा, छन्द आदि कला के तत्वों का इस काल के काव्य में पर्याप्त निखार मिलता है।

मध्यकालीन काव्य के प्रमुख कवि और उनकी कृतियाँ—

मध्यकाल में विपुल परिमाण में काव्य-रचना हुई है। इस काल की काव्य कृतियों को हम चार कोटियों में रख सकते हैं—

(१) भक्ति प्रधान काव्य,
(२) आख्यान काव्य,
(३) ज्ञान वैराग्य प्रधान काव्य और
(४) पद्य वार्ता काव्य।

(१) **भक्ति प्रधान काव्य**—इस काल की प्रमुख प्रवृत्ति ही भक्ति की कविता करना था। भक्ति काव्य लिखने वाले कुछ प्रमुख कृतिकारों का उल्लेख नीचे किया जाता है।

१—**नरसिंह मेहता**—नरसिंह मेहता बहुत काल तक गुजराती साहित्य के आदि कवि के रूप में विख्यात रहे हैं। मध्यकालीन कवियों में तो यह सिरमौर हैं ही। इन्होंने श्रीकृष्ण की भक्ति में बड़ी ही सरस और सुन्दर कविताओं की रचना की है। इनकी रचनाओं में 'हारमाला', 'सामलशाह का विवाह', 'शृङ्गार माला,' 'रास सहस्त्रपदी,' 'चातुरी', 'सुदामा चरित,' 'हूँडी', 'मामेरूँ' आदि प्रसिद्ध हैं।

२—**मीरा**—हिन्दी की भाँति गुजराती भाषी भी मीरा को अपनी बताते हैं। वास्तव में मीरा का प्रादुर्भाव जब हुआ उस समय राजस्थानी और गुजराती में बहुत अन्तर नहीं था। मीरा के काव्य में राजस्थानी और ब्रजभाषा ऐसी मिली जुली है कि राजस्थानी उसे अपना बताते ही हैं, ब्रजभाषा वाले भी उसे अपना बताते हैं और गुजराती उसे अपना बताते हैं। मीरा का जीवन गुजरात, राजस्थान और ब्रज तीनों ही प्रदेशों में बीता था अतः तीनों ही प्रदेशों के व्यक्ति मीरा को अपना सिद्ध करते हैं। यह तो जग प्रसिद्ध है कि मीरा कृष्ण के प्रेम में दिवानी होकर गाया करती थी। प्रेम के आवेश में उन्होंने जो भी गाया वह गीत बन गया। मीरा के प्रमुख काव्य-ग्रन्थ 'नरसी जी का मायरा', 'राग गोविन्द', 'सोरठ के पद', 'गर्वागीत' आदि बताये जाते हैं, इनके अतिरिक्त उनके फुटकर पद भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

नरसिंह मेहता और मीरा के अतिरिक्त भक्तिकाव्य रचने वाले ऐसे भी हुए जो **स्वामी नारायण सम्प्रदाय से प्रभावित थे। इनमें मुक्तानन्द, प्रेमानंद, निषुलानन्द, देवानंद** आदि के नाम प्रमुख हैं।

मीरा के अतिरिक्त गुजराती भाषा में कुछ और भी कवयित्रियाँ हुईं, जिनमें **दीवालीबाई, राधाबाई, पुरीबाई, कृष्णबाई, गौरीबाई** आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

(२) **आख्यान काव्य**—'रामायण', 'महाभारत' आदि में जो दृष्टान्त रूप में जो छोटी-छोटी कथाएँ हैं उनको विस्तार देकर स्वतंत्र आख्यान काव्य का रूप दिया गया है। संस्कृत के महाकाव्यों की भाँति आख्यान काव्य में भी प्रारम्भ में मंगलाचरण होता है और कथा कई सर्गों में विभक्त होती है। सर्गों को 'कड़वा' कहते हैं। अन्त में 'फलश्रुति' (कान से सुनने का फल) भी वर्णित रहता है। **भालण** नाम के कवि प्रथम आख्यानकार माने जाते हैं। भालण ने 'नलाख्यान', 'ध्रुवाख्यान', 'दुर्वासाख्यान', 'दसमस्कंध आख्यान' आदि आख्यान काव्य लिखे हैं। भालण के अतिरिक्त **पद्मनाभ, भीम, केशवदास, माँडण बँधारो, नाकर, विष्णुदास, विश्वनाथ ज्ञानी, प्रेमानन्द** आदि आख्यानकार भी हुए हैं। इनमें प्रेमानन्द गुजराती साहित्य के सर्वश्रेष्ठ आख्यानकार माने जाते हैं।

(३) **वैराग्य और ज्ञान प्रधान काव्य**—मुगलों के पतन से पुनः विदेशियों द्वारा गुजरात पदाक्रान्त होने लगा। जो लोग भक्ति की मस्ती में अपने को डुबोये हुए थे वे संघर्ष को देखकर अपनी मस्ती को बनाये न रख सके। फलतः उदासीनता और वैराग्य की भावना जोर पकड़ने लगी। यह विरक्ति की भावना काव्य में भी प्रतिफलित हुई। वैराग्य और विरक्ति के इन भावों को समाज के निम्न वर्ग में से आये कवियों ने ही अधिक व्यक्त किया है और इसका कारण भी स्पष्ट है। निम्न वर्ग के व्यक्ति दुहरे प्रकार से पीड़ित थे। तत्कालीन राजनीतिक अशान्ति तो उनमें विरक्ति को जन्म दे ही रही थी—समाज द्वारा प्रदत्त स्थिति भी उनकी दयनीय थी और मन को संसार के प्रति विरक्त करने वाली थी। उच्च वर्ग के प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा निम्न वर्ग के लोगों को अपमानित होना पड़ता था अतः उदासीनता का आ जाना स्वाभाविक ही की है।

था। इस धारा के कवि प्रायः पढ़े लिखे कम थे अतः उनके काव्य में कला की पच्चीकारी कम देखने को मिलती है किन्तु अनुभूति की सच्चाई उनके काव्य में है। अखो अथवा **अखा भगत** इस धारा के प्रथम और प्रमुख कवि हैं। ये जाति के सुनार थे और उनके जीवन में कुछ घटनाएँ घटीं जिनसे उनके भावुक मन पर आघात पहुँचा और ये इस संसार के प्रति विरक्त हो गये। उन्होंने अपने काव्य में कबीर की भाँति धार्मिक आडम्बर और सामाजिक पाखंड पर चोट की है और वास्तविक ज्ञान के मर्म को प्रतिपादित किया है। कबीर की भाँति ये भी वेदान्त से प्रभावित थे। उन्होंने 'अखे गीत', 'अनुभव विन्दु', पंचीकरण", 'चित्तविचार संवाद', 'कैवल्यगीता' आदि कृतियों की रचना की है। गुजराती भाषा के अतिरिक्त इन्होंने हिन्दी भाषा में भी लिखा है, उनकी 'ब्रह्मलीला' काव्य कृति हिन्दी की ही रचना है।

अखो के अतिरिक्त इस काल में **प्रीतमदास, धीराभगत, नीरान्त भगत, भोजाभगत,** आदि कवि हुए जिन्होंने ज्ञान और वैराग्य प्रधान काव्यों की रचना की।

(४) **पद्यवार्त्ता**—'पंचतंत्र', 'जातककथा', 'वृहत्कथा', 'कथा साहित्सागर', 'वैतालपंचदिशतिका' आदि मनोरंजक कथाओं की भाँति गुजराती में कई मनोरंजक कथा-काव्य लिखे गये जिन्हें पद्य वार्ता कहा गया। इन काव्यों में चमत्कारपूर्ण घटनाओं का वर्णन होता है ताकि सर्वसाधारण का मनोरंजन सके। मंगलाचरण से कथा का प्रारम्भ किया जाता है अंत में फलश्रुति तथा देश काल का वर्णन रहता है। अपने आश्रयदाताओं का परिचय तथा प्रशंसा भी पद्यवार्त्ताकार अपनी कृति में करता है।

'शामल भट्ट'—गुजराती भाषा के प्रथम और प्रमुख पद्यवार्त्ताकार हुए हैं। ये पहले आख्यानों की ही रचना करते थे किन्तु आख्यान के क्षेत्र में प्रेमानन्द की विशेष धाक थी जिसके समक्ष किसी अन्य की चल नहीं सकती थी अतः इन्होंने आख्यान लिखना छोड़कर 'पद्यवार्ता' लिखना शुरू कर दिया। इन्होंने 'शिव पुराण', 'अंगदविष्टि', 'विश्वेश्वराख्यान', 'शुकदेवाख्यान,' आदि आख्यान काव्य लिखे तथा 'रूपावती', 'पद्मावती', 'नन्दवत्रीशी', सूडब कहा गया

'सिंहासन वत्तीसी', 'पंचदंडनी वार्ता', 'विनेचटनी वार्ता' और 'मदनमोहना' पद्यवार्त्ता काव्यों की रचना की।

इनके अतिरिक्त कुछ जैन और पारसी कवि भी हुए जिन्होंने मध्यकालीन गुजराती साहित्य की श्रीवृद्धि में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। जैन कवियों में **कुशल लाभ, समय, सुन्दर नेमि विजय, गंगा विजय** आदि के नाम महत्वपूर्ण हैं। मध्यकाल के पारसी लेखकों में **एखद रुस्तम पेशोतन, नोशेरवान** आदि प्रमुख हैं। मध्यकाल के अंतिम छोर पर प्रखर प्रतिभा सम्पन्न कवि दयाराम पड़ते हैं। दयाराम ने गुजराती साहित्य को अपनी काव्य कृतियों के द्वारा अत्यन्त उन्नत बना दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यकाल में गुजराती साहित्य में जैसी श्री-वृद्धि हुई है वह कई दृष्टियों से अद्वितीय है।

आधुनिक काल

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि मध्यकाल के अन्तिम छोर पर कवि दयाराम आते हैं। १८५२ में दयाराम की मृत्यु हुई और उनकी मृत्यु के साथ ही गुजराती साहित्य का मध्यकाल भी समाप्त हो जाता है। गुजराती साहित्य के आधुनिक काल में अन्य भाषाओं के साहित्य की भाँति कई महत्व-पूर्ण परिवर्तन हुए और साहित्य में नई-नई विधाओं का पर्याप्त विकास हुआ।

तत्कालीन परिस्थितियाँ—आधुनिक काल में मुगल साम्राज्य अपनी अंतिम साँसें गिन रहा था और अँग्रेजों के पैर मजबूत हो चुके थे। अँग्रेजों के आने से भारतीय जन-जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। अँग्रेजी सभ्यता और साहित्य के सम्पर्क में आने से भारतीयों की विचारधारा में बड़ा महत्वपूर्ण मोड़ आया। ईसाई मिशनरियों के धर्म प्रचार से, शिक्षा के प्रसार से, मानव धर्म, संस्था, धर्म सभा, तत्व बोधक सभा आदि अनेक सामाजिक संस्थाओं के खुलने से, राजा राममोहनराय, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, नृसिंहाचार्य, [illegible]राम शर्मा जैसे समाज सुधारक नेताओं और विद्वानों के प्रादुर्भाव से [illegible] जागृति फैल चुकी थी। विज्ञान ने बड़ी तेजी से उन्नति की। भारत

में भी उसके परिणाम दृष्टिगोचर हुए। रेल, तार, डाक, प्रेस आदि की व्यवस्था आरम्भ होने से लोगों के ज्ञान में तेजी से वृद्धि हुई। १८५७ के विद्रोह और बाद में होने वाले अनेक स्वातंत्र्य आन्दोलनों ने, गोखले, तिलक, गांधी जैसे राजनीतिक नेताओं ने जन जीवन में राष्ट्रीय जागृति को फैला दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक काल जन-जागृती का युग था। इसमें लोगों के अन्दर सामाजिक सुधार की जागृति आती है, राष्ट्रीय चेतना का प्रादुर्भाव होता है और बौद्धिक चेतना से सम्पन्न होता है।

आधुनिक कालीन गुजराती साहित्य की विशेषताएँ—

गुजराती के आधुनिक कालीन साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं—

(१) इस काल के साहित्य में सुधार भावना की प्रबलता व प्रमुखता है।

(२) साहित्य में राष्ट्रीय चेतना का समावेश भी इस युग की महत्वपूर्ण विशेषता है।

(३) प्रेम का स्वरूप व्यापक होता है। प्रेम स्त्री-पुरुष की पारस्परिक सम्बन्धों का ही काम नहीं रह जाता अपितु देश के प्रति प्रेम, समाज के प्रति प्रेम, प्रकृति-प्रेम आदि भी प्रेम की सीमा में आ जाते हैं।

(४) मानवतावादी विचारधारा को प्रमुखता मिलती है।

(५) सामाजिक, राजनीतिक, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय परिवर्तनों का प्रभाव साहित्य पर पड़ता है। फलस्वरूप सुधारवाद, गांधीवाद, मार्क्सवाद आदि का प्रभाव साहित्य पर स्पष्ट परिलक्षित होता है।

(६) गद्य का उन्नत रूप इसी युग की देन है। गद्य में अनेक विधाएँ इसी युग में जन्मी और विकसित हुई। उपन्यास, लघुकथा, निबन्ध, आलोचना आदि गद्य की अनेक विधाओं का इस युग में प्रादुर्भाव हुआ और विकास भी हुआ।

(७) भाषा में सूक्ष्मता आई। उसमें लाक्षणिकता का समावेश अपेक्षाकृत अब अधिक हुआ। शब्द भण्डार में विस्तार हुआ। इस प्रकार भाषा की क्षमता शब्द और अर्थ दोनों ही दृष्टियों से बढ़ी।

(८) [illegible]र—काव्य-दोषों का [illegible] भी इस युग की कविता में हुआ कहा गया

और हिन्दी के अनेक छन्द गुजराती में आये हैं। मुक्त छन्द का प्रयोग भी न्हानालाल आदि कवियों ने किया है।

आधुनिक काल का विभाजन—आधुनिककालीन साहित्य में विस्तार बहुत अधिक है। विद्वानों ने आधुनिक काल को चार भागों में विभाजित कर दिया है—

१—**सुधारक युग** (१८५० से १८८७ तक)
२—**पंडित युग** (१८८७ से १९२० तक),
३—**गांधी युग** (१९२० से १९४० तक) और
४—**अद्यतन युग**—(१९४० से आज तक)।

१—**सुधारक युग**— जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है इस युग में सुधार की प्रमुखता थी। अँग्रेजी शिक्षा, साहित्य और सभ्यता के सम्पर्क में आने से लोगों में सामाजिक, जातीय और राष्ट्रीय सुधार की भावना ने बल पकड़ा। यही सुधार की भावना साहित्य में प्रचुरता से अभिव्यक्त हुई। नर्मद सुधारक युग के प्रमुखतम साहित्यकार हैं। नर्मद को गुजराती में आधुनिक काल का प्रवर्तक उसी प्रकार माना जाता है जिस प्रकार हिन्दी में भारतेन्दु को। नर्मद के अतिरिक्त इस युग के प्रमुख साहित्यकारों में दलपत, नवलराम, नन्दशंकर, रणछोड़ भाई, उदयराम भोलानाथ साराभाई आदि उल्लेखनीय हैं।

२—**पंडित युग**—सन् १८८६ में नर्मद का अवसान हो जाता है। गोवर्धन राम की प्रसिद्ध कृति 'सरस्वती चन्द्र' के प्रथम भाग के प्रकाशन से पंडित युग भी प्रकाश में आ जाता है। इस युग के सभी प्रमुख साहित्यकार उच्च शिक्षा प्राप्त पंडित लोग थे अतः इस युग को पंडित युग कहा जाता है। इस युग तक आते-आते लोगों पर पाश्चात्य प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ चुका था। साहित्यकार भी इस प्रभाव से अछूते न रह सके। इस युग के साहित्यकारों में पाश्चात्य और भारतीय सभ्यता और संस्कृति के समन्वय की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। प्राचीन और नवीन का, पूर्व और पश्चिम का, अध्यात्म और [illegible]ौतिकता का समन्वय ही इस युग के साहित्य की विशेषता है। अँग्रेजी साहि-[illegible] पठन-पाठन बढ़ चुका था फलतः सा[illegible]जी से उन्नोत को[illegible] और

की है।

विचारों का समावेश हुआ। गद्य की नवीन विधाओं जैसे उपन्यास (नवल कथा) कहानी (नवलिका), निबन्ध, आलोचना आदि का पर्याप्त विकास इस युग में हुआ। इसीलिये इस युग को गुजराती साहित्य में स्वर्ण युग के नाम से पुकारा जाता है। इस युग के सभी साहित्यकार उच्च शिक्षा प्राप्त थे अतः उन्होंने परिष्कृत और प्रांजल भाषा को ही अपनाया है। भाषा में पांडित्य भी अनेक स्थलों पर परिलक्षित होता है। पंडित युग के प्रमुख साहित्यकार गोवर्धन राय माधवराय त्रिपाठी, नरसिंह राव भोलानाथ दिवेटिया, केशवलाल हर्षदराय ध्रुव 'वनमाली', सर रमणभाई नीलकंठ 'मकरंद', मणिशंकर रत्नजीभट्ट 'कान्त', 'सूरसिंह तख्तसिंह गोहेल 'कलापी', नानालाल दलपतराम 'प्रेमभक्ति', आनन्द शंकर बापूभाई 'ध्रुव', दामोदर खुशालदास बोलादकर, बलवंत राय कल्याण राय ठाकोर 'सेहेनी', जन्मशंकर महाशकर बूच 'ललित' आदि हैं।

३—**गांधी युग**—महात्मा गांधी के व्यक्तित्व में प्रखरता जैसे ही आई गुजराती साहित्य पर उसका प्रभाव पड़ने लगा। महात्मा गांधी गुजरात में ही जन्मे थे और गुजराती साहित्य से उन्हें बड़ा लगाव था। गांधी जी ने अपने असहयोग आन्दोलन को १९२० ई० में आरम्भ किया। इस प्रकार भारतीय राजनीति के इतिहास में सन् १९२० बड़ा महत्वपूर्ण है। गुजराती साहित्य में भी इसी वर्ष से गांधी युग का आरम्भ माना जाता है। १९२० ई० से लेकर १९४० तक के युग को गुजराती साहित्य में गांधी युग के नाम से पुकारा जाता है। गांधीजी ने अपने जो विचार राजनीति, समाज, राष्ट्र, नारी, धर्म, मानव आदि के सम्बन्ध में व्यक्त किये हैं और जिन्हें गांधी-वाद के नाम से पुकारा जाता है वही जब साहित्य में व्यक्त हुए तो वह साहित्य गांधीजी से प्रभावित माना गया। गांधी युग का अधिकांश साहित्य गांधी जी के व्यक्तित्व और उनकी विचारधारा से ओतप्रोत है। साहित्य पर गांधीजी के इस व्यापक प्रभाव के कारण ही इस युग को 'गांधी युग' कहा गया। इस युग में अधिकतर तो ऐसे ही साहित्यकार हुए जिन्होंने गांधीजी के जीवन-दर्शन को आत्मसात कर लिया था किन्तु ऐसे भी साहित्यकार हुए जो गांधीजी के सिद्धान्तों से विशेष प्रभावित नहीं थे और उन्होंने स्वतंत्र रूप से सा[illegible]

रचना [illegible] हित्यकारों में काका कालेलकर, राम[illegible]

[illegible]त्तर—काव्य-दोषों की [illegible] [illegible]ण में कहा गया

पर्याप्त विकास देखने को मिला है। जीवनी, आत्मकथा, यात्रा, वर्णन, सम्पादन आदि-आदि क्षेत्रों में अच्छा कार्य हुआ है।

आधुनिक गुजराती साहित्य की विविध विधाएँ

अब हम आधुनिक गुजराती साहित्य की प्रमुख विधाओं का भी संक्षेप में इतिहास प्रस्तुत करेंगे।

कविता—जैसे हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को आधुनिक हिन्दी कविता का जनक माना जाता है वैसे ही गुजराती की आधुनिक कविता के जनक नर्मद माने जाते हैं। नर्मद के साथ ही दलपत ने भी आधुनिक कविता को एक विशिष्ट रूप देने में कम योगदान नहीं दिया। नर्मद, दलपत आदि सुधार की भावना को लेकर चले। इन दोनों का अपने युग पर विशेष प्रभाव था। फलतः अन्य कवि जैसे नरसिंह, न्हानालाल, वलवंत राम आदि भी सुधारवाद से प्रभावित हुए। इस युग में सामाजिक सुधार का स्वर प्रवल रहा, साथ ही देश भक्ति का स्वर भी गुंजित हुआ किन्तु इस युग की देश भक्ति में राजभक्ति भी मिली हुई थी। १९२० ई० में गांधीजी के आने से राजभक्ति का स्वर विलीन हो गया और देशभक्ति का स्वर ही रह गया। राष्ट्र प्रेम के साथ विश्व प्रेम की भावना भी बाद में आई। पंडित युग में कविता के वर्ण्य विषय में विस्तार आया और भाषा में भी पर्याप्त परिष्कार हुआ। मणिलाल द्विवेदी, नरसिंह राय दिवेटिया, मणिशंकर रत्न जी भट्ट, सुरसिंह 'कलापी' आदि पंडित युग के प्रमुख कवियों ने अपनी कविता में भारतीय संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए भी पाश्चात्य विचारधारा को सहानुभूति की दृष्टि से देखा है और इसे मुद्रण करने का प्रयत्न भी किया है। गांधीयुग में आकर कवियों ने मानवतावादी सिद्धान्तों का प्रचार किया। राष्ट्र प्रेम का स्वर इस युग में प्रबल हो गया। आगे चलकर गुजराती कवि साम्यवादी विचारधारा से भी विशेष प्रभावित हुए। उन्होंने अपनी कविता के द्वारा शोषितों के प्रति सहानु-

"भूख्यां जनोनी जठराग्नि जागशे ;
खडेर नी भस्म कणी न लाधशे ।।"

अर्थात्—भूखों के पेट की जब ज्वाला जगेगी तो खण्डहरों को भस्म का एक कण भी न मिलेगा।

साम्यवाद को मेघाणी, सुन्दरम्, उमाशंकर जोशी, जयंती दलाल आदि कवियों ने अपनाया।

अरविन्दवाद से प्रभावित होकर सुन्दरम्, चन्द्ररुदनमहता, स्नेहरश्मि, मनसुखलाल, बादनारायण, करनदास, माणके, इन्दुलाल गांधी, पारेख, पतील आदि कवियों ने अपने काव्य की रचना की।

जिस प्रकार हिन्दी कविता में अज्ञेय, धर्मवीर भारती आदि कवियों ने कविता में नये-नये प्रयोग किये और प्रयोगवाद को कविता में मिला दिया उसी प्रकार गुजराती कविता में निरंजन भगत, प्रजाराम रावल, उशनस, पिना किन ठाकोर, बालमुकुन्द, उपेन्द्र पंडया आदि कवियो ने नये-नये प्रयोग किये हैं।

नाटक—गुजराती साहित्य में अन्य प्रमुख विधाओं की तुलना में नाटक साहित्य कम रचा गया है। विगत सौ वर्षों से ही गुजराती में नाटकों का प्रारम्भ होता है। पहले 'भवाई' जैसे लोक नाटक से गुजराती जनता मनोरंजन करती थी। बाद में अंग्रेजों के आगमन से गुजराती लेखकों को रंगमंच से परिचय मिला और वे नाटक रचना की ओर प्रवृत्त हुए। दलपतराम के 'लक्ष्मी' 'मिथ्याभिमान', नर्मद के 'राम जानकी दर्शन' 'नाटकों से गुजराती नाटकों का प्रारम्भ माना जाता है। किन्तु इन प्रारम्भिक कृतियों में नाट्यकला का अविकसित रूप ही देखने को मिलता है। रणछोड़ भाई ने प्रथम बार ऐसे नाटक लिखे जिनसे वास्तविक रूप से नाटकों की धारा का भी श्रीगणेश हुआ। मणिलाल ननुभाई, रमण भाई, मुंशी जी, रमण लाल देसाई, चन्द्रवदन मेहता आदि नाटककारों ने गुजराती नाटक के विकास में पर्याप्त योग-

जाता है। उमर वाडिया के अतिरिक्त उमाशङ्कर जोशी, श्रीकृष्ण लाल श्री-धराणी, इन्दुलाल गांधी, प्राण जीवन पाठक, दुर्गेश शुक्ल आदि एकांकीकारों ने अच्छे एकांकी लिखे हैं। इधर कुछ वर्षों में चुनीलाल मडिया, यशोधर मेहता, जयंत दलाल आदि ने एकांकी लेखन में पर्याप्त प्रगति की है।

उपन्यास--गुजराती में उपन्यास को नवल कथा कहा जाता है। सुधारक युग में नंद शंकर द्वारा लिखित उपन्यास 'करण बाघेलो' अपने समय में पर्याप्त लोकप्रिय हुआ। यह गुजरात के अन्तिम राजा करण वाघेला के जीवन पर लिखा गया ऐतिहासिक उपन्यास है। इसे गुजराती का प्रथम उपन्यास माना जाता है। इस प्रकार नन्द शंकर गुजरात के प्रथम उपन्यासकार कहे जाते हैं। इनके बाद महीपत राम नीलकंठ ने ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। ऐतिहासिक उपन्यासों के साथ इन्होंने 'सास बहू की लड़ाई' नामक सामाजिक उपन्यास भी लिखे जिसे गुजराती का प्रथम सामाजिक उपन्यास कहा जाता है। पंडित युग में गोवर्धन राम ने विशाल उपन्यास 'सरस्वती चन्द्र' लिखा जो गुजराती जनता में महाकाव्य की भाँति सम्मानित हुआ। रणभाई नीलकठ का 'भद्रं भद्रं' उपन्यास भी पर्याप्त प्रसिद्ध हुआ—यह गुजराती का प्रथम हास्य प्रधान उपन्यास माना जाता है। नानालाल दलपतराम, योगीन्द्र राव दिवेरिया, नारायण विशनजी ठक्कर आदि पंडित युग के अन्य प्रमुख उपन्यासकार है। जिस प्रकार हिन्दी में युगानुकूल उपन्यास लिखने वालों में प्रेमचन्द्र को अग्रणी माना जाता है उसी प्रकार गुजराती उपन्यास साहित्य में रमणलाल बसंतलाल देसाई का नाम अग्रणी माना जाता है। रमण लाल देसाई के साथ ही कन्हैयालाल मुंशी ने भी गुजराती उपन्यास साहित्य को चरमोत्कर्ष प्रदान किया। इनके बाद पन्नालाल पटेल, पीताम्बर पटेल, पटेलीकर, दर्शन, पुष्कर चन्द्र, चुनीलाल मडिया, यशोधरा मेहता, जयमल परमार, रामनारायण पाठक जयंत दलाल आदि उपन्यासकारों ने भी गुजराती उपन्यास साहित्य की खूब श्रीवृद्धि की है।

कहानी संग्रहों से माना जाता है। किन्तु गुजराती के प्रसिद्ध कहानीकार धूमक माने जाते हैं। यद्यपि धूमकेतु से पहले बलन्तराय कल्याण ठाकोर, नानालाल दलपत राम, मट्टुभाई काँटावाला आदि लेखक कहानियाँ लिख चुके थे तथापि धूमकेतु ने ही पहली बार कहानी को जीवन के निकट खड़ा किया। उन्होंने गुजराती कहानी कला को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया। उनकी लिखी कहानियों की संख्या दो सौ से ऊपर बताई जाती है। धूमकेतु के अतिरिक्त मुंशी जी, स्नेहरश्मि, उमाशंकर जोशी, श्री कुमार, जयंत दलाल, गुलाबदास ब्राकेर, पन्नालाल पटेल, चुनीलाल भडिया, दुर्गेश शुक्ल आदि कहानीकारों ने भी गुजराती कहानी साहित्य में अच्छी श्रीवृद्धि की है। नये कहानीकारों में पुष्कर चन्दवाकर, उमेद भाई मणियार, विनोदिनी नीलकंठ, वकुलेश आदि के नाम प्रमुख हैं।

आलोचना—गुजराती आलोचना का आरम्भ तो वैसे नर्मद से ही माना जा सकता है किन्तु व्यवस्थित रूप से आलोचना का सूत्रपात करने वालों में नवलराम का नाम लिया जाता है। पंडित युग तो पंडितों का युग था ही अतः इस युग में गोवर्धनराम, रमणभाई नीलकंठ, नरसिंह राम दिवेटिया, आनन्दशंकर वापूभाई 'ध्रुव' आदि ने आलोचना को पर्याप्त समृद्ध किया। गांधी युग में रामनरायण पाठक, मुंशी, मेघाणी, विजयराव वैद्य, दीवान बहादुर कृष्णलाल झबेरी आदि ने आलोचना के क्षेत्र में अच्छा काम किया। आधुनिक आलोचकों में विश्वनाथ भट्ट, विष्णु प्रसाद द्विवेदी, नवलराम त्रिवेदी, मनसुखलाल झबेरी, उमाशंकर जोशी, अनन्तराम रावल आदि के नाम प्रमुख हैं।

निबन्ध—नर्मद ने पहली बार गुजराती में निबन्ध लिखे किन्तु उनके निबन्धों में निबन्ध कला के सम्पूर्ण तत्त्व नहीं मिलते। रमण भाई के 'हास्य मन्दिर' नामक निबन्ध संग्रह में ऐसे निबन्ध देखने को मिलते हैं जिनमें पहली बार निबन्धकता का सम्पूर्ण निदर्शन हुआ है अतः रमणभाई गुजराती के प्रथम

युग के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार गांधी जी स्वयं थे। उनके अतिरिक्त काका कालेलकर, मश्रूवाला, कन्हैयालाल मुंशी, रमणलाल देसाई, मेघाणी, धूमकेतु, उमाशंकर जोशी आदि ने उच्चकोटि के निबन्ध लिखे। आजकल जयंत दलाल, मुनिकुमार भट्ट, विनोदिनी नीलकंठ, चीनु भाई पटवा, मूलराज अँजरिया, प्रबोध जोशी आदि अच्छे निबन्ध लिख रहे हैं। ज्योतीन्द्र दवे, गगनविहारी मेहता, वकुल त्रिपाठी, औलिया जोशी, मस्त फकीर, जदुराव खंधेडिया आदि ने हास्य रस के अच्छे-निबन्ध लिखे हैं।

निष्कर्ष रूप से हम कह सकते हैं कि गुजराती भाषा में विपुल परिमाण में उत्कृष्ट साहित्य का सृजन हुआ है। अनेक गुजराती कवि एवं लेखकों की प्रतिभा किसी भी भाषा के कवि एवं लेखक से कम नहीं है। गुजराती में ऐसे साहित्य का भी सृजन हुआ है जो किसी भी समृद्ध भाषा की तुलना में रखा जा सकता है।

प्रश्न-पत्र

सं० २०१८—सन् १९६१

प्रश्न-पत्र

हिन्दी विश्वविद्यालय, प्रयाग—(क)

उत्तमा (द्वि० खं०) परीक्षा सन् १९६१ समय ३ घन्टा

साहित्य—२ (भाषा विज्ञान तथा भाषा का इतिहास) पूर्णांक १००

केवल पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिये, जिनमें प्रत्येक वर्ग से कम से कम दो प्रश्न आवश्यक हैं। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

वर्ग (क)

१. वर्णनात्मक, रचनात्मक, संकालिक, तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक भाषा शास्त्र से क्या तात्पर्य है? प्रत्येक का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

२. भाषा शास्त्र की उत्पत्ति तथा विकास में भारत का क्या भाग रहा है? वर्तमान शताब्दि में इस विषय में भारतीय विद्वानों ने क्या कार्य किया है?

३. प्रधान स्वर अथवा मान स्वर से क्या तात्पर्य है? मान स्वरों के चतुष्कोण में हिन्दी स्वरों का स्थान निर्धारित कीजिए तथा उनका संक्षिप्त विवरण भी दीजिए।

४. शब्दार्थ-परिवर्तन के मुख्य कारण का उदाहरण सहित विवेचन कीजिए।

५. निम्नलिखित में से किन्हीं पाँच पर, यथासम्भव उदाहरण सहित टिप्पणी लिखिए :-

वर्ग (ख)

६. -य्-,-व्-श्रुति का इतिहास लिखिए तथा हिन्दी में श्रुति-सन्निवेश की प्रक्रिया उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।

७. घोष तथा अघोष ध्वनियों में क्या अन्तर है ? इस आधार पर हिन्दी-ध्वनियों का वर्गीकरण कीजिए।

८. हिन्दी के प्रश्नसूचक तथा अनिश्चयसूचक सर्वनामों के एक तथा बहुवचन के रूप लिखिए तथा उनकी व्युत्पत्ति भी दीजिए।

९. हिन्दी क्रिया में मुख्य कृदन्त कौन माने जाते हैं तथा इनका प्रयोग काल रचना में किस प्रकार होता है ?

१०. ध्वनिपरिवर्तनों को समझाते हुए केवल पाँच शब्दों की व्युत्पत्ति लिखिए :—

ऊख, रूख, नैहर, बहेड़ा, कौड़ी, मेहरारू, रहट, भीतर, लौकी, बढ़ई, गोंइठा।

हिन्दी विश्वविद्यालय, प्रयाग—(क)

उत्तमा (द्वि० खं०) परीक्षा सन् १९६१ समय ३ घन्टा

साहित्य—३ (साहित्यालोचन इत्यादि) पूर्णांक १००

सूचना—केवल ५ प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सब प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. रस-सिद्धांत के सम्बन्ध में भारतीय आचार्यों के मतों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

२. आधुनिक आलोचना की विभिन्न पद्धतियों को स्पष्ट करते हुए बताइए कि उनमें सर्वाधिक मान्य कौन है और क्यों ?

३. 'श्रद्धा या सहानुभूति के अभाव में तथा मन में राग द्वेष का भाव रखकर जो आलोचना की जाती है उसका विद्वानों में कोई आदर नहीं होता'—इस कथन पर अपने विचार प्रकट करते हुए आलोचक के आवश्यक गुणों पर

५. 'अलंकार सुन्दर वस्तु या भाव की सौन्दर्य-वृद्धि कर सकते हैं, असुन्दर को सुन्दर नहीं बना सकते'—इस वक्तव्य को स्पष्ट करते हुए काव्य में अलंकारों की उपयोगिता पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

६. 'पं० रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा चलती हुई परम्परा का चरम विकास है'—इस कथन को दृष्टि में रखते हुए शुक्ल जी की समीक्षा-पद्धति का विवेचन कीजिये।

६. आदिकालीन हिन्दी काव्य की विविध धाराओं का संक्षिप्त विवरण दीजिये।

८. 'प्रेम के लौकिक चित्रण द्वारा आध्यात्मिक प्रेम का संकेत करना ही सूफी साधकों का मुख्य लक्ष्य था'—इस वक्तव्य के आधार पर हिन्दी की दो प्रमुख सूफी रचनाओं में निहित आध्यात्मिक भावना को संक्षेप में स्पष्ट कीजिये।

९. 'भारतेन्दु युग हिन्दी साहित्य-धारा के नये मोड़ का युग है'—इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं? इस प्रसंग में भारतेन्दु साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का भी उल्लेख कीजिये।

१०. वर्तमान हिन्दी कविता की प्रमुख धाराओं का संक्षेप में विवेचन कीजिये।

हिन्दी विश्वविद्यालय, प्रयाग—(क)

उत्तमा (द्वि० खं०) परीक्षा सन् १९६१ समय ३ घन्टा

साहित्य—४ (निबन्ध) पूर्णांक १००

निम्नलिखित विषयों में से किसी एक पर साहित्यिक निबन्ध लिखिए। निबन्ध का विस्तार आपकी उत्तर-पुस्तक के दस पृष्ठों से कम और एक उत्तर-पुस्तक से अधिक न हो।

१. 'अलंकार' काव्य के शोभाकारक धर्म हैं

२. 'शृंगार' रसराज है।

६. आधुनिक मानव-चित्रण में 'उपन्यास' समर्थ सिद्ध हुआ है।
७. हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि में लोक साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है।
८. राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रश्न को दलगत राजनीति के साथ जोड़ना राष्ट्रीय एकता के साथ विश्वासघात करना है।
९. हिन्दी में पारिभाषिक शब्दावली की समस्या।

हिन्दी विश्वविद्यालय, प्रयाग—(क)

उत्तमा (द्वि० खं०) परीक्षा सन् १९६१ समय १॥ घन्टा
साहित्य—५ (संस्कृत) पूर्णांक ५०

१. किन्ही दो श्लोकों का हिन्दी में अनुवाद कीजिए :— १६

(क) अमी जनस्थानमपोढविघ्नं मत्वा समारब्धनवोटजानि।
अध्यासते चीरभृतो यथास्वं चिरोज्झितान्याश्रममण्डलानि॥

(ख) अत्राभिषेकाय तपोधनानां सप्तर्षिहस्तोद्धृतहेमपद्माम्।
प्रवर्तयामास किलानुसूया त्रिस्रोतसं त्र्यम्बकमौलिमालाम्॥

(ग) समुद्रपत्न्योर्जलसन्निपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात्।
तत्वावबोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजाम् नास्ति शरीरबन्धः॥

२. निम्नलिखित गद्यांशों में से केवल दो का सरल एवम् शुद्ध हिन्दी में अनुवाद कीजिए :— १६

(क) अथ कदाचिदवसन्नायां रात्रावस्ताचलचूडावलम्बिनि भगवति कुमुदिनीनायके चन्द्रमसि लघुपतनकनामा वायसः प्रबुद्धः कृतान्तमिव द्वितीयमायान्तं पाशहस्तं व्याधमपश्यत्। तमवलोक्य अचिन्तयत–अद्य प्रातरेव अनिष्टदर्शनं जातम्।

(ख) अस्ति चम्पकाभिधानायां नगर्याम् परिव्राजकावसथः। तत्र चूडानाम परिव्राट् प्रतिवसति। स च भोजनावशिष्टं भिक्षान्नसहितं भिक्षा-

पूरयित्वा पादान स्तब्धीकृत्य तिष्ठ। यदाहं शब्दं करोमि तदा त्वमुत्थाय सत्वरं पलायिष्यसि।'

३. किन्हीं दो की सन्दर्भ सहित हिन्दी में व्याख्या कीजिए :— ८

(क) दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः। (ख) यो मन्त्रपूताम् तनुमप्यहौषीत्।

(ग) सर्वस्याभ्यागतो गुरुः। (घ) लोभः पापस्य कारणम्।

४. (क) निम्नलिखित श्लोक में संकेतित कथा सरल संस्कृत में लगभग दस पंक्तियों में लिखिए :— ६

अज्ञातकुलशीलस्य वासो देयो न कस्यचित्।
मार्जारस्य तु दोषेण हतो गृध्रो जरद्गवः॥

(ख) किन्हीं दो पर व्याकरणात्मक-टिप्पणी लिखिए :— ४

मत्वा। समारब्ध। पूतात्मनाम्। आयान्तम्। उत्थाय। आगच्छन्।

हिन्दी विश्वविद्यालय, प्रयाग—(क)

उत्तमा (द्वि० खं०) परीक्षा सन् १९६१ समय १½ घन्टा

साहित्य—५ (मराठी) पूर्णांक ५०

१. निम्नलिखित कविताओं में से तीन का अर्थ संदर्भ के साथ मराठी में लिखिये। १५

(अ) चपळपण मनाचें मोडतां मोडवेना।
सकल-स्वजन-माया तोडिता तोडवेना।
घडि घडि विघडे हा निश्चयो अंतरिंचा।
म्हणवुनि करुणा हे बोलतो दीनवाचा॥१॥

(ब) चंद्रमे जै अलांछय। मार्तंड जै तापहीन।
ते सर्वांही सदा सज्जन। सोयरे होतु।
किंबहुना सर्व सुखी। पूर्ण होवोनि तिहिं लोकीं।
भजि जो [illegible] पुरुषी। अखंडित॥२॥

स्वतंत्र बुद्धि विद्यार्थीनुं पहेलुं लक्षण छे अेम में करुं। स्वतंत्र बुद्धि अेटले कोईना बाल दबाण वगरनी सत्यत्ग्रही बुद्धि। आ बुद्धि वड़े तमे दनिया तरफ जोजो। तेमां तमने अपार चमत्कार जोवाना मलशे। बुद्धि वडे अे चमत्कार समजी लेजो। आजनी दुनिया मां खाली मगज राखवुं पोशाय अेम न थी। तमे पोताना चोक्कस अने निश्चित विचार न राखो तो बीजा कोईना विचारो तमारा मगजमां घूसी जशे। आजनी दुनिया कहे छे, मगज खाली राख्ये न चाले। तेमां कंईक भखुंज जोईअे। तेमां सद् विचार भरजो। अथवा ते न भरवा होय तो बटाटा भरजो, पथरा भरजो, जे भखुं होय ते भरजो'। विद्यार्थीनां मगजने खाली न रहेवा देवानुं आ जमानाअे बीड़ झडप्युं छे। तमे विचार नहीं करो तो पेलो रेडियो तमारा मगजमां विचार ठांस्या विना नहीं रहे। वर्तमान पात्रो विचार करवानी तमने फरज पाडशे। आजे विचार विनानुं खाली मगज राखवुं बने अेम न थी। तेथी बुद्धि सत्याग्रही राखो अने सद् विचार करो। सद् विचार पाका करवा अने संघरवा अे ज तमारे माटे अेक रस्तो रहो। हुँ विचार नहीं बनावुं अेम तमे कहेशो तो लोको तेमने बनावशे। बीजाने हाथे बनशो नहीं। दुनियाना हाथमां माटी बनशो नहीं।

(विनोबा भावे)

७. गुजराती में अनुवाद कीजिए :— ६

अरे! कठोर परिवर्तन, तुम्हारा ही तांडव-नृत्य सब ओर हो रहा है। दुनियां का दुखद हाल, तुम्हारे ही द्वारा किया जा रहा है। रे परिवर्तन, जब तुम अपनी आँखें खोलते हो, तो सारी सृष्टि का उत्थान या पतन होता है। एक क्रांति हो जाती है। या तो तरक्की होती है या फिर अवसान होता है। रे वासुकि (सर्पों का राजा) तुम्हारे हजारों फन हैं। परिवर्तन, वासुकि की तरह

हिन्दी विश्वविद्यालय, प्रयाग—(क)

उत्तमा (द्वि० खं०) परीक्षा सन् १९६१ समय १॥ घन्टा

साहित्य —५ (बंगला) पूर्णांक ५०

१. प्रसंगों का उल्लेख करते हुए निम्नांकित अंशों में से एक गद्य खंड और एक पद्य खंड का आशय सरल हिन्दी में लिखिए :— १४

(क)

वीणार प्रत्येक तंत्री हइते एकइ मात्र सुर समुत्पन्न हइले ताहा प्रीतिकर हय ना। नरनारीर हृदयेरओ भिन्न भिन्न वृत्ति हइते कठोरताइ हउक्, वा कोमलताइ हउक, एकमात्र भाव उत्पन्न हइले ताहा आनन्द ओ तृप्तिदान करिते पारे ना। एइजन्य कठिनेर सहित कोमलेर एवं कोमलेर सहित कठिनेर सम्मिलन, नर, नारी उभयेरइ प्रकृतिर पक्षे आवश्यक।

(ख)

प्रकृति देवीर सेइ अपरिमेय गम्भीर रूप उपलब्धि करिवार वयस ताहा नहे, किन्तु से कथा आमि आजओ भुलिते पारि नाइ। वायुलेशहीन, निष्कम्प, निःस्तब्ध, निःसंग निशीथिनीर से येन एक विराट कालीमूर्ति! निविड कालो चुले द्युलोक ओ भूलोक आच्छन्न हइया गेछे, एवं सेइ सूचीभेद्य अन्धकार विदीर्ण करिया कराल दंष्ट्रारेखार न्याय दिगन्त विस्तृत एइ तीव्र जलधारा हइते कि एक प्रकारेर अपरूप स्तिमित द्युति निष्ठुर चापाहासिर मत विच्छुरित हइतेछे।

(ग)

तिनि गेछेन येथाय माटि भेङे

करछे चाषा चाष

पाथर भेङे काटछे येथाय पथ

खाटछे बारो मास।

रौद्र जले आछेन सवार साथे,

आपनारे लेये विव्रत रहिते
आसे नाइ केह अवनी' परे,
सकलेर तरे सकले आमरा,
प्रत्येक आमरा परेर तरे।

२. निम्न में से किसी एक का सारांश हिन्दी में लिखिए :— ८

'अभागीर स्वर्ग' या 'चित्रकूटे भरत'

३. 'भिखारी' या 'जीवन संगीत' ८

४. बंगला साहित्य में रवीन्द्रनाथ के असामान्य दान की आलोचना कीजिए। १०

अथवा

निम्न लेखकों में से किसी एक का संक्षिप्त विवरण दीजिए :—

माइकेल मधुसूदन, कृत्तिवास, हेमचन्द्र वन्द्योपाध्याय, प्रेमेन्द्र मित्र, सत्येन्द्र दत्त।

५. निम्नलिखित अंश का अनुवाद बंगला भाषा में कीजिए। (नागरी लिपि का प्रयोग कर सकते हैं।) १०

स्वतंत्र भारत की एक अत्यन्त जटिल समस्या जम्मू तथा काश्मीर राज्य के लिये भारत तथा पाकिस्तान का झगड़ा है। देश के विभाजन के उपरान्त काश्मीर का राज्य तटस्थ रहना चाहता था। न वह पाकिस्तान और न भारत राष्ट्र में मिलना चाहता था। पाकिस्तान के लिये यह असह्य था। अतएव कबाइलियों को प्रोत्साहित कर पाकिस्तान ने काश्मीर पर आक्रमण कर दिया। काश्मीर के राजा ने आत्मरक्षा के लिये भारत सरकार से सहायता माँगी और काश्मीर राज्य भारत राष्ट्र में सम्मिलित हो गया। अविलम्ब भारतीय सेनाओं ने काश्मीर में प्रवेश किया और आक्रमणकारियों का गतिरोध करके उन्हें पीछे

वह यह कि केवल रस ही काव्य के लिए पर्याप्त है अलंकार इत्यादि की कोई आवश्यकता वहाँ नहीं होती, पर अलंकार के बारे में यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि अकेला अलंकार काव्य का हेतु नहीं हो सकता। किन्तु यह मत अधिक युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि हम ऊपर बता ही चुके हैं कि रस के लिए भाषा की आवश्यकता पड़ती है और भाषा को अलंकार की। काव्य के जिन स्थलों पर ये आचार्य अलंकार का अभाव समझते हैं और शुद्ध रूप से रस का उदाहरण समझते हैं वहाँ भी वर्णन की विशिष्टता के कारण कोई न कोई अलंकार विराजित रहता ही है। अकसर यह भ्रम आचार्यों द्वारा शास्त्र में गिनाये निश्चित अलंकारों की संख्या के कारण हो जाता है लेकिन जैसा कि अनेक आचार्यों ने माना है अलंकारों की संख्या शास्त्र में गिनाई जाने वाली संख्या से भी अधिक हो सकती है क्योंकि कथन के अनेक ढंग हो सकते हैं। और यदि अलंकार से विहीन रस-युक्त कथन को काव्य मान भी लें तो रस से विहीन केवल अलंकार के चमत्कार को भी काव्य माना जा सकता है। जो आचार्य यह कहते हैं कि सप्राण शरीर से पृथक आभूषणों का ढेर की कोई सार्थकता नहीं है वे थोड़े भ्रम में हैं। एक कोने में रखे हुये आभूषणों का ढेर सिर्फ अपनी जगमगाहट के कारण ही बहुतों के लिए आकर्षण का विषय बन सकता है। इसी प्रकार केवल अलंकारों के प्रयोग से युक्त चमत्कारपूर्ण कविता पाठकों को रंजन प्रदान करती है। यदि काव्य मानव-जीवन की सम्पूर्ण प्रतिच्छाया है तो चमत्कारपूर्ण काव्य को काव्य की परिधि से पृथक करना काव्य की व्यापक सीमा को संकीर्ण करना होगा। चमत्कार की ओर भी व्यक्ति की सहज रुचि होती है और इसीलिए वह केवल अलंकारों से युक्त चमत्कारपूर्ण कविता से भी आनन्द ग्रहण करता है।"

उक्त पर्यविलोचन के पश्चात् हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँ कि अलंकार काव्य के लिए अत्यावश्यक उपादान हैं। उनके बिना काव्य में काव्यत्व नहीं है।

प्रश्न ११—काव्यदोष की परिभाषा दीजिये तथा काव्य में दोषों की स्थिति स्पष्ट करते हुए प्रमुख दोषों की सोदाहरण विवेचना कीजिये।

उत्तर—काव्य-दोषों की परिभाषा के सम्बन्ध में अग्निपुराण में कहा गया

है—**"उद्वेगजनको दोषः"** अर्थात् काव्यास्वाद में जो उद्वेग उत्पन्न करता है वह दोष है। काव्यदर्पणकार का कहना है कि—**"दोषास्तस्यापकर्षकः"** अर्थात् शब्दार्थ द्वारा जो रस के अपकर्षक—हीनकारक हों, वे ही दोष हैं। काव्यप्रदीप की भूमिका में श्रीगोविन्द ने दोषों का विवेचन करते हुए कहा है कि—**"यदि काव्य में किसी भी प्रकार के दोष पाए जाते हों तो अलङ्कार आदि के रहते हुए भी उसमें अपेक्षित साहित्यिक सौन्दर्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। किन्तु इसके विपरीत काव्य में यदि अलंकारादि न भी हों तो भी दोषों के अभाव के कारण ही थोड़ा बहुत काव्य सौन्दर्य अवश्य आ जायगा।"** भरत द्वारा वर्णित दोषों की व्याख्या करते हुए यही मत अभिनवगुप्त ने प्रकट किया है। भामह तो कुकवित्व को साक्षात् काव्य मृत्यु मानते हैं। दूसरे शब्दों में इसी बात को इस प्रकार कहा जा सकता है कि ये आचार्य दोषों के अभाव को ही एक प्रकार से काव्य का गुण मानते हैं।

काव्य-प्रकाशकार मम्मट का कथन है कि—**"तद्दोषो शब्दार्थोसगुणावलंकृति पुनः क्वापि"** अर्थात् वे ही शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं जो दोषों से रहित तथा गुणों से युक्त हों फिर चाहे उसमें अलंकार कभी-कभी हों या न हों। साथ ही वे उसे दोष मानते हैं जिससे काव्य के मुख्य अर्थ का अपकर्ष हो। काव्य में कवि अभिप्रेत अर्थ ही मुख्य अर्थ होता है। कवि जहाँ वाच्यार्थ द्वारा उत्कर्ष लाना चाहता है वहाँ वाच्यार्थ ही मुख्य अर्थ होता है। इसके अतिरिक्त कवि जहाँ रस, भाव आदि में सर्वोत्कृष्ट चमत्कार चाहता है वहाँ रस, भाव आदि ही मुख्यार्थ माने जाते है। परम्परा सम्बन्ध से शब्द ही मुख्यार्थ माना गया है। वामन गुणों के विरोध में आने वालों को दोष कहते हैं—"गुणविपर्ययात्मानों दोषः" काव्य प्रदीपकार का कहना है कि—अविलम्ब मुख्यार्थ की प्रतीति में—चमत्कार के तत्काल ज्ञान होने में बाधा पहुँचाने वाले दोष हैं जो त्याज्य माने जाते हैं।

दोषों से सर्वथा बचना कवि के लिए सदैव सम्भव नहीं होता। कभी-कभी एक साधारण सा दोष गुण में परिवर्तित भी हो जाता है। तो भी कवि को यथा सम्भव दोषों से बचने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए। लांजीनस ने भी काव्य दोषों को हेय कह कर उनसे बचने की सलाह दी है। जैम्स स्काट ने लांजी-

नस के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है कि—Faults are not the less faults because they arise from the heedlessness of genius····He (Longinus) warns us against bombast pueirllity or affectation, and the conceits of frigidity" आर्नल्ड का कहना है कि अपनी अपेक्षा अपनी कला का समादर अधिक आवश्यक है—"Let us at least have so much respect for our art as to prefer it to ourselves." यह दोष त्याग को ही लक्ष्य में रखकर कहा गया है।

किन्तु कवि के सम्मुख सबसे बड़ी कठिनाई उस समय आती है जब वह शास्त्रोक्त दोषों के विषय में विद्वानों में मतभेद देखता है। काव्य-समीक्षकों में दोनों के स्वरूप और संख्या के सम्बन्ध में बहुत मतभेद रहा है। फिर ऐसा भी होता है कि एक विद्वान किसी बात को दोष मानता है तथा दूसरा उसे ही गुण मानता है। ऐसी स्थिति में दोष दोष नहीं रह जाता। औचित्य की अपेक्षा में ही गुण-दोष की विवेचना की जा सकती है। पुनरुक्ति साधारणतः दोष समझा जाता है किन्तु अनुकम्पादि विवक्षित होने पर वह दोष नहीं रह जाता।

प्रमुख दोषों का विवेचन

आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के दोष माने हैं। उनमें कुछ शब्द-गत, कुछ अर्थ-गत तथा कुछ रस-सम्बन्धी हैं। शब्द-गत दोषों में भी शब्द और वाक्यों के दोष अलग-अलग माने गये हैं। काव्य में वाक्य का अर्थ ठीक-ठीक समझने के पूर्व ही जो शब्द खटकने लगता है उसे 'शब्द दोष' कहते हैं और जब उन शब्दों का सम्मिलित अर्थ समझने लगते हैं तब अगर कोई बात खटकने लगती है तो उसे 'अर्थ-दोष' कहते हैं। कहीं कहीं काव्य में जिन भावों और रसों की व्यंजना रहती है उनमें एक दूसरे का विरोध करने वाले भाव या रस जब उत्पन्न हो जाते है तो 'रस दोष' माना जाता है। वास्तव में रस-दोष में भी शब्द दोष और अर्थ-दोष के कारण विद्यमान रहते हैं। एक और प्रकार का दोष होता है जिसे 'वर्णन-दोष' कहते हैं। जब रस, शब्द और अर्थ के वर्णन में अव्यवस्था के कारण उत्पन्न होने लगते हैं तो 'वर्णन-दोष' उत्पन्न हो जाता है।

अब संक्षेप में कुछ दोषों का वर्णन किया जावेगा! वैसे तो दोषों की संख्या

बहुत अधिक है । आचार्य मम्मट ने काव्य-प्रकाश में ७० दोष माने हैं किन्तु यहाँ कुछ प्रमुख दोषों का ही उल्लेख किया जायेगा ।

शब्द-दोष

(१) **च्युत संस्कृति दोष**—उसे कहते हैं जहाँ व्याकरण विरुद्ध प्रयोग आते हैं । कभी-कभी महान् कवि भी व्याकरण की अवहेलना कर जाते हैं । इस प्रकार के दोषों के काव्य में आने से शिष्ट वर्ग के पाठक एक चोट का अनुभव करते हैं । जैसे—

१—**"फूलों की लावण्यता देती है आनन्द"**

२—**"छन्दों को प्रबन्ध त्यों ही व्यङ्ग नायिकादि भेद,**
उद्दीपन भाव और अनुभाव पति बामा के ॥
भाव संचारी असथाई रस भूषण हूँ,
दूषण-अदूषण जो कविता ललामा के ॥"

इन उदाहरणों में 'लावण्य' रूप होना चाहिये और ब्रजभाषा के अनुसार "असथाई" का रूप 'स्थायी' होना चाहिये ।

(२) **श्रुतिकटु**—कानों को कठोर लगने वाले पदों में यह दोष होता है—प्रायः यह दोष शृङ्गार आदि कोमल रसों मे पाया जाता है । जैसे—

"देखत कछु कौतिक इतैं, देखौ नेकु विचारि,
कब को इकटक डटि रहै, टटिया अँगुरिन डारि ।"

उपर्युक्त उदाहरण में टवर्ग की आवृत्ति 'श्रुति' कटु है । 'टवर्ग' कठोर शब्दों के अन्तर्गत हैं जो कि वीररस के उद्दीपन में सहायक हैं । परन्तु शृङ्गार वर्णन में कोमल-कान्त पदावली का प्रयोग उचित है ।

(३) **अप्रयुक्त दोष**—जहाँ कविता आदि में उन शब्दों का प्रयोग किया जाये जो शब्द साधारणतया प्रयोग में न आते हों । जैसे—

"पुत्र जन्म उत्सव समय, स्पर्श कीन्हीं बहु गाय ।"

'स्पर्श' का प्रचलित अर्थ 'छूना' है । परन्तु यहाँ अप्रचलित अर्थ 'दान' से लिया गया है ।

(४) **अक्रमत्व दोष**—जहाँ पदों में क्रम ठीक न हो वहाँ अक्रमत्व दोष माना जाता है। जैसे—

१—विश्व में लीला निरन्तर कर रहे वे मानवी,

२—कोऊ कोटिक संग्रहो, कोउ लाख हजार।

मो सम्पत्ति यदुपति सदा, विपति विदारनहार॥

पहले पद में 'मानवो' शब्द लीला का विशेषण है जो कि मानवी के पास आना चाहिये परन्तु वह दूर है। दूसरे पद में कवि पहले करोड़ तथा पीछे लाख, हजार की संख्या लाता है। अगर किसी के पास करोड़ होगा तो लाख, हजार तो स्वमेव होगा। अतः कवि ने क्रम में दोष कर दिया है।

(६) **अप्रतीतत्व दोष**—शास्त्र विशेष में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का साधारण भाषा में प्रयोग माना जाता है। ऐसे स्थलों पर अप्रतीतत्व दोष माना जाता है। जैसे—

"हैं प्रधान के तीनि गुण, व्याप्त विश्व में जौन।

हो स्वतन्त्र इनते रहे, अस जग जन्मा कौन॥"

यहाँ 'प्रधान' शब्द साधारण पाठक के लिये बोधगम्य नहीं क्योंकि सांख्य-शास्त्र में इसो शब्द का अर्थ 'प्रकृति' माना गया है जो कि पारिभाषिक शब्द है।

(६) **न्यूनपदत्व दोष**—कभी-कभी रचना में शब्द की कमी के कारण अर्थ करने में बाधा उपस्थित होती है। जहाँ अर्थ को स्पष्ट करने के लिये जितने शब्द अपेक्षित हों, उतने न हों तब यह दोष माना जाता है।

(७) **अधिकपदत्व दोष**—जहाँ पर किसी कविता में इतने अनावश्यक शब्द हों कि कुछ शब्द निकाल देने पर भी ठीक अर्थ करने में बाधा न आये वहाँ यह दोष होता है।

(८) **अश्लीलत्व दोष**—जहाँ लज्जाजनक, घृणास्पद तथा अमंगल वाचक पद का प्रयोग हो वहाँ अश्लीलत्व दोष माना जाता है। जैसे—

१—लज्जाजनक **"रहते चूते में मजदूर।"**

यहाँ 'चूते' शब्द गुह्य अंग का बोधक मालूम पड़ता है अतः लज्जाजनक है पर यहाँ इसका अर्थ—टपकते हुए छप्पर के नीचे है।

प्रकार के दोष हैं जो रस आदि के अनुपयुक्त वर्णन होने से पैदा हो जाते हैं अथवा एक-दूसरे के विरोधी रस की उद्दीप्ति पर पैदा हो जाते हैं।

वाक्य-दोष भी कई प्रकार के हैं

१--प्रतिकूल वर्ग-दोष, २--समाप्तपुनराक्त, ३—पतत्प्रकर्ष, ४--संकीर्ण, ५—प्रसिद्धि त्याग, ६--भग्न प्रक्रमत्व, ७—अस्थानपदत्व एवं समास आदि कई प्रकार के वाक्य दोष भी हैं।

इन सब दोषों का कारण वर्णन का अनौचित्य हैं। जहाँ वर्णन में अनौचित्य होगा, अस्वाभाविकता होगी वहाँ वह सत्य के प्रदर्शन से वंचित रहेगा। ऐसे वर्णन का प्रभाव स्वभावतः निकृष्ट होगा और काव्य के लक्ष्य 'आनन्द' के विपरीत होगा।

[illegible]

चतुर्थ प्रश्नपत्र [illegible] निबंध [illegible]
प्रश्नपत्र में [illegible] निबंध [illegible] हैं [illegible] निबंध
तीन घण्टे के अन्दर लिखना पड़ता है। समय बहुत थोड़ा है और निबंध एक
ही लिखना होता है अतः परीक्षार्थी को चाहिये कि काफी सोच विचार कर
उसी निबंध को अपने लिये चुने जिसकी उसकी तैयारी अच्छी हो और जिसे
वह सुन्दर और ललित ढंग से लिखने में समर्थ हो। निबंध में केवल प्रतिपाद्य
विषय के सम्बन्ध में अधिक से अधिक सामग्री देने से ही काम नहीं चलता
अपितु उस सामग्री को किस ढंग से प्रस्तुत करना चाहिये इसकी कला भी
परीक्षार्थी को आनी चाहिये। इसके लिये आवश्यक है कि परीक्षार्थी किसी
निबंध की पुस्तक का अध्ययन करके यह जान ले कि अच्छा निबंध कैसे लिखा
जाता है। निबंध की भाषा में सरलता, प्रवाहात्मकता और साहित्यिकता के
गुण अवश्य होने चाहिये। भाषा के ये गुण अभ्यास से आते हैं। अतः
परीक्षार्थियों को चाहिये कि वह अच्छे लेखकों की पुस्तकें पढ़े और उनकी
भाषा-शैली पर मनन करें साथ ही कुछ निबंधों को लिखकर घर पर अभ्यास
करें तथा बाद में उन्हें किसी हिन्दी के लेखक, अध्यापक या सुयोग्य व्यक्ति को
दिखाकर उनकी सम्मति लें।

अधिकतर निबंध साहित्य से सम्बन्धित होते हैं। किन्तु एक-दो निबंध
सामयिक सांस्कृतिक अथवा राजनीतिक, भी होता है। हमारी राय में परीक्षा-
र्थियों को मात्र साहित्यिक निबंधों को तैयार करना चाहिये। साहित्यिक
निबंधों में एक-दो निबंध सैद्धान्तिक होते हैं—जैसे—काव्य में सत्यं-
शिवं और सुन्दरम् की स्थिति, या काव्य और लोकहित अथवा साधारणी-
करण अथवा रस निष्पत्ति एक-दो निबध हिन्दी साहित्य के इतिहास से सम्ब
न्धित भी होते हैं। उदाहरणार्थ—

१. रीतिकाल

२. हिन्दी में भ्रमरगीत की परम्परा

३. हिन्दी काव्य में प्रकृति-वर्णन

४. हिन्दी गीतिकाव्य परम्परा आदि

किसी प्रतिनिधि कवि प्रमुख लेखक पर भी निबन्ध होता है। जैसे—

१. तुलसी का लोकनायकत्व

२. मीरा का गीतिकाव्य

३. प्रसाद की कविता

४. प्रेमचन्द्र का कथा साहित्य

५. शुक्लजी की आलोचना पद्धति आदि।

काव्य प्रवृत्ति अथवा वाद पर भी निबंध आता है जैसे—

१. भक्तिकालीन साहित्य की प्रवृत्तियां

२. छायावाद

३. प्रगतिवाद और हिन्दी कविता

४. प्रयोगवाद

५. हिन्दी कविता पर गांधीवाद का प्रभाव।

हमने इस गाइड में कुछ प्रमुख परीक्षोपयोगी निबंध दे दिये हैं। इन्हें देखकर परीक्षार्थी सहज में ही अनुमान लगा सकता है कि एक अच्छा और साहित्य रत्न के स्तर का निबंध कैसा होना चाहिये। और अधिक निबंध तैयार करने के लिये किसी भी अच्छी निबंध की पुस्तक से काम चलाया जा सकता है। वैसे हमारे प्रकाशन में राजनाथ ए० ए० की 'साहित्यिक निबंध पुस्तक एम० ए०, साहित्यरत्न के विद्यार्थियों में खूब लोकप्रिय हुई है। विश्वम्भर 'अरुण' की 'आलोचनात्मक निबन्ध' पुस्तक भी पठनीय है।

विषय-सूची

प्रश्नपत्र—६

निबन्ध

विषय | पृष्ठ

प्रश्नपत्र—४

निबन्ध

निबन्ध

१—सत्यं शिवं सुन्दरम्

आधुनिक युग में काव्य में सत्यं, शिवं और सुन्दरम् की स्थिति को अत्याव-श्यक मानी जाती है। आज यह 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' साहित्य के आदर्श और उद्देश्य के सूत्र-रूप में व्यवहृत हो रहा है। बङ्किम के 'वन्देमातरम्' की तरह उसकी व्यापकता बराबर बढ़ती जा रही है और इस बढ़ती हुई व्यापकता के प्रवाह में हमने कभी यह जानने का प्रयत्न ही नहीं किया कि कौन इस सूत्र का जन्मदाता है और इसका प्रारम्भिक इतिहास क्या रहा है। कारण भी स्पष्ट है कि जब हम एक वस्तु के परिचय में अत्यधिक आ जाते हैं तो उसके प्राचीन इतिहास को जानने की उत्सुकता प्रायः समाप्त सी हो जाया करती है। अधि-कांशतः यह उत्सुकता प्रत्येक नवीन के प्रति ही जाग्रत रहती है।,

भारत में इस सूत्र का प्रयोग सर्वप्रथम बंगला साहित्य में रवीन्द्र बाबू के पूज्य पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ने किया था। किन्तु इस प्रयोग में उनका आधार क्या था वह आज तक संदिग्ध ही रहा। कुछ लोगों का विचार है कि यह सूत्र वाक्य यूनानी दार्शनिक अफलातून के TheTrue, The Good, The Beau-tiful" का अनुवाद है और ब्रह्म समाज द्वारा हमारे यहाँ आया है। किन्तु यह बात पूर्णतः सत्य प्रतीत नहीं होती। भारतवर्ष के लिए इन तीनों शब्दों में से कोई भी नवीन नहीं है वरन् यों कहना चाहिए कि भारतीय संस्कृति, धर्म और भारतीय दर्शन मूलतः इन्हीं तीनों पर आधारित है। 'सच्चिदानन्द' शब्द इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। इसमें स्पष्टतः सत्य आनन्द का रूप प्रस्तुत है। शिवं और सुन्दरम् का रूप हमें किरातार्जुनीय आदि नीति ग्रन्थों में मिलता है—'हितं

निबन्ध

१—सत्यं शिवं सुन्दरम्

आधुनिक युग में काव्य में सत्यं, शिवं और सुन्दरम् की स्थिति को अत्याव-श्यक मानी जाती है। आज यह 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' साहित्य के आदर्श और उद्देश्य के सूत्र-रूप में व्यवहृत हो रहा है। बङ्किम के 'वन्देमातरम्' की तरह उसकी व्यापकता बराबर बढ़ती जा रही है और इस बढ़ती हुई व्यापकता के प्रवाह में हमने कभी यह जानने का प्रयत्न ही नहीं किया कि कौन इस सूत्र का जन्मदाता है और इसका प्रारम्भिक इतिहास क्या रहा है। कारण भी स्पष्ट है कि जब हम एक वस्तु के परिचय में अत्यधिक आ जाते हैं तो उसके प्राचीन इतिहास को जानने की उत्सुकता प्रायः समाप्त सी हो जाया करती है। अधि-कांशतः यह उत्सुकता प्रत्येक नवीन के प्रति ही जाग्रत रहती है।

भारत में इस सूत्र का प्रयोग सर्वप्रथम बंगला साहित्य में रवीन्द्र बाबू के पूज्य पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ने किया था। किन्तु इस प्रयोग में उनका आधार क्या था वह आज तक संदिग्ध ही रहा। कुछ लोगों का विचार है कि यह सूत्र वाक्य यूनानी दार्शनिक अफलातून के TheTrue, The Good, The Beau-tiful" का अनुवाद है और ब्रह्म समाज द्वारा हमारे यहाँ आया है। किन्तु यह बात पूर्णतः सत्य प्रतीत नहीं होती। भारतवर्ष के लिए इन तीनों शब्दों में से कोई भी नवीन नहीं है वरन् यों कहना चाहिए कि भारतीय संस्कृति, धर्म और भारतीय दर्शन मूलतः इन्हीं तीनों पर आधारित है। 'सच्चिदानन्द' शब्द इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। इसमें स्पष्टतः सत्य आनन्द का रूप प्रस्तुत है। शिवं और सुन्दरम् का रूप हमें किरातार्जुनीय आदि नीति ग्रन्थों में मिलता है—'हितं

मनोहारि दुर्लभंचा ।' भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद् गीता में अर्जुन को सत्य, प्रिय तथा हितकर वाणी बोलने के लिए उपदेश दिया है—

"अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च ।"

तत्वतः सत्यं सुन्दरम् इससे भिन्न नहीं है । प्रियं में सुन्दरम् का पूर्ण भाव आ जाता है और हितं में शिवं का । इतना ही नहीं साहित्य शब्द के मूल में भी सत्यं शिवं सुन्दरम् का रूप मौजूद है । हितं तो प्रत्यक्ष है ही, सत्यं और सुन्दरम् भी प्रच्छन्न रूप से हैं । काव्य का रस या आनन्द सुन्दरम् का रूपान्तर है और सौन्दर्य कभी सत्य से रहित नहीं हो सकता । इतने विवेचन द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि ये तीनों ही शब्द भारत के लिए नए नहीं हैं । यह दूसरी बात है कि जिस रूप में और जिस अर्थ में उनका प्रयोग आज होता है उसमें नवीनता अवश्य है ।

भारतीय कला और प्रवृति सर्वत्र समन्वयात्मक है । इसलिए भारतीय मस्तिष्क भी समन्वय प्रिय है । यदि हम एक शब्द में कहें तो कह सकते हैं कि समन्वय और एकता ही हमारी संस्कृति की विशेषता है । साथ ही हमारे यहाँ अधिकांशतः प्रत्येक क्षेत्र में ऊना संख्या को शुभ माना जाता है । इसलिए धर्म में, कला में, सभी में तीन की संख्या को ही महत्व दिया गया है । धर्म में ब्रह्मा, विष्णु, महेश और हिन्दू दर्शन के सत्, चित्त, आनन्द एवं सत्, रज, तम बीज तत्व हैं । हिन्दू कला उन्हीं को सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के रूप में ग्रहण करती है । यही सृष्टि के तीन मूल तत्व हैं । इन्हीं से त्रिगुणात्मक सृष्टि आदि मध्य, अन्त बनी है और इन्हीं से ब्रह्म के तीन रूपों—अव्यक्त (व्यक्त से पहले) व्यक्त और पुनः अव्यक्त (प्रलय के पश्चात्)—का अस्तित्व है । गीता में इसको कितने सुन्दर ढङ्ग से स्पष्ट किया गया है । यह नीचे के श्लोक से स्पष्ट हो जाता है—

"अव्यक्तानि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिवेदना ।"

भक्ति के ज्ञान, कर्म, उपासना ये तीन ही तत्व हैं । इन तीनों का विभाजन नहीं किया जा सकता क्योंकि ये एक दूसरे के पूरक और एक दूसरे के अंग

बने हुए हैं। इनके समन्वित रूप में ही पूर्णता है। इसलिए हमारे कलाकार सत्यं शिवं सुन्दरम् तथा ज्ञान, कर्म, उपासना की विभाजक रेखाओं को मिटाने में प्रयत्नशील हैं। यही वास्तविक समन्वय है जो भारतीय संस्कृति का, भारतीय साहित्य का, भारतीय धर्म और दर्शन का प्राण है। इसीलिए हमारे यहाँ के संस्कृत के दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य सुखांत हैं। कारण, हमारे यहाँ मृत्यु का अर्थ है उस अव्यक्त सत्य से व्यक्त हुए जीव का अन्त में अपनी व्यक्तावस्था त्याग कर ऊसी अव्यक्त सत्य से जा मिलना। मृत्यु हमारे लिए इसीलिए शिव है। भारतीय कला इसी शिव को प्राप्त करने का प्रयत्न सदैव से करती रही है और करती रहती है। फिर मृत्यु में दुःख कहाँ? उसमें तो कल्याण है। जीव इस संसार में व्यक्त होकर अनेक यातनाएँ सहता है किन्तु मृत्यु उस पर दया करके उसे उन यातनाओं से मुक्त कर देती है। मृत्यु का यही कल्याण है; यही उसका 'शिव' रूप है और यही वास्तविक तथा चिरकालिन सत्य है। किन्तु जहाँ यह 'शिव' नहीं रहता वहाँ चिरकाल तक सत्य भी नहीं रहता। फिर जो सत्य और शिव है उसे आनन्दमय होना ही चाहिए। और आनन्द कोई अन्य वस्तु नहीं, सौन्दर्य का फल है अथवा सौन्दर्य की प्रभावात्मक अनुभूति ही आनन्द है। इस प्रकार सत्यं और सुन्दरम् को शिवं में समन्वित करना ही धर्म का, दर्शन का, साधना का और लोक व्यवहार का श्रेष्ठतम और आदर्शतम रूप है। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं कला भी इसी श्रेणी में आती है। वह इन्हीं सत्यं और सुन्दरम् को शिवं में समन्वित करने का सतत और श्रेष्ठतम प्रयत्न करती है और ऐसा करने में सफल भी होती है। वस्तुतः यही कला का लक्ष्य है।

यदि सत्यं, शिवं और सुन्दरम् का समन्वित रूप अधिक संक्षिप्त और स्पष्ट रूप से रखने का प्रयत्न करें तो इस प्रकार कह सकते हैं कि कर्तव्य पथ में आकर सत्य ही शिव बन जाता है और भगवान् से समन्वित होकर यही सत्य सुन्दर हो जाता है। सौन्दर्य सत्य का परिमार्जित रूप है। वह सत्य को ग्राह्य बना देता है। अतः इन तीनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इन तीनों के अनन्य सम्बन्ध को पन्त जी ने बड़े ही कलात्मक और स्पष्ट ढङ्ग से व्यक्त किया है—

मनोहारि दुर्लभंचा ।' भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्‌भगवद् गीता में अर्जुन को सत्य, प्रिय तथा हितकर वाणी बोलने के लिए उपदेश दिया है—

"अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च ।"

तत्वतः सत्यं सुन्दरम् इससे भिन्न नहीं है । प्रियं में सुन्दरम् का पूर्ण भाव आ जाता है और हितं में शिवं का । इतना ही नहीं साहित्य शब्द के मूल में भी सत्यं शिवं सुन्दरम् का रूप मौजूद है । हितं तो प्रत्यक्ष है ही, सत्यं और सुन्दरम् भी प्रच्छन्न रूप से हैं । काव्य का रस या आनन्द सुन्दरम् का रूपान्तर है और सौन्दर्य कभी सत्य से रहित नहीं हो सकता । इतने विवेचन द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि ये तीनों ही शब्द भारत के लिए नए नहीं हैं । यह दूसरी बात है कि जिस रूप में और जिस अर्थ में उनका प्रयोग आज होता है उसमें नवीनता अवश्य है ।

भारतीय कला और प्रवृति सर्वत्र समन्वयात्मक है । इसलिए भारतीय मस्तिष्क भी समन्वय प्रिय है । यदि हम एक शब्द में कहें तो कह सकते हैं कि समन्वय और एकता ही हमारी संस्कृति की विशेषता है । साथ ही हमारे यहाँ अधिकांशतः प्रत्येक क्षेत्र में ऊना संख्या को शुभ माना जाता है । इसलिए धर्म में, कला में, सभी में तीन की संख्या को ही महत्व दिया गया है । धर्म में ब्रह्मा, विष्णु, महेश और हिन्दू दर्शन के सत्, चित्त, आनन्द एवं सत्, रज, तम बीज तत्व हैं । हिन्दू कला उन्हीं को सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के रूप में ग्रहण करती है । यही सृष्टि के तीन मूल तत्व हैं । इन्हीं से त्रिगुणात्मक सृष्टि आदि मध्य, अन्त बनी है और इन्हीं से ब्रह्म के तीन रूपों—अव्यक्त (व्यक्त से पहले) व्यक्त और पुनः अव्यक्त (प्रलय के पश्चात्)—का अस्तित्व है । गीता में इसको कितने सुन्दर ढङ्ग से स्पष्ट किया गया है । यह नीचे के श्लोक से स्पष्ट हो जाता है—

"अव्यक्तानि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिवेदना ।"

भक्ति के ज्ञान, कर्म, उपासना ये तीन ही तत्व हैं । इन तीनों का विभाजन नहीं किया जा सकता क्योंकि ये एक दूसरे के पूरक और एक दूसरे के अंग

बने हुए हैं। इनके समन्वित रूप में ही पूर्णता है। इसलिए हमारे कलाकार सत्यं शिवं सुन्दरम् तथा ज्ञान, कर्म, उपासना की विभाजक रेखाओं को मिटाने में प्रयत्नशील हैं। यही वास्तविक समन्वय है जो भारतीय संस्कृति का, भारतीय साहित्य का, भारतीय धर्म और दर्शन का प्राण है। इसीलिए हमारे यहाँ के संस्कृत के दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य सुखांत हैं। कारण, हमारे यहाँ मृत्यु का अर्थ है उस अव्यक्त सत्य से व्यक्त हुए जीव का अन्त में अपनी व्यक्तावस्था त्याग कर ऊसी अव्यक्त सत्य से जा मिलना। मृत्यु हमारे लिए इसीलिए शिव है। भारतीय कला इसी शिव को प्राप्त करने का प्रयत्न सदैव से करती रही है और करती रहती है। फिर मृत्यु में दुःख कहाँ? उसमें तो कल्याण है। जीव इस संसार में व्यक्त होकर अनेक यातनाएँ सहता है किन्तु मृत्यु उस पर दया करके उसे उन यातनाओं से मुक्त कर देती है। मृत्यु का यही कल्याण है; यही उसका 'शिव' रूप है और यही वास्तविक तथा चिरकालिन सत्य है। किन्तु जहाँ यह 'शिव' नहीं रहता वहाँ चिरकाल तक सत्य भी नहीं रहता। फिर जो सत्य और शिव है उसे आनन्दमय होना ही चाहिए। और आनन्द कोई अन्य वस्तु नहीं, सौन्दर्य का फल है अथवा सौन्दर्य की प्रभावात्मक अनुभूति ही आनन्द है। इस प्रकार सत्यं और सुन्दरम् को शिवं में समन्वित करना ही धर्म का, दर्शन का, साधना का और लोक व्यवहार का श्रेष्ठतम और आदर्शतम रूप है। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं कला भी इसी श्रेणी में आती है। वह इन्हीं सत्यं और सुन्दरम् को शिवं में समन्वित करने का सतत और श्रेष्ठतम प्रयत्न करती है और ऐसा करने में सफल भी होती है। वस्तुतः यही कला का लक्ष्य है।

यदि सत्यं, शिवं और सुन्दरम् का समन्वित रूप अधिक संक्षिप्त और स्पष्ट रूप से रखने का प्रयत्न करें तो इस प्रकार कह सकते हैं कि कर्तव्य पथ में आकर सत्य ही शिव बन जाता है और भगवान् से समन्वित होकर यही सत्य सुन्दर हो जाता है। सौन्दर्य सत्य का परिमार्जित रूप है। वह सत्य को ग्राह्य बना देता है। अतः इन तीनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इन तीनों के अनन्य सम्बन्ध को पन्त जी ने बड़े ही कलात्मक और स्पष्ट ढङ्ग से व्यक्त किया है—

"वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार
लोचनों में लावण्य अनूप
लोक सेवा में शिव अविकार

वास्तव में विचार-क्षेत्र में देशी-विदेशी का प्रश्न ही नहीं उठता। इस क्षेत्र में सब एक ही धरातल पर आ ठहरते हैं। उसमें विश्वात्मकता रहती है। इसीलिए तो अङ्गरेजी कवि कीट्स ने भी—सत्य और सुन्दर को एक माना है। और जब सत्य और सौन्दर्य अभिन्न हैं तो शिव भी उनसे भिन्न नहीं हो सकता—

'Beauty is truth Truth is beauty
That all ye know on earth
And all ye need to know.

अर्थात् "सौन्दर्य सत्य है और सत्य सौन्दर्य है, यही संसार में मनुष्य जानता है और यही जानने की उसे आवश्यकता है।" मृत्यु मे भी यही नित्य सत्य व्याप्त है। कला ने मृत्यु और जीवन की दुखमय धारणाओं को निकाल बाहर किया और आनन्द का रूप ग्रहण किया। आनन्द से सृष्टि की उत्पत्ति होती है और प्रलय के बाद आनन्द से सृष्टि प्रतिष्ठित होगी। तब मृत्यु, शोक, दुख कुछ भी नहीं है।

किन्तु सत्य का स्वरूप क्या है, यह प्रश्न अत्यन्त स्वभाविक है। दर्शन में सत्य का अर्थ उस आनन्द स्वरूप अव्यक्त सत्ता से है जिससे जीव अभिव्यक्त होकर अनेक सांसारिक यातनाओं में पड़कर अनेक दुख भोगता है और लौट कर उसी अव्यक्त सत्ता में अपने को अव्यक्त बना देता है। यह संसार स्वप्नवत है, असत्य है। किन्तु ऐसा तभी हो सकता है जब वह इन सभी सांसारिक रूपों और व्यापारों के समक्ष कभी अपनी पृथक सत्ता की धारणा को भूलकर विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है तब वह मुक्त हृदय हो जाता है। आत्मा की यही मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है। यही ज्ञान दशा सत्य दशा है। उस समय

उसे केवल उस एक सत्य सत्ता के अतिरिक्त और कुछ भी लक्षित नहीं होता। साहित्य का सत्य भी इससे भिन्न नहीं है। "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है।" इस रस दशा में आने के पश्चात् ही मनुष्य अपनी पृथक सत्ता भूल कर अपने हृदय को स्वार्थं सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक सामान्य भावभूमि पर ले जाता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल तक अपनी सत्ता को लोक सत्ता में लीन कर देना होता है। इस अवस्था को भावयोग भी कहते हैं।

शुक्लजी ने इसे कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष कहा है। और वास्तव में यह है भी। इस अवस्था में मनुष्य के भाव जगत पर पड़े सभ्यता के अनेक आवरण हटकर उसका मूल गोचर रूप प्रत्यक्ष हो जाता है। यह हृदय की प्रकृत दशा कहलाती है। वह मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर पहुँच जाता है। शुक्लजी के शब्दों में ऐसी अवस्था में वह जगत को उसी ब्रह्म से उत्पन्न उसी का एक अंश अनुभव करता है। "जगत के साथ उसका पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। उसकी अलग भाव सत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व हृदय हो जाता है।" यही सत्य का स्वरूप है।

शिव क्या है ? शिवात्मा में लोकमङ्गल का जो तत्व है वही शिव है—अर्थात् लोकमंगल ही शिव है। ऊपर बताई गई सामान्य भाव भूमि पर पहुँचने पर शिवत्व ही प्रारम्भ हो जाता है। उस समय मनुष्य को उसकी अपनी "अश्रुधारा में जगत की अश्रुधारा का, उसके हास-विलास में जगत के आनन्द नृत्य का, उसके गर्जन-तर्जन में जगत के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है।" यही उसका कर्तव्य है। ऊपर हम बतला चुके है कि कर्तव्य पथ में आकर सत्य ही शिव बन जाता है। यह सबकुछ अनुभव कर चुकने के पश्चात् वह अपने को लोक सेवा के मार्ग पर गतिमान कर देता है। यही शिव है। पंतजी ने ज्ञा के सत्य स्वरूप को ही तो लोक सेवा में आ जाने पर अविकार शिव हा है।

हमारे यहाँ शिवजी के रूप में इस शिव की सम्पूर्ण विशेषताएँ आ जाती

हैं। शिवजी में कुरूप (नरमुण्ड माल आदि), अमंगल (सर्प, विष आदि) हैं, किन्तु इन सबके ऊपर अमृतमय चन्दमा और सम्पूर्ण कर्द, कलुष धो देने वाली पावन गङ्गा है। इस प्रकार वह वर्तमान कुरूप और अमंगलकारी भूली भटकी आत्माओं को धारण तो अवश्य करते हैं किन्तु सबसे ऊपर अमृतमय चन्द्र और कलुष निकन्दनि गङ्गा को ही प्रभुत्व दिया है—उन्हीं को सबके ऊपर मस्तक और सिर पर स्थापित किया है। इसी प्रभुत्व ने सम्पूर्ण कुरूपों और अमंगलों को सुन्दर और मंगलमय बना दिया है। यही शिवत्व है। इतना भयानक वेषधारी शिव इसीलिए तो शिव है।

राम धनुष वाण लेकर पीड़क रावण पर गहरा आघात करते हैं। क्रोध का प्रदर्शन भी करते हैं और उसका उसके कटक तथा वंश सहित संहार भी करते है फिर भी राम शिवकारी हैं। क्यों ? इसलिए कि उनमें उनके इन सभी अशोभनीय कार्यों को अधिकृत करने वाली उनकी परजन-हितकारी भावना है। गीता में भी श्रीकृष्ण ने यही कहा है। यही कार्य कलाकार का है। वह मानव के गंदे पाताल को—भूली भटकी आत्माओं को, संसार के सौन्दर्य की खोज में, आँख की ओट नहीं कर देता। प्रत्युत प्रत्येक वस्तु उसकी कला का आधार बन सकती है किन्तु अंतिम स्पर्श कुरूपता को सौन्दर्य में और अमंगल को मंगल में बदल देता है।

अब हमें सौन्दर्य के रूप को भी देख लेना आवश्यक है। प्रज्ञा का सत्य स्वरूप जब हृदय में स्थान पाता है तो प्रणय के रूप में परिणत हो जाता है और वही नेत्रों में जाकर अनूप लावण्य बन जाता है। यह अनूप लावण्य ही सौन्दर्य का पर्यायवाची है। कीट्स ने इसी को तो Beauty is truth, truth is beauty' कहा है। शुक्लजी के शब्दों में—"**हमारी अन्तः सत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है। सौन्दर्य की जो वस्तु अपने लक्ष्य या कार्य के अनुकूल हो वही सुन्दर है—इसीलिए तो "सुधा सराहिए अमरता गरल सराइये मीचु।**" सौन्दर्य की श्रेणियाँ नहीं की जा सकतीं और न वह किसी व्यक्ति विशेष का कोई विशेष अनुभव मात्र ही है, क्योंकि सौन्दर्य एक वस्तु है—अखण्ड और अभिन्न है और अनुभव करने वाले अनेक हैं। सभी